

॥ श्रीः ॥

# काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१७८

ॐ

श्रीमद्योगीश्वरमहर्षियाज्ञवल्क्यप्रणीता

## याज्ञवल्क्यस्मृतिः

विज्ञानेश्वरप्रणीत 'मिताक्षरा' व्याख्यया  
'प्रकाश' हिन्दीव्याख्यया च विभूषिता

हिन्दीभ्याष्याकार

डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न

प्रस्तावना लेखक

श्री नारायण मिश्र, एम० ए०

संस्कृत तथा पाठविभाग

भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६७

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत गीरीज ऑफिस, वाराणसी  
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी  
संस्करण : प्रथम, संवत् २०२४  
मूल्य : २०-००

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office  
P. O. Chowkhamba, Post Box 8,  
Varanasi-1 ( India )  
1967  
Phone : 3145

THE  
KASHI SANSKRIT SERIES  
178  
\*\*\*\*\*

# YĀJÑAVALKYASMṚTI

Of

YOGĪSHWARA YĀJNAVALKYA

*With the Mitaksara Commentary*

Of

VIJÑĀNĒSHWAR

Edited with

*The 'Prakash' Hindi Commentary*

By

**DR. UMESH CHANDRA PĀNDE'**

*M A, Ph D Śahityaratna*

Preface by

**ŚRĪ NĀRĀYANA MIŚRA, M A**

*Bhārat Mahāvīdyālaya B H U, Varanasi*

१९६७

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1967

First Edition  
1967  
Price Rs. 20-00

*Also can be had of*  
**THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN**  
Publishers & Antiquarian Book-Sellers  
Post Box 69, Varanasi-1 ( India )  
Phone : 3076

# प्रस्तावना

श्री नारायण मिश्र

संस्कृत तथा पालि विभाग -

भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रुति स्मृती चक्षुषी द्वे द्विजानां न्याय वर्त्मनि ।

मार्गे मुह्यन्ति तद्धीनाः प्रपतन्ति पथश्च्युताः ॥

( बृहस्पति-स्मृति, संस्कार-काण्ड, श्लो० ११ )

इस अमर आत्मा को जन्म-जन्मान्तर तक अत्यन्त कठोर तपस्या करने के बाद मानव-शरीर में प्रवेश और उस शरीर के माध्यम से अपने को इस प्रपञ्च से विमुक्त करने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु खेद का विषय है कि मानव शरीर में गर्भाशय से निःसरण के साथसाथ ही इस (आत्मा) की कर्त्तव्य बुद्धि विस्मृति के गर्त में विलीन हो जाती है। जिस उद्देश्य से यह आत्मा मानव-शरीर के अधिगम के लिए कठोर प्रयास करती रहती है उस उद्देश्य की पूर्ति आकाश पुष्पायित सो हो जाती है। इसी कारण से जन्म लेते ही जीवात्मा को पुनः रोना ही पड़ता है। अपने कर्त्तव्य के विस्मरण के कारण जीवात्मा के विलाप का निम्न-लिखित पद्य में बहुत ही मार्मिक रूप में प्रतिपादन किया गया है—

जातो मृतश्च कतिधा न कति स्तनानां

पीतम्पयो न कलिता कति मातरो न ।

उरपत्य बन्ध-विधुतावधुना यतिष्ये

इत्यस्य विप्लवमुपैति षड्भिर्मन्त्रीषा ॥

कर्म चक्र में इस प्रकार अनादि काल से परिभ्रमण शील जीवात्मा की उपर्युक्त परिदेवना से आर्द्र हृदय वाले परमर्षियों ने अपने ज्ञान दीप में प्रतिभासमान परम्परागत अखण्ड ज्ञान राशि स्वरूप वेद को जीवात्मा के कर्त्तव्य के परिज्ञान के लिए अभिव्यक्त किया। परन्तु वेद भी कुछ ही विवेकी पुरुषों के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ न कि सर्व-साधारण के लिए। अतः करुणा प्रवण मनु आदि महर्षियों ने अपने वैदिक विज्ञान को सर्व-साधारणोपयोगी बनाने के लिए धर्मशास्त्र का निर्माण किया। इस धर्मशास्त्र में धर्म शासक ऋषि के द्वारा प्रायेण वैदिक ज्ञान की ही स्मृति होने के कारण इसे (धर्म शास्त्र को) स्मृति शब्द से भी अभिहित किया जाता है (धर्म शास्त्रन्तु यै स्मृतिः-मनु० २।१०)।

यद्यपि स्मृति-ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी सत्त्व हैं जो वर्तमान वेद में उपलब्ध नहीं होते तथापि उन सत्त्वों के वैदिक ज्ञान पर ही निर्भर होने का अनुमान किया जाना है। यद्यपि धर्म के प्रतिष्ठित व्याख्याता जैमिनि ने यह भी माना है

१. द्रष्टव्य—“श्रुति स्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।” — ब्राह्मण स्मृति

“श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषय विना।” — मविश्व पुराण

— मनु २।१३ की व्याख्या में कुल्लुकभट्ट द्वारा दर्शित।

कि यदि स्मृति में कहीं वेद विरुद्ध विषय हो तो उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए ( 'विरोधे त्वनपेक्षम्' ) ज० सू० १।३।३॥ ) तथापि विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि यदि वर्तमान वेद में अनुपलब्ध परन्तु अविरुद्ध स्मार्त मत के मूल भूत वैदिक विधि का अनुमान हो सकता है तो क्या वर्तमान वेद विरुद्ध स्मार्तसिद्धान्तों से उनके मूल-भूत वेद का अनुमान नहीं किया जा सकता है ? वेदोक्तियों में आपस परस्पर विरोध तो विक्षेप में ही पर्यवस्य होता है न कि उससे वेद पर कुछ आक्षेप माना जाता है, जैसा मनु ने भी कहा है—

श्रुति-द्वैध तु यत्र स्यात् तत्र धर्मांशुभौ स्मृती ।

उभावपि हि तौ धर्मो सम्यगुक्तौ मनीषिभि ॥ ( मनु० २।१४ )

स्मृति ( धर्म शास्त्र ) का प्रतिपाद्य विषय

धर्म शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का सकेत आङ्गिरस स्मृति में इस प्रकार किया गया है—

“यत्पूर्वमृषिभि प्रोक्तधर्म-शास्त्रमनुत्तमम् ।

तत्प्रमाणन्तु सर्वेषाँल्लोक-धर्मानुवर्णनम् ॥” ( आङ्गिरस स्मृति १।८ )

इसका तात्पर्य यह है कि माह्यण,<sup>१</sup> क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र एवम् वर्ण सङ्घ के आजीवन कर्त्तव्य का अनुविधान ही धर्मशास्त्र का लक्ष्य है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि कि 'धर्म शास्त्र' शब्द में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द का अर्थ क्या है।

विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में धर्म का विभाजन निम्न लिखित रूप में किया है—“अत्र च धर्मशब्द षड्विध स्मार्त-धर्म-विषय । तद्यथा—वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुणधर्म निमित्तधर्म, साधारण धर्मश्चेति । ( मिताक्षरा—१।१ ) ।

( १ ) वर्ण धर्म का निर्देश भगवद्गीता में बहुत ही स्पष्ट रूप में किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार ब्राह्मण वर्ण के धर्म ये हैं—

शमो दम तप शौच क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञान विशानमास्तितय ब्रह्म-कर्म स्वभावजम् ॥ ( गीता—१।८।४२ )

श्रीमद्भागवत ने ब्राह्मण वर्ण के धर्म का परिगणन निम्नोक्त रूप में किया है—

शमो दम तप शौच सन्तोष क्षान्तिरार्जवम् ।

१ ' भगवत्सर्व-वर्णानां यथावदनुपूर्वश ।

अन्तर प्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमहमि ॥' — मनु० स १।२

'वर्णा माह्यण क्षत्रिय वैश्य शूद्रा । तेषाम् अन्तर प्रभवाणां च सद्गीर्णं जातीनां चापि अनुक्रमेण प्रतिलोमजाना च अम्बष्ठ क्षत्रु कर्णं प्रभृतीनां यथावत् यो धर्मो यस्य वर्णस्य येन प्रकारेणाहंतीत्यनेन आश्रम धर्मादीनामपि प्रह्न ॥'

— मन्वर्थ मुक्तावली १।२

' वर्णाश्रमेतराणां हि भूदि धर्मानशेषत ॥' । — या० स्मृ० १।२

ज्ञानं दद्याच्च्युतात्मत्वं स यज्ञं ब्रह्मलक्षणम् ॥

( श्रीमद्भागवत-७।१।२१ )

मनु का कथन निम्न-लिखित है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानप्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ( मनु० १।८८ )

त्रिप्रिय धर्म का गीतोक्त स्वरूप निम्न निर्दिष्ट है—

शौर्यं तेजो धृतिः दाक्षय युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वर भागश्च चात्र कर्म स्वभावजम् ॥ ( गीता-१।८।३१ )

श्रीमद्भागवतोक्त चात्र धर्म अधोलिखित हैं—

शौर्यं दधीर्यं धृतिस्तेजः त्यागश्चात्म-जयः क्षमा ।

ब्रह्मव्यता प्रसादश्च सत्यञ्च चात्र लक्षणम् ॥

( श्रीमद्भागवत-७।१।२२ )

मनुक्त त्रिप्रिय-धर्म का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रजानां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च त्रिप्रियाणां समासतः ॥ ( मनु० १।८९ )

वैश्य-धर्म का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है—

कृपि गौरव्य वाणिज्यं वैश्य-कर्म स्वभावजम् ॥

( गीता-१।८।४४ क ख )

श्रीमद्भागवत में वैश्य-धर्म का विवरण निम्न-लिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है—

देव-गुर्वच्युते भक्तिस्त्रि-वर्ग परिपोषणम् ।

आस्तित्वयमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्य-लक्षणम् ॥

( श्रीमद्भागवत ७।१।२३ )

मनु प्रतिपादित वैश्य धर्म का स्वरूप निम्न निर्दिष्ट है—

पशूना रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिजपथ कुसीद च वैश्यस्य कृपिमेव च ॥ ( मनु० १।९० )

शूद्र धर्म का वर्णन भी गीता में है—

परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ( गीता-१।८।४४ ग घ )

तथा—

शूद्रस्य सञ्जतिः शौच सेवाऽस्वामिन्यमायया ।

अ मन्त्र पशो हारतेयं सत्य गो-विप्र-रक्षणम् ॥

( श्रीमद्भागवत-७।१।२४ )

१. श्रीमद्भागवत के सभी श्लोक अक्षेप टा० सिद्धेश्वर महाशय्य जी के 'The Philosophy of the श्रीमद्भागवत' से उद्धृत किए गये हैं, जिनमें मैं उनका ऋणी हूँ ।

मनु ने शूद्र के धर्म का विवरण इस प्रकार किया है—

पुत्रमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत् ।

प्लेपामेव वर्णानां शुधूपामनसूयया ॥ ( मनु० ११९१ )

वर्णसङ्कर के धर्म का सविष्ट रूप में सङ्कलन श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—

युक्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुल-कृता भवेत् ।

अ चौराणामपापानामन्यमान्यायसायिनाम् ॥

( श्रीमद्भागवत ७।१।१७ )

याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्ण धर्म का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

इग्नाऽध्ययनदानानि वैश्यस्य ऋत्रियस्य च ।

प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥

प्रधान ऋत्रिये कर्म प्रजानाम्परिपालनम् ।

कुसीद-कृपि वाणिज्य पाशुपाल्य विश स्मृतम् ॥

शूद्रस्य द्विज-शुश्रूषा तथाऽजीवन् वणिग्भवेत् ।

द्विहोषैर्वा विविधैर्जविद्द्विजाति हितमाधरन् ॥

( याज्ञ० स्मृ० १।१।८-२० )

( २ ) आश्रम धर्म का सम्बन्ध सभी आश्रमों से है । द्विजाति की जीवनावधि को चार भागों में विभक्त किया जाता है । इन आश्रमों के यथाक्रम नाम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वान प्रस्थ, सन्यास ।

ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययनादि धर्म माने गये हैं । ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि का निरूपण मनु ने निम्न लिखित पद्य में किया है—

पट्विंशद्वाव्हिक चर्यं गुरौ त्रैवेदिकव्रतम् ।

तदर्धिकम्पादिक वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ ( मनु० ३।१ )

तीन वेद के अध्ययन के लिए ३६ वर्ष अर्थात् प्रतिवेद क अध्ययन के लिए बारह बारह वर्षों की अवधि अपेक्षित होती है । अथवा १८ वर्षों तक ( प्रतिवेद के अध्ययन के लिए छ छ वर्षों की अवधि ), किं वा नौ वर्षों ( १ वेद के लिए तीन वर्ष ) तक अथवा वेदाध्ययनसमाप्ति पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए । याज्ञवल्क्य ने कुछ विशेष पतलाया है—

प्रतिवेदम्ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा ।

ग्रहणान्तिकमित्येके

॥ ( या० स्मृ० १।३६ )

ब्रह्मचर्याश्रम के समापन के अनन्तर द्विजाति के कृत्य का वर्णन याज्ञवल्क्य में निम्नलिखित रूप में पाया जाता है—

गुरवे तु वरन्दत्त्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।

वेद व्रतानि वा पार नीचा ह्यभयमेव वा ॥

- अविप्लुत ब्रह्म चर्यो लक्षण्या स्त्रियमुद्दहेत् ॥

( या० स्मृ० १।५१-५३ क ख )



इसी द्वितीय आश्रम को गृहस्थाश्रम कहा जाता है। इसे गृहस्थाश्रम कहने का कारण मनु के श्यारयाकार कुल्लुकभट्ट ने बतलाया है—

“कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः, गृहदाण्डस्य दारवचनत्वात्” (मन्वर्थमुक्तावली-३१२)

इस आश्रम का मुख्य धर्म है—पञ्च महायज्ञ<sup>१</sup>। इस प्रसङ्ग में मनु का निम्न लिखित पद्य स्मरणीय है—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्य कर्म तथा विधि ।

पञ्च यज्ञ विधानञ्च पक्ति चान्वाहिकीं गृही ॥ ( मनु० ३।६७ )

पञ्च महा यज्ञ तथा अन्यान्य गृहस्थ धर्म के विषय में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि का अवलोकन करना चाहिए।

गृहस्थ तथा गार्हस्थ्य का महत्त्व सभी आश्रमियों तथा आश्रमों से अधिक है, जैसा मनु ने कहा है—

यथा वायु समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वेऽजन्तव ।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वे आश्रमा ॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहन् ॥

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्मात्त्र्येष्टाश्रमो गृही ॥

( मनु० ३।७७-७८ ) इत्यादि ।

इस आश्रम की अवधि<sup>१</sup> आरम्भ वार्धक्य-सम्प्राप्ति तथा पौत्रोरपत्ति आदि मानी जाती है। यद्यपि साधारणतः यह प्रतीत होता है कि पूरी जीवनावधि को समान-समान चार भागों में विभक्त कर प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य में तथा द्वितीय भाग को गार्हस्थ्य में पर्यवसन्न करना<sup>२</sup> चाहिए तथापि आयु की अवधि के दुर्ज्ञेय होने के कारण ब्रह्मचर्य की पूर्व प्रतिपादित षट्त्रिंशद् वर्ष आदि एव गृहस्थाश्रम की आरम्भ वार्धक्य आदि अवधि ही शास्त्र सिद्ध होती है। अत एव कुल्लुकभट्ट का भी कथन है—

‘आश्रमिभ्युत्तम्व्रह्म चर्यं कालोपलक्षणाधर्मम्, अनियत परिमाणत्वादायुष चतुर्थ भागस्य दुर्ज्ञानत्वात् । गृहस्थस्तु यदा परयेत् ( मनु० ६।२ ) इत्य नियतत्वात् द्वितीयमायुषो भागमिभ्यपि गार्हस्थ्य-कालमेव ॥’

( मन्वर्थ-मुक्तावली-४११ )

इस प्रसङ्ग में एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि कुल्लुकभट्ट आदि ने मनु के श्लोक ( ६।२ ) में ‘अपर्यस्यैव चापत्यम्’ पाठ मान कर आरम्भ-वार्धक्य तथा पौत्रो

१ गृहस्थधर्मत्वेऽपि पञ्चयज्ञानाम्प्रकृत धर्म स्थापनाधन्यवर्त्तिर्देशः ।

— मन्वर्थ मुक्तावली ५।१६९

२ गृहस्थस्तु यदा परयेदली पठितमात्मनः ।

अपर्यस्यैव चापत्यं तदाऽऽरभ्य समाभयेत् ॥ — मनु ६।२

३ चतुर्थमायुषो भागमुपित्साऽऽय गुरो दिव्यः ।

द्वितीयमायुषो भाग कृत-दारो गृहे वसेत् ॥ — मनु ४।१

स्पृष्टि में समुच्चय सा प्रस्तुत किया है परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि पौत्रोत्पत्ति अनिश्चित है, अतः विकल्प ही मानना चाहिए। मनु के 'अपत्यस्यैव चापत्यम्' में च के स्थान में 'वा' पढ़ना चाहिए, वही मत मिताक्षराकार का भी है—

“अयं च वन-प्रवेशो जराजर्जरं कलेवरस्य जात-पौत्रस्य वा ।  
यथाऽऽह मनुः ( ६।२ )—

गृहस्थस्तु यदा पर्येडली-पलितमात्मनः ।  
अपत्यस्यैव वाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाधयेत् ॥”

( मिताक्षरा-३।४५ )

गृहस्थाधम के अनन्तर की अवस्था का नाम 'वान प्रस्थ' है। वन-प्रवेश करने का प्रकार निम्नलिखित मनु तथा याज्ञवल्क्य के एकवाक्यत्व से स्पष्ट हो जाता है—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ॥

( मनु० ६।३ क ख )

मुत-विन्यस्त-पत्नीकस्तया वानुगतो वनम् ।  
वान-प्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो मनेत् ॥

( या० स्मृति० ३।४५ )

इस आधम के धर्म मिताक्षरा ( ३।४५ ) में उद्धृत बसिष्ठ-स्मृति में इस प्रकार वर्णित किए गये हैं—

“वानप्रस्थो जटिलः क्षीराजिन-वासा न फाल कृष्टमधितिष्ठेत् ( कृष्ट-चेत्रस्योपरि न निवसेत्—मिताक्षरा ) ; अकृष्टं मूल-फलं सञ्चिन्वीत, ऊर्ध्वं रेताः च्माशयो वृथादेव न प्रतिगृहीयात् ऊर्ध्वं पञ्चम्यो मासेभ्यः ध्रुवाङ्गणेन ( वैदिकेन मार्गेण न लौकिके-नेत्यर्थः—मिताक्षरा ) अग्निभाधाय आहिताग्निः वृक्ष-मूलको वृथात् देव-वितृ-मनुष्येभ्यः स गच्छेत् स्वर्गमानन्त्यम् ।”

इस आधम के धर्म का विशद वर्णन तो मनुस्मृति आदि में देवता चाहिए।

वान-प्रस्थ आधम की अवधि राग-स्य है। इस विषय में मनु का कथन निम्न निर्दिष्ट है—

वनेषु च विहायैवं तृतीयं भागमायुषः ॥ ( मनु० ६।३३ )

इसकी व्याख्या में कुल्लूक-भट्ट ने स्पष्ट किया है—“अतिवृत्तपरिमाणस्वा-द्यायुपस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात् तृतीयमायुषो भागमिति रागशयावधि वान प्रस्थकालोपलक्षणार्थम् । अत एव शङ्खलिखितं—वन वासादूर्ध्वं दान्तस्य परिगतवयसः पारिम्राज्यम्—इत्याचरन्मनुः ।” अतएव विश्वनेपर ने भी कहा है :—“यावता कालेन तीव्र-तप-शोषित-वयुषो विषय-व्याय परिपासो

१. वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरति इति वन प्रस्थः, वन प्रस्थ एव वान प्रस्थः । संशयां देर्ष्यम्—मिताक्षरा ३।४५

२. ब्रह्म-चारी = ऊर्ध्वरेताः, साग्निः = वैतानाग्नि सदृशः । —मिताक्षरा

भवति पुनश्च मदीन्द्राऽऽशङ्का नोद्गायते तावत्काले वनघासे कृत्या "....."  
( मिताक्षरा ३।५६-५७ )

इस तृतीय आश्रम के अनन्तर काल में—

'चतुर्थमायुषो भागस्यश्च सङ्गान्परिव्रजेत् ।'

( मनु० ६।३३ )

इस परित्राजकाश्रम में केवल ब्राह्मण का अधिकार है। दूसरे मत के अनुसार सभी द्विजातियों का अधिकार माना जाता है ( मिताक्षरा ३।५६-५७ )। प्रमज्जन के बिना मोक्ष के अभाव को मानने वाले मिताक्षराकार ( ३।५५ ) द्वितीय मत को ही अच्छा समझते हैं— ऐसा प्रतीत होता है।

इस आश्रम के धर्मों का दिग्दर्शन याज्ञवल्क्य के अधोलिखित पद्य में होता है—

सर्वं भूत हितं शान्तस्त्रिदण्डो सकर्मण्डलः ।

एकारामपरिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत् ॥ ( या० स्मृ० ३।५८ )

इस आश्रम धर्म का सम्बन्ध केवल द्विजातियों से है। साथ ही सभी आश्रमों में श्युक्लम नहीं होता है, हीं, उल्लङ्घन हो सकता है। इस विषय में भागवत के विशिष्ट विचार का अथलोकन डा० मिश्रेश्वर भट्टाचार्यकृत 'The Philosophy of the श्रीमद्भागवत' ( पृ० ३४ ) में करना चाहिए। श्रीमद्भागवत के विचार का मूल तो मनुस्मृति में ही है, जिसका अन्वेषण मनीषियों के लिए असाध्य नहीं है।

( ३ )-वर्णाश्रम धर्म का अर्थ है वर्ण विशेष के आश्रम विशेष से सम्बद्ध धर्म।  
उदाहरणार्थ—

ब्राह्मणो वैश्य-पालाशौ शूद्रियो घाटसादिरौ ।

पैलवीदुम्बरी घैरयो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ( मनु० २।४५ )

आदि को लिया जा सकता है।

( ४ ) गुण धर्म का अर्थ विशानेश्वर के वाक्यों में इस प्रकार किया गया है—

"साध्वीयाभिप्रेतादिगुण-युक्तस्य राज्ञः प्रजा परिपालनादि" ( मिताक्षरा ३।१ )

( ५ ) निमित्त धर्म का अर्थ प्रायश्चित्त होता है।

( ६ ) साधारण धर्म का वर्णन मनु ने इस प्रकार किया है—

एति चमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दत्तम धर्मलक्षणम् ॥ ( मनु० ६।१२ )

बृहस्पति ने मनु-सम्मत कुछ अन्य साधारण-धर्म का उल्लेख किया है :—

चक्षुर्दान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनुताम् ।  
एष साधारणो धर्मः चातुर्वर्ण्योऽऽनीन्मनुः ॥

( वृ० स्मृ० संस्कारकाण्ड, श्लो० ३१३ )

याज्ञशक्य के अनुसार साधारण-धर्म ये हैं—

अ हिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रिय-निग्रह ।  
दान धर्मो दया दान्तिः सर्वेष्वन्धर्म साधनम् ॥

( या० स्मृ० ११२२ )

बृहस्पति ने साधारण-धर्म का निर्देश निम्न-निर्दिष्ट पद्य में किया है—

‘दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम् ।  
अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वं साधारणानि तु ॥’

( वृ०स्मृति० संस्कारकाण्ड, श्लो० ४८९१ )

बृहस्पति ने इस श्लोक के प्रत्येक पद की व्याख्या भी की है, परन्तु उसका उपस्थापन संचित भूमिका में उचित नहीं है। अतः जिज्ञासुओं को संस्कार-काण्ड के श्लोकों ( ४९० से ५०१ तक ) को देखना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि स्मृति का लक्ष्य प्रवृत्त कर्म का ही विवरण है तो इस का शास्त्रत्व ही लुप्त हो जाता है, क्योंकि कोई भी प्रबन्ध तभी शास्त्र कहलाने योग्य होता है यदि वह मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट अङ्गुदय ( = मोक्ष ) का प्रसाधक हो ( शास्त्रत्वं हित शासनात् )। प्रवृत्त कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष की अधिगति तो सम्भव ही नहीं है। अतः प्रवृत्त कर्म का विधान करने-वाला धर्म शास्त्र वस्तुतः शास्त्र नहीं है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि स्मृति में प्रवृत्त कर्म का प्रतिपादन है तथापि स्मृति का तात्पर्य प्रवृत्त कर्म में नहीं है अपि तु प्रवृत्त कर्म के द्वारा चित्त शुद्धि कर निवृत्ति-मार्ग की अधिगति में ही। अत एव मनु ने कहा है—

विद्वद्धि. सेवित सद्विनीत्यमद्वेषरागिभिः ।

हृदयेनाग्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्नियोधत ॥ ( मनु० २११ )

यदि राग-द्वेष-हीन होकर मनुष्य किसी भी कर्म का अनुष्ठान करता है तो यह कर्म वस्तुतः प्रवृत्त नहीं है। यदि कथमपि उसे प्रवृत्त भी कहा जाय तब भी उससे निवृत्ति की अधिगति तो निर्बाध ही है। प्रवृत्त कर्म का अनुष्ठान तो निवृत्त-कर्म की पूर्ण पीटिका है। अतः गीता का भी उपदेश है—

न कर्मणा मनारम्भानैकग्यं पुन्योऽश्नुते ।

न च मग्न्यसनादेन सिद्धिं समधिगच्छति ॥

स्मृतिकार का भी प्रवृत्त-कर्म के अनुविधान में यही उद्देश्य है। याज्ञ-शक्य ने तो स्पष्ट रूप में कहा है—

इत्याचार द्माहिंसा दान स्वाध्याय-कर्मणाम् ।  
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्म दर्शनम् ॥

( या० स्मृ० १८ )

अत उपर्युक्त आशेष निराधार है ।

### धर्म शास्त्र प्रवर्त्तक ऋषि

याज्ञवल्क्यस्मृति में धर्म शास्त्र प्रवर्त्तक ऋषियों का नाम निर्देश निम्न लिखित श्लोकों में किया गया है—

मन्वत्रि विष्णु-हारीत याज्ञवल्क्योऽज्ञोऽङ्गिरा ।

यमापस्तम्ब-सवर्ता कार्यायन बृहस्पती ॥

पराशर व्यास शङ्ख लिपिता दक्ष गौतमौ ।

ज्ञानातपो वशिष्ठश्च धर्म शास्त्र प्रवर्त्तका ॥ (या० स्मृति० १४ ५)

इसकी व्याख्या में आदि-य देव ने एक गौतम सूत्र को उद्धृत किया है—

अत्र 'गौतम'—स्मृतिधर्म शास्त्राणि, तेषाम्प्रणेताः मनु विष्णु दक्षा द्विरोऽत्रि  
बृहस्पत्युशान आपस्तम्ब-गौतम सवर्त आत्रेय-कार्यायन शङ्ख लिखित पराशर व्यास  
ज्ञानातप प्रचेतो याज्ञवल्क्यादयः ।

( अपरार्कव्याख्या या० स्मृ० १४-५ )

शङ्ख लिखित के कथनानुसार धर्मशास्त्र प्रणेताओं की सूची निम्न लिखित है—

'तथा च शङ्ख लिखितौ—स्मृतिधर्म शास्त्राणि, तेषाम्प्रणेताः मनु विष्णु  
यम दक्षाद्विरोऽत्रि बृहस्पत्युशान आपस्तम्ब वसिष्ठ कार्यायन पराशर व्यास शङ्ख  
खित सवर्त गौतम ज्ञानातप हारीत याज्ञवल्क्य प्राचेतसादयः' ।

( वीरमित्रोदय या० स्मृ० १४-५ तथा वी० मि० परिभाषाप्रकाश पृ० १६ )  
पर तु बालम्भटी में 'शस्त्ररच' प्रतीक के अन्तर्गत जो उद्धरण है उसमें मनु,  
विष्णु यम, दक्ष तथा अङ्गिरा का उल्लेख नहीं है । प्राचेतसादय में प्रयुक्त 'आदि'  
शब्द से ब्राह्म ऋषियों का निवरण बालम्भटी में इस प्रकार है—

“आदिना बुध दवल सुमन्तु-जमदग्नि विधामिध प्रजापति पृथीमसि पितामह  
वीधायन च्छागलेय जायाट ध्यवन मरीचि कश्यपा ” ॥ ( बालम्भटी पृ० ९ )

देवल का निर्देश इस प्रकार है—

मनुयमो वशिष्ठोऽग्निर्दत्तो विष्णुस्तथाऽङ्गिरा ।

उशाना वापपतिव्यास आपस्तम्बोऽथ गौतम ॥

कार्यायनो नारदश्च याज्ञवल्क्यः पराशर ।

सम्बर्तश्चैव शङ्खश्च हारीतो लिखितरतया<sup>३</sup> ॥ ( बालम्भटी पृ० ९ )

१ वर्तमान गौतम-धर्म-शास्त्र में यह अष्ट उपलब्ध नहीं है ।

२ कृत्य रत्नाकर में 'सोम' का नाम इससे अधिक है । कृ० र० पृ० २९

३ कृत्य रत्नाकर (पृ २९) में यम' प्रतीक के अन्तर्गत् ही श्लोक अधिकतर रूप में  
दिये गए हैं ।

मार्कण्डेय स्मृति में मनु, गौतम, कश्यपादि, पराशर, वेद व्यास, शङ्ख, लिखित तथा कात्यायन का निर्देश किया गया है।

( मा० स्मृ० स्मृति-सन्दर्भ भाग ६, पृ० ६३, कलकत्ता )

'चतुर्विंशतिमत' में याज्ञवल्क्य निर्दिष्ट २० ऋषियों में से कात्यायन तथा लिखित को छोड़कर अन्य १८ तथा गार्ग्य, नारद, चौधायन, वस, विश्वामित्र एव शर ( शाखायन ? ) का निर्देश है।

( म० म० वाणे—'History of Dharmashashtra' पृ० १३३ )

आपस्तम्बने १० धर्म शास्त्राचार्यों का निर्देश किया है—एक ( किसी ऋषि विशेष के लिए निर्दिष्ट है ), कण्व, काण्व, कुण्ड, कुस, कौस, पुश्वरसादि, पार्ष्ण्यगणि, श्वेतकेतु तथा हारीत। चौधायन ने हारीत के साथ साथ औपजहनि, वात्स्य, काश्यप गौतम, प्रजापति, मनु तथा मौद्गल्य का उल्लेख किया है।

( Introduction to the बृहस्पतिस्मृति, P. 88, Footnote—J )

भारद्वाजस्मृति में भी दिग्दर्शन क्रम में निम्नलिखित ऋषियों का उल्लेख किया गया है—

भृगुरश्विर्मणिश्च शण्डिल्यो रोहित ऋतु ।  
हरितो (हारीतो ?) गौतमो गर्ग शङ्ख कालातपोऽङ्गिरा ॥  
मार्कण्डेयश्च माण्डव्य कपिलो नारद शुक्र ।  
जमदग्निर्वाञ्छत्रह्यो विश्वामित्र पराशर ॥  
एते वाज्प्येपि मुनयो धर्मज्ञा धर्म तपरा ॥

( मा० स्मृ० १३-५ )

पराशर स्मृति का विवरण भी निम्न लिखित है—

श्रुता मे मानवा धर्मा वासिष्ठा काश्यपास्तथा ।  
गार्गीया गौतमीयाश्च तथा चौशनसा स्मृता ॥  
शत्रेर्विष्णोश्च सवर्त्ताहृषादाङ्गिरसस्तथा ।  
शानानपाश्च हारीतात् याज्ञवल्क्यात्तथैव च ॥  
आपस्तम्बहृता धर्मा शङ्खस्य लिखितस्य च ।  
कात्यायनकृताश्चैव तथा प्राचेतसान्मुने ॥

( पराशरस्मृति-११२ १६ )

गरुड-पुराण ( ९३।४-६ ) में याज्ञवल्क्य के रयान म अहम् (= गरुड ) को रखकर अतिरिक्त ऋषियों का निर्देश याज्ञवल्क्यस्मृति के समान ही किया गया है। अग्निपुराण में तो याज्ञवल्क्य-स्मृति का ही ( यत्र तत्र मम-परिवर्तन के साथ ) रूपान्तर मिलता है—

मनुपिप्युर्वाञ्छत्रह्यो हारीतोऽत्रियमोऽङ्गिरा ।  
वसिष्ठ-दण्ड-सवर्त्त-दातात्तप-पराशरा ॥  
आपस्तम्बोशनो-व्यासा कात्यायन-बृहस्पती ।  
गौतम शङ्ख-लिखितौ धर्ममेते यथाऽनुवन् ॥

( अग्निपुराण अ० १६२, श्लो० १-२ )

वर्तमान सगृहीत बृहस्पति स्मृति ( बहौदा ) में यथावसरं मनु ( पृ० १९, ३९, ८४ आदि ), गौतम ( पृ० २०८ ), कात्यायन ( पृ० १०६ ), उदना ( पृ० ३०१ ), बृहस्पति ( पृ० ३०१, ५५० आदि ), अङ्गिरा ( पृ० ३७८ ), आपस्तम्ब ( पृ० ३७८ ), गर्ग ( पृ० २८३ ), जीव ( पृ० २६० ), देवेन्द्रगुरुं ( २८९ ), पञ्च शिख ( पृ० २३१ ), पराशर ( २३३ ), पाराशर ( पृ० ३२६ ), पितामह ( पृ० ९१ ), प्रजापति ( पृ० ३५८ ), भार्गव ( पृ० २३३ ), वसिष्ठ ( पृ० १०३ ) व्यास ( पृ० ३२० ), शङ्ख लिखित ( पृ० २३३ ), शाकटायन ( पृ० ३६३ ), ईशानक ( पृ० १२७ ), स्वयम्भू ( पृ० ३०४ आदि ) तथा भृगु ( पृ० ६६ ) का निर्देश किया गया है। इन नामों में कुछ का पर्याय भी सम्भावित है। जैसे—बृहस्पति, जीव, देवेन्द्र गुरु शब्द प्रायश एक ही व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट हुए हैं। इसी प्रकार पितामह तथा प्रजापति शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं। परन्तु निर्णित रूप में कुछ कहना कठिन है।

पैठीनसि ने ३६ स्मृतिकारों का निर्देश किया है—

तेषां भ-वङ्गिरो-व्यास-गौतमाऽप्युदना-यमा ।  
 वसिष्ठ दक्ष सवर्षे शातातप-पराशरा ॥  
 विष्वापस्तम्ब-हारीता शङ्खु-कात्यायनो भृगु ।  
 प्रचेता नारदो योगी र्वाधायन-पितामहौ ।  
 सुम-नु कश्यपा यशु पैठीनो व्यास एव च ।  
 सरथ व्रतो भरद्वाजो गार्ग्य-काष्ठाजिनिस्तथा ॥  
 जायालिर्जमदग्निश्च लौगाक्षिर्वह्य सम्भव ।  
 इति धर्म प्रणेताः पटुत्रिंशदप्यस्तथा ॥

( स्मृति-चन्द्रिका पृ० १, बी० मि० परि० प्र० पृ० १५ )

ये छत्तीस ही स्मृतियों हैं या स्मृति कार हैं ऐसी बात नहीं है। यह तो उपलक्षण है। अतः स्मृतिचन्द्रिकाकार का कथन है—

“मनु चेयम् परिसह्या ? मेवम्, तथा सति वरस मरीचि देवल पाररकर मनु-श्रुप्यशुद्ग शिखर द्वागलेयात्रेयादीनां धर्मं शास्त्र प्रणेतृव न स्यात् ।”

( स्मृ० घ० पृ० १ )

वीर मित्रोदय में प्रयोग पारिजात के कुछ श्लोक उद्धृत हुए हैं जिनमें ३१ स्मृतियों का वर्गीकरण स्मृतियों तथा उपस्मृतियों में हुआ है—

मनुबृहस्पतिर्दक्ष गौतमोऽथ यमोऽङ्गिरा ।  
 योगीश्वर प्रचेताश्च शातातप पराशरौ ॥  
 सवर्त्तोदानसौ शङ्खु-लिखितापत्रिरेव च ।  
 विष्वापस्तम्ब-हारीता धर्म शास्त्र प्रवर्त्तवा ॥  
 एते द्वाष्टादश प्रोक्ता मुनया नियत-व्रता ।  
 जायालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षि-काश्यपी ॥  
 व्यास सनत्कुमारश्च सुमन्तुरश्च पितामह

व्याघ्र काष्णांजिनश्चैव जातूकर्णं कपिशूल ॥  
 वौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च ।  
 पेंटीनसिर्गोभिलश्च ऋषस्मृति विधायका ॥

यद्यपि उपस्मृति विधायकों की नामानुली का उपसंहार यहाँ प्रतीत होता है तथापि और भी २१ स्मृति-कारों का नाम निर्देश तीन श्लोकों में किया गया है—

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुरश्च पितामह ।  
 वज्र काष्णांनिनि सत्य व्रतो गार्ग्यश्च देवल ॥  
 जमदग्निर्भरद्वाज पुलस्त्य पुलह ऋतु ।  
 आत्रय छागलेयश्च मरीचिवत्स एव च ॥  
 पारस्कर श्रुष्यश्रुतौ वैजयापस्तथैव च ।  
 इत्येये स्मृति कर्तार एकविंशतिरिक्ता ॥

यद्यपि याज्ञवल्क्य स्मृति ( श्लोक० ११०-५ ) की ध्याख्या में मित्र मिश्र इन स्मृतियों को स्पष्टत उपस्मृति नहीं कहते हैं तथापि 'परिभाषा प्रकाश' ( पृ० १८ ) में इन सभी श्लोकों के बाद 'एते एवोपस्मृतिकर्तारो मदनरत्ने-प्युष्ठा' कह कर इन सब को उपस्मृति मानने के पक्ष में ही प्रतीत होते हैं । परन्तु 'जाचालिर्नाचिकेतश्च' आदि में परिगणित सुमन्तु, पितामह तथा काष्णांनिनि का 'वसिष्ठो नारदश्चैव' आदि श्लोकों द्वारा परिगणित २१ स्मृति कर्ताओं में पुनरुल्लेख है । अत उपस्मृतिकारों की संख्या ३६ होनी चाहिए । एक ही स्थान में पुनर्दत्त का आधार समझ में नहीं आता ।

किन्तु उपर्युक्त सूची भी पर्याप्त नहीं है, इसे केवल दिग्दर्शक समझना चाहिए, कारण इनके अतिरिक्त स्मृतिकारों का भी उल्लेख धर्मशास्त्र निबन्धों में मिलता है । उदाहरणार्थ 'निर्णयसिन्धु' में लगभग १२५ से भी अधिक स्मृति-कारों के बचन उद्धृत हैं । भविष्यपुराण में भी स्मृतियों की संख्या का निर्देश अस्पष्ट रूप में स्मृतियों के आनन्त्य का ही प्रतिपादक प्रतीत होता है । 'स्मृति मुक्ताफल' में तो ८८००० ऋषियों को धर्मप्रवर्तक बतलाया गया है—

अष्टासीति सहस्राणि मुनयो गृहमेधिन ।

पुनरावर्त्तिनो बीज भूता धर्म प्रवत्तका ॥ ( स्मृति मुक्ताफल, पृ० ८ )

इस विचित्र परिस्थिति में सभी स्मृतिकारों का नाम निर्देश तो असम्भव-प्राय ही है । डा० काणे ने स्मृति परस्परा का यथासम्भव विशुद्ध वर्णन अपने ग्रन्थ 'History of Dharma-Shastra' में किया है । इस ग्रन्थ से बहुत स्मृति-कारों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है ।

## याज्ञवल्क्य-स्मृति

### ( क ) याज्ञवल्क्य परिचय

याज्ञवल्क्य-स्मृति शब्द से साधारणतः यह प्रतीत होता है कि यह स्मृति याज्ञवल्क्य के द्वारा बनाई हुई है । महाभारत के दान्तपर्व के ३१२वें अध्याय



में, शतपथब्राह्मण (१४।१।३३) तथा भागवत (१०।६।१-७४) में यह बतलाया गया है कि याज्ञवल्क्य वैशम्पायन के शिष्य थे। वैशम्पायन से उन्होंने विद्या-प्रहण, विशेषतः यजुर्वेद का अध्ययन, किया था। परन्तु एक समय गुरु-शिष्य में मतभेद के कारण याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु की विद्या को वान्त ( Vomitted ) कर दिया और पुनः भगवान् सूर्य की आराधना कर मध्याह्नकाल में सूर्य से यजुर्वेद का अध्ययन किया। इसी यजुर्वेद को 'शुक्ल यजुर्वेद' तथा मध्यदिन में सूर्य से अधिगत होने से 'माध्यन्दिन-संहिता' भी कहा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदेह जनक के गुरु के रूप में भी याज्ञवल्क्य का वर्णन विस्तृत रूप में पाया जाता है। बृहदारण्यक के तृतीय अध्याय में यह बतलाया गया है कि विदेह जनक ने अपने यज्ञ में सभी प्रदेशों के ब्रह्म-ज्ञानियों को आमन्त्रित किया था। सभी के उपस्थित होने पर जनक ने उन सब के समक्ष अपना विज्ञापन किया— "यो वो ब्रह्मिष्ठ. स एताः गाः उदजताम्"। जनक के विज्ञापन को सुन कर सभी मौन हो गए थे। कुछ समय के पश्चात् याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों से उन गायों को ले जाने के लिए कहा। इस पर सभी क्रुद्ध हो गये और याज्ञवल्क्य के साथ उन सबों का प्रमशः शास्त्रार्थ ( ब्रह्म के विषय में ) हुआ। इस शास्त्रार्थ का स्वरूप वस्तुतः 'जल्प' ( विजिगीषुद्वयस्य कथा जल्पः ) था। जैसा कि जल्प के लक्षण से ही स्पष्ट है, इस कथा में उचित-अनुचित का विवेक नहीं सा रहता है। याज्ञवल्क्य भी इस अपरर्पण से रहित नहीं रह सके। उन्हें भी समय-समय पर त्रास-प्रदर्शन, शाप-दान आदि करना पड़ा। इन्हीं अपकर्षों के कारण विद्यारण्य स्वामी ने अपने जीवन्मुक्ति-विवेक ( पृ० २५७-२६२ ) में याज्ञवल्क्य के विषय में यह उपसंहार किया है—

"तस्मात् किम्यदुना ? ब्रह्मविदां याज्ञवल्क्यादीनामस्त्येव मलिन-वासनाऽ-नुवृत्तिः ।" ( जी० सु० वि० पृ० २६२ )

### ( छ ) प्रकृत स्मृति का कर्त्ता

प्रकृत स्मृति के कर्त्ता उपर्युक्त याज्ञवल्क्य ही हैं या कोई अन्य व्यक्ति—यह प्रश्न कुछ जटिल सा है। प्राचीन परम्परा के अनुसार बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य ही इस स्मृति के प्रणेता माने जाते हैं। आदित्य देव ने लिखा है— "अस्याश्च संहितायाः याज्ञवल्क्य प्रणेतेति व्याख्यातृणां स्मृतिरेव प्रमाणम्" ( अपरार्क १११ )। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी एक श्लोक है जो स्पष्टतः इस स्मृति के कर्त्ता के रूप में बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य को ही प्रस्तुत करता है—

ज्ञेयं चारण्यकमह यदादित्यादधातवान् ।

योग-शास्त्रञ्च मप्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ ( या० स्मृ० ३।१।० )

परन्तु मिताक्षराकार ने प्रथम श्लोक के अवतरण में लिखा है— "याज्ञवल्क्य-शिष्य कश्चिद्विश्वरूपेण याज्ञवल्क्य-प्रणीतं धर्म शास्त्रं कथयामास"। इस कथन

१. अस्ति हि याज्ञवल्क्यस्य \* ...भूयान् विषामरः । तैः सर्वैरपि विजिगीषु-कथायाम्प्रवृत्तत्वात् । —जीवन्मुक्तिविवेक पृ. २५७ ( आनन्दानन्द संस्कृत ग्रन्थमाला )

के आधार पर प्रा० काणे इस स्मृति को याज्ञवल्क्य-प्रगीत नहीं मानते । उनकी दृष्टि में उपर्युक्त 'ज्ञेयं चारण्यकम्' आदि श्लोक भी रचयिता का कपट प्रबन्ध मात्र सा प्रतीत होता है । प्रा० काणे ने अपने मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

This ( ज्ञेय चारण्यकमहम् ) is simply put in to glorify the याज्ञवल्क्य-स्मृति as the work of a great and ancient Sage, Philosopher and Yogi. From the style and doctrines of the स्मृति it is impossible to believe that it was the work of the same hand that gave to the world the उपनिषद् containing the boldest philosophical speculation couched in the simplest yet the most effective language. Even orthodox Indian opinion was not prepared to admit the unity of authorship in the case of the स्मृति and the चारण्यक.

( History of Dharmas'āstra, P. 162, Vol. I )

यद्यपि मेरा दुराग्रह नहीं है कि प्राचीन-परम्परा ही सत्य है, तथापि डॉ० काणे द्वारा उपस्थापित युक्तियों में कुछ प्रपलना नहीं देख पड़ती है । यदि याज्ञवल्क्य से भिन्न किसी व्यक्ति की यह रचना है तो उस व्यक्ति का नाम इस स्मृति से सर्वथा विलुप्त क्यों हो गया—यह एक समस्या हो जाती है । किसी प्रपलन कारण के अभाव में अपनी रचना को दूसरे महा-पुरुष के नाम से प्रसिद्ध कराने में लेखक की प्रवृत्ति को मनो-विज्ञान से समर्थन नहीं सा मिलता है । भाषा के आधार पर दोनों में भेद मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि वास्तविक दृष्टि से भाषा का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है न कि देश से । अवस्था भेद के अनुसार एक व्यक्ति की भाषा तथा रीति में परिवर्तन के उदाहरण भी कम नहीं हैं । यदि विज्ञानेश्वर के कथनानुसार याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य को ही इस स्मृति का प्रणेता मान लिया जाय तब भी श्रद्धेय प्रा० काणे द्वारा अभिप्रेत भाषा-तारतम्य, रीति-तारतम्य तथा वस्तु-तारतम्य का उचित समाधान प्रायशः असम्भव ही है । दूसरी बात यह भी है कि स्वयम् विज्ञानेश्वर भी इस विषय में व्यामुग्ध ( Confused ) से प्रतीत होते हैं कि इस स्मृति के प्रणेता कौन हैं । पहले तो उन्होंने मान लिया है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने इस स्मृति की रचना की थी, परन्तु ४-५ श्लोकों की व्याख्या में उन्होंने ने दो बार "याज्ञवल्क्य प्रणीतम्" तथा "याज्ञवल्क्य-प्रगीतम्" कहा है । एवञ्च विज्ञानेश्वर के आधार पर कुछ निर्णय करना तो वाञ्छनीय नहीं होना चाहिये । इसके अतिरिक्त आचारारण्य के द्वितीय श्लोक में— "मिथिलास्य स योगीन्द्र " कहा गया है जिससे भी प्राचीन-परम्परा का ही समर्थन होता है । सभी श्लोकों को प्रसिद्ध या विद्विष्ट मान कर कुछ निर्णय कर लेना नहीं तर्क-न्याय्य है—यह विचारणीय है ।

अतः जब तक कुछ सबूत न मिले तब तक केवल हेतुभास के आधार पर ही निगमन नहीं करना चाहिये प्रस्तुत इस स्मृति के कर्ता के विषय में उपस्थित

समस्या का उपसंहार सन्देह में ही करना उचित है। योगि-याज्ञवल्क्य आदि, प्राचीन की दृष्टि में, इस याज्ञवल्क्य से अभिन्न परन्तु नवीनों की दृष्टि में भिन्न, माने जाते हैं।

( ग ) याज्ञवल्क्य स्मृति की श्लोक सरया

याज्ञवल्क्य-स्मृति की श्लोक-सरया के विषय म विश्वरूपाचार्य, विज्ञानेश्वर तथा अपरादित्य वा मत एक नहीं है। विश्वरूप के अनुसार याज्ञवल्क्य-स्मृति में १००३, विज्ञानेश्वर के मत में १००९ और अपरादित्य की व्याख्या में १००६ श्लोक पाये जाते हैं। व्याख्याओं में अनुपलब्ध परन्तु कुछ मूल पुस्तकों में उपलब्ध—“श्लोकानामपि विशेष सहस्र चतुरत्तरम्” के आधार पर तो मूल श्लोकों की सरया १००२ प्रतीत होती है। मित्र मिश्र ने विज्ञानेश्वर का ही अनुसरण किया है। शूलपाणि ने अपनी व्याख्या म १०१० श्लोक माने हैं।

व्याख्यात श्लोकों में विषमता क अतिरिक्त कुछ ऐसे भी श्लोक हैं जिनका सङ्केत केवल मूल पुस्तक में है, किसी भी व्याख्या में नहीं। उदाहरणार्थ, आचाराध्याय में और भी कुछ श्लोक अधिक उपलब्ध होते हैं—२३३ एवं २३४ श्लोकों के मध्य में अर्ध श्लोक है—“अपहता इति निलान् विकीर्य च समन्तत ।” इसी प्रकार ३०८ तथा ३०९ श्लोकों के मध्य म एक श्लोक है—

ग्रहाणामिदमातिष्य कुर्यात् सवत्सरादपि ।

आरोग्य-बल-सम्पन्नो जीवेत्स शरद् शतम् ॥

व्यवहाराध्याय के अन्त म भी मूल पुस्तक में निम्न लिखित तीन श्लोक अधिक हैं—

- ( १ ) राजभिर्दत्त-दण्डास्तु कृत्वा पापानि मानया ।  
निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्त मुकृतिनो यथा ॥
- ( २ ) एवमुद्धतदण्डाना विशुद्धि पापकर्मिणाम् ।  
स्व धर्म-स्थापनाद्वाजा प्रजाभ्यो धर्ममश्नुते ॥
- ( ३ ) यत्र दण्ड विधिर्नोक्त सर्वैरेव महात्मभिः ।  
देश कालादि सञ्चिन्त्य तत्र दण्डो निधीयते ॥

इसी प्रकार प्रायश्चित्ताध्याय के अन्त में भी कुछ श्लोक पाये जाते हैं—

- ( १ ) विप्रैश्चपि विशेषेण धार्या वाजसनेयिकैः ।  
इच्छाद्वा श्रेयसि फलमिह लोके परत्र च ॥
- ( २ ) यद्वाप्त मया देवादादित्याद्वा सनातनात् ।  
तद्वा सर्वमिदमोक्त श्रुति स्मृत्यभिसम्मतम् ॥
- ( ३ ) नि श्रेयस-कर नृणा शास्त्र देवर्षि-सेवितम् ।  
ज्ञात्वा ये ह्यभ्यवस्यन्ति तेऽन सयान्ति धै पुन ॥

( य तीन श्लोक मिताक्षरा के ३२३ तथा ३२८ श्लोकों के मध्य म पाये जाते हैं । )

( १४ ) अभ्युपेक्षाशुभ्रपा-( Negligence of promised service ) प्रकरण ( श्लो० १८२-१८४ ),

( १५ ) संविद्धतिक्रम-( Breach of contract ) प्रकरण ( श्लो० १८५-१९२ ),

( १६ ) वेतनादान-प्रकरण ( श्लो० १९३-१९८ ),

( १७ ) घृत समाह्वय<sup>१</sup>-( Gambling ) प्रकरण ( श्लो० १९९-२०३ ),

( १८ ) धात्रपारुष्य-( Defamation ) प्रकरण ( श्लो० २०४-२११ ),

( १९ ) दण्ड-पारुष्य-( Assault ) प्रकरण ( श्लो० २१२-२२९ ),

( २० ) साहस- ( Aggressive act ) प्रकरण ( श्लो० २३०-२५३ ),

( २१ ) विक्रीयाऽसम्प्रदान-( Non-delivery of the sold ) प्रकरण ( श्लो० २५४-२५८ ),

( २२ ) सम्भूय-समुत्थान-( Joint dealing ) प्रकरण ( श्लो० २५९-२६५ ),

( २३ ) स्तेय ( Theft ) प्रकरण ( श्लो० २६६-२८२ ),

( २४ ) स्त्री-संग्रहण-( Seduction ) प्रकरण ( श्लो० २८३-२९४ ) तथा,

( २५ ) प्रकीर्णक-( Miscellany ) प्रकरण ( श्लो० २९५-३०७ ) ।

प्रायश्चित्ताध्याय में ५ प्रकरण हैं—

( १ ) अशीघ्र प्रकरण ( श्लो० १-३४ ), ( २ ) आपद्धर्म-प्रकरण ( श्लो० ३५-४४ ), ( ३ ) घानप्रस्थ धर्म-प्रकरण ( श्लो० ४५-५५ ), ( ४ ) यति-धर्म-प्रकरण ( श्लो० ५६-२०५ ), ( ५ ) प्रायश्चित्त-प्रकरण ( श्लो० २०६-३३४ ) ।

प्रायश्चित्त-प्रकरण में महा पातक उप-पातक आदि का स्वरूप निर्देश तथा प्रायश्चित्त विधान आदि दिए गए हैं ।

### याज्ञवल्क्य स्मृति का महत्त्व

पूर्व निर्दिष्ट सभी धर्म-शास्त्र प्रवर्षक-सूत्रियों में मनु के सर्व प्रथम निर्देश होने के कारण यह तो स्पष्ट है कि स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है । इसी लिए बृहस्पति का कथन है—

वेदार्थ-प्रतिषद्धत्वात् प्रामाण्यन्तु मनोः स्मृतम् ।

मन्वर्थं विपरीता तु या स्मृतिः सा न दास्यते ॥

( घृ० स्मृ० सं० का० श्लो० १३ )

अत्रिराने भी मनु को ही सर्वप्रथम स्थान दिया है—

यत्पूर्वं मनुना प्रोक्तधर्म-शास्त्रमनुत्तमम् ।

न हि तास्तमतिक्रम्य वचनं हितमात्मनः ॥

( Dr. Jha : Hindu Law in its Sources, P. 44 )

उपर्युक्त बृहस्पति वाक्य से यह स्पष्ट है कि किसी भी स्मृति को प्रतिष्ठित होने के लिए यह आवश्यक है कि यह मनु के मत से समर्थित हो । प्रकृत धान्यकरण-स्मृति भी आद्यन्त मनु के मत से अति-प्रोत है । नीचे बृहस्पति श्लोक मनु-स्मृति तथा धान्यकरण-स्मृति के दिये जाते हैं जहाँ वेचल अर्थ साम्य ही नहीं अपि तु शब्द-साम्य भी है—

## मनु स्मृति

(१) वेद स्मृति सदाचार  
स्वस्य च प्रियमात्मन ।  
एतच्चतुर्विधमग्राहु  
साक्षाद्दर्शनस्य लक्षणम् ।

२।१२॥

(२) निपेकादिश्मशानान्तो  
मन्त्रैर्षस्योदितो विधिः ॥

२।१६।

(३) गर्भाष्टमेऽष्टे कुर्वीत  
ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥

२।३६॥

(४) भाषोदशाद्ब्राह्मणस्य  
सावित्री नातिरर्त्तते ।  
आद्वाविंशत् क्षत्रयन्धो  
आचतुर्विंशतेर्विश ॥  
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते  
यथाकालमसकृता ।  
सावित्री-पतिता ब्राह्म्या  
भवन्त्यार्षे विगहिता ॥

२।३८-३९॥

(५) न स्कन्दते न व्यधते  
न विनश्यति कर्हिचिन् ।  
वरिष्ठमग्नि होत्रेभ्यो  
ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ।

७।८४॥

(६) अलब्धमिच्छेत्तत्रैव  
लब्ध रक्षेत्प्रयत्नत ।  
रक्षित वर्धयेत्तत्रैव  
वृद्ध पात्रेषु नि क्षिपेत् ॥  
अलब्धमिच्छेत्तत्रैव  
लब्ध रक्षेद्वेक्षया ।  
रक्षित वर्धयेद्वृद्धया  
वृद्धय पात्रेषु नि क्षिपेत् ॥७।९९,१०१

## याज्ञवल्क्य स्मृति

(१) श्रुति स्मृति सदाचार  
स्वस्य च प्रियमात्मन ।  
सम्यक्सकल्पज्ञ कामा  
धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

१।४॥

(२) निपेकाद्या श्मशानान्ता  
तेषां चै मन्त्रत क्रिया ॥

१।१०॥

(३) गर्भाऽष्टमेऽष्टमे वाब्दे  
ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥

१।१४॥

(४) आ षोऽशादाद्वाविंशत्  
चतुर्विंशत् च वत्सरात् ॥  
ब्रह्म क्षत्र विशा काल  
आपनायनिक पर ॥  
अत ऊर्ध्वं एतन्त्यते  
सवधर्मं वहिष्कृता ।  
सावित्री पतिता ब्राह्म्या  
ब्राह्म्यस्तोमाहते ऋतो ॥

१।३७-३८ ॥

(५) अस्कन्धमव्ययञ्चैव  
प्रायश्चित्तैरदृपितम् ॥  
अग्ने सकाशाद्भिर्मानौ  
हुत श्रेष्ठमिहोप्यते ॥

१।३१६॥

(६) अलब्धमीहेद्दमण  
लब्ध यत्नेन पालयेत् ।  
पालित वर्धयेच्छीष्या  
वृद्धमपात्रेषु नि क्षिपेत् ॥

१।३१०॥

याज्ञवल्क्य स्मृति में किये गये मनु-स्मृति के रूप के कुछ निदर्शन निम्न-  
लिखित हैं—

ग० स्मृ०

- (१) प्राज्ञाभिवर्धनात् पुंसो  
जातकर्म विधीयते ।  
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य  
हिरण्य-मनु-सर्पिणाम् ॥  
नामधेय दशम्यान्तु  
द्वादश्या चास्य कारयेत् ।  
पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा  
नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥  
चतुर्थे मासि वर्त्तव्यम्  
शिशोनिष्क्रमण गृहात् ।  
पष्टेऽङ्गप्राशन मासि  
यद्येष्ट मङ्गल शुभे ॥  
चूडावर्म द्विजातीना  
सर्वेषामेव धर्मत ।  
प्रथमेऽष्टदे तृतीये वा  
वर्त्तव्य श्रुति चोदनात् ॥

२१२९-२०, २४-३५ ॥

- (२) हीन जाति स्त्रिय मोहात्  
उद्बहन्तो द्विजातय ।  
कुलान्येव नयन्त्याशु  
स-सन्तानानि शूद्रताम् ॥  
शूद्रा शयनमारोप्य  
प्राहणो वारयधोगतिम् ॥  
जनयित्वा सुत धरया  
प्राहण्यादेव हीयते ॥ ३११५, १७ ॥

- (३) सुवासिनी कुमारीश्च  
रोगिणो गर्भिणीः स्त्रिय ।  
अतिथिभ्योऽप्र पक्वैतान्  
भोजयेदविचारयन् ॥  
शुक्तवस्त्रेषु विप्रेषु  
स्वपु भृत्येषु चैव हि ।  
शुक्लीयाता तत्र पश्चात्  
अथशिष्टन्तु दम्पती ॥ ३११४, १६ ॥

या० स्मृति०

- (१) एते जातकर्म च ॥  
अहन्येकादशे नाम  
चतुर्थे मासि निष्क्रम ।  
पष्टेऽङ्ग प्राशन मासि  
चूडा कार्या यथाकृत्म् ॥

११११-१२ ॥

- (२) यदुच्यते द्विजातीना  
शूद्रादारोपसग्रह ।  
नैतन्मममत यस्मात्  
तत्राय जायते स्वयम् ॥ ११५६ ॥

- (३) वाल स्ववासिनी वृद्ध-  
गर्भिण्यापुत्र कन्यका ।  
सम्भोग्यातिथि मृत्यांश्च  
दम्पत्यो दोष-भोजनम् ॥ ११०५ ॥

स्थल विशेष में याज्ञवल्क्य में मनु के मत का कुछ परिवर्तन भी किया गया है। उसके कुछ दृष्टान्त अधोलिखित हैं—

म० स्मृ०

- (१) गर्भाष्टमेऽष्टमे कुर्वीत  
प्राङ्मणस्योपनायनम् ॥२॥३६
- (२) एकोऽलुब्धस्तु साची स्यात्  
८१७०॥
- (३) अकामतः कृतम्पापं  
वेदाभ्यासेन शुध्यति ।  
कामतस्तु कृतं मोहान्  
प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ १११४६॥
- (४) रेतः-सेकः स्वयोनीषु  
कुमारीष्वन्यजासु च ।  
सशयुः पुत्रस्य च स्त्रीषु  
गुरुतदपममं त्रिदुः ॥ १११५८॥

या० स्मृ०

- (१) गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽष्टे  
प्राङ्मणस्योपनायनम् ॥१११४॥
- (२) उभयानुमतः साची  
भवत्येकोऽपि धर्मवित् ॥ ११७२॥
- (३) प्रायश्चित्तैरपेत्येनो  
यदज्ञानकृतम्भवेत् ।  
कामतो व्यचहार्यस्तु  
वचनादिह जायते ॥ ११२२६॥
- (४) सति-भार्या कुमारीषु  
स्वयोनिष्वन्यजासु च ।  
सगोत्रासु सुत स्त्रीषु  
गुरुतदप्यसमं स्मृतम् ॥  
पितुः स्वसारं मातुश्च  
मातुलानीं स्नुषामपि ।  
मातुः सपत्नीं भगिनीम्  
आचार्यतनयो तथा ॥  
आचार्य-पत्नीं स्व-सुतां  
गर्भस्तु गुरु-तदपगः ॥

३१२३१-३३॥

कुछ स्थान में मनु में साधारण वैभवं भी है। उदाहरण के लिए 'मह्य दृष्या-सम' तथा 'सुरा-पान-भ्रम' शर्तों में मनु तथा याज्ञवल्क्य के परस्पर विभिन्न स्थान को देखें—

म० स्मृ०

- (१) अनृतं च मसुरकपे  
राज-नामि च वैशुनम् ।  
गुरोर्भ्रातृक निर्वन्धः  
समानि मह्य दृष्यथा ॥ १११५०॥
- (२) मह्योऽज्ञाना वेद निन्दः  
कौट-नास्यं गुरुद्वयम् ।  
वर्दितानास्योर्ज-गुणः  
सुरापान-भ्रमानि च ॥ १११५६

या० स्मृ०

- (१) निषिद्ध-भक्षणं जैष्ठ्यम्  
उत्कृष्टं च यथेऽनृतम् ।  
रजस्यला-गुण्यारजाद-  
सुरापान-समानि तु ॥ ३१२३९॥
- (२) गुरुणामप्यभिसेपो  
वेदनिन्दा गुरुद्वयम् ।  
मह्य दृष्या समं शेषम्  
अर्थात्स्य च मासानम् ॥ ३१२४४॥

इतनी समता या साधारण विषमता के अतिरिक्त दोनों में असाधारण विषमता भी दूत-समाह्वय प्रायश्चित्त आदि में स्पष्ट उपलब्ध है। परन्तु देश-काल के अनुसार हा याज्ञवल्क्य स्मृति में यह परिवर्तन हुआ है—यही प्रतीत होता है। अतः परमाथत याज्ञवल्क्य स्मृति को मनुस्मृति का विप्रतीप कहना उचित नहीं है।

मनुस्मृति से अतिरिक्त अग्याम्य प्राचीन धर्मशास्त्र के मत का भी यथोचित सक्षिवेश याज्ञवल्क्य स्मृति में हुआ है, परन्तु विस्तर भय से यहाँ उनके उदाहरण नहीं दिये जाते हैं। बहुत से उदाहरण तो याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्याओं के अवलोकन से भी स्पष्ट हो जाते हैं दोनों की तुलना करने पर तो कुछ कहना ही नहीं है।

विषय विन्यास की दृष्टि से भी याज्ञवल्क्य स्मृति बहुत ही प्रशस्त है। सन्धि में अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति इसकी विशेषता है। जहाँ मनुस्मृति में १७०० श्लोक हैं वहीं या० स्मृ० में केवल १००९ ( मिताचरा कार के अनुसार ) श्लोक हैं। मनुस्मृति का विषय विन्यास स्पष्ट होने पर भी बहुधा सङ्कीर्ण हो गया है जब कि या० स्मृ० में सङ्कीर्णता का सर्वथा अभाव ही शृष्टि-गोचर होता है। मनुस्मृति में वर्णन के प्रसङ्ग में निदर्शन आदि का पुट अधिक है जो या० स्मृ० में प्रायश नहीं मिलता है। शृष्टि प्रक्रिया आदि कुछ विषयों की तो या० स्मृ० में कोई खचा ही नहीं है जब कि म० स्मृ० में पूरा प्रथम अध्याय शृष्टि प्रकार के वर्णन में ही पर्यवसन्न हुआ है। मनुस्मृति में पुनरुक्ति भी बहुत है। कुछ निदर्शन निम्न लिखित हैं —

- १ वेदोऽखिलो धर्म मूल स्मृति-शीले च तद्विदाम् ।  
 आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनस्तुष्टिरिव च ॥ २।६ ॥  
 वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन ।  
 पृतश्चतुर्विधमप्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ २।१२४

तथा,

- अलब्ध चैव लिप्सेत लब्ध रक्षेत्प्रयत्नत ।  
 रक्षित धर्षयेच्छैव पृथग्पात्रेषु नि लिपेत् ॥ ७।१९ ॥  
 अलब्धमिच्छेद्दत्तं लब्ध रक्षेदवक्षया ।  
 रक्षितमधर्षयेद्दत्तं पृथग्पात्रेषु नि लिपेत् ॥ ७।१०१ ॥

अतः विषय में मन्वर्षानुगामिनी तथा प्रतिपादन में सक्षित विन्तु पुनरुक्त-सारिणी तथा देश-काल पात्र को ध्यान में रखकर निर्णय करने वाली या० स्मृ० का सभी स्मृतियों में विद्विष्ट स्थान है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति क व्याख्याकार

विश्वरूप-( ७५०—१००० इ० )

याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकारों में सर्वप्रसिद्ध तथा सर्वप्रथम उपलब्ध व्याख्याकार विश्वरूपाचार्य हैं। इनकी व्याख्या का नाम 'शास्त्रीदा' है जिसका



प्रकाशन महामहोपाध्याय गणपति शान्धी के द्वारा 'त्रिवेन्द्रम सरकृत ग्रन्थमाला' से हुआ है। यह व्याख्या दो भागों में प्रकाशित हुई है। प्यारया की भाषा अत्यन्त मनोहर है। याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को, विशेषत आचार तथा प्रायश्चित्त अध्यायों में, विश्वरूप ने विश्वरूप बना दिया है। इसीलिए मिताक्षराकार ने प्रारम्भ में ही इनका ससम्मान निर्देश किया है—

“याज्ञवल्क्य मुनि भाषितमुद्गु विश्वरूप विकटोक्तिविरचितम्” ॥

( मिताक्षरा० आचार० श्लो० २ )

याज्ञवल्क्य के समर्थन के लिए ( यत्र तत्र अपने विमत के समर्थन के लिए भी ) विश्वरूप ने वेदों से तथा अनेक स्मृतियों एवम् गृह्यसूत्रों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। स्थान स्थान पर मिताक्षराकार का मत भी इनसे भिन्न है। यद्यपि इन्होंने 'अ-ये', 'अ-परे', 'यत्तु' आदि शब्दों से अपने से प्राचीनतर व्याख्याकारों का भी निर्देश किया है तथापि किसी का नाम स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट नहीं हुआ है। विश्वरूप की प्रवृत्ति मीमांसा की ओर अधिक है। अनेकशास्त्रमिनि के सूत्रों का इन्होंने उद्धरण किया है। इनका समय महामहोपाध्याय काणे के अनुसार ७५० ई० से लेकर १००० ई० तक माना गया है।

विज्ञानेश्वर ( १०७०—१११५ )

विज्ञानेश्वर की श्रुति मिताक्षरा समस्त धर्म-साहित्य में अद्वितीय है। महामहोपाध्याय काणे का कथन है—

Its position is analogous to that of the महाभाष्य of पतञ्जलि in grammar or to that of the काव्य प्रकाश of मम्मट in poetics

( History of Dharma P. 287 )

आङ्गलशासन काल में तो मिताक्षरा का बड़ा ही महत्त्व था। इसी के आधार पर न्यायालय में दायभाग आदि का निर्णय किया जाता था। यदि यह कहा जाय कि मिताक्षरा के कारण याज्ञवल्क्य-स्मृति का भी महत्त्व कुछ अधिक हो गया तो अत्युक्ति न होगी। याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को परिष्कृत करने के लिए इन्होंने अनेक स्मृतियों, पुराणों तथा वैदिक ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। स्मृतिकारों का निर्देश तो विश्वरूप की तुलना में बहुतगुण है—ऐसा कहा जा सकता है। ये मीमांसा के बड़े ही प्रकृष्ट पण्डित प्रतीत होते हैं। वस्तुतः धर्मशास्त्र के मर्म को जानने के लिए मीमांसा का विशद ज्ञान अनिवार्य है। इन्होंने 'यथाकामी भवेद्वापि' ( या० ब्र० १।८१ ) श्लोक की व्याख्या में विधि का विमर्श बहुत ही तार्किक युक्ति से मीमांसा शास्त्र के अनुसार प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार १।८६, २।११४, २।१२६ आदि श्लोकों की व्याख्या में भी उनके मीमांसा शास्त्रीय वैदुष्य का उत्कर्ष दस्ता आ सकता है।

इनका जन्म भारद्वाज गोत्र में हुआ था। इन्होंने अपने पिता का नाम पद्मनाभ महोपाध्याय बतलाया है। गुरु के विषय में इनका निर्देश है—

उत्तमोपपदस्वये शिष्यस्य शृतिराम्भन ।

इस श्लोक के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनके गुरु का नाम उत्तमात्मा अथवा आत्मोत्तम रहा होगा।

इन्होंने अपनी मिताक्षरा में विक्रमादित्य देव को अपने आश्रयदाता के रूप में निर्दिष्ट किया है। विक्रमादित्य देव का वर्णन 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' महाकाव्य में महाकवि विश्वरूप द्वारा विशद रूप में वर्णित है। "विक्रमाङ्क-देव-चरित" के सम्पादक म० म० पं० रामावतार पाण्डेयजीने अपनी भूमिका में चालुव्यवशीय विक्रमादित्य का समय १०७६ से १११४ ई० के बीच माना है। अतः विज्ञानेश्वर का भी समय वही होना चाहिए।

### अपरादित्य ( द्वादश शतक-पूर्वार्ध )

या० स्मृ० पर तीसरी व्याख्या अपराक है। यह व्याख्या मिताक्षरा से विस्तृत तथा धर्म-शास्त्र के सिद्धान्तों का आधार है। आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना से १९०३-४ में दो भागों में यह प्रकाशित हुई है। इस व्याख्या में पुराणों से बहुत ही उद्धरण किये गए हैं। पुराणों से अतिरिक्त गौतम आदि धर्म-शास्त्रों से भी बहुत प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। इनका जन्म-समय १११५ से ११३० ई० के मध्य में माना जाता है। इनके पिता का नाम अनन्त देव तथा पितामह का नागार्जुन था। ये जीमूतवाहन के वंश में उत्पन्न हुए हैं, जैसा या० स्मृ० की व्याख्या के अन्त में इनके लेख से स्पष्ट होता है—'इति श्री-विद्याधरवत्सप्रभवश्रीशिलाहार नरेन्द्र-जीमूतवाहनाश्रयप्रसूत धीमदपरादित्य देव.....'। एक दूसरे अपरादित्य देव भी हुए हैं जिनका जन्म समय ११८४-११८७ है परन्तु डा० काणे के कथनानुसार या० स्मृ० के व्याख्याता प्रथम अपरादित्य देव ही हैं। कहीं-कहीं इनका नाम केवल आदित्यदेव भी पाया जाता है। भासवंश के न्यायसार पर भी इनकी एक बृहद्व्याख्या—न्यायमुक्तावली है, जो १९६१ ई० में मद्रास से प्रकाशित हुई है। इनके विषय में विशेष विवरण के लिए डा० काणे का History of Dharmas'astra ( PP. 325-334 ) देखना चाहिए।

### शूलपाणि ( १३०५-१४६० ई० )

शूलपाणि पद्माल के धर्म शास्त्रीय-नियन्ध-कारों में प्रमुख माने जाते हैं। इन्होंने या० स्मृति की टीका लिखी। इस टीका का नाम 'दीप-कलिका' है। यह व्याख्या अत्यन्त-सूक्ष्म होने पर भी प्रामाणिक है। यही कारण है कि वीर-मिश्रोदय तथा अष्टाविंशति-तय आदि प्रामाणिक नियन्धों में इनके मत का उल्लेख है। ये साहुदियाल वंश के यज्ञीय ब्राह्मण थे। प्रो० काणे के निर्देशानुसार, बल्लालसेन के राज्य-काल से राष्ट्रीय ब्राह्मणवर्ग के निम्न-तर वर्गीय ब्राह्मण ही साहुदियाल कहलाते हैं। रक्षधर के द्वारा 'गौड़ीय' शब्द से निर्दिष्ट होने के कारण इनका यज्ञीयत्व माना जाता है। इनका समय प्रो० काणे तथा जगन्नाथ रघुनाथ धारपुरे के अनुसार १४ शतक के अन्त तथा १५ शतक के मध्य के बीच

## मित्र-मिथ्र ( १८०० ई० )

मित्र मिथ्र के नाम से प्रसिद्ध 'वीरमिश्रोद्घ' व्याख्या विशाल-काय तथा प्रमेय बहुल है। मित्र मिथ्र का समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है, क्योंकि आनन्द चम्पू में इन्होंने इसके निर्माण-काल का उल्लेख किया है—

'मीनारोहिणि-रोहिणी-सदृचरे कृष्याऽन्तिके रेवतीं  
याते चण्ड-मरीचि-मालिनि तुला घारे च वाचस्पतेः ।  
शाके ध्याङ्गतर्तुभू ( १६९० ) परिमिते ह्यानन्दकन्दामिथां  
चम्पूपूरितवान् सित-स्मर-तिथौ श्रीमित्र-मिथ्रः कृती ॥'

अतः इनका समय यदि १८ शतक का मध्य-भाग माना जाय तो कुछ अनुपपत्ति नहीं दीयती है।

इनकी व्याख्या में अनेक स्मृति तथा पुराणों का उद्धरण तथा रिचन मिलता है, जिनसे इनके विद्या-चैम्भव का पता चलता है। परन्तु यह विषय ध्यान देने योग्य है कि यह व्याख्या इनकी अपनी लिखी हुई नहीं है अपितु किसी सदानन्द नाम के विद्वान् ने मित्र मिथ्र के अनुरोध से इसका सम्पादन किया था और मित्र मिथ्र के नाम से ही इसे प्रणयापित किया। इसके समर्पण में धी० मि० ( या० स्मृ० व्याख्या ) में उद्धृत निम्नलिखित श्लोक है—

उत्तमस्तीरगुप्ते अग्निल-बुध-गुरु श्रीसदानन्दधीमान्  
श्रीभाजो मित्रमिथ्राज्जगदुपहृतये मिथ्रदादेःशदीपम् ।  
जानानान्दैर्न्य-शोपापहमवलि-भय याज्ञवल्क्योक्तिरोक्षात्  
दृष्ट्वा स्मृत्पर्यन्तारं समचिनुत यतो धर्म-रूपमी-विहारम् ॥

( या० स्मृ० व्या० भा० अ० मन्त्रल श्लो० १६ )

जो कुछ भी हो, वीर मिश्रोद्घ व्याख्या के महत्व का अपलाप तो कथमपि नहीं किया जा सकता। धर्मशास्त्र-कानन में परिभ्रमण करने की इच्छा रखने वाले साज्जन के लिए तो यह व्याख्या विशेषतः उपयोगी है।

## प्रस्तुत-संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में आधुनिक युग के नियोग को ध्यान में रखकर मूल स्मृति का हिन्दी-अनुवाद समन्वित कर दिया गया है, जिससे संस्कृत के प्रगाढ़ ज्ञान से रहित जिज्ञासुजन का भी अभिप्राय पूर्ण हो सके। साथ ही विशानेरवर की मिलापरा, जिसका महत्व प्रायः तथा पाषाण्य-दोनों ही दृष्टियों से अनुपम है, का समावेश कर दिया गया है जिससे प्राचीन तथा मपीन का सह-संग प्रकाशित होता रहे।

भाषा है विद्वज्जन इस नवीन संस्करण का यथोचित स्वागत कर चौखम्बा प्रकाशन के अभ्युद्योग को प्रोत्साहित करेंगे जिससे ये इसी तरह संस्कृत तथा संस्कृतज्ञ की सेवा में स्रोत्साह तत्पर रह सकें।

मतिमान्दादनुचिताः सम्भवन्ति पदे पदे ॥

तथापि ते नहि पदं लभन्ते महतां हृदि ॥ १ ॥

तुच्छोऽप्यवस्थातुमर्हः प्रकाशः सदितुर्मुखे ॥

अन्धं तमो महदपि न कदाचिदपीत्यलम् ॥ २ ॥

—श्री नारायणमिश्रः

# भूमिका

## स्मृति साहित्य

भारतीय धर्मशास्त्र में वैदिक धर्मसूत्रों के उपरान्त स्मृतियों आती हैं। स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। श्रुति तथा स्मृति द्वारा विहित आचार को धर्म बताया गया है (श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः, वसिष्ठधर्मसूत्र, १. ४. ६) श्रुति से वेद का अर्थ लिया जाता है और स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् ईश्वरप्रकाशित एवं ऋषिदृष्ट यादृमय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है। उपर्युक्त अर्थ में धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रन्थ हैं। ("श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः", मनु० २. १०)। श्रुति श्रवण, मनन और अभ्यापन का विषय है; स्मृति स्मरण का विषय है और परम्परागत धार्मिक साहित्य है। संकीर्ण अर्थ में स्मृति और धर्मशास्त्र में कोई भेद नहीं है।

वैदिक साहित्य में हम सूत्रों के अन्तर्गत श्रौतसूत्र या श्रुति पर आधारित सूत्रों का विभाजन पाते हैं। "श्रौतसूत्रों के साथ ही साथ हम दूसरे प्रकार के ग्रन्थसूत्र भी पाते हैं, जिन्हें गृह्यसूत्र कहा गया है। ये गृहस्थजीवन की उन क्रियाओं का वर्णन करते हैं जो जन्म, जन्म के पूर्व, विवाह, मृत्यु और मृत्यु के बाद के अवसरों पर की जाती हैं। इन रचनाओं की उत्पत्ति उनके नाम से ही पर्याप्त रूप में प्रकट हो जाती है, कारण गृह्यसूत्र के अतिरिक्त उनका नाम स्मार्त-सूत्र या स्मृति पर आधारित सूत्र भी है। स्मृति का अर्थ वह है जो याद किया जाने योग्य हो। इस प्रकार हम स्मृति का श्रुति अर्थात् श्रवण के विषय से स्पष्ट रूप से भेद कर सकते हैं, कारण, स्मृति सीधे स्मरण शक्ति पर दृष्टि डालती है और इसके लिए किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती।"

इसी विद्वान् ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय लोग विधि का व्यवहार "स्मृति द्वारा ही" "अथो ग्रीक्स" किया करते थे।<sup>१</sup>

संक्षिप्त अर्थ में स्मृति से धर्मशास्त्र की उन रचनाओं का तात्पर्य है जो प्रायः श्लोकों में हैं और उन्हीं विषयों का विवेचन करती हैं जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रों में किया गया है। इन स्मृतियों में अग्रणी हैं—मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ। मनुस्मृति सबसे प्राचीन है और ईसा से कई सौ वर्ष पहले रची गई थी। अन्य स्मृतियाँ ४०० से १००० ई० के बीच की हैं। स्मृतिकारों की संख्या विस्तृत है।

१. भारतीयसाहित्य, मनु० उदेंद्रचन्द्र पाण्डेय, पृ० ११।

स्मृतियों प्रायः पद्य में हैं और भाषा की दृष्टि से स्मृतियों धर्मसूत्रों के बाद की रचनाएँ हैं। स्मृतियों की भाषा लौकिक है। विषयवस्तु की दृष्टि से स्मृतियों धर्मसूत्रों से अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं।

मुख्य स्मृतिकार १८ हैं—मनु, बृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशनस्, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत।

इनके अतिरिक्त उपस्मृतियों के भी लेखकों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—

नारदः पुलहो गार्ग्यः पुलस्त्यः शौनकः क्रतुः ।  
 वौधायनो जातुकर्ष्यो विश्वामित्रः पितामहः ॥  
 जायालिनाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाचिकश्यपौ ।  
 व्यासः सनत्कुमारश्च शान्तनुर्जनकस्तथा ॥  
 व्याघ्रः कार्यायमश्चैव जातुकर्ष्यः कपिञ्जलः ।  
 यौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च ।  
 पैठीनसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृतिविधायकाः ॥

वीरमित्रोदय, परिभाषा प्रकरण के अनुसार स्मृतिकारों की संख्या २१ है और ये हैं—

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः ।  
 विष्णुः कार्णाजिनिः सत्यमतो गार्ग्यश्च देवलः ॥  
 जमदग्निभारद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।  
 आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिर्वात्स पृथ च ॥  
 पारशरश्चर्ष्यश्चक्रो वैजयापस्तथैव च ।  
 हत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिताः ॥

स्वयं स्मृतिकारों ने दूसरे स्मृतिकारों का उल्लेख किया है और उनकी संख्या का अपने ज्ञान के अनुसार निर्देश किया है। मनु ने ६ के, याज्ञवल्क्य ने २० के, पराशर ने १९ के नाम गिनाये हैं। स्मृतियों की संख्या के विषय में भिन्न प्रकार की सूचनाएँ मिलती हैं। जैसा कि प्रो० वाणे ने निष्कर्ष निकाला है—'यदि बाद में आनेवाले निपन्धों, यथा निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ, एवं वीरमित्रोदय की मयूख सूचियों को देखा जाय तो स्मृतियों की संख्या १०० हो जायगी।'।

यहाँ उल्लेखनीय है कि जो स्मृतियों उपलब्ध हैं उनकी संख्या अपेक्षाया कम है। अनेक स्मृतियों की केवल व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। साथ ही स्वरूप तथा शैली की दृष्टि से भी ये स्मृतियाँ भिन्न हैं।

### याज्ञवल्क्यस्मृति

स्मृति साहित्य में मनुस्मृति के बाद दूसरी महत्वपूर्ण स्मृति है याज्ञवल्क्य-स्मृति। कुछ दृष्टि से तो—याज्ञवल्क्यस्मृति का मनुस्मृति की अपेक्षा भी अधिक

व्यावहारिक महत्त्व है। याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति के बाद की रचना है यह बात विषयवस्तु के कारण तो स्पष्ट है। हाँ और भी अनेक विशिष्ट तथ्यों के कारण भी स्पष्ट है। इसमें विषयवस्तु का विधिवत् विभाजन किया गया है। गणेश और प्रहो की पूजा भी इस-स्मृति की विशेषता है। दान से सबद कर्मों का ताम्रपत्र

लिखित विचार व्यक्त किये हैं 'जो विषय दोनों में पाये जाते हैं उनमें भी हम याज्ञवल्क्य में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता पाते हैं, और विशिष्ट उदाहरणों में, जहाँ दोनों में दोस अन्तर दिखाई पड़ता है, याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण स्पष्ट वाद के समय का है।'

मनु ने व्यवहार के जितने प्रमाण गिनाये हैं उनकी अपेक्षा याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखित ताम्रपत्र अधिक गिनाया गया है। मनु ने दिव्यों के अन्तर्गत अग्नि और जल के दो दिव्यों का वर्णन किया है जब कि याज्ञवल्क्य ने पाँच दिव्यों का वर्णन किया है। दार्शनिक विषयों के विवेचन में याज्ञवल्क्य और मनुस्मृति में समानता है, किन्तु भ्रूणविज्ञान याज्ञवल्क्यस्मृति में नवीन विषय है, जिसे कीध ने किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थ से लिया हुआ माना है।

याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति की अपेक्षा छोटी है। मनुस्मृति में २००० श्लोक हैं, जबकि याज्ञवल्क्यस्मृति में लगभग एक हजार श्लोक हैं। सौली की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति सफ़ि़स है और प्रवाहमय है। प्रो० कांगे ने यह सभायना व्यक्त की है कि याज्ञवल्क्यस्मृति के रचयिता के सामने रचना करने समय मनुस्मृति रही होगी, कारण अनेक स्थलों पर दोनों स्मृतियों में समान शब्द पाये जाते हैं।

किन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है याज्ञवल्क्य एक मौलिक विचारक और धर्मशास्त्रकार हैं। ये पहले के आचार्यों का विष्टपण मात्र नहीं करते, अपितु देशकाल के परिवर्तनों के साथ परिवर्तित मान्यताओं को प्रस्थापित करते हैं और अपने पूर्ववर्ती मनु से कई स्थलों पर सहमत नहीं होते। भाषा की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति पाणिनि के नियमों का पालन करती है। एकाध शब्द अपवाद भी मिल जाते हैं।

पूर्ववर्ती साहित्य से संयोग—

याज्ञवल्क्यस्मृति में वेद, वेदांगों, आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणों, इतिहास, नारायणी के साथ-साथ स्वयं याज्ञवल्क्यप्रगीत शृद्धारण्यक और योगशास्त्र का उल्लेख है। आरम्भ में उन्नीस धर्मशास्त्रकारों का नाम गिनाये गये हैं।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राहमिधिता।

वेदा रथनानि विद्यानां धर्मस्य च अनुर्दश म

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाशुवल्क्ययोशनोऽङ्गिराः ।  
 यमापस्तम्बसंवर्ता. कात्यायनबृहस्पती ॥  
 पराशरण्यासशङ्खलिखिता दशगौतमौ ।  
 शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥ १. ३-५ ।

आन्वीक्षिकी अर्थात् दर्शनशास्त्र एवं दण्डनीति का उल्लेख भी हुआ है—  
 स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च ।  
 विनीतरत्नवध चार्तायां न्रय्यां चैव नराधिपः ॥ १. ३११ ।

सूत्रों, स्मृतियों, धर्मशास्त्रों का नामतः उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु सामान्यतः इनकी चर्चा याज्ञवल्क्यस्मृति में मिलती है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति में शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी-संहिता के अनेक मन्त्रों का उल्लेख है और विवेचित विषयों की दृष्टि से पारस्करगृह्यसूत्र से भी इसका संबन्ध है । पो० काणे के अनुसार “स्मृति के कुछ अंश बृहदारण्यकोपनिषद् के केवल अन्वय मात्र हैं ।” इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति का संबन्ध याज्ञवल्क्य के नाम से ख्यात रचनाओं के साथ तथा शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा के साथ भी दिखाई पड़ता है ।

गरुडपुराण और अग्निपुराण में याज्ञवल्क्यस्मृति के समान बहुत सी बातें उपलब्ध होती हैं । शंखलिखितधर्मसूत्र में भी याज्ञवल्क्य का उल्लेख है । विद्वानों का विचार है कि याज्ञवल्क्यस्मृति का मुख्य स्मृतिभाग ७०० ई० से अपरिवर्तित चला आ रहा है ।<sup>१</sup>

याज्ञवल्क्यस्मृति का समय—

याज्ञवल्क्यस्मृति के समय के विषय में वेबेर का मत है : “इस रचना के लिए प्राचीनतम सीमा दूसरी शताब्दी ई० के आसपास की मानी जा सकती है, कारण, इसमें मुदा के अर्थ में नाणक शब्द का प्रयोग है और जैसा कि विस्तन ने अनुमान किया है यह शब्द फनेर्कि के सिक्कों से लिया गया है, जिसने ४० ई० में शासन किया था । दूसरी ओर इस समय की निचली सीमा छठी या सातवीं शताब्दी रखी जा सकती है, कारण, विस्तन के अनुसार इस स्मृति के अंशों को भारत के अनेक भागों में शिलालेखों में उद्धृत किया गया है ।<sup>२</sup>

दाकोवी ने याज्ञवल्क्यस्मृति का समय चारह प्रदों की संख्या के आधार पर चतुर्थ शताब्दी ई० के बाद माना है ।<sup>३</sup>

प्रो० काणे ने याज्ञवल्क्यस्मृति के समय के विषय में जो निष्कर्ष निकाले हैं उनके अनुसार इस स्मृति के समय की निचली सीमा नहीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती । कारण—

२. काणे, बही, पृ० ५२ ।

१. भारतीय साहित्य, अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय, पृ० २७८ ।

३. बही, पृ० २७८, टिप्पणी २ ।



- १ टीकाकार विश्वरूप नवीं शताब्दी के हैं ।
२. विश्वरूप ने अपने पहले के कई भाष्यकारों का उल्लेख किया है, जिन्होंने याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीकाएँ लिखी हैं ।
३. शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में याज्ञवल्क्यस्मृति ३. २२६ का निर्देश किया है ।

अतः 'याज्ञवल्क्यस्मृति की हम ई० पू० पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के बीच कहीं रख सकते हैं ।'

वर्णित विषय—

याज्ञवल्क्यस्मृति का आरम्भ मुनियों के प्रश्न से होता है । योगीश्वर याज्ञवल्क्य मिथिला को सुशोभित कर रहे थे । मुनियों ने उनकी पूजा की और कहा कि आप वर्णों, आश्रमों और दूसरे ( अनुलोम, प्रतिलोम, संकर जातियों ) का धर्म हमें पूरी तरह से समझाइये ।

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन् ।

धर्माश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानुपेतं ॥ १॥१॥

और तब याज्ञवल्क्य उस देश में किये जाने वाले धर्म का प्रतिपादन करते हैं, जिस देश में काले मृग स्वच्छन्द विचरण करते हैं ।

यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तरिमन्धर्माश्लिषोद्यत ॥

इस उपक्रम के बाद याज्ञवल्क्यस्मृति आरम्भ होती है, और बीच-बीच में पृच्छालु मुनिगण शब्द करते हैं जिनका समाधान याज्ञवल्क्य करते चलते हैं । यह स्मृति लगभग समान विस्तार के तीन अध्यायों में विभक्त है ।

संक्षेप में इस स्मृति में वर्णित विषयों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

आचाराध्याय—चौदह विद्याएँ, एवं धर्म के उपादान । संस्कार-जन्म से विवाह तक । उपनयन और उसका समय । ब्रह्मचारी के कर्तव्य एवं निषिद्ध कर्म । विवाह, विवाह की योग्यता, सविष्ट संवन्ध का नियम । अन्तर्जातीय विवाह, भाट प्रकार के विवाह । पेशज पुत्र और पुनर्विवाह । गृहस्थ के कर्तव्य । पंच महायज्ञ, भतिथि साकार, मनुष्यक । चारों वर्णों के कर्तव्य । आचार के दस सिद्धान्त, गृहस्थ की जीवनवृत्ति । स्नातक के कर्तव्य । अनध्याय, भक्ष्याभक्ष्य का नियम, पवित्रीकरण के नियम । दान के नियम, पात्र एवं वस्तुएँ । धातु के नियम, इसका समय, धातु में गुलाने जाने योग्य माहण, धातु की विधि एवं दण्डिना । प्रह शान्ति । राजधर्म और दण्ड ।

श्वभृदाराध्याय—न्याय करने वाले व्यक्ति, न्याय करने वाली परिपद् के सदस्य । जमानत, ब्याज की दर, श्राण, धन्यक के प्रकार । साक्षी की पात्रता, शपथ, लेखप्रमाण । दिव्य । धन का विभाजन, स्त्री का भाग, पुत्रों के प्रकार और

उनमें विभाजन के नियम, स्त्रीधन, स्वामी और भृत्य के विवाद, दास्य के नियम । मजदूरी । जुआ, मानहानि और प्यभिचार आदि जैसे अपराधों का दण्ड ।

प्रायश्चित्ताध्याय-अशौच के नियम, मृत के संस्कार, सर्पण । जन्मविषयक अपवित्रता । विपत्ति में आचार और जीविका निर्वाह । वानप्रस्थ के नियम, यति के नियम । गर्भ में शिशु का विचार और मानव शरीर रचना, आत्मा का जन्म क्यों ? योगी की धमरता का रहस्य । आत्मज्ञान के साधन । रोगव्याधियों, नरक, महापातक, उपपातक और इनके प्रायश्चित्त । दस 'यम एवं नियम । सान्त्वनन, महासा-तपन, तप्तकृष्ण, पराक, चान्द्रायण, एवं अन्य व्रत ।

टीकाकार और संस्करण—

याज्ञवल्क्यस्मृति पर मुख्य चार टीकाकारों की टीकाएँ हैं, वे हैं : विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपराक और शूलपाणि । विश्वरूप की यालक्रीडा नाम की टीका गणपतिशास्त्री ने त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित की है । मिताक्षरा में इस टीका का उल्लेख है । विश्वरूप का समय ७५० ई० तथा १००० ई० के बीच का है । विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । इसके विषय में म० म० काणे ने टीक ही कहा है : "यह ग्रन्थ उतना ही प्रभावशाली माना जाता रहा है जितना व्याकरण में पतंजलि का महाभाष्य एवं साहित्यशास्त्र में मम्मट का काव्यप्रकाश । विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में अपने पूर्व के लगभग दो सहस्र वर्षों से चले आये हुए मतों का सारतत्त्व ग्रहण किया और ऐसा रूप सदा किया जिसके प्रकाश में अन्य मतों और सिद्धान्तों का विकास हुआ ।" इस टीका की रचना का समय १०७०-११०० ई० का माना जाता है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति पर तीसरी प्रमुख टीका अपरादित्य की है । यह आनन्दाश्रम प्रेस पूना से प्रकाशित है और अपराक-धर्मशास्त्र-निबन्ध नाम से अभिहित है । मिताक्षरा की अपेक्षा यह बड़ी है और इसमें अन्य धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों से बहुत अधिक उद्धरण लिए गये हैं और पुराणों के अन्त भी उद्धृत किये गये हैं । अपराक की तिथि ११००-१२०० ई० के बीच होने का अनुमान किया जाता है । बंगाल के धर्मशासकार शूलपाणि की टीका है दीपकलिका, जो छोटे आकार की है । इसमें मिताक्षरा और विश्वरूप के मतों का उल्लेख है । शूलपाणि का समय चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम पाद से आरम्भ कर पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच माना जा सकता है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनेक संस्करण हुए हैं । प्रमुख हैं : निर्णयसागर संस्करण, त्रिवेन्द्रम संस्करण और आनन्दाश्रम संस्करण । इन संस्करणों में श्लोकों की संख्या में कुछ भिन्नता है ।

### याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्यस्मृति का संवन्ध याज्ञवल्क्य ऋषि से है । वैदिक ऋषियों की परम्परा में याज्ञवल्क्य का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसके अनुसार याज्ञवल्क्य

मुद्रयत शुक्लसुवैद और शतपथब्राह्मण के दृष्टा हैं। शतपथब्राह्मण में भी याज्ञवल्क्य के विषय में अनेक ओरों में आये हैं और इनमें याज्ञवल्क्य के विचारों को मान्यता दी गयी है। १११३।१२ में य जनक को अग्निहोत्र यज्ञ समझाते हैं और स्वयं जनक से गूढ़ यज्ञिय क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। १११६।३ में याज्ञवल्क्य और शाक्यय क शास्त्रार्थविवाद का वर्णन है, जिसमें देवताओं की सख्या के विषय में विचार किया गया है और अन्त में याज्ञवल्क्य के पत्नैश्वर्याद के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है। परन्तु याज्ञवल्क्य अपने प्रतिद्वन्द्वी शाक्यय को उनकी दृग्धर्मिता के कारण क्षीण गृह्यु प्राप्त करने का शाप देते हैं। याज्ञवल्क्य की अनेक यज्ञों का उद्धोषक माना गया है। शतपथब्राह्मण के अनिश्चित याज्ञवल्क्य का नाम किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ में नहीं आता। शास्त्रार्थ आरण्यक में दो स्थलों पर याज्ञवल्क्य का उल्लेख है किन्तु उन अर्थों को 'विद्वानां' ने शतपथब्राह्मण से उद्धृत माना है।

याज्ञवल्क्य शुक्लसुवैद, शतपथब्राह्मण तथा सृष्टदारण्यकोपनिषद् के प्रणेता या उद्धोषक थे इन विषय में प्रायः सन्देह व्यक्त किया गया है। शुक्लसुवैद की सहिता याज्ञसनेयी-सहिता कहलाती है और यह नाम याज्ञवल्क्य की उपाधि याज्ञसनेय के आधार पर पड़ा है। यदि याज्ञवल्क्य इस सहिता के उद्धोषक न भी हों तो भी उन्हें सकलमन्त्रता मानने में कोई आपत्ति नहीं। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण का भी प्रचुर अर्थ सीधे याज्ञवल्क्यरचित है और दीप अन्न को आध्यात्मिक रूप देने के लिए उनका नाम सबद्ध कर दिया गया है, ऐसी सम्भावना की जाती है। अतः जमा कि ज० डाउसन ने कहा है - "यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि शतपथब्राह्मण की रचना उनके अधीष्ठन में या उनके शिष्यों द्वारा की गयी थी।"

शतपथब्राह्मण से सबद्ध सृष्टदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य पूज्य पञ्चक्रिया के आचार्य की अपर्या दार्शनिक क रूप में दिखायी पड़ते हैं। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्यीय वाण्ड नाम का अन्न विशेष रूप में उल्लेखनीय है जिसमें याज्ञवल्क्य की प्रशंसा है और उनके आत्मविषयक दार्शनिक विचारों का समग्र है। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का जिस प्रकार उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट है कि यह अनेक याज्ञवल्क्य की रचना न होकर उनके शिष्यों और अनुयायियों द्वारा भी रचित है। विष्टरजित्स का इस विषय में यह मत है कि स्वयं सृष्टदारण्यकोपनिषद् में अन्य आचार्यों का भी उल्लेख है। इसके अनिश्चित याज्ञवल्क्य और हापचिन्तनविषयक इतने विभिन्न मतों को याज्ञवल्क्य से सम्बद्ध किया गया है कि उन्हें इस सबका उद्धोषक स्वीकारना कठिन प्रतीत होता है।<sup>३</sup>

१ मैकडाल - दस कीप, वैदिक इन्डोलॉजी, भाग २, पृ० १८२।

२ दस कीप, वैदिक इन्डोलॉजी, भाग २, पृ० १८२।

३ विष्टरजित्स इन्डोलॉजी, भाग २, पृ० १८२ विष्टरजित्स।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६।५।३ में उन्होंने मैत्रेयी को आत्मा के विषय में तथा अमरता के बारे में जो व्याख्यान दिये हैं वे भारतीय दर्शन में उत्कृष्ट बोटि के चिन्तन के परिचायक हैं। इस उपनिषद् के तीसरे और चौथे अध्यायों के प्रायः सभी ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य किसी न किसी आचार्य से दार्शनिक विवेचन करते हुए दिखाई पड़ते हैं, जैसे जनक, भरवल, आर्तभाग, मुण्डु, कोहल, गार्गी, आरुणि या शाकल्य से।

महाभारत में याज्ञवल्क्य युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर उपस्थित दिखाये गये हैं, यह कुछ विचित्र प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य-रचित एक योगशास्त्र का भी उल्लेख कूर्मपुराण १।२५-२७ में मिलता है और विण्टरनिस्स का विचार है कि यह याज्ञवल्क्यगीता का निर्देश करता है जिसमें योग की व्याख्या की गयी है।<sup>१</sup>

प्रश्न उठता है : क्या वैदिक परम्परा के ऋषि याज्ञवल्क्य ही प्रस्तुत याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रणेता हैं ? प्रश्न सकारण है। वैदिक ग्रन्थों की भाषाशैली से स्मृति की भाषा और शैली नितान्त भिन्न है और इनमें समय की दृष्टि से सामीप्य नहीं है, और शायद इसी तथ्य को दृष्टिगत करके मिताचारा टीका के लेखक विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट संकेत किया है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने धर्मशास्त्र को संहिस करके वर्तमान रूप प्रदान किया है। परन्तु स्वयं याज्ञवल्क्य-स्मृति ( ३. ११० ) में इस बात की घोषणा की गई है कि इस स्मृति के प्रणेता आरण्यक अर्थात् बृहदारण्यकोपनिषद् के रचयिता हैं और उन्हें सूर्य ने ज्ञान प्रदान किया, तथा वे योगी थे—

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्याद्भासवान् ।

योगशास्त्रं च मयोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥

याज्ञवल्क्य के साथ इस स्मृति का संबन्ध संभवतः इसे महत्ता प्रदान करने के लिए जोड़ा गया है। किन्तु एक बात निर्विवाद है और वह यह कि शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा से इस स्मृति का सवन्ध है, इस तथ्य पर यहीं हमने याज्ञवल्क्यस्मृति का परिचय देते समय प्रकाश डाला है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६।३।१५ में याज्ञवल्क्य को उदात्तक आरुणि का शिष्य बताया गया है और राजा जनक के साथ इनके सवन्धों के कारण इन्हें विदेह का निवासी कहते हैं, किन्तु मैकडानल और कीथ के मत में यह सन्देहास्पद है—

'Despite the legend of Janaka's patronage of him, his association with Uddalaka, the Kū'ru Panchā renders this doubtful.'

—वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० १८९

शतपथब्राह्मण के अन्त में ( १४।१।४।२९ आदि ) आचार्यों को जो सूची दी गयी है उसमें याज्ञवल्क्य ४९ वें स्थान पर आते हैं और उसमें भी उनके गुण का

१. विण्टरनिस्स, वही, भाग १, पृ० ५७४, टिप्पणी।

नाम उद्दालक आरुणि है । जहाँ तक याज्ञवल्क्य के समय का प्रश्न है वे परवर्ती सहिताओं और ब्राह्मणों के काल के श्रापि है ।

किसी भी स्थिति में वे पाणिनि के पहले के हैं । याज्ञवल्क्यविषयक ब्राह्मणीय आख्यानो का विवेचन प्रस्तुत लेखक ने अपने शोधग्रन्थ 'द लेजेण्ड्स इन द शतपथब्राह्मण' में किया है ।

योगियाज्ञवल्क्य एव बृहद् याज्ञवल्क्य नाम की याज्ञवल्क्य की रचनाओं के विषय में डा० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में शेकन कालेज सम्प्रदाय की पाण्डुलिपियों का हवाला दिया है, जिनमें प्रथम में १२ अध्याय और ४९५ श्लोक हैं तथा दूसरे में १२ अध्याय और ९३० श्लोक हैं । बृह्दयाज्ञवल्क्य नाम की स्मृति का भी उल्लेख मिलता है । इससे विश्वरूप ने अपनी टीका में उद्धरण लिए हैं । मिताक्षरा में भी इसका उल्लेख आया है ।

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

# विषयानुक्रम

( टीका में विवेचित महत्त्वपूर्ण विषयों का भी निर्देश इस

विषयानुक्रम में किया गया है )

## १. आचाराध्याय

### ( १ ) उपोद्घातप्रकरण

मुनियों की जिज्ञासा	१
छः प्रकार का स्मार्त धर्म	२
धर्म के चौदह स्थान	३
धर्मशास्त्रकार ऋषि	४
धर्म के कारक हेतु	५
धर्म के श्रापक हेतु	६
देश आदि कारक हेतुओं का अपवाद	७
हेतुविषयक सन्देह का निर्णय	८

### ( २ ) ब्रह्मचारिप्रकरण

वर्ण	५
गर्भाधान आदि संस्कार	६
संस्कार करने का फल	७
छियों के संस्कार	८
उपनयन का समय	९
गुरु के धर्म	१०
शौच के नियम	११
प्राजापत्य आदि तीर्थ	१२
आचमन की विधि	१३
प्राणापान	१४
सावित्रीजप की विधि	१५
अग्निकार्य	१६
अभिवादन की विधि	१७
अभ्यापन के योग्य व्यक्ति	१८
दण्ड हत्यादि का धारण	१९
भिक्षाचरण की विधि	२०
भोजन का नियम	२१

ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध धर्म	१२
गुरु, आचार्य आदि के लक्षण	१३
उपाध्याय, ऋत्विग् के लक्षण	१४
ब्रह्मचर्य की अवधि	१५
उपनयन की समवसीमा	१६
द्विजत्व का कारण	१७
वेदाध्ययन का फल	१८
काम्यब्रह्मज्ञानाध्ययन का फल	१९
पञ्चमहायज्ञ का फल	२०
नैष्ठिक ब्रह्मचारी के धर्म	२१

### ( ३ ) विवाहप्रकरण

गुरुदक्षिणा के पूर्व का स्नान	२२
कन्या के लक्षण	२३
सपिण्ड का विचार	२४
कन्यावरण का नियम	२५
कन्यादान में घर के नियम	२६
द्विजातियों के लिए शर्त्ता से	२७
विवाह वा निषेध	२८
अनुलोमविवाह	२९
आठ प्रकार के विवाह	३०
सवर्णा से विवाह में विशेषता	३१
कन्यादान देने वाले	३२
कन्याहरण का दण्ड	३३
कन्या के दोष का शोषण	३४
नियोग की विधि	३५
व्यभिचारिणी के लिए दण्ड	३६
छियों की पवित्रता	३७
दूसरे विवाह के हेतु	३८

पतिव्रता की प्रशंसा	३०	जीवनवृत्ति का चुनाव	५४
अधिवेत्ता के लिए दण्ड	"	श्रौतकर्म	५५
स्त्री के धर्म	"	यज्ञ के लिए हीनमिथा का निषेध	५६
शास्त्रानुसार दारसग्रह का फल	३१	आर्थिक अवस्था का विचार	"
श्रतुकाल का समय	"	( ६ ) स्नातकधर्मप्रकरण	
स्त्रीगमन के लिए निषिद्ध दिन	"	स्नातक के घृत	५७
श्रतुकाल के अतिरिक्त स्त्रीगमन	३२	स्नातक का राजादि धन लेना	५८
स्त्रियों का आदर	३५	शारीरिक पवित्रता	५९
स्त्रियों के कर्तव्य	"	स्नातक के औपचारिक धर्म	६०
प्रोषितपतिता का कर्तव्य	३६	दान लेने में दोष	६३
पतिहीना का कर्तव्य	३८	उपाकर्म का समय	"
अनेक पत्नियों में सहधर्मिणी	"	उत्सर्जन का समय	६४
पानी की मृत्यु पर दूसरा विवाह	३९	अनध्याय के अन्तर	"
( ४ ) वर्षाजातिविवेकप्रकरण		औपचारिक कर्तव्य	६७
सजातिपुत्र	"	धर्माचरण का आधार	६९
अनुलोमविवाह से उत्पन्न पुत्र	४०	विवाद के परिहाय का फल	"
प्रतिलोमविवाह से उत्पन्न पुत्र	४१	स्नान का नियम	७०
जाति के उत्कर्ष का नियम	४३	दूसरे की वस्तु के उपयोग का निषेध	"
( ५ ) गृहस्थधर्मप्रकरण		अभोग्य अन्न	"
स्मार्त और श्रौतधर्म की अग्नि	४४	अन्नग्रहण के नियम का अपवाद	७२
गृहस्थ के धर्म	"	( ७ ) भक्ष्याभक्ष्यप्रकरण	
योगवेम के लिए राजाश्रय	४५	निषिद्ध अन्न	७२
वेद आदि का जप	४६	कतिपय घासी तथा वस्तुएँ	७३
पञ्चमहायज्ञ	"	अपेय दूध	७४
भोजन कराने का क्रम	४७	मासभक्षण के लिए निषिद्ध पत्नी	७५
अतिथियों को भोजन कराने में	"	प्याज आदि का निषेध	७७
वर्ण का विचार	४८	मासभक्षण का अवसर	७८
वेदपाठी का सम्कार	४९	यज्ञ के अतिरिक्त पशुवध का फल	७९
मधुपर्क के पात्र	"	मास न खाने का फल	"
सायकालीन कर्तव्य	५१	( ८ ) द्रव्यशुद्धिप्रकरण	
धर्म, अर्थ, काम का समुत्पन्न	"	सोने के पात्रों की शुद्धि	८०
मान्य व्यक्ति	५२	यशिय पात्रों की शुद्धि	८१
मार्ग देने योग्य व्यक्ति	"	सेवक पात्रों की शुद्धि	"
द्विजातियों के कर्तव्य	"	घस्रों की सफाई	८२
शुद्ध के कर्तव्य	५३	पृथ्वा की शुद्धि	८४
साधारण धर्म	५४	अन्न की शुद्धि	"

जल और मांस की शुद्धि का विचार	८७
पशुओं के मुख की शुद्धि-अशुद्धि	८८
मुत्र की शुद्धि	८९
आचमन के अवसर	"

## ( ६ ) दानप्रकरण

घ्राहणों का महत्त्व	९०
दान की वस्तुएँ	९१
दान के पात्र	९२
गोदान और उसका फल	"
उभयतोमुखी गोदान	९३
गोदान के मुख्य कर्म	९४
दान की अन्य वस्तुएँ	"
दान न लेने की प्रशंसा	९६
अयाचित वस्तु को स्वीकार करना	"
दाता के चरित्र का विचार	९७
वृत्तिनिर्वाह के लिए नियमापवाद	"

## ( १० ) श्राद्धप्रकरण

श्राद्ध का अर्थ	९७
पार्वणश्राद्ध का स्वरूप	"
श्राद्ध के ग्राहण	९८
श्राद्ध में चरित्रित ग्राहण	९९
पार्वणश्राद्ध का प्रयोग	१०१
अग्नीकरण	१०६
ग्राहण भोजन की विधि	१०८
पिण्डदान	१०९
अक्षय्योदकदान	११०
रथधावाचन	"
ग्राहणप्रार्थना और विसर्जन	१११
वृद्धिश्राद्ध	११२
एकोद्दिष्ट कर्म	११३
सपिण्डीकरण	११४
एकोद्दिष्ट का समय	१२१
भोग्यवस्तुओं का विशिष्ट फल	"
श्राद्ध की तिथि के अनुसार फल	१२३
नक्षत्र के अनुसार श्राद्ध का फल	१२४
श्राद्ध के देवता	१२५

## ( ११ ) गणपतिकल्पप्रकरण

विघ्न के कारक हेतु	१२६
विघ्न के ज्ञापक हेतु	१२७
विघ्न के प्रयत्न लक्षण	"
विघ्न की शान्ति के लिए कर्म	१२८
स्नपन की विधि	"
उपस्थान के मन्त्र	१३२
ग्रहपूजा	१३३
महागणपति की पूजा का फल	१३४

## ( १२ ) ग्रहशान्तिप्रकरण

ग्रहयज्ञ	१३४
नव ग्रहों के नाम	१३५
ग्रहों की मूर्तियों की धातुएँ	"
ग्रहपूजा की विधि	१३६
ग्रहपूजा के मन्त्र	"
ग्रहपूजा की समिधाएँ	"
नवग्रहों के भोजन	१३७
ग्रहपूजा की दक्षिणा	१३८
दुष्टग्रहों की पूजा	"

## ( १३ ) राजधर्मप्रकरण

अभिषिक्त राजा का धर्म	१३९
राजा का मन्त्री	१४१
राजा का पुरोहित	"
राजा द्वारा ग्राहणों का सरकार	१४२
राजा का लक्ष्य	"
भूमिदान का लेख्यकरण	१४३
लेख्यकरण की विधि	"
राजा का निवासस्थान	१४४
विभागीय अण्डरों की नियुक्ति	१४५
युद्ध में अपहृत धन का दान	"
युद्ध में वीरगति	"
युद्ध में अवध्य व्यक्ति	१४६
राजा का दैनिक कार्यक्रम	"
राजा का विशेष व्यक्तियों से विशेष व्यवहार	१४९
प्रजापालन का फल	"
पीडित प्रजा की रक्षः	१५०



धर्मपूर्वक कोश की वृद्धि	१५१
दूसरे राष्ट्र की विजय का फल	"
परानित देश की मर्यादा का पालन	१५२
मन्त्रणा का गोपन	"
पड़ोसी राज्यों से सतर्कता	१५३
साम दान आदि उपाय	"
सन्धि और, विग्रह	१५४
आक्रमण करने का समय	"
द्वैव और पौह्य	"
मित्र की प्राप्ति की श्रेष्ठता	१५५
राज्य के अङ्ग	१५६
दण्ड और धर्म	"
दण्डधरण की योग्यता	"
अनुचित दण्डप्रयोग का अधर्म	१५७
शास्त्रानुसार दण्डप्रयोग का फल	"
अधर्मा स्वजन भी दण्ड्य	"
उचित दण्डप्रयोग का पुण्य	१५८
घसरेणु, लिङ्गा, राजसर्प, गौरसर्प, मध्यमयव, कृष्णल, माप, सुवर्ण और पल का परिमाण	१५९
हृष्यमाप, भरण, पल, निष्क, कर्प, पग	१६०
उत्तम, मध्यम, अधम साहस के लिए नार्थिक दण्ड की मात्रा	१६१
दण्ड के प्रकार	१६२
दण्डव्यवस्था के निमित्त	"

## २. व्यवहाराध्यायः

### ( १ ) साधारणव्यवहारमातृका प्रकरण

व्यवहार के सभासदों की योग्यता	१६४
राजा की अनुपस्थिति में धर्मज्ञ ब्राह्मण की नियुक्ति	१६५
धर्मविद्वत् सभासदों को दण्ड व्यवहार के विषय	१६६
व्यवहार की कार्यवाही	१६९
चार प्रकार का विवाद	१७४

### ( २ ) असाधारणव्यवहारमातृका- प्रकरण

प्रत्यभियोग	१७५
कलह और साहस के अपराध में अभिप्रयोग	१७६
अभियोग को छिपाने पर दण्ड	१७७
तारकालिक निर्णय वाले वाद	१७८
दुष्ट साक्षी के लक्षण	१७९
साक्षियों का क्रम	१८०
सपनविवाद का निर्णय	१८१
दो धर्मशास्त्रवचनों में विरोध की स्थिति	१८३
लिखित, भुक्ति, साक्षी प्रमाण	१८४
दूसरे का कब्जा होने पर अधिकार निर्णय	१८६
इसका अपवाद	१८९
लेख और भोग का विचार	१९२
आगम या लेख का उपयोग	१९३
व्यवहार देखने वाले अन्य व्यक्ति	१९४
पुनर्विचार के योग्य व्यवहार	१९५
असिद्धव्यवहार	१९५
ग्योयी वस्तु के विषय में विचार	१९७
चोरों से छीने गये धन	१९९

### ( ३ ) ऋणादानप्रकरण

व्याज की दर	१९९
ऋण की वापसी	२०२
ऋण भुगतान में जाति का विचार	२०३
ऋण दिलवाने में राजा का अज्ञ	२०३
ऋण न लौटाने पर जाति के अनुसार कार्य	२०४
व्याज न लगने की स्थिति	"
ऋणी की मृत्यु पर ऋण भुगतान	२०५
न लौटाये जाने वाले दूसरे के ऋण	"
द्विगुण द्वारा लिखा गया ऋण	२०६
धी द्वारा देय ऋण	"
पुत्र और पौत्र द्वारा देय ऋण	२०७
प्रातिभाष्य का अर्थ	२११

अनेक प्रतिभू द्वारा ऋण भुगतान	२१३	लेख्य के ऋण की वापसी की	
प्रतिभू द्वारा स्त्री का आदान-प्रदान	२१४	आधि	२३८
बन्धक रसी वस्तु के प्रणष्ट होने का	२१५	दूसरा लेख्य लिखने की स्थिति	२३९
समय	२१५	सन्दिग्ध लेख्य की शुद्धि	२४०
व्याज न देने की स्थितियों	२१६	ऋण भुगतान पर लेख्य	२४१
आधिनाश पर दूसरी आधि की		( ७ ) दिव्यप्रकरण	
व्यवस्था	२१७	दिव्य और उसके भेद	२४२
बन्धक वापस न देने पर दण्ड	२१९	दिव्य के प्रयोग के पात्र और	
भोग्य आधि के विषय में विचार	२२०	अवसर	२४३
( ४ ) उपनिधिप्रकरण		तुलादिव्य के लिए अयोग्य व्यक्ति	२४५
उपनिधि की परिभाषा	२२१	तत्काल, विष, तुलादिव्य की	
उपनिधि लौटाने के नियम का		अवस्था	२४७
अपवाद	२२२	तुलादिव्य के प्रयोग की विधि	
उपनिधि के भोग का दण्ड	"	और मंत्र	२४८
( ५ ) साक्षिप्रकरण		अग्निदिव्य के प्रयोग की विधि	
साक्षी के स्वरूप का निर्णय	२२३	और मन्त्र	२५३
साक्षी के भेद और योग्यता	२२४	जलदिव्य के प्रयोग की विधि और	
साक्षी होने के अयोग्य व्यक्ति	२२५	मन्त्र	२५६
साक्षी के विषय में नियम का		विषदिव्य की विधि और मन्त्र	२५९
अपवाद	२२६	कोशविधि	२६१
साक्षियों को उद्बोधन या उपदेश	२२७	तण्डुलविधि, तप्तमाषकविधि	२६२
झूठे साक्षी के लिए दण्ड	२२८	धर्माधर्मविधि	२६३
साक्षियों के वचनों में विरोध की		( ८ ) दायविभागप्रकरण	
स्थिति	२२९	दायशब्द का अर्थ	२६५
साक्षियों की सत्यता के विषय में		दाय के दो भेद	२६९
विचार	२३०	पिता द्वारा किया गया सम, विषम	
भूटसाक्षियों के दण्ड	२३२	विभाग	२७०
साक्षी का असत्य भाषण विहित		माता पिता की मृत्यु के बाद विभाग	
होने की स्थिति	२३४	की विधि	२७१
असत्य भाषण का प्रायश्चित्त	२३५	अविभाज्य धन	२७३
( ६ ) लेख्यप्रकरण		अविभाज्य धन के अपवाद	२७६
लेख्य के दो प्रकार	२३६	पौत्र का अक्ष	"
लेख्य में व्यक्ति और समय का		पितामह के धन में अक्ष	२७६
विस्तृत लेखन	"	माता का अक्ष	२७९
ऋणदाता और ऋणी साक्षियों और		असकृत भाइयों के सरदार या	
लेखक के हस्ताक्षर	२३७	दायित्व	"
लेख्य लिखा गया लेख्य	२३८	अनेक वर्ण की कई परिणियों के	
		पुत्रों का भाग	२८१

द्विपा कर रखे हुए धन का विभाग	२८३	( १० ) स्वामिपालत्रियादप्रकरण	
नियोगज पुत्र का भाग	"	दूसरे का रोम चराने पर दण्ड	३१३
औरसपुत्र और पुत्रिकासुत	२८५	अधिक अपराध होने पर दूना दण्ड	३१४
गृहज और कानीन पुत्र	"	चरवाहे और पशु के स्वामी को	
पौनर्भव और दत्तक पुत्र	२८६	दण्ड	३१५
मीत और कृत्रिम सहोदज पुत्र	"	चेत्रविशेष के विषय में अपवाद	"
अपविद्ध पुत्र	२८७	पशुविशेष के संबन्ध में दण्ड का	
दामीपुत्र का अंश	२८९	अभाव	३१६
पुत्रहीन के धन का अधिकारी	"	चरवाहे का पशुस्वामी के प्रति	
चाणप्रस्थ, यति, ब्राह्मचारी की		दायित्व	"
संपत्ति	२९७	पशुनाश पर चरवाहे को दण्ड	३१७
ससृष्टी को धन का विचार	२९९	चरागाह की व्यवस्था	"
विभाग में अशप्तति के लिए अयोग्य		चरागाह की भूमि और रधान	३१८
व्यक्ति	३००	( ११ ) अस्वामिविक्रयप्रकरण	
इस नियम का अपवाद	"	अस्वामिविश्रय का लक्षण	३१८
अयोग्य सदस्यों की स्त्रियों की		कममूल्य पर क्रय का निषेध	"
स्थिति	३०१	खोई वस्तु देखने पर कर्तव्य	३१९
स्त्रीधन	"	दण्ड और उपभोग द्वारा खोई	
स्त्रीधन का उत्तराधिकारी	३०२	वस्तु	३२०
पागदसा का धन, उसके हरण		स्वयं अपनी अपहृत वस्तु लेने पर	
का दण्ड	३०४	दण्ड	३२१
रति द्वारा स्त्रीधन न लौटाने की		राजा को अर्पित खोई वस्तु का	
स्थिति	३०४	निर्णय	"
दो परिणयों में पहली पत्नी का		खोये हुए पशु की प्राप्ति पर राजा	
स्त्रीधन	३०५	को देय धन	३२२
घर और खेत का विभाग	"	( १२ ) दत्ताप्रदानिकप्रकरण	
( ६ ) सीमाविवादप्रकरण		दत्ताप्रदानिक का स्वरूप	"
सीमाविवाद का निर्णय	३०६	दत्तानपाक्रम का स्वरूप	"
सीमानिर्णय के साधन	३०८	चार प्रकार का दत्तानपाक्रम	"
ग्राम सामन्ता आदि	३०८	दान कितना दें, क्या न दें ?	३२३
शटे घोलने वाले सामन्तादि के		दान सपके सामने लेना चाहिए	"
दण्ड	३०९	दत्तादत्त का स्वरूप	३२४
मर्यादा लोढ़ने का दण्ड	३११	अदत्त का प्रकार	"
खेत छीन लेने का दण्ड	"	( १३ ) क्रीतानुशयप्रकरण	
दूसरे के खेत में वृक्ष, गेयु का		क्रीतानुशय	३१५
निर्माण	३१२	क्रीतानुशय का स्वरूप	"
खेत को जौन की व्यवस्था	३१३		

प्रत्यर्पणीयनिर्णय	३२५
बीजा आदि खरीदने में परीक्षाधि	"
सोना, चाँदी, पीतल, शीशा, तौया, छोहा की परीक्षा	३२६
कम्यल और सूती कपड़े के यजन	"
कसीदाकारी आदि से घख के भार में कमी	३२७
द्रव्य के नाश होने पर निर्णय	"

## ( १४ ) अभ्युपेत्याशुश्रूयाप्रकरण

अभ्युपेत्याशुश्रूया का स्वरूप	३२७
षोच प्रकार के शुश्रूयक	३२८
चार प्रकार के कर्मकर	"
दो प्रकार के कर्म	"
तीन प्रकार के श्रुतक	"
दासों के भेद	"
दासता से मुक्ति का समय	३२९
सन्पास से च्युत व्यक्ति राजा का दास	३३०
दास अपने से निम्नवर्ण का होता है	"
अन्तेवासी का धर्म	"

## ( १५ ) सविद्वयतिक्रमप्रकरण

सविद्वयतिक्रम का लक्षण	३३१
धर्म की रक्षा के लिए ब्राह्मण की स्थापना	"
सामयिक और राजा द्वारा निर्दिष्ट धर्म का पालन	३३२
गण के व्यक्तियों के अनुसरण का नियम	"
समूह के कार्य के लिए आये हुए व्यक्तियों का राजा द्वारा संस्कार	३३३
समूह के कार्य से प्रेषित व्यक्ति को प्राप्त धन	"
कायचिन्तकों के लक्षण	"
श्रेणी, नैगम, पाखण्डी, गण के विषय में नियम	३३४

## ( १६ ) वेतनादानप्रकरण

वेतनादान का स्वरूप	३३४
वेतन लेकर काम छोड़ने पर दण्ड	"
बिना वेतन लिए कार्य करना स्वीकार करके कार्य न करने पर दण्ड	३३५
श्रुतियों को लाभान ( योनस ) का विधान	३३५
श्रुत्य के कार्य से हानि और लाभ तथा उसका वेतन	"
दो श्रुतियों के एक कार्य करने पर वेतन	३३६
भार ढाने वाले श्रुत्य के विषय में निर्णय	"
मार्ग में कार्य छोड़ने वाले की मजदूरी	"

## ( १७ ) श्रुतसमाह्वयप्रकरण

श्रुत की बाजी का स्वरूप	३३७
श्रुतसभा के अधिकारी का अंश	३३८
श्रुताधिकारी का कर्तव्य	"
राजा का समिकों के प्रति कर्तव्य	"
श्रुत में हारजीत का निर्णय	३३९
कपटपूर्वक श्रुता खेलने वाले का दण्ड	"
श्रुत के निषेध के लिए दण्ड	"
श्रुताध्यक्ष की नियुक्ति	"
प्राणिश्रुत का नियम	३४०

## ( १८ ) वाक्यपारुष्यप्रकरण

वाक्यपारुष्य का लक्षण	३४०
वाक्यपारुष्य के तीन प्रकार	"
त्रिभुज आक्रोश का दण्ड	"
गाली देने का दण्ड	३४१
गाली देने के दण्ड में वर्ण का विचार	"
वर्णों की प्रतिशोभता के आधार पर दोष लगाने का दण्ड	३४२

अंग तोड़ने की धमकी का दण्ड	३४३
धमकी के सम्बन्ध में शक्ति का विचार	,
तीव्र आक्रोश का दण्ड	,,
दोष लगाने पर दण्ड का विधान	३४४

## (१६) दण्डपारुष्यप्रकरण

दण्डपारुष्य का स्वरूप	३४४
दण्डपारुष्य के तीन भेद और पाँच विधियाँ	,,
दण्डपारुष्य के सन्निध्य स्वरूप का निर्णय	३४५
साधन के अनुसार दण्ड	,,
वर्ण की प्रतिलोमता के अनुसार दण्ड	३४६
समान जाति वाले को मारने पर दण्ड	३४७
पैर, केश, वस्त्र, हाथ पकड़ कर खींचने का दण्ड	,,
लकड़ी आदि से मारने का दण्ड	३४८
मारकर खून निकालने पर दण्ड	,,
अंग तोड़ने पर दण्ड	,,
कई व्यक्तियों द्वारा एक व्यक्ति के पीटे जाने पर दण्ड	३४९
दूसरे की दीवाल तोड़ने पर दण्ड	,,
दूसरे के घर में कौंठा, विष, सर्प छोड़ने पर दण्ड	३५०
पशुओं को मारने पर दण्ड	,,
वृक्षों को हानि पहुँचाने पर दण्ड	३५१
लताओं को हानि पहुँचाने पर दण्ड	,,

## (२०) साहसप्रकरण

साहस का लक्षण	३५२
साहस के तीन प्रकार	,,
प्रथम, मध्यम और उत्तम साहस	,,
दूसरे का धन लेने पर दण्ड	३५३
अपराध कराने वाले का दण्ड	,,
विशेष प्रकार के साहसिक	,,

बिना नियोग के विधवा संभोग, भयानुर की रक्षा के लिए न दौड़ने, उच्च वर्णों के स्पर्शवर्ण के अयोग्य कर्म करने वाले, झूठी शपथ लेने, पशुओं को बधिया करने, दासी का गर्भपात, निर्दोष सम्बन्धी का त्याग करने का दण्ड	३५४
धोबी के विषय में दण्डभ्यवस्था	३५५
पिता और पुत्र के कलह में साक्षी के लिए दण्ड	,,
तौलने आदि में धूर्तता का दण्ड	३५६
खोटा सिक्का चलाने वाले का दण्ड	,
अवपज्ञानी वैद्य का दण्ड	,,
बन्धन के अयोग्य व्यक्ति का दण्ड	३५७
नापने, तौलने में बेईमानी करने का दण्ड	,,
मिलावट करने पर दण्ड	,,
घटिया वस्तु अधिक मूल्य पर विक्रय का दण्ड	३५८
ठगी और बनाउटी कस्तूरी बेचने का दण्ड	,,
शिशुओं को पीड़ित करने वाले व्यापारियों को दण्ड	३५९
आयातित वस्तु को अनिश्चित मूल्य पर बेचने का दण्ड	,,
राजा द्वारा मूल्य का निर्धारण	,,
विक्रय में लाभ का अंश	३६०
मूल्य के निर्धारण का आधार	,,

## ( २१ ) विक्रीयासंप्रदानप्रकरण

विक्रीयासंप्रदान का स्वरूप	३६०
विक्रीयासंप्रदान के दो भेद	,,
मूल्य लेकर सौदा न देने वाले का दण्ड	३६१
मेता के सौदा न लेने पर दूसरे के हाथ विक्रय	,,

सौदा देते समय क्रेता के दोष से वस्तु में हानि	३६१	यद्यपि चुराने वाले और गिरहकट का दण्ड	३७२
राजकृत या दैवकृत उत्पात से हानि	३६२	उपचवके के दुबारा अपराध का दण्ड	"
दोषयुक्त वस्तु के विक्रय का दण्ड	"	दण्डनिर्धारण का आधार	"
सौदे की फेराफेरी करने पर दण्ड	३६३	सुद्र द्रव्य के विषय में दण्ड का नियम	३७३
( २२ ) संभूयममुत्थानप्रकरण		धान्य चुराने पर दण्ड	"
सामूहिक व्यापार में लाभ-हानि का विचार	३६३	सोना चुराने का दण्ड	"
हानि करने वाले हिस्सेदार को दण्ड	३६४	विशेष द्रव्य का दण्ड	३७४
सुरक्षित रखने वाले को दण्डमांश की प्राप्ति	"	चोर की सहायता करने वाले के लिए दण्ड	"
विक्रयकर और निषिद्धवस्तु विक्रय	"	दुष्टा स्त्री को दुबाने का आदेश हत्यारिणी स्त्री के अङ्ग भङ्ग का दण्ड	३७५
विक्रयकर में बेईमानी करने का दण्ड	३६५	दुष्टारे का पता लगाने की विधि दूसरे की फसल, घर, यादिना, गाँव आदि जलाने वाले के लिए दण्ड	"
नौका की फेरी	"	राजपरनी के साथ व्यभिचार का दण्ड	३७६
योग्य प्राणियों को श्राद्ध में न बुलाने पर दण्ड	"		"
विदेशगत या मृत हिस्सेदार का धन	३६६	( २४ ) स्त्रीसंग्रहप्रकरण	
बेईमान हिस्सेदार के प्रति व्यवहार	३६७	स्त्रीसंग्रहण के तीन प्रकार	३७६
( २३ ) स्तेयप्रकरण		परायी स्त्री के साथ व्यभिचार के चिह्न	३७७
स्तेय का लक्षण	३६७	छेड़खानी करने का अपराध निषिद्ध भाषण की दशा में घोलने पर दण्ड	"
चोर पकड़ने के उपाय	३६८	चारणखी से व्यभिचार में दण्ड का अभाव	"
सन्देश में दूसरों को भी पकड़ने का नियम	"	माता आदि से सभोग का दण्ड	"
सन्देश में पकड़े गये लोगों में चोर की पहचान	"	सजातीय परखी से व्यभिचार का दण्ड	"
निर्दोषता न प्रमाणित करने वाले को दण्ड	३६९	हीन वर्ण की परखी से व्यभिचार का दण्ड	३७९
चोर को शारीरिक दण्ड	"	नीच वर्ण के पुरुष से व्यभिचार का स्त्री को दण्ड	"
ब्राह्मण चोर के लिए दण्ड	३७०	वाग्दत्ता सवर्णा कन्या का अपहरण	"
गाँव में चोरी का दोषी	"		
चोरी का दण्ड कौन दे ?	३७१		
विशेष अपराध के लिए विशेष दण्ड	"		

उच्च जाति की कन्या का अपहरण	३७९	राजा का कोश चुराने वाले का दण्ड	३८८
कन्या की सहमति, असहमति का विचार	३८०	शव के ऊपर की वस्तु बेचने वाले का दण्ड	३८९
कन्यादूषण का दण्ड	"	पिता या आचार्य को पीटने वाले का दण्ड	"
कन्या का वास्तविक दोष कहने का दण्ड	३८१	राजसिंहासन पर बैठने का दण्ड	"
पशुमैथुन, हीनस्त्रीसंभोग, गो-मैथुन का दण्ड	"	ऑख फोड़ने, राजा के अनिष्ट का प्रचार करने, ब्राह्मण का वेश बनाने पर दण्ड	"
साधारण स्त्रीगमन का दण्ड	"	राग, लोभ से व्यवहार में पक्षपात करने पर दण्ड	"
वेश्या जाति की प्राचीनता	३८२	साक्षियों का दोष होने पर दण्ड	३९०
पद्मचूडा नाम की अप्सराएं	"	सभासदों द्वारा दिये गये अधर्मपूर्ण व्यवहार पर विचार	"
दासी-संभोग का दण्ड	"	निर्गोत्र व्यवहार के प्रत्यावर्तन का दण्ड	"
स्वैरिणी दासियों के बलात् संभोग का दण्ड	३८३	पराजय में स्वीकारने वाले का दण्ड	"
चेतन लेने वाली वेश्या के मुक्कने पर दण्ड	"	राजा द्वारा अन्याय से लिये गये धन की उपयोगविधि	३९१
असामान्य स्त्रीमैथुन का दण्ड	३८४		
चाण्डाली-संभोग का दण्ड	"		

## ( ५५ ) प्रकीर्णकप्रकरण

स्त्रीयुगल नाम का व्यवहार	३८४	<b>३. प्रायश्चित्ताध्यायः</b>	
उसका लक्षण	३८५	( १ ) आशीर्षप्रकरण ।	
स्त्री पुरुष को अपने मार्ग में स्थापित करना	"	आशीर्ष शब्द का अर्थ	३९२
प्रकीर्ण व्यवहार का लक्षण	"	शव के गाड़ने और जलाने का विचार	"
अपराध विशेष का दण्ड	"	शवानुगमन	"
द्विज को अभय से दूषित करने का दण्ड	"	चाण्डाल आदि अग्नि का निषेध	३९३
सोटा मोना और निषिद्ध मांस बेचने का दण्ड	३८६	उदकदान के विचार	३९४
सावधान करने पर चोट लगने में दोषाभाव	३८७	अग्नितामिनी की मृत्यु पर विशेष नियम	"
दुर्घटना से हिंसा होने में दोषाभाव	"	शूद्र द्वारा लाये गये अग्नि आदि	३९४
उपेक्षा करने पर पशु के स्वामी का दण्ड	"	ब्रह्मचारी और पतित द्वारा उदकदान का निषेध	३९६
आर को छोड़ देने पर दण्ड	३८८	सपिण्डों में उदकदान के लिए प्रतिषिद्ध व्यक्ति	"
राजा की निम्दा करनेवाले का दण्ड	"	पादगुंडी आदि के मरनेपर आशीर्ष	"
		विशेष प्रकार की मृत्यु से आशीर्ष का निषेध	३९५

पतितों के विषय में रोने का निषेध ३९७	मृत्युविशेष की स्थिति में आशौच	
आत्महत्या करने वाले का आशौच ३९८	का अपवाद	४१५
नारायण यति	युद्ध में, विदेश में, मरने पर आशौच	"
नागयति	विमाता की मृत्यु पर आशौच	"
शोक को दूर करनेके लिए इतिहास ४००	वर्णानुसार आशौच के दिन	४१६
मनुष्य की निःसारता	आयु के अनुसार आशौच	४१७
रोने का निषेध	आयु के अनुसार स्त्रियों का	
प्रेतदाह के नाद वापस आना	आशौच	४१८
घर में प्रवेश की विधि	गुरु, मामा की मृत्यु पर आशौच	४२०
तत्काल शुद्धि का उपाय	पिता की मृत्यु पर विवाहित	
ब्रह्मचारी के व्रत की अखण्डता	कन्या का आशौच	"
आशौचियों के नियम	शशुर आदि की मृत्यु पर आशौच	४२१
प्रेतपिण्डदान	अनौरस पुत्र की मृत्यु का आशौच	"
पिण्डदान देने वाला	पराश्रित परम्वी की मृत्यु का	
पिण्ड की संख्या और काल	आशौच	"
शिवया आदि में जलदान	शव के साथ जाने पर आशौच	४२२
अस्त्रिसंचयन का समय	राजा आदि की मृत्यु पर आशौच	
चपन	का अभाव	"
अग्निहोत्र के विषय में विचार	दास आदि की मृत्यु पर आशौच	४२३
सूक्त में सन्ध्योपासना	श्रुतिवज् आदि की मृत्यु पर	
आशौच का समय	अपवाद	"
सपिण्ड भादि का आशौच	ब्रह्मचारी और संन्यासी के	
वालकों भादि का आशौच	विषय में	४२४
जन्मसंबन्धी आशौच	आशौच के अन्त में स्नान	"
प्रसूतिका का आशौच	रजस्वला कुक्षा, चाण्डाल, पक्षियों के	
पुत्रजन्म के समय दान का अधिकार,	स्पर्श पर अशुद्धि	४२६
पट्टीपूजन	शुद्धि के हेतु और साधन	४२९
आशौच के बीच दूसरे आशौच का	( २ ) थापद्वयमपकरण	
संपात	आपत्ति के समय दूसरी वृत्ति	
मातापिता की मृत्यु के आशौच का	धारण करने का नियम	४३१
संपात	वैश्यवृत्ति वाले ब्राह्मण द्वारा	
गर्भस्राव में आशौच का निर्णय	अविक्रय वस्तुएँ	४३२
रजस्वला की शुद्धि के विषय में	निषिद्ध वस्तुओं में अपवाद	४३३
विचार	निषिद्ध कर्म करने का दोष	४३४
रजस्वला और सूतिका की मृत्यु का	आपत्ति काल में दान लेने पर	
आशौच	दोषाभाव	"
आदित्यादि की मृत्यु पर विशेष	आपत्ति काल में जीविका के साधन	"
नियम		४३४



कृषि आदि से जीविका न होने पर अन्य साधन	४३५	शरीर के अंगों, अस्थियों की संख्या	४५५
राजा द्वारा वृत्ति निर्धारण	"	इन्द्रियों के विषय-गन्धादि	४५८
( ३ ) वानप्रस्थप्रकरण		कर्मेन्द्रियों	"
वानप्रस्थ के धर्म	४३६	प्राणों के स्थान	"
स्वयं प्राप्त फल द्वारा पंचमहायज्ञ	४३७	प्राणस्थानों के विस्तार	४५९
द्रव्यसंचय का नियम	४३८	स्नायु, धमनी, पेशियों की संख्या	४६०
स्नान, स्वाध्याय और दान	४३९	वालों और रोओं की संख्या	४६१
वानप्रस्थ के भोजन का नियम	"	शरीर में रसों का अनुपात	४६२
चान्द्रायणादि धृत का नियम	"	शरीर में आत्मा की स्थिति	४६३
पञ्चाग्निमेवन आदि	४४०	'बृहदारण्यक' तथा योगशास्त्र का निर्देश	"
समदृष्टि होने का नियम	४४१	आत्मा के ध्यान की विधि	४६४
भैरवाचरण	"	शब्द ब्रह्म की उपासना	"
शरीर त्याग का नियम	४४२	मुक्ति के मार्ग सामरान, वीणा वादन आदि	४६५
( ४ ) यतिधर्मप्रकरण		गीतज्ञ की योनि	"
यतिधर्म का निरूपण	४४२	आत्मा से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति	४६६
यति के धर्म	४४४	मुनियों का प्ररन	"
भिषाटन	४४५	यज्ञ से प्रजासृष्टि	"
यति के पात्र और उनकी शुद्धि	४४६	आत्मा द्वारा सुख-दुःख का भोग क्यों ?	४६७
इन्द्रियसंयम और अनिष्टमय संसार	४४७	आदिदेव से चार वर्णों की उत्पत्ति	४६८
ध्यान और ब्रह्मदर्शन	४४८	मुनियों की शंका	४६९
धर्म के लिए आश्रमविशेष	"	कर्मानुसार योनि की प्राप्ति	४७०
आवरणक नहीं	"	कर्मों के फल की प्राप्ति का समय	"
सत्य, अहंतेय आदि धर्म	"	कैसा व्यक्ति किसी योनि में जन्म लेता है	४७१
ब्रह्म से अनेक जीवात्मा की उत्पत्ति	४४९	सत्त्वादि गुण का परिणक	४७२
आत्मा द्वारा किया गया कर्म	"	आत्मा को पिछले जन्म का बोध क्यों नहीं होता	४७३
आत्मा का शरीरधारण	४५०	आत्मा का समष्टि, व्यष्टि भेद	४७४
शरीरधारण की प्रक्रिया और अवस्थाएँ	४५१	घानुएँ और आत्मा से जगत् की उत्पत्ति	"
गर्भ में शरीर का विकास और शारीरिक गुणों के उद्भव का क्रम	४५३	जगत् के सृजन की प्रक्रिया	४७५
दोहदू का महत्त्व	"	आत्मा के विषय में प्रमाण	४७६
गर्भ के महीनों में विकास की दशाएँ	४५४		
प्रसव का समय	४५५		

आत्मा का अज्ञान और बलेश	४७९	उपपातक	५०८
मुक्ति कौन पाता है ?	४७८	जाति अंश के कारणभूत पाप	"
मोक्षप्राप्ति का हेतु	४७९	ब्राह्मणहत्या के प्रायश्चित्त की विधि	५१३
कर्मफलभोग के लिए शरीरधारण	"	ब्रह्मवध के विषय में विशेष नियम	५१४
आत्मा को नष्ट से रचना	"	प्रोसाहक आदि के लिए दण्ड-	
मोक्ष का मार्ग, स्वर्गमार्ग संस्तरण-	४८१	प्रायश्चित्त	५१६
मार्ग		पालक और वृद्ध के लिए आधा	
आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण	४८३	प्रायश्चित्त	५१७
प्रेमज्ञ का स्वरूप	४८४	ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त की अवधि	५१८
बुद्धि आदि की उत्पत्ति	"	ब्रह्महत्या का दूसरा प्रायश्चित्त	५२१
गुणस्वरूप	४८५	ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त का	
स्वर्गमार्ग, पितृयान	४८६	अनिदेश	५२५
पितृयान के मुनियों का वर्णन	४८७	आग्नेयी की हत्या का प्रायश्चित्त	५२६
ज्ञान के हेतु	"	आग्नेयी का उच्छ्रय	"
आत्मज्ञानी और देवयान	४८८	सुरापान प्रायश्चित्त	५२७
उपासना की विधि	४८९	सुरा के विषय में विचार	५२८
धारणात्मक योगाभ्यास का		एकादश मद्य	५२९
प्रयोजन	४९०	सुरापान का दूसरा प्रायश्चित्त	५३०
योग की सिद्धि के लक्षण	४९१	सुरायुक्त द्रुपत्स के भक्षण का	
कर्मों के त्याग से मुक्ति	"	प्रायश्चित्त	"
गृहस्थ के लिए भी मुक्ति संभव	"	सुरापान में जल पीने का	
		प्रायश्चित्त	५३१
( ५ ) प्रायश्चित्तप्रकरण		मद्यपान का प्रायश्चित्त	५३२
कर्मविपाक का निरूपण	४९२	द्विजाति की पत्नी के विषय में	
महापातकी का पुनः पुनः जन्म	"	सुरापान प्रायश्चित्त	५३४
कर्म से अनुसार शरीरधारण	४९३	सुवर्णरतेय का प्रायश्चित्त	"
पतित होने का कारण और		शङ्ख के विचार	५३५
आवश्यकता	४९७	सुवर्ण शब्द का अर्थ	५३६
प्रायश्चित्त का अधिकारी	"	सुवर्णरतेय का दूसरा प्रायश्चित्त	५३७
प्रायश्चित्त न करने पर दोष	४९९	गुरुनक्षत्रगमन का प्रायश्चित्त	५३९
इक्कीस नरक	५००	गुरु शब्द का अर्थ	"
प्रायश्चित्त का फल	५०१	गुरुनक्षत्रगमन का दूसरा प्रायश्चित्त	५४२
महापातकी	५०२	महापातकियों के साथ संसर्ग का	
ब्रह्महत्या के समान पाप	५०५	प्रायश्चित्त	५४६
सुरापान के समान पाप	"	इस विषय में नियम का अपवाद	५४९
सुवर्णरतेय के समान पाप	५०६	शृङ्गादि के विषय में प्रायश्चित्त	५५०
गुरुनक्षत्र के समान पाप	"	गोवध का प्रायश्चित्त	५५१
गुरुतश्चातिदेश	५०७		

अवस्था के अनुसार प्रायश्चित्त का नियम	५५३	स्वाध्यायत्याग का प्रायश्चित्त	५८९
गोपालक की उपेक्षा से गोहत्या का प्रायश्चित्त	५५५	अग्नित्याग का प्रायश्चित्त	"
स्त्रियों के प्रायश्चित्त के विषय में विशेष नियम	५५६	आश्रम में न रहने का प्रायश्चित्त	५९०
पुरुषों के विषय में प्रायश्चित्त के विशेष नियम	५५७	समुद्रयात्रा का प्रायश्चित्त	५९१
उपपातकों के प्रायश्चित्त	५५८	वेरयागमन का प्रायश्चित्त	"
स्त्री, शूद्र, विट्, चत्र के वध का प्रायश्चित्त	५६१	प्याज भादि खाने पर प्रायश्चित्त	५९३
स्त्रीवध का प्रायश्चित्त	५६३	संधिनी गाय का दूध पीने पर प्रायश्चित्त	५९४
अनुपपातक प्राणिवध के विषय में प्रायश्चित्त	५७०	गहित मांस खाने का प्रायश्चित्त	"
बिल्ली मारने पर प्रायश्चित्त	५७१	अपवित्र द्रव्य से शृष्ट वस्तु खाने का प्रायश्चित्त	५९५
बृत्तादि काटने पर प्रायश्चित्त	५७३	बुरे विचार से प्रदत्त अन्न खाने का प्रायश्चित्त	५९९
पुंश्वली, चानर के वध का प्रायश्चित्त और उनके स्पर्श से शुद्धि का उपाय	५७५	बासी भोजन करने का प्रायश्चित्त	"
वीर्यखलन का प्रायश्चित्त	५७६	गुणदुष्टशुक्त भादि के भक्षण का प्रायश्चित्त	६००
मद्व्याचारी द्वारा स्त्रीभोग का प्रायश्चित्त	५७८	क्रियादुष्ट अन्न के भक्षण का प्रायश्चित्त	"
स्वप्न में वीर्यपातद्वैके प्रायश्चित्त का मन्त्र	५८०	एकाहादि आर्यभोजन का प्रायश्चित्त	६०३
संन्यास से भ्रष्ट होने पर प्रायश्चित्त	"	अपुत्रादि के अन्नभक्षण का प्रायश्चित्त	६०४
अन्य अनुपातक का प्रायश्चित्त	५८१	जातिभ्रत करने वाले पाप का प्रायश्चित्त	६०४
गुरु के लिए प्रायश्चित्त का विधान	५८२	( ६ ) प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि	
सब प्रकार की हिंसा का प्रायश्चित्त	५८३	निषिद्ध दान छेने का प्रायश्चित्त	६०४
हाटा दोष लगाने पर प्रायश्चित्त	"	गुरु की भर्त्सना का प्रायश्चित्त	६०५
आतृजायागमन का प्रायश्चित्त	५८५	विप्र को मारने के लिए उद्यत होने पर दण्ड	६०६
रजस्वला पानी के संभोग का प्रायश्चित्त	"	पादप्रहार का प्रायश्चित्त	"
अयाग्य व्यक्ति का यज्ञ कराने का प्रायश्चित्त	५८७	मनु द्वारा बताये गये प्रकीर्णक-प्रायश्चित्त	"
पेदविच्छावन का प्रायश्चित्त	५८८	नित्य, श्रौतादि कर्म न करने पर प्रायश्चित्त	"
		इन्द्रधनुष देखने का प्रायश्चित्त	६०७
		यज्ञोपवीत बढ़ाये बिना मलमूत्र-त्याग का प्रायश्चित्त	"

घोर और पतित के साथ भोजन करने का प्रायश्चित्त	६०७	सान्तपन नाम के प्रत्यक्ष	६२५
नीलरंगे वस्त्र धारण करने का प्रायश्चित्त	"	महासान्तपन वन	६२६
देशविशेषगमन का प्रायश्चित्त	६०८	पण्डितवृत्त	६२७
प्रायश्चित्त के विषय में देश और काल का विचार	६०९	पादकृच्छ्र	६२८
पतित के घबरा फोड़ने की विधि	६१०	प्राजापत्यकृच्छ्र	६२९
पतितों को समाज में मिलाने की विधि	"	अतिकृच्छ्र	६३०
पतितत्याग की विधि का अतिदेश	६११	कृच्छ्रतिकृच्छ्र	६३१
स्त्रियों का विशेष रूप से पतित होना	६१२	पगकृच्छ्र	६३२
चरितव्रत के विषय में विशेष जाति में मरिमलित करने की दूसरी विधि	६१३	सौम्यकृच्छ्र	६३३
रहस्यप्रायश्चित्त	६१४	मुलापुरपकृच्छ्र	६३४
दूसरा प्रायश्चित्त	६१५	शान्द्रायणव्रत	६३५
मुरापान का रहस्यप्रायश्चित्त	"	दूसरे प्रकार का शान्द्रायण	६३६
सुवर्गंस्तेय का प्रायश्चित्त	६१६	कृच्छ्र और शान्द्रायण का	६३७
गुरुदण्ड का प्रायश्चित्त	"	साधारणतः आचरण	६३८
उपपातक का रहस्य प्रायश्चित्त	६२०	प्रायश्चित्त में वृषण का विचार	६३९
सौ बार प्राणायाम का नियम	"	अनादिष्ट पाप का प्रायश्चित्त	६४०
अपवित्र वस्तु मुझ में डालने का प्रायश्चित्त	६२१	व्रत न कर सकने पर मादान् आदि	६४१
अज्ञानवश किये गये पाप का प्रायश्चित्त	"		
साधारण पवित्र मन्त्र यम और नियम	६२२	पुनः पाप करने पर पुनः प्रायश्चित्त	६४२
	६२४	व्रत न कर सकने पर शान्द्रायण भोजन	६४३
		कृच्छ्र और शान्द्रायण का फल	६४४
		इस शास्त्र के अध्ययन और श्रयण का फल	६४५
		टिप्पणी ( नोट्स )	६४६
		पद्याधुनुममगिका	६४७

॥ श्रीः ॥

# याज्ञवल्क्यस्मृतिः 'मिताक्षरा' सहितहिन्दीव्याख्योपेता

आचाराध्यायः ॥ १ ॥

उपोद्घातप्रकरणम्

धर्माधर्मौ तद्विपाकास्त्रयोऽपि वलेशाः पञ्च प्राणिनामायतन्ते ।  
यरिमन्नेतैर्नो परामृष्ट ईशो यस्तं वन्दे विष्णुमोकारवाच्यम् ॥ १ ॥  
याज्ञवल्क्यमुनिभाषितं सुहुर्विश्वरूपविकटोक्तिविस्तृतम् ।  
धर्मशास्त्रशुभिमिताक्षरैर्बालयोधविधये विविच्यते ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चिदप्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशा-  
स्त्रसिष्य कथयामास—यथा मनुप्रणीतं श्रुत्वा । तस्य चायमाद्यश्लोकः—

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽद्भुवन् ।  
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः ॥ १ ॥

योगिनां सनकादीनामीश्वरः । श्रेष्ठं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मनोवाक्याय-  
कर्मभिः पूजयित्वा मुनयः सामंश्रव प्रभृतयः श्रवणधारणयोग्या अद्भुवन् उक्त-  
वन्तः धर्माश्रमोऽस्मभ्यं ब्रूहीति । कथम् ? अशेषतः कारस्म्येन । केपाम् ? वर्णाश्र-  
मेतराणाम्, वर्णा ब्राह्मणादयः, आश्रमाश्चत्वारिप्रभृतयः, इतरेऽनुलोमप्रतिलोम-  
जाना मूर्धावसिक्तादयः । 'हनर'शब्दस्य 'द्वन्द्वे च' ( पा. १११३१ ) इति  
सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । अत्र च 'धर्म'शब्दः पद्विधर्मोत्तमधर्मविषयः । तद्यथा-  
वर्णधर्मं, आश्रमधर्मं, वर्णाश्रमधर्मं, गुणधर्मं, निमित्तधर्मं, साधारणधर्मश्चेति ।  
तत्र वर्णधर्मो ब्राह्मणो नित्यं मद्यं वज्रवेदिरथोदि । आश्रमधर्मोऽग्नीन्धनभैच-

१. पाठान्तरम्—मनुनोक्तं । २. प्रभृतं । ३. सोमधवादप' ।  
४. ब्रूहि कथयेति । ५. रमात्कर्मविषयः । ६. वज्रवेदिति ।

## याज्ञवल्क्यस्मृतिः

चर्चादिः । वर्णाश्रमधर्मः पाठाशो दण्डो ब्राह्मणस्यैवेवमादिः । गुणधर्मः शास्त्री  
 यामिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापरिपालनादिः । निमित्तधर्मो विहितकारण  
 प्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम् । साधारणधर्मोऽर्हिसादिः । 'न हि स्यात्  
 भूतानि' इत्याचण्डालं साधारणो धर्मः । 'शौचाचारांश्च शिष्ययेत्' इत्याचार्यकरण  
 विधिप्रयुक्तवाद्दर्मशास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनादिक्यनेनातीवोपयुज्यते । तत्र चार  
 ङ्गमः—प्रागुपनयनार्थकामचारकामवादकामभक्षाः । ऊर्ध्वमुपनयनाप्राग्वेदाध्यय  
 नोपक्रमान्दर्मशास्त्राध्ययनं, ततो धर्मशास्त्रविहितयमनियमोपेतस्य वेदाध्ययनं  
 तत्तरतदर्थजिज्ञासा, तत्तरतदर्थानुष्ठानमिति । तत्र यद्यपि धर्मार्थकाम  
 मोक्षाः शास्त्रेणानेन प्रतिपाद्यन्ते, तथापि धर्मस्य प्राधान्याद्दर्मग्रहणम्  
 प्राधान्यं च धर्ममूलत्वादितरेषाम् । न च वक्तव्यं धर्ममूलोऽर्थोऽर्थमूलो धर्म  
 इत्यभिज्ञेय इति । यतोऽर्थमन्तरेणापि जपत्परतीर्थयात्रादिना धर्मनिष्पत्तिः  
 अर्थलेशोऽपि न धर्ममन्तरेणेति । एवं काममोक्षावपीति ॥ १ ॥

भाषा—( किसी समय ) योगियों में श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य की पूजा करने  
 ( सोमधवस आदि ) मुनियों ने कहा कि आप षणों, आश्रमों और दूतों  
 ( अनुलोमज-प्रतिलोमज संकर जातियों ) का धर्म हमें पूर्णरूप से  
 बताइए ॥ १ ॥

एवं पृष्टः किमुवाचेत्याह—

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽप्रचीन्मुनीन् ।

यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥ २ ॥

मिथिला नाम नगरी तत्र स्थितः स याज्ञवल्क्यो योगीश्वरः, पूर्णं ध्यात्वा  
 किंचिदकालं मनःसमाधाय पृष्ठे श्रवणाधिकारिणो विनयेन पृच्छन्तीति युक्तमे-  
 तेभ्यो वक्तुमित्युक्तान्मुनीन् । किम् ? 'यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मांनि-  
 बोधयत'— इति । कृष्णसरो मृगो यस्मिन्देशे स्वच्छन्दं विहरति तस्मिन्देशे  
 वक्ष्यमाणलक्षणा धर्मो अनुष्ठेयः नान्यत्रैवमिषायः ॥ २ ॥

भाषा—मिथिला नगरी में विराजमान उस योगीश्वर ने छोड़ी देर  
 अपने मन में विचार करके मुनियों से कहा कि जिस देश में काले  
 मृग ( स्वच्छन्द ), विहार करते हैं उस देश में ( अनुष्ठेय ) धर्मों को  
 समझिए ॥ २ ॥

१. संपन्नानि इति । २. सुस्पृक्तौषाचारान् । ३. जपतीर्थयात्रा ।

## आचाराध्यायः

'शौचाचारश्च शिष्येत्' इत्याचार्यस्य धर्मशास्त्राध्यापनविधिः । शिष्येण सद्भ्ययनं कर्तव्यमिति कुतोऽवगम्यत इत्यत आह—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिधितः ।  
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ ३ ॥

पुराणं ब्रह्मादि, न्यायस्तर्कविद्या, मीमांसा वेदवाक्यविचारः, धर्मशास्त्रं ज्ञानवादि, अङ्गानि व्याकरणादीनि पट्ट, एतैरुपेताश्चत्वारो वेदाः, विद्याः पुरुषार्थ-साधनानि, तामो स्थानानि च चतुर्दश, धर्मस्य च चतुर्दश स्थानानि हेतवः । एतानि च त्रैविर्गिकैरभ्येतव्यानि । तदन्तर्भूतत्वाद्धर्मशास्त्रमभ्येतव्यम् । तत्रैतानि ब्राह्मणेन विद्याप्राप्तये धर्मानुष्ठानाय चाधिगन्तव्यानि । उत्रियवैश्याभ्यां धर्मानुष्ठानाय । तथा च ब्रह्मेन विद्यास्थानान्युपक्रम्योक्तम्—'एतानि ब्राह्मणोऽधिभुक्ते स च वृत्तिं दर्शयतीतरेषाम्' इति । मनुषि द्विजातीनां धर्मशास्त्राध्ययनेऽधिकारः, ब्राह्मणस्य प्रवचने नान्यस्येति दर्शयति ( २ । १६ ) 'निपेकादिरमशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः । तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्नेवो नान्यस्य कर्हिचित् ॥ विदुषा ब्राह्मणेनेदमभ्येतव्यं प्रयततः । शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यक् नान्येन केनचित् ॥' इति ॥ ३ ॥

भाषा—पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और ( व्याकरण आदि ) अष्टौ सहित ( चारों ) वेद चौदह विद्या के और धर्म के स्थान या कारण हैं ॥ ३ ॥

अस्तु धर्मशास्त्रमभ्येतव्यं, याज्ञवल्क्यप्रणीतस्यास्य शास्त्रस्य किमाद्योतमि-  
त्यत आह—

मन्वत्रिविष्णुहारीतयांज्वल्क्योशनोऽङ्गिराः ।  
यमापस्तम्बसंयताः कात्यायनशृङ्गस्वामी ॥ ४ ॥  
पराशरव्यासशङ्खलिपिता दक्षगौतमी ।  
शातातपो घसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥ ५ ॥

'उशनः' शब्दपर्यन्तो इन्द्रैकवक्त्रावः । याज्ञवल्क्यप्रणीतमिदं धर्मशास्त्रमभ्येत-  
व्यमित्यभिप्रायः । नेर्थ परिसरणां, किंतु प्रदर्शनार्थमेतत् । अतो योषायनादेरपि  
धर्मशास्त्रप्रवमविरुद्धम् । एतेषां प्रत्येकं प्रामाण्येऽपि साकाङ्क्षागामाकाङ्क्षापरिपूरण-  
संग्रहः क्रियते । विरोधे विकल्पः ॥ ४-५ ॥

१. पुरुषार्थज्ञानानि, पुरुषार्थसाधनज्ञानानि ।
२. तदन्तर्गतत्वात् ।
३. तत्र ब्राह्मणेनेतानि ।
४. कस्यचित् ।
५. अङ्गिराः ।
६. प्रवक्तव्यं ।

भाषा—मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशनस्, अङ्गिरस्, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, शौतम, शातातप और वसिष्ठ—ये धर्मशास्त्रों के प्रणेता हैं ॥ ४-५ ॥

इदानीं धर्मस्य कारकहेतूनाह—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।

पात्रे प्रदीयते यत्तत्सफलं धर्मलक्षणम् ॥ ६ ॥

देशो 'यस्मिन्देशे मृतः ह्यग' ( ११२ ) इत्युक्तलक्षणं, कालः संक्रान्त्यादिः, उपायः शास्त्रोक्तैककर्तव्यताकलापः, द्रव्यं प्रतिग्रहादिलब्धं गवादि, श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः, तदन्वितं यथा भवति तथा । पात्र 'न रिचया केवलया' ( आचार. ११२०० ) इत्येवमादिवक्ष्यमाणलक्षणम् । प्रदीयते यथा न प्रत्यावर्तते तथा परस्वस्वापायवसानं त्यज्यते । एतद्धर्मस्योत्पादकम् । किमेताद्देव नेश्याह—सकलमिति । अन्यदपि शास्त्रोक्तं जातिगुणहोमयागादि तत्सकलं धर्मस्य कारणं जातिगुणद्रव्यक्रियाभावार्यात्मकं चतुर्विधं धर्मस्य कारणमित्युक्तं भवति । तच्च समस्तं व्यस्तं वा यथाशास्त्रं द्रष्टव्यम् । श्रद्धा सर्वत्रानुरतं एव ॥ ६ ॥

भाषा—( पवित्र ) देश में ( उपयुक्त ) समय पर विधिपूर्वक जो भी ( स्वर्णादि ) द्रव्य योग्य व्यक्ति को दान दिया जाता है वह सब धर्म का लक्षण है ॥ ६ ॥

इदानीं धर्मस्य शापकहेतूनाह—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

सम्यक्संस्कारपजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ ७ ॥

श्रुतिर्वेदः, स्मृतिर्धर्मशास्त्रम्, तथा च मनुः ( २।१० ) 'श्रुतिस्तु वेदो रिज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' इति । सदाचारः मता शिष्टानामाचारोऽनुष्ठानम्, स्वस्य चात्मनः प्रिय, वैकल्पिकं रिपये यथा—'गर्माद्येऽद्यमे वाग्दे' ( आचार. २।१४ ) इत्यादावात्मैव नियामिका । सम्यक्संस्कारपजातः कामः शास्त्रविद्वेदो यथा—'मया भोजनस्यतिरेकेणोदकं न पातय्यम्' इति । एते धर्मस्य मूलं प्रमाणम् । एतेषां विरोधे पूर्वपूर्वस्य यत्नियस्यम् ॥ ७ ॥

भाषा—वेद-धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण, अपने आत्मा के अनुमूल ( उचम ) कार्य तथा विवेकपूर्ण संस्कार से उत्पन्न हुई इच्छा—ये सब धर्म का मूल कहें गये हैं ॥ ७ ॥

१. विरोधे तु । २. मुष्टानं नाशिष्टानाम् । ३. इत्यत्रात्मैवैव-  
इत्यादिप्राप्तेऽद्यैव । ४. शास्त्रातिरिक्तः कामो यथा ।



## आचाराध्यायः

देशादिकारकहेतूनामपवादमाह—

इज्याचारदमार्हिसादानस्थाध्यायकर्मणाम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥

इज्यादीना कर्मणामयमेव परमो धर्म यद्योगेन बाह्यचित्तवृत्तिनिरोधेनात्मनो दर्शनं याथातथ्यज्ञानम् । योगेनात्मज्ञाने देशादिनियमो नास्तीत्यर्थः । तदुक्तं 'यत्रैकाग्रता सत्राप्रशेषात्' ( प्र सू ४।१।६।१० ) इति ॥ ८ ॥

भाषा—यज्ञानुष्ठान, आचार, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, दात, वेदाध्ययन और ( पुण्य ) कर्मों में यही श्रेष्ठ धर्म है कि योग अर्थात् बाह्य चित्त-वृत्ति का निरोध द्वारा आत्मा का याथातथ्य बोध हो । ॥ ८ ॥

कारकहेतुषु ज्ञापकहेतुषु वा सदेहे तु निर्णयहेतुमाह—

चत्वारो वेदधर्मशा परंपरैर्विद्यमेव वा ।

सा प्रुते यं स धर्म स्यादेका वाऽभ्यारमवित्तमः ॥ ९ ॥

चत्वारो ब्राह्मणा वेदधर्मशास्त्रज्ञा परंपर । तिस्रो विद्या अधीयन्त इति त्रैविद्या, तेषां समूहत्रैविद्यम् । धर्मशास्त्रज्ञत्वमप्यनुवर्तते, तद्वा परंपर । सा पूर्वोक्ता परंपर य प्रुते स धर्म । अभ्यासज्ञानेषु निपुणतमो धर्मशास्त्रज्ञश्च एकोऽपि वा य प्रुते सोऽपि धर्मः ॥ ९ ॥

भाषा—वेद और धर्म को जानने वाले चार पुराणों की या तीन विद्याओं के ज्ञाता तीन ही पुराणों की प्रपत्तु होती है । वह ( परंपर ) जो भी कहे वह धर्म होता है । अभ्यासज्ञान में निपुणतम एक ही व्यक्ति जो बुद्ध कहता है वह धर्म होता है । ॥ ९ ॥

इत्युपोद्घातप्रकरणम् ।

ब्रह्मचारिप्रकरणम्

एतैर्नवभि रलोकै सत्कलाशास्त्रापोद्घातमुक्त्वा इदानीं वर्गादीनां धर्मान्वेषणं प्रथमं तावद्गुणमाह—

ब्रह्मक्षत्रियविद्वद्ब्राह्मणा वर्णास्त्वाचारप्रयो द्विजाः ।

निवेशाद्या श्रमशानान्तास्तेषा धै मन्त्रताः क्रिया ॥ १० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यद्विजाध्वजो वर्गा वदयमगल्लक्षणस्तेषाम् आचारयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या द्विजाः, निवेशः श्रम इति द्विजाः, तेषां द्विजाताः धै मन्त्रताः श्रमश्च, क्रियाः श्रमश्च ।

१. पातञ्जले । २. ब्रह्मशास्त्रधर्मशा । ३. ब्रह्मधर्मशास्त्रधर्मशा । ४. सोऽपि धर्म एव । ५. न श्रुताणी ।

पूतेन शूद्रस्यामन्त्रकाः क्रिया इत्युक्तं भवति; 'शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः' इति यमोक्तेः । निषेकाद्याः निषेको गर्भाधानमाद्यो यासां तास्तथोक्ताः । रमशानं पितृवन तासंबन्धि कर्म भन्तो यासां ताः क्रिया मन्त्रैर्भवन्ति ॥ १० ॥

भाषा—ग्राहण, अत्रिय, वैश्य और शूद्र-ये ( चार ) वर्ग हैं, इनमें आरम के तीन द्विज हैं । गर्भाधान से लेकर अन्नयेष्टि तक की इन की सभी क्रियाएँ मन्त्रों द्वारा सम्पादित होती हैं । ॥ १० ॥

इदानीं ताः क्रिया अनुक्रमति—

गर्भाधानस्मृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा ।

पष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मान्येते जातकर्म च ॥ ११ ॥

अहन्येकावशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः ।

पष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम् ॥ १२ ॥

गर्भाधानमिष्टानुगतार्थं कर्मनामधेयम् । एष वक्ष्यमाणान्यपि । तद् गर्भाधान-  
स्मृतौ शतुकाले वक्ष्यमाणलक्षणम् । पुसवनार्थं यमं गर्भचलनापूर्वम् । पष्ठेऽष्टमे  
वा मासि सीमन्तोन्नयनम् । पूते च द्वे पुसवन-सीमन्तोन्नयने चेप्रसंस्कारकर्म-  
त्वात्सकृदेव कार्यं, न प्रतिगर्भम् । यथाह देवलः—'महृषे सस्कृता नारी सर्व-  
गर्भेषु संस्कृता । यं य गर्भं प्रसूयेत स सर्वं / संस्कृतो भवेत्' इति । यद्वा-पूते  
आ इते भागते गर्भकोटाज्जाते कुमारं जातकर्म एकादशेऽहनि नाम ।  
तृष्य पितामहमातामहादिसवद्ध कुलदेवतासवद्ध वा । यथाह शङ्ख ( २११४ )—  
'कुलदेवतासवद्धु पिता नाम कुर्यात्' इति । चतुर्थे मासि निष्क्रमणलक्षणं सूर्या-  
वेक्षणं कर्म । पष्ठे मास्यन्नप्राशनं कर्म । चूडाकरणं तु यथाकुलं कार्यमिति प्रायेक  
संबद्धपते ॥ ११-१२ ॥

भाषा—गर्भाधान संस्कार ( गर्भधारण के ) समय पर होता है और पुंसवन गर्भचलन के पहले होता है; जन्म लेने पर जातकर्म, प्यारहवें दिन नामकरण, चौथे मास में निष्क्रमण, संस्कार करे । छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार करे और चूडाकरण संस्कार कुल की रीति के अनुसार करना चाहिए ॥ ११-१२ ॥

पूतेषां नित्याद्येऽप्यानुपङ्गिक फलमाह—

पथमेन शर्म याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।

एवमुक्तेन प्रकारेण गर्भाधानादिभिः सस्कारकर्मभिः कृतैरेन पापं क्षम्यते । किंभूतम् ? धीजगर्भसमुद्भवः शुक्लशोणितसवद्गन्तव्याधिसक्रान्तिनिमित्तं वा, न तु पतितोत्पन्नत्वादि ॥—

स्त्रीणां विशेषमाह—

तूष्णीमेता क्रिया, स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक\* ॥ १३ ॥

एता जातकर्मादिका क्रिया स्त्रीणां तूष्णीं विनैव मन्त्रैर्यथाकालं कार्याः । विवाहः पुनः समन्त्रकः कार्यः ॥ १३ ॥

भाषा—इस प्रकार से (इन सस्कारों द्वारा) शुक्ल और गर्भ से सवद्गन्तव्य होता है । ये (जातकर्मादि) स्त्रियों के लिये विना मन्त्र के किये जाते हैं और विवाह सस्कार मन्त्रों के साथ होता है ॥ १३ ॥

उपनयनकालमाह—

गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

राष्ट्रामेकादशे सैके विशामेकं यथाकुलम् ॥ १४ ॥

गर्भाधानमादिं कृत्वा जननं याष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं उपनयनमेवोपनायनम् । स्वार्थे अण् । १ वृत्तानुसारात्, २ द्वादशेऽब्दात् । अपरं वा दीर्घत्वम् । अष्ट्रेऽष्टया विकल्पः, १ राज्ञामेकादशे । विशां वैश्यानां सैके एकादशे । द्वादशे इत्यर्थः । 'गर्भं प्रहणं सर्वं प्राणुवर्तते । समासे गुणभूतस्यापि 'गर्भ'शब्दस्य शुद्धयो विभक्त्योभयप्राप्त्यनुवर्तनं कार्यम् । 'गर्भाष्टमेकादशे राज्ञो गर्मादि द्वादशे विशा' (शत २।७) इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यथा अथ शब्दानुशासनं, केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानामिति । अत्रापि कार्यमित्यनुवर्तते । कुलविधया केचिदुपनयनमिच्छन्ति ॥ १४ ॥

भाषा—गर्भकाल से आठवें अथवा जन्म से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन सस्कार होता है । इसी प्रकार कुल के अनुसार चतुर्विध के लिए ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष में यह सस्कार विहित है ॥ १४ ॥

गुरुधर्मानाह—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।

वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिष्ययेत् ॥ १५ ॥

एवमुक्तेन विधिनोपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकं वेदमध्यापयेत् । महाव्याहृतयश्च भूरादिसंख्याता सप्त । पञ्च वा गौतमाभिप्रायेण । ऋषि

१ अर्थात् कृत्वा जन्मतो । २ प्रकरणानुसारम् । ३ यच्चनात् । ४ शब्दानामिति । ५ शिष्य गुरु ।

शौचाचारांश्च वचयमाणलक्षणान् शिष्येषु । 'उपनीय शौचाचारांश्च शिष्येषु'  
इत्यनेन प्रागुपनयनारकामचारो दर्शितो यर्गधर्मान्वर्जविरवा । स्त्रीगामप्येतत्स-  
मानं विवाहादवर्जकः ; उपनयनस्थानीयत्वाद्भिवाहस्य ॥ १५ ॥

भाषा—गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे महाव्याहृतियों के  
साथ वेद पढ़ावे और शौच के नियमों की शिक्षा दे ॥ १५ ॥

शौचाचारागाह—

दिवासंभ्यासु कर्णस्थन्नलसूत्र उदङ्मुखः । .

कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥ १६ ॥

कर्णस्थं मलसूत्रं यस्य स तयोक्तः । कर्णश्च दक्षिणः, 'पवित्रं दक्षिणे कर्णे  
कृत्वा विष्णुमूर्त्रमुत्सृजेत्' इति लिङ्गात् । असावहनि संप्रयोश्च उदङ्मुखो मूत्र-  
पुरीषे कुर्यात् । चरुशान्दस्मादिरहिते देशे । रात्रौ तु दक्षिणामुखः ॥ १६ ॥

भाषा—यजोपवीत कान पर अदाकर दिन में एवं सन्ध्या को उत्तर की  
ओर मुख करके तथा रात्रि में दक्षिण की ओर मुख करके मूत्र और पुरीष का  
त्याग करे ॥ १६ ॥

गृहीतशिरश्चोत्थाय मृद्भिरभ्युद्धृतैर्जलैः ।

गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः ॥ १७ ॥

किंच, अनन्तरं शिरश्च गृहीत्वोत्थायोद्धृताभिरद्रिर्वचयमाणलक्षणाभि-  
मृद्भिश्च गन्धलेपयोः क्षयकरं शौचं कुर्यात् । अतन्द्रितोऽनलसः । उद्धृताभिर-  
द्भिरिति जलान्तःशौचनियेधः । अत्र 'गन्धलेपक्षयकरम्' इति सर्वाश्रमिणां  
साधारणमिदं शौचम् । मृतसख्यानियमस्त्वदृष्टार्थः ॥ १७ ॥

भाषा—शिरश्च को पकड़ कर और उठाकर, भलग लिये गये जल और  
मिट्टी द्वारा ( मल के ) गन्ध एवं लेप को नष्ट करने वाला शौच आलस्यरहित  
होकर करे ॥ १७ ॥

अन्तर्जानु शुचौ देश उपविष्ट उदङ्मुखः ।

प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ॥ १८ ॥

शुचौ अशुचिद्वयसंस्पृष्टे । देश इत्युपानलक्षणनासनादिनियेधः । उपविष्टो  
न स्थितः शयानः ब्रह्मो गच्छन्वा । उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वेति दिगन्तरनिवृत्तिः ।  
'शुचौ देशे' इत्येतस्मात्पादपञ्चालनमाप्ति । ब्राह्मेण तीर्थेन वचयमाणलक्षणेन  
द्विजो न शूद्रादिः । नित्यं सर्वकालमाश्रमान्तरगतोऽपि । उपस्पृशेदाचामेत् ।  
कथम् ? अन्तर्जानु जानुनोर्मध्ये हरती कृत्वा दक्षिणेन हस्तेनेति ॥ १८ ॥

भाषा—ब्राह्मण प्रतिदिन दोनों घुटनों के बीच हाथ रखकर, पवित्र स्थल पर उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके बैठे और ब्राह्मतीर्थ से आचमन करे ॥ १८ ॥

प्रजापत्यादितीर्थान्याह—

कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च ।

प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुकमात् ॥ १९ ॥

कनिष्ठायास्तर्जन्या अङ्गुष्ठस्य च मूलानि करस्याग्रं च प्रजापतिपितृब्रह्मदेव-  
तीर्थानि यथाक्रमं वेदितव्यानि ॥ १९ ॥

भाषा—कनिष्ठा, तर्जनी और अंगूठे के मूलभाग तथा हाथ का अग्रभाग-  
ये सब क्रमशः प्रजापतितीर्थ, पितृतीर्थ और देवतीर्थ कहे जाते हैं ॥ १९ ॥

आचमनप्रकारः—

त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्य खान्यद्भिः समुपस्पृशेत् ।

अद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभिर्हीनाभिः फेनबुद्बुदैः ॥ २० ॥

वारत्रयमप\* पीत्वा मुखमङ्गुष्ठमूलेन द्विरुन्मृज्य खानि द्विद्राणि ऊर्ध्वकाय-  
गतानि घ्राणादीनि अद्भिहरस्पृशेत् । अद्भिर्द्रव्यान्तरासंस्पृष्टाभिः । पुनरद्भिरिष्य-  
चग्रहण प्रतिच्छिद्रमुदकस्पर्शनार्थम् । स्मृत्यन्तरात्—'अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं  
चैव मुखं स्पृशेत् । अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च चक्षुः श्रोत्रं पुनः पुनः ॥ कनिष्ठाङ्गुष्ठ-  
योर्नाभि हृदयं तु तलेन वै । सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद्वाहू चाग्रेण संस्पृशेत् ॥'  
इति । पुनस्ता एव विशिनष्टि—प्रकृतिस्थाभिः गन्धरूपरसस्पर्शान्तरमप्राप्ताभिः ।  
फेनबुद्बुदरहिताभिः । तु वाग्दाद्वर्षधारगताना शूद्राद्यावर्जितानां च  
निषेधः ॥ २० ॥

भाषा—तीन बार जल पीकर, ( अंगूठे के मूलभाग से ) दो बार मुख  
धोकर, नाक, कान, आँख और मुँह का जल से स्पर्श करे । यह जल स्वच्छ  
होना चाहिए, उसमें फेन एवं बुलबुले न हों ॥ २० ॥

हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु यथासंख्यं द्विजातयः ।

शुष्येरन्स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ २१ ॥

हृत्कण्ठतालुगाभिरद्भिर्यथाक्रमेण द्विजातयः शुष्यन्ति । स्त्री च शूद्रश्च  
अन्ततः अन्तैर्गतेन तालुगा स्पृष्टाभिरपि । 'सकृत्' इति वक्ष्याद्विशेषः । च  
वाग्दादनुपनीतोऽपि ॥ २१ ॥

भाषा—द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः हृदय, कण्ठ और तालु तक जल के पहुँचने पर शुद्ध होते हैं। स्त्री और शूद्र तो तालु से एक ही बार जल स्पर्श कराने पर शुद्ध हो जाते हैं ॥ २१ ॥

स्नानमद्देवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः ।

सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः ॥ २२ ॥

प्रातःस्नानं यथाशास्त्रमद्देवतैर्मन्त्रैः 'आपोहिष्ठा' इत्येवमादिभिर्मार्जनम् । प्राणसंयमः प्राणायामो वक्ष्यमाणलक्षणः । ततः सूर्यस्योपस्थानं सौरमन्त्रेण गायत्र्याः । 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्याद्यायाः प्रतिदिषत् जपः कार्यः । 'कार्य'-शब्दो यथालिङ्गं प्रत्येकमभिसंबध्यते ॥ २२ ॥

भाषा—स्नान, अद्देवत मन्त्र द्वारा मार्जन, प्राणायाम, ( तदुपरान्त ) सूर्योपस्थान और गायत्री का जप प्रतिदिन करे ॥ २२ ॥

प्राणायामविचारः—

गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम् ।

प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥ २३ ॥

गायत्रीं पूर्वोक्ताम्, 'आपोऽयोतिः' इत्यादिना शिरसा संयुक्तां उक्तव्याहृति-पूर्विकां प्रतिव्याहृति प्रणवेन संयुक्तां ओम् ओम्भुवः ओम्स्वरिति त्रीन्वाराम्मुख-नामिकासंचारिवायुं निरुन्धन् मनसा जपेद्विरयं सर्वत्र प्राणायामः ॥ २३ ॥

भाषा—शिरामन्त्र और महाव्याहृति ( का जप करने ) के उपरान्त ( प्रत्येक महाव्याहृति में ) प्रणव जोड़ते हुए गायत्री का तीन बार ( मुख और नासिका की ) स्वासवायु रोककर जप करने पर एक प्राणायाम होता है ॥ २३ ॥

सावित्रीजपप्रकारः—

प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य तृचेनाद्देवतेन तु ।

जपन्नासीत् सावित्रीं प्रत्यगात्तारकोदयात् ॥ २४ ॥

संध्यां प्राक्प्रातरेव हि तिष्ठेदा सूर्यदर्शनात् ।

प्राणायामं पूर्वोक्तं कृत्वा तृचेनाद्देवतेन पूर्वोक्तेनारभानमग्निः संप्रोक्ष्य सावित्रीं जपन् प्रत्यक्षमप्यामोमीत् । अर्थात् 'प्रत्यङ्मुख' इति उच्यते । आ तारकोदयात् तारकोदयावधि । प्राक्संध्यां प्रातः समये एवं पूर्वोक्तविधिमाचरन् प्राङ्मुखः पूर्वोदयावधि तिष्ठेत् । अहोरात्रयोः संधौ या क्रिया विधीयते सा संध्या । तत्र

अहं सपूर्णदित्यमण्डलदर्शनयोग्य कालः, तद्विपरीता रात्रि । यस्मिन्काले  
खण्डमण्डलस्योपलब्धिः स सधि ॥ २४ ॥

भाषा—प्राणायाम के उपरान्त मार्जन के मंत्र से सिर पर जल छिड़क-  
कर ( सन्ध्या को ) पश्चिम की ओर मुड़ करके तारागण का उदय होने तक  
सावित्री का जप करे ॥ २४ ॥

अग्निकार्यं ततः कुर्यात्संध्ययोरुभयोरपि ॥ २५ ॥

तत सन्धोपासनानन्तर द्वयो सध्ययोरग्निकार्यं भग्नौ कार्यं समिधप्रश्ने-  
पादि यत्तत्कुर्यात् स्वगृहोत्तेन विधिना ॥ २५ ॥

भाषा—इसी प्रकार प्रातः काल सूर्य के उदय होने तक पूर्व दिशा को  
करके मुख जप करे । इसके उपरान्त दोनों सन्ध्याओं में ( साय एव प्रातः )  
अग्निहोत्र करे ॥ २५ ॥

ततोऽभिवाद्येद्वृद्धान्सावहमिति ब्रुवन् ।

तदनन्तर वृद्धान् गुरुप्रभृतीन्भिवाद्येत् । कथम् ? असौ देवदत्तशर्माऽह-  
मिति स्व नाम कीर्तयन् ॥—

गुरुं चैवाप्युपासीत स्वाध्यायार्थं समाहितः ॥ २६ ॥

आहूतश्चाप्यधीयीत लब्ध चास्मै निवेद्येत् ।

द्वितं तस्याचरेग्नितय मनोवाक्कायकर्मभि ॥ २७ ॥

तथा गुरु वक्ष्यमाणलक्षणमुपासीत तत्परिचर्यापरस्तदधीनस्तिष्ठेत् । स्वा-  
ध्यायार्थमभ्ययनसिद्धये समाहितोऽविविक्तचित्तो भवेत् । आहूतश्चाप्यधीयीत  
गुर्वाहूत एवाधीयीत, न स्वयं गुरु प्रेरयेत् । यच्च लब्ध तत्सर्वं गुरवे निवेद-  
येत् । तथा तस्य गुरोर्द्वितमाचरेत् । नित्यं सदा । मनोवाक्कायकर्मभि न प्रति-  
कूल कुर्यात् । अपिशब्दाद्गुरुदर्शने गौतमोष्कण्ठप्रावृत्तादि वर्जयेत् ॥२६-२७॥

भाषा—तब 'मैं अमुक हूँ' ऐसा कहते हुए श्रेष्ठ व्यक्तियों को प्रणाम  
करे । अभ्ययन के लिए दत्तचित्त होकर गुरु की परिचर्या करे । ( गुरु द्वारा )  
बुलाये जाने पर ही अभ्ययन करे और जो कुछ प्राप्त हो वह सब गुरु को  
अर्पित करे । मन, वाणी, शरीर और कार्यों द्वारा उनके अनुकूल कार्य  
करे ॥ २६-२७ ॥

अध्याप्यानाह—

कृतज्ञाद्रोहिमेधाविशुचिकल्पेप्रानसूयका ।

अध्याप्या धर्मत साधुशक्तान्प्रज्ञानवित्तदा ॥ २८ ॥

व्य तस्मै । २ कल्याणसूचका । ४ अध्याप्या साधुशक्ता-  
त्प्रायदा धर्मतरिखमे ।

कृतमुपकारं न विस्मरतीति कृतज्ञः । अद्रोही दयावान् । मेधावी ग्रन्थ-  
ग्रहणधारणशक्तः । शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचवान् । कथयः आधिष्ठयाधिरहितः ।  
अनसूपको दोषानाविष्करणेन गुणाविष्करणशीलः । साधुः वृत्तवान् । शक्तः  
शुद्धूपवाम् । आसौ बन्धुः । ज्ञानदो विद्याप्रदः । वित्तदोऽर्पणपूर्वकमर्थप्रदाता ।  
एते गुणाः समस्ता एवस्ताश्च यथासंभवं द्रष्टव्याः । एते च धर्मतः शास्त्रानु-  
सारेण अध्याप्याः ॥ २८ ॥

भाषा—कृतज्ञ, द्रोहहीन, मेधावी, पवित्र आधिष्ठयाधि में मुक्त, पर-  
दोषान्वेषण से विरत, सदाचारी, ( सेवा में ) समर्थ, बन्धु, विद्याप्रद एवं  
धनदाता—ये ही शास्त्र के अनुसार अध्यापने योग्य होते हैं ॥ २८ ॥

दण्डाधिधारणमाह—

दण्डाजिनोपधीतानि मेखलां चैव धारयेत् ।

तथा स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं पालाशादिदण्डं, अजिनं च कौर्णादि, उपवीतं  
कार्पासादिनिर्मितं, मेखलां च मुञ्जादि, ब्राह्मणादिवस्त्राचार्यी धारयेत् ॥—

भैक्षचर्याप्रकारः—

ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षमनिन्द्येष्वारमवृत्तये ॥ २९ ॥

यादिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षिता ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां भैक्षचर्यां यथाक्रमम् ॥ ३० ॥

पूर्वोक्तदण्डादियुक्तो ब्राह्मणक्षत्रीयविशेषेषु अभिशास्तादिशक्तिरिक्तेषु  
स्वकर्मनिरतेषु भैक्षं चरेत् । आरमवृत्तये आरममो जीवनाय न परार्थं आचार्य-  
सत्कार्यापुत्रभ्यतिरेकेण । निवेद्य गुरवे तदनुज्ञातो भुञ्जीत । 'तदभावे तत्पुत्रादा'  
इति नियमात् । अत्र च 'ब्राह्मण'ग्रहणं संभवे सति निवमार्थम् । यत्तु 'सार्व-  
वर्णिकं भैक्षचरणम्' इति, तत्रैवर्णिकंविषयम् । यच्च 'चातुर्वर्ण्यं चरेन्नैवम्'  
इति, तदापह्नियम् । कथं भैक्षचर्यां कार्या ? आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपल-  
क्षिता 'भवति भिक्षां देहि', 'भिक्षां भवति देहि', भिक्षा देहि भवति  
इत्येवं वर्णक्रमेण भैक्षचर्यां कार्या ॥ २९-३० ॥

भाषा—पलाश का दण्ड, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत और मूँज की मेखला  
धारण करे । जीवन निर्वाह के लिए पवित्र ( अर्थात् अपने कर्म में रत रहने  
वाले ) ब्राह्मणों के घर भिक्षायाचन करे । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः  
आरम, मध्य और अन्त में 'भवत्, शब्द का प्रयोग करते हुए भिक्षा की  
याचना करे ॥ २९-३० ॥

१. अर्पणपूर्वक । २. कार्पासाजिनादि । ३. भैक्ष्य । ४. सति । निव-  
मार्थं । ५. वैवर्णिकप्राप्त्यर्थम् ।



भोजनप्रकारः—

कृताग्निकायौ भुञ्जीत चाग्न्यतो गुर्धनुश्चया ।

आपोशानक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तेन विधिना भिन्नमाहृत्य गुरवे त्रिवेद्य तदनुष्ठया कृताग्निकायौ चाग्न्यतो मीनी अन्नं सत्कृत्य संपूज्य अकुत्सयन्ननिन्दन् आपोशानक्रिया 'अमृतोपरतरणमसि' इत्यादिकां पूर्व कृत्वा भुञ्जीत । अत्र पुनः अग्निकार्यग्रहण संध्याकाले कथंचिदकृताग्निकार्यस्य कालान्तरविधानार्थं न पुनस्तृतीयप्राश्य-धम् ॥ ३१ ॥

भाषा—( हवनादि ) अग्निकार्यं करके गुरु की आज्ञा पाकर, आचमन करके, अन्न का संस्कार करके और ( अन्न की ) निन्दा न करते हुए मीन होकर भोजन करे ॥ ३१ ॥

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि ।

ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मचर्ये स्थित एकान्न नाद्यादनापदि व्याध्याद्यभावे । ब्राह्मणः पुनः श्राद्धेऽभ्यर्धितः सन् काममरनीयात् । व्रतमपीडयन् मधुमांसपरिहारेण । अत्र 'ब्राह्मण'ग्रहणं च त्रिधादेः श्राद्धभोजनव्युदासार्थम् । 'राजग्यवैश्ययोश्चैत्र नैतत्कर्म प्रचक्षते' इति स्मरणात् ॥ ३२ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए, रोगादि विपत्ति से मुक्त दशा में किसी एक ही ( व्यक्ति के ) अन्न का भोजन न करे; श्राद्ध भोजन के अवसर पर ब्राह्मण अपने व्रत का उल्लंघन न करते हुए ऐसा कर सकता है ॥ ३२ ॥

मधुमांसादिवर्ज्याह—

मधुमांसाज्जनोच्छिष्टशुक्लीप्राणिहिंसनम् ।

भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

मधु सूत्रं, न मद्यम् ; तस्य 'नित्यं मद्य ब्राह्मणो वर्जयेत्' इति निषेधात् । मांस द्यामादेरपि । अजूनं घृतादिना गात्रस्य, कज्जलादिना चाक्षणे । उच्छिष्ट-मगुरोः । शुक्लं निष्ठुरवाक्यं, नौद्धरसः ; तस्याभक्ष्यप्रकरणे निषेधात् । स्त्रिय-मुपभोगे । प्राणिहिंसनं जीववधः । भास्करस्योदरात्सप्तमघातलोकनम् । अश्लील-मसार्थभाषणम् । परिवादः सदसद्रूपस्य परदोषस्य उघापनम् । 'आदि' शब्दात् स्मृत्यन्तरोक्तं गन्धमाद्यादि गृह्यते । एतानि ब्रह्मचारी वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

१. कालान्तरं मध्याह्नादि । २. एकान्नमेकस्वामिकम् । ३. कामं यथे-ष्टम् । ४. न रसादि । ५. भास्करस्य चालोकनं । ६. शुद्धभाषणं ।

भाषा—मधु, मांस, लेप और अंजन (गुरु के अतिरिक्त अन्य का) जूठा भोजन, कठोर घषन, स्त्री, जीवहिंसा, (उदय और अस्त के समय) सूर्यदर्शन, अश्लील (और असत्य) भाषण तथा दोषान्वेषण इत्यादि से परहेज रखे । ॥ ३३ ॥

गुर्वादिलक्षणमाह—

स गुरुयः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।

उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः ॥ ३४ ॥

योऽसौ गर्भाधानाद्या उपनयनपर्यन्ताः क्रिया यथाविधि कृत्वा वेदमस्मै ब्रह्मचारिणे प्रयच्छति स गुरुः । यः पुनरुपनयनमात्रं कृत्वा वेदं प्रयच्छति स आचार्यः ॥ ३४ ॥

भाषा—वह गुरु होता है जो (उपनयन तक की) क्रियाएँ करके इस (ब्रह्मचारी) को वेद का ज्ञान देता है । केवल उपनयन संस्कार करके वेद प्रदान करने वाले को आचार्य कहा गया है ॥ ३४ ॥

उपाध्यायविवेकलक्षणम्—

एकदेशमुपाध्याय ऋत्विग्भ्यस्तदुच्यते ।

एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी ॥ ३५ ॥

वेदस्यैकदेशं मन्त्र ब्राह्मणयोरेकं अङ्गानि वा योऽध्यापयति स उपाध्यायः । यः पुनः पाकयज्ञादिकं वृतः करोति स ऋत्विक् । एते च गुर्वाचार्योऽुपाध्यायविवेको यथापूर्वं यथाक्रमेण मान्याः पूज्याः । एभ्यः सर्वेभ्यो माता गरीयसी पूजयतमा ॥

भाषा—(वेद के) एक भाग या अङ्ग की शिक्षा देने वाला उपाध्याय होता है, और यज्ञकर्म कराने वाले को ऋत्विक् कहते हैं । ये (गुरु, आचार्य, उपाध्याय और ऋत्विक्) क्रमानुसार पूज्य होते हैं, और माता इन सब से अधिक पूजनीय होती है ॥ ३५ ॥

वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचर्याधिमाह—

प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशान्दानि पञ्च वा ।

ग्रहणान्तिकमित्येके केशान्तश्चैव पौडरो ॥ ३६ ॥

'यदा विवाहासंभवे वेदानधीत्य वेदी वा वेदं वा' इति प्रवर्तते तदा प्रतिवेदं वेदं वेदं प्रति ब्रह्मचर्यं पूर्वाकं द्वादशवर्षाणि कार्यम् । अशक्ती पञ्च । 'ग्रहणा-  
न्तिकं' इत्येके वर्षयन्ति । केशान्तः पुनर्गोदानाख्यं कर्म गर्भादारभ्य पौडरो वर्षे

ब्राह्मणस्य कार्यम् । एतच्च द्वादशवार्षिके वेदव्रते बोद्धव्यम् । इतरस्मिन्पक्षे यथा  
संभव द्रष्टव्यम् । राजन्य वैश्ययोस्तुपनयनकालवद् द्वाविंशो चतुर्विंशो वा द्रष्ट  
व्यम् ॥ ३६ ॥

भाषा—प्रत्येक वेद के लिए बारह अथवा पाच वर्षों का ब्रह्मचर्यकाल  
होता है किंतु कुछ लोग विद्याप्रदण के अन्त तक ब्रह्मचर्य बताते हैं ।  
केशान्त या गोदान नाम का कर्म ( गर्भकाल से ) सोलहवें वर्ष में करना  
चाहिए ॥ ३६ ॥

उपनयनकालस्य परमावधिमाह—

आ षोडशादा द्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च घत्सरात् ।

ब्रह्मक्षत्रविशा काल औपनायनिक पर ॥ ३७ ॥

अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृता ।

सावित्रीपतिता धात्या द्वात्यस्तोमादृते क्रतो ॥ ३८ ॥

आषोडशादूर्ध्वत्षोडशवर्षं यावत् आ द्वाविंशादा चतुर्विंशादूर्ध्वत्त्रयविंशं  
औपनायनिक उपनयनसंबन्धी पर काल । नात परमुपनयनकालोऽस्ति,  
किंतु अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृता सर्वधर्मेष्वनधिकारिणो भवति ।  
सावित्रीपतिता पतितसावित्रीका भवन्ति । सावित्रीदानयोग्या न भवति ।  
धात्या सस्कारहीनाश्च द्वात्यस्तोमादृतेर्विना कृते तु तस्मिन्-उपनयनाधिका  
रिणो भवन्ति ॥ ३७-३८ ॥

भाषा—सोलह, बाहस और चौबीस वर्ष तक कमश ब्राह्मण, क्षत्रिय  
वैश्य के लिए उपनयन सस्कार की आखिरी अवधि होती है । इस समय के  
बाद ( यज्ञोपवीत न होने पर ) ये सभी धर्मों से बहिष्कृत होकर प्युत,  
सावित्रीदान के अयोग्य और द्वात्यस्तोम यज्ञ के बिना द्वात्य अर्थात् सस्कार  
हीन हो जाते हैं ॥ ३७-३८ ॥

‘आद्यास्यो द्विजा’ ( आचार २०११ ) इत्युक्त, तत्र हेतुमाह—

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिवन्धनात् ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजा स्मृता ॥ ३९ ॥

मातु सकाशात्प्रथम जायन्ते मौञ्जिवन्धनाच्च द्वितीय जन्म यस्मात्  
स्मादेते ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्या द्विजा उच्यन्ते ॥ ३९ ॥

१ वा यथासंभव । २ त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृता । ३ ब्राह्मणक्ष  
त्रियविशा ।

भाषा—प्राहण, पृथिव और वैश्व पहले माता से जन्म लेते हैं; मौञ्जि मेवला के बँधे जाने पर (उपनयन के समय) इन सबका दूसरा जन्म होता है; अतः इन्हें द्विज कहा जाता है ॥ ३९ ॥

वेदग्रहणाध्ययनफलमाह—

यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम् ।  
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ॥ ४० ॥

यज्ञानां श्रौत-रमातीनां, तपसां कायसंतापस्वणां चान्द्रायणादीनां, शुभानां च कर्मणां उपनयनादिसंस्काराणां अवधोधकरत्वेन वेद एव द्विजातीनां परो निःश्रेयसकरो नान्यः । 'वेद एव' इति तन्मूलत्वेन स्मृतेरप्युपलक्षणार्थम् ॥ ४० ॥

भाषा—यज्ञों, तपस्याओं और (उपनयनादि) शुभ कर्मों का अवधोधर होने से वेद ही द्विजातियों के लिए परम उपकारक होता है दूसरा नहीं ॥ ४० ॥

ग्रहणाध्ययनफलमुक्त्वादीनां काम्यग्रहणज्ञाध्ययनफलमाह—

मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद् द्विजः ।

पितृन्मधुघृताभ्यां च ऋषींऽधीते च योऽन्वहम् ॥ ४१ ॥

यजूंषि शक्तितोऽधीते योऽन्वहं स घृतामृतैः ।

प्रीणाति देवानाज्येन मधुना च पितृस्तथा ॥ ४२ ॥

स तु सोमघृतैर्देवांस्तर्पयेद्योऽन्वहं पठेत् ।

सामानि वृत्तिं कुर्याच्च पितॄणां मधुसर्पिषा ॥ ४३ ॥

योऽन्वहृत्चोऽधीते स मधुना पयसा च देवान्पितॄंश्च मधुघृताभ्यां तर्पयति । यः पुनः शक्तितोऽन्वहं यजूंष्यधीते स घृतामृतैर्देवान्पितॄंश्च मधुघृताभ्यां तर्पयति । यस्तु सामान्यन्वहमधीते स सोमघृतैर्देवान्पितॄंश्च मधुसर्पिभ्यां प्रीणाति । ऋषादिग्रहणं सामान्येन ऋषादिर्मात्रप्राणपर्यम् ॥ ४१-४३ ॥

भाषा—जो द्विज प्रतिदिन ऋचाओं का अध्ययन करता है, वह मधु और दूध से देवताओं के लिये तथा मधु और घृत से पितरों के लिये तर्पण करता है । जो (द्विज) प्रतिदिन यथाशक्ति यजुस् मन्त्रों का अध्ययन करता है वह घृत और जल से देवताओं का तथा भाउष एवं मधु से पितरों को प्रसन्न करता है । जो (द्विज) प्रतिदिन सामवेद के मन्त्रों का पाठ करता है वह सोम और घृत से देवताओं के लिए तर्पण करता है, और मधु तथा घृत द्वारा पितरों को वृत्ति प्रदान करता है ॥ ४१-४३ ॥

१. परो मोक्षकरो । २. काम्यग्रहण । ३. हि यो । ४. पितॄंश्च यजना द्विजः । ५. प्रीणाति । ६. मंत्र ।

मेदसा तर्पयेद्देवानथर्वाङ्गिरस पठन् ।

पितृंश्च मधुसर्पिभ्यामन्वहं शक्तितो द्विज ॥ ४४ ॥

वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाधिका ।

इतिहासांस्तथा विद्यां शक्त्याधीते द्वि योऽन्वहम् ॥ ४५ ॥

मांसक्षीरौदनमधुतर्पणं स दिवोकसाम् ।

फरोति तूर्ति कुर्याच्च पितृणां मधुसर्पिणा ॥ ४६ ॥

ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ।

यः पुनः शक्तितोऽन्वह अथर्वाङ्गिरसोऽधीते स देवान्मेदसा पितृंश्च मधुसर्पिभ्यां तर्पयति । यस्तु वाकोवाक्यं प्रश्नोत्तररूपवेदवाक्यम् । पुराणं ब्राह्मणादि । चकारार्मानवादिधर्मशास्त्रम् । नाराशंसीश्च रुद्रदेवस्यान्मन्त्रान् । गाथा यज्ञगाथेन्द्रगाथाद्याः । इतिहासान् महाभारतादीन् । विद्याश्च वारुणाद्या विद्या । शक्तितोऽन्वहमधीते । स मांसक्षीरौदनमधुसर्पिभिर्देवान् पितृंश्च मधुसर्पिभ्यां तर्पयति ॥ ते पुनस्तृप्ताः सन्तो देवाः पितरश्च पुनः स्वाध्यायकारिणः सर्वकामफलैः शुभैरनभ्योपघातलक्षणैस्तर्पयन्ति ॥

भाषा—जो द्विज प्रतिदिन यथाशक्ति—अथर्वाङ्गिरस पढ़ता है वह देवों का मेद द्वारा पूव पितरों का मधु और घृत द्वारा तर्पण करता है । जो (द्विज) प्रतिदिन यथाशक्ति वाकोवाक्यं पुराण, नाराशंसी, गाथा इतिहास तथा (वारुणादि) विद्याओं का अध्ययन करता है वह मांस दूध, ओदन और मधु द्वारा देवताओं के लिए तर्पण करता है और पितरों को मधु तथा घृत द्वारा तृप्त करता है । वे (देवता और पितर) तृप्त होकर इन (स्वाध्याय के अधिकारी) को सभी शुभ अभीष्ट फलों द्वारा सुखी बनाते हैं ॥

प्रश्नार्थमाह—

यं यं क्रतुमधीते च तस्य तस्याप्नुयात्फलम् ॥ ४७ ॥

त्रिविक्तपूर्णपृथिवीदानस्य फलमश्नुते ।

तपसश्च परस्येह नित्यं स्वाध्यायवान्द्विज ॥ ४८ ॥

यस्य यस्य क्रतोः प्रतिपादक वेदैकदेशमन्वहमधीते तस्य तस्य क्रतो फलमवाप्नोति । तथा त्रिविक्तपूर्णया पृथिव्याः त्रि त्रिवार दानस्य फल परस्य

१. पितृंश्च मधुसर्पिणा । सतर्पयेद्यथाशक्ति योऽथर्वाङ्गिरसीः पठेत् । २. विद्या योऽधीते शक्तितोऽन्वहम् । ३. च तथा । ४ मधीयीत; मधीतेऽसौ । ५ तपसो यत्परस्य । ६ नित्य ।

तपसंश्चान्द्रायणादेश्चकलं तदपि निर्ययं स्वाध्यायवानाप्नोति । 'निर्यय' ग्रहणं  
काम्यस्यापि सतो निर्ययज्ञापनार्थम् ॥ ४७-४८ ॥

भाषा—यह जिन-जिन यज्ञ का अध्ययन करता है, उम-उस यज्ञ का  
फलप्राप्त करता है । धनधान्य से पूर्ण पृथिवी का तीन बार दान करने से एवं  
( चान्द्रायणादि ) उल्लूख तपस्याओं से जो फल होता है उसी का भोग  
निर्यय स्वाध्यायगत द्विज करता है ॥ ४७-४८ ॥

एवं सामान्येन ब्रह्मचारिधर्मानभिधायानुना नैष्ठिकस्य विशेषमाह—

नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसन्निधौ ।

तदभावेऽस्य तनये परम्यां वैश्वानरेऽपि वा ॥ ४९ ॥

अनेन विधिना देहं सांदयन्विजितेन्द्रियः ।

ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेद्वाजायते पुनः ॥ ५० ॥

अनेनोक्तेन प्रकारेणामानं निष्ठां उक्त्वात्तिकालं वयतीति नैष्ठिकः स याव-  
उत्तरीवमाचार्यसमीपे वसेत् । न वेदं प्रथमोत्तरकालं स्वतन्त्रो भवेत् । तदभावे  
तत्पुत्रसमीपे, तदभावे तद्भार्यासमीपे, तदभावे वैश्वानरेऽपि । अनेनोक्तविधिना  
देहं सांदयन् तपयन् विजितेन्द्रियः इन्द्रियजये विशेषप्रयत्नवान्ब्रह्मचारी ब्रह्म-  
लोकममृतत्वमाप्नोति । न कदाचिदिह पुनराजायते ॥ ४९-५० ॥

भाषा—नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के समीप निवास करे, उनके न होने  
पर उनके पुत्र के समीप अथवा ( पुत्र के अभाव में ) उनकी पत्नी के या  
( गुरु पत्नी के न होने पर ) अग्निहोत्र की अग्नि के निकट निवास करे ।  
इस विधि द्वारा शरीर की साधना करते हुए और विशेष प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों  
पर विजय कर वह ब्रह्मलोक प्राप्त करता है और इस संसार में पुनः जन्म  
नहीं लेता ॥ ४९-५० ॥

इति ब्रह्मचारिप्रकरणम् ।

### विवाहप्रकरणम्

यः पुत्रवैवाह्यस्तस्य विवाहार्थं स्नानमाह—

गुरवे तु धरं दत्त्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ॥ ५१ ॥

१. साधयन् [ अस्मिन्पाठे विपरीतलक्षणा बोध्या । ] २. न चेद्वा जायते ।

३. उत्कृष्टकारेण ।

४. ग्रहणकाउत्तर ।

५. स्वोपास्याग्निसन्निधौ ।

६. प्रायीत ।

पूर्वोक्तेन प्रकारेण वेदे मन्त्रम्राह्यगामकम्, मन्त्रानि, ब्रह्मचारिधर्माननुष्ठा-  
तान् । उभयं वा, पारं नीत्वा समाप्य, गुरवे पूर्वोक्ताय वरमभिलषितं  
रथादाक्ति दत्त्वा स्नायात् । अदात्तौ तदनुज्ञया अदत्तवरोऽपि । एतेषां च पद्मार्गा  
तस्मिन्प्रायेणैव स्यात् ॥ ५१ ॥

भाष्या—वेद ( या अध्ययन ) या मन्त्रों को समाप्त कर अथवा वेदाध्ययन  
एवं मन्त्र दोनों ही पूरा करके, गुरु को यथादाक्ति दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा  
से ( समावर्तन ) स्नान करे ॥ ५१ ॥

स्नानानन्तरं किं कुर्यादित्यत आह—

अविप्लुतप्रह्वचर्यां लक्षण्यां स्त्रियमुद्बहेत् ।

अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यथायसीम् ॥ ५२ ॥

अविप्लुतप्रह्वचर्याऽस्त्वलितप्रह्वचर्याः । लक्षण्यां याद्याभ्यन्तरलक्षणैर्युक्ताम् ।  
याद्यानि 'तनुलोमधेदादशनाम्' इत्यादीनि ( ३।१० ) मनुभोक्तानि । आभ्य-  
तराणि 'अष्टौ पिण्डान्त्वा' इत्याद्याश्लेषनोक्तविधिना ज्ञानभ्यानि । स्त्रियं  
पुंसवत्स्वनिवृत्तये स्त्रीत्वेन परीक्षिताम् । अनन्यपूर्विकां दानेनोपभोगेन वा  
रूपान्तराऽपरिगृहीताम् । कान्तौ, कमनीयां घोटुर्मनोपमानान्दकारिणीम् ।  
यस्यां मनश्चक्षुरेर्निर्बन्धस्तस्यागृद्धिः' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । एतस्य न्यूनाधि-  
ताह्लादिवाद्यदोषाभावे । असपिण्डां समान एकः पिण्डो देहो यस्याः सा  
सपिण्डा, न सपिण्डा असपिण्डा ताम् । सपिण्डता च एकशरीरावयवान्वयेन  
यति । तथा द्वि-पुत्रस्य पितृशरीरावयवान्वयेन पित्रां सहैकपिण्डता । एवं  
पुत्रामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात् । एवं मातृशरीरावयवान्व-  
येन मात्रा । तथा मातामहादिभिरपि मातृद्वारेण । तथा मातृत्वममातृत्वादिभि-  
र्येकशरीरावयवान्वयात् । तथा पितृभ्यः पितृत्वत्रादिभिरपि । तथा पत्या  
एव पत्या एकशरीरारम्भकतया । एवं भ्रातृभार्याणामपि परस्परमेकशरीरारम्भैः  
द्वैकशरीरारम्भकत्वेन । एवं यत्र यत्र 'सपिण्ड'साद्दशत्र तत्र स.चात्परम्परया  
॥ एकशरीरावयवान्वयां वेदितव्यः । यद्येवं मातामहादानामपि 'दशाहं दाय  
माशौचं सपिण्डेषु विधीयते' इत्यादिशेषेण प्राप्नोति । स्वादेतत्, -यदि तत्र  
प्रणानामितरे कुर्युः' इत्यादिभिर्शेषेण न स्यात् । अतश्च सपिण्डेषु यत्र विशेष-  
धर्मं नास्ति तत्र 'दशाहं दायमाशौचम्' इत्येतद्वचनमपतित्वेन । अथर्वणं  
एकशरीरावयवान्वयेन सपिण्डव घर्गनीयम् । 'आमा द्वि जज्ञ आमत.'  
त्यादिभ्युतेः । तथा 'प्रजामनु प्रजापते' इति च । 'म एषाय विरुद. प्रपद्ये गो-

१. वेदादीनि मनुभोक्तानि । २. यद् सपिण्ड । ३. एकशरीरारम्भैः ।

पलन्यते, दृश्यते चापि सारूप्यम् । देहत्वमेवान्यत् इत्यापस्तम्बवचनाच्च ।  
 तथा गर्भोपनिषदि—‘एतत् पाटकौशिक शरीरं त्रीणि पितृनस्त्रीणि मातृन ।  
 अस्थिरनायुमज्जानं पितृतस्त्वच्छासरधिराणि मातृत’ इति तत्र तत्रावयवावय  
 प्रतिपादनात् । निर्वाप्यपिण्डान्वयेन तु सापिण्ड्ये मत्सन्ताने भ्रातृपितृव्यादिषु  
 च सापिण्ड्ये न स्यात् । समुदायशक्यङ्गीकारेण रुडिपरिग्रहेऽन्यवशक्तिस्तत्र  
 तत्रावगम्यमाना परिस्पष्टा स्यात् । सरस्वत्रयवार्थेषु योऽन्यत्रार्थे प्रयुज्यते ।  
 तत्रानन्यगतित्वेन समुदाय प्रसिद्धयति । एव परम्परयैकशरीरावयवान्वयेन तु  
 सापिण्ड्ये यथा नातिप्रसङ्गस्तथा वक्ष्याम । यवीयसी वयसा प्रमाणतश्च न्यूना  
 उद्भवेत् परिणयेत् स्वगृहोक्तेन विधिना ॥ ५२ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्यं से द्युत न होकर शुभ लक्षणों से युक्त स्त्री से विवाह  
 करे, जो पहले किसी अन्य पुरुष को प्रदत्त या किसी द्वारा भुक्त न हो, सुन्दरी  
 हो, असपिण्ड हो तथा (आयु एव शरीर प्रमाण में) अपने से छोटी हो ॥५२॥

विशेषान्तरार्णयाह—

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्पणोन्नजाम् ।

अरोगिणीं अधिकित्सनीयव्याध्यनुपगृह्याम् । भ्रातृमतीं पुत्रिकाकरणश-  
 क्तानिवृत्तये । अनेनापरिभाषितापि पुत्रिका भवतीति गम्यते । असमानार्पणोन्नजा  
 ऋषेरिदमार्पणं नाम प्रवर इत्यर्थः । गोत्र वनपरम्पराप्रसिद्धम्, आर्पणं च गोत्र च  
 आर्पणगोत्रे, समाने आर्पणगोत्रे यस्वासी समानार्पणोन्नतस्माज्जाता समानार्पणोन्नजा,  
 न समानार्पणोन्नजा असमानार्पणोन्नजा ताम् । गोत्रप्रवरौ च पृथक्पृथक्पर्युदासे नि-  
 मित्तम् । तेनासमानार्पणजामसमानगोत्रजामित्यर्थः । तथा च ‘असमानप्रवरैर्विवाह’  
 ( गौ सृष्ट ४।१ ) इति गौतमः । तथा ‘असपिण्डा च या मातुरसपिण्डा च या  
 पितुः । सा प्रशस्ता द्विजातीना दारकर्मणि मैथुने ॥’ इति ( ३।५ ) मनुः ।  
 तथा मातृगोत्रामप्यपरिणेषां केचिदिच्छन्ति, ‘मातृलक्ष्य सुतामूढवा मातृगोत्रां  
 तथैव च । समानप्रवरं चैव गौत्रं चान्द्रायणं चरेत् ॥’ इति प्रायश्चित्तस्मरणात् ।  
 अत्र च ‘असपिण्डाम्’ इत्यनेन पितृत्वस्य मातृत्वत्वादिदुहितृनिषेधः । तथा  
 ‘असगोत्राम्’ इत्यनेनासपिण्डाया अपि भिन्नसन्तानजाया समानगोत्राया  
 निषेधः । तथा ‘असमानप्रवराम्’ इत्यनेनाप्यसपिण्डाया असगोत्राया अपि

१ पिण्डनिर्वापणयुक्त्या निर्वाप्यसपिण्डाः । २ भ्रातृपुत्रादिषु । भ्रातृव्य  
 पितृव्या । ३. प्रमाणेन च । ४ असमानगोत्रा असमानार्पणजामित्यर्थः ।  
 ५. असगोत्रा च । ६ ‘सगोत्रा मातृरप्येके नेच्छन्त्युद्गाहकर्मणि । जन्मनाम्नोर-  
 विज्ञाने तुद्देहविनाङ्कित ॥’ इति व्यासः । ७ एवमेव ।



समानप्रवरावा निषेधः । तथा च 'असपिण्डाम्' इत्येतत्सर्ववर्गिकम् ; सर्वत्र सापिण्ड्यमज्ञावात् । 'असमानार्पगोत्रजाम्' इत्येतत्त्रैवर्गिकविषयम् । यद्यपि राजन्यविना प्रीतिरिजन्मोत्राभावात्प्रवराभावास्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरी वेदितव्यौ । तथा च 'यजमानस्याप्येयान्प्रवृणीते' इत्युक्त्वा 'पौरोहित्यान् राजन्यविना प्रवृणीते' इत्याहाश्रयात्ततः ( धी. सू. अ. ६. सू. १५ ) । सपिण्डासु समानगोत्रासु समानप्रवरासु भार्यात्वमेव नोत्पद्यते । रोगिण्यादिषु तु भार्यात्वे उत्पन्नेऽपि दृष्टविरोध एव ॥—

भाषा—असाध्य रोग से अटूनी हो, भाई वाली हो, और समान गोत्र एवं प्रवर की न हो ।

'असपिण्डाम्' इत्यत्रैकशरीरावयवान्वयद्वारेण साक्षात्परम्परया वा सापिण्ड्यमुक्तं, तद्य सर्वत्र सर्वस्य यथाकथञ्चिदनादौ समारेऽभवतीत्यतिप्रसङ्ग इत्यत्र आह—

पञ्चमात्सतमादूर्ध्वं मातृतः पितृतन्तथा ॥ ५३ ॥

मातृतो मातुः सन्ताने पञ्चमादूर्ध्वं पितृत पितुः संताने सप्तमादूर्ध्वं, 'सापिण्ड्यं निवर्तते' इति शेष । अतश्चायं 'सपिण्ड'शब्दोऽवयवदावर्यो सर्वत्र प्रवर्तमानोऽपि निर्मम्य पञ्चमादिशब्देवस्त्रियतविषय एव । तथा च वित्रादयः षट् सपिण्डाः, पुत्रादयश्च षट्, आत्मा च सप्तमः, संतानभेदेऽपि यत्. संतानभेदस्तन्मादाय गगयेषावसप्तम इति सर्वत्र योजनीयम् । तथा च मातरमारम्य तत्पितृपितानहादिगणनायां पञ्चमैसप्तानवर्तिनी मातृतः पञ्चमीयुपचर्यते । एव पितरमारम्य तत्पित्रादिगणनायां सप्तमपुरुषसप्तानवर्तिनी पितृत. सप्तमीनि । तथा च 'भगिन्पोर्भगिनीभ्रात्रोभ्रातृपुत्रीपितृष्पयो । त्रिवाहे द्वयोर्दिभूतत्वात्प्राग्भागेऽयं गण्यते ॥ यद्यपि यद्विष्टेनोक्तं 'पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा' इति, 'शानतीरव मातृतः पञ्चमीरव च पितृत' इति च पौटीनमिना, तदप्यर्थाद्निषेधार्थं न पुनस्तत्प्राग्वर्धमिति सर्वस्मृतीनामविरोधः । एतच्च समानजातीये द्रष्टव्यम्, विजातीये तु विशेषः । यथाह साह्य — 'यद्येकजाता बहवः पृथक्प्रेत्राः पृथक्प्रना । एकपिण्डाः पृथक्प्रेत्राः पिण्डस्तथावर्तते त्रिषु ॥' एकरमाद्माह्मजादेर्जाता एकजाता । पृथक्प्रेत्राः भिन्नजातीयानु येषु जाता । पृथक्प्रनाः समानजातीयानु भिन्नानु येषु जातारते एकपिण्डाः, सपिण्डाः त्रिषु पृथक्-

१. गोत्रप्रवर्तकत्वात्परापरप्रयुक्तमत्र प्रीतीत्यकारम्. प्रीतीत्यकारोत्राभावात्तथापि । २. दृष्टविरोधः । ३. दृष्टो य गोऽवयवः । ४. यद्यवयवदाकरवा प्रवर्तः । ५. पञ्चमपुरुषवर्तिनी । ६. उपधादिः । ७. गगण्यते । ८. एकपिण्डाः सपिण्डाः ।

श्रीवाः । पृथक्श्रीचमाश्रीचप्रकरणे वक्ष्यामः । 'पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु त्रिपुरुषमेव सापिण्ड्यमिति ॥ ५३ ॥

भाषा—तथा माता के कुल में पाँच पीढ़ी से ऊपर एवं पिता के कुल में सात पीढ़ी से ऊपर हो ॥ ५३ ॥

दशपूरुषवित्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात् ।

पुरुषा एव पूरुषाः, दशभिः पुरुषैर्मृतुतः पञ्चभिः पितृतः पञ्चभिर्वित्यातं यत्कुलं तस्मात् । श्रोत्रियाणामधीतवेदानाम् अध्ययनमुपलक्षणं श्रुताध्ययनसंपन्नानाम् । महच्छ तत्कुलं च महाकुलं पुत्रपौत्रपशुदासीप्रामादितमृद्धं, तस्मात्कन्यका आहर्तव्येति नियम्यते ॥

भाषा—जिस उच्च कुल के पुरुष दस पीढ़ियों से प्रख्यात वेद पाठी हों, उस कुल की कन्या ग्रहण करे;

एवं सर्वतः प्राप्सौ सस्यामपवादमाह—

स्कीतादपि न संचारिरोगदोषसमन्वितात् ॥ ५४ ॥

स्कीतादिति । संचारिणो रोगाः श्वित्रकुष्ठापस्मारमृतयः शुक्रशोणितद्वारेणानुप्रविशन्तो दोषाः पुनः हीनक्रियनिःपौरुषावाद्यो मनुनोक्ताः । एतैः समन्वितास्कीतादपि पूर्वोक्तामहाकुलादपि, नाहर्तव्या ॥ ५४ ॥

भाषा—किन्तु यदि महान् कुल में भी संसर्गाज रोग हों तो उससे कन्या न ले ॥ ५४ ॥

एवं कन्याग्रहणनियममुक्त्वा कन्यादाने वरनियममाह—

एतैरेव गुणैर्गुणैः सवर्णः श्रोत्रियो वरः ।

यन्नारपरीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान्जनप्रियः ॥ ५५ ॥

एतैरेव पूर्वोक्तैर्गुणैर्गुणैः दोषैश्च वञ्चितो वरो भवति । सस्यामपरो विशेषः—सवर्ण उरुकृष्टो वा, न हीनवर्णः । श्रोत्रियः स्वयं च श्रुताध्ययनसंपन्नः । यन्नात्प्रयत्नेन पुंस्त्वे परीक्षितः । परीक्षोपायश्च नारदेन हस्तिः—'वश्याप्सु प्लवते धीजं ह्यादि नृत्रं च फेनिलम् । पुमान्स्वाह्वल्लग्नैरेतैःपरीतैस्तु पण्डकः ॥ इति । युवा न वृद्धः । धीमान् लौकिकवैदिकव्यवहारेषु निपुणमतिः । जनप्रियः स्मितपूर्वमृद्धभिभाषणादिभिरनुरक्तजनः ॥ ५५ ॥

भाषा—वर भी इन्हीं पृथोक गुणों से युक्त, सवर्ण और विद्वान् होना चाहिए उसके पुरुषत्व की यत्नपूर्वक परीक्षा की गई हो और वह युवक, विवेकशील और प्रिय होवे ॥ ५५ ॥

रति पुत्र धर्मार्थवेन त्रिवाहस्त्रिविध । तत्र पुत्रार्थो द्विविध नित्य,  
काम्यश्च । तत्र त्रिये प्रजापते 'सवर्णः श्रोत्रियो वर' ( आचार ५५ ) इत्यनेन  
सवर्णां मुरया दर्शिता । इदानीं काम्ये नित्यसयोगे चानुबन्धो षष्ठ्य इत्यत  
आह—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्रादारोपसंग्रह ।  
नेतन्मम मतं यस्मात्तत्राय जायते स्वयम् ॥ ५६ ॥

यदुच्यते 'सवर्णां द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि । कामतस्तु प्रवृत्ताना-  
मिमांस्तु क्रमशोऽवरा ॥' इत्युपक्रम्य-ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्या, क्षत्रियस्य  
तिस्र, वैश्यस्य द्वे इति द्विजातीनां शूद्रावेदनमिति नेतन्ब्राह्मणस्य मतम् ।  
यस्मादयं द्विजातिस्तत्र स्वयं जायते । 'तत्राया जाया भवति यदस्यां जायते  
पुन' इति श्रुते । अत्र च 'तत्राय जायत स्वयम्' इति हेतु वदता नैत्यकपुत्रो-  
त्पादनाय काम्यपुत्रोत्पादनाय वा प्रवृत्तस्य शूद्रापरिणयननिषेध कुर्वता नैत्यक  
पुत्रोत्पादानानुबन्धे काम्ये च पुत्रोत्पादने ब्राह्मणस्य क्षत्रियावैश्ये, क्षत्रियस्य च  
वैश्यां भार्यानुज्ञाता भवति ॥ ५६ ॥

भाषा—द्विजातियों को शूद्रवर्ण से स्त्री ग्रहण करने की जो बात कही  
गई है वह मुझ मान्य नहीं है, कारण, स्त्री में स्वयं (पुरुष का आत्मा) ही  
जन्म लेता है ॥ ५६ ॥

इदानीं रतिकामस्योपपन्नपुत्रस्य वा विनष्टभार्यस्याध्रमान्तरानधिकारिणो  
शूद्रस्थाध्रमावस्थामात्राभिकाङ्क्षिण परिणयनक्रममाह—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका ययाक्रमम् ।  
ब्राह्मणक्षत्रियविशा भार्या स्या शूद्रजन्मन ॥ ५७ ॥

वर्णक्रमेण ब्राह्मणस्य तिस्रो भार्या । क्षत्रियस्य द्वे । वैश्यस्यैका । शूद्रस्य  
तु स्वैव भार्या भवति । सवर्णां पुन सर्वेषां मुक्त्वा स्थितैव । पूर्वस्यां पूर्वस्यां  
अभावे उत्तरोत्तरा भवति । अयमेव च ऋमो नैत्यकानुबन्धे काम्ये च पुत्रोत्पा-  
दनविधौ । अतश्च यच्छूद्रापुरस्य पुत्रमध्य परिगणन विभागसंकीर्तन च, तथा  
'विप्रामूर्धावसिद्धी हि' इत्युपक्रम्य 'विद्यास्वयं त्रिधि स्मृत' इति च तत्  
रतिकामस्याध्रममात्राभिकाङ्क्षिणो वा नान्तरायकृतयोत्पन्नस्य ॥ ५७ ॥

१. शूद्रादारोप । २ तत्रात्मा जायते । ३ वैश्याम्यनुज्ञा ।

४ अन्योद्देशकस्यापारनिर्वर्त्यत्व, यम-नरा नोद्देश्यसिद्धितत्वं वा नाम्त-  
रीयकत्वम् ।

भाषा—वर्ण की अनुलोमता से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की क्रमशः तीन, दो और एक परिनिर्णय होती हैं। शूद्र की अपनी ही (जाति की) एक भार्या होती है ॥ ५० ॥

विवाहानाह—

ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शान्त्यलंकृतः ।

तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ॥ ५८ ॥

स ब्राह्माभिधानो विवाहः यस्मिन्नुक्तलक्षणा यथाशास्त्रेण कन्या दीयते उदकपूर्वकं, तस्यां जातः पुत्र उभयतः पितृदीन्दस प्रप्रादींश्च दस, आश्रमानं चैव विंशत पुनानि सद्गुत्तश्चेत् ॥ ५८ ॥

भाषा—ब्राह्मविवाह वह होता है जिसमें (वर को) मुलाकर (उसे) यथाशक्ति आभूषणादि से अलंकृत कन्या प्रदान की जाती है; ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र (अपने पूर्व की दस; आगे आने वाली दस तथा अपनी पीढ़ी को मिलाकर) इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ५८ ॥

दैवविवाहो—

यदास्थ ऋत्विजे दैव आदायार्पस्तु गोद्वयम् ।

चतुदश प्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट् ॥ ५९ ॥

स दैवो विवाहो यस्मिन् यज्ञानुष्ठाने विंशते ऋत्विजे यथाशास्त्रेण कन्या दीयते । यत्र पुनर्गोमिथुनमादाय कन्या दीयते स आर्पः । प्रथमजो दैवविवाह-जस्यतुर्दश पुनानि सप्तावरान् सप्त परान् । उत्तरज आर्पविवाहजः षट् पुनानि त्रीन्पूर्वान् त्रीन्परान् ॥ ५९ ॥

भाषा—यज्ञानुष्ठान के समय ऋत्विज को (यथाशक्ति अलंकृत करके) कन्या दी जाय तो वह दैव विवाह होता है; जब दो गायें लेकर कन्या दी जाती है तब वह आर्पविवाह होता है। इनमें दैवविवाह से उत्पन्न पुत्र (मात पहले की और सात याद की इस प्रकार) चौदह पीढ़ियों को और आर्प विवाह से उत्पन्न पुत्र (तीन पहले और तीन याद की) छ पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ५९ ॥

प्राजापत्यविवाहश्चतुस्रम्—

इत्युपस्था चरतां धर्मं सह या दीयतेर्षिणं ।

स कायः पाष्येत्तज्जः षट् षड्विंशत्याश्रमना ॥ ६० ॥

'सह धर्मं चात्ताम्' इति परिभाष्य कन्यादानं स प्राजापत्यः । तज्जः षट् पूर्वान् षट् परान् आश्रमना सदृशेष्वं प्रबोधन पुनानि ॥ ६० ॥

१. सहोमी । २. धर्ममिपुत्रया । ३. सह आश्रमना ।

भाषा—साथ रहकर धर्म का आचरण करो, ऐसा कहकर जब कन्या रिवाजेंद्रु पुरष को प्रदान की जाती है तब कापविवाह होता है; इससे उपरान्त पुत्र अपनी पीढ़ी को और छ. पहले पुत्र छ. पाद की पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ६० ॥

आसुरगान्धर्वादिविवाहलक्षणानि—

आसुरो द्रविणादानाद्गान्धर्वः समयान्मिथः ।

राक्षसो युद्धहरणात्पैशाचः कन्यकाच्छलात् ॥ ६१ ॥

आसुरः पुनर्द्रविणादानात् । गान्धर्वस्तु परस्परानुरागेण भवति । राक्षसो युद्धेनापहरणात् । पैशाचस्तु कन्यकाच्छलात् छलेन दानना स्वापाद्यरथास्व-  
पहरणात् ॥ ६१ ॥

भाषा—अधिक धन लेकर कन्या प्रदान की जाय तो यह आसुर विवाह होता है, परस्पर प्रेम होने पर जो विवाह होता है वह गान्धर्व कहलाता है । युद्ध में हरी गई कन्या से विवाह राक्षसविवाह होता है और कन्या को छलपूर्वक बुमलाकर किया गया विवाह पैशाच होता है ॥ ६१ ॥

सवर्णादिवरिण्येन विशेषमाह—

पाणिप्रांष्टः सवर्णास्तु गृह्णीयात्क्षत्रिया शरम् ।

वैश्या प्रतोदमादद्यात्क्षेत्रे त्वंमज्जनमनः ॥ ६२ ॥

सवर्णास्तु विवाहे स्वगृह्णीकविधिना पाणिरेव प्राण्यः । क्षत्रियकन्या तु शरं गृह्णीयात् । वैश्या प्रतोदमादद्यात् । उगृह्णेतक्षेत्रे गृह्णा पुनर्ष्यमनस्य दानम् । यथाह मनुः ( ३।४४ )—'वमनस्य दानं प्र द्या गृह्णो'गृह्णेतक्षेत्रे' इति ॥ ६२ ॥

भाषा—अवती जाति का कन्या से विवाह करने ममप उमका हाथ पकड़ना चाहिये, प्राण्य क्षत्रिया से विवाह करे तो क्षत्रिया बाण पकड़े, वैश्या प्रतोद या पैना पकड़े ॥ ६२ ॥

कन्यादान्महत्तमाह—

पिता पितामहो भ्राता ससुख्यो जननी तथा ।

कन्याप्रदः पूर्वनामो महतिभ्य पर पर ॥ ६३ ॥

अथप्रत्यक्षप्रमाणांति, अथप्रत्यक्षप्रमाणांति, १

गम्यं स्वभावे दान्पूर्णां कन्या युयांस्यर्ष्यपरम् ॥ ६४ ॥

पुत्रेषां विप्रादीनां पूर्वस्याभावे परः परः कन्याप्रदः प्रकृतिस्थश्चेत् यद्युन्मा-  
दादिदोषवाञ्छ भवति । अतो यस्याधिकारः सोऽप्रयच्छन् भ्रूणहरयागृतावृता-  
वाप्नोति । पुत्रच्छोक्तलक्षणवरसंभवे वेदितव्यम् । यदा पुनर्दातुणामभावस्तदा  
कन्यैव गम्य गमनार्हमुक्तलक्षणं वरं स्वयमेव वरयेत् ॥ ६३-६४ ॥

भाषा—पिता, पितामह, भाई, कुल का कोई पुरुष और माता—इनमें  
क्रमशः पहले वाले के अभाव में आगे वाला यदि प्रकृतिस्थ अर्थात् उन्मादादि  
रोग से मुक्त हो तो कन्यादान दे । ( यदि कन्यादान का अधिकारी व्यक्ति )  
कन्यादान नहीं करता तो कन्या के प्रत्येक ऋतुकाल में उसे भ्रूणहरया का  
पाप लगता है । यदि कन्यादान देने वाला कोई भी न हो तो कन्या योग्य  
वर का स्वयं चरण कर लेना चाहिए ॥ ६३-६४ ॥

कन्याहरणे दण्डः—

सकृत्प्रदीयते कन्या हरस्तां चोरदण्डभाक् ।

सकृदेव कन्या प्रदीयत इति शास्त्रनियमः । अतस्तां दत्त्वा अपहरन् कन्यां  
चोरदण्डव्यः ॥

भाषा—कन्या एक ही बार ( विवाह में ) दी जाती है; अतः ( उसे  
देकर पुनः ) उसका अपहरण करने वाला चोर के समान दण्ड का भागी  
होता है ।

एवं सर्वत्र प्रतिषेध प्राप्तेऽपवादमाह—

दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्भर आम्रजेत् ॥ ६५ ॥

यदि पूर्वस्माद्भ्रातृश्रेयांश्चामिजनाद्यतिशययुक्तो वर आगच्छति, पूर्वस्य  
। पातकयोगो दुर्द्वैतस्य वा, तदा दत्तामपि हरेत् । पुत्रस्य सप्तमपदाप्राप्त-  
स्यम् ॥ ६५ ॥

भाषा—किन्तु यदि पहले वर से अर्थात् कोई दूसरा वर मिल जाय तो  
। हुई कन्या का भी हरण कर ले ॥ ६५ ॥

अनारयाय ददद्दोषं दण्ड्य उत्तमसाहसम् ।

अदुष्टां तु त्यजन्दण्ड्यो दूपयंस्तु मृया शतम् ॥ ६६ ॥

यः पुनश्चतुर्षां दोषमनाशयाय कन्यां प्रयच्छति असाधुत्तममाहसं दण्ड्यः ।  
त्तमसाहसं च ( भाषा० ३६६ ) वचयते । अदुष्टां तु प्रतिगृह्य स्वयन् उत्तम-

साहसमेव दण्डव । य पुनर्विवाहात्प्रागेव द्वेषादिना असन्निर्दोषैर्दोषोपादिभि  
कन्यां दूषयति स पणाना वक्ष्यमाणलक्षणानां शत दण्डव ॥ ६६ ॥

भाषा—जो व्यक्ति ( दिसाई पढ़ने वाले ) दोषों को बिना बताए ही  
कन्या का दाम करता है उसे उत्तमसाहस का दण्ड मिलना चाहिए । निर्दोष  
कन्या का ग्रहण करके पुन उसका त्याग करने वाले को भी यही दण्ड  
मिलना चाहिए और ( विवाह के पूर्व ) कन्या में मिथ्या दोष बताने वाले को  
सौ पणों का दण्ड देना चाहिए ॥ ६६ ॥

‘अनन्यपूर्विकाम्’ ( श्लो. ५२ ) ह्यत्रानन्यपूर्वा परिणयोक्ता, तत्रान्यपूर्वा  
कीदृशीत्याह—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भू, संस्कृता पुन ।

१६

स्वैरिणी या पतिं हित्वा सर्वर्णं कामत श्रेयेत् ॥ ६७ ॥

अन्यपूर्वा द्विविधा—पुनर्भू, स्वैरिणी चेति । पुनर्भूरपि द्विविधा—क्षता  
चाक्षता च । तत्र क्षता सस्कारात्प्रागेव पुरुषसम्बन्धदूषिता । अक्षता पुन  
सस्कारदूषिता । या पुन कौमार पतिं त्यक्त्वा कामत सर्वर्णमाश्रयति सा  
स्वैरिणीति ॥ ६७ ॥

भाषा—कन्या का किसी पुरुष से शरीरसम्बन्ध हुआ हो चाहे न हुआ हो  
दूसरी बार विवाह होने पर वह पुनर्भू कहलाती है । जो स्त्री पति को छोड़ कर  
अपनी इच्छा से अपनी जाति के किसी दूसरे पुरुष को स्वीकार करती है वह  
स्वैरिणी होती है ॥ ६७ ॥

एव सर्वप्रकारेणान्यपूर्वापर्युदासे प्राप्ते विशेषमाह—

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवो पुत्रकाम्यया ।

सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात् ॥ ६८ ॥

वा गर्भसंभवाद्द्रच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत् ।

अनेन विधिना जात क्षेत्रज्ञोऽस्य भवेत्सुत ॥ ६९ ॥

अपुत्रामलम्बपुत्रा पित्रादिभि पुत्रार्थमनुज्ञातो देवो भर्तुं कनीशान् भ्राता  
सपिण्डो वा उक्तलक्षण सगोत्रो वा, एतेषां पूर्वस्याभावे पर पर घृताभ्यक्त-  
सर्वाङ्ग, श्रुतावेव वक्ष्यमाणलक्षणे ह्यद्द्रच्छेत् वा गर्भोत्पत्ति । उर्ध्वं पुनर्गण्डुन्  
अन्येन वा प्रकारेण तदा पतितो भवति । अनेन विधिनोत्पन्न पूर्वपरिणेतु  
क्षेत्रज्ञ पुत्रो भवेत् । एतच्च वाग्दत्ताविषयम्

१ क्षेत्रज्ञ स भवेत् ।

याया सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देव देवरः ॥' इति  
( ९।६९ ) मनुस्मरणात् ॥ ६८-६९ ॥

भाषा—जिन स्त्री के ( अपने पति से ) पुत्र न हुआ हो उसके पास  
पिता इत्यादि गुरुजनो की आज्ञा से श्रातुकाल में सभी धर्मों में दृढ का लेव  
करके देवर, सृष्टिपिण्ड या समान गोत्र का पुरुष पुत्र प्राप्ति की इच्छा से गर्भ  
स्थिति के समय तक ही जाय, अन्यथा ( उसके उपरान्त भी गमन करने  
पर ) वह पतित हो जाता है । इस विधि से उत्पन्न पुत्र सुव्रत कहलाता  
है ॥ ६८-६९ ॥

व्यभिचारिणीं प्रत्याह—

हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम् ।

परिभूतामथ शय्यां वासयेद्व्यभिचारिणीम् ॥ ७० ॥

या व्यभिचरति तां हृताधिकारां भ्रूयभरणाद्यधिकाररहिताम् । मलिनां  
अजनाम्यजनशुभ्रवस्त्राभरणशून्यां पिण्डमात्रोपजीविनीं प्राणयात्रामात्रभोजनाम् ।  
धिष्ठारादिभिः परिभूतां, भूजलशायिनीं स्ववेश्मन्येष वासयेत् बैराग्यजननार्थं,  
न पुनः शुद्धयर्थम् । 'यत्पुंसः परदारेषु तत्सैनैर्वाचारयेद्व्रतम्' ( मनु. ११।१०६ )  
इति पृथक्प्रायश्चित्तोपदेशात् ॥ ७० ॥

भाषा—व्यभिचारिणी स्त्री को सभी ( भरणपोषण आदि ) अधिकारों  
से वञ्चित करके, ( अजन, शुभ्रवस्त्र न देकर ) मलिन घनाकर, केवल जीवन  
धारण योग्य भोजन देकर, तिरस्कारपूर्वक भूमि पर मुलाये ॥ ७० ॥

तस्या अल्पप्रायश्चित्तार्थमर्थवादमाह—

सोमः शौचं र्ददायासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।

पावकः सर्वमेध्यात्वं मेध्या वै योपितो ह्यतः ॥ ७१ ॥

परिणयनोत्पूर्वं सोम गन्धर्वं बह्व्यं स्त्रीभुक्त्वा यथाक्रमं तासां शौचमधुर-  
वचनसर्वमेध्यावानि दत्तवन्तः । तस्मात् प्रियः सर्वत्र स्वर्नालिङ्गनादिसु मेध्याः  
शुद्धा स्मृताः ॥ ७१ ॥

भाषा—सोम देवता ने ( नारी को ) पवित्रता दी, गन्धर्व ने मधुर  
वाणी दी, अग्नि ने सय प्रकार से पवित्र होने की शक्ति दी; अतएव स्त्रियां  
( सर्वत्र ) पवित्र होती हैं ॥ ७१ ॥

न च तस्यास्तर्हि दोषो नास्तीत्याशङ्कनीयमित्याह—

व्यभिचाराहतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधीयते ।

गर्भभर्तृवधादौ च तथा मदति पातके ॥ ७२ ॥



अप्रकाशितान्मनोव्यभिचारात्पुरुषा तरसभोगसकल्पपाद्यदपुण्य तस्य ऋतौ रजोदर्शने शुद्धिः, शुद्धते तु गर्भे त्याग । मनु ( ९।१५५ ) 'ब्राह्मणचक्रिय-विशां भार्या शुद्धेण सगता । अप्रजाता विशुद्धवन्ति प्रायश्चित्तेन नेतरा ॥' इति स्मरणात् । तथा गर्भवधे भर्तृवधे महापातके च, ब्रह्महत्यादौ आदिग्रहणा-च्छिष्यादिगमने च त्याग । 'चतस्रस्तु परित्याग्या शिष्यगा गुरगा च या । पतिधनी च विशेषेण जुद्धितोपगता च या ॥' ( वसिष्ठ २१।१० ) इति व्यासस्मरणात् । जुद्धित प्रतिलोमजन्मकारादि । त्यागक्षोपभोगधर्मकार्ययो, न तु निष्कासनं गृहोत्तस्या । 'निहन्ध्यादेकवेशमनि' इति नियमात् ॥ ७२ ॥

भाषा—ऋतुकाल होने पर व्यभिचार ( अर्थात् पर पुरुषगमन ) के दोष की शुद्धि होती है, दूसरे का गर्भ रह जाने पर स्त्री के त्याग का विधान है गर्भ की हत्या, पतिवध आदि सं और ( ब्रह्महत्यादि ) महापातक करने पर स्त्री का त्याग विहित है ॥ ७२ ॥

द्वितीयपरिणयने हेतुनाह—

सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्याथंघ्न्यप्रियंवदा ।

स्त्रीप्रसूश्चाधिचेत्तद्या पुरुषपद्वेषिणी तथा ॥ ७३ ॥

८ सुरां पिबतीति सुरापी शूद्राऽपि । 'पतत्पुं शरीरस्य यस्य भार्या सुरा पिबेत्' इति सामान्येन प्रतिषेधात् । व्याधिता दीर्घरोगग्रस्ता । धूर्ता विस-वादिनी । वन्ध्या निष्फला । अर्थघ्ना अर्थनाशिनी । अप्रियंवदा निष्ठुरभाषिणी । स्त्रीप्रसू स्त्रीजननी । पुरुषपद्वेषिणी स्वप्नाहितकारिणी । 'अधिचेत्तद्या' इति प्रत्येकर्मभिसंबध्यते । अधिवेदन भार्यान्तरपरिग्रह ॥ ७३ ॥

भाषा—सुरापान करने वाली, दीर्घ रोग से ग्रस्त, धूर्त, घात, धन का नाश करने वाली, कठोर वचन बोलन वाली, पुत्रियों को ही जन्म देने वाली और पति का अहित करने वाली पत्नी के रहते हुए भी दूसरा विवाह कर लेना चाहिये ॥ ७३ ॥

अधिविज्ञा तु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत् ।

यत्रानुकूल्यं दंपत्योस्त्रिर्वास्तत्र वर्धते ॥ ७४ ॥

किंच, सा अधिविज्ञा पूर्ववदेव दानमानसकारैर्भर्तव्या । अन्यथाऽभरणे महदपुण्यं वक्ष्यमाणो दण्डश्च । न च भरणे सति केवलमपुण्यपरिहार । यत यत्र दंपत्योरानुकूल्यं धिक्त्वय तत्र धर्मोर्धकामानां प्रतीदिनमभिवृद्धिश्च ॥ ७४ ॥

भाषा—किन्तु उक्त दोषों वाली प्रथम विवाहिता पत्नी का भी पालन-पोषण करना चाहिए, अन्यथा घोर पाप होता है। जहां स्त्री पुरुष दोनों परस्पर अनुकूल होते हैं वहां धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्रतिदिन वृद्धि होती है ॥ ७४ ॥

स्त्रियं प्रत्याह—

मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति ।

सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चामया सह ॥ ७५ ॥

भर्तारि जीवति मृते वा या चापस्यादन्यं पुरुष नोपगच्छति सेह लोके विपुलं कीर्तिमवाप्नोति । उमया च सह मोदते, पुण्यप्रभावात् ॥ ७५ ॥

भाषा—पति के जीवन काल में या मर जाने पर भी जो स्त्री किसी दूसरे पुरुष के समीप नहीं जाती वह हम ससार में कीर्ति तो पाती है और ( मृत्यु के बाद पुण्य के प्रभाव से ) उमा के साथ सुखपूर्वक निवास करती है ॥ ७५ ॥

अभिर्वेदनकारणाभाये अधिवेत्तार प्रत्याह—

आज्ञासंपादिनीं दक्षां वीरसू प्रियवादिनीम् ।

रयजन्दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्यां भरणं स्त्रियाः ॥ ७६ ॥

आज्ञासंपादिनीमदेशकारिणीम्, दक्षां शीघ्रकारिणीम्, वीरसू पुत्रवतीम्, प्रियवादिनीं मधुरभाषिणीं मस्यजनि अधिविन्दति, स राजा स्वधनस्य तृतीयांशं दाप्यः । निर्धनस्तु भरणं प्रासाच्छादनादि दाप्यः ॥ ७६ ॥

भाषा—जो आज्ञाकारिणी, कुशल, वीर पुत्रों को जन्म देने वाली और मधुरभाषिणी पत्नी का स्वाम करता है ( जयवा उसके जीवित रहते दूसरी पत्नी ग्रहण करता है ) तो ( राजा ) उससे धन का तृतीयांश दिलावे और यदि निर्धन हो तो और भोजन वस्त्र दिलवावे ॥ ७६ ॥

स्त्रीधर्मानाह—

स्त्रीभिर्भर्तृवच कार्यमेव धर्मः परः स्त्रियाः ।

आ शुद्धेः सप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः ॥ ७७ ॥

स्त्रीभिर्भर्तृवचनं कार्यम् । यस्मादयमेव पर उच्छृष्टो धर्मः ; स्त्रीणां स्वर्गहेतुत्वात् । यदा तु महापातकदूषितस्तदा धा शुद्धेः संप्रतीक्ष्य, न तत्पारतन्त्र्यम् । उत्तरकाण्डे तु पूर्वदेव तत्पारतन्त्र्यम् ॥ ७७ ॥

भाषा—स्त्रियों का यह कर्तव्य है कि पति को आज्ञा का पालन करे,

बही स्त्रियों का परम धर्म है । यदि ( पति को ) महापातक का दोष लगा हो तो ( स्त्री को ) उसकी शुद्धि तक प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥ ७७ ॥

शास्त्रीयदारसप्रहस्य फलमाह—

लोकानन्त्यं दिव प्राप्ति पुत्रपौत्रप्रपौत्रकै ।

यस्मात्तस्मात्स्त्रिय सेव्या कर्तव्याश्च सुरक्षिता ॥ ७८ ॥

लोके आनन्त्य वशश्चाविच्छेद लोकानन्त्य, दिव प्राप्तिश्च, दारसप्रहस्य प्रयोजनम् । कथमित्याह—पुत्र पौत्र प्रपौत्रकैर्लोकानन्त्यम्, अग्निहोत्रादिभिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वयः । यस्मात् स्त्रीभ्य एतद्व्यं भवति तस्मात् स्त्रिय सेव्या उपभोग्या प्रजार्थम् । रक्षितव्याश्च धर्मार्थम् । तथा चापस्तम्बेन 'धर्मप्रजासपत्ति प्रयोजन दारसप्रहस्योक्तं धर्मप्रजासपत्नेषु दारेषु नान्यां कुर्वीत्' इति वदता । रतिफल तु लौकिकमेव ॥ ७८ ॥

\* भाषा—पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से इस लोक में वश अविच्छिन्न बना रहता है और स्वर्ग की प्राप्ति होती है । चूँकि ये दोनों कार्य स्त्रियों से सिद्ध होते हैं अतः वे उपभोग्य होती हैं और ( धर्म के लिये ) उनकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ७८ ॥

'पुत्रोत्पत्त्यर्थं स्त्रिय सेव्या' ( श्लो० ७८ ) इत्युक्तं, तत्र विशेषमाह—

पोडशर्तुनिशा स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत् ।

ब्रह्मचार्यैव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

स्त्रीणां गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षित काल ऋतु । स च रजोदर्शनदिवसादारभ्य पोडशाहोरात्रस्तस्मिन् ऋतौ युग्मासु समासु रात्रिषु । 'रात्रि'ग्रहणादिवसप्रतिषेधः । संविशेत् गच्छेत्पुत्रार्थम् । 'युग्मासु' इति बहुवचन समुच्चयार्थम् । अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ अप्रतिपिद्वासु युग्मासु सर्वासु रात्रिषु गच्छेत् । एव गच्छन् ब्रह्मचार्यैव भवति । अतो यत्र ब्रह्मचर्यं श्रौद्धादी चोदिन तत्र गच्छतोऽपि न ब्रह्मचर्यं खिलेन दोषोऽस्ति । किंच पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् । 'पर्वाणि' इति बहुवचनादाद्यर्थावगमादष्टमीचतुर्दशयोर्ग्रहणम् । यथाह मनु ( ३।१।५५ )—'अमावास्यामष्टमी च पौर्णमासी चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारी भवेन्नियममप्यतौ रनातको द्विजः ॥' इति । अतोऽमावास्यादीनि रजोदर्शनादारभ्य चतस्रो रात्रौश्च वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

भाषा—द्विषों के ( गर्भधारण योग्य ) ऋतुकाल को सोलह रात्रियां होती हैं, इनमें से ( पुत्र के लिये ) युग्म रात्रियों में समोद्य करना चाहिए । ह्य प्रशर स्त्रीगमन करने वाला ब्रह्मचारी ही होता है, किन्तु ( अमारस्या, अष्टमी, पूर्णमासी और चतुर्दशी ) चार रात्रियों में गमन न करे ॥ ७९ ॥

एवं गच्छन् स्त्रियं शार्मां मघां मूलं च वर्जयेत् ।

सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥ ८० ॥

किंच, एवमुक्तेन प्रकारेण स्त्रियं गच्छन् शार्मा गच्छेत् । शार्मता च तस्मिन्काले रजस्वलाव्रतेनैव भवति । अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या शार्मता पुत्रोत्पत्त्यर्थमदवाऽरिजम्भोजनादिना । 'पुमान्पुसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिकं स्त्रियः' इति वचनात् । यदा सुरमायामपि रात्रौ शोणिताधिक्यं तदा ह्येव भवति ब्रह्मचर्यः । असुरमायामपि शुक्राधिक्ये पुमानेव भवति स्यादिति, यालस्य नेमित्तस्यात् । शुक्रशोणितयोश्चोपादानकारणत्वेन प्रायश्यात् । तस्मात्शार्मा कर्तव्या । मघा मूलनक्षत्रे वर्जयेत् । चन्द्रे चैकादशादिशुभस्थानगते चकाराशु-नक्षत्रे शुभयोगलघ्नादिसप्तौ सकृदेकस्यां रात्रौ न द्विद्विषां । ततो लक्षणैर्युक्तं प्र जनयति । पुमानप्रतिद्वयपुंसव ॥ ८० ॥

भाषा—मघा और मूल नक्षत्र को छोड़कर चन्द्रमा ( ग्यारहवें भादि ) इस स्थान में स्थित होने पर जो बुधली स्त्री के निकट एकवार गमन करता यह पुरुष शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र उत्पन्न करता है ॥ ८० ॥

एवमृती नियममुक्त्वा इदानीमृती नियममाह—

यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् ।

स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्षया यत स्मृता ॥ ८१ ॥

भाषा—इच्छानतिक्रमेण प्रवृत्तिरस्यास्तीति यथाकामी भवेत् । 'या' इदो नियमान्तरपरिग्रहार्थं, न पूर्वनियमनिवृत्त्यर्थं । स्त्रीणां वरमिन्द्रदक्षमनुस्मरन् 'भवतीनां कामविदन्ता पावकी स्यात्' इति । यथा 'ता भ्रमुवन् परपृणीमैहा ऋत्विष्याप्रजां विन्दामहे काममा विज्जवितो नभवामेति तस्माद्विषयात् स्त्रियः प्रजा विन्दन्ते काममा विज्जवितो' संभवन्ति यैरे वृन्द्स्याताम्' इति । अथि च स्वदारेष्वेव निरतः नितरां रजस्तन्मनसः, 'अर्थे' इत्यनुपपद्यते । एवकारेण मृगतरामन निवर्तयति, प्रायश्चित्तरमरणात् । उभयप्रापि दृष्टप्रयोजनमाह—स्त्रियो रक्षया यतः स्मृता इति । यस्मात्स्त्रियो रक्षया स्मृता उक्ता

१ वीणां च । २ कालस्यानियतत्वात् । ३ पृणीमैहे । ४ वरं वृत्तं तासां । ५ उत्तः पूर्वं ७८ श्लोके ।

‘कर्तव्याश्च सुरक्षिता’—( आचार ७८ ) इति । तच्च सुरक्षण यथाकामित्वेन  
 स्वच्छन्तरागमनेन च भवतीति । अत्राह—तस्मिन्नुद्योगासु—सर्वविशेषत्—( आचार  
 ७९ ) इति, किमयं विधिर्नियमः ? परिसरण्या वा ? उच्यते,—न तावद्विधि,  
 प्राप्तार्थत्वात् । नापि परिसरण्या दोषप्रयत्नमात्मके । अतो नियम प्रतिपेदिरे  
 न्यायविदः । कः पुनरेषा भेदः ? अत्यन्तापाप्तप्रापण विधिः, यथा ‘अग्निहोत्र  
 जुहुयात्’ ‘अष्टका कर्तव्या’ इति । पक्षे प्राप्तस्याप्राप्तपक्षान्तरप्रापण नियम,  
 यथा ‘समे देशे यजेत’ दर्शपूर्णमासाभ्या यजत’ इति याग कर्तव्यतया  
 विहितः । स च देशमन्तरेण कर्तुमशक्य इत्यर्थाद्देश प्राप्तः । स च समो  
 विषमश्चेति द्विविधः । यदा यजमानः समे शिष्यस्य तदा ‘समे यजेते’ति वचन  
 मुदास्ते, स्वार्थस्य प्राप्तत्वात् । यदा तु विषमे देशे शिष्यस्य तदा ‘समे यजेते’ति  
 स्वार्थं प्रिष्यते, स्वार्थस्य तदानीमप्राप्तत्वात् । विषमदेशनिवृत्तिस्वार्थिकी ।  
 चोदितदेशेनैव यागनिष्पत्तेरचोदिनदेशोपादानेन यथाशास्त्र यागो नानुष्ठित  
 स्यादिति । तथा प्राहमुखोऽनानि भुञ्जीत’ इति । इदमपि स्मार्तमुदाहरण  
 पूर्वेण व्याख्यातम् ॥ एकस्यानेकत्र प्राप्तस्यान्यतो निर्हृत्पर्यमेकत्र पुनर्वचन  
 परिसरण्या । तद्यथा—‘इमामगृभ्यप्रशानामृतस्येश्यश्चाभिधानीमादत्ते’ इत्यथ  
 मन्त्र स्वयामर्थादश्चाभिधान्या गर्दभाभिधान्याश्च रशानाया ग्रहणे विनियुक्तः,  
 पुनरश्चाभिधानीमादत्त इत्यनेनाश्चाभिधान्यां विनियुज्यमानो गर्दभाभिधान्या  
 निवर्तते । यथा पञ्च पञ्चनत्वा भक्षया’ इत्यत्र हि यदृच्छ्या शशादिषु श्वादिषु च  
 भक्षणं प्राप्तं पुनः शशादिषु श्रूयमाणं निवर्तत इति ॥ किं पुनरत्र युक्तम् ? परि-  
 सरणेश्यात् । तथा हि—कृतदारसग्रहस्य स्वच्छेद्यैवर्तौ गमनं प्राप्तमिति न विधे-  
 रथ त्रिषयः । नापि नियमस्य गृह्यस्मृतिविरोधात् । एव हि स्मरन्ति गृह्य-  
 कारा—‘दारसग्रहानन्तरं त्रिरात्रं द्वादशरात्रं सवस्तरं वा ग्रह्यचारी स्यात्’ इति  
 तत्र द्वादशरात्राः सवस्तराद्वा पूर्वमेवर्तुसंभवः श्रुतौ गच्छेदेवेति नियमाद्ग्रह्यचर्यं  
 स्मरणं चाध्येत । अपि च प्राप्ते भावार्थे वचनं विशेषणपरं युक्तं, प्राप्तं चर्तौ  
 भायांगमनं निवृत्त्यैव, अतो यदि गच्छेदतावदेति वचनं व्यनक्तिर्युक्ता । किं च नैय-  
 मिकाणुज्ज्वलितविधेरेव श्रुतौ गमनं नित्यप्राप्तमेवेति श्रुतौ गच्छेदेवेति नियमो  
 नर्थकः स्यात् । नियमे चादृष्ट कल्पनीयम् । किं च श्रुतौ गन्तव्यमेवेति नियमे  
 असंज्ञिहितस्य व्याख्याधिना असमर्थत्वानिच्छेदोश्चाशक्योऽर्थ उपादिष्टः स्यात् ।  
 त्रिष्यनुवादविरोधश्च नियमे । तथा हि—एक शब्दः सकृदुच्यते इत्येवार्थं

१ विध्यादयश्च—विधीयन्तमप्राप्तौ नियमं पीडकं सीत । तत्र श्वाभ्यां  
 वा प्राप्तौ परिसरण्या निगद्यते’ इति । २ दोषप्रयासके । ३ प्राप्तार्थं  
 त्वात् । ४ स्वार्थं रितद्धा । ५ निवर्तयति । ६ भावैच्छुष्यैव ।

पक्षेऽनुवदति पक्षे तु विद्यते चेति । तस्मात्तावेव गच्छेन्नान्यत्रेति परिसरयैव युक्तः । तद्विदं भौगविविधत्वाद्दोषो नानुमप्यन्ते । अतो नियम एव युक्तः पक्षे स्वार्थविधिसम्भवात्, आगमने दोषप्रश्रयणाच्च । ऋतुस्नातां तु यो भार्या सतिषी नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र सशयः ॥' (पराशर ) इति । न च विध्यनुवादविराध अनुवादाभावाद्भिषर्थावाच्च वचनस्य । तत्र हि विध्यनुवादविरोधो यत्र विधेयाप्रथितया तदेवानुप्रदितस्य, नप्राप्तयैः न्योद्देशेन विधातव्यं च । यथा वाजपेयाधिकरणपूर्वपक्षे 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति वाजपेयलक्षणगुणविधानावधिखेन यागोऽनुवदितव्यः, स एव स्वाराज्यलक्षणफलोद्देशेन विधातव्यश्चेति । न चानुवादेनेह कृष्यमस्ति । यत्तु— नियमेऽष्ट कल्पमियुक्तं, तत्परिसरयायामपि समानम्, अनृती गच्छतो दोष कल्पनात् । यत्तु नैयमिकपुत्रोत्पादनविध्यासुपेणैव ऋतौ निष्यगमनप्राप्तेर्न नियम इति,—तदसत्, स एवाय नैयमिकपुत्रोत्पादनविधि स्यान्मतम् । 'एव गच्छन् श्रियं चामा लक्ष्यं पुत्रं जनयत्' इति स्वभिगमनातिरिक्तं पुत्रोत्पादनविधिरिति,—तत्र, गमनकरणिकाया भावनाया एव पुत्रोत्पत्तिकर्मता प्रदरयते । एव गच्छन् लक्ष्यं पुत्रं जनयेदित्यनेन यथाग्निहोत्रं जुह्वन् स्वर्गं भावयेदिति । न चासनिहितादेशक्यार्थविधिप्रसङ्गः । सन्नहितशक्तयोरेवोपदेशात् 'ऋतुस्नाता तु यो भार्या सतिषी नोपगच्छति' । 'य स्ववाराज्योत्पत्तौ स्वस्य सन्नोपगच्छति' ( देवलः ) इति विशेषोपादानात् । अतिश्रान्तिवृत्तिस्तु नियमविधानादेव । न च विशेषणपरतापि । पक्षे भावार्थविधिसम्भवात् । नापि गृह्यस्मृतिविरोधः । सर्वस्वपूर्वमेवर्तुर्दर्शने सविशतो न ब्रह्मचर्यरक्षणदोषो यथा श्राद्धादिषु । तस्मात्स्वार्थहानिपरार्थकल्पना प्राप्तया च लक्षणदोषप्रवर्तनी परिसरया न युक्तः । एवं 'पक्षे पञ्चनखा भक्ष्या' इत्यत्र यद्यपि शशादिषु भक्षणस्य पक्षे प्राप्तेर्नियम शशादिषु, श्वादिषु च प्राप्ते परिसरयेत्युभयसम्भवः, तथापि नियमपक्षे शशाद्यभक्षणे दोषप्रसङ्गः, श्वादिभक्षणे चादोषप्रसङ्गेन "प्रायश्चित्तस्मृतिविरोध इति परिसरयैवाधिता । एतेन 'सायंप्रातर्हिजातीनामशनं स्मृतिनोदितम्' इत्यत्रापि नियमो क्पाश्यात् । 'ना-तरा भोजनं कुर्यात्' इति च पुनरुक्तं स्वापरिसरयैवाम् । एवं च नियमे सति ऋतावृत्ताधिति क्षीप्सा लभ्यते, 'निमित्तावृत्तौ नैमिस्त्रिकल्पणावर्तने' इति न्यायात् । 'यथाकामी भवेत्' इत्ययमपि नियम एव । अनृतावपि स्त्रीकामनाया मत्या स्त्रियमभिरमयेदेवेति । 'ऋतावृत्तेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्' इत्येतदपि गौतमीय (५।१-२) सूत्रद्वयं नियमपरमेव । ऋता

१ भागुरि । २ तथा फलोद्देशेन । ३ तदसदिति । नास्ति ।

४ यत्परतच्च गमनम् । ५ प्रायश्चित्तविरोधः । ६ श्रुतिचोदितम् ।

७ यदि क्यार्या तस्मात्त्रियमपरमेवति ।

सुपेयादेव । अनृतावपि स्त्रीकामनायां सत्या प्रतिपिद्वर्जमुपेशादेवेत्यलमति-  
प्रसङ्गेनेति ॥ ८१ ॥

भाषा—स्त्रियों के ( इन्द्र द्वारा दिये 'तुम्हारे काम को तृप्त न करने वाला  
पातकी होवे' इस ) वर का स्मरण करते हुए उसकी इच्छा देव कर समोग  
करे और अपनी ही रत्नी में रत्न रहे, क्योंकि स्त्रियों की रक्षा का विधान किया  
गया है ॥ ८१ ॥

भर्तृभ्रातृपितृज्ञानिश्चश्रूश्वशुरदेवरैः ।

यन्धुभिश्च स्त्रियं पूज्या भूपणाच्छादनाशनै ॥ ८२ ॥

किंच, भर्तृप्रभृतिभिः पूर्वाक्षा साध्य स्त्रियो यथाशक्यलकारवसनभोजन-  
गुप्पादिभिः समाननीया । यस्मात्ता पृथिता धर्मार्थकामान्सवर्धयन्ति ॥

भाषा—पति, भाई, पिता, जाति के लोग, सास, श्वशुर, देवर और  
च-धुवर्ग द्वारा स्त्रियां आभूषण, बस्त्र एव भोजनादि से सम्मान करने योग्य  
होती हैं ॥ ८२ ॥

तथा पुन समर्पितगृहस्थापारुषा क्रिभूतया भवितव्यमित्यत आह—

संयतोपस्करा दक्षा दृष्टा व्ययपराङ्मुखी ।  
कुर्याच्छुश्रूषोः पादवेन्दनं भर्तृत्तरा ॥ ८३ ॥

सयत स्वस्थाननिवेशित, उपस्करो गृहोपकरणवर्गो यथा सा तथोक्ता ।  
यथोद्धृतलमुमलशुषादि कण्डनस्थाने, ह्यदुपलयोरविद्योगेन पेयणस्थान इत्यादि ।  
दक्षा गृहस्थापारकुशला दृष्टा सदैव प्रहसितानना, व्ययपराङ्मुखी न व्यय-  
शीला, 'स्यात्' इति सर्वत्र शेष । किंच, श्रधूश्च श्वशुरश्च श्वशुरी । 'श्वशुर  
श्रध्वा' ( पा० १।२।७१ ) इत्येकशेष, तयो पादवेन्दनं नित्यं कुर्यात् ।  
'श्वशुर' प्रहण मान्यान्तरपोल्लक्षणार्थम् । भर्तृत्तरा भर्तृवशवर्तिनी सती पूर्वोक्त  
कुर्यात् ॥ ८३ ॥

भाषा—घर की वस्तुओं को यथास्थान संभाल कर रखने (गृहकार्य में)  
कुशल हो, सदैव प्रसन्न रहे, अधिक व्यय न करे, सास श्वशुर को चरण छुकर  
प्रणाम करे एवं पति के वश में रहे ॥ ८३ ॥

भर्तृसन्निधायुक्तम्, प्रोषितभर्तरि तथा किं कर्तव्यमित्यत आह—

श्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोरसवदर्शनम् ।

दास्यं परगृहेयानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका ॥ ८४ ॥

रेशा-तरगतभर्तृका श्रीडां कन्दुकादिभिः शरीरसंस्कारमुद्दत्तनादिभिः,

१ सुपेयादेवानृतावपि ।

समाजो जनसमूहः । उससवो विवाहादिः । तपोदर्शनं, हास्यं विजृम्भणं परगृहे  
गमनम् । स्थजेत् इति प्रायेकं संवध्यते ॥ ८४ ॥

भाषा—त्रित स्त्री का पति विदेत गया हो वह खेलना, शत्रार करना,  
जनसमूह ( मेले आदि ) में और उसमें में जाना, हँसी-मुजाक और दूसरे के  
घर जाना—इन सब से परहेज रखे ॥ ८४ ॥

रक्षेत्रकन्यां पिता विज्ञां पतिः पुत्रास्तु वार्यके ।

अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचिरिह्याः ॥ ८५ ॥

किंच, पाणिग्रहणात्पारु पिता कन्यामकार्यकरणाद्रक्षेत् । तत ऊर्ध्वं भर्ता ।  
तदभावे पुत्रः वृद्धभावे च तेषामुक्तानामभावे ज्ञातयः, ज्ञातीनामभावे राजा,  
'पञ्चदश्याचमने तु राजा भर्ता प्रमु. स्त्रियाः' इति वचनात् । अतः क्वचिदपि  
स्त्रीणां नैव स्वातन्त्र्यम् ॥ ८५ ॥

भाषा—कुमारी की रक्षा पिता करे, विवाहिता होने पर पति और  
वृद्धावस्था में ( पतिके न होने पर ) पुत्र रक्षा करें । इन सबके न होने पर  
जाति के लोग उसकी रक्षा करें । स्त्रियों को कभी भी स्वतन्त्र नहीं रहने देना  
चाहिए ॥ ८५ ॥

पितृमातृसुतभ्रातृश्वश्रुभ्यश्चरमातुलैः ।

हीना न स्याद्विना भर्ता गर्हणीयाऽन्यथा भवेत् ॥ ८६ ॥

किंच, भर्ता विना भर्तृरहिता पित्रादिरहिता वा न स्यात् । यस्मात्तद्रहिता  
गर्हणीया निःस्रा भवेत् । एतच्च ब्रह्मचर्यपक्षे ।—'भर्तृरि प्रेते ब्रह्मचर्यं तदन्वाराहणं  
वा' ( २५।१४ ) इति विष्णुस्मरणत् । अन्वारोहणे महानशुभदयः । तथा च  
व्यासः कृपेतिहासकालव्याजेन दर्शितवान्—'पतिप्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुता-  
शनम् । तत्र चित्रान्नदधरं भर्तारं सान्धपद्यत ॥ ततः स्वर्गं गतः पत्नी भार्यया  
सह संगतः । कर्मणा पुनितस्तत्र रेमे च सह भार्यया ॥' इति । तथा च  
शङ्खाद्विरसौ-तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे । तावत्कालं  
वसेत्स्वर्गं भर्तारं यानुगच्छति ॥' इति प्रतिपाद्य तयोरवियोग दर्शयतः—  
'ध्यालभ्राही तथा तपं जलपुद्गलानि, विद्यात्, जट्टदुष्टयः सा तपसी सह तपैश्च  
मोदते ॥ तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमानाऽप्यमरोगणैः । श्रोतते पतिना पार्थ पाव  
दिन्द्राद्यतुर्दश ॥' इति । तथा—'ब्रह्मज्ञो वा कृतज्ञो वा मिश्रज्ञो वा भजेरपतिः ।  
पुनारवविधवा नारी तमादाय मृता तु या ॥ मृते भर्तृरि या नारी समारोहेद्दुष्टता-

१. विज्ञां=परिणीताम् । २. पतिः स्त्रियाः । ३. तद्रहिता पित्रादिरहिता ।

४. चाथ मिश्रज्ञः कृतज्ञो वा ब्रह्मज्ञो वा सुरापो वा ।



ज्ञानम् । सारुधतीसमाचारा स्वगलोके महीयते ॥ यावच्चाग्नी मृते पर्यौ स्त्री-  
 नास्मान् प्रदाहयेत् । तावन्न मुच्यते मा हि स्त्रीशरीरात्कथंचन ॥' इति ।  
 हारीतोऽपि 'मातृक पैतृक चापि यत्र चैव प्रदीयते । कलत्रय पुनात्यपा भर्तार  
 यानुगच्छति ॥' इति, तथा- भर्तारि मुदिते दृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा ।  
 मृते म्रियेत या पर्यौ मा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति । अयं च सकल एव  
 सर्वासा स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापश्यानामाचण्डाल साधारणो धर्म 'भर्तार  
 याऽनुगच्छति' इत्यविशेषोपादानान् । यानि च ब्राह्मण्यनुगमननिषेधपराणि  
 वाक्यानि— मृतानुगमन नारित ब्राह्मण्या ब्रह्मशासनात् । इतरेषु तु वर्णेषु तप  
 परममुच्यते ॥ जीवती तद्धित कुर्या मरणादात्मघातिनी । या स्त्री ब्राह्मण  
 जाताया मृत पतिमनुप्रजेत् ॥ सा स्वगमाभघातेन नास्मान् न पतिं नयेत् ॥'  
 इत्येवमादीनि तानि पृथक्चित्त्यधिरोहणविषयाणि, 'पृथक्चित्तिं समारह्य न  
 विप्रा ग तुमर्हन्ति इति विशेषेणमरणात् । अनेन चत्रियादिस्त्रीणां पृथक्चित्त्यभ्य  
 नुज्ञा गम्यते । यत्तु कैश्चिदुक्त पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यात्महननस्य प्रतिषिद्धत्वा  
 दतिप्रवृद्धस्वर्गामिलापाया प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामन्त्या भयमनुगमनोपदेश श्येन  
 चत् । यथा श्येनेनाभिचर यजेत इति तीव्रकोधात् । तस्यै-तस्य प्रतिषेधशास्त्र  
 मतिक्रामत श्येनोपदेश इति -तदुक्तम् । ये तावत् श्येनकरणिकायां भावनाया  
 भाव्यभूतहिंसाया विधिसस्पर्शाभावन प्रतिषेधसस्पर्शात्कलद्वारेण श्येनस्थानर्थत  
 वर्णयन्ति, तथा मत् हिंसाया एव स्वर्गार्थतया अनुगमनशास्त्रेण विधीयमानत्वा  
 त्प्रतिषेधसस्पर्शाभावाद्भनापोमीयवस्पर्शमेवानुगमनस्य श्येनवैषम्यम् । यत्तु मत्-  
 हिंसा नाम मरणानुकूलो व्यापार श्येनश्च परमरणानुकूलव्यापाररूपत्वाद्धिसैव,  
 कामाधिकारे च करणाशे रागत प्रवृत्तिसभवेन विधेरप्रवर्तकत्वात् । रागप्रयुक्त-  
 हिंसारूपत्वात् श्येन प्रतिषिद्ध स्वरूपेणैवानर्थकर इति, तत्राप्यनुगमनशास्त्रेण  
 मरणस्यैव स्वगमाधनतया विधाना मरणे यद्यपि रागत प्रवृत्तिस्तथापि मरणा  
 नुकूले व्यापारेऽप्रवृत्तेशादावितिकर्तव्यत्वारूपे विहित एव प्रवृत्तिरिति न  
 निषेधस्यावकाश 'वाच्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम' इतिवत्, तस्मात्स्पर्शमेवा-  
 नुगमनस्य श्येनवैषम्यम् । यत्तु 'तस्माद्दुह न पुरायुष स्वै कामी प्रेयात्' इति  
 श्रुतिविरोधादनुगमनमपुक्तमिति, यच्च 'तद्दुह न स्व काम्यायुष प्राह न  
 प्रेयात्' इति स्वगफलोद्देशेनायुष प्रागायुष्ययो न कर्तव्यो मोक्षार्थिना, यस्मा

१ अय सर्वासा । २ माचाण्डालाना । ३ चित्त्य वारोहण ।

४ विशेषोपादानान् । ५ प्रतिषिद्धशास्त्र । ६ कर्तव्यतापुरुष । ७ स्वर्ग  
 काम । ८ प्रयादिति ।

दायुष दोषे सति निरत्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानर्ह्यपिताऽन्त ऋणकलङ्कस्य श्रवणमन-  
ननिदिध्यासनसपत्नी सत्यमात्मज्ञानेन निरत्यनिरतिशयान-दमलप्राप्तिलक्षणमोक्ष-  
प्राप्तिलक्षणमोक्षसम्भव । तस्मादनिरत्याद्यपसुखरूपस्वर्गार्थमायुर्व्ययो न कर्तव्य  
इत्यर्थ । अतश्च मोक्षनिरत्यनया अनिरत्याद्यपसुखरूपस्वर्गार्थिन्या अनुगमन  
युक्तम् , इतरकाम्यानुष्ठानवदिति सर्वमनवद्यम् ॥ ८६ ॥

भाषा—पति न हो तो पिता, माता, पुत्र, भाई, साम, समुद्र से दूर न  
रहे अन्यथा वह ( स्त्री ) निन्दनीय होती है ॥ ८६ ॥

पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया ।

सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम् ॥ ८७ ॥

किंच, प्रियमनवद्यत्वेन मनसोऽनुकूलम् , आयस्यां यच्छ्रेयस्कर तद्वितम् ,  
प्रिय च तद्वित च प्रियहितम् । पत्यु प्रियहितं पतिप्रियहित तस्मिन् युक्ता  
निरता । स्वाचारा शोभन आचारो यस्या सा तथोक्ता । शोभनश्चाचारो  
दमित शब्देन—‘नानुक्त्वा गृहाश्रिगर्भ्यैऽनुत्तरीया न स्वरित ब्रजेन परपुरुषम-  
भिभाषेताभ्यत्र वणिषप्रयजितवृद्धैश्चेभ्य , न नाभिं दर्शयेत् , आगुणकाद्वास  
परिदध्यात् , न रतनीं विवृतीं कुर्यात् , न हसेदप्रावृता भर्तारं तद्वन्धूना न  
द्विप्याश गणिकाधूर्ताभिमारिणीप्रयजिताप्रेक्षिकामायामूलकृहककारिकादु शि-  
लादिभि सहैकत्र तिष्ठेत् , समर्पणं हि कुलस्त्रीणा चौरिन्न दुष्यति’ इति ।  
विजितेन्द्रिया विजितानि हयमितानि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि वागादानि च मन  
सहितानि यया सा इह लोके कीर्तिम् प्रयाति परलोक चोत्तमां गतिं प्राप्नोति ।  
अथ च सकलं पुत्र स्त्रीधर्मो विद्याहादूर्ध्वं वेदितव्यः । ‘प्रागुपनयनात्कामचार-  
कामवादात्कामभक्षा’ इति स्मरणं च । ‘वैतादिको विधि स्त्रीणामौपनायनिक  
स्मृत’ इति च ॥ ८७ ॥

भाषा—पति के अनुकूल एवं श्रेयस्कर कार्य में तत्पर, सुन्दर वाचरण  
करने वाली तथा यत्नपूर्वक इन्द्रियों को वश में रखने वाली स्त्री इस सत्तार में  
कीर्ति पाती है और परलोक में उत्तम गति ॥ ८७ ॥

अनेकभार्य प्रत्याह—

सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत् ।

सधर्णास्तु विधौ धर्म्ये ज्येष्ठया न विनेतरा ॥ ८८ ॥

सवर्णाया सप्यामन्यामसवर्णां नैव धर्मकार्यं कारयेत् । सधर्णास्यपि

। बह्वीषु धर्म्यं विधौ धर्मानुष्ठाने ज्येष्ठया विना ज्येष्ठो मुख्या इतरा मध्यमा कनिष्ठा वा न नियोक्तव्या ॥ ८८ ॥

भाषा—सवर्णा ( अपनी जाति की ) परना के जावित रहते दूसरी परनी से धर्मकार्य न करावे । यदि सवर्णा परिन्याँ अनेक हों तो ज्येष्ठा परनी को छोड़ दूसरी से ( धर्मकार्य ) न करावे ॥ ८८ ॥

प्रमीतपतिकाया विधिमुक्त्वा इदानीं प्रमथितभायं प्रत्याह—

दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः ।

आहरेद्विधिवद्वारानग्नीध्रैवाविलम्बयन् ॥ ८९ ॥

पूर्वोक्तवृत्तवतीं आचारवतीं विपत्तां त्रियमग्निहोत्रेण श्रोतेनाग्निना तद्भावे स्मार्त्तं दाहयित्वा पतिः भर्ता अनुत्पादितपुत्रोऽनिष्टयज्ञो वा आश्रमा न्तरेऽप्यनधिकृतो वा स्वपन्तराभावे पुनर्दारान् अग्नांश्च विधिवदाहरेत् । अविलम्बयन् शीघ्रमेव ।—‘अनाश्रमी न तिष्ठेन दिनमेकमपि द्विज’ इति दक्षस्मरणान् । एतास्त्वाधानेन महाधिकृताया एव, नाश्रयस्याः । यस्तु—द्वितीयां चैव यो भार्यां दहेद्वैतानिकाग्निभिः । जीवन्त्या प्रथमाया हि सुरापानसमं हि तत् ॥’ इति, तथा—‘मृताया तु द्वितीयाया योऽग्निहोत्र समुत्सृजेत् । ब्रह्मणं त विजानीयात्तश्च कामात्ममुत्सृजेत् ॥’ इत्येवमादि, तदाधानेन सहानधिकृताया अग्निदाने वेदितव्यम् ॥ ८९ ॥

भाषा—यदि उत्तम आचार वाली परनी की नृत्यु हो जाय तो पति अग्निहोत्र की अग्नि से उसका दाहसंस्कार करके यथाशीघ्र विधि पूर्वक दूसरी परनी ग्रहण करे और पुनः अग्निहोत्राग्नि का आधान करे ॥ ८९ ॥

इति विवाहप्रकरणम् ।

### अथ वर्णजातिविवेकप्रकरणम्

ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्या भवन्ति, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे, शूद्रस्यैका, इत्युक्त्वा, तासु च पुत्रा उत्पादयितव्या इत्युक्तम् । इदानीं कस्यां कस्मात् कः पुत्रो भवतीति विवेकमाह—

सवर्णेषु सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः ।

अग्निहोत्रेषु विवाहेषु पुत्रा सनानवर्धनाः ॥ ९० ॥

सवर्णेषु ब्राह्मणादिषु सवर्णासु ब्राह्मणादिषु सजातयो मातृपितृसमानजातीयाः पुत्रा भवन्ति । ‘विष्णास्वप विधि स्मृत’ (२९) इति सर्वतोपस्थे-

नोपसंहारात् विन्नासु, 'सवर्णासु' इति संश्रयते । 'विष्व'शब्दस्य संबन्धिदशब्द-  
 तद्यज्ञेनृभ्यः' सवर्णस्य इति लभ्यते । एकः 'सवर्ण'शब्दः स्पष्टार्थः । अतश्चाप-  
 मर्थः संवृत्तः—उक्तेन विधिनोद्घायां सवर्णायां षोडशः सवर्णाद्विद्वत्प्राज्ञास्तरमात्ममान-  
 जातीया भवन्ति ॥ अतश्च कुण्डगोलककानानसहोदजादीनानसवर्णत्वमुक्तं  
 भवति । ते च सवर्णस्योऽनुलोमप्रतिलोमेभ्यश्च भिद्यमानाः साधारणधर्मैर्हिंसादि-  
 भिरधिक्रियन्ते ।—'शूद्राणां तु सधर्मणः सर्वेऽप्यधर्मजाः स्मृताः' इति स्मर-  
 णात् । अथर्वसजा व्यभिचारजाताः शूद्रधर्मैरपि द्विजशूद्रपुंश्च भिरधिक्रियन्ते ।  
 ननु कुण्डगोलकयोरप्राज्ञत्वत्वात् श्राद्धे प्रतिषेधोऽनुपपन्नः न्यायविरोधश्च । यो  
 यजातीयाद्यजातीयायामुत्पन्नः स तदेजातीय एव भवति,—यथा 'गोर्गवि गो',  
 अथोद्विहवायामथः । तस्माद्ब्राह्मणाद्ब्राह्मणवामुत्पन्नो ब्राह्मण इति न विरुद्धम् ।  
 तथा कानानपोनर्भवादीननुकम्प—'सजातीयेभ्यः प्रोक्तस्तनवेषु मया विधिः'  
 ( व्य. १३३ ) इति यद्यप्यमाणवचनविरोधश्च । नैतत्साम् । ब्राह्मणेन  
 प्राज्ञण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण इति भ्रमनिवृत्त्यर्थः श्राद्धे प्रतिषेधः । यथाऽऽयन्तम-  
 प्रासस्य पतितस्य श्राद्धे प्रतिषेधः । नच न्यायविरोधः । यत्र प्रत्यक्षगमया  
 जातिर्भवति तत्र तथा । ब्राह्मणादिजातिस्तु स्मृतिलक्षणा यथास्मरण भवति ।  
 यथा समानेऽपि ब्राह्मणे कुण्डिनो वसिष्ठोऽत्रिर्गोतम इति स्मरणलक्षणं गोत्रम्,  
 तथा मनुष्यत्वे समानेऽपि ब्राह्मण्यादिजातिः स्मरणलक्षणा । मातापित्रोश्चैतदेव  
 जानिलक्षणम् । न चान्यथा । अनादिस्वास्तसारस्य, दश्वार्धभ्यपहारवत् ।  
 'सजातीयेभ्यः प्रोक्तस्तनवेषु मया विधिः' ( व्य. १३३ ) इति षोक्तानुवाद-  
 त्वाद्यथासंभवे व्याख्यास्यते । ऐत्रजस्तु मातृसमानजातीयः, नियोगस्मरणात्,  
 शिष्टममचारौच । यथा धनराष्ट्रपाण्डुविदुरा, ऐत्रजा सन्तो मातृसमानजातीया  
 इत्यलमतिप्रमङ्गेन । किंच, अनिष्टेषु ब्राह्मादिपिवाटेषु पुत्राः सन्मानवर्धना  
 क्षरोगिणो दीर्घायुषो धर्मप्रजासपत्न्या भवन्ति ॥ ९० ॥

भाषा—शूद्र वर्ण के पुरषों द्वारा सवर्णा स्त्रियों से उत्तम विवाह के  
 उपरान्त उत्पन्न पुत्र सवर्ण अर्थात् माना पिता की शूद्र जाति के होते हैं ।  
 और वे सन्तान की वृद्धि करते हैं ॥ ९० ॥

सवर्णानुवशा इदानीमनुलोमानाह—

विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम् ।

अथ्यष्टः शूद्र्यां निपादो जातः पारशयोऽपि वा ॥ ९१ ॥

ब्राह्मणाश्चत्रियायां विन्नायामुत्पन्नो मूर्धावसिक्तो नाम पुत्रो भवति ।  
वैश्यकन्यकायां विन्नायामुत्पन्नोऽम्बष्ठो नाम भवति । शूद्रायां विन्नायां  
निपादो नाम पुत्रो भवति । निपादो नाम कश्चिन्मत्स्यघातोपजीवी प्रतिलोमजः,  
स मा भूदिति पारशवोऽयं निपाद इति संज्ञाविकल्पः । 'त्रिमात्' इति सर्वत्रा-  
नुवर्तते । यत्तु—'ब्राह्मणेन चत्रियायामुत्पादितः चत्रिय एव भवति, चत्रियेण  
वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति । वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः शूद्र एव  
भवति' इति शङ्करमरण, तश्चत्रियादिधर्मप्राप्त्यर्थम्, न पुनर्मूर्धावसिक्ता-  
दिजातिनिराकरणार्थं, चत्रियादिजानिप्राप्त्यर्थं वा । अतश्च मूर्धावसिक्तादीनां  
चत्रियादिरङ्गैरेव दण्डाजिनोपवीतादिनिरूपनयनादिकं कार्यम् । प्रागुपनयना-  
स्कामचारादि पूर्ववदेव वेदितव्यम् ॥ ९१ ॥

भाषा—ब्राह्मण द्वारा विवाहिता चत्रियाः पत्नी से उत्पन्न पुत्र मूर्धावसिक्त  
कहलाता है और वैश्य जाति की पत्नी से उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ । शूद्रा पत्नी  
से ( ब्राह्मण द्वारा ) उत्पन्न पुत्र निपाद या पारशव कहलाता है ॥ ९१ ॥

वैश्याशूद्रयोस्तु राजन्यान्माहिष्योप्री सुतौ स्मृतौ ।

वैश्यास्तु करणः शूद्रायां विघ्नास्येप विधिः स्मृतः ॥ ९२ ॥

वैश्यायां शूद्रायां च विन्नायां राजन्यान्माहिष्योप्री पथाक्रमं पुत्री  
भवति । वैश्येन शूद्रायां विन्नायां करणो नाम पुत्रो भवति । एष सर्वज्ञ-  
मूर्धावसिक्तादिसंज्ञाविधिः विन्नामूढास्तु स्मृत उक्तो वेदितव्यः । एते च मूर्धा-  
वसिक्ता अम्बष्ठ-निपाद-माहिष्योप्री करणाः पट्टमुलोमजाः पुत्रा वेदितव्याः ॥ ९२ ॥

भाषा—चत्रिय पुत्र्य द्वारा विवाहिता वैश्या और शूद्रा पत्नियों से  
उत्पन्न पुत्र क्रमशः माहिष्य और उग्र कहे जाते हैं । वैश्य शूद्रा पत्नी उत्पन्न  
पुत्र करण कहलाता है । विवाहित पत्नियों के सम्बन्ध में यही कहा गया है ।

( ये छ अमुलोमज पुत्र हैं ) ॥ ९२ ॥

प्रतिलोमजाताह—

ब्राह्मण्यां चत्रियात्सुतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा ।

शूद्राज्जातस्तु चण्डालः सर्वधर्मवह्निभृतः ॥ ९३ ॥

ब्राह्मण्यां चत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादिता यथाक्रमं सूत-वैदेहक चण्डालादिव्याः  
पुत्रा भवन्ति । तत्र चण्डालः सर्वधर्मवह्निभृतः ॥ ९३ ॥

१. विन्नायामम्बष्ठो ।

२. शूद्रायां निपादो ।

३. शूद्र इति ।

४. वैदेहिक ।

भाषा—ब्राह्मण स्त्री से क्षत्रिय द्वारा उत्पन्न पुत्र सूत, वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र वैदेहक तथा शूद्र द्वारा उत्पन्न पुत्र चण्डाल कहलाता है, जो सभी धर्मों से बहिष्कृत होता है ॥ ९३ ॥

क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात्क्षत्तारमेव च ।

शूद्रादायांगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥ ९४ ॥

किंच, क्षत्रिया योषिर् वैश्यान्मागध नाम पुत्र जनयति । सैव शूद्रात्क्षत्तार पुत्र जनयति । वैश्ययोर्दिशूद्रादायागव पुत्र जनयति । एते च सूत वैदेहक-चण्डाल मागध कुत्राऽयागवा पद् प्रतिलोमजा । एतेषा च वृत्तव नीशानमे मानव च द्रष्टव्या ॥ ९४ ॥

भाषा—क्षत्रिया स्त्री से वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र मागध और शूद्र द्वारा उत्पन्न पुत्र क्षत्तार होता है । वैश्य जाति की स्त्री शूद्र से आयोगव नाम के पुत्र को जन्म देती है ॥ ९४ ॥

सक्रीर्णसकरे जात्यन्तरमाह—

माह्वियेण करण्यां तु रथकार प्रजायते ।

असत्सन्तस्तु विज्ञेया प्रतिलोमानुलोमजा ॥ ९५ ॥

क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो माह्विय । वैश्येण शूद्रायामुत्पादिता करणी तस्यां माह्वियेणोत्पादिता रथकारो नाम जात्या भवति । तस्य योपनयनादि सर्वं कार्यम्, वचनात् । यथाह बह्वु — 'क्षत्रियवैश्यानुलोमान्तरोत्पन्नो यो रथ कारमन्त्येऽयाद्रानोपनयनसंस्कारस्त्रिया भद्रप्रतिष्ठारथसूययाम्नुविद्याध्ययनवृत्तित्वा च' इति । एवं ब्राह्मणक्षत्रियोत्पन्नमूर्धावसिक्तमाह्वियादनुलोमसकरे जात्यन्तरता उपनयनादिमासिभ्य वदितव्या, तथाह्विनैतित्यात् । सशस्त्रेण स्मृत्यन्तरात्कृ द्रष्टव्या । एतच्च मदर्शनमात्रमुक्तम्, सक्रीर्णसकरेणैतानामानन्त्यादिसुमशयवत्त्वात् । अत एतावदद्य विवक्षित—असन्त प्रतिलोमजा, सन्तश्चानुलोमजा ज्ञातव्या इति ॥ ९५ ॥

भाषा—(क्षत्रिय द्वारा वैश्या से उत्पन्न) माह्विय पुरुष द्वारा (वैश्य पुरुष एवं विवाहिता शूद्रा पत्नी से उत्पन्न) करणी स्त्री से रथकार जन्म लेता है । इनमें अनुलोमज (श्रेष्ठ जाति के पुरुष द्वारा निम्न वर्ग की स्त्री से उत्पन्न) पुत्रों को उत्तम और प्रतिलोमज (श्रेष्ठ जाति की स्त्री और निम्न वर्ग के पुरुष से उत्पन्न) पुत्रों को निन्दित समझना चाहिये ॥ ९५ ॥

‘सवर्णभ्य सवर्णासु जायन्त’ ( १० ) इत्यादिना वर्णप्राप्तौ कारणमुक्तम्, इदानीं कारणा-न्तरमाह—

जात्युत्कर्षो युगे द्वेष्ये सप्तमे पञ्चमेऽपि वा ।  
व्यस्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम् ॥ १६ ॥

जातयो मूर्धावसिक्ताद्यास्तासामुत्कर्षो ब्राह्मणत्वादिजातिप्राप्तिर्जात्युत्कर्षो युगे जन्मनि सप्तमे पञ्चमे, ‘अपि’शब्दात्पठे वा बोद्धव्य । व्यस्यितश्चाय विकल्प । व्यवस्था च—ब्राह्मणेन शूद्रायामुत्पादिता निषादी, सा ब्राह्मणेनोढा दुहितर कांचिज्जनयति, सापि ब्राह्मणेनोढाऽन्वयां जनयतीत्यनेन प्रकारेण पृष्ठो मसम ब्राह्मण जनयति । ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पादिता अम्बुष्ठा । साप्यनेन प्रकारेण पञ्चमी पृष्ठ ब्राह्मण जनयति । मूर्धावसिक्ताप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चम ब्राह्मणमेव जनयति । मूर्धावसिक्ताप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चम ब्राह्मणमेव जनयति । एवमुक्ता ऋत्रियेणोढा माहिभ्या च यथाक्रम ऋत्रिय पृष्ठ पञ्चम जनयति । तथा करणी वैश्योढा पञ्चम वैश्यमिति, एवमन्वजाप्यहनीयम् । किञ्च, कर्मणां व्यस्यये चतुर्थीनां कर्मणां व्यस्यये त्रिपदांसे यथा ब्राह्मणो सुस्थया वृथा अजी वन् ऋत्रयेण कर्मणा जीवेदित्यनुकल्पः । तेनाप्यजीवन् वैश्यवृथा तथाप्यजीवन् शूद्रवृथा । ऋत्रियोऽपि स्वकर्मणा जीवनाद्येनाजीवन् वैश्यवृथा शूद्रवृथा वा । वैश्योऽपि स्ववृथा अजीवन् शूद्रवृथानि कर्मणा व्यस्यय । तस्मिन् व्यस्यये सति यथापद्धिमोक्षेऽपि तां वृत्तिं न परित्यजति तदा सप्तमे पठे पञ्चमे वा जन्मनि साम्य यस्य हीनवर्णस्य कर्मणा जीवति तस्मान्जातित्व भवति । तद्यथा ब्राह्मण शूद्रवृथा जीवस्तामपरित्यजन् यदि पुत्रमुत्पादयति सोऽपि तस्यैव वृथा जीव-पुत्रान्तरमित्येव पुत्रपरम्परया सप्तमे जन्मनि शूद्रमेव जनयति । वैश्यवृथा जीवन् पठे वैश्यम् । ऋत्रियवृथा जीवन् पञ्चमे ऋत्रियम् । ऋत्रियोऽपि शूद्र वृथा जीवन् पठे शूद्रम् । वैश्यवृथा जीवन् पञ्चमे वैश्यम् । वैश्योऽपि शूद्र वृथा जीवस्तामपरित्यजन्पुत्रपरम्परया पञ्चम जन्मनि शूद्र जनयताति । पूर्व वच्चाधरोत्तरम् । अस्यार्थ —वर्णसंस्मरे अनुलोमजा प्रतिलोमजाश्च दर्शिता । सर्कीर्णसकरजाताश्च रथकारनिर्दानन दर्शिता । इदानीं र्ध्वर्णसकीर्णसकरजाता प्रदर्शयन्ते—अधरे च उत्तरे च अधरोत्तरम्, यथा मूर्धावसिक्तायां ऋत्रियवैश्य-शूद्रैरुत्पादितस्तथावम्बुष्ठाया वैश्यशूद्राभ्या निषाद्यां शूद्रेणोत्पादिता अधरा प्रति लोमजास्तथा मूर्धावसिक्तावम्बुष्ठादिपु ब्राह्मणेनोत्पादिता, माहिष्योप्रयोर्माह

१ पञ्चमे सप्तमेऽपि । २ सप्तम । ३ ब्राह्मणवृथा । ४ पञ्चमे पठे सप्तमे ।  
५ पुनरप्येव । ६ वर्णसकरजाता ।

णेन त्रित्रयेण चोत्पादिताः, करण्यां ब्राह्मणेन त्रित्रयेण वैश्येन चोत्पादिताः उत्तरे अनुलोमजाः । एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । एतदधरोत्तरं पूर्ववदत्तस्मृति चोद्धृतम् ॥ ९६ ॥

भाषा—मूर्धावसिक्त आदि जातियों का सातवें या षोडशवें जन्म में (अर्थात् किसी जाति की कन्या अपनी से बड़ी जाति के पुरुष के साथ ब्याही जाय, उससे उत्पन्न कन्या भी उससे बड़ी जाति में ब्याही जाय, इस प्रकार सातवीं पीढ़ी में) जाति का उत्तरण होता है। आपत्काल में दूसरी निम्न जाति का कर्म स्वीकार करने पर, आपत्काल समाप्त होने पर भी जो उस वृत्ति को नहीं छोड़ता उसकी जाति षोडशीं या सातवीं पीढ़ी में बड़ी हो जाती है (जिसका वह कर्म करता वहीं होता है) इन वर्ण संस्कारों में निम्न प्रतिलोमज होते हैं और उत्तम अनुलोमज ॥ ९६ ॥

इति वर्णजातिविवेकप्रकरणम् ।

### गृहस्थधर्मप्रकरणम्

श्रीतस्मार्तानि कर्माणि अग्निसाप्यानि दक्षविष्यन् करिमन्नग्नौ किं कर्तव्य-  
मित्याह—

कर्म स्मार्तं विद्याहाग्नी कुर्वीत प्रत्यहं गृही ।

दायकालाहते चापि श्रौतं, वैतानिकाग्निषु ॥ ९७ ॥

गृहस्थो वैश्वदेवादिक कर्म, लौकिक च यत्प्रतिदिनं पाकलक्षणं तदपि, गृहस्थो विद्याहाग्नी विद्याहसंस्कृते कुर्वीत । दायकाले विभागकाल आहते वा 'वैश्यकुलादग्निमागीय' इत्यादिनोक्तसंस्कारसंस्कृते । 'अपि' सप्याग्नेते वा गृह-पनावाहते संस्कृते एव । तत्रैव कालत्रयातिर्गमे प्रायश्चित्तीयते । सुशुषुप्तमग्नि होत्रादिकं कर्म वैतानिकाग्निषु आहवनीयादिषु कुर्वीत ॥ ९७ ॥

भाषा—गृहस्थ प्रतिदिन (वलिवैश्वदेव आदि) स्मार्त कर्म विद्याहाग्नि में वा विभाजन के समय आहित अग्नि में करे तथा (अग्निहोत्र आदि) श्रौत कर्म आहवनीय आदि अग्नि में करे ॥ ९७ ॥

गृहस्थवर्मानाह—

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिर्द्विजः ।

प्रातःसंध्यामुपासीत दन्तधावनपूर्वकम् ॥ ९८ ॥



शरीरचिन्तामावश्यकदिना 'दिवासाभ्यासु कर्णस्थमल्लसूत्र उदङ्मुल' इत्याद्युक्तविधिना निर्वस्य 'गन्धलेपचयकरम्' ( आचार २।१७ ) इत्यादिनोक्तेन विधिना कृतशौचविधिद्विज दन्तधावनपूर्वकं प्रातः सध्यामुपासीत । दन्तधावन-विधिश्च—'कण्ठविहारीरुहोत्थ द्वादशाङ्गुलममितम् । कनिष्ठिकाप्रवास्वूल पर्वार्धं कृतकूर्चकम् ॥ दन्तधावनमुहिष्ट शिहोलेखनिका तथा ॥' (आचार. १६) इति । अत्र 'वृत्तोत्थम्' इत्यनेन मृगलोष्टाङ्गुल्यादिनिषेधः । पलाशाश्वाद्यादिनिषेधश्च रमृश्यन्तरोक्तो द्रष्टव्यः । दन्तधावनमन्त्रश्च—'आयुर्वल यशो वर्चं प्रजा पशु वसूनि च । ब्रह्म प्रजां च मेधां च स्व नो धेहि<sup>३</sup> यमस्पते ॥' इति । ब्रह्मचारि प्रकरणोक्तस्यापि सध्यावन्दनस्य पुनर्वचनं दन्तधावनपूर्वकत्वप्रतिपादनाधम्, 'दन्तधावननृत्यगीतादि ब्रह्मचारी वर्जयत्' इति तन्निषेधात् ॥ ९८ ॥

भाषा—द्विज मलमूत्रोत्सर्गं से निवृत्त होकर, शौच करके एव दातौन करने के बाद प्रातः सन्ध्या की उपासना करे ॥ ९८ ॥

हुत्वाग्नीसूर्यदेवत्यान्जपेन्मन्त्रान्समाहितः ।

वेदार्थानधिगच्छेच्च शास्त्राणि विविधानि च ॥ ९९ ॥

प्रातः सध्यावन्दनानन्तरं भगवानाहवनीयादीन् यथोक्तेन विधिना हुत्वा औपासनाग्निं वा । तदनन्तरं सूर्यदेवत्यान् 'उदुस्य जातवेदसम्' ( ऋ १।४।७।८ ) इत्यादी-मन्त्रान्जपेत् । समाहितोऽविचिष्टचित्तः । तदनन्तरं वेदार्थान्गिरुक्तव्याकरणौदधिधवणेनाधिगच्छेज्जानीयात् । अकारादधीत चाम्यमेत् । विविधानि च शास्त्राणि मीमांसाप्रभृतीनि धर्मार्थोत्थप्रतिपादकान्यधिगच्छेत् ॥ ९९ ॥

भाषा—इसके अनन्तर ( आहवनीय आदि अग्नियों में ) अग्निहोत्र कर्म करके ध्यान लगाकर सूर्य देवता के ( 'उदुस्य जातवेदसम्' आदि ) मन्त्र का जप करे । इसके बाद वेद के अर्थ को तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे ॥ ९९ ॥

उपेयाद्वीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये ।

स्नान्वा देवान्पितृंश्चैव तर्पयेदर्चयेत्तथा ॥ १०० ॥

तदनन्तरमीश्वरमभिप्रेकादिगुणयुक्तमन्य वा श्रीमन्तमकुस्मित योगक्षेमार्थ-सिद्धये । अलक्ष्यलाभो योग, लक्ष्यपरिपालनं क्षेमं, तदर्धमुपेयादुपासीत । 'उपेयात्' इत्यनेन मेधां प्रतिषेधति । 'वेतन'ग्रहणेनाज्ञाकरण सेवा, तस्या

१ आवश्यक दिवा । २ नो देहि । ३ करणादर्श च धवणेनाधि ।

४ क्षेमस्तदर्थं ।

श्वृत्तित्वेन निषेधात्, ( सेवां श्वृत्तिरावदाता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' इति मनु-  
स्मरणात् ) । ततो मध्याह्ने ज्ञास्रोक्तविधिना नद्यादिषु स्नात्वा देवान् स्वगृहो-  
क्तान् पितृंश्च, चकाराष्टपोंश्च, देवादितीर्थेन तर्पयेत् । तदनन्तरं गन्धपुष्पाद्यैः  
हरिहरहिरण्यगर्भप्रभृतीनामन्यतमं यथाचासनमृग्यञ्च साममन्त्रैस्तत्प्रकाशकैः  
स्वनामभिर्वा चतुर्व्यन्तैर्नमस्कारपुष्पैराराधयेद्यथोक्तविधिना ॥ १०० ॥

भाषा—योग ( अन्नस्य वस्तु की प्राप्ति ) एवं क्षेम ( उपलब्ध वस्तु की  
रक्षा ) के लिये राजा या स्वामी के पास जाये । ( मध्याह्न को ) स्नान करके  
देवताओं एवं पितरों का तर्पण करे और उनकी पूजा करे ॥ १०० ॥

वेदार्यपुराणानि सेतिहासानि शक्तिः ।  
जपयज्ञप्रसिद्धयर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥ १०१ ॥

तदनन्तरं वेदार्यवेतिहासपुराणानि समस्तानि ध्यस्तानि वा आप्या-  
त्मिकीं च विद्यां जपयज्ञप्रसिद्धयर्थं यथोक्तेन विधिना यथाशक्ति जपेत् ॥ १०१ ॥

भाषा—जपयज्ञ की सिद्धि के लिए वेद, अथर्व, मन्त्रों, पुराणों एवं  
इतिहासों का यथाशक्ति जप करे ॥ १०१ ॥

बलिर्कर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः ।

भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामयाः ॥ १०२ ॥

बलिर्कर्म भूतयज्ञः, स्वधा पितृयज्ञः, होमो देवयज्ञः, स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः,  
अतिथिसत्क्रिया मनुष्ययज्ञः । एते यज्ञ महायज्ञा अहरह कर्तव्याः निय-  
त्वात् । यत्पुनरेषां फलश्रवणं तदेषां पावनत्वव्यापनार्थं, न कामयवप्रति-  
शङ्केनाय ॥ १०२ ॥

भाषा—बलिवैश्वदेव आदि भूत यज्ञ, स्वधा ( तर्पण एवं धाद ) पितृ-  
यज्ञ होम देवयज्ञ, धर्ममर्थों का अध्ययन ब्रह्मयज्ञ और अतिथियों का सरकार  
मनुष्ययज्ञ होता है ये ही महायज्ञ हैं ॥ १०२ ॥

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेपाद्भूतबलिं हरेत् ।

अन्नं भूमौ श्रयच्छाण्डालिवायसेभ्यश्च निक्षिपेत् ॥ १०३ ॥

स्वगृहोक्तविधिना वैश्वदेव<sup>३</sup> होमं कृत्वा तद्व्यतिष्टेनान्नेन भूतेभ्यो बलि  
द्रेत् । 'अन्नं' प्रहणमपकृत्युदासार्थम् । तदनन्तरं यथाशक्ति भूतान् अन्नं स्वधा-  
च्छालिवायसेभ्यो निक्षिपेत् । अन्नादाहृमिपापरोगिपतिसेभ्यः । यथाह मनुः  
३।९२ )—'शुनां च पतितानां च श्वेषां पापरोगिणाम् । घ्रायतानां कृमीनां

च शनकैर्मिच्छिपेद्भुवि ॥' इति । एतच्च सायंप्रात कर्तव्यम् । 'अथ सायंप्रात सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' ( १।२।१ ) इत्याद्यलायनस्मरणात् । इह केचिद्देवदेवालयस्य कर्मणः—पुरुषार्थस्वमत्तसस्कारकर्मैव चेद्भूनि—'अथ सायंप्रात सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' इत्यसस्कारकर्मकता प्रतीयते । 'अथात पञ्चयज्ञा' ( गृ सू ३।१।१ ) इत्युपराक्रम्य तानेता-यज्ञानहरह कुर्वति' ( ३।१।४ ) इति नित्यस्वाभिधानात्पुरुषार्थैव चावगम्यते' इति,—तद्युक्तम्, पुरुषार्थस्वेऽसस्कारकर्मैवानुपपत्ते । तथा हि—द्रव्यसस्कारकर्मैवपक्षेऽनौर्धना वैश्वदेवकर्मणः, पुरुषार्थस्वे वैश्वदेवकर्मार्थता द्रव्यस्येति परस्परविरोधात्पुरुषार्थस्वमेव युक्तम् ।—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय त्रिपते ननु' इति । तथा—'वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्य-योऽनिधिरावनेत् । तस्मा अ न यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥' इति ( ३।१०८ ) मनुस्मरणात् । पुरुषार्थस्वे-वैश्वदेवालय कर्म न प्रतिपाकमावर्तनीयम् । तस्मात् 'अथ सायंप्रात' इत्यादिनोत्पत्तिप्रयोगी दशितौ, 'तानेता-यज्ञानहरह कुर्वति' ( गृ सू अ ३ ए १ ) इत्यधिकार विधिरिति सर्वमानवद्यम् ॥ १०३ ॥

भाषा—देवताओं के लिए ( वैश्वदेव ) होम करने के उपरान्त अवशिष्ट अन्न से भूतों के लिये बलि दे । कुत्ता, चाण्डाल और कौओं के लिये ( यथाशक्ति ) पृथ्वी पर अन्न फेंकना चाहिए ॥ १०३ ॥

अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम् ।

स्वाध्याय सततं कुर्यान्न पचेद्ममात्मने ॥ १०४ ॥

प्रथममन्नं पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथाशक्ति देयम् । अन्नाभाय कं दमूलफलादि, तस्याप्यभाव जल देयम्, अपि दादात् । स्वाध्याय सततं कुर्याद्विस्मरणार्थम् । न पचेदन्नमात्मने इति 'अन्न' ग्रहण सकलादनीयद्रव्यप्रदेशनार्थम् । कथं तर्हि ? देवताद्युद्देशेनैव ॥ १०४ ॥

भाषा—प्रतिदिन पितरों और मनुष्यों का भी अन्न दे ( अन्न के अभाव में ) जल दे । सतत स्वाध्याय करे । कवल अपने लिए ही भोजन न घनावे ॥

यालस्यवासिनीवृद्धगभिष्यातुरवन्यका ।

संभोज्यातिथिभृत्याश्च दम्पत्यो शेषभोजनम् ॥ १०५ ॥

परिणीता पितृगृह स्थिता स्ववामिनी । शेषा प्रसिद्धा । बालादीनतिथिभृत्याश्च सम्भोज्य भोजयित्वा दम्पत्यो शेषभोजन कर्तव्यम् । प्राणाग्निहोत्रविधि

१ पुनेन काश्यपमपि प्रतिपादितं भवति । २ चा-वह कुर्यात् । ३ प्राणे स्याद्यधिक ।

नारनीयादशमनापदि । मर्तं विपक्षं विहितं भक्षणं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १०५ ॥

भाषा—बालक, ( पिता के घर में रहने वाली ) विवाहिता स्त्री, वृद्ध, गर्भवती, रोगी, कन्या, अतिथि और सेवकों के भोजन कराने के बाद शेष भोजन पति-वर्गों को प्रदत्त करें ॥ १०५ ॥

आपोशनेनोपरिष्ठादधस्तादशनता तथा ।

अनग्रममृतं चैव कार्यमन्नं द्विजन्मना ॥ १०६ ॥

मुजानेन द्विजन्मना उपरिष्ठादधस्ताच्चापोशनाकथेन कर्मणाशमनममृतं च कार्यम् । 'द्विजन्म' प्रहणमुपनयनप्रभृतिसर्वाश्रमसाधारण्यार्थम् ॥ १०६ ॥

भाषा—भोजन करते समय द्विज को ऊपर और नीचे आपोशन ( मन्त्र पढ़कर आचमन ) करके अन्न को अनग्र और अमृत करना चाहिए ॥ १०६ ॥

अतिथित्वेन वर्णानां देयं शक्त्यानुपूर्वशः ।

अप्रणोद्योऽतिथिः सायमपि वारभूतृणोदकैः ॥ १०७ ॥

वेस्वदेशानन्तरं वर्णानां ब्राह्मणादीनामतिथित्वेन युगपद्ब्राह्मणानां ब्राह्मणाद्यानु-  
पूर्व्येण यथाशक्ति देयम् । सायंकालेऽपि अतिथिरागच्छति तदाऽमावप्रणोद्याऽ-  
प्रत्याख्येय एव । अद्यपदनीयं किमपि नास्ति, तथापि वारभूतृणोदकैरपि  
सत्कारं कुर्यात् । यथाह मनुः ( ४।१०१ )—'तृणानि भूमिदकं वाश्चतुर्थां  
च सूत्रता । प्तान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥' इति ॥ १०७ ॥

भाषा—यदि ब्राह्मणादि कई वर्णों के अतिथि हों तो वर्ण क्रम से यथा  
शक्ति भोजन देना चाहिए । यदि सायंकाल भी अतिथि आ जाय तो उसे  
निराश नहीं करना चाहिए अपितु मधुर वचन, भूमि, तृण और जल से  
सत्कार करना चाहिए ॥ १०७ ॥

सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा दातव्या सुमताय च ।

भोजयेच्चामतान्काले सखिसंयन्धियान्धवान् ॥ १०८ ॥

भिक्षवे सामान्ये भिक्षा दातव्या । सुमताय प्रसन्नचरिणे वतये च सत्कृत्य  
स्वस्तिवाच्य 'भिक्षादानमपूर्वम् ( गौतम ) इत्यनेन विधिना भिक्षा दातव्या ।  
भिक्षा च प्राप्तसमिताः । प्राप्तश्च मयूराण्डपरिमाणः, 'प्राप्तमात्रा भवेद्विवा  
पुष्कलं तच्चतुर्गुणम् । हंतस्तु त्रैश्वर्यमिह स्यादग्र तत्रिगुणं भवेत् ॥' इति शाकत-  
परम्परात् । भोजनकाले चागतान्सखिसंयन्धियान्धवान् भोजयेत् । सखायो

मित्राणि, सबन्धिनो येभ्य कन्या गृहीता वृत्ता वा, मातृपितृबन्धिनो बान्धवा ॥ १०८ ॥

भाषा—भित्तारी को और ब्रह्मचारी को सरकारपूर्वक भिक्षा देनी चाहिए । ( भोजन के ) समय पर भाये हुए मित्र, सबन्धी और बान्धव को भोजन करावे ॥ १०८ ॥

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपरुत्पयेत् ।  
सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु भोजनं सूतृतं वचः ॥ १०९ ॥

महान्तमुत्तान धीरिय महाज वा श्रोत्रियार्योपरुत्पयेत् 'भवद्-  
र्यमयमस्माभि परिकल्पित' इति । तत्प्रार्थयर्षं, ननु दानाय व्यापादनाय वा,  
यथा सर्वमेतद्भवदशोयमिति ; प्रतिश्रोत्रियमुत्तमभवात्, अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्ट  
धर्म्यमप्याचरेन्नतु' ( आ १५३ ) इति निषेधाच्च । तस्मात्सत्क्रियाद्येव कृतं  
व्यम् । सत्क्रिया स्वागतवचनासनपाद्यार्घ्याचमनादिवानम् । तस्मिन्पुनर्विष्टे  
पश्चादुपवेशनमन्वासनम्, स्वादु भोजन मिष्टमक्षम्, सूतृत वच 'धन्या वय-  
मद्य भवदागमनात्' इत्येवमादि । अश्रोत्रिय पुन 'अश्रोत्रियस्योदकासने'  
( ५३१ ) इति गौतमोक्त वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥

भाषा—श्रोत्रिय ( वेदपाठी ) अतिथि के लिए बड़ा बैल या बड़ा बकरा  
उसके सम्मुख प्रस्तुत करे । ( उसके उपरान्त ) उसका ( पाद्यार्घ्य, आचमन  
आमन आदि से ) स्वागत करे, ( उसके बैठने पर ) निकट बैठे, मधुर भोजन  
करावे और प्रिय वचन बोले ॥ १०९ ॥

प्रतिसंवत्सरं त्वर्ष्याः स्नातकाचार्यपार्थिवाः ।  
प्रियो विद्यालक्ष्य तथा यज्ञं प्रत्यृत्विजः पुनः ॥ ११० ॥

स्नातको विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, विद्याव्रतस्नातक इति । समाप्य  
वेदमसमाप्य व्रत यः समावर्तते स विद्यास्नातक, समाप्य व्रतमसमाप्य वेद  
य समावर्तते स व्रतस्नातक, उभय समाप्य य समावर्तते स विद्याव्रतस्ना-  
तक । आचार्य उक्तलक्षणः, पार्थिवो वचनमाणलक्षणः, प्रियो मित्रम्, विद्यालक्ष्यो  
जामातृ । चकाराच्छुशुरपितृव्यमानुलाना प्रहणम् । 'ऋत्विजो वृत्वा मधुपर्कमा  
हरेस्नातकायोपस्थिताय राज्ञे आचार्यश्चशुरपितृव्यमानुलादीनां च' इत्याश्ल-  
यन ( गृ सू अ १ ए ४ ) स्मरणात् । एते स्नातकादयः प्रतिसंवत्सर  
गृहमागता अर्ष्या मधुपर्केण पूज्या वन्दितव्या । 'अर्ध' शब्दो मधुपर्कं लक्षयति ।  
ऋत्विजश्चोक्तलक्षणाः, संवत्सरादवांगपि प्रतिपद्य मधुपर्केण सपूज्या ॥ ११० ॥

१. सवन्धा बान्धवा । २. याद्येन वर्तय्य ।

भाषा—स्नातक, भक्तियार्थ, राजा, प्रिय मित्र भीरं दामाद का प्रतिवर्ष ( भरणे घर गुलाबर ) अर्घ्य ( मधुपर्क ) द्वारा मरकार करे तथा शत्रुज की प्रत्येक वस्तु के समय मधुपर्क से पूजा करे ॥ ११० ॥

अध्वनीनोऽतिथिर्देवः श्रोत्रियो वेदपारगः ।

मान्यावेतौ गृहस्थस्य ब्रह्मलोकमभीप्सतः ॥ १११ ॥

अध्वनि वर्तमानोऽतिथिर्वेदितथ्यः । श्रोत्रियवेदपारगावध्वनि वर्तमानौ ब्रह्मलोकमभीप्सतो गृहस्थस्य मान्यायतिथी वेदितथ्यौ । यदप्यध्ययनमात्रेण श्रोत्रियमनयापि श्रुताध्ययनसंपन्नोऽत्र श्रोत्रियोऽभिधीयते । एकस्यायाध्यापन-  
घनो वेदपारगः ॥ १११ ॥

भाषा—पथिक को भतिथि ममज्ञाना चाहिए । श्रोत्रिय ( अर्थात् वेद पाठी ) और वेद का पंडित ( यदि पथिक हों तो ) ब्रह्मलोक प्राप्ति की कामना रखने वाले गृहस्थ के लिये ये दोनों मान्य अतिथि होते हैं ॥ १११ ॥

परपाककृच्चिन् स्यादग्निन्वामन्त्रणात्ते ।  
वाक्पाणिपादचापह्यं चर्जयेच्चोतिभोजनम् ॥ ११२ ॥

परपाके कृष्यैश्चासी स परपाककृच्चि, नैष प.पाककृच्चिः स्यात् । अग्निन्वे-  
नामन्त्रणं विना; 'अग्नि-घेनामन्त्रितां नावकानेत' ( कात्यायन ) इति स्मर-  
णात् । वाक्पाणिपादचापह्यं—वाक्च पाणी च पादौ च वाक्पाणिपादं तस्य  
चापह्यं, चर्जयेत् । वाक्चापह्यमभ्यानुतादिमापणम्, पाणिष्चापह्यं बहताना-  
स्फोटनादि, पादचापह्यं लङ्घनोच्छ्वनादि । चकाराग्नेश्चादिचापह्यं च चर्जयेत्;  
'न निरनोद्वरपाणिपादचक्षुर्वाचपादलानि कुर्यात्' ( १५० ) इति गौतमस्मर-  
णात् तथा अतिभोजनं च चर्जयेत् ; अनारागपादिदेतुभ्यात् ॥ ११२ ॥

भाषा—धेरु व्यक्ति के निमन्त्रण के बिना दूसरे के भोजन की इच्छा न करे । ( भोजन के समय ) वाणी, हाथ और पैर की चपलता न करे और नापरकता से अधिक भोजन न करे ॥ ११२ ॥

अतिथि श्रोत्रियं वृत्तमासीमान्तमनुभजेत् ।  
बह्वंशेषं सहासीत शौष्टीरंष्टथ बन्धुभिः ॥ ११३ ॥

पूर्वोक्तं श्रोत्रियातिथिं वेदपारगातिथिं च भोजनाद्विवा वृत्तं सीमान्तं पाद-  
नुभजेत् । ततो भोजनानन्तरमहःशेषं निष्टैरितिहासपुराणादिवेदिभि, इष्टैः  
हास्यकथाप्रवचनचतुरैः, यन्धुभिश्चानुकूलपकुण्डैः सहासीत ॥ ११३ ॥

भाषा—श्रोत्रिय ( वेदपढी एव वेद के पविद्धत ) अतिभि को ( भोजन द्वारा ) तृप्त करके ( गाव की ) सीमा तक पहुँचावे । ( भोजन के बाद ) दिन का शेष समय मभ्य जनों एव इष्ट ( काव्यकथा में चतुर ) बन्धुओं के साथ बैठकर बितावे ॥ ११३ ॥

उपास्य पश्चिमां संध्यां हुत्वाग्नीस्तानुपास्य च ।

भृत्यैः परिवृतो भुक्त्या नातितृप्याय संविशेत् ॥ ११४ ॥

तत् पूर्वोक्ते विधिना पश्चिमां संध्यानुपास्य, आहवनीयादीनग्नीर्गर्भिन वा हुत्वा तानुपास्योपरथाय, भृत्यै पूर्वोक्ते स्ववाभिन्त्यादिभिः परिवृतो नातितृप्याय भुक्त्वा, चकारात् भाय व्यथादिगृह्यचिन्ता निर्वर्तानन्तर मविशेत्स्वप्यात् ॥ ११४ ॥

भाषा—( तब पूर्वोक्त विधि से ) सायकालीन संध्योपासना करके, ( आहवनीय आदि ) अग्नियों में दहन करके उन अग्नियों की उपासना करे, तब भृत्यों के साथ भोजन करे किन्तु तृप्ति से अधिक भोजन न करे और तदुपरान्त शयन करे ॥ ११४ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ।

धर्मार्थकामान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत् ॥ ११५ ॥

ततो ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय पश्चिमैर्धर्मप्रदरे प्रबुद्धात्मनो हितं कृत करिष्यमाणं च, वेदार्थसंशयाश्च चिन्तयेत् तदानीं चित्तस्याव्याकुलत्वेन तत्रप्रतिभो-नयोग्यत्वात् । ततो धर्मार्थकामान्स्वोचिनकाले यथाशक्ति न परिश्रजेत् । यथासम्भवं सेवेतेत्यर्थं, पुरुषार्थत्वात् । यथाह गौतम ( १।४६ ४७ )—‘न पूर्वोक्तप्रव्याहाराह्वानकलान्कुर्यात् धर्मार्थकामेभ्यः’, ‘तेषु धर्मोत्तरं स्यात्’ इति । अत्र यद्यप्येतेषां सामान्येन सेवनमुक्तं, तथापि कामार्थयोर्धर्मविरोधेनानुष्ठानं तयोर्धर्ममूलत्वात् । एव प्रतिदिनमनुष्ठेयम् ॥ ११५ ॥

भाषा—ब्राह्म मुहूर्त में उठकर अपने ( किए गए एव किये जाने वाले ) हित का विचार करे । धर्म, अर्थ और काम को उनके उचित समय पर यथाशक्ति परित्याग न करे ( अपितु उनका सेवन करे ) ॥ ११५ ॥

त्रिधाकर्मवयोबन्धुवित्तैर्मान्या यथाक्रमम् ।

एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि धार्थके मानमर्हति ॥ ११६ ॥

विधा पूर्वोक्ता, कर्म श्रौत स्मार्त च, वय आत्मनोऽतिरिक्त सहायता वा ऊर्ध्वं, बन्धु रजजनसपत्ति, वित्त ग्रामरत्नादिकम्, एतैर्युक्ता श्रेण मान्या

१ नातितृप्याय । २ अग्निमग्नीन्वा । ३. प्रतिभासन । ४. बन्धु-र्वहस्वजन । ५ पक्षशरीर ।

पूजनीयाः । एतैर्विद्याकर्मवन्धुवित्तैः प्रभूतैः प्रवृद्धैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा युक्त-  
शूद्रोऽपि वार्धकं अशीतेरूपं मानमर्हति; 'शूद्रोऽप्यशीतिको वर' ( ११७ ) इति  
गौतमस्मरणात् ॥ ११६ ॥

भाषा—विद्या, कर्म, जायु, वन्धुओं और धन से युक्त मनुष्य क्रमानुसार  
माननीय होते हैं । इन सब से ( या किसी एक से ) पक्षा होने पर वृद्धावस्था  
में शूद्र भी आदरणीय होता है ॥ ११६ ॥

वृद्धभारिनृपस्नातस्त्रीरोगिचरचक्रिणाम् ।

पन्था देयो नृपस्तेषां मान्यः स्नातश्च भूपतेः ॥ ११७ ॥

वृद्धः पक्षकेशः प्रसिद्ध, भारी भाराक्रान्त, नृपो भूपतिः न क्षत्रियमात्रम्,  
स्नातो विद्याप्रतोभयस्नातकः, स्त्री प्रसिद्धा, रोगी व्याधिताः, वरो विवाहोद्यतः,  
चक्रो शाकटिकः । चकारान्मत्तो-मत्तादीनां ग्रहणम्, 'वालवृद्धमत्तोन्मतोपहत-  
देहभाराक्रान्तस्त्रीस्नातकप्रमत्तितेभ्य' इति शशुस्मरणात् । पृथः पन्था देयः ।  
एतेष्वभिमुष्वायानेषु स्वयं पथोऽपक्रामेत् । वृद्धादीनां राजा सद्यः पथि समवाये  
राजा मान्य इति तस्मै पन्था देयः । भूपतेरपि स्नातको मान्य, 'स्नातक'ग्रहण  
स्नातकमात्रप्राप्त्यर्थं, न ब्राह्मणाभिप्रायेण, तस्य सदैव गृह्यत्वात् । यथाह शशु —  
'अथ ब्राह्मणायाम्रे पन्था देयो राज्ञ इत्येके । तच्चानिष्टं सुरज्यैश्च ब्राह्मणो राजा-  
नमतिशेते तस्मै पन्था' इति । वृद्धादीनां परस्परं पथि समवाये वृद्धेतराद्यपेक्षया  
विद्यादिभिर्वा विनोषो द्रष्टव्यः ॥ ११७ ॥

भाषा—वृद्ध, बोजा होने वाले, राजा, स्नातक ( मस्यवारी ), स्त्री, रोगी,  
वर और चक्र ( सुराकार ) के लिये मार्ग छोड़ देना चाहिए । इन सब  
में राजा सर्वाधिक मान्य होता है और स्नातक राजा के लिये भी पूज्य  
होता है ॥ ११७ ॥

इज्याप्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।

प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥ ११८ ॥

वैश्यस्य क्षत्रियस्य च, चकाराद् ब्राह्मणस्य द्विजानुलोभानां च, याजाप्ययन-  
दानानि साधारणानि कर्माणि, ब्राह्मणस्याधिकानि प्रतिग्रहर्षोजनाध्यापनानि ।  
तथेति । स्मृत्यन्तरोक्तवृथुपसमहः । यथाह गौतम ( १०१५-६ )—'वृथिवा-  
जिज्ये वा स्वयं कृते' 'इत्सीद् च' इति । अध्यापनं तु क्षत्रियवैश्ययोर्ब्राह्मण-  
प्रेरितयोर्भवति, न स्वैच्छया, 'जापारून्ते ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः',

१ स्नातकम् । २ नृपो राजा न । ३. स्वाभिमुष्वायानेषु । ४ याजना-  
धिपतिः ॥ ।



अनुगमनं शुभ्रूपा, समासे ब्राह्मणो गुर' ( ७११, २१२ ) इति गौतमस्मरणात् ।  
 एतान्यनापदि ब्राह्मणस्य षट् कर्माणि । तत्र श्रीणीऽयादीनि धर्मार्थानि, श्रीणि  
 प्रतिग्रहादीनि वृत्त्यर्थानि, 'पण्णा तु कर्मणामस्य श्रीणि कर्माणि जीविका ।  
 याजनाध्यापने चैव विशुद्धाश्च प्रतिग्रह ॥' इति ( १०१६ ) मनुस्मरणात् ।  
 अत इत्यादीन्व्यवश्य कर्तव्यानि न प्रतिग्रहादीनि, 'द्विजातीनामभ्ययनमिष्या  
 दान', 'ब्राह्मणस्याधिका प्रवचनयाजनप्रतिग्रहा', 'पूर्वेषु नियम' ( १०१३ )  
 इति गौतमस्मरणात् ॥ ११८ ॥

भाषा—यज्ञ करना, ( वेदादि का ) अभ्ययन और दान—ये कर्म  
 क्षत्रिय और वैश्य को करने हाते हैं । ब्राह्मण के लिये दान लेना, यज्ञ करना  
 और अध्यापन ये कर्म ( क्षत्रिय और वैश्य से ) अधिक होते हैं ॥ ११८ ॥

१ प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम् ।  
 कुसीदकृषिवाणिज्यपशुपाल्यं विशाः स्मृतम् ॥ ११९ ॥

क्षत्रियस्य प्रजापालन प्रधान कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च । वैश्यस्य कुसीद-  
 कृषिवाणिज्यपशुपालनानि वृत्त्यर्थानि कर्माणि । कुसीदं वृद्ध्वर्थं द्रव्यप्रयोग,  
 लाभार्थं कृषिकृष्यौ वाणिज्यम् । शेष प्रतिग्रहम्, 'शस्त्रास्त्रभृत्त्व क्षत्रस्य वणिकृष-  
 शुकृषी विशा । भाजीवनार्थं धर्मस्तु दानमभ्ययन यज्ञि ॥' इति ( १०१७ )  
 मनुस्मरणात् ॥ ११९ ॥

भाषा—प्रजा का पालन करना क्षत्रिय का प्रधान कर्म है । वैश्य के  
 लिये व्याज लेना, कृषि, वाणिज्य और पशु पालन ( वृत्त्यर्थक ) कर्म बताए  
 गये हैं ॥ ११९ ॥

शूद्रस्य द्विजशुभ्रूपा तयाऽजीग्व्यणिग्नवेत् ।  
 शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन् ॥ १२० ॥

शूद्रस्य द्विजशुभ्रूपा प्रधान कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च । तत्र ब्राह्मणशुभ्रूपा  
 परमो धर्म, 'विप्रसेवेव शूद्रस्य विशिष्ट कर्म कीर्त्यते' ( १०१२३ ) इति  
 मनुस्मरणात् । यदा पुनर्द्विजशुभ्रूपया जीवितु न शक्नोति तदा वणिगृत्त्या  
 जायेत् । नानाविधैर्वा शिल्पैर्द्विजानां हित कुर्वन् । यादृशे कर्मभिर्द्विजातिशु-  
 भ्रूपायामयोऽथ न भवति तादृशानि कर्माणि कुर्वन्वित्यर्थः । तानि च देवलो-  
 कानि—शूद्रधर्मो द्विजातिशुभ्रूपा पापवर्जनं कलादिपोगकर्षणपशुपालनभारो  
 दहनपण्यव्यवहारविभ्रकर्मनृत्यगीतवेणुवीणामुरजमृदङ्गवादनदीनि ॥ १२० ॥

भाषा—शुद्ध के लिये द्विजातियों की सेवा प्रधान कर्म है; उससे जीविका न चलने पर वणिग्वृत्ति का आश्रय ले अथवा द्विजातियों के अनुकूल आचरण करते हुए, अनेक प्रकार के शिल्पों द्वारा जीवन निर्वाह करे ॥ १२० ॥

भार्यारतिः शुचिभृत्यभर्ता श्राद्धक्रियारतः ।

नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न ह्यपचेत् ॥ १२१ ॥

किंच, भार्यावामेव न साधारणस्त्रीषु परस्त्रीषु वा रतिरभिगमनं यस्य स तथोक्तः । शुचिः बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः द्विजवत्, भृत्यादेर्भर्ता, श्राद्धक्रियारतः, श्राद्धानि नित्यनैमित्तिककाम्यानि, क्रियाः स्नातकव्रतान्यविरद्धानि, तेषु रतः । 'नम' इत्यनेन मन्त्रेण पूर्वोक्तापञ्चमहायज्ञानहरहरं ह्यपचेदनुतिष्ठेत् । नमस्कारमन्त्रं च केचित्—'देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च । नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमो नमः ॥' इति वर्णयन्ति । 'नम.' इत्यन्ये । तत्र वैश्वदेवं लौकिकेऽग्नी कर्तव्यं, न वैवाहिकेऽग्नावित्याचार्याः ॥ १२१ ॥

भाषा—अपनी पत्नी में ही रत रहे. (द्विजों के समान ही) पवित्र रहे, भूतों का पालन-पोषण करे, श्राद्ध कर्म करे, त्यों नमस्कार के, मन्त्र के साथ पञ्च महायज्ञों को न छोड़े ॥ १२१ ॥

इदानीं साधारणधर्मानाह—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

हिंसा प्राणिपीडा, तस्या अकरणमहिंसा । सत्यमवाग्निपीडाकरं यथार्थवचनम्, अस्तेयमदत्तानुपादानम्, शौचं बाह्यमाभ्यन्तर च, बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां नियतविषयवृत्तितेन्द्रियनिग्रहः । यथादासि प्राणिनामन्नोदकादिदानेनार्तिपरिहारो दानम् । अन्तःकरणसंयमो दम । आपन्नरक्षणं दया । अपकारेऽपि चित्तत्याविकारः क्षान्तिः । इत्येते सर्वेषां पुरुषाणां प्राङ्गणाद्याचण्डालान्तं धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

भाषा—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, दान देना, (अन्तःकरण का) संयम, (दुःखियों पर) दया और धर्म धारण करना—ये सभी स्वस्थियों के लिये धर्म के साधन हैं ॥ १२२ ॥

धयोबुद्धयर्थेयान्येषथुताभिजन्कर्मणाम् ।

आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्वामशठां तथा ॥ १२३ ॥

वयो ब्राह्मण्यौवनादि बुद्धिर्नैसर्गिको लौकिकपैदिकव्यवहारेषु अर्धो वित्त  
गृहश्रेत्रादि वाक वचनम्, वेदो ब्रह्मब्राह्मणविन्यास, श्रुत पुरुषार्थशास्त्रश्रव-  
णम्, अभिजन कुलम्, कर्म वृत्त्यर्थं प्रतिग्रहादि, एतथा वय प्रभृतीनां सदसी  
मुचिता वृत्तिमाचरण भाष्येस्वीकुर्यात् । यथा बृद्ध स्वोचितां न यौवनोचि-  
ताम् । एव बुद्ध्यादिष्वपि योज्यम् । अजिह्वामवक्राम्, अशगममरसराम् ॥ १२३ ॥

भाषा—आयु, बुद्धि, धन, वाणी, वैप, शास्त्रज्ञान एव कर्म क उपयुक्त  
ऐसी जीवन वृत्ति म्भीकार करनी चाहिए, जो देही और मरसर युक्त न  
होवे ॥ १२३ ॥

एव स्मृतानि कर्माण्यनुक्रमेदानीं श्रौतानि कर्माण्यनुक्रामति—

प्रैवापिकाधिरान्नो य स हि सामं पिबेद् द्विज ।

प्राक्सौमिकी क्रिया कुर्याद्यस्यान्नं वापिर्जं भवेत् ॥ १२४ ॥

त्रिवर्षं जीवनपर्यन्तं प्रैवार्षिक अधिक वा अन्न यस्य स एव सोमपान  
कुर्यान्नातोऽह्वयधन, ( मनु १११८ )—‘अत्र स्वहृषीषसि द्रव्ये य सोम  
पिबति एतच्च काम्याभिषायण निश्चयस्य चाग्रयकर्तव्यत्वान्न नियम । यस्य  
वर्षं जीवनपर्याप्तमन्न भवति स प्राक्सौमिकी सोमाश्राक् प्राक्पोम, प्राक्सोम  
भाक् प्राक्सौमिक्य । वास्ता ? अग्निहोत्रदर्शनपूर्वमाश्राग्यणपशुचातुर्मास्यानि  
काम्यानि कर्माणि तद्विकाराश्च । ता क्रिया कुर्यात् ॥ १२४ ॥

भाषा—तान वर्ष तक पान स अधिक अन्न रपने वाला द्विज सोमपान  
करे । जिसके यहाँ कबल एक वर्ष के लिये अन्न हो वह ( अग्निहोत्र, दर्शन-  
माम, आश्राग्यण पशु चातुर्मास्य आदि ) सोम यज्ञ से पहले ही जाने वाली  
क्रियाएँ करे ॥ १२४ ॥

एव काम्यानि श्रौतानि कर्माण्यभिषायेदानीं निम्ना याह—

प्रतिसंवत्सरं सोम पशु प्रत्ययनं तथा ।

कर्तव्याश्राग्यणेष्टिश्च चातुर्मास्यानि चैव हि ॥ १२५ ॥

सवत्सरे सवत्सरे सोमयाग कार्य । पशु प्रत्ययन अयने अयने दक्षिणोत्तर  
रसजिते निरुद्ध पशुयाग कार्य । तथा प्रतिसवत्सर वा पशुना सवत्सरे सव-  
त्सरे यत्न पशु पशु वा मासेष्टि येक' इति वीधाघनरमरणात् । आश्राग्यणे  
ष्टिश्च सश्रोत्रोत्पी कर्तव्या । चातुर्मास्यानि च प्रतिसवत्सर कर्तव्यानि ॥ १२५ ॥

१ व्यवहारेषु ज्ञान । २ वचनम् । ३ स मयाग । ४ पूर्णमाम  
पशु । पूर्णमासचातुर्मास्यानि । ५ मास्यानि कर्मानि ।

भाषा—प्रतिवर्षं सोमयज्ञं करे, धयन-अयन (दक्षिणायन और उत्तरायण) में निरूढपशुयाग करे। (नये अन्न की उत्पत्ति पर) भाग्यनेष्टि करे और चातुर्मास्ययज्ञ प्रतिवर्षं करना चाहिए ॥ १२५ ॥

एषामसंभवे कुर्यादिष्टि-वैश्वानरी द्विजः—

हीनकल्पं न कुर्वीत सति द्रव्ये फलप्रदम् ॥ १२६ ॥

एषां सोमप्रभृतीनां पूर्वोक्तानां नित्यानां कथंचिदसंभवे तत्काले वैश्वानरी मिष्टि कुर्यात् । किंच योऽयं हीनकल्प उक्तः, सति द्रव्येऽसौ न कर्तव्यः । यच्च फलप्रदं काम्यं तद्धीनरूपं न कुर्वीत न रत्तव्यमिति ॥ १२६ ॥

भाषा—यदि ये (सोमयाग आदि) संभव न हो सकें तो द्विज को वैश्वानरी इष्टि करनी चाहिए। धन रहने पर यह हीनकल्प नहीं करना चाहिए तथा काम्य हीनकल्प तो करना ही नहीं चाहिए ॥ १२६ ॥

चाण्डालो जायते यज्ञकरणाच्छूद्रभिक्षितात् ।

यज्ञार्थं लघ्वमददद् भासः काकोऽपि वा भवेत् ॥ १२७ ॥

यज्ञार्थं शूद्रधनयाचनेन स ऊर्मान्तरे चाण्डालो जायते । यः पुनर्न्यायं याचितं नै सर्वं प्रयच्छति न त्यजति, स भासः काकोऽपि वा वर्षगतं भवेत् । यथाह मनुः (११।२५)—‘यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यः सर्वं न प्रयच्छति । स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥’ इति । मायः शकुन्तः । काकः प्रसिद्धः ॥ १२७ ॥

भाषा—यज्ञ के लिए शूद्र से धन मांगने पर (द्विज) दूधरे जन्म में चाण्डाल होकर जन्म लेता है। यज्ञ के लिये प्राप्त सम्पूर्ण धन को न दे देने वाला भास (पर्जा) या काका होता है ॥ १२७ ॥

कुशूलकुम्भीधान्यां वा ज्योत्स्निकोऽथस्तनोऽपि वा ।

कुशूलं कोष्ठकं, कुम्भी उष्ट्रिका, कुशूलं च कुम्भी च कुशूलकुम्भी, ताभ्यां परिमितं धान्यं परयत् त तपोत्तः कुशूलधान्यः स्यात्, कुम्भीधान्यो वा । तत्र स्वकुटुम्बपोषणे द्वादशाहमाग्रयति धान्यं पर्यारिन् स कुशूलधान्यः । कुम्भीधान्यस्तु स्वकुटुम्बपोषणे पचद्दमाग्रयति धान्यः । इदं पर्याप्तं धान्यम-स्यास्तीति उच्यते । श्यामं धान्यमिदं अतस्तत्, च विदुः अतस्तत् परयत् नोऽध्वजनः ॥

कुशूलधान्यादिसंभयोवायमाद—

जीवेद्वापि शिलोऽष्टेन धेयानेषां परः परः ॥ १२८ ॥

१. न परिच्यति ।

शाखादिनिपतितपरिष्यत्सञ्चारीग्रहणं शिलम्, एकैकस्य परिष्यत्स्य ऋणस्योपादानमुच्छ्रं शिलं चोच्छ्रं शिलोच्छ्रम्, तेन शिलेनोच्छ्रेण वा । कुशूलधान्यादिश्चतुर्विधो गृहस्थो जीवेत् । एषा कुशूलधान्यादीनां ब्राह्मणानां गृहस्थानां चतुर्णां पर पर पश्चात्पश्चात्पठित श्रेयान् प्रशस्यतम । एतच्च पद्यं द्विजं प्रकृतस्तथापि ब्राह्मणस्यैव भवितुमर्हति, विद्योपशमादियोगात् । तथा च मनुना ( ४१२ )—'अद्रोहणैव भूतानामवपद्रोहेण वा पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवदनापदि ॥' इति विप्रमेव प्रस्तुत्य मनु ( ४१७ )—'कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा' इत्याद्यभिहितम् । एतच्चाति-  
स्यत यायावर प्रत्युच्यते, न विप्रमात्राभिप्रायण । तथा सति—'त्रैवापिवावि-  
नासो य स हि सोम विवेद् द्विज' ( भा १२६ ) इत्यनेन विरोधः । तथा च गृहस्थानां द्वैविध्यं तत्र तत्रोक्तम् । यथाह देवल — द्विविधो गृहस्थो यायावरः १-  
शाखीग्रहणं तयोर्यायावर प्रवरो याजनाप्यापनप्रतिग्रहणैक्यमचयवर्जनात् ।  
गृहस्थाधिके प्रेष्यचतुष्पदगृहग्रामधनधान्ययुक्तो लोकानुवता शाखीनः इति ।  
शाखीनोऽपि चतुर्विधः—याजनाप्यापनप्रतिग्रहणैक्यवाण्यप्याण्यप्याप्यै षड्भिर्जा-  
शयक, याजनादिभिस्त्रिभिरन्य, याजनाप्यापनाभ्यामपर, चतुर्थसवप्यापने-  
नेव । तथाह मनु ( ४१९ )—'वृकर्मको भवत्येषां त्रिभिरन्य प्रवर्तत ।  
द्वाभ्यामेकश्चतुष्पदस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥' इति । अत्र च 'प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे'  
( अ ११८ ) इत्यादिना शाखीनस्य वृत्तयो दर्शिता । यायावरस्य 'जीवेद्वापि  
शिलोच्छ्रेण' इति ॥ १२८ ॥

भाषा—कोटिली भर ( चारह दिन के खर्चे भर ) अ-न वाले, घड़ भर ( दू दिन के खर्च भर ) अ-न वाले, तान दिन के खर्चे भर अन्न वाले, दिन भर के भोजन योग्य अ-न वाले और एतों में गिरे हुए अ-न को खीन कर जीवन निर्याह करन वाले व्यक्तिओं में पहले वाले से बाद वाले उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं ॥

इति गृहस्थधर्मप्रकरणम् ।

### अथ स्नातकधर्मप्रकरणम्

एव शीत स्नानानि कर्माण्यभिधायदानीं गृहस्थस्य स्नानादारभ्य ब्राह्मण-  
स्यावश्यकतांशानि विधि प्रतिषेधात्मकानि सात्मसङ्कष्टरूपाणि ग्यानकर्मणा  
याह—

न म्नाध्यायविरोध्यर्थमीहेत न यतस्तत ।

न विद्वद्भ्रमसङ्गेन संतोषी च भवेत्सदा ॥ १२९ ॥

१ शाखादिनिपतित । २ ब्राह्मणानां चतुर्णां । ३ श्रेयानुद्दिष्टतम ।  
४ प्रकृत प्रकरणप्राप्त प्राकृत । ५ पुरस्कार्य । ६ नातिमपन्नमपत् ।

ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहाद्योऽर्थप्राप्त्युपाया दर्शिताः तत्र विशेष उच्यते—  
स्वाध्यायविरोधिनमर्थमप्रतिषिद्धमपि नैहेत नान्विच्छेत् । न यतस्ततः न यतः  
कुतश्चिद्विदिताचारान्न । विरुद्धप्रसङ्गेन विरुद्धमयाज्ययाजनादिप्रसङ्गो नृत्तगी-  
तादिः । विरुद्धं च प्रसङ्गश्च विरुद्धप्रसङ्गं तेन । नार्थमाहेतेति संयद्धयते । नञ  
आवृत्तिः प्रत्येकं पर्युदासार्थं । सर्वत्राप्यस्मिन्स्नातकप्रकरणे नञ्शब्दः प्रत्येक  
पर्युदासार्थं एव । किञ्चिदर्थालाभेऽपि संतोषी परितृप्तो भवेत् । चकारासयतश्च  
'सतोषं परमास्थाय सुवार्थां संयतो भवेत्' ( ४११३ ) इति मनुस्मरणात् ॥

भाष्य—अपने स्वाध्याय के विरोधियों से धन अर्जित करने की इच्छा  
न करे, इधर-उधर अविचारित रथान से या ( अपने कर्म के ) विरुद्ध कार्य  
( जैसे नृत्य-गीत आदि ) द्वारा धन कमाने की अभिलाषा न रखे । सदैव  
सन्तोष रखे ॥ १२९ ॥

कुतश्चिद्विदित धनमन्विच्छेदित आह—

राजान्तेवासियाज्येभ्यः सीदन्निच्छेद्धनं क्षुधा ।

दम्भिहेतुकपात्रण्डियकवृत्तींश्च वर्जयेत् ॥ १३० ॥

क्षुधा सीदन् पीड्यमानः स्नातकः राज्ञो विदितवृत्तान्तात्, अन्तेवामिनो  
धनपसाणलक्षणात्, याज्यात् याजनाहार्त्थं, धनमाददीत । 'क्षुधा सीदन्' इत्य-  
नेन शिभागादिप्राप्तकुटुम्बपोषणपर्याप्तधनो न कुतश्चिदर्थमन्विच्छेदिति गम्यते ।  
किञ्च दम्भिहेतुकादीन् सर्वकार्येषु वर्जयेत् । चकाराद्विकर्मस्थवैद्यालप्रतिकान्दा-  
यान् । यथाह मनुः ( ४१३० )—'पात्रण्डिनो विकर्मस्थान्वैद्यालप्रतिकान्दान् ।  
हेतुकान्वकवृत्तींश्च पात्रमात्रेणापि नार्चयेत् ॥' इति । लोकरजनार्थमेव कर्मानुष्ठानं  
दर्शी, युक्तिश्रलेन सर्वत्र सहायकारी हेतुकः, त्रैविद्यविरुद्धपरितृप्तीताश्रमिण-  
पात्रण्डिनः । यकवदस्य वर्तनमिति यकवृत्तिः । यथाह मनुः ( ४११९६ )—  
'अयोद्विषैर्ह्येतिकः स्वार्थसाधनतापराः । राटो मिथ्याविनीतश्च यकवृत्ति-  
रदाहृतः ॥' इति । प्रतिषिद्धसेविनो विकर्मस्थाः । विद्यालो माज्जोरस्तस्य घतं  
स्वभावो यस्यासौ वैद्यालप्रतिकः । तस्य लक्षणमाह मनुः ( ४११९५ )—'घर्म-  
ध्वजी सदा लुब्धश्चापिको लोकदम्भकः । वैद्यालप्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिय-  
धरः ॥' इति । राटः=सर्वत्र यकः । एतैः संसर्गनिषेधादेव स्वयमेवभूतो न  
भवेदिति गम्यते ॥ १३० ॥

भाष्य—भूय से व्याकुल होने पर राजा, अन्तेवासी और पशु कराने  
योग्य व्यक्ति से धन प्राप्ति की इच्छा करे, परन्तु अहकारी, मंदाय की दृष्टि

रम्यने वाले, पाखंडी, और बगुलाभगत के निकट ( धन की इच्छा से ) न जावे ॥ १३० ॥

शुक्लाम्बरधरो नीचकेशश्मश्रुनखः शुचिः ।  
न भार्यादर्शनेऽशनीयान्नैकवासा न संस्थितः ॥ १३१ ॥

किंच, शुक्ले धीते भम्बरे चासती धरतीति शुक्लाम्बरधरः । केशाश्च रम-  
श्रुणि च नखाश्च केशरमश्रुनखम्, नीच निरुक्त केशरमश्रुनखं यस्यासौ तथोक्तः ।  
शुचिरन्नर्बहिश्च स्नानानुलेपनधूपस्नानादिभिः सुगन्धि च भवेत् । यथाह गौतमः  
( १२ )—'स्नातको निरय शुचि सुगन्धि. स्नानशील.' इति । सुगन्धिव-  
विधानादेव निगन्धमाह्वयत्विषेधः । तथा च गोभिलः—'नागन्धां स्रज  
धारयेदग्न्यग्र हिरण्यरत्नस्रज' इति । सदा स्नातक एवभूतो भवेत् । एतच्च सति  
सभवे, 'न जौगंमलवद्वासा भवेच्च त्रिभवे सति' ( मनु. ५।३५ ) इति स्मरणात् ।  
न च भार्यादर्शने तस्यां पुरतोऽवस्थितायामशनीयात् ; अशनीयवदपरयोर्वर्ति-  
भयान् । तथा च शुचिः—'जायाया अग्ने नारनीयादर्शनीयवदपर्यं भवति' इति ।  
अनस्तथा सठ भोजन दूरादेव निरस्तम् । न चैक्यामा, न संस्थितः 'अशनी-  
यात्' इति नवधत्ते ॥ १३१ ॥

भाषा—स्वच्छ वस्त्र धारण करे, केश, दाढ़ी-मूँछ और नखों को काट कर  
छुटा रख, ( स्नान एवं सुगन्धिलेप द्वारा ) पवित्र रहे । पानी के सामने, एक  
वस्त्र पहन कर और खड़ा होकर भोजन न करे ॥ १३१ ॥

न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं वदेत् ।  
नाहितं नानृतं चैव न स्तेन स्यान्न चार्धुपी ॥ १३२ ॥

किंच, कदाचिदपि सशय प्राणविपत्तिसशयावह कर्म न प्रपद्येत न कुप्यात् ।  
यथा स्यान्नचौराद्युपहतदशाक्रमणादि । अकस्मात्प्रकारणं किञ्चिदपि परप  
अप्रियं उद्वेगकर वचन न वदेत् । न नाहितं, नानृतं च अप्रियमपि, चकारात्  
अमर्यं भीममकर च, अकस्मात् वदेदिति सवधत्ते । एतच्च परिहासादि-  
स्वतिरेकेण, 'गुरुणापि सम हास्य कर्तव्यं कुटिलं विना' इति स्मरणात् । न च  
स्तेनः अन्यदीयस्यादत्तस्य ग्रहीता न स्यात् । न चार्धुपी स्यात् । प्रतिविद्-  
वृत्त्युपपत्ती वाच्ये ॥ १३२ ॥

भाषा—जिम कार्य में प्राणों का सशय हो उस कर्म में प्रयत्न न होवे;  
अकस्मात् ( विना कारण के ) अप्रिय वचन न बोलें, अहितकारी और अमर्य

( तथा भशलील ) वचन भी न बोले; चोर न बने एवं ( निषिद्ध ) श्राज से वृत्ति न चलावे ॥ १३२ ॥

दाक्षायणी ब्रह्मसूत्री वेणुमान्सकमण्डलुः ।

कुर्यात्प्रदक्षिणं देवमृद्गोविप्रवनस्पतीन् ॥ १३३ ॥

किंच, दाक्षायणं सुवर्णम्, तदस्यास्तीति दाक्षायणी । ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं तदस्यास्तीति ब्रह्मसूत्री, वेणुव्यष्टिमान्, कमण्डलुमान्, 'स्यात्' इति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । अत्र च ब्रह्मचारिप्रकरणोक्तस्यापि यज्ञोपवीतस्य पुनर्वचनं द्वितीयप्राण्यर्थम् । यथाह वसिष्ठः—'स्नातकानां तु निशं स्यादन्तर्वासस्तथोत्तरम् । यज्ञोपवीते ह्ये यष्टिः सोदकश्च कमण्डलुः ॥' इति । अत्र च दाक्षायणीति सामान्याभिधानेऽपि कुण्डलधारणमेव कार्यम् ; 'वेणुवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रीकमे च कुण्डले ॥' ( ४।३६ ) इति मनुस्मरणात् । तदा देवं देवप्रतिमाम्, मृद तीर्थाद्बुद्धतां, गां, ब्राह्मणं, वनस्पतिं अश्वत्थादिकं प्रदक्षिणं कुर्यात् । एतान्प्रदक्षिणतः कृत्वा प्रवनेदिरथः । एवं चतुस्पथादीनपि 'मृदं गां देवतां विप्रं घृतं मधु चतुस्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥' ( ४।३९ ) इति मनुस्मरणात् ॥ १३३ ॥

भाषा—सदैव दाक्षायण ( सोने का कुण्डल ),- यज्ञोपवीत, डंडा और कमण्डलु लिये रहे । देवमूर्ति, ( तीर्थ की ) मिट्टी, गाय, ब्राह्मण और ( वनस्पत आदि ) वृक्षों की परिक्रमा करे ॥ १३३ ॥

न तु मेहेन्नदीछायावर्त्मपोष्ठांश्चुभस्मसु ।  
न प्रत्यग्न्यर्कगोसोमसंध्यान्मुखीद्विजन्मनः ॥ १३४ ॥

नद्यादिषु न मेहेत् न मूर्धपुरीषोस्तर्गं कुर्यात्, एवं श्मशानादावपि । यथाह बह्वः—'न गोमयकृष्टोत्साहलचितिरमदानवर्मीकवोमंखलगोष्ठयिलपर्वतपुलिनेषु मेहेत् ; मृताधारत्वात्' इति । तथाग्न्यादीन्प्रति अग्न्यादीनामभिमुखं न मेहेत्, नाप्येतान्परथन् । यथाह गौतमः ( ९।१२ )—'न पाथ्यग्निरिप्रादिः पापोदेवतायाश्च प्रतिपरवन्वा मूर्धपुरीषामेष्पान्युदस्येत्, न देवताः प्रति पादौ प्रसारयेत्' इति । एतद्देश्यपतिरेकेण भूमिमयशियैरुगैरग्नयांश्च मूर्धपुरीषे कुर्यादिति । यथाह वसिष्ठ—'परिषेष्टितारा भूमिमयशियैरुगैरग्नयांश्च मूर्धपुरीषे कुर्यात्' इति ॥ १३४ ॥

१. तद्दान् ; तद्धारणात् । २. एवं देवं देवतायां । ३. प्रदक्षिणतः ।  
४. प्रत्यर्कगोसोमः । ५. श्मशानपर्वमीक । ६. नैतान् प्रति । ७. मेहन कार्यं ।



भापा—नदी, छाया, भाग, गोशाला, जल और मरुत में मूत्र एवं मल का त्याग न करे । अग्नि, सूर्य, गाय, चन्द्रमा, संघ्या, जल, स्त्री और द्विज की ओर मुँह कर भी ( मूत्र एवं पुरीष ) न करे ॥ १३४ ॥

नेष्टेताकं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनाम् ।

न च मूर्धं पुरीषं वा नाशुची राहुतारकाः ॥ १३५ ॥

नैवाकंमीष्टेतेति यद्यप्यत्र सामान्यनोक्तं, तथाप्युदयास्तामयराहुप्रस्तोदक-  
प्रतिविम्बमप्याह्वर्तिन एवादिष्यमावेक्षणं निषिध्यते, न सर्वदा । यथोक्तं मनुना  
( ४।३७ )—'नेष्टेतोद्यन्तमादिष्यं नाम्न यन्तं कदाचन । नोपसृष्टं न वारिरथं  
न मर्ष्यं नभसो गतम् ॥' इति । उपभोगादन्यत्र नग्नां स्त्रियं नेष्टेत । न नग्नां  
स्त्रियमीष्टेतान्यत्र मैथुनात्' इत्याध्यायनः । संसृष्टमैथुनां कृतोपभोगाम् ।  
उपभोगान्ते नग्नामपि नेष्टेत । चकराज्जनादिकमाचरन्तीम् । तथा च मनुः  
( ४।४३ )—'नाशनीयाद्गार्थया सार्धं नैनामीष्टेत चारनतीम् । सुवर्ती जूम्भ-  
माणां च न वासीनां यथासुखम् ॥ नाजयन्तीं स्वके नेष्टे न चाम्यक्तामनाशु-  
ताम् । न परयेत्प्रभवन्तीं च श्रेयस्कामो द्विजोत्तमः ॥' इति । मूत्रपुरीषे च न  
परयेत् । तथा अशुचिः मन् राहुतारकाश्च न परयेत् । चकरादुदके स्वप्रति-  
बिम्बेन परयेत् । 'न शोदके निरीचेत स्वं रूपमिति धारणा ( मनु. ४।३८ )  
इति वचनात् ॥ १३५ ॥

भापा—( उदय, अस्त, राहुप्रस्त, जल में प्रतिबिम्बित एवं मप्याह-  
कालीन ) सूर्य को, ( उपभोग के अतिरिक्त अन्यत्र ) नगी स्त्री को, जियके  
साथ साथ मैथुनकिया गया हो ऐसी ( अनग्ना ) स्त्री को, मूत्र तथा पुरीष  
को और अपवित्र रहते समय राहु एवं तारो को न देखे ॥ १३५ ॥

अयं मे वज्र इत्येष सर्वं मन्त्रमुदीरयेत् ।

वर्षस्यप्रायुतो गच्छेत्स्थपेरप्रत्यक्षिशरा न च ॥ १३६ ॥

वर्षति मति 'अयं मे वज्रं पाप्मानमपहन्तु' इति मन्त्रमुच्चारयेत् । वर्षति  
अप्रायुतोऽनास्थादितो न गच्छेत् 'धावेत् । 'न प्रधावेत् वर्षति' इति प्रति-  
षेधान् ; नच प्रत्यक्षिशराः स्वप्यात् । चकाराद्यसो न दावीत । एकस्य द्वायगृहे  
नच मानः दाषीतेति । 'नैका सुप्यात्पृथगेदे' ( ४।५७ ) मनुस्मरणान् ॥ १३६ ॥

भापा—वर्षा होने पर 'अयं मे वज्रं पाप्मानमपहन्तु' मन्त्र का उच्चारण  
करे । ( वर्षा में ) दाता आदि से आपदादिन हुए बिना वहीं न जाये ।  
परिषम की ओर शर करके ( और नगा ) न सोवे ॥ १३६ ॥

प्रीवनासृक्शंक्रुन्मूत्ररेताभ्यस्तु न निक्षिपेत् ।

पादो प्रतापयेन्नाश्री न चैनमभिलहयेत् ॥ १३७ ॥ १

१ मुद्गिरणम्, अस्क् रक्त शब्दत् पुरीष मतिदम्, पता यस्तु न  
नाशपत् । पय गुपादीनपि । यथाह शब्द—'तुपकेनपुरीषभस्मादिधरलेष्म  
नललोमान्यस्तु न निक्षिपेत् पादेन प्राणिना वा जलमभिह-यात् इति । अग्नौ  
च पादी न प्रतापयेत् । नाशयति लहयेत् । चकारात् प्रीवनादी-पगनी न  
निक्षिपत् । मुन्वोपधमनादि चामननें कुर्यात् । तथा च मनु ( ४।५३ )—नास्ति  
मुखेनोपधमेत्यना नश्येत् च श्रियम् । नामेभ्य मक्षिपेदग्नी १ च पादी प्रताप  
येत् ॥ अधस्तात्प्रोपदध्याश्च न चैनमभिलहयेत् । न चैन पादन कुर्यात् प्राणि  
वधमाचरेत् ॥' इति ॥ १३७ ॥

भाषा—यूक्, रक्त पुरीष मूत्र एव धीर्यं जल मं न केंद्र । अग्नि में परो  
मो न सेंद्र पीर न उसे लॉपे ॥ १३७ ॥

१ जल पियेनाञ्जलिना न शयान प्रबोधयेत् ।

१० नाशे क्रीडेन धर्मधनैर्याधितैर्वा न सविशेत् ॥ १३८ ॥

१० लभञ्जलिना सहताभ्या दस्ताभ्या न पियेत् । नल प्रहण पियमात्राप  
रुणम् । विद्य दिभिरामनोऽधिक शयान न प्रबोधयेन्नोत्पापयेत् । 'श्रयास  
प्रबोधयेत्' इति विशेषरमणात् । असादिभिर्न क्रीडेत् । धर्मधनै पशु  
ग्मनादिभिर्न कृडेत् । व्याधितैर्ग्वेराद्यभिभूतै सहैकत्र न सविने न दायात् ॥

भाषा—अञ्जलि में जल ने पिण और न सोये हुए व्यक्ति को जगाव ।  
जुआ न खेले ( पशु हिंसक आदि ) धर्मधन व्यक्तियों क साथ न खेले और  
न रोमी व्यक्ति के पाम सोव ॥ १३८ ॥

११ विरुद्धं वर्जयेत्कर्म प्रेतधूमं नदीतरुम् ।  
केशभस्मतुपाङ्गारकपालेषु च सस्त्रियतिम् ॥ १३९ ॥

जनपदप्रामवलाचारविरुद्धं कर्म नजयेत् । प्रेतधूम वाहुग्धां नदानरण  
च वर्जयेदिति सवद्वधते । कशादिषु च तस्त्रियति वर्जयेत् । चकारात्स्त्रियकार्पा-  
सामेयेषु च ॥ १३९ ॥

भाषा—( जनपद गाँव और कुल क ) विरुद्ध कर्म न करे । प्रेतधूम  
रेवर्ष और तैर कर नदी पार करना कार्य न करे । कण भस्म, भूसी अणार  
और कपाल पर न बैठे ॥ १३९ ॥

१ मनुलहयेत् । २ मतिलहयेत् । ३ प्राणाशाय ।

नाचक्षीत ध्यन्तीं गां नाद्वारेण विशेषकचित् ।

न राक्षः प्रतिगृह्णीयात्लुप्यस्याच्छास्त्रवर्तिनः ॥ १४० ॥

परस्य क्षीरादि<sup>१</sup> पियन्तीं गां परस्मै नाचक्षीत नच निव्रतयेत् । अद्वां  
कापथेन क्वचिदपि नगरे ग्रामे मन्दिरे वा न प्रविशेत् । नच हृपणस्य शास्त्रा  
न्मकारिणो राज्ञः सकाशात्प्रतिगृह्णीयात् ॥ १४० ॥

भाषा—पीनी हुई या ( बछड़े को ) पिलाती हुई गाय को अलग न ।  
भीरन उससे विषय में कहे । वही ( गांव या मन्दिर में ) उचितमार्ग :  
छोड़कर किसी और मार्ग से प्रवेश न करे । लोभी, शास्त्र के विपरीत आचरण  
करने वाले राजा का दान न ग्रहण करे ॥ १४० ॥

प्रतिग्रहे सुनिचक्रिष्यतिवेश्यानराधिपाः ।

दुष्टा दशगुणं पूर्वात्पूर्वादेते यथाक्रमम् ॥ १४१ ॥

प्रतिग्रहे साध्ये सून्यादयः प्रथमं पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्परः परो दशगुणं दुष्ट<sup>२</sup> ।  
सुना प्राणिहिंसा साऽस्यास्तीति सुनी प्राणिहिंसावरः । चक्षी तैलिकः । ध्वजी  
सुराविश्रयी । घेरया पण्यच्छी । नराधिपोऽनन्तरोक्तः ॥ १४१ ॥

भाषा—दान लेन में अधिक, तेली, कुलाल, घेरया और राजा-ये यथाक्रम  
अपने, पहले वाल स दम दम गुना अधिक दोषा होते हैं ॥ १४१ ॥

अध्यायनधर्मानाह—

अध्यायानामुपाकर्म धावण्यां ध्रुवणेन वा ।

हस्तेनौपधिभावे वा पञ्चम्यां धावणस्य तु ॥ १४२ ॥

अधीयन्त हायध्याया वेदा, तैषामुपाकर्म उपक्रमोपधीनां प्रादुर्भावे सति  
आरणमासस्य पीर्णमास्यां, ध्रुवजनस्यपुते वा दिने, हस्तेन युतायां पञ्चम्यां  
वा, स्वगृहोक्तविधिना कुर्यात् । यदा तु आरणे मामि भोपयवो न प्रादुर्भवन्ति,  
तदा भाद्रपदे मामि ध्रुवजनस्ये कुर्यात् । तत् ऊर्ध्वं साधं चतुरो मामान्वेदानधी-  
यीत । तथा च मनु ( ४।१५ )—'धावण्यां प्रीष्टवदां वाऽऽवुपाहृष यथाविधि ।  
युक्तदन्दांस्वधीयीत मासान्विदोऽर्धपञ्चमान् ॥' इति ॥ १४२ ॥

भाषा—( वेदों के ) अध्यायन का उपाकर्म ( आराम ) धनरपणियों के  
उप धाने पर ध्रुवण महीने को पूर्णमासी को-या-ध्रुवजनस्य से युक्त दिन को  
अथवा हस्तमक्षय से युक्त धावण को पंचमी को करे ॥ १४२ ॥

१. क्षीरादि ध्यन्तीं गां ।

२. प्रतिग्रहेषु मापेषु ।

उत्सर्जनकालः—

पौषमासस्य रोहिण्यामएकायामर्थापि वा ।—

जलान्तं छन्दसां कुर्याद्दत्तसर्गं विधिगृह्णति ॥ १४३ ॥

पौषमासस्य रोहिण्यामएकाया वा ग्रामाद्दहिर्जलसमाये छन्दसा वेदानां स्वगृहोक्तविधिनोरसर्गं कुर्यात् । यदा पुनर्भाद्रपदे मासि उपाकर्मं तदा माघशुक्लप्रथमदिवस उत्सर्गं कुर्यात् । यथोक्त मनुना ( ४।९६ )—'पुष्ये तु छन्दसा कुर्याद्दहिरसर्जनं द्विज । माघशुक्लस्य वा ग्राहे पूर्वाह्ने प्रथमेऽहनि ॥' इति । तदनन्तरं पश्चिमीमहोरात्रं वा विरम्य शुक्लपक्षेषु वेदान् कृष्णपक्षेष्वहान्यधीयीत । यथाह मनुः ( ४।९७ )—'यथाशास्त्रं तु कृष्वेषुमासां छन्दसा गृह्णति । विमेष्वर्षिणीं रात्रिं यद्वाऽप्येकमहर्निशम् ॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दामि गृह्णेषु नियतं पठेत् । वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ इति ॥ १४३ ॥

भाषा—पौष मास की रोहिणी या अष्टमी को ( गौँव से ) बाहर जाकर ललाय के निकट वेदों का ( अपने गृह्यसूत्र में उक्त ) विधि के अनुसार उत्सर्ग करे ॥ १४३ ॥

अनध्यायानाह—

अथहं प्रेतेऽनध्याय शिष्यस्त्विगुरुपन्धुषु ।

उपाकर्मणि चोत्सर्गं स्वशाखाधोत्रिये तथा ॥ १४४ ॥

उक्तेन मागेणाधीयानस्य द्विजस्य तिस्र्यर्षिगुरुपन्धुषु प्रेतेषु मृतेषु स्वहमनध्यायस्त्रीमहोरात्रानध्ययनं वर्जयेत् । उपाकर्मणि उत्सर्गस्य च कर्मणि कृते स्वहमनध्यायः । उत्सर्गं तु मनुक्तपक्षिण्यहोरात्राभ्यां सहारस्य विवक्ष्य । स्वशाखाधोत्रिये स्वशाखाध्यायिनि च प्रेते स्वहमनध्यायः ॥ १४४ ॥

भाषा—शिष्य, ऋत्विज, गुरु और बन्धु ( सजाति ) के मरने पर, उपाकर्म ( एवं वेदोत्सर्गं कर्म ) के उपरान्त तथा अपनी शाखा का अध्ययन करने वाले किसी व्यक्ति, की मृत्यु पर तीन दिनों तक अनध्याय होता है ॥ १४४ ॥

संध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोत्कानिपातने ।

समाप्य वेदं पुनिशमारण्यकर्मधीत्य च ॥ १४५ ॥

संध्यापां मेघध्वनी, निर्घाते आकाशे—उत्पातध्वनी, भूमिध्वने, उत्पानने, मन्त्रस्य प्राद्वणस्य वा समाप्तौ, आरण्यकाध्ययने च पुनिशमहोरात्रनध्यायः ॥ १४५ ॥

भाषा—संध्या समय मेघ का गर्जन होने पर, आकाश में उरपात की श्रुति होने पर, भूकम्प, उलकापात ( तारा टूटकर गिरने पर ), वेद के मन्त्र या ब्राह्मण भाग की समाप्ति पर और भारप्यक का अध्ययन पूरा कर लेने पर एक दिन और रात का 'अनध्याय होता है ॥ १४५ ॥

पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके ऋतुसंधिषु भुक्त्वा वा धाद्विकं प्रतिगृह्य च ॥ १४६ ॥

पञ्चदश्यामवास्यायां पौर्णमास्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके चन्द्रसूर्यो-  
परामे च शुनिशमनध्यायः । यत्तु—'इहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके'  
( मनु. ४।११० ) इति तद्भरतास्तविषयम् । ऋतुसंधिगतासु च प्रतिपत्सु  
धाद्विकभोजने तत्प्रतिग्रहे च शुनिशमनध्यायः । एतच्चैकोद्दिष्टव्यतिरिक्त-  
विषयम् ; तत्र तु त्रिराश्रमं मनुः ( ४।११० )—'प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टव्य-  
केतनम् । इहं न कीर्तयेद्ब्रह्म' इति स्मरणात् ॥ १४६ ॥

भाषा—अमावस्या, पौर्णमासी, चतुर्दशी, अष्टमी को चन्द्रग्रहण एवं  
सूर्यग्रहण के समय ऋतुओं के आरम्भ की प्रतिपदा को, धाद्व का भोजन  
करने पर तथा दान लेने पर ( एक दिन रात का अनध्याय होता है ) ॥ १४६ ॥

पञ्चमण्डूकनकुलश्याद्विमाज्जरसूपकैः ।  
हृतेऽन्तरे षड्दोराश्रं शक्रपाते तथोच्छ्रये ॥ १४७ ॥

अप्येनर्णां पथादिभिरन्तरागमने हृते द्वात्रिंशत्स्योपरोपणदिवसे, उच्छ्र-  
यदिवसे चाहोरात्रमनध्यायः । शुनिशमिति प्रकृते पुनः 'अहोरात्र' ग्रहणं संध्या-  
गर्जितनिर्घातभूम्परोद्दकानिघातेष्वाकालिकवशापनाशंम् ; 'आकालिकनिर्घात-  
भूम्पराहुदर्शनोषकाः' ( १६।२२ ) इति गौतमवचनात् । निमित्तकालादार-  
म्यापरोक्ष्यांवरस एव कालरतावरकाल अकालः, तत्र भव आकालिकोऽनध्यायः ।  
एतच्च प्रातःसंध्यास्तनिते । मायंसंध्यास्तनिते तु रात्रिमेव, 'सायंसंध्यास्तनिते  
तु रात्रिः, प्रातःसंध्यास्तनितेऽहोरात्रम्' इति हारीतस्मरणात् । यापुनर्गौतमे-  
शोक्तं ( १।७९ ) 'अनकुलसर्वमण्डूकमाज्जरानामन्तरागमने इवमुपवासी विप्र-  
वासश्च' इति तत्प्रथमाध्यायनविषयमेव ॥ १४७ ॥

भाषा—अध्ययन करने वालों के बीच किसी पशु, मीठक, भेषला, साड़ी,  
बिड़ली या बूहा के आह्वाने पर, इन्द्रधनुष उड़ने पर तथा वायव के समय  
एक दिन-रात ( अनध्याय होता है ) ॥ १४७ ॥

१. वरसवदिवसे । २. संध्यामहोरात्र । ३. माज्जरानां इव ।  
४. एवमविषय एव ।

श्वक्रोष्टुगर्भभोक्तृकसामिषाणार्तेनि स्वने ।

अमेध्यराश्याद्रान्तर्यश्मशानपतितान्तिके ॥ १४८ ॥

श्वो कुर्वकुर, कोष्टा शृगाल, गर्भभो रासभ, उल्लूको घृक, साम सामानि, पाणो घंश, आर्तो दु गित, एषां आदीनां नि स्वने तावत्कालमनध्याय । एवं चीणादिनि स्वनेऽपि ।—'वेणुवीणाभेरीमृदङ्गगन्धर्वात्तंशब्देषु' ( १६१० ) इति गीतमवधनात् । गन्त्री शकटम् । अमेध्यादीनां सनिधाने तावत्कालिकोऽनध्याय ॥ १४८ ॥

भाषा—कुशा, मियार, गदहा उल्लू, सामगान, घांस और दु सित व्यक्ति ही स्वर सुनाई पढ़ने पर तथा अपवित्र वस्तु राश, गृह अनध्याय, श्मशान या पतित व्यक्ति के निकट होने पर ( उस स्थिति की अवधि तक अनध्याय होता है ॥ १४८ ॥

देशेऽशुचायामनि च विद्युत्स्तनितसंख्ये ।

भुक्त्वाऽर्घपाणिर्गन्धरात्रेऽतिमाकृते ॥ १४९ ॥

अशुची देशेऽशुचायामनि च । तथा विद्युत्स्तनितसंख्ये पुन पुनर्विद्योतमानायां विद्युनि, स्तनितसंख्ये महर्हय पुन पुनर्घघोषे तावत्कालिकोऽनध्याय । भुक्त्वाऽर्घपाणिर्गन्धीयीत । जलमध्ये च । अर्घरात्रे महानिशाख्ये मध्यममहर्हये, अतिमाकृतेऽप्यपि तावत्काल नाधीयीत ॥ १४९ ॥

भाषा—अपवित्र स्थान पर, रथ अशुद्ध होने पर बार बार विजली की चमक होने, मेघ के बार बार गरजन के समय भोजन के उपरान्त गीले हाथ रहने पर जल के भीतर भाषी रात की और तीम वायु चलने पर उतने समय तक ( अन्धध्यान नहीं करना चाहिए ) ॥ १४९ ॥

पांसुवर्षे दिग्दाहे संख्यातीद्धारभीतिषु ।

घावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते ॥ १५० ॥

औषातिके रजोवर्षे, दिग्दाहे यत्र उपलिता इव विशो वश्यन्ते । सप्ययो, नीहारे धूमिकायां, भीतिषु चौरराजादिकृतासु तावत्कालमनध्याय । घावतस्य रितं गच्छतोऽनध्याय । पूतिगन्धे कुलितगन्धे अमेध्यमद्यादिगन्धे । शिष्टे च श्लोमियादौ गृह प्रोक्षे तदनुज्ञावधनध्याय ॥ १५० ॥

भाषा—धूल भरी षोधी उठने पर, दिशाओं के जलती हुईं सी दिखलाई पढ़ने पर, दोनों संख्याओं के समय पुषले में और ( चोर या राजा से ) भय होने पर ( तत्काल अनध्याय होता है ) । दीड़ते समय, अपवित्र वस्तु की

गन्ध आने पर और ( धोत्रियादि ) सिद्ध व्यक्ति के घर आने पर ( अनुष्वाय होता है ) ॥ १५० ॥

१५१ ॥

। तावत्कालमन-  
प्याय । एवं 'श्वकोष्टगर्दम-<sup>व</sup>इत्यस्मादारभ्य सप्तत्रिंशद्वनप्यायानेतास्ताःकालि-  
कान्निमित्तसमकालान्बिबुदुरनेप्यायविधिशाः । 'विदुः हायनेन' स्मृत्यन्तरोक्तान-  
न्यानपि संगृह्णाति । यथाह मनुः ( ४।१।२ )—'शयानः प्रोडपादश्च कृत्वा  
शैवावसविधेकाम् । नाधीवीतामिपंजग्ध्वा सूतकानाद्यमेव च ॥' इत्यादि ॥ १५१ ॥

भाषा—गदहा, ऊँट, रथ, हाथी, घोड़ा, नौका, घृष्ट पर चढ़ने और ऊसर  
भूमि या महत्फल में चलने पर अनुष्वाय होता है । इन सैंतीस अनुष्वायों का  
समय इनके निमित्त की सना रहने तक समस्तना चादिपु ॥ १५१ ॥

पुषमनप्यायानुश्रवा प्रकृतानि स्नातकप्रतान्पाह—

देवत्विकस्नातकाचार्यराज्ञां छायां परस्त्रियाः ।

नाक्रामेद्रक्तविष्मूत्रष्टीयनोद्धर्तनादि च ॥ १५२ ॥

देवानां देवार्चानामृशिवस्नातकाचार्यराज्ञां परस्त्रियाश्च छायां नाक्रामेष्टा  
पितिष्टेष्ट लहयेद्वुद्विष्ट्वम् । यथाह मनुः ( ४।१।३० )—'देवतानां गुरो राज्ञ  
स्नानाचार्ययोस्तथा । नाक्रामेःकामतरङ्गायां बभ्रुणो हीवितस्य च ॥' इति  
बभ्रुणो नकुलवर्णस्य यस्य कस्यचिन्नोरन्वस्य वा श्यामोदेः, 'बभ्रुण'इति नपुंसक  
लिङ्गनिर्देशात् । रक्षादीनि च नाधितिष्टेत् । 'आदि' प्रहणास्नानोदकादेर्महणम्  
( मनु. ४।१।३२ )—'उद्धर्तनमपरनानं विष्मूत्रे रक्तमेव च । रलेमनिष्टपत  
चान्तानि नाधितिष्टेत् कामतः ॥' इति ॥ १५२ ॥

भाषा—देवता, ऋषिः, स्नानक, आचार्य, राजा और पर स्त्री व  
छाया न लीये । रक्षि, बिष्टा, मूत्र, रक्ता, उद्धर्तन ( उबटन की सीली  
( तथा स्नान करने पर गिरे हुए जल ) को भी न लीये ॥ १५२ ॥

यिषादिस्तत्रियात्मानो नायतेयाः कदाचन ।

आ मृत्योः श्रियमाकाङ्क्षेत् कञ्चिन्मर्मणि स्फुटोत् ॥ १५३ ॥

विमो बहृधुतो ब्राह्मण, भदिः सर्प, चत्रियो नृपतिः, प्ते कदाचिदि  
मायमन्तप्याः । आत्मा च स्वयं नायमन्तप्य । आसृष्योर्पावज्जीव धिय

१. ऊपर । २. स्पर्शन स्थापन । ३. कृतावसविषक उरुष्वायमर्षि  
गत । ४. सोमादे ।

निच्छेत् । न कर्षचित् पुरुषं मर्मणि स्पृशेत् कस्यचिदपि मर्मं दुष्करितं न प्रकाशयेत् ॥ १५३ ॥

भाषा—( वेदज्ञ ) ब्राह्मण, सौंद, उषिय ( या राजा ) तथा अपने आत्मा का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए । किसी व्यक्ति का हृदय न दुखाते हुए जीवनपर्यन्त सुख सम्पत्ति की आकांक्षा रखे ॥ १५३ ॥

दूराद्दुच्छिद्यविषमूत्रपादाग्भांसि समुत्सृजेत् ।

धृतिस्मृत्युदितं सम्यङ् नित्यमाचारमाचरेत् ॥ १५४ ॥

भोजनाद्युत्सृष्टं विष्मूत्रे पादप्रपालनोदकं च गृहाद्दूरात्समुत्सृजेत् ।  
धौतं स्मार्तं चाचारं नित्यं सम्पगनुतिष्ठेत् ॥ १५४ ॥

भाषा—( भोजन का ) उत्सृष्टांश, मूत्र-मूत्र तथा पैर घोंसे से दूषित जल को घर से दूर फेंकना चाहिए । धृति एवं स्मृति में बताए गये नियमों का प्रतिदिन महीभौंसि पालन करे ॥ १५४ ॥

गोब्राह्मणानलान्नानि नोच्छिद्यो न पदा स्पृशेत् ।

न निन्दात्ताडने कुर्यात्पुत्रं शिष्यं च ताडयेत् ॥ १५५ ॥

मां ब्राह्मणमग्निं अन्नमदमोयं, विशेषतः एकमशुचिर्न स्पृशेत् । यादेन स्व-  
नुच्छिद्योऽपि । यदा पुनः प्रमादात्स्पृशति तदा आचमनोत्तरकालम्—'स्पृष्टमाव-  
शुचिर्नित्यमग्निः प्राणानुपरस्पृशेत् । यात्राणि चैव सर्वाणि नार्ति पाणितलेन तु ॥'  
इति ( ४।१४२ ) मन्त्रं कार्यम् । एवं प्राणादीनुपरस्पृशेत् । कस्यचिदपि  
निन्दात्ताडने न कुर्यात् । एतत्स्वानुकारिणि । मनुः ( ४।१६० )—'अनुष्यमान-  
स्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगद्गतः । दुःखं नुमद्दन्तेति प्रेषाभ्राह्मण्यः नरः ॥'  
इति । पुत्रशिष्यौ निष्कार्यमेव ताडयेत् । चकाराद्गामादीनपि । ताडनं च रज्वा-  
दिनोत्तमाह्वयतिरेकेण कार्यम् ; 'शिष्यशिष्टिवेषेणाशक्तौ रज्जुवेषुविदलाम्ब्यां  
तनुम्बाम्बयेन स्तन् राजा शास्यते' ( २।४२, ३।४ ) इति गौतमवचनात् ।—'पृष्ट-  
तस्तु शरीरस्य मोक्षमाह्ने कथंचन' इति ( ८।२०० ) मनुवचनात् ॥ १५५ ॥

भाषा—गाय, ब्राह्मण, अग्नि और अन्न को अशुद्ध रहने पर न छूए और  
न इन्हें पैर से छूए । किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए और न किसी को  
मारना-पीटना चाहिए, किन्तु पुत्र और शिष्य को ( पदात्ते समये ) मारना  
चाहिए ॥ १५५ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत् ।

अस्वर्ग्यं लोकविक्षिप्तं धर्म्यमप्याचरेन्न तु ॥ १५६ ॥



कर्मणा कायेन यथाशक्ति धर्ममनुतिष्ठेत् तमेव मनसा ध्यायेत् वाचा च चरेत् । धर्मं विहितमपि लोकविद्विष्टं लोकाभिशास्त्रिनजनन मधुपर्कं गोवधादिकं नाचरेत् । यस्माद्दृश्यते धर्मोत्थोभीयवत्स्वर्गसाधनं न भवति ॥ १५६ ॥

भाषा—कर्म, मन और वचन से यातपूर्वक धर्म का आचरण करे, धर्म विहित होने पर भी लोकविद्विष्ट कर्म हो और उसमें स्वर्ग की प्राप्ति न हो तो उसे नहीं करना चाहिए ॥ १५६ ॥

मातृपित्रतिथिभ्रातृजामिसम्बन्धिमातुलै ।

पुत्र्यास्तानुराचार्यवैद्यसन्धितयान्धवै ॥ १५७ ॥

ऋत्विक्पुरोहितापत्यमार्यादाससनाभिभि ।

विवाहं धर्जयित्वा तु सर्वाँल्लोकाञ्जयेद्गृह्णी ॥ १५८ ॥

माता जननी, पिता जनक, भतिपितृवनीन, भ्रातरो भिन्नोदरा अपि । जामयो विद्यमानमनृका द्विप, सन्धिनो वैवाद्या भ्रातृभ्राता, वृद्ध सप्तपुत्रवपरक, बाल भा पोद्दत्ताद्भ्रातृ, भ्रातुरो रागी, आचार्य उपनेता, वैद्यो विद्वान् मियग्वा, सन्धि उपजीवी, बान्धवा पितृपक्षदा मातृ-पक्षदाश्च, मानुलरव पृथगुपादानमादरार्थम् । ऋत्विक्वाजकः, पुरोहित जामवादे कर्ता, अपत्य पुत्रादि, भार्या सहधर्मचारिणी, दास कर्मकर, सनाभय सोदरा, भ्रातृभ्य पृथगुपादानमजामिभिगिनीप्राप्तवचम् । एतेर्मात्रादिभि सह बाण्डह परिशयय सर्वाँमात्रापरवादान् लोका प्राप्नोति ॥ १५७-१५८ ॥

भाषा—माता, पिता, भतिधि, भाई, सुहागिन स्त्री, सम्बन्धी, मामा, वृद्ध, बालक शोरी, आचार्य, वैद्य, आश्रितजन, ( पिता एवं माता पक्ष क ) बान्धव, ऋत्विज, पुरोहित, पुत्र, पत्नी, दास और सोदर भाइयों के साथ विवाह न करके गृहस्थ सभी लोकों को प्राप्त करता है ॥ १५७-१५८ ॥

पञ्च विपण्डाननुद्धृत्य न ध्यायात्परधारिषु ।

आयाशदीदेयजातहृद्प्रस्रवणेषु च ॥ १५९ ॥

परधारिषु परसम्बन्धिषु सर्ववशादेनान्येषु तद्दोषादिषु पञ्च विपण्डान अनुद्धृत्य न स्नायात् । अनेनान्येषाम्पृष्टाश्रयनुज्ञातेषु विपण्डोद्धारमन्तरापि स्नानम यन्ननुज्ञातम् । नद्यादिषु कथं तद्दोषाह—स्नानाच्छरीणि । साक्षात्परपरया वा सनुद्धृता कर्मणो मया, श्रेयसाज श्रेयस्त्रिंशत् पुष्करादि, उद्दृष्टप्रज्ञाभिप्राय कुलसज्जो महाविघ्नदेशो हृद्, पर्वनापुच्छप्रदशास्त्रमनुवक प्रस्रवणम्, एतेषु पञ्चविपण्डानुद्धरणेनैव स्नायात् । एतच्च निवृत्तनामविषय सति समस्त मनुः

( ४१२०३ )—'नदीषु देवरातेषु सदागेषु सारःसु च । स्नानं समाचरे द्विर्यं  
गर्तप्रप्रपणेषु च ॥' इति 'निरय'ग्रहणात् । शौचाद्यर्थं तु यथासंभवं परिवारिषु  
पिण्डानुद्धरणे सर्वस्य निषेधः ॥ १५९ ॥

भाषा—दूसरे के पीछे में पांच मुट्ठी मिट्टी निकाले बिना स्नान न  
करे । नदी, प्राकृतिक जलाशय ( पुष्कर आदि ), जलपुण्ड और झरने में  
( बिना मिट्टी निकाले ही ) स्नान करे ॥ १५९ ॥

परशय्यासनोद्यानगृहयानानि वर्जयेत् ।  
अदत्तान्यग्निहीनस्य नान्नमघादनापदि ॥ १६० ॥

शय्या कृशिषु, आसनं पीठादि, उद्यानमाग्रादिवनम् । गृहं प्रसिद्धम्,  
यानं रथादि, परसंबन्धीन्येतान्यदत्तान्यननुशातानि वर्जयेत् नोपभुञ्जीत । अभो-  
ज्यान्नाग्राह—अग्निहीनस्येति । अग्निहीनस्य श्रौतस्मार्तग्याधिकाररहितस्य  
शुद्धस्य प्रतिलोमजस्य च अधिकारवतोऽप्यग्निरहितस्याहमनापदि न भुञ्जीत,  
न प्रतिगृहीयाच्च । तस्मात्प्रशस्तानां स्वकर्मशुद्धजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत  
प्रतिगृहीयाच्च' ( १७:१,२ इति गीतमवचनात् ॥ १६० ॥

भाषा—दूसरे की शय्या, आसन, उद्यान, घर और सवारी का उसकी  
अनुमति के बिना उपयोग न करे । आपत्काल न हो तो ( श्रौतस्मार्त अभि-  
के अधिकार से पश्चित ( शुद्ध एवं प्रतिलोमज ) अग्नि का आधान न करने  
वाले व्यक्ति का भक्षण न ग्रहण करे ॥ १६० ॥

कदर्यं बद्धचोराणां क्लीबेरज्ञावतारिणाम् ।  
वैणाभिश्चस्तचार्युष्यगणिकागणदीक्षिणाम् ॥ १६१ ॥

कदर्यो लुब्धः; 'आरमानं घर्मकृत्यं' च पुत्रदारोश्च पीडयेत् । लोभात् पितरौ  
श्रयान्स्व कदर्यं इति स्मृतः ॥' ( देवल ) इत्युक्तः । बद्धो निगडादिना वाचा  
संनिरुद्धश्च, चौरो ब्राह्मणसुवर्णस्यतिरिक्तपरस्वापहारी, क्लीबो नपुंसकः, रज्ञाव-  
तारी नटचारणमह्लादिः, वैणः श्रेण्युपजीवी, गणिका पण्यस्त्री, गणदीक्षी बहुयाजकः । एतेपा-  
मन्नं नाश्नीयादित्यनुवर्तते ॥ १६१ ॥

भाषा—लोभी, ( बेड़ी आदि से ) बद्ध, चोर, नपुंसक, नट, चारण, मल्ल  
आदि रज्ञावतारी, वैण, पातक कर्मों से युक्त मनुष्य का, ( अनुचित ) रयाज  
लेनेवाले वेश्या और बहुयाजक का ( अन्न नहीं खाना चाहिए ) ॥ १६१ ॥

चिकित्सकापुरकुक्षुपुंश्चलीमत्तविद्विषाम् ।  
 क्रूरोमपतितमास्यदाग्निभोच्छिष्टभोजिनाम् ॥ १६२ ॥

चिकित्सको भिषग्वृष्युपजीवी, आनुरो महारोगोपसृष्ट, 'वातव्याघ्रमरी-  
 कुष्ठमेहोदरभगन्दराः । अशांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः प्रकीर्तिता' इति ।  
 कुक्षु कुपितः, पुञ्जली व्यभिचारिणी, मत्तो विद्यादिना गर्वितः विद्विष्टः शत्रुः,  
 क्रूरो द्वाभ्यन्तरकोप, वाह्यायव्यापारेणोद्वेजक उग्र, पतितो ग्रहहादि, प्राप्यः  
 पतितसावित्रीकः, दाग्निभो चण्डक, उच्छिष्टभोजी परमुक्तोच्छिताशी, एतेषां  
 चिकित्सकादीनामन्न नाश्नीयात् ॥ १६२ ॥

भाषा—चिकित्सक, रोगी, क्रोधी, व्यभिचारिणी, ( विद्या आदि के )  
 अभिमानी, शत्रु, क्रूर, उद्वत, पतित, ( सावित्रीदान से श्युत ) प्राप्य, घोखे-  
 बाज और जूटा भोजन करने वाले व्यक्ति वा ( अन्न नहीं खाना चाहिये ) ॥

अवीरास्त्रीस्वर्णकारस्त्रीजितप्रामयाजिनाम् ।  
 शस्त्रविक्रयिकर्मारतन्तुवायश्चवृत्तिनाम् ॥ १६३ ॥

अवीरा स्त्री स्वतन्त्रा—व्यभिचारमन्तरेणापि । पतिपुत्ररहितेत्यर्थ । स्वर्ण-  
 कारः सुवर्णस्य विकारान्तरकृत्, स्त्रीजितः सर्वत्र छावशवर्ती, प्रामयाजी  
 प्रामस्य शान्त्यादिकर्ता, चहूनामुपनेता वा । शस्त्रविक्रयो शस्त्रविक्रयोपजीवी,  
 कर्मारो लोहकारः तन्त्राविद्य, तन्तुवाय सूचिशिष्योपजीवी । अभिर्षुसिखर्तनं  
 जीवनमस्यास्तीति शयुत्ती, एतेषामन्न नाश्नीयात् ॥ १६३ ॥

भाषा—कुलटा ( स्वतन्त्र रहने वाली स्त्री ) स्वर्णकार, ( सर्वत्र ) स्त्री के  
 वश में रहने वाले, गांव भर के लिए पशु करने वाले ( या अनेक व्यक्तियों का  
 उपनयन करने वाले ), शस्त्र बेचनेवाले, लोहार, तन्तुवाय ( जुलाहा तथा  
 जर्मी ) और कुत्तों के सहारे वृत्ति चलाने वाले का ( भक्षण नहीं खाना चाहिये ) ॥

नृशंसराजरजककृतप्रवधजीयिनाम् ।  
 चैलघायसुराजीवसहोपपतियेश्मनाम् ॥ १६४ ॥

पिभुना नृतिनोद्यैय तथा चाक्रियन्दिनाम् ।

एषामन्नं न भोक्तव्यं सोमधिकविणस्तथा ॥ १६५ ॥

नृशंसो निर्दय, राजा भूपति, तरसाहचर्यन्तुरोदितम् । पयाह शत्रुः—  
 नीतावगीतद्विनाशन्दितावपुष्टदुधितपरिभुक्त विरिमतोन्मत्तावधूनराजपुरोदिता-  
 नि चर्जयेत्' इति । रजको वद्याशीनां नीलादिरागकारक, कृतमन्न उपकृतस्य  
 अता वधजीवी प्राजिनां वधेन वर्तकः, चैलघायो वद्यनिर्गोत्रनृत्, सुराजीवो  
 मध्यविक्रयजीवी, उपपतिर्जाय । सहोपपतिना वेशम परवाची सहोपपतिवेशमा ।

विशुनः परदोषस्य वयापकः, अनृती मिथ्यावादी, चाक्रिकरतैलिकः, शाकटिक-  
श्रेयके । 'अभिदास्तः पतितश्चाक्रिकरतैलिक' इति भेदेनाभिधानात् । चन्दिनः  
रतावकाः, सोमविक्रयी सोमलताया विक्रेता, पतेयामर्षं न भोक्तव्यम् । सर्वे  
चैने कदर्पादपो द्विजा एव कर्दर्यावादिदोषदुष्टा भनोज्यास्ताः । इतरेषां प्राप्यभा-  
यावाप्तिपूर्वकावाद्य निषेधस्य ॥ १६४-१६५ ॥

भाषा—निर्दयी, राजा, रंगरेज, कृतघ्न, अधिक, छोपी, मद्य बेचने वाले  
कुलाल, जिनके घर में जार निवास कर रहा हो उस पुरुष का, दूबरे का दोष  
पैलाने वाले, झूठ बोलने वाले, तेही या गादीधान, चन्दीजन एव सोमलता  
के विक्रेता का भक्ष नहीं खाना चाहिये ॥ १६४-१६५ ॥

'अग्निहीनस्य नाश्रमघादनापदि' ( भाष्य. १६० ) हायप्र शूद्रस्याभोज्या-  
श्रवमुक्तं, तत्र प्रतिप्रसवमाह—

शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्धसीरिणा ।  
भोज्याद्या नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ १६६ ॥

दासा गर्भदासादयः । गोपालो गर्वा पालनेन यो जीवति । कुलमित्रं  
पितृपितामहादिक्रमायातः । अर्धसीरी हलपर्यायसीरोपलक्षितकृषिकलभा-  
गप्राही । नापितो शूद्रस्यापारकौरयिता, नापितश्च । यश्च वाह्यनः कायकर्मभि-  
रात्मानं निवेदयति सवाहमिति । पते दासादयः शूद्राणां मध्ये भोज्यान्नाः ।  
श्वकाराकुम्भकारश्च; 'गोपनापितकुम्भकारकुलमित्राधिकनिवेदितात्मानोभोज्यान्नाः'  
इति वचनात् ॥ १६६ ॥

भाषा—शूद्रों में दास, अहीर या भाला, कुल के मित्र ( जिनसे पिता,  
पितामह के समय से मित्रता का व्यवहार हो ), सासे पर खेती करने वाले  
का, नाई का तथा ( बाणी, मन, शरीर एवं कर्म से ) आत्मनिवेदन करनेवाले  
व्यक्ति का ( तथा कुम्भकार का ) भक्षण खाने योग्य होता है ॥ १६६ ॥

इति स्नातकधर्मप्रकरणम् ।

### भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम्

'न स्वाध्याय विरोधार्थम्' ( भाष्य. १२० ) शूद्रतः श्रावण्य आत्मनस्य  
स्नानप्रसन्नान्यभिषायेदानीं द्विजातिधर्मानाह—

अनर्चितं वृथामांसं केशकीटसमन्वितम् ।  
शुक्तं पयुपितोच्छिष्टं श्वस्पृष्टं पतितेक्षितम् ॥ १६७ ॥

१. प्रतिषेधस्य । २. गर्वां पालकः गर्वां पालनेन । ३. कर्मस्थापी ।

उदक्यास्पृष्टसघुष्टं पर्यायान्नं च वर्जयेत् ।

गोघ्रातं शकुनोच्छिष्टं पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ १६८ ॥

अनर्पित अर्थाहाय पदवज्रया दीयते । पृथामांम वक्ष्यमाणप्राणायाम्यादि  
 इत्यतिरेकेण देवाद्यर्चनावशिष्टं च यन्न भवति आरमार्थमेव यासाधितम् ।  
 केनकीटादिभिश्च समन्यत सघुष्टम् । यत्सवयमनम्ल केवल कालपरिवासेन  
 द्रव्यान्तरममर्गदालपरियामाभ्यां वाग्शीभवति तच्छुक्त द्रव्यातिशयतिरेकेण  
 'न पापीयसोऽन्नमधीयान्न द्वि पक्व, न शुक्त न पर्युषित, अन्यत रागलाण्डव-  
 सुत्रदधिगुटगाधूमयवविष्टविकारेभ्य' इति शङ्खस्मरणात् । पर्युषित राशयन्त  
 रितम् । उच्छिष्टं भुक्तान्नम्, अस्पृष्टं घृणा स्पृष्टम्, पतितेक्षित पतित्तादि  
 भिरीक्षितम्, उदक्या रजस्वला तथा स्पृष्टम्, 'उदक्या'ग्रहण चण्डालाद्युपल-  
 प्तगार्थम् ; 'अभेष्यपतिगण्डालपुष्कस्ररजस्वलाकुनत्तिकुष्टिमस्पृष्टान्नं वर्जयेत्'  
 इति शङ्खस्मरणात् । 'को मुक्ते' ? इति पदाघुष्य दीयते तत्सघुष्टान्नम् ।  
 अन्यस्यवन्त्यस्यपदेशेन यथायते तत्पर्यायान्नम्, यथा— ब्राह्मणान्नं वदस्पृष्टं  
 शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत् । उभावेतावभोज्या-नी भुश्यात्वाद्वायणं चरेत् ॥  
 इति । 'पर्यायान्नम्' इति पाठं परिगतमाचान्त गण्डूपग्रहणादस्मिन् तत्पर्या-  
 यान्त, तन्न भोक्तव्यम् । पृथुक्तं भवति—गण्डूपग्रहणादूर्ध्वं आचमनात्प्राक्  
 न भोक्तव्यमिति । 'पार्थायान्तम्' इति पाठे पृक्तस्यां पृक्त्या पार्थस्ये आचान्ते  
 न भाक्तव्यमस्मादकादिविपद्भ्येन विना । 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकं सवक्ष्यते ।  
 तथा गोघ्रातं गवा घ्रातम् । शकुनोच्छिष्टं शकुनेन काकादिना भुक्तमास्वादितम् ।  
 पदा स्पृष्टं बुद्धिपूर्वं पादेन स्पृष्टं वर्जयेत् ॥ १६७-१६८ ॥

भाषा—अवज्ञा के साथ दिया गया अन्न ( देवता के लिए नहीं, अविशु  
 अपने लिए पकाया गया ) येकार मांस, जिस अन्न में बाल या कीड़े पड़े हों,  
 खटा हो गया हो, घामी, जूटा, कुत्ते द्वारा छुआ गया, पतित व्यक्ति द्वारा देखा  
 गया, रजस्वला स्त्री द्वारा छुआ गया, 'कौन व्यायगा ?' ऐसा पुकार करके दिया  
 गया, दूसरे के लिए बनाकर किसी और को दिया गया, गाय द्वारा सूँघा  
 गया, किसी पक्षी द्वारा जूटा किया गया और जानवृक्ष कर पैर से छुआ गया  
 अन्न नहीं खाना चाहिए ॥ १६७-१६८ ॥

पर्युषितस्य पतिप्रसवमाह—

अन्नं पर्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितम् ।

अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रिया ॥ १६९ ॥

अन्नमदनीयं पर्युपितं घृतादिस्नेहसंयुक्तं चिरकालसंस्थितमपि भोजयम् ।  
गोधूमयवगोरसविक्रियाः मण्डकसक्तुकिलाटपृश्चिकादयः भस्नेहा अपि चिरका-  
लसंस्थिता भोज्या, यदि विकारान्तरमनापन्नाः; 'अपूपधानाकरम्भसक्तुयोव-  
कतैलपायसशाकानि शुक्तानि वर्जयेत्' ( १४३७ ) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥

भाषा—घृत आदि चिकनाई से युक्त देर से भी रखा हुआ भोजन खाना  
चाहिए । गेहूँ, जौ और दूध से बनाया गया भोजन यदि चिकनाई से युक्त न  
भी हो तो, भी ( चिरकालोपरान्त भी ) ग्रहण किया जा सकता है ॥ १६९ ॥

संधिन्त्यनिर्देशावस्तागोपयः परिवर्जयेत् ।

औष्ट्रमैकशफं स्त्रैणमारण्यकमथाविकम् ॥ १७० ॥

गौः या घृणेण संधीयते सा संधिनी । 'वशां वन्धां विजानीयाद्वृषाक्रान्तां  
च संधिनीम्' इति त्रिकाण्डीस्मरणात् । या चैकां वेलामतिक्रम्य दुहते, या च  
प्रासान्तरेण संधीयते सा संधिनी । प्रसूता सत्यनतिक्रान्तदशाहा अनिर्देशा,  
मृतवत्सा भवत्सा, संधिनी च अनिर्देशा च भवत्सा च संधिन्त्यनिर्देशावस्ता-  
स्ताश्च गावश्च तासां पयः क्षीरं परिवर्जयेत् । 'संधिनी' ग्रहणं संधिनीयमल-  
सुयो रूपलक्षणार्थम् । यथाह गौतमः ( १७१५ )—'रघन्दिनीयमसूसंधिनीनां  
च' इति । अवरपयःस्तनी रघन्दिनी, यमलसूर्यमलप्रसविनी, एवमजामद्विष्योश्वा-  
निर्देशयोः पयो वर्जयेत्, 'गोमद्विष्यजानामनिर्देशानाम्' ( १४३५ ) इति  
वसिष्ठस्मरणात् । पयोग्रहणात्तद्विकाराणामपि दध्यादीनां निषेधः । नहि मात-  
निषेधे तद्विकाराणामनिषेधो युक्तः । विकारनिषेधे तु प्रकृतेरनिषेधो युक्तः ।  
पयोनिषेधाच्छकृन्मूत्रादेरनिषेधः । उष्ट्राज्जातमौष्ट्रं पयोमूत्रादि । एकशफ  
वल्वाद्यः, तत्प्रभवं ऐकशफम् । स्त्रीभवं स्त्रैणम् । 'स्त्री'ग्रहणमत्राप्यतिरिक्तक-  
लद्विस्तनीनामुपलक्षणार्थम् ।—'सर्वासां द्विरतनीनां क्षीरमभोजयमत्रावर्ज्यम्'  
इति शङ्खस्मरणात् । अरण्ये भवा अरण्यकास्तदीयमारण्यकं क्षीरं महिष्यर्षति-  
रेकेण । 'आरण्यानां च सर्वेषां मृगानां माहिर्यं विना' ( मनु ५१९ ) इति  
वचनात् । अवेर्जातमाविकम् । 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकमभिसंबन्धते । औष्ट्रमि-  
त्यादिविकारप्रत्ययनिर्देशात्तद्विकारमात्रस्य पयोमूत्रादेः सर्वदा निषेधः, 'निरप-  
माविकमपेयमौष्ट्रमैकशफं च' ( १७१४ ) इति गौतमस्मरणात् ॥ १७० ॥

भाषा—संधिनी ( वरदाई हुई, एक जून दूध देने वाली, घुमरी गाय  
के बछड़े से हुई जाने वाली ), दस दिन से कम पहले की ब्याई हुई गाय  
हा तथा जिनका बछड़ा मर गया हो ऐसी गाय का दूध नहीं पीना चाहिए ।

ऊटनी, एक सुरवाली पशुमादा ( घोड़े भादि ), जगली पशु और भेड़ का भी दूध न पीवे ॥ १७० ॥

देयतार्थं हवि शिशु लोहितान्प्रश्नानांस्तथा ।

अनुपाकृतमांसानि विड्जानि कवकानि च ॥ १७१ ॥

देवतार्थं बल्युपहारनिमित्त माधितम् । हवि हवनार्थं सिद्ध प्राक् होमात् । शिशु सोभाजनं, लोहितान् वृषनिर्यामान् । प्रश्नप्रभवान् वृषच्छेदनजातान् लोहितानपि । यथाह मनु — ( ५।६ ) । 'लोहितान् वृषनिर्यासान् प्रश्नप्रभवान् स्तथा' इति । 'लोहित'ग्रहणात् द्विह्रुकपूर्वादीनामनिषेध । अनुपाकृतमांसानि यज्ञेऽद्भुतस्य पशोर्मांसानि, विड्जानि मनुष्यादिजन्तुषु पुरीपोरपैशानि तण्डुलीयकप्रभृतीनि च, कवकानि ह्यन्नाकाणि, 'धर्जयेत्' इति प्रत्येकमभिसम्पद्यते ॥ १७१ ॥

भाषा—देवता के लिए साधित बलि, हवन सामग्री, सोभाजन, गौद, वृष के काटने पर निकले हुए द्रव, यज्ञ में आहुत पशु का मांस, विष्ठा के स्थान पर उत्पन्न अन्न और कुकुरमुत्ता आदि का भोजन न करे ॥ १७१ ॥

क्रव्यादपक्षिदात्युहशुकप्रतुदट्टिभान् ।

सारसैकशफान्दंसान्सर्वाश्च ग्रामवासिन ॥ १७२ ॥

क्रव्यादा आममांसादनशीला, पक्षिणो गृध्रादयः, दात्युहश्चातक, शुकः कीर । चञ्चवा प्रतुष भक्षयन्तीनि प्रतुदा श्येनादयः, टिट्ठिभरतच्छृङ्गाकारि, सारसो लघमण, एकशफा भवाद्यः, हसा प्रसिद्धा, ग्रामवासिनः पारावत-प्रभृतयः, एतान्क्रव्यादादीन्वर्जयेत् ॥ १७२ ॥

भाषा—शव का मांस खाने वाले गृध्र आदि पक्षी, चातक, तोता, चोंच से नोचकर खाने वाले बाज आदि पक्षी, सारस, एक सुर वाले पशु ( घोड़े आदि ), हस और ग्राम में रहने वाले सभी पक्षियों का ( भक्षण न करे ) ॥ १७२ ॥

कोयष्टिल्लेषचक्राह्यलाकायकविष्किरान् ।

वृषाकृसरसंयावपायसाऽपूपशकुलो ॥ १७३ ॥

कोयष्टि क्रौञ्च, प्लवो जलकुवकुटः, चक्राह्यकवाक, बलाकायको सिद्धौ, नलैर्विकीर्यं भक्षयन्तीति विष्किराश्चकोरादय एव गृह्यन्ते, लावकः, यूरादीनां भक्षयावात्, ग्रामकुवकुटस्य ग्रामवासिन्वादेव निवेधाच्च । एतान्को-  
ष्टयादीन्वर्जयेत् । वृषा देवताद्युद्देशमन्तरेण साधिता कृसरसंयावपायसाऽ-

पूपशक्नुलीर्वर्जयेत् । कृसरं तिलमुद्गमिदं भोदनः । संयावः क्षीरगुहृपृतादिकृत  
 वरकरिकाद्यः पारुविशेषः । पायसं पयसा शृतमद्यम् । अपूपोऽस्नेहपको  
 गोधूमविकारः । शक्नुली स्नेहपको गोधूमविकारः । 'न पचेदन्नमात्मने' इति  
 कृसरादीनां निषेधे सिद्धे पुनरभिधानं प्रापञ्चितगौरवार्थम् ॥ १७३ ॥

भाषा—कौंच, अल कुवकूट, चक्रवाक, यलाका, बगुला, नख से छील कर  
 खाने वाले चक्रोर आदि पक्षी, देवता के लिये न बनाये गये ( तिल और मूंगे  
 का ) कृसर ( दूध, घृत और गुहृ से बनाये गये ) संयाव, क्षीर, पूप और  
 पूरी को भोजन के लिये नहीं भक्षण करना चाहिए ॥ १७३ ॥

कलविद्धं सकाकोलं कुररं रञ्जुदालकम् ।  
 जालपादाञ्जरीटान्जातांश्च सृगत्रिजान् ॥ १७४ ॥

कलविद्धी ग्रामचटकः, ग्रामनिवासिन्वेन प्रतिषेधे सिद्धे सद्युभयचारिणा-  
 पुनर्वचनम् । काकोलो द्रोणकाकः, कुरर वल्कोलाः, रञ्जुदालको वृषकुदकः,  
 जालपादो जालाकारपादाः, अजालपादा अपि हंसाः सन्तीति हंसानां पुनर्वच-  
 नम् । खजरीटः खजनः, जातितो ये अज्ञाता सृगाः पक्षिणश्च, पुनरकलविद्धा-  
 दीभर्जयेत् ॥ १७४ ॥

भाषा—कलविद्ध ( ग्रामचटक ), काकोल ( द्रोणकाक ), कुरर, रञ्जु-  
 दालक ( कठफोड़वा ), जालीदार पैरों वाले पक्षी, खजन और अज्ञात जाति  
 वाले पशु पक्षियों के भक्षण से परहेज रखे ॥ १७४ ॥

चापांश्च रक्तपादांश्च सौनं वदत्पूरमेघ च ।

मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्या सोपवासरय्यहं यसेत् ॥ १७५ ॥

चापाः किर्कीद्विवधः रक्तपादाः काश्म्वप्रमृतयः, सूनिना रक्तं सौनं  
 घातस्थानभवं मांसं भक्षणागमपि, वदत्तरं शुष्कमांसम्, मत्स्या मीनाः, एतां-  
 ध्यापादीन्वर्जयेत् । चकाराशालिकाशणक्षत्राककुसुमभादीन्, 'नालिकाशणक्षत्रा-  
 ककुसुमभालासुविद्धमवान् । कुम्भीकन्दुकवृन्ताककोविदारश्च वर्जयेत् ॥' इति तथा-  
 ऽकालप्रकृदानि पुष्पाणि च फलानि च । विकारवच्च यत्किञ्चिप्रयत्नेन विवर्ज-  
 येत् ॥ 'तथा घटप्लक्ष्माश्वर्कपिथनीपमानुलिङ्गफलानि वर्जयेत्' इति स्मरणात् ।  
 एतान्स्वधिनीक्षीरप्रभृतीन्नुक्तान्ताम्कामतो भक्षयित्वा विराप्रमुपवसेत् । अका-  
 मततरावहोरात्रम् । 'दीपेपुपवसेद्दः' ( ५।२० ) इति मनुस्मरणात् । चापुनः  
 शशुनोक्तम्—'बलयलाकाहंसप्लवचक्रवाककारणवृहृषट्ककपोतपारावतवापु-  
 शुक्सारिकासारतट्टिभोल्लरुकडूरकपादचापभासवायसकोकिलशाह्वलिबुबकूट-



‘हारीतभक्षणे द्वादशरात्रमनाहारः, पिवेद्गोमूत्रयावक्म्’ इति तद्बहुकालाभ्यासे मतिपूर्वे समस्तभक्षणे वा वेदितव्यम् ॥ १७५ ॥

भाषा—चाप, रक्तपाद (कादम्ब आदि), वधिक द्वारा मारे गये पशु का मांस, सुया मांस और मल्ली का भक्षण न करे। इन सबका जानबूझ कर भक्षण करने पर तीन दिन तक उपवास करे ॥ १७५ ॥

पलाण्डुं विड्वराहं च छत्राकं ग्रामकुक्कुटम् ।  
लशुनं गृजनं चैव जग्न्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७६ ॥

पलाण्डुं स्थूलकन्दनालो लशुनानुकारी, विड्वराहो ग्रामसूकर\*, छत्राकं सर्पद्वयम्, ग्रामकुक्कुट. प्रसिद्ध\*, लशुन रसोनं सूक्ष्मरवेतकन्दनालम् । गृजनं लशुनानुकारिलोहितसूक्ष्मकन्दम्, एतानि षट् सकृत्कामतो जग्न्वा भक्षयित्वा चान्द्रायणं वक्ष्यमाणलक्षणं चरेत् । ग्रामकुक्कुट-छत्राकयोः पूर्वंप्रतिवेधितयोरिहाभिधानं पलाण्डुवादिसमानप्रायश्चित्तार्थम् । मतिपूर्वं चिरतराभ्यासे तु ‘छत्राक विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डु गृजनं चैव मर्या जग्न्वा पतेद्विज’ इति ( ५१९ ) मनुक्तम् । अमतिपूर्वाभ्यासे—‘अमर्यातानि षट् जग्न्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्’ ( ५१९ ) तृतीयाध्याये, वक्ष्यमाण ‘यत्तच्चान्द्रायणं वापि’ इति द्रष्टव्यम् । अमतिपूर्वाभ्यासे तु शब्दोक्त—‘लशुनपलाण्डुगृजनविड्वराह-ग्रामकुक्कुटकुम्भीकभक्षणे द्वादशरात्र पयः पिवेत्’ इति ॥ १७६ ॥

भाषा—प्याज, ग्रामसूकर, छत्राक ( कुकुरमुत्ता ), ग्रामकुक्कुट, लहसुन, और गृजन ( गाजर या शलजम ) का ( जानबूझ कर ) भक्षण करने पर चान्द्रायण व्रत करे ॥ १७६ ॥

भक्ष्याः पञ्चनखाः सोधामोधाकच्छपशैल्लका ।  
शशश्च मत्स्येष्वपि द्वि सिंहतुण्डकरोहिताः ॥ १७७ ॥  
तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ।

सोधा श्वावित्, गोधा कृकलासानुकारिणी महती, कच्छप\*, कूर्म\*, शल्लकः शल्लकी, शश\* प्रसिद्ध\*, पञ्चनखादीनां श्वमाजरीवानरादीनां मध्ये एते मेधा-दयो भक्ष्याः । चकारारल्लङ्गोऽपि । यथाह गौतम ( १७१२७ )—‘पञ्चनखाः शशशल्लकश्चाविद्गोधासङ्गकच्छपा’ इति । यथाह मनुरपि ( ५१२८ )—‘श्वविधं शल्लकं गोधां खड्गकूर्मशशस्तथा । भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वहुरनुष्ठीकृतोदतः ॥’ इति । यत्पुनर्वसिष्ठेन ‘खड्गो तु विवदन्ति’ ( १४१७७ ) इत्यभक्ष्यवमुक्त, तच्छूद्रादान्मयत्र, ‘खड्गमांसं भवेद्वैतमघट्य पितृकर्मणि’ इति श्राद्धे फलश्रुति-

१ दधित्य । २. प्रतिविद्यो । ३. शक्यका । ४. शालक-शाली । ५. शक्यक ।

दर्शनात् । तथा मर्यादां मध्ये सिंहतुण्डादयो भक्ष्याः । सिंहतुण्डः सिंहमुखः,  
रोहितो लोहितवर्णः, पाठीनश्चन्द्रकाष्ठः, राजीवः पद्मवर्णः, सह शकैः शुक्रया-  
कारैर्युक्त इति सशकः । एते च सिंहतुण्डादयो नियुक्ता एव भक्ष्याः । 'पाठीन-  
रोहितापाधौ नियुक्तौ हृष्यकम्पयोः । राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशककारचैव  
सर्वशः ॥' इति (५१३६) मनुस्मरणात् । 'द्विजाति'ग्रहणं शुद्ध्युदासार्थम् ॥ १७७ ॥

भाषा—सेधा ( सेंधुआर ), गोधा ( गोह ), कच्छुभा शकलक ( साही )  
और परगोदा ये पद्मनख ( पंजे वाले ) जीव भक्षण करने योग्य होते हैं ।  
मछलियों में भी सिंही, रोहित ( रोहू ) पाठीन, राजीव ( पद्म के समान रंग  
वाली ) और सशक ( शुक्ति के आकार वाली ) द्विजातियों के लिये भक्ष्य  
होती है ॥ १७७ ॥

'अभक्षितं घृथामांसम्' ( भा. १६७ ) इत्यारभ्य द्विजातिधर्मानुक्तेदानो  
चातुर्वर्ण्यधर्मात्—

अतः शृणुष्व मांसस्य विधिं भक्षणवर्जने ॥ १७८ ॥

मांसस्य प्रोक्षितादेर्भक्षणे तद्व्यतिरिक्तस्य वा निषिद्धस्य वर्जने प्रोक्षितादि-  
व्यतिरेकेण मांसं न भक्षयानीत्येवं संक्षेपरूपेण विधिं साम्प्रथमः प्रमृतयः हे  
मुनयः । शृणुष्वम् ॥ १७८ ॥

भाषा—अथ मांस के भक्षण एवं त्याग का नियम सुनें ॥ १७८ ॥

तत्र भक्षणे विधिं दर्शयति—

प्राणात्यये तथा धादे प्रोक्षिते द्विजकाम्यया  
देवान्पितृभ्यस्तमभ्यर्च्य श्रोद्दन्मांसं न दोषभाक् ॥ १७९ ॥

अज्ञामावेन व्याध्यभिभवेन वा मांसभक्षणमन्तरेण यदा प्राणवायुः भवति,  
तदा मांसं नियमेन भक्षयेत् । 'सर्वत एवात्मानं गोवायेत्' इत्यारभ्यवि-  
धानात् । 'तस्माद्बुध न पुरायुषः स्वः कामी प्रेयात्' इति मरणनिषेधाच्च ।  
तथा धादे मांसं निमन्त्रितो नियमेन भक्षयेत् ; अभक्षणे दोषध्वणात्, 'यथा-  
विधिं नियुक्तस्तु यो मांसं नास्ति मानवः । स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेक-  
विंशतिम् ॥' ( ५१३५ ) इति मनुस्मरणात् । प्रोक्षणाद्यधौतसंस्कारसंस्कृतस्य  
पशोर्धागार्थस्वाग्नीषोमीयादेर्हुतावशिष्टं मांसं प्रोक्षितं तद्वक्षयेत् ; अभक्षणे  
यागान्पितृभ्यः । द्विजकाम्यया ब्राह्मणभोजनार्थं देवपित्र्यं च यत्साधितं तेन  
तानभ्यर्च्यैवशिष्टं भक्षयन्न दोषभाग्भवति । एव शृत्यभरणावशिष्टमपि ; 'यज्ञार्थं  
ब्राह्मणैर्वंध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः । शृत्याना चैव वृत्तपर्यभगराधो ह्याचरन्तुरा ॥'

१. नियुक्तस्यैव । २. चातुर्वर्ण्यं प्रत्याह । ३. तस्माद्बुध । ४. अभ-  
क्षणाद्यागा । ५. शचरत्तथा ।

इति (५।२२) मनुस्मरणात् । 'न दोषभाक्' इति दोषाभावमात्रं वदता भति-  
 च्याद्यर्चनावशिष्टस्याभ्यनुज्ञामात्रं न प्रोक्षितादिवस्त्रियम इति दर्शितम् । एवम-  
 प्रतिषिद्धानामपि शशादीनां प्राणात्ययव्यतिरेकेणाभक्ष्यत्वावगमात् शूद्रस्यापि  
 मांसप्रतिषेधः सर्वविधिनियेधाधिकारोऽवगम्यते ॥ १७९ ॥

जब ( भन्न के अभाव में या रोग में ) मांस के बिना प्राण बचना कठिन  
 हो, श्राद्ध में, प्रोक्षण नाम के ( धौत सरकार ) में देवताओं की आहुति से  
 अवशिष्ट, ब्राह्मण के भोजन या देवता या पितर के लिये बनाये गये मांस  
 को देवता और पितरों की अर्चना करके खाने वाला दोष का भागी नहीं  
 होता है ॥ १७९ ॥

इदानीं प्रोक्षिताव्यतिरिक्तस्य वृथामासमिष्यनेन प्रतिषिद्धस्य भक्षणे  
 निन्दार्थवादमाह—

वसेत्स नरके घोरे दिनाति पशुरोमभिः ।

संमितानि दुराचारो यो ह्यन्यविधिना पशून् ॥ १८० ॥

अविधिना देवताद्युद्देशमन्तरेण यः पशून् हन्ति स तस्य पशोर्वावन्ति  
 रोमाणि तावन्ति दिनानि घोरे नरके वसेत् । 'हन्ति' इत्यष्टविधोऽपि घातको  
 गृह्यते । यथाह मनु ( ५।५१ ) 'अनुमन्ता विशसिता निहन्ता ऋषविक्रयी ।  
 सरकर्ता चोपहर्ता च ग्वादकश्चेति घातकाः ॥' इति ॥ १८० ॥

भाषा—जो दुराचारी व्यक्ति बिना विधि के ( देवता या पशु के लिये  
 नहीं अपितु स्वयं अपने लिये ) पशुका वध करता वह उतने  
 दिन तक घोर नरक में यास करता है जितने रोएँ उस पशु के शरीर में  
 रहे हों ॥ १८० ॥

इदानीं वर्जने विधिमाह—

सर्वान्कामानवाप्नोति ह्यमेघफलं तथा ।

गृहेऽपि नियसन्विप्रो मुनिर्मांसविषर्जनात् ॥ १८१ ॥

यः प्रोक्षितादिव्यतिरेकेण मया मांसं न भक्षितव्यमिति सत्यसङ्करो भवति  
 स सर्वान्कामान् तासाधने प्रवृत्तो निर्बिघ्नं प्राप्नोति; विशुद्धाशयात् । यथाह  
 मनु ( ५।४७ )—'यद्वायते यद्गुरुते रतिं वपनाति यत्र च । तद्वाप्नोत्य-  
 विघ्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥' इति । एतद्व्यानुपद्विक फलम् । मुख्य फल-  
 माह—ह्यमेघफलं तथेति । एतच्च सांख्यसंस्कृतस्य; 'वर्षे वर्षेऽभ्यमेधेन  
 यो यजेत दातं समा । मांसानि च न खादेशतयोः पुण्यफलं समम् ॥' इति  
 ( ५।५२ ) मनुस्मरणात् । तथा गृहेऽपि नियसन् ब्राह्मणादिश्चातुर्वर्णिको

मुनिवन्माननीयो भवति; मांसस्यागात् । एतच्च न प्रतिषिद्धमांसविषयम् ,  
नापि प्रोक्षितादिविषयम् , किंतु पारिषोष्यादतिष्याद्यचर्चनावशिष्टाभ्यनुज्ञात-  
विषयमिति ॥ १८१ ॥

भाषा—(जो यज्ञ के अतिरिक्त अन्य) मांस का भक्षण न करने का सख-  
संकल्प करता है वह सभी अभिलाषाओं एवं अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त  
करता है । मांस का त्याग कर देने पर ब्राह्मण अपने घर में रहता हुआ भी  
मुनितुल्य होता है ॥ १८१ ॥

इति भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम् ।

अथ द्रव्यशुद्धिप्रकरणम्

इदानीं द्रव्यशुद्धिमाह—

सौवर्णराजताब्जानामूर्ध्वपात्रप्रहाश्रमनाम् ।

शाकरश्जुमूलफलवासोविदलचर्मणाम् ॥ १८२ ॥

पात्राणां चमसानां च वारिणा शुद्धिरिष्यते ।

चरुस्रुक्स्रुवसस्त्रेहपात्राण्युष्णेन वारिणा ॥ १८३ ॥

सौवर्णं सुवर्णकृतम् , राजतं रजतकृतम् , अब्जं मुक्ताफलशङ्खशुक्रयादि,  
ऊर्ध्वपात्रं यज्ञियोल्लखलादि; प्रहादिसाहचर्यात् । प्रहाः षोडशप्रभृतयः,  
अश्या दृषदादिः, शाकं वास्तुकादि, रज्जुः बल्लजादिनिर्मिता, मूलमार्द्र-  
कादि, फलमात्रादि, वासो वस्त्रम् , विदलं वीणवादि, चर्मं अजादीनाम् ,  
'विदल चर्मणो'ग्रहणं तद्विकाराणां छत्रपरभादीनामुपलक्षणार्थम् । पात्राणि  
श्रेष्ठणीपात्रप्रभृतीनि, चमसा होतृचमसादयः, पत्रेषां सौवर्णादीनां लेपरहिताना-  
नामुच्छिष्टस्पर्शमात्रे वारिणा प्रक्षालनेन शुद्धिः, चरुश्चरुस्थाली, \*स्रुक्स्रुवौ  
प्रसिद्धौ, सरुनेहानि पात्राणि प्राशिन्नहरणादीनि, एतानि च लेपरहितान्युष्णेन  
वारिणा शुद्धयन्ति; 'निलोपं काष्ठनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्धयति । अब्जमश्रममयं  
ष्वैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥' इति ( ५।१।२ ) मनुस्मरणात् । अनुपस्कृतम-  
न्नातपूरितम् । सलेपानां तु—'तैजसानां मथीनां च सर्वेऽस्याश्रममयस्य च ।  
अश्रमनाऽद्भिर्मुदा ष्वैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥' इति ( ५।१।१ ) मनुक्तं  
द्रष्टव्यम् । मृद्भस्मनोरेककार्यत्वाद्विषद्वयः । आपस्तु समुष्चीयन्ते । काकादिमुष्णो-  
पघाते तु—'कृष्णशकुनिर्मुखावमृष्टं पात्रं निर्लिखेत्, आपद्मुखावमृष्टं पात्रं न  
प्रयुञ्जीत' ( गौ. सू. १०।४ ) इति द्रष्टव्यम् । एतच्च मार्जारादन्यत्र, 'मार्जारा-  
श्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः ।' इति मनुस्मरणात् ॥ १८२-१८३ ॥

भापा—सोने, चाँदी और भद्र ( मुक्ताफल, शख और शुक्ति ) के पात्र, ( उलूखल आदि ) यज्ञिय पात्र, ग्रह ( यज्ञिय पात्र ), पत्थर, चाक, रस्मी, मूल, ( आम्र आदि ) फल, वस्त्र, बॉत, ( बकरी आदि का ) चमड़ा, ( यज्ञ का ) प्रोक्षणपात्र, ( होता आदि क ) चमस की शुद्धि जल से धो देने से होती है। चरस्थाली, सुवा, घी आदि चिकने पदार्थ से युक्त पात्र उष्ण जल से शुद्ध होते हैं ॥ १८२-१८३ ॥

यज्ञपात्रादीनां प्रोक्षणेन शुद्धि —

स्फयशूर्पाऽजिनधान्यानां मुसलोलूखलाऽनसाम् ।

प्रोक्षणं संहतानां च बहूनां धान्यवाससाम् ॥ १८४ ॥

स्फयो वज्रो यज्ञाङ्गम्, अन शकटम्, शप प्रसिद्धम्, पतेयामुष्णेन शरिणा शुद्धि । पुन 'अजिन'ग्रहण यज्ञाङ्गाजिनप्राप्त्यर्थम् । संहतानामुक्तशुद्धेद्रव्या'रब्धावयविनां बहूनां धान्याना वाससां च । 'वासो'ग्रहणमुक्तशुद्धी- ॥मुपलक्षणार्थम् । उक्तशुद्धीनां धान्यवास प्रभृतीनां बहूनां च राशीकृतानां प्रोक्षणेनैव शुद्धि । बहुस्य च स्पृष्टापेक्षया । एतदुक्तं भवति—यदा धान्यानि वस्त्रादीनि वा राशीकृतानि तत्र चण्डालादिस्पृष्टान्यस्त्वानि बहूनि चास्पृष्टानि तत्र स्पृष्टानामुक्तैव शुद्धिरितरेषां प्रोक्षणमिति । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'वस्त्र धान्यादिराशीनामेकदेशस्य दूषणे । तावन्मात्रं समुद्ध्यत्य दोषं प्रोक्षणमर्हति ॥' इति । यदा पुन स्पृष्टाना बहुस्य अस्पृष्टानां चास्त्व तदा सर्वेषामेव शालनम् । यथाह मनुः ( ५।१।१८ )—'अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् । प्रशालनेन स्वल्पानामद्भिः शौचं विधायत ॥' इति । स्पृष्टानामस्पृष्टानां च समस्तेऽपि प्रोक्षणमेव । बहूनां प्रोक्षणविधानेनाश्वानां शालने सिद्धे पुनरश्वानां शालनवचनस्य समेषु शालननिवृत्त्यर्थत्वात् । इयस्स्पृष्टमिदस्पृष्टमित्यविवेके तु शालनमेव । पाश्चिक्स्यापि दोषस्य परिहर्तव्यत्वात् अनेकपुरुषोद्धार्यमाणानां तु धान्यवास प्रभृतीनां स्पृष्टानामस्पृष्टानां च प्रोक्षणमेवेति निबन्धनम् ॥ १८४ ॥

भापा—स्फय ( यज्ञवज्र ) सूय, कृष्णमृगधर्म, धान्य, मूल, खोल और शकट की भी ( शुद्धि उष्ण जल से धोने पर होती है ) धान्य की राशी और कई वस्त्र हों तो जल के छींटों से ही शुद्ध होती है ॥ १८४ ॥

निलेपानां स्पर्शमात्रदुष्टानां शुद्धिमुक्तवदानीं सलेपानां शुद्धिमाह—

तक्षणं दारुशृङ्गास्यनां गोपालै फलसंभुषाम् ।

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ॥ १८५ ॥

१ द्रव्याणां बहूनां । २ शालनवचननिवृत्ति । ३ अनेकपुरुषोद्धार्यार्थं ।

६ या०

दारुणां मेघमहिषादिशृङ्गाणां करिवाराद्दशह्लाघरन्नाम् । 'अस्थि'ग्रहणेन  
 दन्तानामपि ग्रहणम् । उच्छिष्टश्चेद्दादिभिर्लिप्तानां मृज्जस्मोदकादिभिरनपगतले-  
 पानाम् । मनुः ( ५।१२६ )—'यावन्नापैथमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च ताकृतः ।  
 तावन्मृद्धारि षादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥' इति सामान्यतः शुद्धिविधानात् ।  
 तद्यथा तावन्मात्रावयवावयवमं शुद्धिः । फलसंभुवां विहवालातुनारिकंठादि-  
 फलसंभूतानां पात्राणां गोवालैस्पर्शगात्शुद्धिः । यज्ञपात्राणां सुक्षुब्धवादीनां  
 यज्ञकर्मणि प्रयुज्यमानानां दक्षिणेन हस्तेन दर्भैर्दशपत्रिणेन वा यथाशास्त्रं  
 कर्माङ्गतया मार्जनं कर्तव्यम् । एतच्च धौतमुदाहरणमन्येषामपि सौवर्णादीनां  
 पात्राणां स्मार्तलौकिकर्मसु कृतशौचानामेवाङ्गत्वमिति दर्शयितुम् । यज्ञाद्गानां  
 पुनः कृतशौचानामिदं दशपत्रिणादिभिर्मार्जनं संस्कारार्थमिति शेषः ॥ १८५ ॥

भाषा—भेद या भैस भादि के सीप और हाथी, सूकर की अस्थियों  
 ( एवं शङ्ख ) से बने हुए पात्र की शुद्धि उसे खुरचने से होती है । फल से  
 बनाया हुआ पात्र गोपाल से रगड़ने पर शुद्ध होता है । यज्ञ के समय ( सुक्षु-  
 बुया भादि ) यज्ञ पात्र हाथ से पोंछने पर ही शुद्ध हो जाते हैं ॥ १८५ ॥

इदानीं सलेपानामेव केषांचित्श्लेषापकर्षणे विशेषहेतूनाह—

सोपरोदकगोमूत्रैः शुभ्यत्यायिककौशिकम् ।

सधीफलैरंशुपट्टं सारिष्टैः कुतपं तथा ॥ १८६ ॥

ऊपरमृत्तिकासहितेन गोमूत्रेणोदकेन वा लेपापेक्षया । आविकमूर्णमयम्,  
 कौशिकं कौशप्रभवं तसरीपट्टादि प्रशालितं शुद्धयति । 'उदकगोमूत्रैः' इति  
 बहुवचनं पश्चाद्पुदकमाप्सर्यम् । अंशुपट्टं वहकलतन्नुकृतम्, सधीफले-  
 र्विल्वफलसहितैः, कुतपः पार्यतीपद्वागरोमनिर्मितकम्बलः, अरिष्टैसहितैरुदक-  
 गोमूत्रैः, शुभ्यतीत्यनुवर्तते । एतच्चोच्छिष्टश्चेद्दादियोने मति वेदितव्यम् ।  
 अतपोपघाते तु मोक्षणादिः शालनासश्चत्वात्, सर्वत्र द्रव्याग्निनाशेनैव शुद्धेरिष्ट-  
 स्वात् । तथा च देवश्ल—'ऊर्णाकौशेयकुतपपट्टसौमदुष्कृलजाः । अतपशौचा  
 भवन्त्येते शोषणशोचणादिभिः ॥' इत्यभिधायाह—'तान्येषामेष्वयुक्तानि शाल-  
 येच्छोषनैः स्वकैः । धान्यकल्कैस्तु फलजै रसैः चारानुगैरपि ॥' इति सौम्यदेव  
 शाण्ड्य समानयोनिर्वात् । ऊर्णादिग्रहणं तदारब्धतूलिकादिमाप्सर्यम् । अत-  
 स्तस्याहपोपघातेनैव शालनं कार्यम् । अमेध्वलेपादनप्रश्न—'तूलिकामुपघानं च  
 पुष्परक्ताम्बरं तथा । शोपयित्वा नपे किञ्चि करैः संमार्जयेन्मुहुः ॥ पश्चाच्च वारिणा

१. हेतुलक्षणेनाह । २. सोपैरुदक (= ऊपरमृत्तिकासहितैः) । ३. अरि-  
 ष्टकलसहितैः । अरिष्टसहितैः केनकसहितैः । ४. योगत्वात् ।

प्रोषय विनियुञ्जीत कर्मणि । तान्यप्यतिमलिष्टानि यथावत्परिशोधयेत् ॥' इति  
देवलस्मरणात् । पुष्परक्तानि कुङ्कुमकुसुम्भादिरक्तानि । 'पुष्परक्त'ग्रहणमन्यस्यापि  
हरिद्रादिरक्तस्य चालनासहस्य प्राप्स्यर्थम् , न मञ्जिष्ठादे, तस्य चालनसह-  
स्वात् । शङ्खेनाप्युक्तम्—'रागद्रव्याणि प्रोक्षितानि शुचीनि' इति ॥ १८६ ॥

भाषा—ऊन की वस्तुएँ कवल आदि और तसरी पट्ट आदि ऊपर स्थान  
की मिट्टी ( रेह ) और जल या गोमूत्र से धोने पर शुद्ध होती हैं । वरकल से  
घना हुआ वस्त्र इनके साथ धीकल मिलाकर साफ करने से स्वच्छ होते हैं  
और ( पहाड़ी भेड़ों के रोवें से घना हुआ ) कुतप, हुआला आदि रीटी, गोमूत्र  
और जल से धोये जाते हैं ॥ १८६ ॥

सगौरसर्वपै. क्षौमं पुन पाकान्महीमयम् ।

कारुहस्त शुचि पण्यं भैक्षं योपिन्मुख तथा ॥ १८७ ॥

गौरसर्वपसहितैरदकगोमूत्रै क्षौम क्षुमा अतसी तस्यप्रनिर्मित क्षौम शुद्धप  
ति । पुन पाकेन च मृन्मय घटादि । एतच्चोच्छिष्टस्नेहलेपे वेदितव्यम् ।  
मनुः ( ५।१२३ )—'मंसैर्मूत्रै पुरीषैश्च श्लेष्मपूयाश्रुशोजितै । सस्पृष्ट नैव  
शुद्धयेत पुन पाकेन मृ-मयम् ॥' इति स्मरणात् । चण्डालापुपवाते तु त्याग  
एव । यथाह पराशर—'चण्डालाद्यैस्तु सस्पृष्ट धान्य वस्त्रमथापि वा । प्रक्षाल  
नेन शुद्धयेत परिरथागामहीमयम् ॥ इति । कारवो रजकचैलधावकसूपकारा  
घास्तेषां हस्त सदा शुचि । शुचित्व तस्माध्ये कर्मणि । वस्त्रधावनादौ सूत  
कादिसभवेऽपि । तथा च स्मृत्ये तरम्— कारव शिदिपनो वैद्या दामोदासा  
स्तथैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्य नौवा प्रकीर्तिता ॥' इति । पण्य पणार्ह  
विक्रये यवघ्नीक्षादि । अनेकश्रेतृजनकरपरिघटितमप्यप्रयत न भवति । सूतकादि  
निमित्तेन च वणिजाम् । भिच्छाणो समूहो भैक्ष तद्ग्रहणचार्यादिहस्तगत अना  
घातस्त्रीप्रदानादिनाऽऽशुचिरव्याक्रमणादिना निमित्तेनारि न दुःखति । तथा  
योपिन्मुख सभोगकाले शुचि । द्विपञ्च रतिसमर्गो' इति स्मरणात् ॥ १८७ ॥

भाषा—अतसी के सूत से घना हुआ वस्त्र पीले सरसों और गोमूत्र एवं  
जल से स्वच्छ होता है । मिट्टी के पात्र घटा इत्यादि पुन पकाने से शुद्ध  
होते हैं । रगरेज, धोबी, मूषकार आदि गिरिपरों के हाथ, ( जी, घान आदि )  
विक्रय की वस्तु, सिन्दूर, रक्त, स्मृत, और ( सभोगकाल ) में स्त्री का मुख  
सदैव पवित्र रहते हैं ॥ १८७ ॥

हदानां भूशुद्धिमाह—

भूशुद्धिर्मार्जगानाद्वाहान्कालाद्गोक्रमणात्तथा ।

सेकादुल्लेखनाल्लेपाद्गृहं मार्जनलेपनात् ॥ १८८ ॥

मार्जन्यां पांसुवृणादीनां प्रोक्षारणं मार्जनम् । दाहस्नानकाष्ठार्घ्यैः । कालो यावता कालेन लेपादिद्वयो भवति तावान् । गोक्रमणं गवां पादपरिघटनम् , सेकः क्षीरगोमूत्रगोमयचारिभिः प्रवर्षणं वा, उल्लेखनं तण्डुलैश्चननं वा, लेपो गोमयादिभिः, पतैः समस्तैर्ध्वंस्तैर्वा मार्जनादिभिरमेध्या दुष्टा मलिना च भूमिः शुद्धयति । तथा च देवलः—‘यत्र प्रसूयते नारी त्रिवते दद्यातेऽपि वा । चण्डालाप्युपितं यत्र यत्र विष्ठादिसंहतिः ॥ एवं करमलभूयिष्ठा भूरमेध्या प्रकीर्तिता । श्वसूकरसरोष्ठादिसंस्पृष्टा दुष्टतां मजेत् । अङ्गारतुपकेशास्थिभरमाद्यैर्मलिना भवेत् ॥’ इत्यमेध्या दुष्टा मलिनेति शोष्यभूमैर्लैविष्यमभिधाय शुद्धिविभागं दर्शयति— ‘पञ्चधा वा चतुर्धा वा भूरमेध्यादि<sup>१</sup> शुद्धयति । दुष्टान्विता त्रिधा द्वेषा शुद्धयते मलिनैकधा ॥’ इति । यत्र मनुष्या दद्यान्ते यत्र चाण्डालैरप्युपितं तत्र पञ्चभिर्वहनकालगोक्रमणसेकोल्लेखनैः शुद्धिः । यत्र मनुष्या जायन्ते यत्र च त्रिवन्ते यत्र चारयन्तं विष्ठादिसंहतिः तासां दाहवर्जितैस्तैरेव चतुर्भिः । श्वसूकरसरोक्षिरकालमप्युपितायाः गोक्रमणसेकोल्लेखनैस्त्रिभिः । वष्ट्रप्रामकुष्ठरादिभिरकालमधिवानितायाः सेकोल्लेखनाभ्यां शुद्धिः । अङ्गारतुपकेशादिभिरकालमधिवानिताया उल्लेखनेन शुद्धिः । मार्जनानुलेपने तु सर्वत्र समुच्छीयेते । एवं गृहं मार्जनलेपनाभ्यां शुद्धयति । गृहस्य पृथुगुपादानं संमार्जनलेपनयोः प्रतिदिवसं प्राणपर्यम् ॥ १८८ ॥

भाषा—पृथ्वी की शुद्धि ( झाड़ू आदि से ) झाड़ने, जलाने, समपछीतने, राग के पैर पड़ने, ( दूध, गोमूत्र, और जल ) छिड़कने, खोदने, ( गोबर आदि से ) छीपने से होती है । इसी प्रकार घर झाड़ने और छीपने से शुद्ध होता है ॥ १८८ ॥

गोघ्रातेऽत्र तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते ।

सलिलं भस्म मृत्नाऽपि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्ध्यते ॥ १८९ ॥

गोघ्राते गोभिःश्वासोपहतेऽग्ने सद्नीपमात्रे । तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते । ‘केश’ मृदणं लोमादिप्राणपर्यम् । कीटाः विपौलिकादयः । उदकं भस्म मृत्ना यथासंभवं प्रक्षेप्तव्यं शुद्धपर्यम् । यत्तु गौतमेनोक्तम् ( १०।८-९ )— ‘निश्वसन्नोऽग्न्यं केशकीटाद्यपक्षम्’ इति तत्रकेशकीटादिभिः सह पापकं तद्विषयम् ॥ १८९ ॥

१. संततिः ।

२. विशुद्ध्यति ।

३. तस्याः पञ्चका; तपोः पञ्च ।



भाषा—अन्न के गौ द्वारा सूच लिये जाने पर, उसमें केश, मक्खी या चींटी भादि कीड़ा होने पर उसे शुद्ध करने के लिये उसमें जल, राख या मिट्टी डालनी चाहिए ॥ १८९ ॥

त्रपुसीसकताम्राणां क्षाराम्लोदकवारिभिः ।

भस्माद्भिः कांस्यलोहानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च<sup>१</sup> ॥ १९० ॥

त्रपुप्रमृतीनि प्रसिद्धानि, तेषां क्षारोदकेनाम्लोदकेन वारिणा चोपघाता-  
पेक्षया समस्तैर्भ्यस्तैर्वा शुद्धि कार्या । कांस्यलोहानां भस्मोदकेन<sup>२</sup> । 'ताम्र-  
प्रहणादौतिकावृत्तिलोहयोर्ग्रहणम्, एकयोनिर्यात् । एतच्च ताम्रादीनामम्लोदका-  
दिभिः शुद्धयभिधान न नियमार्थम् । 'मलसयोगज तज्ज यस्य येनोपहन्यते ।  
तस्य सच्छोधन प्रोक्त सामान्य द्रव्यशुद्धिकृत् ॥' इत्यविशेषेण स्मरणात् । अतो  
न ताम्रादेरुच्छिष्टोदकादिलेपस्यान्येनापगमसंभवे निधमेनाम्लोदकादिना शुद्धिः<sup>३</sup>  
कार्या । अत एव मनुना सामान्येनोक्तम्—(५।१।४) 'ताम्राय कांस्यरैर्यानां  
त्रपुण. सीसकस्य च । शौच यथाहं वर्तम्य क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥' इति ।  
यत्तु—भस्मना शुद्धयते कांस्य ताम्रमाग्नेन शुद्धयति' इति, तत्ताम्रादे शौचस्य  
परं काष्ठा प्रतिपादयितु मान्यस्य निषेधाय । यदा तूपघातानि शयस्तदाऽम्लोद-  
कादीनामावृत्ति, 'गवात्रातानि कांस्यानि शुद्धोच्छिष्टानि यानि च । शुद्धयन्ति  
दशभि क्षारैः शकाकोपहतानि च ॥' (आपस्तव) इति स्मरणात् । ( दशक्षारा-  
नाह—'तिलमुष्ककशिप्रूणां कोकिलाक्षपलाशयो । काकजहा तथावृश्चिश्चाश्वथ-  
वटस्य च ॥ एभिस्तु दशभि क्षारैः शुद्धिर्भवति कांस्यके ॥' ) शुद्धिः प्लावो-  
द्रवस्य इति । द्रवस्य द्रवद्रव्यस्य घृतादे प्रस्थप्रमाणाधिकस्य शकाकासुप-  
हतस्य अमेध्यैः सरपटस्य च प्लाव प्लावन समानजातीयेन द्रवद्रव्येण भाण्डस्याभि-  
पूरण यावन्नि सरण शुद्धिरित्यनुवर्तते । ततोऽहस्य त्याग । बह्वहस्य च देना-  
कालाद्यपेक्षयापि वेदितव्यम् । यथाह—बौधायन —'देश काल तथा<sup>४</sup> मान द्रव्य  
द्रव्यप्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्था च ज्ञात्वा शौच प्रकुरपेत् ॥' इति । कीटाद्युप-  
हतस्य तूपवनम् । यथाह मनु (५।१।५)—'द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुपवन  
रमृतम्' इति । उपवनं चात्र वखान्तरिते पात्रे प्रचेप । अन्यथा कीटाद्युप-  
गमस्यासम्भवात् । शुद्धभाण्डरितस्य तु मधूदकादे. पात्रान्तरायनाप्युद्धिः ।—  
'मधूदक पयस्तद्विकाराश्च वात्राप्रागन्तरानयने शुद्धा' इति बौधायनस्मरणात् ।  
मधुघृतादेर्वर्णापसदहस्ताप्राप्तस्य पात्रान्तरानयन पुन पचन च कार्यम् । यथाह

१ तु । २. द्रववारिणा । ३. दकादिभि । ४. इदं ।  
पुस्तकेऽधिकम् । ५. अमेध्यद्रव्य । ६ तथामान । ७. घृतादेर्हीनवर्णा ।  
८. पचनं कार्यम् ।

शङ्कः—'अभ्यपहायीणां घृतेनाभिधारितानां पुनः 'पवनमेवं खेदानां स्नेहवद्र-  
सानां' इति ॥ १९० ॥

भाषा—पीतल, सीसा, ताँधा खारे या अम्लजल से शुद्ध होता है ।  
कॉसे और लोहे की शुद्धि भरम और जल से होती है । ( घी या तेल जैसे )  
द्रव पदार्थ की शुद्धि उसके पात्र में वहीं द्रव इतना डालने पर: होती है  
जितने से पात्र भरकर ऊपर गिरने लगे ॥ १९० ॥

एवं सौवर्णराजतादीनामेतत्प्रकरणप्रतिपादितानां सर्वेषामुच्छिष्टरुनेहाद्युपघाते  
शुद्धिमुक्त्वेदानीं तेषामेषामेष्वोपहतानां शुद्धिमाह—

अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धादिकर्षणात् ।

घाफशस्तमम्बुनिर्णिक्तमशार्तं च सदा शुचि ॥ १९१ ॥

अमेध्याः शरीरजा मला घसानुष्णादयः ; 'वसा शुक्रमसृष्ट्यामूत्रविट्कर्ण-  
विश्रवाः । श्लेष्माशु दूषिका रवेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥' (५।१३६) तथा—  
'मानुषारिषि यत्तं विष्टा रेतो मूत्रार्तं वसा । रवेदादोऽशु दूषिका श्लेष्म मथं चामेष्य-  
सुच्यते ॥' इति अमेध्यादयो मला मनुदेवलादिभिः प्रतिपादिताः तैर्वसादिरक्त-  
लिप्तममेध्याक्तं तस्य मृदा तोयेन च शुद्धिः कर्तव्या 'गन्धापकर्षणात् । आदि-  
ग्रहणाहलेपस्यापि ग्रहणम् । यथाह गौतमः (१।४२)—'लेपगन्धापकर्षणैः शौच-  
ममेध्यलिप्तस्य' इति । सर्वशुद्धिषु च प्रथमं मृत्तोयैरेव लेपगन्धापकर्षणं कार्यम् ।  
यदि गन्धादिमृत्तोयैर्न गच्छति तदान्येन; 'अशक्तावन्येन मृदभिः पूर्वं मृदा च'  
(१।४३) इति गौतमस्मरणात् । वसादिग्रहणं च सर्वेषाममेध्यस्य प्रतिपादयितुं न  
समानोपघाताय—'मधैर्मूत्रपुरीषैश्च श्लेष्मपूयाशुक्रोगितैः । सस्पृष्टं नैव शुद्धयेत्  
पुनःवाकेन मृन्मयम् ॥' (मनु० ५।१२३) ह्राद्युपघाते विशेषाभिधानात्—'अमेध्यासं-  
खैवमेयां देहाच्चैव मलाच्युताः' इति घचनाद्देहच्युतानामेव न स्वस्थानावस्थितानाम् ।  
पुररस्य नामेरुष्वै करम्यतिरिक्ताङ्गानामन्यामेष्यरसो ज्ञानम् । यथाह देवल —  
'मानुषारिषि यसां विष्टामार्तं व मूत्ररेतसि । गज्जानं शोणितं स्पृष्ट्वा परम्य ज्ञानमा-  
चरेत् ॥' इति—'तान्पेथ स्वानि संस्पृश्य प्रणारवाचम्य शुद्धयति' इति । तथा—  
'उर्ध्वं नामैः करी मुक्त्वा यदङ्गमुपहन्यते । तत्र ज्ञानमघस्तात् प्रणारवाचम्य  
शुद्धयति ॥' इति । कृतेऽपि यथोक्तशौचे मनसोऽपरितोपायत्र शुद्धिसदेशो भवति  
तद्वाक्यस्तं शुचि । शुद्धमेतदस्तिवति ब्राह्मणवचनेन शुद्धं भवतीत्यर्थः । अम्बु-  
निर्णिकं यत्र प्रतिपादिता शुद्धिर्नास्ति तस्य प्रचालनेन शुद्धिः । प्रचालनासहस्य

प्रोचणेन । अज्ञातं च सदा यस्काकाद्युपहतमुपयुक्तं न कदाचिदपि ज्ञायते तच्छुचि । तदुपयोगाददृष्टदोषो नास्तोऽयम् । नैवेतद्विरुद्धयते; 'संवासरस्यै-  
कमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्धयर्थं ज्ञातम्य तु विशेषतः ॥' इत्य-  
दृष्टदोषेऽपि प्रायश्चित्तप्रतिपादनात् । नैतत्, प्रायश्चित्तस्य जग्धिविपयत्वात्,  
दोषाभावेऽस्य चान्योपयोगिविपयत्वात् ॥ १९१ ॥

भाषा—( मलमूत्र, वसा आदि ) दूषित शरीर की गंदगी से अशुद्ध  
वस्तु मिट्टी और जल से उतना साफ करने पर शुद्ध होती है जितने से उसकी  
गन्ध ( और लेप ) द्वारा हो जाय । ( शुद्धि करने पर भी मन में सन्देह होने  
पर ) माह्वण के कह देने पर शुद्ध समझना चाहिए; जल के छींटे से शुद्धि  
होती है । जिस वस्तु के शुद्ध या अशुद्ध होने का ज्ञान न हो वह सदैव शुद्ध  
रहती है ॥ १९१ ॥

शुचि गोतृतिष्ठतोय प्रकृतिस्थं महोगतम् ।

तथा मांसं श्वचण्डालकड्यादादिनिपातितम् ॥ १९२ ॥

महोगतं भूमिस्थमुदकं एकगवीतृत्तिजननसमर्थं चण्डालादिभिररष्टुं  
प्रकृतिस्थं रूपरसगन्धस्पर्शान्तरमनापन्न शुचि आचमनादियोग्यं भवति ।  
'महोगतम्' इत्यशुचिभूगतस्य शुचित्वनिषेधार्थं नवान्तरिक्षोदकस्य शुद्धावस्था-  
वृत्त्यर्थम् । नाप्युद्धृतस्य—'उद्धृताश्चापि शुद्धयन्ति शुद्धे पात्रे' समुद्घृताः ।  
एकरात्रोपिता आपरत्वात्तया शुद्धा अपि स्वयम् ॥' इति देवलवचनात् । तथा  
चण्डालादिकृते तडागादी न दोषः; 'अन्यैरपि कृते रूपे येती वाप्यादिके तथा ।  
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति शास्त्रात्परमरणात् ।  
तथा मांसं श्वचण्डालकड्यादादिनिपातितं शुचि । आदिग्रहणात्पुष्कमादेरपि  
ग्रहणम् । निपातितग्रहणं भवितस्य निराकरणार्थम् ॥ १९२ ॥

भाषा—पृथ्वी पर शुद्ध प्राकृतिक रूप में पदा हुआ ( चाण्डाल आदि  
द्वारा न हुआ गया ) एक गौ के पीने भर जल शुद्ध ( आचमनादि के योग्य )  
होता है कुत्ता, चण्डाल, मांसमन्त्री पक्षी द्वारा काटा गया या गिराया गया  
मांस शुद्ध होता है ॥ १९२ ॥

रश्मिरग्नी रजश्छाया गौरेश्वो यमुधानिलः ।

विमुषो मशिकाः रूपदो वरसः प्रंस्तयने शुचिः ॥ १९३ ॥

१. उपभुवनं । २. मनु तद्वि । ३. भावरस वायुप्रयोग ।  
४. मार्ग मांसं ( = मुगादेमांसं ) । ५. रश्मिमुधानिलः । ६. प्रस्तयने ।

रश्मयः सूर्यादेः प्रकाशकव्यवस्थे । अग्निः प्रसिद्धः । रजः भजादिसंघन्य-  
व्यतिरेकेण । तत्र—‘श्रकाकोष्ठसूत्रोत्कसूकरप्राभ्यपचिणाम् । भजाविरेणुसंस्पर्-  
णादायुर्लक्ष्मीश्च हीयते ॥’ इति दोषधवणात्तरस्पर्शं संमार्जनादि कार्यम् । छाया  
वृष्टादेः, गौः, भद्रः, वसुधा भूमिः, अनिलो वायुः, विप्रुषोऽवस्थापविन्दवः,  
सुरजानां वक्ष्यमाणत्वात् । मल्लिकाश्च, एते चण्डालादिसृष्टा अपि स्पर्शं  
शुचयः । वसतः प्रस्तवने ऊधोगतदुग्धापकपर्णे शुचिः । ‘वसत’प्रहणं बालस्यो-  
पलक्ष्यार्थम् ; ‘बालैरनुपरिहान्तं स्त्रीभिराचरितं च यत् । अविज्ञातं च यत्किंचि-  
द्विष्यं मेघमिति स्थितिः ॥’ इति वचनात् ॥ १९३ ॥

भाषा—( सूर्यं आदि की ) किरणों, अग्नि, ( भजादि से अछूती ) धूल,  
छाया, गाय, अश्व, पृथ्वी, वायु वाष्प और मक्खी ( चण्डाल आदि से सृष्ट  
होने पर भी ) शुद्ध होते हैं, तथा दूध दुहते समय बछड़ा पवित्र  
होता है ॥ १९३ ॥

भजाश्वयोर्मुखं मेघ्यं न गोर्न नरजा मलाः ।

पन्थानश्च विशुद्धयन्ति सोमसूर्याशुमाहते ॥ १९४ ॥

भजाश्वयोर्मुखं मेघ्यम् । न गोः, न नरजा मलाः, ‘नर’शब्दो लक्षणया  
देहमभिधत्ते । तज्जा मला वसादयो मेघ्या न भवन्ति । पन्थानो मार्गाः  
श्वचण्डालादिभिः सृष्टा अपि राश्री सोमांशुभिर्माहतेन च शुद्धयन्ति । दिवा  
तु सूर्याशुभिर्माहतेन च ॥ १९४ ॥

भाषा—बकरे तथा घोड़े का मुख शुद्ध होता है, गौ का मुख नहीं ।  
मनुष्य शरीर से निकले हुए मल अशुद्ध होते हैं । ( कुत्ता, चाण्डाल आदि के  
संसर्ग पर ) मार्ग चन्द्रमा या सूर्य की किरणों और वायु के सम्पर्क से  
शुद्ध होता है ॥ १९४ ॥

सुरजा विप्रुषो मेघ्यास्तथाऽऽचमनविन्दवः ।

श्मश्रु चास्यगतं दन्तसक्तं त्यक्त्वा ततः शुचिः ॥ १९५ ॥

सुरजे जाता मुखजाः श्लेष्मविप्रुषो मेघ्याः नोच्छिष्टं कुर्वन्ति अनिपतिता-  
श्चेदङ्गे । ‘न मुखविप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेरङ्गे निपतन्ति’ इति गौतमवच-  
नात् । तथा च ये आचमनतोवविन्दवः याद्री सृष्टयन्ति ते मेघ्याः । श्मश्रु  
चास्यगतं मुखप्रविष्टमुच्छिष्टं न करोति । दन्तसक्तः पाप्मादिकं स्वयमेव व्युत्तं  
त्यक्त्वा शुचिर्भवति । अच्युतं दन्तसमम्<sup>१</sup> । तथा च गौतम—‘दन्तरिष्ट तु

१. भजाश्वं मुखतो मेघ्यं । २. पन्थानस्तु । ३. दन्तेभ्यः पतितं  
त्यजति गिहति वा पृतावता शुद्धयति विना आचमनं इति ।

दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात्प्राक् व्युत्तेरित्येके व्युत्तेष्वास्त्राववद्विद्याग्निगिरिन्नेत्र तत्पुत्रि' इति । निगिरणं पुनरनेन याज्ञवल्क्योवतेन त्यागेन विकल्प्यते । निगिरन्नेवेशेवकारः 'चर्वणे स्वाचमेग्नित्यं मुक्त्वा ताग्मूलचर्वणम् । ओष्टौ विलो-  
मकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥' इति विष्णुक्वाचमननिषेधार्थः । 'ताग्मूल'-  
ग्रहणं कलाद्युपलक्षणार्थम् । यथाह शातातपः—'ताग्मूले च फले चैव भुक्ते  
स्नेहावशिष्टके । दन्तलग्नस्य सस्पर्शं नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥' इति ॥ १९५ ॥

भाषा—मुख से निकले हुए थूक के बिन्दु तथा आचमन के जल के बिन्दु शुद्ध होते हैं (शरीर पर गिरने पर क्षुपित नहीं करते) । दाढ़ी मूछ पर सटे हुए मुह में तथा दाँत में लगे हुए जूड़े भोजन को साफ कर देने पर शुद्धि होती है ॥ १९५ ॥

स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे ।

आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च ॥ १९६ ॥

स्नानपानक्षुतस्वप्नभोजनरथ्योपसर्पणवासोविपरिधानेषु कृतेष्वाचान्तः  
पुनराचामेत् । द्विराचामेदित्यर्थः । चकाराद्भोदनाभ्ययनारम्भश्चापश्चानृतोक्त्या-  
दिषु । तथा च वसिष्ठः—'सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा रुदिरा  
चाचान्तः पुनराचामेत्' इति । मनुरपि ( ५।१।४५ )—'सुप्त्वा क्षुत्वा च  
भुक्त्वा च छीविशोक्तवानृत वचः । पीत्वापोऽप्येवमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि  
सन् ॥' इति । भोजने स्वादावपि द्विराचमनम्—'भोदयमाणस्तु प्रयतोऽपि  
द्विराचामेत्' इत्यापरतम्बशरणात् । स्नानपानयोराशी सृष्ट् । अप्ययने  
स्वाग्ने द्विः । सोपेवन्ते एव यथाक् द्विराचमनम् ॥ १९६ ॥

भाषा—स्नान करके, पानी पीकर क्षुत, क्षयन, भोजन करके तथा रथ  
पर चलने के बाद ( विशेष रूप से ) वस्त्र धारण करके पुनः ( अर्थात् दो  
बार ) आचमन करे ॥ १९६ ॥

रथ्याकर्द्धमतोयानि स्पृष्टान्यम्रपश्ववायसैः ।

मारुतेनैव शुद्धयन्ति पश्येत्कञ्चितानि च ॥ १९७ ॥

रथ्या मार्गमाश्रम्, कर्द्धम. पश्वः तोषमुदकम्, रथ्याशियानि कर्द्धम-  
तोयानि अम्रयैश्चण्डालादिभिः श्वभिर्वायसैश्च स्पृष्टानि मारुतेनैव शु-  
द्धयन्ति इतिमुपस्थापित । बहुवचन लङ्गतमोमवशकंरादिमात्पर्यम् । पश्येत्-  
कादिभिश्चिानि प्रायादपवत्स्पृष्टाशीभिश्चण्डालादिरस्पृष्टानि मारुतेनैव शुद्धयन्ति

१. नितिस्नेव निगरस्नेव । २. भुक्ते । ३. चाक्षरानृतो । ४ परवे-  
ष्टिकचितानि ।

एतद्य 'प्रोक्षणं संहतानाम्' ( मनु० ५।१५५ ) इत्युक्तप्रोक्षणनिषेधार्थम् ।  
सृगकाष्ठवर्णादिमयानां तु प्रोक्षणमेवेति ॥ १९७ ॥

भाषा—मार्ग का कीचद तथा जल चाण्डाल, कुत्ता और कौए द्वारा  
छुए जाने पर वायु से ही शुद्ध होते हैं । पत्की ईंटों से बना हुआ घर आदि  
भी ( वायु से शुद्ध होते हैं ) ॥ १९७ ॥

इति द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ।

### अथ दानप्रकरणम्

इदानीं दानधर्मं प्रतिपादयिष्यंस्तद्वद्भूतपात्रप्रतिपादनार्थं तत्प्रशस्तामाह—

तपस्तप्त्वाऽसृजद्ब्रह्मा ब्राह्मणान्वेदगुप्तये ।

तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च ॥ १९८ ॥

महा द्विरण्यगर्भे कृपादौ तपस्तप्त्वा ध्यानं कृत्वा कान्तुंजामीति पूर्व  
ब्राह्मणान्सृष्टवान् । किमर्थम् ? वेदगुप्तये वेदरक्षणार्थम् । पितृणां देवतानां च  
तृप्त्यर्थम् । अनुष्ठानोपदेशद्वारेण धर्मसंरक्षणार्थं च । अतस्तेभ्यो दत्तमक्षयफलं  
भवतीत्यभिप्रायः ॥ १९८ ॥

भाषा—महाने ( कश्यप के आश्रम में ) तपस्या करके ( ध्यान करके )  
वेद की रक्षा के लिये, पितरों और देवताओं की तृप्ति के लिये तथा ( अनुष्ठान  
एवं उपदेश द्वारा ) धर्म की रक्षा के लिये ब्राह्मणों की सृष्टि की ॥ १९८ ॥

सर्वस्य प्रभवो विद्याः श्रुताध्ययनशीलिनः ।

तेभ्यः क्रियापराः श्रेष्ठास्तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः ॥ १९९ ॥

सर्वस्य सप्रियादेर्विद्या प्रभवः श्रेष्ठा जायता कर्मणा च । ब्राह्मणेष्वपि  
नाध्ययनशीलिनः श्रुताध्ययनसपक्षा उत्कृष्टा । तेभ्योऽपि क्रियापरा विहितानु-  
ष्ठानशीलाः । तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः वक्ष्यमाणमार्गेण शमदमादियोगेनारम-  
तव्यज्ञाननिरताः, 'श्रेष्ठा' इत्यनुपज्यते ॥ १९९ ॥

भाषा—( सत्रिय आदि ) सबों में ब्राह्मण ( जाति एव ) कर्म से श्रेष्ठ  
है; उनमें भी वेदादि का अध्ययन करने वाले उत्कृष्ट होते हैं, उनसे भी उत्तम  
विदित क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाले होते हैं और इन सबसे श्रेष्ठ अध्या-  
त्मतत्त्व को पूर्णरूप से जानने वाले ब्राह्मण होते हैं ॥ १९९ ॥

एवं जातिविद्यानुष्ठानतपसां प्रशंसामुखेनैकैकयोगेन पात्रतामभिधायाधुना  
तेषां समुच्चये संपूर्णं पात्रतामाह—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।

यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥ २०० ॥

केवलया विद्यया श्रुताध्ययनतपस्या नैव संपूर्णपात्रत्वम् । नापि केवलेन  
तपसा शमद्रुमादिना । 'अपि' शब्दात्केवलेनानुष्ठानेन केवलया जात्या वा नैव  
संपूर्णपात्रता । कथं तर्हि ? यत्र पुरुषे वृत्तमनुष्ठानं इमे चोभे विद्यातपसी स्तः  
चशब्दाद्ब्राह्मणजातिश्च तदेवं मन्वादिभिः संपूर्णपात्रं प्रकीर्तितम् । हि यस्मादतः  
परमुत्कृष्टं पात्रं नास्ति । अत्र जातिविद्यानुष्ठानतप समुच्चयानामुत्तरोत्तरप्राप्त-  
स्येन फलतारतम्यं द्रष्टव्यम् ॥ २०० ॥

भाषा—केवल ( श्रुताध्ययन आदि ) विद्या से अथवा केवल (शमद्रुमादि)  
तपस्या से ही कोई सुपात्र नहीं होता । जिस पुरुष के आचरण में विद्या और  
तपस्या दोनों ही हों वही श्रेष्ठ पात्र होता है ॥ २०० ॥

सत्पात्रे गवादिदानं देयम्—

(२) गोभूतिलहिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम् ।

नापात्रे विदुषा किञ्चिदात्मनः श्रेय इच्छता ॥ २०१ ॥

पूर्वोक्ते पात्रे गवादिकमर्चितं शास्त्रोक्तोर्दकदानार्हतिर्ज्ञतं स्यतासहित देयम् ।  
अपात्रे चन्निपादौ ब्राह्मणे च पतितादौ विदुषा पात्रविनोदेन फलविशेषं जानता  
श्रेयः संपूर्णफलमिच्छता किञ्चिद्व्ययमपि न दातव्यम् । श्रेयोप्राप्तिनाद्वात्रदानेऽपि  
किमपि सामसं फलमस्तीति सूचितम् । यथाह वृष्णद्वैपायनः (गी० १७।२२)—  
'अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवज्ञातं तत्तामममुदाहृतम् ॥'  
इति । अपात्रे न दातव्यमिति वदता विदितदेशकालद्रव्यसङ्घिषी पात्रस्याप-  
त्रिधाने द्रव्यस्य वा तदुद्देशेन त्यागं तस्मै प्रतिध्वजं वा कृत्वा समर्पयेत्,  
न त्वपात्रे दातव्यमिति सूचितम् । तथा प्रनिधुतमपि पश्चात्पातकादिमंयोगे  
ज्ञाते न देयम् ; 'प्रतिधुस्याप्यधर्मसंयुक्त्या न दद्यात्' इति निषेधात् ॥ २०१ ॥

भाषा—गाय, भूमि, तिल सोना आदि पात्र स्वर्णिको ही विधि-  
पूर्वक अर्चना के साथ ( दान स्वरूप ) देना चाहिये अपने सम्पूर्ण फल की  
इच्छा करने वाले, ( पात्र अपात्र का ज्ञान रखने वाले ) विद्वान को अपात्र  
(चन्निपादि एवं पतित ब्राह्मण) को अथवा (दान) भी नहीं देना चाहिये ॥ २०१ ॥

अपात्रे दातुर्निषेधमुक्त्वा प्रतिग्रहीतारं प्रत्याह—

विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः ।

गृह्णन्प्रदातारमघो नयत्यात्मानमेव च ॥ २०२ ॥

विद्यातपोभ्यां हीनेन प्रतिग्रहः सुवर्णादिर्न ग्राह्यः । यस्माद्विद्यादिहीनः प्रतिगृह्णन् दातारमात्मानं चाधो नरकं नयति प्रापयतीति ॥ २०२ ॥

भाषा—जो व्यक्ति विद्यासम्पन्न और तपस्वी न हो उसे दान नहीं लेना चाहिए । यदि ऐसा ( विद्या और तपस्या से हीन ) व्यक्ति दान लेता है तो वह अपने को और दाता को भी नरक में डालता है ॥ २०२ ॥

गवादि पात्रे दातव्यमित्युक्तं तत्र विशेषमाह—

दातव्यं प्रत्यह पात्रे निमित्तेषु विशेषतः ।

याचितेनापि दातव्यं धन्नापूतं स्वशक्तितः ॥ २०३ ॥

प्रतिदिवसं शक्यनुसारेण यथोक्तविधिना पात्रे गवादिकं स्वकुटुम्बाविरोधेन दातव्यम् । निमित्तेषु चन्द्रोपरागादिषु विशेषतोऽधिकं यत्नेन दातव्यम् । याचितेनापि धन्नापूतमनसूयापवित्रीकृतं दातव्यं दानव्यम् । 'याचितेनापि दातव्यम्' इति वदता यथोक्तं पात्रं स्वयमेव गत्वा आहूय वा यद्दानं तन्महाफलमुक्तम् । तथा च स्मरणम्—'गत्वा यद्दीयते दानं तद्वन्तकलं रम्यतम् । सहस्रगुणमाहूय याचिते तु तदर्धकम्' इति ॥ २०३ ॥

भाषा—( शक्ति के अनुसार ) प्रतिदिन ( गौ आदि ) पात्र को दान देना चाहिए । ( चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण जैसे ) अवसर पर विशेष रूप से दान देना चाहिए । मीने पर भी ( सापात्र को ) धन्ना के साथ यथाशक्ति दान देना चाहिए ॥ २०३ ॥

गवादिकं देयमित्युक्तं तत्र गोदाने विशेषमाह—

हेमशृङ्गा शकै रौष्यैः सुशीला वस्त्रसंयुता ।

सकंस्यपात्रा दातव्या क्षीरिणी गीः सदक्षिणा ॥ २०४ ॥

हेममये शृङ्गे यस्या' सा हेमशृङ्गा । शकैः सुरैः रौष्यैः रामतैः संयुता वस्त्रेण च संयुता कांस्यपात्रमहिता बहुशीरा सुशीला गौर्ययाशक्तिदक्षिणासहिता दातव्या ॥ २०४ ॥

भाषा—सोने से शींग और चांदी से सुर मझकर, वस्त्र भोझकर दूध देने वाली मीथी गाय, कान्से के दुग्धपात्र एवं दक्षिणा के साथ दान देना चाहिए ॥ २०४ ॥



गोदानफलमाह—

दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति घत्सराद्रोमसंमितान् ।

कपिला चेत्तारयति भूयश्चासप्तमं कुलम् ॥ २०५ ॥

अस्या गौः रोमसंमितान् रोमसंख्याकान्वत्सरांस्वर्गमाप्नोति दाता । सा यदि कपिला तदा न केवलं दातारं तारयति किंतु कुलमपि आसप्तमं सप्तम-  
मभिर्याप्य पित्रादीन्पट् आत्मानं च सप्तमम् । अप्यर्थे 'भूयः' शब्दः ॥ २०५ ॥

भाषा—जितने रोएँ ( गौ के शरीर में ) होते हैं उतने धर्म तक उस गौ का दाता स्वर्ग प्राप्त करता है । और यदि वह गाय कपिला हो तो वह न केवल दाता को अर्पित उसकी सातवीं पीढ़ी तक को तार देती है ॥ २०५ ॥

उभयतोमुखीदानफलम्—

सघत्सारोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखीम् ।

दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति पूर्वेण विधिना वदत् ॥ २०६ ॥

सघत्सारोमतुल्यानि वत्सेन सह वर्तत इति सवाम्ना तस्या रोमतुल्यानि  
घत्सस्य गोश्च यावन्ति रोमाणि तावत्सख्याकानि युगानि कृतप्रेतादीनि उभयतो-  
मुखीं दृश्यस्वर्गमाप्नोत्यनुभवति पूर्वेण विधिना दाता चेत् ॥ २०६ ॥

भाषा—पूर्वांक विधि से उभयतोमुखी गाय का दान देने वाला  
शक्ति उतने युग तक स्वर्ग प्राप्त करता है जितने रोएँ गौ और बछड़े के  
शरीर में मिलाकर होते हैं ॥ २०६ ॥

का पुनरुभयतोमुखी कथं तावत्तद्दान महाफलमित्यत आह—

याघद्वत्सस्य २पादौ द्वौ मुखं योन्यां चं दृश्यते ।

तायद्वीः पृथिवी क्षेया यावद्गर्भं न मुञ्चति ॥ २०७ ॥

गर्भांश्चिगैरुद्धतो घत्सस्य द्वौ पादौ मुखं च यावत्कालं योन्यां दृश्यते  
तावत्कालं उभयतोमुखमस्या अस्तीत्युभयतोमुखी । यावत्कालं गर्भं न मुञ्चति  
तावत्सा गौः पृथिवीसमा क्षेया । अतः फलातिशयो मुक्ता ॥ २०७ ॥

भाषा—( गर्भ से निकलते हुए ) बछड़े के दो पैर और मुख जब  
तक योनि में दिखाई पड़ते हैं ( तब तक वह उभय तो मुखी होती है  
जब तक गौ बछड़े का प्रसव नहीं करती तब तक ( इस विधि में ) उसे  
पृथिवी के समान समझना चाहिए ॥ २०७ ॥

सामान्यगोदाने फलम्—

यथाकथञ्चित् हेमशृङ्गाद्यभावेऽपि यथासंभवं पूर्वोक्तेन विधिना धेनु दोर्भी  
अधेनुं वा अवन्ध्यां अरोगा रोगरहितां अपरिनिष्ठं आवन्तादुर्वलां वा दत्त्वा  
अरोगामपरिनिष्ठं दाता स्वर्गं महीयते ॥ २०८ ॥

यथाकथञ्चित् हेमशृङ्गाद्यभावेऽपि यथासंभवं पूर्वोक्तेन विधिना धेनु दोर्भी  
अधेनुं वा अवन्ध्यां अरोगा रोगरहितां अपरिनिष्ठं आवन्तादुर्वलां वा दत्त्वा  
दाता स्वर्गं महीयते पूज्यते ॥ २०८ ॥

भाषा—जिस किसी प्रकार हो (सोने से सींग और चाँदी से सुर  
मढ़ाये घिना भी) दूध देने वाली या अवन्ध्या, रोगहीन, और दुर्वल गाय का  
दान करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में पूजा जाता है ॥ २०८ ॥

गोदानसमाप्त्याह—

श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्यां सुरार्चनम् ।  
पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥ २०९ ॥

श्रान्तस्यासनशयनादिदानेन श्रमापनयनं श्रान्तसंवाहनम् । रोगिणां परि-  
चर्या यथाशक्त्यपघादिदानेन । सुरार्चनं हरिहरद्विण्यगर्भादीनां गन्धमाल्यादि-  
भिराराधनम् । पादशौचं द्विजानां समानानामधिकानां च । तेषामेवोच्छिष्टस्य  
समार्जनम् । एतान्बन्तरोक्तेन गोदानेन समाप्ति ॥ २०९ ॥

भाषा—यके हुए के रोद को (आसन, विस्तर आदि देकर) दूर  
करना रोगी की सेवा, देवताओं की (माला पुष्प आदि से) पूजा, द्विजों  
का पैर धोना और उनको जूटा साफ करना ये सभी कर्म गोदान के तुरूप  
होते हैं ॥ २०९ ॥

भूदीपांश्चाक्षवद्याम्भस्तिलसर्पिः प्रतिश्रयन् ।  
नैवेशिकं स्वर्णधुर्यं दत्त्वा स्वर्गं महीयते ॥ २१० ॥

भू. फलमदा । दीपा देवायतनादिषु । प्रतिश्रयः प्रवामिनामाश्रयः ।  
निवेशनार्थं गार्हस्थ्यार्थं यत्कन्या दीयते तन्नैवेशिकम् । स्वर्णं सुवर्णम् । धुर्यं  
भौतसहो बलीवर्द्धं, नेपं प्रसिद्धम्, एताम्भूदीपादीन्दत्त्वा स्वर्गलोके महीयते  
पूज्यते । स्वर्गफलं च भूमिदानादीनां न फलान्तरस्युदासार्थम् । 'वरिदक्षिणुरने  
गापं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । अपि गोवर्ममात्रेण भूमिदानेन सुदयति ॥' तथा  
पनु (४।२२९)—'वारिदस्त्वितिमाप्नोति सुप्रमत्तपमन्नदः । निलमदः  
अजामिष्टा दीपदक्षुत्तमम् ॥ यामोदस्यन्द्रसालोक्षयमभिसालोक्षयमभदः । अन-

१. भूदीपाक्षावद्या । २. नैवेशिकस्वर्णधुर्यम् । ३. भू. हृषिकल्पदा ।  
४. भारवाहो ।

हुद' श्रिय पुष्टां मोदो ब्रह्मस्य विष्टपम् ॥' इत्यादिफलान्तरश्रवणात् । गोचर्म  
लक्षण च बृहस्पतिना दर्शितम्—'सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिशङ्खे निवर्तनम् ।  
दश तान्येव गोचर्म दत्त्वा स्वर्गं महीयते ॥' इति ॥ २१० ॥

भाषा—( उर्वर ) भूमि, दीपक, अन्न, वस्त्र, जल, तिल, घी, परदेशी  
को आश्रयस्थान ( गृहस्थाधर्म के लिये ) कन्या, सोना और भार दोने वाले  
चौल का दान देकर दाता स्वर्ग में सम्माननीय स्थान पाता है ॥ २१० ॥

१०१) गृहधान्याभयोपानच्छन्नमाल्यानुलेपनम् ।

यानं वृक्षं प्रियं शय्यां दत्त्वाऽत्यन्तं सुखी भवेत् ॥ २११ ॥

गृह प्रतिदम्, धान्यानि च शालीगोधूमादीनि, अभय भीतत्राणम्,  
उपानही, छन्नम्, माल्य मल्लिकादे, अनुलेपन कुङ्कुमचन्दनानि, यान रथादि,  
चूच उपजीव्यमात्रादिकम्, प्रिय यद्यस्य प्रिय धर्मादिकम्, शय्यां च दत्त्वा,  
अत्यन्तमतिशयेन सुखी भवति । न च हिरण्यादिवद्दस्ते दातुमशक्यत्वाद्भर्मस्य  
दानासम्भव । भूमिदानादावपि समानत्वात् । अत्यन्तरेऽपि धर्मदानश्रवणात्—  
'देवताना गुरुणा च मातापित्रोस्तथैव च । पुण्य देय प्रयत्नेन नापुण्य चोदित  
कश्चित् ॥' अपुण्यदाने तदेव वर्धते प्रतिग्रहीतुरपि लोभादिना प्रवृत्तस्य, 'य.  
पापं कथं ज्ञात्वा प्रतिगृह्णाति दुर्मति । गर्हिताचरणोत्तस्य पाप तावत्समा-  
धयेत् ॥ समद्विगुणसोहस्रमानस्य च प्रदातुषु ॥' इति स्मरणात् । इह च सर्वत्र  
देवकालपात्रविशेषाहोषविशेषात्—'दाने फल मया प्रोक्तं हिंसायां तद्देव हि'  
इति प्रतिग्रहीतृवृत्तिविशेषाच्च दातृप्रतिगृहीत्रो फलतारतम्य दृष्टव्यम् ॥ २११ ॥

भाषा—घर, और धान्य का दान, ( दरे हुए को ) अभयदान, जूता,  
छाता कुङ्कुमचन्दन आदि लेपन, रथ इत्यादि सवारी, ( आग्रादि फल वाले )  
चूच, अभीष्ट वस्तु तथा शय्या का दान देकर दाता अत्यन्त सुखी  
होता है ॥ २११ ॥

दानाफलमुत्तमिदानीं दानव्यतिरेकेणापि दानफलावाप्तिहेतूनाह—

सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यत ।

तद्दत्स्वमवाप्नोति ब्रह्मलोकमविच्युतम् ॥ २१२ ॥

परमात्सर्वधर्ममयं ब्रह्म भवबोधकत्वेन तस्मात्तदान सर्वदानेभ्योऽप्य-  
धिक अतस्तद्दत्त्वावनादिद्वारेण ब्रह्मलोकमवाप्नोति । अविच्युत  
कृत्यतिर्लक्ष्यं न भवति । आभूत्सफलं ब्रह्मलोकेऽकल्पितं इत्यर्थं । अत्र च  
ब्रह्मदाने परस्वभावात्तन्मात्र दानम् ; स्वस्वनिवृत्ते कर्तुमशक्यत्वात् ॥ २१२ ॥

१ चर्मादीनामसम्भव । २. दानेन । ३ प्रबल ज्ञात्वा । ४ मविच्युत ।

भाषा—सब धर्मों के ज्ञान से युक्त होने के कारण वेद का दान सभी दोनों से बढ़कर होता है । इसका दान करने वाला ब्रह्मलोक में अचल होकर सतत निवास करता है ॥ २१२ ॥

दाने फलमुक्तम् , इदानीं दानव्यतिरेकेणापि दानफलावाप्तर्हेतुमाह—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम् ।

ये लोका दानशीलानां स तानान्पोति पुष्कलान् ॥ २१३ ॥

यः पात्रभूतोऽपि प्राप्तं प्रतिग्रहं सुवर्णादिकं नादत्ते न स्वीकरोति, वसी यथाप्राप्तं नोपादत्ते तत्तद्दानशीलानां ये लोकास्तान्समप्रानान्पोति ॥ २१३ ॥

भाषा—जो व्यक्ति दान लेने का पात्र होते हुए भी दान नहीं लेता वह उन सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है जो लोक दान देने वाले को मिलते हैं ॥ २१३ ॥

इदानीं सर्वप्रतिग्रहनिवृत्तिप्रसङ्गेऽपवादमाह—

कुशाः शाकं पयो मत्स्याः गन्धाः पुष्पं दधि क्षितिः ।

मांसं शय्यासनं धानाः प्रत्याख्येयं न वारि च ॥ २१४ ॥

धानाः शृणु यवाः, चित्तिमृत्तिका, शोषं प्रतिग्रहम् । एतत् कुशादिकं स्वयमुपानीतं न प्रत्याख्येयम् । चकाराद्गृहादि ( मनुः ४।२५० )—‘शय्यां गृहाभ्यङ्गुशान्गन्धासपः पुष्पं मणीन्दधि । धाना मत्स्यापयो मांसं शाकं चैव न निर्णुयेत् ॥’ तथा—‘एषोदकं मूलफलमध्रमभ्युद्यतं च यत् । सर्वतः प्रतिगृही-  
यान्मन्वेषामयदक्षिणाम् ॥’ ( ४।२४७ ) इति मनुस्मरणात् ॥ २१४ ॥

भाषा—कुश, शाक, दूध, मछली, सुगन्धि, फूल, दही, भूमि, मांस, शय्या, आसन, भूने हुए धान, और जल ये सब पिना मर्गे ही मिले तो अस्वीकार न करना चाहिये ॥ २१४ ॥

किमिति न प्रत्याख्येयमित्याह—

अयाचिताहृतं प्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।

अन्यत्र कुलटापण्डपतितेभ्यस्तथा द्विषः ॥ २१५ ॥

यस्मादयाचितमेतत्कुशाद्याहृतं दुष्कृतकारिणोऽपि संदन्धि प्राप्तं, किमुत यथोक्तकारिणः । तस्मान्न प्रत्याख्येयम् । अन्यत्र कुलटापण्डपतितेभ्यः दात्रोक्ष । कुलाकुलमटतीति कुलटाः स्वैरिष्वादिकाः, पण्डपवृत्तीयाप्रवृत्तिः ॥ २१५ ॥

भाषा—विना मीने ही दुराचारी व्यक्ति द्वारा भी लाई हुई ( कुशादि ) वस्तुएँ ग्रहण करने योग्य होती हैं; किन्तु कुलटाखी, नपुंसक एवं पतित व्यक्ति द्वारा स्वयं लाई गई ( ये वस्तुएँ भी ) द्विज न ग्रहण करे ॥ २१५ ॥

प्रतिग्रहनिवृत्तेरपवादान्तरमाह—

देवातिथ्यर्चनकृते गुरुभृत्यार्थमेव वा ।

सर्वतः प्रतिगृहीयादात्मवृत्त्यर्थमेव च ॥ २१६ ॥

देवातिथ्यर्चनादेरावरयक्त्वात्तदर्थम'नात्मकारणात् । पतिताद्यत्यस्तकुरिस-  
तवर्जं सर्वतः प्रतिगृहीयात् । गुरवो मातापित्रादयः, भृत्याः भरणीयाः  
भार्यापुत्र दयः ॥ २१६ ॥

भाषा—देवता और अतिथि की पूजा एवं सरकार के लिये अथवा  
माता पिता आदि गुरुजनों एवं स्त्री पुत्रादि आश्रित जनों के लिए तथा अपनी  
वृत्ति के लिए सभी स्थानों से दान लेना विहित है ॥ ११६ ॥

इति दानप्रकरणम् ।

अथ श्राद्धप्रकरणम्

इदानीं श्राद्धप्रकरणमारभ्यते । श्राद्धं नामादनीयस्य तत्स्थानीयस्य वा  
द्रव्यस्य प्रेतोद्देशेन श्राद्धया त्यागः । तच्च द्विविधं—पार्वणमेकोद्विष्टं चेति । तत्र  
त्रिपुरयोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम् । एकपुरयोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्विष्टम् ।  
पुनश्च त्रिविधं—निरयं नैमित्तिकं काम्यं चेति । तत्र निरयं नियतनिमित्तोपाधौ चोदि-  
तमहरहरमात्रस्याष्टकादिषु । अनियतनिमित्तोपाधौ चोदितं नैमित्तिकं यथा पुत्र-  
जन्मादिषु । फलकामनोपाधौ विहितं काम्यं यथा स्वर्गादिकामानां वृत्तिद्यादि-  
षु येषु, तिथिषु च । पुनश्च पञ्चविधम्—'अहरहः श्राद्धं पार्वणं वृद्धिश्चाद्धमे-  
कोद्विष्टं सविण्ठीकरणं चे'ति । तत्राहरहःश्राद्धं—'अन्नं पितृभृत्येभ्यः' इत्यादि-  
नोक्तम् । तथा च मनु ( ३।८२ )—'कुर्यादहरहः श्राद्धमष्टाघेनोदकेन वा ।  
पयोमूलाफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥' इति ॥

अधुना पार्वणं वृद्धिश्चाद्धं च दर्शयिष्यंस्तयोः कालानाह—

अमाषास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।

द्रव्यं ब्राह्मणसंपत्तिर्विपुंषस्सूर्यसंकमः ॥ २१७ ॥

• इयतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।

श्राद्धं प्रति शचिधैते श्राद्धकालाः प्रकीर्तिताः ॥ २१८ ॥

यत्र दिने चन्द्रमा न दृश्यते सा अमावास्या, तस्यामहर्द्धयस्यापिष्याम-  
 पराह्णस्यापिनी प्राह्या, 'अपराह्ण पितृणाम्' इति वचनात् । अपराह्ण  
 पञ्चधा विभक्ते दिने चतुर्थो भागश्चिमुहूर्तः । अष्टकाद्यतस्त 'हेमन्तशिशिर-  
 योश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टका' (गृ सू २।४।१) इत्याश्रयायनोक्ता, वृद्धि  
 पुत्रज-सादि, वृष्णपक्षोऽपरपक्ष, अयनद्वय दक्षिणोत्तरसञ्चकम्, द्रव्य 'वृषा-  
 मापादिकम्, माह्वणसप्तविंशत्यमाणा, विपुवद्वय मेपतुलयो सूर्यंगमाम्,  
 सूर्यसक्रम आदिष्वस्य राशे राश्वन्तरगमनम्, अयनविपुवनो सकान्तिरवे  
 सिद्धयेऽपि पृथगुपादान फलातिशयप्रतिपादनार्थम् । व्यतीपातो योगविशेष ।  
 गजच्छाया—'यदे-दु पितृदैवत्ये हस्तरथैव करे स्थित । 'यस्यां तिथिर्मवता  
 हि गजच्छाया प्रकीर्तिता ॥' इति परिभाषिता । हस्तिच्छायेति केचित्,  
 सेह न गृह्यते, कालप्रक्रमात् । ग्रहण सीमसूर्यमोहपरात् । यदा च कर्तुं  
 ध्याद्य प्रति रक्षिर्भवति तदापि । चन्द्रदाष्टुगादिप्रभृतयः । एते ध्याद्यकाला ।  
 यद्यपि—'चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यात्' इति ग्रहणे भोजननिषेधस्तथापि भोक्तुर्दोष,  
 दातारभ्युदय ॥ २१०-१८ ॥

भाषा—अमावस्या अष्टका ( हेमन्त और शिशिर ऋतु के वृष्णपक्षों  
 की चारों अष्टमी तिथियों ) को, पुत्र जन्म के अवसर पर, वृष्णपक्ष में,  
 दोनों ( उत्तर एवं दक्षिण ) अयनों में, द्रव्य ( वृषमाप ) माह्वणसप्तति,  
 मेव और सुखा राशि पर सूर्यसक्रमण, सूर्य का दूसरी राशि पर गमन,  
 व्यतीपात ( एक विशेष योग), गजच्छाया, चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहण के समय  
 और जप करने की इच्छा हो तब ध्याद्य का काल होता है ॥ २१०-२१८ ॥

अदरहः ध्याद्यत्यतिरिक्तवच्यमाणस्तुर्विधध्याद्येषु माह्वणसप्ततिमाह—

अग्रय सर्वेषु वेदेषु श्रोत्रियो ब्राह्मविद्यया ।

वेदार्थविज्जयेष्टसामा त्रिमधुस्त्रिमुपणंके ॥ २१९ ॥

सर्वेषु वेदेषु श्रग्गदादिषु अग्न्यमनरक्तपाप्मप्रभ्रास्तलिताप्पयनसम  
 अग्रयः । श्रोत्रियः धृताप्ययनसपन्न । वच्यमाण ब्राह्म यो वेत्ति असी ब्राह्म  
 विद् । युषा मन्वमवपरक । अर्ग्येद विगपगम् । मन्त्रमाह्वणयोग्यं वेत्तीति  
 वदार्थवित् । ज्येष्ठसाम सामविशेष, तदप्ययनाद्ग्रन्त च तद्व्यग्राचरणेन चरतद-  
 धीते स उयेष्टसामा । त्रिमधु श्रग्गदेकदेश, तद्व्यत च तद्व्यग्राचरणेन संदधीते  
 इति त्रिमधु । त्रिमुपणं श्रग्गपत्रुपारेकदेश, तद्व्यत च तद्व्यग्राचरणेन चरतदधीते  
 स त्रिमुपणंके । 'एते ब्राह्मणा ध्याद्यमवद्' इति 'वच्यमाणेन सर्वथ ॥ २१९ ॥

१ वृष्णमारमासादि । २ चापरा तिथि तिथिर्विधवगीषा (= प्रवो  
 वती) । ३ तद्व्यग्रापी । ४ वच्यमाणक्रियासवग्य ।

भाषा—सभी वेदों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने वाले, श्रुताध्ययनसंपन्न, ब्रह्मज्ञानी, युयुक्, वेद का अर्ध जानने वाले, उपेष्टमाम नाम के साममंत्रों का आचरणपूर्वक अध्ययन करने वाले, ( ऋग्वेद के ) त्रिमधु मन्त्रों को व्रताचरण सहित पढ़ने वाले ( ऋग्यजुस् के ) त्रिसुपर्ण मन्त्रों का नियम के साथ पारायण करने वाले ब्राह्मण— ॥ २१९ ॥

स्वस्त्रीयश्रुतिवग्जामातृयाज्यश्वशुरमातुलाः ।

त्रिणाचिकेतदौहित्रशिष्यसंबन्धिवान्धवाः ॥ २२० ॥

स्वस्त्रीयो भागिनेयः, श्रुतिवृत्तलक्षणः, जामाता दुहितुर्भर्ता, त्रिणाचिकेतं यजुर्वेदैकदेशः, तद्भ्रतं च तद्भ्रताचरणेन यस्तदध्यायी स त्रिणाचिकेतः । अन्य-श्रुतिदम् । एते च पूर्वोक्ताग्र्यधोत्रियाद्यभावे वेदितव्याः; 'एव वै प्रथमः कल्पः प्रदाने ह्ययकण्योः । अनुकल्पस्त्वयं प्रोक्तः सदा सद्भिरार्हितः ॥' ( मनु, ३।१४७ ) ह्ययभिधाय मनुना स्वस्त्रीयादीनामभिहितत्वात् ॥ २२० ॥

भाषा—भागिनेय, श्रुतिवृत्, दामाद, यजमान, शशुर मामा, ( यजुर्वेद के ) त्रिणाचिकेत का भ्रत एवं अध्ययन करने वाले, दौहित्र ( कन्या का पुत्र, नाती ) शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव— ॥ २२० ॥

कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निर्ब्रह्मचारिणः ।

पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः धादसंपदः ॥ २२१ ॥

कर्मनिष्ठा विहितानुष्ठानतत्परा, तपोनिष्ठास्तपःशीलाः, सम्भारसम्पत्ती प्रेताग्र्यध्व पर्य सन्ति स पञ्चाग्निः, पञ्चाग्निविद्याध्यायी च, ब्रह्मचारी उप-कुर्षाणको नैष्ठिकध्व, पितृमातृपरास्तःपूजापराः, चकारात् ज्ञाननिष्ठादपः । ब्राह्मणाः न ऋत्रियादयः । धादसंपदः धादेष्वण्यफलसंपत्तिहेतवः ॥ २२१ ॥

भाषा—कर्मनिष्ठ ( विहित अनुष्ठान में तत्पर रहने वाले ), तत्परवी, पञ्चाग्नि का आधान करने वाले, ब्रह्मचारी, पिता-माता की सेवा करने वाले ब्राह्मण धाद में अल्प फल के हेतु होते हैं ( ऋत्रिय आदि नहीं ) ॥ २२१ ॥

वर्षानाह—

रोगी हीनातिरिक्ताङ्ग काणः पौनर्मपस्तथा ।

अयकीर्गा कुण्डगोली कुनधी श्यायन्तकः ॥ २२२ ॥

रोगी महारोगोपगृह, हीनमतिरिक्तः वाङ्मूलं वरपासी हीनातिरिक्ताङ्ग, एक-नादगा यो न परवति स काणः, एतन्मादेवान्धवपिरिद्धेन्द्रजनन'सकतिदुर्मर्म-

१. ज्ञान । २. धादसंपदे (= धादस्य संपदे समृद्धये ) । ३. वृद्ध-मज्जनन । ४. सकतिनिष्केसगिराः शश्वारः ।

प्रभृतयो निरस्ताः । पुनर्भूक्तलक्षणा, तस्यै तातः पौनर्भवः, भवकीर्णं  
 ब्रह्मचर्यं एव रत्नलितप्रब्रह्मचर्यः, कुण्डगोलौ—'परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ  
 कुण्डगोलकौ । पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तृरि गोलकः ॥' (मनुः ३।१७४)  
 हरयेवमुक्तलक्षणकौ, कुनखी कुंरिसतनखः, श्यावदन्तकः स्वभावात्कृष्णदशनः ।  
 'पते धाद्वे निन्दिताः' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥ २२२ ॥

भाषा—रोगी, अङ्गहीन या बड़े हुए लंग वाला, काना, पुनर्भू ( दुबारा  
 ब्याही गई स्त्री ) का पुत्र, रत्नलितप्रब्रह्मचर्य, कुण्ड ( पति के जीवित रहते  
 दूसरे पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न ) पुत्र, गोलक ( पति के मरने पर दूसरे  
 पुरुष से उत्पन्न ) पुत्र, भड़े नाखूनों वाला, काले दाँतों वाला, ॥ २२२ ॥

भृतकाध्यापकः क्लीयः कन्यादूष्यभिशास्तकः ।

मित्रभुक् पिशुनः सोमविक्रयी परिविन्दकः ॥ २२३ ॥

वेतनग्रहणेन योऽध्यापयति स भृतकाध्यापकः, वेतनदानेन च योऽधीते  
 सोऽपि; क्लीयो नपुंसकः, अलङ्घिः सन्निर्वा होयैयः कन्यां दूषयति स कन्या-  
 दूषी, सताऽसता वा ब्रह्महत्यादिनाभियुक्तोऽभिशास्तकः । मित्रभुक् मित्रद्रोही,  
 परद्वेषसंकीर्तनशीलः पिशुनः, सोमविक्रयी यज्ञे सोमस्य विक्रेता, परिविन्दकः  
 परिवेत्ता, उपेष्टेऽकृतदारेऽकृताग्निपरिमहे वा यः कनीयान्दारपरिमहमग्निपरिमहं  
 वा कुर्वांस परिवेत्ता । उपेष्टस्तु परिवेत्ति । यथाह मनुः ( ३।१७१ )—  
 'दाराग्निहोत्रसंयोग यः करोत्यप्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विशेषः परिवेत्तिस्तु  
 पूर्वजः ॥' इति । एवं दातृ-यात्रकारपि— परिवेत्ति' परिवेत्ता यथा च परि-  
 विद्यते । सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयात्रकपद्यमाः ॥' इति ( ३।१७२ ) मनु-  
 वचनात् ॥ २२३ ॥

भाषा—वेतन लेकर पढ़ाने वाला, नपुंसक, कन्या पर इष्टे या सही  
 श्रेय लगाने वाला, ब्रह्महत्यादि के पाप से अभिशास्त, मित्रद्रोही, सुगलसोर,  
 सोमलता का विक्रय करने वाला, बड़े भाई के अविवाहित रहते विवाह  
 करने वाला ॥ २२३ ॥

मातापितृशुक्रत्यागी कुण्डाशी सृपलारमजः ।

परपूर्वापतिः स्तेनः कर्मदुष्टाश्च निन्दिताः ॥ २२४ ॥

पिता करणेन मातापितृशुक्रन् चक्षयति स मातापितृशुक्रत्यागी । एवं  
 भार्याशुक्रापायपि, 'शुद्धौ च मातापितरौ त्वाग्नी भार्या मुनः तिशुः । अप्य-

१. संकुचितमयाः । २. कुण्डने योऽप्रजे स्थिते । ३ इति समान-  
 श्लेषभङ्गनाम् । ४. मातृपितृ, मातापितृशुक्रौ ।



कार्यंशतं कृत्वा भर्तृभ्या मनुरग्रवोत् ॥' (मनुः १११०) इति समाननिर्देशात् कुण्डस्याग्नं योऽशनायसौ कुण्डाशी, एवं गोलकस्यापि; 'यस्तयोरक्षमरनाति सा कुण्डाशी प्रकीर्तितः' इति वचनात् । घृण्डो निर्धर्मस्तस्मृतो घृण्डात्मजः, पर-पूर्वा पुनर्भूः, तस्याः पतिः, अदत्तादायी स्तेनः, कर्मदुष्टाः शास्त्रविरुद्धकारिणः । चकारारिकतवदेवलकप्रभृतयः । एते ध्राद्धे निन्दिता प्रतिपिदाः । 'अभ्याः सर्वेषु वेदेषु' ( भा. २१७ ) इत्यादिना ध्राद्धयोग्यब्राह्मणप्रतिपादनेनैव तद्भव-तिरिक्तानामयोग्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः केषांचिद्भोग्यादीनां प्रतिषेधवचनमुक्-लक्षणब्राह्मणासंभवे प्रतिषेधरहितानां प्राप्पर्थम् ॥ २२४ ॥

भाषा—अकारण माता, पिता और गुरु का त्याग करने वाला, कुण्डे भर भक्ष खाने वाला, अधर्मी का पुत्र, पुनर्भू का पति, न दी हुई वस्तु को ग्रहण करने वाला चोर, और शास्त्रविरुद्ध कार्य करने वाला—ये सभी ध्राद्धकर्म में निषिद्ध होते हैं ॥ २२४ ॥

एवं ध्राद्धकालान्ब्राह्मणांश्चोक्त्वाऽधुना पार्वणप्रयोगमाह—

निमन्त्रयेत् पूर्वेषुर्ब्राह्मणानात्मयाऽशुचिः ।

तैश्चापि संयतैर्भविष्य मनोवाक्यायकर्मभिः ॥ २२५ ॥

पूर्वोक्तान्ब्राह्मणान् 'ध्राद्धे लृणः क्लियताम्' इति पूर्वेषुनिमन्त्रयेत् प्रार्थनया लृणमभ्युपगमयेत् । अपरेषुर्वा; 'पूर्वेषुपरेषुर्वा ध्राद्धकर्मण्युपरिपते । निमन्त्रयेत् स्ववरात्सभ्यविव्रान् यथादितान् ॥' इति ( ३।१८० ) मनुस्मरणात् । आत्म-वान् शोकोन्मादादिरहितश्चेत् शोपवास भवति । पद्दा,—आत्मवाक्षिपतेग्निद्रयो भवेत् । शुचिः प्रयत्नः । सैरपि निमन्त्रितैर्ब्राह्मणैः । मनोवाक्यायक्यापारैः संयतैर्नियतैर्भवितव्यम् ॥ २२५ ॥

भाषा—( ध्राद्ध के ) पहले दिन स्वस्थ मन एवं पवित्र होकर ( पूर्वोक्त प्रकार के ) ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे । उन निमन्त्रित ब्राह्मणों को भी मन, वाणी, शरीर एवं कर्म से पवित्रता रखनी चाहिये ॥ २२५ ॥

अपराद्धे समभ्यर्च्य स्यागतेनागतान्स्तु तान्  
पवित्रपाणिपदान्तानासनेषूपवेशयेत् ॥ २२६ ॥

अपरा उक्तलृणो समभ्यर्च्य ताश्चिमन्त्रिताम्ब्राह्मणानाहूय स्वागतवचनेन पूजयित्वा हृतपादपावनाच्छान्तान् ऋत्विष्यासनेषु पवित्रपाणिः पवित्रपाणिमुप-वेशयेत् । यद्यत्वेन सामभ्येन 'अपराद्धे' इत्युक्तं, तथापि कुतवे प्रारभ्य तदादि पञ्चमुद्धतेषु परितमापनं भेदकरम्; 'अदो मुहुर्ना विषयाना एत पञ्च च

सर्वदा । तत्राष्टमो मुहूर्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः ॥ मध्याह्ने सर्वदा गरमा-  
न्मन्दीभवति भास्करः । तस्मादन्तःफलदस्तत्रारम्भो विधिष्यते ॥ ऊर्ध्वं  
मुहूर्ताश्चतुषाद्यन्मुहूर्तचतुष्टयम् । मुहूर्तपञ्चकं ह्येतत्स्वपाभवनमिष्यते ॥' (मास्य  
श्राद्ध. २२।८४-८५, ८८ ) इति वचनात् । तथान्यदपि श्राद्धोपयोगि कुतपसंज्ञ-  
कमुक्तम् ; 'मध्याह्नः खड्गपात्रं च तथा नेपालकम्यलः । सौम्यं दर्भास्तिला गावो  
दौहित्रश्राष्टमः स्मृतः ॥ पापं कृत्सितमित्याहुस्तस्य संतापकारिणः । अष्टावेते  
यत्स्वस्माकुतपा इति विश्रुताः ॥' ( मास्य. २२।८६-८७ ) इति ॥२२६॥

भाषा—उन भावे हुए ब्राह्मणों की अपराह्न के समय स्वागत वचन  
द्वारा अर्चना करके (अपने) हाथों जो शुद्ध करके उन्हें आचमन करा  
कर आसनों पर बैठावे ॥ २२६ ॥

युग्माद्देवे यथाशक्ति पित्र्येऽयुग्मांस्तथैव च ।  
परिस्तृते शुचौ देशे दक्षिणाप्रवणे तथा ॥ २२७ ॥

देवे अयुदधिके श्राद्धे युग्मान् समान्ब्राह्मणानुपवेशयेत् । कथम् ? यथा-  
शक्ति शक्तिमनतिप्रभ्य । तत्र वैश्वदेवे द्वौ द्वौ, मातादीनां तिसृणामेकैकस्या द्वौ  
द्वौ, तिसृणां वा द्वौ । एवं पित्रादीनामेकैकस्य द्वौ द्वौ, त्रयाणां वा द्वौ । एवं  
मातामहादीनां च धर्मत्रयेऽपि वैश्वदेवं पृथक्, तन्त्रं वा । पित्र्ये पार्वणश्राद्धे  
अयुग्मान् विपमानुपवेशयेदिति संवदष्यते । एतच्च परिस्तृते सर्वतः प्रच्छादिते  
शुचौ गोमयादिनोपलिप्से दक्षिणाप्रवणे दक्षिणतोऽवनते देशे कार्यम् ॥ २२७ ॥

भाषा—द्वैव (अयुदधिक) श्राद्ध में अपनी शक्ति के अनुसार सम  
संख्यावाले और पित्र्य अर्थात् पार्वण श्राद्ध में विपम संख्या में ब्राह्मणों को  
पारो ओर से आसनों द्वारा ढके हुए (गोबर आदि से छीप कर) पवित्र  
किण्व गये, और दक्षिण की ओर झुके हुए स्थान पर बैठावे ॥ २२७ ॥

'अयुग्मान्पित्र्ये' (श्लो. २२७) इति पार्वणश्राद्धाद्भूते वैश्वदेवेऽयुग्मप्र-  
सङ्गे इदमारभ्यते—

द्वौ द्वैवे प्राक् त्रयः पित्र्य उद्वगेकैकमेव वा ।

मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् ॥ २२८ ॥

द्वौ द्वैव इति । द्वैवे वैश्वदेवे द्वौ ब्राह्मणौ प्राह्मुखानुपवेशयौ । पित्र्ये अयुग्मा-  
नित्यविशेषप्रसङ्गे विशेष उच्यते—त्रयः पित्र्ये इति । पित्र्ये पित्रादिस्थाने त्रय  
उद्वद्मुखानुपवेशयाः । पत्नान्तरमाह—एकैकमेव वा । वैश्वदेवे पित्र्ये च एकमे-

१. पित्र्ये युग्मान् । २. परिश्रिते (= काण्डपटादिना परिश्रिते) ।

३. प्रावतु पित्र्ये त्रीन् ।

कमुपवेशयेत् । संभवतो विकल्प । मातामहानामप्येवं श्राद्धे निमन्त्रणादि ।  
ह्यौ देवे प्राक् प्रथः पित्र्ये उदगेकैकमेव वेत्येव मतं पितृश्राद्धवत्कर्तव्यम् । पितृश्राद्धे  
मातामहश्राद्धे च वैश्वदेविकं पृथक् मन्त्रेण वा कर्तव्यम् । 'तन्त्र'शब्दः समुदाय-  
वाचकः । यदा तु द्वावेव ब्राह्मणौ लब्धौ तदा तु वैश्वदेवे पात्रं प्रकल्प्य उभय-  
त्रैकैकं ब्राह्मणं नियुज्यात् । यथाह वसिष्ठ ( ११।३०,३१ )—'यद्येकं भोजये-  
च्छ्राद्धे देवं तत्र कथं भवेत् । अन्नपात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च ॥ देवता-  
यतने कृत्वा ततः श्राद्धं प्रवर्तयेत् । प्रास्येदन्नं तदग्नीं तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे ॥'  
इति ॥ २२८ ॥

भाषा—दो ब्राह्मणों को विश्वदेवों की ओर पूर्वदिशा में मुख कराके,  
पित्रादिस्थान में विषम सम्या वाले ब्राह्मणों को उत्तर की ओर मुख कराके  
अथवा वैश्वदेव एवं पित्र्यस्थान में एक-एक ब्राह्मण को बैठावे । मातामह के  
श्राद्ध में भी ऐसा ही करे अथवा वैश्वदेविक पृथक्मन्त्र से करे ॥ २२८ ॥

पाणिप्रक्षालनं दत्त्वा 'विष्टरार्थं कुशानपि ।

आवाहयेदनुष्ठातो विश्वे देवास इत्युच्चा ॥ २२९ ॥

तदनन्तरं वैश्वदेवार्थं ब्राह्मणहस्ते जल दत्त्वा विष्टरार्थं कुशांश्च युग्मान्  
द्विगुणितानासने दक्षिणतो दत्त्वा 'विश्वान्देवानावाहयिष्ये' इति ब्राह्मणान्  
पृष्ट्वा तैः 'आवाहय' इत्यनुष्ठातो 'विश्वे देवास आगत' ( ऋ. ४।८।१५ )  
इत्यनवर्षा 'आगच्छतु महाभागाः' इत्यनेन च स्मार्तैः मन्त्रेण तानावाहयेत् ।  
एतच्च यज्ञोपवीतिनां प्रदक्षिणं च कार्यम्, 'अपसव्यं ततः कृत्वा पितृणामप्र-  
दक्षिणम्' ( आ. २३२ ) इति पित्र्ये विशेषस्मरणम् ॥ २२९ ॥

भाषा—तब ( विश्वदेव के लिये ) ब्राह्मण को हाथ धोने के लिये जल  
देकर ) बैठने के लिये ( जोड़ा ) कुश देकर, उनकी आज्ञा से 'विश्वेदेवास  
आगत' इत्यादि ऋचा द्वारा ( और आगच्छतु महाभागाः स्मार्त मन्त्र से )  
उनका आवाहन करे ॥ २२९ ॥

यवैरन्ववकीर्याथ भाजने सपवित्रके ।

शं नो देव्या पयः क्षिप्त्वा यवोऽसोति यथास्तथा ॥ २३० ॥

या दिव्या इति मन्त्रेण हस्तेष्वर्ष्यं विनिक्षिपेत् ।

ततो वैश्वदेवार्थंब्राह्मणसमापे भूमिं प्रादक्षिण्येन यवैरन्ववकीर्यं अनन्तर  
सैजसादिभाजने सपवित्रके कुशयुग्मान्तर्हिते 'शं नो देवीरभिटप' ( ऋ. ७।६।  
५।४ ) इत्यनवर्षाप क्षिप्त्वा 'यवोऽसि धान्यराजोऽसि' इत्यादिना मन्त्रेण

यवान् ततो गन्धपुष्पाणि च क्षिप्त्वाऽनन्तरं अर्घ्यपात्रपवित्रान्तर्हिते ब्राह्मण-  
हस्ते 'या दिव्या आपः पयसा' इत्यादिना मन्त्रेण विश्वेदेवा इदं योऽर्घ्यं' इत्य-  
र्घ्योदकं विनित्तिपेत् ॥ २३० ॥-

भाषा—तथ ( वैश्वदेव के छिये ) ब्राह्मणों के निकट भूमि पर जो  
बिखेर कर पवित्र ( दो कुश ) से युक्त दो पात्रों में 'शंनो देवीरभित्ये' इत्यादि  
मंत्र के साथ जल ढालकर 'यवोऽसि धान्यराजो घा' इत्यादि मन्त्र से यव  
ढाले ( तथ उसमें गन्ध, पुष्प ढालकर ) ॥ २३० ॥

दश्वोदकं गन्धमाल्यं धूपदानं सदीपकम् ॥ २३१ ॥

तथाच्छादनदानं च करशौचार्थमम्बु च ।

अथ करशौचार्थमुदकं दद्यात् यमाकर्म गन्धपुष्पधूपदीपदानं कुर्यात्,  
तथाच्छादनदानं च । गन्धादीनां स्मृत्यन्तरोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः—'चन्दन-  
कुङ्कुमकर्पूरागरुपद्मकान्युपलेपनार्थम्' इति विष्णुनोक्तम् । पुष्पाणि च—'ध्राष्ट्रे  
जायमः प्रशस्ताः स्युर्मल्लिका श्वेतयूथिका । जलोद्भवानि सर्वाणि कुसुमानि च  
चामपकम् ॥' इत्युक्तानि । घर्षणानि च—'उग्रगन्धीन्यगन्धीनि चैत्यपृषोद्भवानि  
च । पुष्पाणि घर्जनीयानि रक्तवर्णानि यानि च ॥', 'न कण्टकिजम् । कण्टकिज-  
मपि शुक्लं सुगन्धि पत्तदद्यात्, न रक्तं दद्यात्, रक्तमपि कुङ्कुमजं जलजं च  
दद्यात्' (विष्णु, अ. १९) इत्यादीनि द्रष्टव्यानि । धूपे च विशेषो विष्णुनोक्तः—  
'प्राण्यङ्गं सर्वं धूपार्थं न दद्यात् । घृतमधुसंयुक्तं गुरुगुलं श्रीखण्डागरुदेवदारुपरलादि  
दद्यात्' इति । दीपे च विशेषः दार्ष्टेनोक्तः—'घृतेन दीपो दातव्यपरितलतैलेन वा  
पुनः । यत्सामेदोद्भवं दीपं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥' इति । आघ्रादनं च शुभं मय-  
महत्तं सदृशं दद्यादिति । एतच्च सर्वं वैश्वदेवानुष्ठानकाण्डमुदङ्मुलः कुर्यात् ।  
विष्यं काण्डं दक्षिणामुखः । यथाह दृष्टशास्त्रतपः—'उदङ्मुखश्च देवानां पितॄणां  
दक्षिणामुखः । प्रदद्यात्पार्वणे सर्वं देवपूर्वं विधानतः ॥' इति ॥ २३१ ॥

भाषा—'या दिव्या आपः पयसा' इत्यादि मंत्र को कहते हुए ब्राह्मणों  
के हाथों पर अर्घ्य गिराये । तदुपरान्त ( दाघ धोने के लिए ) जल देकर  
क्रमशः गन्ध, पुष्प, धूप, दीप दे ॥ २३१ ॥

अपसर्ग्यं-स्ततः कृत्वा पितॄणामप्रदक्षिणम् ॥ २३२ ॥

त्रिगुणास्तु 'कुशान्दद्यात्' 'ह्युशान्तस्येयुषा पितॄन् ।

आघ्राह्य तदनुष्ठातो जपेदायन्तु नस्ततः ॥ २३३ ॥

ततो वैश्वदेवकाण्डान्तरम् । अपसर्ग्यं यज्ञोपवीतं प्राचीनापीतं कृत्वा ।  
अथ तत इति यदा काण्डानुसमयो दर्शितः । विप्रादीनां अयागामपुत्रमाहु-

शान्दिगुणभुग्नान् अग्रदक्षिण घामतो विष्टरार्थमासनेषूदकपूर्वकं दश पुनदक  
दद्यात्, 'अप प्रदाय 'दर्भा'द्विगुणभुग्नानामन प्रदायाप प्रदाय' ( गृ सू ३।०,  
५, ६, ७ ) इत्याश्रलायनस्मरणात् । एतच्चाद्य-तयोदकदान वैश्वदेवे विधे च  
प्रतिपदार्थं प्रतिपादनार्थं द्रष्टव्यम् । अथ 'पितृन् पितामहान् प्रपितामहानावाह  
यित्वे' इति ब्राह्मणान्पृष्ट्वा 'आवाहय' इति तैरनुज्ञात 'उश-तस्त्वा निधीमहि'  
( श्र ७।६।२१।२ ) इत्यन्यर्थां विप्रादीनावाह्य 'आयन्तु न पितर' इत्यादिना  
मन्त्रेणोपतिष्ठेत् ॥ २३२-२३३ ॥

भाषा—इसके बाद आच्छादन के लिये बख और फिर हाथ धोने के  
लिय जल देना चाहिए । ( वैश्वदेव के बाद ) यज्ञोपवीत को दाहिने कंधे पर  
करके, पितरों को याई ओर से दोहरे कुश देकर उश-तस्त्वा निधीमहि' आद्या  
से पितरों का आवाहन करके ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर 'आयन्तु न पितरः'  
इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ २३२-२३३ ॥

( अपहृता इति तिलान्विकीर्य च समन्तत । )

यथार्थास्तु तिलैः कार्या कुर्यादध्यादि पूर्ववत् ॥ २३४ ॥

दत्त्वाप्यं सन्नघास्तेषा पात्रे कृत्वा विधानत ।

पितृभ्यः स्थानमसीति न्युञ्जं पात्रं करोत्यथ ॥ २३५ ॥

यथार्थां यथसाध्यानि कार्याण्यवकिरणादीनि तिलैः कर्तव्यानि । ततोऽर्घ्यं  
पात्रासादनाच्छादनान्त पूर्ववत्कुर्यात् । तत्राय विशेष —तिलान् 'अपहृता असुरा  
रक्षांसि' इत्यादिना म-त्रेण ब्राह्मणा परितोऽग्रदक्षिणम-वकीर्यं राजनादिषु  
पात्रेषु त्रिष्वयुगमकुशनिमित्तकृत्वा तर्हितेषु 'श नो देवी' इति म-त्रेणाप विपवा  
'तिलोऽसि सोमदैवस्य' इत्यादिम-त्रेण तिलान् ग-धपुष्पाणि च विपवा 'स्व  
घार्था इति ब्राह्मणानां पुरतोऽर्घ्यपत्राणि स्थापयित्वा या दिव्या' इति म-त्राने  
'पितरिद् सेऽर्घ्यं पितामहेद् सेऽर्घ्यं प्रपितामहेद् सेऽर्घ्यम्' इति ब्राह्मणानां दस्ते  
'वर्घ्यं दद्यात् । 'एकैकमुभयत्र वा' इत्यस्मिन्नपि पद्ये पात्रत्रय कार्पम् । एवमर्घ्यं  
दत्त्वा तेषामर्थानां सस्रवा ब्राह्मणहरतगलितार्थोदकानि 'विनृपात्रे गृहीत्वा दधि  
णाम कुशरसस्य भूमौ निधाय तस्योपरि 'विनृम्य स्थानमसि' इत्यनेन मन्त्रेण  
तस्योपरि न्युञ्जमधोमुखं कुर्यात् । तस्योपरि अर्घ्यपात्रपवित्राणि निक्षेप्यात् ।  
अनन्तर गन्धपुष्पपुष्पदीपाच्छादनानि पितरस्य ते गन्ध, वितरिद् ने पुष्पम्'  
इत्यादिना प्रयोगेण दद्यात् ॥ २३४-२३५ ॥

१ द्विगुणभुग्नान्कुशाच्छादनात् । २ यथार्थास्तु तिलैः कार्याः ।  
३ पात्रे मयने गृहीत्वा ।

भाषा—‘अपहता असुरा रक्षांसि’ इत्यादि मन्त्र को पढ़ते हुए चारों ओर तिल बिखरे । इस समय ( पहले ) यव से किये जाने वाले सभी कर्म तिल द्वारा करने चाहिये और अर्घ्य इत्यादि पूर्वोक्त विधि से ही करना चाहिये ( ब्राह्मणों के हाथ में ) अर्घ्य देकर ( उनके हाथ से ) गिरते हुए लठ को विधिपूर्वक पितृ पात्र में रोप कर उसे पात्र को पितृभ्यः स्थानमसि’ इत्यादि मन्त्र से उलटाकर दे ( और उसके ऊपर अर्घ्यपात्र एवं कुशाका परित्र रखें ॥ १२४-२२५ ॥

अग्नीकरणमाह द्वाभ्याम्—

अग्नी करिष्यन्नादाय पृच्छत्यन्नं घृतप्लुतम् ।

कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातो हुत्याग्नी पितृयद्यवत् ॥ २२६ ॥

हुतशेषं प्रदधात्तु भाजनेषु समाहितः ।

यथालाभोपपन्नेषु शौच्येषु च विशेषतः ॥ २२७ ॥

अनन्तरमग्नी करिष्यन्प्लुतं घृताक्षमन्नादाय ब्राह्मणान् पृच्छेत् ‘अग्नी करिष्ये’ इति । ‘घृत’ प्रहणं सुपनाकादिनिवृत्त्यर्थम् । ततस्तैः कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातः प्राचीनीधीती शुद्धमन्नमुपसमाधाय मेघनेनादायावदानसंपदा जुहुयात् ‘सोमाय पितृसते स्वधा नमा, अग्नये कश्यवाहनाय स्वधा नमः’ इति विण्डवितृयज्ञ-कश्येन अग्नी हुत्या मेघनमनुप्रहृत्य हुतशेषं गृह्यमयज्ञं यथालाभोपपन्नेषु विशेषतो शौच्येषु पित्रादिभाजनेषु दद्यात्, न वैश्वदेवभाजनेषु । समाहितोऽ-नन्यमनस्कः । अत्र यद्यप्यग्नाविष्यविशेषोक्तं तथाप्याहितान्नेः सर्वाधानपत्रे औपासनाग्नेरभावात् विण्डवितृयज्ञानन्तरभाविनि पार्वणथाद्दे विद्वत्तद्विज्ञानेः संविधानादृत्तिगाम्नी होमः ‘कर्म स्मार्तं त्रिराहाग्नी’ इत्यस्वापवाद्दर्शनात् । यथाह मार्कण्डेयः—‘आदितान्निस्तु जुहुयादृत्तिगाम्नी समाहितः । अनादितान्नि-‘स्त्वौपासनेऽन्यभाये द्विजेऽस्तु वा ॥’ इति । अर्धाधानपत्रे श्यौपासनाग्निस्तद्भावा-दादितान्नेरनाहितान्नेरिषीपासनाग्नेयाग्नीकरणहेमः । पृथग्भवेऽपि त्रिष्वपि विण्डवितृयज्ञकश्यैतिदेशात् । कात्यायिषु घृतपुं ब्राह्मणपागाथेव होमः । यथाह-मुंदाकाराः—‘अन्वष्टयं च पूर्वेषुमसि मास्यय पार्वणम् । काश्यमभ्युदयेऽष्टमा-ग्नेकोऽष्टमपाष्टमम् ॥ अतुर्वाद्येषु साग्नीनां षट्ठी होमो विधीयते । विण्डवमङ्गहृते स्वादुत्तरेषु अतुर्वापि ॥’ अस्यार्थः—हेमन्तमिशिरषोऽतुर्वात्तुर्वापिः अष्टमो-पष्टकाः ( आश्व. गृ. सू. २।४।१ ) इत्यष्टका विदिता । तत्र नद्यत्वा यन्त्रियते

१. करिष्य अदाय । २. तु । ३. धीतीऽमनुप- । धीपतिमुप- ।  
४. विहित । ५. श्यौपासनेऽन्यभाये । ६. श्यौपासना । ७. कश्ये-  
नेति निदेशात् ।

तदन्वष्टव्यम् । सप्तम्या तु क्रियमाण पूर्वेषु\* । मासि मासि कृष्णपक्षे पञ्चमीप्र-  
 कृतियु यस्या कस्यांचित्तिथावन्वष्टव्यातिदेशेन यद्विहितम् । अमावास्याया पिण्ड-  
 पितृयज्ञानन्तरं यद्विहितं तत्पार्वणम् । स्वर्गादिकामाना कृत्तिकादिनक्षत्रेषु यद्वि-  
 हितं तत्क्राम्यम् । अभ्युदयेषु पुत्रोत्पत्त्यादिषु तडागारामदेवताप्रतिष्ठादिषु च  
 यद्विहितं तदाभ्युदयिकम् । अष्टम्या अष्टका विहिता । एकौद्दिष्टम् । अत्रैकोद्दिष्ट-  
 शब्देन सपिण्डीकरणं लक्ष्यते, तत्रैकोद्दिष्टस्यापि सद्भावात्, साक्षादेकोद्दिष्टे  
 तदभावात् । अथवा,—गृह्यभाष्यकारमते साक्षादेकोद्दिष्टेऽपि पाणिहोमस्य सद्भावा-  
 त्साक्षादेकोद्दिष्टमेव । एतेषामष्टानामाद्येषु चतुर्षु साम्निकस्याग्नौ होमः । उत्तरेषु  
 चतुर्षु विष्वमाह्वणहस्ते एव । निरग्निरुस्यापि प्रमीतपितृकस्य द्विजस्य पार्वण  
 निश्चयमिति तस्यापि पाणावेव होमः, 'न निर्वपति य आह प्रमीतपितृको द्विजः ।  
 इन्दुञ्चये मासि मासि प्रायश्चित्तीयते तु स ॥' इति वचनात् । एव वाम्याभ्यु-  
 दयिकाष्टकैकोद्दिष्टेषु पाणावेव होमः—'अभ्यभावे तु विप्रस्य पाणावेशोपपादयेत्'  
 इति (४।२।२) मनुस्मरणान् । पाणिदत्तस्य पृथग्प्रासप्रतिषेधं उच्यते । यथाहु-  
 र्गृह्यकारा—'अत्र पाणितले दत्तं पृथग्भक्ष्यबुद्धयः । पितरस्तेन तुष्यन्ति शेषाक-  
 न लभन्ति ते ॥ यच्च पाणितले दत्तं यच्चाभ्युदुपकल्पितम् । एकीभावेन भोक्तव्यं  
 पृथग्भावो न विद्यते' इति ॥ २३६-२३७ ॥

भाषा—अग्नौकरण के लिये घी से सना हुआ अन्न लेकर ( ब्राह्मणों से  
 अग्नौकरण के लिए ) आज्ञा माँगे, 'करो' ऐसा ( ब्राह्मणों द्वारा ) आदेश  
 पाकर पितृयज्ञ के समान ( उसका ) अग्नि में हवन करो । हवन से अवशिष्ट  
 ( शृताद्रं अन्न ) को एकप्रचित्त होकर पितृपात्रों में रखें ( वैश्वदेव पात्र में  
 नहीं ) जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार चाँदी के बनावयें गये हो ( मिट्टी  
 के नहीं ) ॥ २३६-२३७ ॥

उद्यनिवेदनम्—

दत्त्वान्नं पृथिवीपात्रमिति पात्राभिमन्त्रणम् ।

कृत्वोदं विष्णुरित्यग्ने द्विजाहुष्टं निवेशयेत् ॥ २३८ ॥

अन्नमोदनरूपपायसपृतादिक भाजनेषु दत्त्वा 'पृथिवी ते पात्र' इत्यादिना  
 मन्त्रेण पात्राभिमन्त्रणं कृत्वा 'इदं विष्णुर्विषकमे' ( श्रु १।२।७।२ )  
 इत्यन्यर्था अग्ने द्विजाहुष्टं निवेशयेत् । तत्र च वैश्वदेवे यज्ञोपवीती 'विष्णो  
 हस्य रश्म' इति । विष्वे प्राचीनावीती 'विष्णो कश्य रश्म' इति, 'विष्णो हस्य च  
 कश्य च मूपात्रयेति वै श्रमात्' इति मनुस्मरणान् ॥ २३८ ॥

१. लक्ष्यति । २. सजासादेको । ३. प्रतिषेधश्च दरपते । ४. पूर्वमस्येषु ।  
 ५. पात्रानुमन्त्रणम् । ६. कृत्वा ।

भाषा—(पावल, सूप, क्षीर, घी आदि) भस्म पात्रोंमें रख कर 'पृथिवी ते पात्रं' इत्यादि से मंत्र से पात्रों को अभिमन्त्रित करे और 'इदं विष्णुर्विक्रमे' भादि मन्त्र पढ़ता हुआ ( उस भस्म में ) ब्राह्मण का अगुँठा बलवावे ॥ २३८ ॥

सव्याहृतिकां गायत्रीं मधु वाता इति व्युचम् ।

जप्त्वा यथासुखं घाच्यं भुञ्जीरंस्तेऽपि चाग्यताः ॥ २३९ ॥

अनन्तरं 'विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमन्नं परिविष्टं परिवेष्यमाणं चावृत्ते.' इति यवोदकेन देवे निवेद्य, तथा पित्रे 'अमुकगोत्रायामुकशर्मणे इदमन्नं परिविष्टं परिवेष्यमाणं चावृत्तेः' इति तिलोदकप्रदानेन पित्रे निवेद्य, एवं पितामहाय प्रवितामहाय च निवेद्यानन्तरमापोदानं दावा पूर्वोक्ताभिरव्याहृतिभिः संहितां गायत्रीं 'मधु वाता' ( श्र. १।५।१८ ) इति वृचं मधु मधु मध्विति त्रिवारं जप्त्वा 'यथासुखं जुषस्वम्' इति मूयात् ; 'संकल्प्य पितृदेवेभ्यः सावित्रीं मधुमज्जपः । आदुष्यं निवेद्यापोदानं जुषस्वैपोऽप्य भोजनम् ॥' तथा—'गायत्रीं त्रिः स्वकृद्वापि जपेद्वाहाहृतिपूर्विकाम् । मधु वाता इति वृचं मध्वित्येतस्त्रिकं तथा ॥' इति पारस्करादिबचनात् । भुञ्जीरंस्तेऽपि चाग्यताः । तेऽपि ब्राह्मणा चाग्यता औनिमो भुञ्जीरन् ॥ २३९ ॥

भाषा—व्याहृतियों के साथ गायत्री का और मधुवाता' भादि वृच का जप करके आप लोग आनन्दपूर्वक भोजन करे ऐसी वदे और वे ( ब्राह्मण ) भी मौन होकर ( भोजन करे ) ॥ २३९ ॥

अन्नमिष्टं हविष्यं च दद्यादक्रोधनोऽत्यरः ।

आ वृत्तेस्तु पवित्राणि जप्त्वा पूर्वजपं तथा ॥ २४० ॥

अन्नं भक्ष्य-भोज्य लेख चोप्य पेयात्मकं पञ्चविधं इष्टं यदनाह्मणाय प्रेताय कर्त्रे वा रोचते । हविष्यं आदहविष्यं ग्रीहिशालिवनगोधूममुद्गमाषणुम्वज्जकालशाक-महाशकैलाशुण्ठीमरीचहिङ्गुदशर्कराकर्पूरसैन्धवसांमरपनसनालिकेरकदलीबदर-गव्यपयोदधिघृतपायसमधुमांसप्रभृति स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं वेदितव्यम् । 'हविष्यं' इत्यनेनैवायोग्यस्य स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धस्य क्रोधवमसूरचणककुलित्थपुलाकनिष्पा-वराजमापकूष्माण्डवार्ताकसृहतीद्वयोपोदकीचंशाङ्गुरिष्पलीवचाशतपुष्पोपैधविड-लवणमाहिपचामरक्षीरदधिघृतपायसादीनां निवृत्तिः । अक्रोधनः क्रोधहेतुसंभ-वेऽपि । अस्वरोऽप्यग्रश्च । आ वृत्तेर्दवादिति संबन्धः । 'तु' शब्दाद्यथा किंचिदुच्छि-द्यते तथा दद्यात् ; उपलक्ष्यस्य दासवर्गभागधेयत्वात्, 'उरक्षेपणं भूमिगतमजि-ह्वस्याशठस्य च । दासवर्गस्य तस्मिन्ने भागधेयं प्रचरते ॥' इति ( ३।२४६ )



मनुस्मरणात् । तथा आ वृत्तेः पवित्राणि पुरुषसूक्तपाठमानीप्रभृतीनि जपत्वा वृष्टान् ज्ञात्वा पूर्वोक्तं जपं च सव्याहृतिकामित्युक्तं जपेत् ॥ २४० ॥

भाषा—जो भक्त ( भोजन ) और हविष्य ब्राह्मणों को रुचे उसे ( क्रोध का भवसर आने पर भी ) म्रोधरहित एवं धैर्ययुक्त होकर देना चाहिए । जब तक वे वृत्त न हो जाय तब तक ( पुरुष सूक्त पाठमानी इत्यादि का ) जप करे और ( वे वृत्तिपूर्वक भोजन कर ले तो ) व्याहृतियों सहित पूर्वोक्त जप करे ॥ २४० ॥

अन्नमादाय तृप्ताः स्थ शेषं चैवानुमान्य च ।

तदन्नं विकिरेद्भूमौ दद्याच्चापः सकृत्सकृत् ॥ २४१ ॥

अनन्तरं सर्वमन्नमादाय 'तृप्ताः स्थ' इति तान्पृष्ट्वा 'तृप्ता' स्म' इति तैरुक्तः 'शेषमप्यस्ति किं कियताम्' इति पृष्ट्वा 'इष्टै सहोपभुज्यताम्' इत्यभ्युपगम्य तदन्नं पितृस्थानब्राह्मणस्य पुरस्तादुच्छिष्टसन्निधौ दक्षिणाप्रदमन्तरि-  
सायां भूमौ तिलोदकप्रक्षेपपूर्वकं—'ये अग्निदायाः' इत्यनवच्छेदं निश्चित्य पुन-  
स्तिथौदकं प्रक्षिपेत् । तदनन्तरं ब्राह्मणहस्तेषु पिण्डप्रदानम्—गण्डूपार्थं सकृत्स-  
कृदपो दद्यात् ॥ २४१ ॥

भाषा—तब सभी भक्त लेकर ( उन ब्राह्मणों से ) 'आप लोग एत हुआ' ऐसा पूछकर ( 'हम वृत्त हैं, ऐसा उत्तर पाने पर ), शेष के विषय में भी इसी प्रकार आज्ञा लेकर ( 'जो शेष यथा है उसे क्या करें' ऐसा पूछने पर 'मित्र जनों के साथ ग्रहण करो' ऐसी आज्ञा लेकर ) उस भक्त को पृथ्वी पर गिरा दे और ( ब्राह्मणों के हाथों पर ) थोड़ा थोड़ा जल गिरावे ॥ २४१ ॥

सर्वमन्नमुपादाय सतिलं दक्षिणामुग्रः ।

उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डान्दद्याद्द्वै पितृयज्ञवत् ॥ २४२ ॥

पिण्डपितृयज्ञकृत्पातिदेशेन चरुभक्षणसद्भावे अग्नौकरणसिद्धचहरोपेण सह सर्वमन्नमुपादायाग्निसंनिधौ पिण्डान्दद्यात् । तदभावे ब्राह्मणार्थं कृतमन्नं सर्वमुपादाय सतिलं तिलमिध दक्षिणामुग्र उच्छिष्टसन्निधौ पिण्डपितृयज्ञकृत्पातेन पिण्डान्दद्यात् ॥ २४२ ॥

भाषा—तब तिल के साथ सभी भक्त लेकर दक्षिण की ओर मुग्र करके उच्छिष्ट के निकट पिण्डपितृयज्ञ के समान ही पिण्डा देवे ॥ २४२ ॥

१. प्रक्षिरेत् । २. सार्वभजिहमन्न । ३. दद्यादि । ४. सार्वभजिहम-  
न्नमुपादाय ।

अक्षय्योदकदानम्—

मातामहानामप्येवं दद्यादाचमनं ततः ।

स्वस्तिसाच्यं ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च ॥ २४२ ॥

मातामहानामपि विश्वेदेवावाहनाद्विष्णुप्रदानपर्यन्त कर्मैवमेव कर्तव्यम् । अनन्तर ब्राह्मणानामाचमनं दद्यात् । स्वस्तिसाच्यं ततः कुर्यात् 'स्वस्ति मूत' इति ब्राह्मणान्स्वस्ति साच्येत् । तैश्च 'स्वस्ति' इत्युक्ते 'अक्षय्यमस्तु इति मूत' इति ब्राह्मणहस्तेषूदकदानं कुर्यात् । तैश्चाक्षय्यमस्तिवति वक्तव्यम् ॥ २४३ ॥

भाषा—मातामह आदि के लिये भी ( विश्वेदेव का आवाहन से लेकर विष्णुदान तक के कर्म ) इसी प्रकार होता है, इसके बाद ब्राह्मणों को आचमन करावे, तदुपरांत स्वस्तिसाचन करे और ब्राह्मणों के हाथों पर जल देवे और वे तुम्हारा अक्षय्य (सय प्रकार से कह्याण) हो ऐसा आशीर्वाद देवे ॥ २४३ ॥

स्वधावाचनम्—

दत्त्वा तु दक्षिणां शफत्या स्वधाकारमुदाहरेत् ।

वाच्यतामित्यनुधात प्रकृतेभ्यः स्वधोच्यताम् ॥ २४४ ॥

अनन्तर यथाशक्ति द्विष्यरजतादिदक्षिणां दत्त्वा 'स्वधांवाचयित्से' इत्युक्त्वा तैर्ब्राह्मणै 'वाच्यताम्' इत्यनुधात प्रकृतेभ्यः पित्रादिभ्यो मातामहादिभ्यश्च 'स्वधोच्यताम्' इति स्वधाकारमुदाहरेत् ॥ २४४ ॥

भाषा—इसके अनन्तर अपनी शक्ति के अनुसार ( ब्राह्मणों को ) दक्षिणा देकर उनसे स्वधावाचन की आज्ञा माँगे । 'स्वधावाचन करो' इस प्रकार की उनसे आज्ञा पाकर पिता आदि या मातामह आदि के लिये स्वधा का उच्चारण करे ॥ २४४ ॥

म्र्युरस्तु स्वधेत्युक्ते भूमौ सिञ्चेत्ततो जलम् ।

विश्वे देवाश्च प्रीयन्तां विप्रैश्चोक्त इदं जपेत् ॥ २४५ ॥

ते च ब्राह्मणा 'अस्तु स्वधा' इति म्र्यु । तैरेवमुक्ते अनन्तर कमण्डलुना उदकं भूमौ सिञ्चेत् । ततो 'विश्वे देवा प्रीयन्ताम्' इति म्र्यात्, ब्राह्मणैश्च 'प्रीयन्ता विश्वे देवा' इत्युक्ते इदमनन्तरोच्यमानं जपेत् ॥ २४५ ॥

भाषा—ये ब्राह्मण भी 'स्वधा हो' ऐसा कहें, उनके ऐसा कहने पर ( कमण्डलु से ) भूमि पर जल ड्रिड़के । तब 'विश्वेदेव प्रसन्न होयें, ऐसा कहे और ब्राह्मणों द्वारा भी ऐसा ही कहने पर भागे वही जाने याटी प्रार्थना का जप करे ॥ २४५ ॥

ब्राह्मणप्रार्थना—

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदा. संततिरेव च ।

श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयं च नोऽस्त्विति ॥ २४६ ॥

दातारो हिरण्यादे नोऽस्माकं कुलेऽभिवर्धन्ता बहवो भवन्तु । वेदाश्च चर्धन्ता अभ्ययनाभ्यापनतदर्थं जगानुष्ठानद्वारेण । सततिश्च पुत्रपौत्रादिपरम्परया । श्रद्धा च पित्र्ये कर्मण्यास्था नोऽस्माक मा व्यगमत् मा गच्छतु । 'न माह्योगे' ( पा ६।४।७४ ) हायदभाव । देय च हिरण्यादि बहु भव्यन्त अस्माक भवत्विति जपेदित्यर्थं ॥ २४६ ॥

भाषा—हमारे कुल में ( हिरण्य आदि ) क दाता ( दानशील पुरुष ) अनेक हों, ( अभ्ययन अभ्यापन द्वारा ) वेद की और सन्तान ( पुत्र, पौत्र ) की वृद्धि होवे । पितृकर्म ( पितरों की पूजा ) आदि में हमारी श्रद्धा कम न होवे, (सोना आदि) दान देने योग्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में बनी रहें ॥ २४६ ॥

इत्युक्तवोत्वा प्रिया वाच प्रणिपरय विसर्जयेत् ।

वाजे वाज इति प्रीत पितृपूर्वं विसर्जनम् ॥ २४७ ॥

एव पूर्वोक्त प्रार्थनामन्त्र जपवा, उक्त्वा च प्रिया वाच 'घ्न्या वयं भवद्य रणयुगलरज पवित्रीकृतमस्मन्मन्दिर शाकाद्यशनकलेशमविगणय भवद्भिरनुचृहीता घमम्' इत्येवरूपा । प्रणिपरय प्रदक्षिणापूर्वं नमस्कृत्य विसर्जयेत् । कथं विसर्जयेदित्याह—'वाजे वाजेवत वाजिनो न' ( श्र ५।४।५।८ इत्यनयर्थां पितृपूर्वं प्रणितामहादि विश्वेदेवान् दर्मा-वारम्भेण 'उत्तिष्ठत पितर' इति प्रीत सुप्रीतमना विसर्जनं कुर्यात् ॥ २४७ ॥

भाषा—इस मन्त्र का जप करके, प्रियवचन कह कर ( पितरों को ) प्रणाम करके विसर्जित करे । 'वाजे वाजेवत वाजिनो न' इस मन्त्र के साथ मसन्नचित्त होकर पितरों से आरम्भ करके ( विश्वेदेव तक का ) विमर्जन करना चाहिये ॥ २४७ ॥

यस्मिंस्तु संघ्नया पूर्वमैर्ष्यपात्रे निवेशिता ।

पितृपात्रं तदुत्तानं कृत्वा विप्रान्विसर्जयेत् ॥ २४८ ॥

यस्मिंस्तु संघ्नया पूर्वमैर्ष्यपात्रे निवेशिता सघ्नया ब्राह्मणहस्तगलितार्षोद्कानि निवेशिता स्थापितास्तद्वर्षपात्रं ग्युञ्ज तदुत्तानमूर्ध्वमुत्त कृत्वा विप्रान्विसर्ज-

१ रेव न । २ इत्युक्त्वा तु । ३ विसर्जयेत् । ४. यस्मिंस्तु सघ्नया पूर्व । ५ पितृपात्रे । ६ दानान्तर ते सघ्नया ।

येत् । एतच्चाग्नीर्मन्त्रजपादूर्ध्वं 'वाजे वाजे' इत्यत्र प्राग्दृष्टव्यम्, 'ह्वावा विसर्ज-  
येत्' इति वशाप्रत्ययध्ववणात् ॥ २४८ ॥

भाषा—पहले जिस अर्घ्यपात्र में ( ग्राहणों के हाथों से ) गिरा हुआ  
जल रोप गया था उस भाँधे किये गये ) पितृपात्र का मुँह ऊपर करे और  
ग्राहणों को बिदा करे ॥ २४८ ॥

प्रदक्षिणमनुव्रज्य भुञ्जीत पितृसेवितम् ।

ब्रह्मचारी भवेत्तां तु रजनी ग्राहणैः सह ॥ २४९ ॥

अनन्तरमासीमान्त ग्राहणाननुव्रज्य तै 'गम्यताम्' इत्यनुशातस्तान्प्रदक्षि-  
णीकृत्य प्रतिनिवृत्त पितृसेवित आदक्षिष्टमिष्टै सह भुञ्जीत । नियम एवाय,  
न परिसहया । 'मासे तु यथावधि' इति 'द्विजकाम्यया' ( भा० १७९ ) इत्यग्रे  
एवम् । परिमन्दिने आह्वृत तत्सवन्धिनीं रात्रिं भोक्तृनिर्माहणै सह कर्ता  
ब्रह्मचारी भवेत् । तुशब्दात् पुनर्भोजनादिरहितोऽपि भवेत्, 'दन्तघावनतामूल  
स्निग्धरसानमभोजनम् । ररवीपथपराधानि आह्वृत् सप्त वर्जयेत् ॥ पुनर्भोजन-  
सव्यान् भाराण्ययनमैथुनम् । दान प्रतिग्रह होम आह्वयव्यवहृत् वर्जयेत् ॥' इति  
वचनात् ॥ २४९ ॥

भाषा—तब ग्राहणों को अपने गाँव की सीमा तक पहुँचा कर उनकी  
आज्ञा मिलने पर प्रदक्षिणा करके लौटे और दृष्ट जनो के साथ अवशिष्ट अन्न  
का भोजन करे । उस रात्रि ग्राहणों के साथ आह्वयकर्ता ब्रह्मचारी होकर  
रहे ॥ २४९ ॥

पुत्र पार्थण्यथाह्वयस्त्वेदानीं घृदिआहमाह—

एवं प्रदक्षिणावृत्तको घृद्धो नान्दीमुपान्वितम् ।

यजेत दधिकर्कन्धुमिध्वान्विषण्डान्यथै क्रिया ॥ २५० ॥

नृद्धो पुत्रजन्मादिनिमित्ते आह्वे एवमुक्तेन प्रकारेण वितृन्त्यजेत् पूजयेत् ।  
तत्र विशेषमाह—प्रदक्षिणावृत्क इति । प्रदक्षिणा आह्वत् अनुष्ठानपद्धतिर्यथासी  
प्रदक्षिणावृत्क, प्रदक्षिणप्रधार इति यावत् । 'नान्दीमुपान्' इति पितृणां  
विशेषणम् । अतश्चावाहनाद् 'नान्दीमुपान्' पत्न्यावाहमिष्ये नान्दीमुपान्विता  
महान्' इत्यादिप्रयोगो दृष्टव्य । कथं यनेतेत्याह—दधिकर्कन्धुमिध्वान् ।  
कर्कन्धुर्बन्धुफलम्, यना यदरीपलेश्च मिध्वान्विषण्डान्वाया, 'यजेत' इति  
सर्वदशते । तिलसायना सर्वा क्रिया यथै कर्तव्या । अत्र च ग्राहणमगवा  
दन्तितैव 'सुभा-दैवे यथादाति' ( भा० २२७ ) इत्यत्र । प्रदक्षिणावृत्कादिपरी

गणनमन्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्ताना विशेषधर्माणा प्रदर्शनार्थम् । यथाहाश्वला  
यन — 'अथाभ्युदयिके युग्मा ब्राह्मणा अमूला दर्भा प्राङ्मुखो यज्ञोपवीती स्वा-  
धप्रदक्षिणमुपचारो यवैस्तिलार्थो गन्धादिदान द्विर्द्वि ऋजुदर्भानासने दद्यात् ।  
'यथाऽसि सोमदेवत्यो गोसवे देवनिर्मित । प्रत्यवद्भि प्रत्त पुष्टया नान्दीमुखा  
न्पितृनिर्माह्लाकान्प्रीणयाहि न स्वाहा' इति यवावपनम् । 'विश्वेदेवा इद  
वोऽर्घ्यं, नान्दीमुखा पितर इद वोऽर्घ्यम्' इति यथालिङ्गमर्घ्यदानम् । पाणौ  
होमोऽभनये कस्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहेति । 'मधु वाता  
ऋतायते' ( ऋ स १।६।१८ ) इति स्पृच स्थाने 'उपास्मै गायत' ( ऋ स  
६।७।३६ ) इति पञ्च मधुमती श्रावयेत् । 'अपुत्रमीमदन्त' ( ऋ स. १।६।३ )  
इति षष्ठीम् । आचान्तेषु भुक्ताशयान्गोमयेनोपलिप्य प्राचीनाप्रा-दर्भान्तरतार्यं  
तेषु पृषदग्धमिश्रेण भुक्तशेषेणैकैकस्य द्वौ द्वौ पिण्डी दद्यादित्यादि । यद्यपि  
'पितृभ्यजेत' इति सामान्येनोक्त, तथापि श्राद्धत्रय ऋमक्ष स्मृत्यन्तरादव  
गन्तव्य । यथाह शातातप — 'मातु श्राद्ध तु पूर्वं स्यात्पितृणां तदनन्तरम् ।  
ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रय स्मृतम् ॥' इति ॥ २५० ॥

भाषा—पुत्रजन्म आदि प्रसन्नता क अवसर पर भी इसी प्रकार नान्दी  
मुख पितरों क लिये दाहिनी ओर से आरम्भ करके पूजन करना चाहिए ।  
दही, बदरीफल मिश्रित पिण्ड देना चाहिए और ( तिल से की जाने वाली )  
कियाएँ यव से की जानी चाहिए ॥ २५० ॥

एकोद्दिष्टमाह—

एकोद्दिष्टं देवहीनमेकार्घ्यकपवित्रकम् ।

आयाहनाग्नौकरणरहितं ह्यपसव्यवत् ॥ २५१ ॥

एकोद्दिष्ट एक उद्दिष्टो यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम् । 'शेष  
पूर्ववशाचरेत्' ( भा० २५४ ) इत्युपसहारात् । पार्वणसकल्धर्मप्राप्तौ विशेषेऽभि  
धायते । देवहीन देवरहित वैश्वदेवरहित एकार्घ्यपात्रमेकदर्भपवित्रक च आवाह  
नाग्नौकरणहोमेन च रहितम् । अपसव्यवत् प्राचीनावीतप्रङ्गसूत्रवत् । अनेना  
नन्तररत्नोकाभ्युदयिक यज्ञोपवीतित्व सूचयति ॥ २५१ ॥

भाषा—एकोद्दिष्ट नाम का कर्म बिना विश्वेदेव क एक अर्घ्यपात्र से  
एक कुशपवित्र से किया जाता है, इसमें आवाहन और आग्नौकरण नहीं होता  
एव प्राचीनावीत ( दोक दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत करके ) दिया  
जाता है ॥ २५१ ॥

उपतिष्ठतामक्षयस्थाने विप्रविसर्जने ।

अभिरम्यतामिति वदेद्व्रूयुस्तेऽभिरताः स्म ह ॥ २५२ ॥

किंच, यदुक्तं (भा० २४३)—‘स्वस्तिवाप्यं तनः कुर्यादक्षयोदकमेव च’ इति तत्राक्षयस्थान उपतिष्ठतामिति वदेत् । विप्रविसर्जने कर्तव्ये ‘वात्रे वात्रे’ इति अपानन्तरं ‘दर्मान्वारम्भेग अभिरम्यताम्’ इति ब्रूयात् । ते च ‘अभिरताः स्मः’ इति ब्रूयुः । इ इति प्रसिद्धौ । शेषं पूर्ववदिति यावत् । एतच्च मन्वाह्ने कर्तव्यम्, यथाह देवळः—‘पूर्वाह्णे द्वैविकं कर्म अपराह्णे तु पैतृकम् । एकोद्दिष्टं तु मन्वाह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ॥’ इति । ‘भुञ्जीत रिगृसेवितम्’ (भा० २४९) इत्येकोद्दिष्टविशेषे निषेधो दरपते—‘नवध्राद्धेषु यत्किञ्चिद् गृहे पर्युपितं च यत् । दंपत्योर्भुक्तशिष्टं च न भुञ्जीत कदाचन ॥’ इति<sup>१</sup> । नवध्राद्धं च दर्शितम्—‘प्रथमेऽह्नि तृतीयेऽह्नि पञ्चमे सप्तमे तथा । नवमैकादशे चैव तत्रवध्राद्धमुच्यते ॥’ इति ॥ २५२ ॥

भाषा—अक्षय्योदक के समय उपतिष्ठताम् (‘आप लोग बैठे’) ऐसा कहें । घ्राह्यगो के विमर्जन के समय ‘अभिरम्यताम्’ (‘आप लोग आनन्दित हों’) कहे । ये (घ्राह्यग) भी हम आनन्दित हुए (अभिरताः) कहें ॥ २५२ ॥

सविण्डीकरणमाह—

गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्यात्पात्रचतुष्टयम् ।

अर्घ्याथ पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत् ॥ २५३ ॥

ये समाना इति द्वाभ्यां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।

एतत्सविण्डीकरणमेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपि ॥ २५४ ॥

गन्धोदकतिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयं अर्घ्यसिद्धयर्थं पूर्वोक्तविधिना कुर्यात् । तिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयमिति वदता पितृवर्गं चत्वारो ग्राह्यगो दर्शिताः । यैश्च देवे द्वौ स्थितावैव । अत्र प्रेतपात्रोदकं किञ्चिदवशेषं त्रिधा विभज्य पितृपात्रेषु सेचयेत् ‘ये समानाः समनमः’ इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् । शेषं विरवेदेवावाहनाद्विविसर्जनान्त पूर्ववत्पार्वण्यदाचरेत् । प्रेतार्घ्यपात्रावभिष्टोदकेन प्रेतस्थान-ग्राह्यगहस्तेऽर्घ्यं दात्वा शेषमेकोद्दिष्टवत्समापयेत् । पित्र्येषु त्रिषु पार्वण्यदेव । एतत्सविण्डीकरणमनन्तरोक्तमेकोद्दिष्टं च ततः मातृकं स्त्रिया अपि मातुरपि कर्तव्यम् । एवं वदता पार्वणे मातृध्राद्धं पृथक्कर्तव्यमित्युक्तं भवति । अत्र ‘प्रेत’शब्दं पितुः प्रविनामद्वित्रिय केचिद्गण्यन्ति; तस्य त्रिष्वन्तर्भावेन सविण्डीकरणोत्तरकालं विण्डीनानादिगिष्ट्युपपत्तेः । समनन्तरं मृतस्य मृतस्य विण्डी-

कदानानुवृत्तैरन्तर्भावो न युक्तः । अत एवाह यम — 'य सविण्डीकृतं प्रेतं  
 पृथक्पिण्डे नियोजयत् । विधिन्स्तेन भवति पितृहा चोपजायते ॥' इति  
 प्रकृत्येण ह्यन गतो प्रेत इति चतुर्थेऽपि 'प्रेत'शब्दोपपत्तः । 'प्रेतेभ्य एव निपृणी-  
 यात्' इति च प्रयोगदर्शनात् । अवि च—'सविण्डीकरणं श्राद्धं दत्तपूर्वं  
 नियोजयेत् । पितृनेवाशयेत्तत्र पुनः प्रेतं न निर्दिशेत् ॥' इति सविण्डीकरणो-  
 च्छरकालं प्रेतस्य श्राद्धादिप्रतिषेधो दृश्यते, स चानन्तरमृतस्य न सम्भवति,  
 अमावास्यादौ श्राद्धविधानात् । 'सविण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिरर्तते'  
 ( मनु ५।१० ) इत्येतदपि वचनं चतुर्थस्य श्रित्वन्तर्भाव एव घटते, 'चतुर्थस्य  
 विण्डन्नपस्यापिष्व, पञ्चमस्य विण्डद्वयस्यापिष्व, षष्ठस्यैकविण्डस्यापिष्व, सप्तमे  
 निवृत्तिः' इति । पितृपात्रेऽश्वेतदपि पितृमुख्यात्वाद्दिग्मन्त्रेणैव पथे घटते, ना-य-  
 था, प्रपितामहप्रमुखत्वात् । तस्मात्पितृपात्रेषु तत्प्रतपात्रं प्रसेचयेदिति पितुः  
 प्रपितामहपात्रं विद्यादिपात्रेषु प्रसेचयेदिति,—तद्युक्तम् । नद्यत्र विण्डसपोजन-  
 मुत्तरत्र विण्डदानादिनिवृत्तिप्रयोजकम्, अवि तु पितुः प्रतस्वनिवृत्त्या पितृत्व-  
 प्राप्तर्यम् । प्रेतस्य च सुप्तलोपजनितत्वात्-तदुल्लानुभवावस्था । यथाह  
 मार्कण्डेय — 'प्रेतलोकं तु वसतिर्नृणां पर्यं प्रकीर्तिता । सुप्तलोपे प्रायह तत्र भवेतां  
 शृगुनन्दन ॥' इति । पितृत्वप्राप्तिश्च वस्वादिश्राद्धदेवतासंबन्धः । प्राक्तनैकोद्दिष्ट-  
 सहितेन सविण्डीकरणेन प्रेतस्वनिवृत्त्या पितृत्वं प्राप्नोतीत्यवगम्यते—'वस्यैमानि  
 न दत्तानि प्रेतश्राद्धानि षोडश । प्रेतस्य सुस्थिर तस्य दत्तं श्राद्धशतैरपि ॥' इति ।  
 तथा—'चतुरो निवपेरिण्डान्पूर्वं तेषु समावपेत् । ततः प्रभृतिं वै प्रेतं पितृसा-  
 मा यमरनुते ॥' इत्यादिवचनात् । य सविण्डीकृते प्रेतम्' इत्यनेनापि पृथगे  
 काद्दिष्टविधानेन विण्डदाननिषेधात्पार्ष्णविधानेन सह विण्डदानमवगम्यते ।  
 तस्य सांख्यसंस्कृतिकपात्तिकैकोद्दिष्टविधानेनापोद्यते । यदपि 'पुनः प्रेतं न निर्दिशेत्'  
 इति, तदपि प्रेतशब्दं नोच्चारयेत्, अवि तु पितृशब्दमेवेत्येवमर्थम् । मय प्रकृतं  
 गमनात्तत्रैव 'प्रेत'शब्दः । यतो विशिष्टदुल्लानुभवावस्था 'प्रेत'शब्देन रुढवा-  
 मिधीयत इत्युक्तम् । सोऽपि प्रतीतमात्रे प्रेतशब्दप्रयोगः सोऽपि भूतपूर्वगत्या ।  
 'सविण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिरर्तते' इति च प्रथमस्य विण्डस्य चतुर्थस्यापि  
 त्वात्, द्वितीयस्य पञ्चमस्यापिष्वत्, तृतीयस्य षष्ठस्यापिष्वत्, 'सप्तमे विनि-  
 र्तते' इत्येवमपि घटते । अवि च निर्वाच्यविण्डान्त्रयेण न स्याद्विण्डप, अंशा  
 पक्षत्वात्, अवि त्वेकशरीरावस्था-वयेनेत्युक्तम् । पितृशब्दश्च प्रेतस्वनिवृत्त्या  
 श्राद्धदेवताभूयगतेषु घटते इति पितृपात्रेऽश्वैवविकृतम् । तस्माद्गम्यतात्पार्ष्ण

१ समावपेत् समापयत् । २ पुनश्च । ३ विधानेनोपपद्यते  
 विधानापोपपाद्यते । ४ अस्यापिष्वत् इति तु । ५ देवतामुपगतम् ।

पूर्वपक्षद्वारेण परमतं दर्शितमित्यर्थः । मृतपात्रोदकस्य तस्मिन्पिण्डस्य च पितृपात्रेषु तस्मिन्पिण्डेषु च मसर्जनमिति स्थितम् । भाचार्यस्तु परमतमेवोपन्यस्तवान् । एतच्च पितुः सपिण्डीकरणं वितामहादिषु त्रिषु प्रमीतेषु चदितव्यम् । पितरि प्रेते वितामहे प्रवितामहे वा जीवति सपिण्डीकरणं नास्त्येव, 'शुक्लमाद्यं प्रमीतानां नैव कार्या सपिण्डता' इति वचनात् । यस्तु मनुवचन ( ३।२२। ) 'पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेद्वापि वितामहः । पितुः स नाम सकीर्यं कीर्तयेत्प्रवितामहम् ॥' इति, तदपि शब्दप्रयोगनियमात् न पिण्डद्वयदानार्थम् । कथम् ? 'अथिमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् । पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेद्वापि वितामहः ॥' सोऽपि पूर्वेषामेव निर्वपेदित्येव । पक्षद्वयेऽपि कथं निर्वपेदित्याह—'पितुः स नाम सकीर्यं कीर्तयेत्प्रवितामहम्' ( मनु ३।२२०-२१ ) इत्याद्यन्तग्रहणेन सर्वत्र पितृभ्यः, पितामहेभ्यः, प्रवितामहेभ्यः इत्येव प्रयोगः, न पुनः कदाचिदपि वितामहस्य प्रवितामहस्य वाऽऽदिव बृद्ध-प्रवितामहस्य तस्मिन्पितृवर्षाऽन्तस्त्वम् । अतश्च पितादिशब्दानां सर्वत्र-विचयन-त्वात् अथिमाणेऽपि पितरि पितुः पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रवितामहेभ्यः इति, पितामहे अथिमाणे वितामहस्य पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रवितामहेभ्यः इति । अतश्च पिण्डपितृव्यञ्जे 'शुण्य-तां पिता' इत्यादिमन्त्राणामूहो न भविष्यति । यदपि विष्णुवचनं 'यस्य पिता प्रेतः स्यात्स पितृपिण्डं निधाय वितामहात्पराभ्यां द्वाभ्यां दद्यात्' इति, तस्यायमर्थः—पितामहे अथिमाणे प्रेतः च पितरि पितुरेकं पिण्डमेकोद्दिष्टविधानेन निधाय पितुर्यं वितामहस्ततः पराभ्यां द्वाभ्यां दद्यात् । पितामहस्त्वात्मनः प्रवितामहः सप्रदानभूतः स्थित एवम् । प्रवितामहाय ततः पराभ्यां द्वाभ्यां च दद्यादिति । शब्दप्रयोगनियमस्तु पूर्वोक्त एव । एव गोब्राह्मणादिहतस्थापि सपिण्डीकरणाभावो वेदितव्यः । यथाह कार्यायन—'ब्राह्मणादिहते ताते पतिते सगर्जिते । शुकुलमाद्यं मृते देयं येभ्य एव ददात्यसौ ॥' इति । गोब्राह्मणहतस्य पितुः सपिण्डीकरणसंभवे तमुल्लभ्य वितामहादिभ्यः पार्वणविधानमनुपपन्नमिति सपिण्डीकरणाभावोऽवगम्यते । स्मृत्यन्तरेऽपि—'ये नराः सततिच्छ्रद्धा नारितः तेषां सपिण्डता । न चैतैः सह कर्तव्या-न्वेकोद्दिष्टानि षोडश ॥' इति । मातुः सपिण्डनादौ गोत्रे विप्रतिपत्तिः, भर्तृगोत्रेण पितृगोत्रेण वा दातव्यमिति उभयत्र वचनवर्शनात् । 'स्वगोत्राद्भरयते नारी विवाहात्सप्तमे पदे । स्वामिगोत्रेण कर्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रिया ॥' इत्यादि-भर्तृगोत्रविषयवचनम्, 'पितृगोत्रं समुत्सृज्य न कुर्याद्भर्तृगोत्रतः । जन्मन्वेव विपत्तौ च नारीणां वैतुकं कुलम् ॥' इत्यादिपितृगोत्रविषयम् । एव विप्रतिपत्ता-



वासुरादिविवाहेषु पुत्रिकाकरणे च पितृगोत्रमेव, तत्र तत्र विशेषवचनात् दान  
स्यानिवृत्तेश्च । ब्राह्मादिविवाहेषु त्रीद्वियववत् बृहद्रथन्तरसामथत् विकल्प एव ।  
तत्र च—‘येनास्य पितरो याता येन याता पितामहा । तेन यायास्तता मार्त  
तेन गच्छन्त दुःपति ॥’ इति ( मनु ४।१७८ ) वचनात् वशपरम्परायातसमा-  
चरणेन व्यवस्था । एवविधविषयव्यतिरेकेणास्य वचनस्य विषयान्तराभावात् ।  
यत्र पुन शास्त्रतो न व्यवस्था, नाप्याचारस्तत्र ‘आत्मनस्तुष्टिरेव च’ इति वउ-  
नादात्मनस्तुष्टिरेव व्यवस्थापिका, यथा—‘गर्भाष्टमेऽष्टमे चावदे’ (भा० १४) इति ।  
( यज्ञ ) मातु सपिण्डीकरणेऽपि ‘विहृद्धानि धाक्यानि दृश्यन्ते, तत्र पितामह्या-  
दिभि सार्धं सपिण्डीकरणं स्मृतम्’ । तथा भर्त्रापि भार्याया स्वमात्रादिभि सह  
सपिण्डीकरणं कर्तव्यमिति पैठीन्यविराह—‘अपुत्राया स्मृतायां तु पति कुर्यात्स-  
पिण्डीनाम् । श्वशुरादिभि सहैवास्या सपिण्डीकरणं भवेत् ॥’ इति । पर्या सह  
सपिण्डीकरणं यम भाह—‘पर्या च्चेकेन कर्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियाः । सा  
स्मृतापि हि तेनैव्य गता मन्त्राहुतिवत् ॥’ इति । उशनसा तु मातामहेन सह  
सपिण्डीकरणं मुक्तम्—‘पितु पितामहे यद्गर्भं सवस्तरे सुते । मातुर्मातामहे  
तद्गर्भं कार्या सपिण्डीता ॥’ तथा—‘पिता पितामहे योऽय पूर्णं सवस्तरे सुते ।  
माता मातामहे तद्विदित्याह भगवाञ्छिव ॥’ इत्येवविधेषु वचनेषु ससु अपुत्रार्या  
भर्याया प्रमीताया भर्ता स्वमात्रैव सापिण्डी कुर्यात् । अन्वारोहणे तु पुत्र  
स्वपित्रैव मातु सापिण्डी कुर्यात् । आसुरादिविवाहोत्पन्न पुत्रिकासुनश्च माताम-  
हेनैव । ब्राह्मादिविवाहोत्पन्न पित्रा मातामहेन पितामह्या वा विकल्पेन कुर्यात् ।  
अत्रापि यदि नियतो वशसमाचारस्तदानौ तथैव कुर्यात् । वशसमाचारोऽप्यनि-  
यतश्चेत्तदा ‘आत्मनस्तुष्टिरेव च’ इति यथारुचि कुर्यात् । तत्र च येन केनापि  
मातु स्यापिण्डीकेऽपि यत्रान्वष्टकादिषु मातृश्राद्ध पृथग्विहितम्,—‘अन्वष्टकासु  
वृद्धी च गवायां च श्वेऽहनि । मातु श्राद्धं पृथुक्कुर्यादप्यत्र पतिना सह ॥’ इति,  
तत्र पितामह्यादिभिरेव पार्वणश्राद्धं कर्तव्यम्, ‘अन्यत्र पतिना सह’ इति पतिषा  
पिण्डीके तदशभागित्वात् । मातामहसापिण्डीके तदशभागित्वात्तेनैव सह । यथाह  
शातातप—एकमूर्तिस्वमायाति सपिण्डीकरणे कृत । पत्नी पतिपितृणां च तस्मा-  
दशेन भागिनी ॥’ इति । एवं सति मातामहेन मातु सापिण्डीके मातामहश्राद्धं  
पितृश्राद्धवक्षित्वमेव । पर्या पितामह्या वा मातु सापिण्डीके मातामहश्राद्धं न  
नित्यम् । कृते अशुद्धय, अकृते न प्रत्यवाय इति निर्णय ॥ २५३-२५४ ॥

भाषा—गन्ध, जल और तिल से युक्त चार पात्र अर्घ्य के लिए बनाना  
चाहिए । ‘ये समाना समनसः’ इत्यादि दो मन्त्रों से प्रेत पात्र का जल पितृ-

पार्श्वे में ( तीन भाग करके ) छोड़े । शेष कर्म पहले के समान ही करे । इस कर्म को सपिण्डीकरण कहते हैं । एकोद्दिष्ट कर्म स्त्री के लिए भी किया जाता है ॥ २५३-२५४ ॥

अर्धाक्सपिण्डीकरणं यस्य संवत्सराद्भवेत् ।

तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं देद्यात्संवरसरं द्विजे ॥ २५५ ॥

संवत्सरादर्धाक् सपिण्डीकरणं यस्य कृतं तस्य तदुद्देशेन प्रतिदिवसं प्रतिमासं वा यावत्संवरसरं श्रावण्यनुसारेणाप्तमुदकुम्भसहितं प्राक्षगाय दद्यात् । 'अर्धादसं-वरसरात्' इति वदता सपिण्डीकरणं संवरसरे पूर्णं प्रायेति दर्शितम् । यथा-  
 हाश्वलायनः ( १।३।११ )—'अथ सपिण्डीकरणं संवत्सरांते द्वादशाहे वा' इति ।  
 कात्यायनोऽप्याह ( ३।३।११ )—'ततः संवरसरे पूर्णं सपिण्डीकरणं त्रिपचे वा यदहर्वा वृद्धिरापचते' इति । द्वादशाहे, त्रिपचे, वृद्धिप्राप्तौ, संवरसरे चेति चत्वारः पक्षा दर्शिताः । तत्र द्वादशाहे पितुः सपिण्डीकरणं सामिन्नेन कार्यम् ; सपिण्डीकरणं विना पिण्डपितृपञ्चासिद्धेः, 'सामिन्कस्तु यदा कर्ता प्रेतो वाऽप्यग्निमाग्नवेत् । द्वादशाहे तदा कार्यं सपिण्डीकरणं पितुः ॥' इति वचनात् । निरग्निस्तु त्रिपचे वृद्धिप्राप्तौ संवरसरे वा कुर्यात् । यदा प्राक्संवासात्सपिण्डीकरणं तदा पौडश-श्राद्धानि कृत्वा सपिण्डीकरणं कार्यम्, उत सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वस्वकाले तानि कर्तव्यानीति संशयः; उभयथा वचनदर्शनात्, 'श्राद्धानि षोडशादत्वा नैव कुर्यात्सपिण्डताम् । श्राद्धानि षोडशापाद्य विद्धीत सपिण्डताम् ॥' इति । षोडशश्राद्धानि च—'द्वादशाहे त्रिपचे च पण्मासे मासि चाग्निदके । श्राद्धानि षोडशैतानि संस्मृतानि मनीषिभिः ॥' इति दर्शितानि । तथा—'यस्यापि वासरादर्धाक्सपिण्डीकरणं भवेत् । मासिकं सोदकुम्भं च देयं तस्यापि वासरात् ॥' इति । तत्र सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वकाले पृथैतानि कर्तव्यानीति प्रथमः कल्पः, अप्राप्तकाल-खेय प्रागनधिकारात् । यद्यपि वचनं—'षोडशश्राद्धानि कृत्यैव सपिण्डीकरणं संवत्सरात्प्रागपि कर्तव्यम्' इति, सोऽयमापरकल्पः । यदा स्वायत्कृत्यवशेन प्राक्सपिण्डीकरणात् प्रेतश्राद्धानि करोति, तदेकोद्दिष्टविधानेन कुर्यात् । यदा तु मुख्य-कल्पेन स्वकाले एव करोति तदाच्चिद्वर्कं श्राद्धं यो यथा करोति पार्वण्यैकोद्दिष्टं वा तथा मासिकानि कुर्यात् ; 'सपिण्डीकरणादर्धाक्षुर्वन् श्राद्धानि षोडश । एकोद्दिष्ट-विधानेन कुर्यात्सर्वाणि तानि तु ॥ सपिण्डीकरणादूर्ध्वं यदा कुर्यात्तदा पुनः । प्रायश्चदं यो यथा कुर्यात्तथा कुर्यात्स ताम्यपि ॥' इति स्मरणात् । एतच्च प्रेतश्राद्धसहितं सपिण्डीकरणं संविभक्तघनेषु बहुषु भ्रातृषु सस्वप्येकेनैव कृतेनाहं, न सर्वैः कर्तव्यम् ; 'नवश्राद्धं सपिण्डात् श्राद्धान्यपि च षोडश । एकेनैव तु

कार्याणि सविभक्तधनेष्वपि ॥' इति स्मरणात् । इदं च प्रेतभ्रातृसहित सपिण्डीकरण असन्वासिनां पुत्रादिभिर्नियमेन कर्तव्यम्, प्रेतवविमोक्षार्थत्वात् सन्वासिनां तु न कर्तव्यम् । यथाहोशना—'एकोद्दिष्ट न कुर्वीत यतीनां चैव सर्वदा । अहन्नेकादशे प्राप्ते पार्वण तु विधीयते ॥ सपिण्डीकरण तेषां न कर्तव्यं सुतादिभिः । त्रिदण्डग्रहणादेव प्रेतत्व नैव जायते ॥' इति पुत्रासनिधाने येन सगोत्रादिना द्वादशस्कार कृतस्तेनैवादशाहान्त तत्प्रेतकर्म कर्तव्यम्—'असगोत्र सगोत्रो वा स्त्री दद्याद्यदि वा पुमान् । प्रथमेऽहनि यो दद्यात् दशाह समापयत् ॥' इति स्मरणात् । शूद्राणामप्येतत्कर्तव्यमम-प्रक द्वादशोऽह्नि—एव सपिण्डीकरण मन्त्रवर्ष्यं शूद्राणां द्वादशोऽह्नि इति विष्णुस्मरणात् । सपिण्डीकरणादूर्ध्वं सांवरसरिकपार्वणादीनि पुत्रस्य नियमेनैव कार्याणि, अ-यथामनियतानि ॥२५५॥

भाषा—जिस ( द्विज का ) सपिण्डीकरण एक वर्ष की अवधि के पूर्व ही हुआ हो तो उसके लिए प्रत्येक दिन और प्रत्येक मास में एक वर्ष तक शक्ति के अनुसार एक घड़े जल के साथ अन्न प्राज्ञान को देना चाहिए ॥ २५५ ॥

एकोद्दिष्टकालाहा—

मृतेऽहनि प्रकर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् ।

प्रतिसवत्सरं चैवमाद्यमेकादशोऽहनि ॥ २५६ ॥

मृतेऽहनि प्रतिमास सवत्सर यावदेकोद्दिष्टकार्यम् । सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रति सवत्सरमेकोद्दिष्टमेव कर्तव्यम् । आद्य सर्वैकोद्दिष्टप्रकृतिमृतमेकोद्दिष्टमेकादशोऽहनि । मृतद्विवसापरिज्ञाने सच्छ्रवणदिवसे अमावास्याया वा कार्यम् । 'अपरिज्ञाने मृतेऽहनि अमावास्यायां धवणदिवसे वा' इति स्मरणात् । अमावास्यायामिति गमन माससंबन्धभ्यमावास्यायाम्—'प्रवासदिवसे देय त-मासेन्दुष्येऽपि वा' इति स्मरणात् । 'मृतेऽहनि' इत्यत्राहिताग्नेर्विशेषो जातृकण्येनोक्त — ऊर्ध्वं त्रिपक्षाद्यच्छाब्द मृतेऽह-येव तद्भवेत् । अधस्तु कारयद्वाहादाहिताग्नेर्द्विज-मन ॥' इति । तत्र त्रिपक्षाद्वाग्यप्रेतकर्म तद्वाहदिवसादारभ्याहिताग्ने कार्यम्, त्रिपक्षादूर्ध्वं यच्छाब्द त-स्मरणदिवस एवेत्यर्थः । अनाहिताग्नेस्तु सर्वं मृताह एव । 'अद्यमेकादशोऽहनि' इत्यादि शौचोपलक्षणमिति कचित् ; 'शुचिना कर्म कर्तव्य' इति शुद्धरत्नवात्, 'अथा शौचापगमे (२११) इति सामान्येन सर्वेषा यर्जानामुपक्रम्यैकोद्दिष्टस्य विष्णुना विहितत्वात् । तदयुक्तम्—'एकादशोऽह्नि यच्छ्रद्धं तस्मान्मान्यमुदाहृतम् । चतुर्णामपि वर्णानां मृतके च पृथक्पृथक् ॥' इति पैटीनसिस्मरणविरोधात्, 'आद्य भ्रातृमशुद्धोऽपि कुर्वादेकादशोऽहनि । कर्तुंस्तारकालिकी शुद्धि

रशुभः पुनरेव सः ॥' इति द्वाद्भ्रवचनविरोधश्च । सामान्योपक्रमं विष्णुवचनं दशाहाशीचविषयमपि घटते । 'प्रतिसंवासरं चैवम्' इति प्रतिसंवासरं मृतेऽह-  
न्येकोद्दिष्टमुपदिष्टं योगोद्धरेण । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'वर्षे वर्षे तु कर्तव्या  
मातापितोस्तु सत्क्रियाः । अद्वैवं भोजयेत्प्राह्णं पिण्डमेकं च निर्वपेत् ॥' इति । यमो-  
ऽप्याह—'सविण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवासरं सुतैः । मातापित्रोः पृथक् पार्श्वयो-  
द्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति व्यासस्तु पार्वणं प्रतिवेधति—'एकोद्दिष्टं परिष्यज्य पार्वणं  
कुर्वते भरः । अकृतं तद्विजानीयात्सं भयेत्पितृघातकः ॥' इति । जमदग्निस्तु पार्वण-  
माह—'आपाद्य च सविण्डीकरणादूर्ध्वं विधिष्यन्तुतः । कुर्वीत दशावच्छ्राद्धं माता-  
पित्रोः क्षयेऽहनि ॥' इति । शातातपोऽप्याह—'सविण्डीकरणं कृत्वा कुर्यात्पार्वण-  
वत्सदा । प्रतिसंवासरं विद्वांस्रक्षामलेपोदितो विधिः ॥' इति । एवं वचनविप्रति-  
पत्तौ दाक्षिणात्या ह्येवं व्यवस्थामाहुः—'अरिसर्षपत्राभ्यां मातापित्रोः क्षयाहे  
पार्वणमेव कर्तव्यं, दत्तकादिभिरेकोद्दिष्टम्' इति; ज्ञातृक्षणवचनात् 'प्रायश्चर्दं  
पार्वणेनैव विधिना क्षेत्रजैरसौ । कुर्यात्तामितरे कुर्युरेकोद्दिष्टं सुता दश ॥' इति,  
—तदसत्; नद्यत्र क्षयाहवचनमस्ति, अपि तु प्रायश्चर्मितिः । सन्ति च क्षयाहव्य-  
तिरिक्तानि प्रायश्चर्दधादान्यस्यवृत्तीयामापोवैशाखीप्रभृतिषु । अतो न क्षयाह-  
विषयपार्वणैकोद्दिष्टव्यवस्थापनयाऽलम् । यत्तु पराशरवचनम्—'पितुर्गतस्य देव-  
त्वमौरसस्य त्रिषीत्यम् । सर्वप्रानेकगोत्राणामेकस्यैव मृतेऽहनि ॥ इति,—तदपि न  
व्यवस्थापकम् । यस्माद्वयमर्थः—'देवत्वं गतस्य सविण्डीकृतस्य पितुः सर्वत्रौर-  
सेन त्रिषीत्यं पार्वणं कार्यम्, अनेकगोत्राणां मिश्रतोत्राणां मातुलादीनां क्षयेऽहनि  
यच्छ्राद्धं तदेकस्यैवेकोद्दिष्टमेवेति । किंच, 'सविण्डीकरणादूर्ध्वमप्येकोद्दिष्टमेव कर्त-  
व्यमौरसेनापि हर्युक्तं पैठीनसिना—'एकोद्दिष्टं द्वि कर्तव्यमौरसेन मृतेऽहनि ।  
सविण्डीकरणादूर्ध्वं मातापित्रोर्न पार्वणम् ॥' इति । उदीच्या पुनरेवं व्यवस्था-  
पयन्ति—अमावास्यायां भाद्रपदकृष्णपक्षे वासुताहे पार्वणम्, अन्यत्र मृताहे  
पूजोद्दिष्टमेवेति; 'अमावास्यापयो यस्य प्रेतपक्षेऽथवा पुनः । पार्वणं तत्र कर्तव्यं  
नैकोद्दिष्टं कदाचन ॥' इति स्मरणात् । तदपि नादिपन्ते वृद्धाः । अनिश्चितमूले-  
नानेन वचनेन निश्चितमूलानां वृद्धानां क्षयाहमात्रपार्वणविषयाणां वचनानाममावा-  
स्याप्रेतपक्षमृताहविषयत्वेनातिमर्कोचं श्यायुक्तात्वात्, सामान्यवचनानर्थावच्छ ।  
तत्र हि सामान्यवचनस्य विशेषवचनेनोपसंहारः, यत्र सामान्यविशेषसंबन्धज्ञानेन  
वचनद्वयमर्थवत् । यथा 'भसदश सामिधेनोरनुभूषात्' इत्यकारभवात्पार्श्वतस्य विकृ-  
तिमात्रविषयस्य सप्तदशावर्षस्य सामिधेनीलक्षणद्वारा संबन्धेनार्थवतो मिश्र-

१. पृथक्कुर्वीत । २. जानीयाद्भवेच्च । ३. संकोचः श्यादिशुश्रवात् ।

विन्दादिप्रकरणपठितेन साप्तदशयवाक्येन मित्रविन्दाद्यधिकारापूर्वसधन्यधोघनार्थवत्ता मित्रविन्दादिप्रकरण उपसहार । इह तु द्वयोर्मृताहमात्रविषयवाच्यार्थवत्तेति । अतोऽत्र पाञ्चिकैकोद्दिष्टनिर्वृत्तिफलकतया पार्वणनियमविधानं युक्तम् । नचैकोद्दिष्टवचनानां मातापितृश्रयाहविषयावेन पार्वणवचनानां च तदन्यश्रयाहविषयत्वेन व्यवस्था युक्ता, ठभयत्रापि मातापितृसुतग्रहणस्य विद्यमानत्वात्—  
 'सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसवस्तरं सुते । मातापित्रो पृथक्कार्यमेकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति, तथा—'भाषाद्य सप्तपिण्डत्वमौरसो विधिवत्सुत । कुर्वति दर्शवच्छ्राद्धं मातापित्रो ज्येष्ठहनि ॥' इति । यद्यपि कैश्चिदुच्यते—मातापित्रो ज्येष्ठे सारिणः पार्वणं कुर्यान्निरग्निरेकोद्दिष्टमिति,—'वर्षे वर्षे सुतं कुर्यात्पार्वणं योऽग्निमान्दिङ्गः । पित्रोरनभिमान्धीर एकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति सुमन्तुस्मरणादिति,—तदपि सत्प्रतिपक्षवाद्दुष्येत्तृतीयम्, बहून्मनसस्तु ये विप्रा ये चैकानमय एव च । तेषां सपिण्डनादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥' इति स्मरणात् । तत्रैव निर्णयः—सम्यास्मिन्ना ज्येष्ठे सुतेन पार्वणमेव कर्तव्यम्, 'एकोद्दिष्टं यतेनस्ति त्रिदण्डग्रहणादिह । सपिण्डीकरणाभावात्पार्वणं तस्य सर्वदा ॥' इति प्रचेत स्मरणात् । अमावास्याज्येष्ठे प्रेतपञ्चज्येष्ठे च पार्वणमेव, 'अमावास्या ज्येष्ठे यस्य प्रेतपञ्चेऽथवा पुनः' ( लघुशाल १७ ) इत्यादिवचनस्योक्तरीत्या नियमपरत्वात् । अन्यत्र ज्येष्ठे पार्वणैकोद्दिष्टयोर्ब्रह्मिषधवद्विकल्प एव । तथापि चतस्रमाचारव्यवस्थायां सर्यां व्यवस्थिते, असत्यामैच्छिक इत्यलमतिप्रसंगेन ॥

भाषा—( एकोद्दिष्टं कर्म ) एकं वर्षं तकं प्रत्येकं महीने में मृत्यु की तिथि को करना चाहिए तथा प्रत्येक वर्ष में करना चाहिए । प्रथम एकोद्दिष्टं कर्म मृत्यु के ग्यारहवें दिन होता है ॥ २५६ ॥

निरयश्नाद्धश्रितिरिक्तसर्धश्नाद्धशेषमिदमभिधीयते—

पिण्डास्तु गोऽजविप्रेभ्यो दद्याद्गनौ जलेऽपि वा ।

प्रक्षिपेरस्तसु विप्रेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेत् ॥ २५७ ॥

पूर्वदत्तानां पिण्डानां पिण्डस्य वा प्रतिपत्तिरियम् गवे, अजाय, ब्राह्मणाय वा तदधिने पिण्डान्दद्यात् । अग्नावगाधे जलेऽपि वा प्रक्षिपेत् । किंच तस्य विप्रेषु भोजनदेशावस्थितेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेत्तद्वासयेत् ॥ २५७ ॥

भाषा—पिण्डं गाय, बकरा ब्राह्मण के लिये अथवा अग्नि या जल में देना चाहिए । ब्राह्मणों के ( भोजन स्थान पर ) होने पर उनके उच्छिष्ट को नहीं खाटना चाहिए ॥ २५७ ॥

भोज्यविशेषेण फलविशेषमाह—

द्विविध्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वस्तरम् ।

मासस्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्यतैः ॥ २५८ ॥

ऐणरौरघघाराहशाशोमौसैर्यथाक्रमम् ।

मासवृद्ध्याभिवृष्यन्ति दत्तैरिह पितामहा ॥ २५९ ॥

हविष्य हविर्योग्य तिलग्रीष्णादि । यथाह मनु ( ३।२६७ )—‘निलैर्यौहि-  
पवैर्मापैरग्निमूलफलैः वा । दत्तम मास वृष्यन्ति विधिवरिपतरो नृणाम् ॥’  
इति । तदन्न हविष्यान्न तेन मासे पितरस्त्वृष्यन्तीत्यनागतेनावय । पायसेन  
गन्धपय सिद्धेन सवासरम् ; ‘सवासर तु गन्धेन पयसा पायसेन च’ इति  
( मनु ३।२७१ ) स्मरणम् । मास्यो मद्य पाटीनादिरतस्वेद मास्यम् । हरि  
णस्ताम्रमृग । एण कृष्ण, ‘एण कृष्णमृगो ज्ञेयस्ताम्रो हरिण उच्यते’ इत्या-  
युर्वेदस्मरणाद् । तस्वेद हारिणकम् । भविहरभ्रस्तसन्निव औरभ्रम् । शकुनि  
रित्तिरिस्तासवन्धि झाकुनम्, छागोऽजस्तदीय छागम्, पृष्विचन्नमृगस्त  
न्मास पापंतम् । एण कृष्णमृगस्तत्पिशितमैणम्, रुह शवरस्तत्प्रभव रौरवम्,  
वराह आरण्यसूकरस्तज्ज वाराहम् । दाशस्वेद शाशम्, एभिर्मासैः पितृभ्या  
‘दत्तैर्हविष्यान्नेन वै मासम्’ इत्युक्तत्वात्त ऊर्ध्वं यथाक्रममेकैकमासवृद्ध्या  
पितरस्त्वृष्यन्ति ॥ २५८—२५९ ॥

भाषा—पितामह ( अर्थात् पितरगण ) हविष्य अन्न से एक मास तक,  
और पीर से एक वर्ष तक वृष्ट रहते हैं, पाटीन आदि मछली, ताम्रमृग,  
उरभ्र ( मेंढा ) तिप्तिर, बकरा, चिचमृग, कृष्णमृग, रुह, जगली सुभा, और  
खरगोस के मांस धाढ़ में देने पर क्रमशः एक एक महीने अधिक समय तक  
वृष्ट रहते हैं ॥ २५८—२५९ ॥

खद्गामिषं महाशकं मधु मुन्यन्नमेव चो ।

लौढामिष महाशकं मासं चार्ध्रिणसस्य च ॥ २६० ॥

यद्वाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते ।

तथा वर्षात्रयोदश्यां मघाशु च विशेषत ॥ २६१ ॥

किंच, खद्गो गण्डकस्तस्य मांसम्, महाशको मास्यभेद, मधु माषि  
कम् । मुन्यन्न सर्वभारण्य नीवारदि, लोक्षो रक्तशृङ्गास्तदामिष लौढामि  
षम् । महाशक कालशाकम् । चार्ध्रिणसो वृद्ध श्वेतच्छाग — ‘त्रिविध श्विदि  
यक्षीण वृद्ध श्वेतमजापतिम् । चार्ध्रिणस तु त प्राहुर्वाशिका धाढ़कर्मणि ॥’  
इति याज्ञिकप्रसिद्ध । त्रिविध पिपत कर्णा जिह्वा च परस जल स्पृशति स,

१ फलैस्तथा । २ मास प्रीयन्ते । ३ अनागतत्वेना । ४ झाकुन  
अपयपश्चिसवन्धि । ५ च । ६ कालशाक । ७ चार्ध्रिणसस्य ।  
८ वर्षास्वेव त्रयोदश्याम् । ९ श्वेत वृद्धमजापति ।

त्रिभिः पिबतीति त्रिपिब, तस्य धार्मिणसस्य मामम् । यद्दाति गयास्यश्च  
 यत्किञ्चिद्वाकादिकमपि गयास्यो ददाति । चक्षुःश्रोत्राद्वारादिषु च—'गङ्गाद्वारे  
 प्रयागे च नैमिषे पुष्करेऽर्जुदे । सनिहत्या गयायां च श्राद्धमच्छयता व्रजेत् ॥',  
 'आनन्त्यमश्नुते' इति 'अनन्तफलहेतुत्वं प्राप्नोति । 'आनन्त्यमश्नुते' इति  
 प्रत्येकमभिसङ्ख्यते । तथा धर्माश्रयोदर्यां भाद्रपदकृष्णश्रयोदर्यां विशेषतो  
 मघायुक्तायां यत्किञ्चिद्दोषते तत्सर्वमानन्त्यमश्नुत इति गतेन सवन्ध ॥  
 अत्र यद्यपि मुन्यध्नमासम्भवादीनि सर्ववर्णानां सामान्येन श्राद्धे योग्यानि दर्शि-  
 तानि, तथापि पुलस्त्योक्ता व्यवस्थादरणीया ।—'मुन्यध्न माह्वणस्योक्त मांस  
 स्रियवैश्ययोः । मधुप्रदान शूद्रस्य सर्वेषां चाविरोधि यत् ॥' इति । अस्वार्थं—  
 मुन्यध्न नीवारादि यच्छ्राद्धयोग्यमुक्तं तद्ब्राह्मणस्य प्रधानं समप्रफलदम्, यच्च  
 मांसमुक्तं तत्स्रियवैश्ययोः प्रधानम् । यत्सौद्रमुक्तं तच्छूद्रस्य । एतस्त्रितयभ्य-  
 तिरिक्तं यदविरोधि यदप्रतिषिद्धं वास्तुकादि, यच्च विहितं हविष्यकाल-  
 शाकादि, तत्सर्वेषां समप्रफलदमिति ॥ २६०—२६१ ॥

भाषा—जो खड्ग ( गँडा ) का मांस, महाशक मखली, मधु, या  
 तीनी का चावल, लाल चक्रे का मांस, महाशाक ( कालशाक ), श्वेतवर्ण  
 के वृद्ध चक्रे का मांस देता है और गया में ( श्राद्ध करते समय ) ये पदार्थ  
 देता है, भाद्रपद मास की कृष्ण श्रयोदशी और विशेषतः महानश्रत्र होने पर  
 इनका पिण्ड देता है वह सम्पूर्ण अनन्तफल का भोग करता है ॥२६०—२६१॥

तिथिविशेषात्फलविशेषमाह—

कन्यां कन्यावेदिनश्च पशून्वै सत्सुतानपि ।  
 घृतं कृषिं वणिज्यां च द्विशकैकशफास्तथा ॥ २६२ ॥  
 ब्रह्मवर्चस्विन पुत्रान्स्वर्णरूप्ये सङ्कुप्यके ।  
 ज्ञातिश्रेष्ठ्यं सर्वकामान्प्राप्नोति श्राद्धदः सदा ॥ २६३ ॥  
 प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।  
 शस्त्रेण तु हता ये वै तेभ्यस्तत्र प्रदीयते ॥ २६४ ॥

कन्या रूपलक्षणशीलवतीम्, कन्यावेदिनो जन्मातरो बुद्धिरूपलक्षण-  
 सपन्नाः । पशवः पुदा भजादयः, सस्युता सम्मार्गवतिनः, घृतं घृतविजय,  
 कृषिं कृषिकलम्, वणिज्या वाणिज्यलाभः, द्विशका गवादयः, एकशका  
 भजादयः, ब्रह्मवर्चस्विन पुत्रा वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानजनित तेजो ब्रह्मवर्चस

१ आनन्त्यफल । २ पशून्मुख्यान्सुतानपि । ३ कृषिं च वाणिज्य  
 द्विशकैकशफास्तथा । ४ सम्मार्गगा ।

तद्वन्तः, स्वर्णरूपे हेमरज्जते, तद्वपतिरिषतं प्रपुसीमकादि कुप्यकम्, शाति-  
 शैष्ट्यं जातिपूष्टवम्, सर्वकामाः काम्यन्त इति कामाः स्वर्गपुत्रपधादयः,  
 एतानि कन्यादीनि चतुर्दशफलानि कृष्णपक्षप्रतिपदप्रभृतिष्वभावात्पापयन्तासु  
 चतुर्दशीवर्जितासु चतुर्दशसु तिथिषु धाददो यथाकममाप्नोति । ये केचन  
 शस्त्रहतास्तेभ्यः कृष्णचतुर्दश्यामेकोद्विष्टविधिना धादं दद्यात्, यदि माह्वणा-  
 विहता न भवन्ति; 'समथमागतस्यापि पितुः शस्त्रहतस्य वै । एकोद्विष्टं सुतैः  
 कार्यं चतुर्दशं महालये ॥' इति स्मरणात् । समथमागतस्य सर्पिण्डीकृतस्य  
 पितुर्महालये भाद्रपदकृष्णचतुर्दश्यां शस्त्रहतस्यैव धादं नाभ्यस्येति नियम्यते,  
 न पुनः शस्त्रहतस्य चतुर्दश्यामेवेति । अतश्च चयाहादौ शस्त्रहतस्यापि यथा  
 प्राप्तमेव धादम् । नच भाद्रपदकृष्णपक्ष एवायं विधिरिति मन्तव्यम्; 'प्रौष्ठ-  
 पद्यामपरपक्षे मासि मासि चैवम्' इति शौनकस्मरणात् ॥ २६२-२६४ ॥

भाषा—( रूपरक्षयशीलवती ) कन्या, योग्य जामाता, पशु, सदाचारी  
 पुत्र, जुप में विभय, उत्तम फल, वाणिज्य में लाभ, दो सूर यात्रे गाय आदि  
 और एक सूर वाले अश्वदि पशु, वेदाध्ययन से तेजस्वी पुत्र, सोना, चांदी,  
 ताँबा, सीसा, जाति से प्रतिष्ठ और सभी इच्छाओं को धाद देने वाला व्यक्ति  
 सदैव प्राप्त करता है । केवल एक चतुर्दशी को छोड़कर प्रतिपद आदि सभी  
 तिथियों को धाद कर सकता है जो लोग धाद से मारे गये होते हैं उन्हीं के  
 लिए हम दिन ( चतुर्दशी को ) धाद किया जाता है ॥ २६२-२६४ ॥

नक्षत्रविशेषात्फलविशेषमाह—

स्वर्गं ह्यपत्यमोजश्च शीर्यं क्षेपं पलं तथा ।

पुत्रं शैष्ट्यं च सौभाग्यं समृद्धिं मुख्यतां शुभम् ॥ २६५ ॥

प्रवृत्तचक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीन्पि ।

अरोगित्वं यशो वीरशोकतां परमां गतिम् ॥ २६६ ॥

धनं श्रेयान्निपक्सिद्धिं कुप्यं गा अप्यजायिकम् ।

अश्वानायुश्च विधियद्यः धादं संप्रयच्छति ॥ २६७ ॥

शुक्तिकादिभरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान् ।

आस्तिकः श्रद्धधानश्च व्यपेतमदमासः ॥ २६८ ॥

शुक्तिकामादि कृत्वा भरण्यन्तं प्रतिनक्षत्रं यः धादं ददाति न यथाकमं  
 स्वर्गादीनासु-पर्वन्तान्कामानवाप्नोति, यथास्तिकः श्रद्धधानश्चेत् व्यपेतमद-  
 मासो भवति । भारितको विधायवान्, धरधान आदरानिदययुक्तः, व्यपेत-

१. ससौभाग्यं सुनीभाग्यं । २. सुगान् । ३. विद्यां । ४. धरधान-  
 क्षेत्रं धादव्यपेतमदमासः ।



संयोजयन्ति । यथा माता गर्भपोषणायाः न्यदत्तेन दोहदाह्नवानादिना स्वयमुप-  
भुक्तेन वृषा सती स्वगठरगतमन्त्रपर्यं तर्पयति, दोहदाह्नादिप्रदायिनश्च प्रायुष-  
कारफलेन संयोजयति तद्गद्गसवो रुद्रा अदितिस्तुताः आदित्या एव ये पितरः  
पितृ-पितामहप्रपितामहशब्दवाध्याः न केवलं देवदत्ताद्य एव ध्याद्देवताः  
ध्यादकर्मणि सप्रदानमूताः किन्तु मनुष्याणां पितृन्देवदत्तादीन्स्वयं ध्याद्देव  
तर्पितारतर्पयन्ति ज्ञानशपथतिशययोगेन । किञ्च न केवलं पितृन्तर्पयन्ति  
अपि तु ध्यादकारिभ्यः आयुः प्रजां धन विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि राज्यं च ।  
चकारात्तत्र तत्र शब्दोक्तमन्यदपि फलं स्वयं प्रीताः पितामहा यस्वाशयः  
प्रयच्छन्तीति ॥ २६९-२७० ॥

भाषा—वसुदेवता, रुद्र और आदित्यादि एवं पितर ये ध्याद् के देवता  
ध्याद् से वृत्त होकर मनुष्यों के पितरों को वृत्त ( आनन्दित ) करते हैं । और  
मनुष्यों के पितामह अर्थात् पितर छोग प्रसन्न होकर धीर्घं जीवन्, सन्तान,  
धन, विद्या, मोक्ष, सुख और राज्य प्रदान करते हैं ॥ २६९-२७० ॥

इति ध्यादप्रकरणम् ।

### गणपतिकल्पप्रकरणम्

दृष्टादृष्टफलसाधनानि कर्माण्यभिहितान्यप्यभिधारयन्ते च तेषां स्वरूपनि-  
ष्पत्तिः फलसाधनत्वं चाविघ्नेन सवतीत्यविघ्नार्थं कर्म विधारयन् विघ्नस्य कार-  
कज्ञापकहेतूनाह—

विनायकः कर्मविघ्नसिद्धयर्थं विनियोजितः ।

गणानामाधिपत्ये च रुद्रेण ब्रह्मणा तथा ॥ २७१ ॥

विनायकः कर्मविघ्नसिद्धयर्थमित्यादिनोभयविघ्नहेतुपरिज्ञानाद्भिन्नस्य प्राग्भाष-  
परिपालनायोपस्थितस्य प्रध्वंसाय वा प्रेषापूर्वकारिणः प्रवर्तन्ते; रोगस्यैवोभय-  
विघ्नहेतुपरिज्ञानात् । विनायको विघ्नेश्वरः पुरुषार्थसाधनानां कर्मणां विघ्नसिद्धयर्थं  
स्वरूपफलसाधनत्वविघ्नोत्सिद्धये विनियोजितः नियुक्तः रुद्रेण ब्रह्मणा चकारा-  
द्विष्णुना च गणानां पुष्पदन्तप्रभृतीनामाधिपत्ये स्वाम्ये ॥ २७१ ॥

भाषा—कर्म में विघ्न और उसकी निवृत्ति के लिये रुद्र और ब्रह्मण ने  
विनायक ( गणपति ) को पुष्पदन्त आदि गणों का अधिपति बनाकर नियुक्त  
किया है ॥ २७१ ॥

एव विघ्नस्य कारकहेतुमुक्त्वा शापकहेतुप्रदर्शनार्थमाह—

तेनोपसृष्टो यस्तस्य लक्षणानि निबोधत ।  
 स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जलं मुण्डांश्च पश्यति ॥ २७२ ॥  
 कापायवाससश्चैव क्रम्यादांश्चाधिरोहति ।  
 अन्त्यजैर्गर्दभैरुष्टैः सहैकप्रावतिष्ठते ॥ २७३ ॥  
 व्रंजन्नपि तथात्मानं मन्वतेऽनुगतं परैः ।

तेन विनायकेनोपसृष्टो गृहीतो यस्तस्य लक्षणानि शापकानि निबोधत जानीष्व हे मुनय । पुनर्मुनीना प्रत्यवमर्शं शान्तिप्रकरणप्रारम्भार्थं । स्वप्ने स्वप्नावस्थाया जलमत्यर्थमवगाहते स्रोतसा द्वियते निमज्जति वा । मुण्डित-शिरस्य पुरुषान्पश्यति । कापायवाससो रक्तनीलादिवस्त्रप्रावरणांश्च । क्रम्यादां नाम मांसाशिन पक्षिण गृध्रादीन्मृगांश्च व्याघ्रादीन्धिरोहति । तथाऽ-स्वप्ने श्वण्डालादिभिर्गर्दभै स्वरैरुष्टैः क्रमेलकै सह पविष्टस्तिष्ठति । प्रजग्मच्छन्नान्मान परैः शत्रुभिः पृष्ठतो धावन्निरनुगतमभिभूयमान मन्वते ॥ २७२-२७३ ॥

भाषा—उस ( विघ्नकारक ) विनायक से जो प्रस्त होते हैं उनके लक्षण सुनिये । स्वप्न म जल में बहुत स्नान करता है ( ऐसा स्वप्न देखता है ), मिर मुँडाए हुए पुरुषों को देखता है, रोहमा वस्त्र धारण किये हुए पुरुषों को देखता है, मासभक्षी ( गृध्र आदि पक्षी, व्याघ्र आदि पशु ) की सवारी करने का स्वप्न देखता है , श्वण्डाल, गर्दभे और ऊँटों क साथ एकत्र निवास और स्वयं चलते समय शत्रुओं द्वारा पीछा किय जाने का स्वप्न देखता है । ( विनायक द्वारा प्रस्त व्यक्ति के प्रत्यक्ष चिह्न इस प्रकार होते हैं ) वह रिक्त रहता है अपना इच्छित फल नहीं पाता और विना कारण ही दुःखी रहता है ॥ २७२-२७४ ॥

एव स्वप्नदर्शनान्युक्त्वा प्रत्यक्षलिङ्गान्याह—

विमना विफलारम्भः संसीदत्यनिमित्तत ॥ २७४ ॥  
 तेनोपसृष्टो लभते न रौड्यं राजनन्दन ।  
 कुमारी च न भर्तारमपत्यं गर्भमङ्गना ॥ २७५ ॥  
 आचार्यत्वं धोन्नियश्च न शिष्योऽप्ययनं तथा ।  
 वणिग्लाभं न चाप्नोति कृषिं चापि पृथीयताः ॥ २७६ ॥

विमना विच्छिन्नचित्त, विफलारम्भ विफला आरम्भा परम म तपोन न कश्चिफलमाप्नोति । संसीदत्यनिमित्तत विना कारणेन क्षीयमानरको भवति ।

राजनन्दनो राजकुले जात श्रुतशौर्यधैर्यादिगुणयुक्तोऽपि राज्य न लभते ।  
कुमारी रूपलक्षणाभिजनादिसपत्न्यापीप्सित मर्तारम्, भद्रना गर्भिण्यप  
रम्, शत्रुमती गर्भम्, अध्ययनतदर्थज्ञाने सरथपि आचार्यैव श्रात्रिय,  
विनयाचारादियुक्तोऽपि शिष्योऽप्ययन ध्रुवण वा, 'न लभते' इति सर्वत्र  
सबध्यते । वणिक् वाणिज्योपजीवी तत्र कुशलोऽपि धान्यादिक्रयविक्रयादिवु  
लाभम् । कृषीवल कर्षकस्तत्रामियुक्तोऽपि कृषिकल नामोति । एव यो  
यया वृष्या जीवति स तत्र निष्कलारम्भश्चेतेनोपसृष्टो वदितव्य ॥२७४-२७६॥

भाषा—विनायक द्वारा अभिभूत होने पर राजा का पुत्र राज्य नहीं पाता  
कुमारी कन्या ( अभीष्ट एव योग्य ) वर नहीं पाती, स्त्री को गर्भ नहीं उदरता  
श्रीश्रिय ( वेदपाठी ) को आचार्य का पद नहीं मिलता, शिष्य अध्ययन से  
वञ्चित रहता है, वणिक् वाणिज्य में लाभ नहीं पाता और न कृषक अच्छी  
फसल पाता है ॥ २७५-२७६ ॥

एव कारकज्ञापकहेतूनभिधाय विधोपशान्त्यर्थं कर्मविधानमाह—

स्नपनं तस्य कर्तव्यं पुण्येऽह्नि विधिपूर्वकम् ।

तस्य विनायकोपसृष्टस्याऽनगमविनायकोपसर्गपरिहारार्थिना वा स्नपन  
मभिषेचन कर्तव्यम् । पुण्ये स्वातुकूलनक्षत्रावियुक्तो अह्नि दिवसे न रात्रौ ।  
विधिपूर्वकं शास्त्रोक्तेति कर्तव्यतासहितम् ॥

स्नपनविधिमाह—

गौरसर्पकक्षेन साज्येनोत्सादितस्य च ॥ २७७ ॥

सर्वोपधै सर्वगन्धैर्विलिप्तशिरसस्तया ।

भद्रासनोपविष्टस्य स्वस्ति वाच्या द्विजा शुभा ॥ २७८ ॥

गौरसर्पकक्षेन सिद्धार्थविष्टेन साज्येन घृतलोठीकृतेनोत्सादितस्योद्धति  
ताङ्गस्य तथा सर्वोपधै म्रियद्गुनागवसरादिभिः सर्वगन्धैश्च दनागुरुकरवृरि-  
कादिभिर्विलिप्तशिरसो चक्ष्यमाणभद्रासनोपविष्टस्य पुरुषस्य द्विजा प्राहणा  
शुभा शुताप्ययनवृत्तसपत्न्या शोभनापृतयद्यत्वार 'अस्य स्वस्ति भवन्तो  
भुवन्तु' इति वाच्या । अस्मिन्समये गृह्योत्सवार्गण पुण्याहवाचन कुर्यादित्यर्थं ॥

भाषा—विनायक से अभिभूत इस प्रकार के व्यक्ति वा शुभतिथि में  
पीले सरसों के उषटन घी मिलाकर उस से स्नपन करे ( शरीर में लगाए )  
उसे भद्र आसन पर बैठा के सभी औपधियों एव सभी गन्धों उसक शरीर  
लेप लगावे ( शुताप्ययनसपत्न्या ) धेरें प्राहणों उसके लिये स्वस्तिवाचन करे ।  
( इन अवसर पर गृह्य में वक्त्र विधि से पुण्याहवाचन भी करे ॥ २७७-२७८ ॥

अश्वस्थानाद् गजस्थानाद्बल्मीकात्संगमाद्भदात् ।  
 मृत्तिकां रोचनां गन्धान्गुग्गुलं चाऽप्सु निक्षिपेत् ॥२७९॥  
 या आहता ह्येकवर्णेश्चतुर्भि कलशैर्हदात् ।  
 चर्मण्यानद्बुद्धे रक्ते स्थाप्यं भद्रासनं ततः ॥ २८० ॥

किंच, अश्वस्थानगजस्थानवल्मीकसरिरसगमाशोष्यहृदेभ्य आहता पञ्चविधा  
 मृद गोरोचन गन्धान् च-दनकुङ्कुमागुरुप्रभृतीन् गुग्गुल च तारवप्सु विनिक्षिपेत् ।  
 या आप आहता एकवर्णं समानवर्णेश्चतुर्भि कुम्भैरवणारकुटिताकालकै, हदा-  
 शोष्यात् संगमाद्वा । ततश्चानद्बुद्धे चर्मणि रक्ते लोहितवर्णं उत्तरलोमनि प्राचीन-  
 प्रीवे भद्र मनोरममासन श्रीपर्णीनिर्मित स्थाप्यम् । तत उक्तोदकमृत्तिकागन्धा-  
 दिसहितांश्रुतादिपञ्चशोषशोभिताननान्नास्त्रदामवेष्टितकण्ठांश्चन्दनचर्चितौषवाहतव-  
 स्त्रविभूषितांश्चतस्रु पूर्वादिदिष्ठ स्थापयित्वा शुचौ मुलिसं स्थण्डिले रचितप-  
 ञ्चवर्णस्वस्तिके लोहितमानद्बुद्धे चर्मोत्तरलोम प्राचीनप्रीवमास्तीयं तस्योपरि  
 श्वेतवस्त्रमच्छादितमासन स्थापयेदित्येतद्भद्रासनम् । तस्मिन्नुपविष्टस्य स्वस्ति-  
 वाच्या द्विजा ॥ २७९-२८० ॥

भाषा—घोड़शाल, गजशाल, वल्मीक ( चींटी की षॉबीं ), नदी के  
 संगम और, पोखरे की मिट्टी, गोरोचन, च-दन आदि गन्ध, और गुग्गुल  
 उस जल में छोड़े । यह जल एक ही वर्ण के चार घटों में गहरे जलाशय  
 ( कुण्ड ) में लाया गया हो । इसके बाद लाल रंग के बैल के चमड़े  
 पर श्रीपर्णी आदि का बना हुआ भद्रासन ( उत्तम आसन ) रखना  
 चाहिए ॥ २७९-२८० ॥

सहस्राक्षं शतधारमृपिभि पावनं कृतम् ।  
 तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्य पुनन्तु ते ॥ २८१ ॥

किंच, स्वस्तिवाचनानन्तर जीवत्पतिपुत्राभि रूपगुणशालिनीभि सुवेपाभि  
 कृतमद्गल पूर्वदिग्देशावस्थित कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत्तु । सहस्रा-  
 क्षमनेकशक्तिक शतधार बहुप्रवाहमृपिभिर्मन्वादिभिर्यद्बुद्धक पावन पवित्र कृत  
 उपादित तेनोदकेन त्वां विनायकोपमृष्ट विनायकोपसर्गशान्तये अभिषिञ्चामि ।  
 पावमान्यश्रैता आपस्त्रां पुनन्तु ॥ २८१ ॥

भाषा—( पूर्वदिशा में रखे हुए पहले कलश को लेकर उसके जल से  
 निम्नलिखित मन्त्र पढ़ता हुआ अभिषिञ्चन करे ) अनेक शक्ति एवं अनेक

१. च विनिक्षिपेत् । २ कुम्भै शुभैरवणा । ३ शोभितान् नानास्त्रदाम ।  
 ४. ताननाहत ।

प्रवाह वाले मनु आदि ऋषियों ने जिसे पवित्र बनाया है उस जल से ( विनायक गृहीत ) तुम्हारा अभिषिञ्चन करता हूँ । ये जल तुम्हें पवित्र करें ॥ २८१ ॥

भगं ते वरुणो राजा भगं सूर्यो वृहस्पतिः ।

भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयो ददुः ॥ २८२ ॥

तदमन्तरं दक्षिणदेशाश्रितं द्वितीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् ।  
भगं वक्ष्याणं ते तुभ्यं वरगो राजा भगं सूर्यो भगं वृहस्पतिः भगमिन्द्रश्च वायुश्च  
भगं सप्तर्षयश्च ददुरिति ॥ २८२ ॥

भाषा—( तब दक्षिण की ओर रखे हुए दूसरे कलश को लेकर उसे अभिषिञ्चित करे ) राजा वरुण ने मुझे कल्याण दिया है, सूर्य और वृहस्पति ने कल्याण ( प्रदान किया ), इन्द्र और वायु ने कल्याण दिया है और सप्तर्षियों ने तुम्हें कल्याण दिया है ॥ २८२ ॥

यत्ते केशेषु दीर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि ।

ललाटे कर्णयोरङ्गोरापस्तद् भ्रन्तु सर्वदा ॥ २८३ ॥

तवस्तृतीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् । ते तव केशेषु यदीर्भाग्य-  
मकल्याणं सीमन्ते मूर्धनि च ललाटे कर्णयोरङ्गोश्च तत्सर्वमापो देवो मनु  
उपशमयन्तु सर्वदा इति ॥ २८३ ॥

भाषा—( तब तीसरे कलश को लेकर इस मन्त्र से अभिषिञ्चन करे )  
तुम्हारे केशों में, सीमन्त में, शिर, ललाटे, कानों और अँगुलियों में जो कुछ भी  
दीर्भाग्य या अकल्याण हो उसे आप ( जल ) देवता सदैव नष्ट करें ॥ २८३ ॥

स्नातस्य सार्षपं तैलं सुषेणोदुम्बरेण तु ।

जुहुयान्मूर्धनि कुशान्सज्येन परिशृण्व च ॥ २८४ ॥

तत्रक्षतुर्षं कलशमादाय पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्मन्त्रैरभिषिञ्चेत् । 'सर्षमन्त्रैश्चतुर्षम्'  
इति मन्त्रलिङ्गात् । उपेन प्रकारेण कृताभिषेकस्य मूर्धनि सष्यवागिशृहीत-  
कुशान्तर्हिते सार्षपं तैलं उदुम्बरावृक्षोद्भवेन सुषेण पक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहुवादा-  
चार्यः ॥ २८४ ॥

भाषा—(तब चौथा कलश लेकर तीनों मन्त्रों से उसके स्नान कराये)  
उसके स्नान कर लेने पर उसके शिर पर चारों हाथ से कुश फेर कर उदुम्बर  
वृक्ष की सुखा से सरसों के तेल का ( आचार्य ) दहन करे ॥ २८४ ॥

मितश्च संमितश्चैव तथा शालकटङ्कटौ ।

कूर्शमाण्डो राजपुत्रश्चेत्यन्ते स्वाहासमन्वितै ॥ २८५ ॥

नामभिर्वलिमन्त्रैश्च नमस्कारसमन्वितै ।

मितसमितादिभिर्विनायकस्य नामभि स्वाहाकारान्तै प्रणवादिभि 'सुहु  
यात्' इति गतेन सबन्ध । स्वाहाकारयोगाच्चतुर्था विभक्ति । अतश्च ॐमिताय  
स्वाहा, ॐ समिताय स्वाहा, ॐ शालाय स्वाहा, ॐ कटङ्कटाय स्वाहा,  
ॐकूर्शमाण्डाय स्वाहा, ॐराजपुत्राय स्वाहेति षण्मन्त्रा भवति । अन-तर  
लौकिकेऽग्नौ स्थालीपाकविधिना चरु अर्पयित्वा एतैरेव पद्भिर्मन्त्रैस्तस्मिन्नेवाग्नौ  
हुत्वा तच्छेष बलिमन्त्रैरिन्द्राग्निमयमनिर्ऋतिवरुणवायुसोमेशानमहानन्तानां  
नामभिश्चतुर्व्यन्तैर्नमोन्वितैस्तभ्यो बलिं दद्यात् ॥ २८५ ॥

अनन्तरं किं कुर्यादित्याह<sup>३</sup>—

दद्याच्चतुष्पथे शूर्पं कुशानास्तीर्य सर्वत ॥ २८६ ॥

कृताकृतास्तण्डुलाश्च पल्लौदनमेव च ।

मत्स्या-पक्षांस्तथैवान्मांसमेतावदेव तु ॥ २८७ ॥

पुष्पं चित्रं सुगन्धं च सुरां च त्रिविधामपि ।

मूलकं पूरिकांपूपास्तथैवोण्डेरकज ॥ २८८ ॥

दध्यन्न पायसं चैव गुंडपिष्टं समोदकम् ।

पतान्सर्वान्समाहृत्य भूमौ कृत्वा ततः शिर ॥ २८९ ॥

विनायकस्य जननीमुपतिष्ठेत्ततोऽम्बिकाम् ।

कृताकृतापुपहारद्रव्यजात विनायकस्योपाहार्य सनिधानात्तजनन्याश्च शिरसा  
भूमिं गत्वा— तपुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि । तन्नो दन्ती प्रचोदयात्'  
इत्यनेन मन्त्रेण विनायक,—'सुभगायै विद्महे काममालिन्धै धीमहि । तन्नो गौरी  
प्रचोदयात्' इत्यनेनाम्बिका च नमस्कुर्यात् । तत उपहारशेषमास्तीर्णकुशे  
शूर्पं निधाय चतुष्पथे निदध्यात्— बलिं गृह्णन्त्वमे देवा आदित्या वस-  
वस्तथा । महतश्चाग्निनी रुद्रा सुपर्णा पद्मगा ग्रहा ॥ असुरा यानुधानाश्च  
<sup>१</sup>पिशाचोरगमातर । शाकिन्यो यक्षवेताला योगिन्य पूतना शिवा ॥ जृम्भका

१ शालकटङ्कट । २ कुष्मा( रमा ? )ण्डराज । ३ इत्याह  
दद्यादित्यादिचतुर्भि । ४ तथा चामात् । ५ त्रिविधा । ६ पुष्प  
तथैव । तथैवोण्डेरकजम् । ७ गुडमिध्र । ८ अपराकांमत्तमिदमर्थम् ।  
९ तदाऽम्बिकाम् । १० पिशाचा मातरोरगा ।

सिद्धगन्धर्वा मायाविद्याधरा नरा । दिवपाला लोकपालाश्च ये च विघ्नविना  
यका ॥ जगतीं शान्तिकर्तारो ब्रह्माद्याश्च महर्षयः । मा विघ्नो मा च मे पाप  
मा सन्तु परिपन्थिन ॥ सौम्या भवन्तु वृक्षाश्च भूतप्रेता सुर्यायदा ॥' इत्ये  
तैर्मन्त्रैः ॥ कृताकृता सृष्टयहतास्तण्डुला, 'पल्ल तिलपिष्ट तन्मिश्र  
ओदनः पल्लौदन, भरसा पका अपहाश्च, मांसमेतावदेव पचमपक च,  
पुष्प चित्र रक्षपीतादिनातावर्णम् । चन्दनादि सुगन्धिद्रव्यम्, सुरा त्रिविधा  
गौडी माध्वी पैठी च, मूलक कन्दाकारो मध्यविशेष, पूरिका प्रसिद्धा,  
अपूपोऽस्नेहपक्वो गोधूमविकार । उण्डेरकस्रज उण्डेरका पिष्टादिम  
द्यस्ता प्रोता स्रज, दध्यन्न दधिमिश्रमन्न । पायस<sup>३</sup>पय शृतम् । गुडपिष्ट  
गुडमिश्र शाक्यादिपिष्टम् । मोदका लड्डुका । अन-तर विनायक तज्जननी  
मन्वामभ्रिकां वक्ष्यमाणमन्त्रेणोपतिष्ठेत् ॥ २८६-२८९ ॥

किं कुर्येत्याह—

दूर्वासर्पपुष्पाणां दत्त्वाहर्ष्यं पूर्णमञ्जलिम् ॥ २९० ॥

सङ्क्षुभोदकेगार्ह्यं दावा दूर्वासर्पपुष्पाणां पूर्णमञ्जलिं दत्त्वा, 'उपतिष्ठेत्'  
इति गतेन सयन्ध ॥ २९० ॥

भाषा—मित, समित, शाल, कटकट, कूष्माण्ड और राजपुत्र के अन्त में  
स्वाहा जोड़कर हवन के मन्त्र होते हैं ( यथा ओं मिताय स्वाहा आदि )  
इन्हीं मन्त्रों से इन्द्र से लेकर ब्रह्मा तक अनन्त देवताओं के नाम से नमस्कार  
पूर्वक बलि देवे । ( तब बचे हुए अन्न को ) सूप में कुश विष्टाकर चौराहे  
पर रखे । बनाये गये और न बनाये गये चावल, पीसे हुए तिल से युक्त  
चावल, पकी अपपकी मछली, पका और न पका हुआ मांस, अनेक वर्ण के  
फूल, चन्दन आदि सुगन्धि द्रव्य, ( गौडी, माध्वी, पैठी ) तीन प्रकार की  
सुरा, कन्द के समान मूल फल, पूरी, पूभा, उण्डेरक ( छोटे छोटे रोद ) की  
माला, बड़ी मिला हुआ अन-न, खीर, गुड से बनाये गये लड्डू इन सब को  
लेकर भूमि में द्धार लगाकर विनायक की माता अम्बिका को नमस्कार करे ।  
इसके पहले दूध, सरसों और फूल अञ्जलि में लेकर अर्घ्य देवे ॥ २८५-२९० ॥

उपस्थानमन्त्रमाह—

रूपं देहि यशो देहि भगं भवति देहि मे ।

पुष्पान्देहि घनं देहि सर्वकामांश्च देहि मे ॥ २९१ ॥

१. माला विद्या, नागा विद्याधरा । २ पल्ल पिष्ट । ३ शैरी ।  
४ जय देहि । ५ भगवन् ।

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाख्यानुलेपनः ।  
ब्राह्मणान्भोजयेद्दद्याद्वस्त्रयुग्मं गुरोरपि ॥ २९२ ॥

विनायकोपस्थाने 'भगवन्' इत्यूह । ततोऽभिषेकान्तरं यजमानः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाख्यानुलेपनो ब्राह्मणान्भोजयेत् । यथाशक्ति गुरवे धुनाच्ययन-  
वृत्तसपत्नाय विनायकस्नपनविधिज्ञाय वस्त्रयुग्मं दद्यात् । 'अपि' शब्दाद्यथाशक्ति  
दक्षिणां विनायकोद्देशेन ब्राह्मणेभ्यश्च । तत्राय प्रयोगक्रम—चतुर्भिर्ब्राह्मणैः  
सार्धमुक्कल्लणो गुरुर्मन्त्रज्ञो भद्रासनरचनानन्तरं तस्मिन्निधौ विनायकं तज्जननीं  
चोक्तमन्त्राभ्यां गन्धपुष्पादिभिः समभ्यर्च्य चहृ श्रवयित्वा भद्रासनोपविष्टस्य  
यजमानस्य पुण्याहवाचनं कृत्वा, चतुर्भिः कलशैरभिविष्ट्य, सार्धं तैलशिरसि  
द्वृत्वा, चरुहोमविधायामिषेकशालायां चतुर्दिष्टु इन्द्रादिलोकपालेभ्यो बलिं  
दद्यात् । यजमानस्तु स्नानानन्तरं शुक्लमाख्याम्बरधरो गुरुणा सहितो विनायक-  
कामिबकाभ्यामुपहारं दत्त्वा शिरसा भूमिं नत्वा कुमुदकेनार्घ्यं दत्त्वा दूर्वासर्प-  
पुष्पाञ्जलिं च दत्त्वा विनायकमम्बिकां चोपतिष्ठेत् । गुरुरुपहारसर्पं शूर्पं  
कृत्वा चत्वरे निदध्यात् । अनन्तरं वस्त्रयुग्मं दक्षिणा ब्राह्मणेभ्यो भोजनं च  
दद्यादिति ॥ २९१-२९२ ॥

भाषा—( नमस्कार का मन्त्र यह है ) देवि ! मुझे रूप दो, यश दो,  
कल्याण दो, पुत्र दो, धन दो और सभी अभिलाषाएँ पूरी करो । इसके बाद  
श्वेत वस्त्र धारण करके, श्वेत पुष्पों की माला पहन कर, चन्दन आदि का  
लेप करके, ब्राह्मणों को भोजन करावे और गुरु के लिये भी जोड़ा वस्त्र  
देवे ॥ २९१-२९२ ॥

इति विनायकस्नपनविधिः ।

अस्यैव विनायकस्नपनस्योक्तोपसंहारेण सयोगान्तरं दर्शयितुमाह—

एवं विनायकं पूज्यं ब्रह्मांश्चैव विधानतः ।  
कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २९३ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विनायकं सपूज्यं कर्मणां फलमधिष्णेत्याप्नोतीत्युक्तोप-  
संहारः । सयोगान्तरमाह—श्रियं चोत्कृष्टतमामाप्नोतीति । श्रीकामक्षानेनैव  
विधानेन विनायकं पूजयेदित्यर्थः । आदिष्यादिग्रहपीडाशान्तिकामस्य लक्ष्म्या-  
दिकामस्य च ग्रहपूजादिदक्ष्य विधास्यन् ग्रहपूजासुपशिषति—ग्रहांश्चैव

१. अम्बिकापस्थाने भवतीत्यूह ।

२. श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् ।

३. ग्रहपूजां लक्षयति ।



विधानत इति । प्रधानादिस्थादीन्वक्ष्यमाणेन विधिना संपूज्य कर्मणां सिद्धि-  
माप्नोति श्रियं चाप्नोति इति ॥ २९३ ॥

भाषा—इस प्रकार विनायक की पूजा करके और सभी प्रहों की  
विधिपूर्वक पूजा करके सभी कर्मों का फल प्राप्त करता है और उत्कृष्ट  
समृद्धि का लाभ करता है ॥ २९३ ॥

निराकाम्यसंयोगानाह—

आदित्यस्य सदा पूजां तिलकं स्वामिनस्तथा ।  
महागणपतेश्चैव कुर्वन्सिद्धिमर्षान्नुयात् ॥ २९४ ॥

आदित्यस्य भगवतः सदा प्रतिदिवसं रक्षचन्दनकुङ्कुमकुसुमादिभिः पूजां  
कुर्वन् रत्नद्वय महागणपतेश्चैव निर्यं पूजां कुर्वन् सिद्धि मोक्षनाम्नानाद्वारेण  
प्राप्नोतीति निर्यसयोगः । आदित्यस्कन्दगणपतीनामन्यतमस्य सर्वेषां वा  
तिलकं स्वर्णनिर्मितं रूप्यनिर्मितं वा कुर्वन् सिद्धिमभिलषितामाप्नोति । तथा  
चक्षुषी चेति काम्यसंयोगः ॥ २९४ ॥

भाषा—प्रतिदिन सूर्य भगवान् की ( लाल चन्दन, कुङ्कुम और पुष्प  
आदि से ) तथा महागणपति की पूजा करने और इनके लिये ( सोने या  
चाँदी का ) तिलक बनवाने वाला अभिलषित फल प्राप्त करता है ( सिद्धि  
प्राप्त करता है ) ॥ २९४ ॥

इति महागणपतिकल्पः ।

### ग्रहशान्तिप्रकरणम्

‘पूर्वं विनायकं पूज्य ग्रहांश्चैव विधानत । कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं  
चाप्नोत्यनुत्तमाम्’ ( भा० २९३ ) इत्यनेन ग्रहपूजायाः कर्मणामविघ्नेन  
फलसिद्धिः शीघ्र फलमित्युक्तम् । इदानीं फलान्तराण्यथाह—

श्रीकाम शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत् ।  
वृष्ट्यायु.पुष्टिकामो वा तथैवाऽभिचरन्नपि ॥ २९५ ॥

श्रीकाम इति पूर्वोक्तस्यानुवाद, शान्तिकाम आपद्ग्रहशान्तिकाम, सस्या-  
दिवृद्ध्यां प्रवर्षणं वृष्टि, आयुरपरमृत्युजयेन दीर्घकालजीवनम् । पुष्टिरनवद्य  
क्षीररत्नं, पुताः कामयत इति वृष्ट्यायु पुष्टिकाम । पुते श्रीकामादयो ग्रहयज्ञ  
ग्रहपूजां समाचरेयुः । तथाऽभिचरन्नपि अदृष्टोपायेन परपोडा अभिचाररतःकामश्च  
ग्रहयज्ञं समाचरेत् ॥ २९५ ॥

भाषा—समृद्धि की इच्छा रखने वाला, भाषति से शान्ति चाहने वाला, ( खेती के लिये ) वृष्टि, दीर्घजीवन, पुष्टि की कामना करने वाला तथा भद्र उपाय से दूसरे ( शत्रु आदि ) को पीडित करने की इच्छा वाला ग्रह यज्ञ करे ॥ २९५ ॥

ग्रहानाह—

सूर्य सोमो महीपुत्र सोमपुत्रो वृहस्पति ।

शुक्र शनैश्चरो राहु केतुश्चेति ग्रहा स्मृता ॥ २९६ ॥

एते सूर्यादयो नव ग्रहा ॥ २९६ ॥

भाषा—सूर्य चन्द्रमा, मंगल, बुध ( चन्द्रमा का पुत्र ), वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये नवग्रह कहे गये हैं ॥ २९६ ॥

‘ग्रहा पूज्या’ इत्युक्त किं कृत्वेत्याह—

ताम्रकास्फटिकाद्रक्तचन्दनात्स्वर्णकादुभौ ।

राजतादयस सीसात्कास्यात्कार्या ग्रहा क्रमात् ॥ २९७ ॥

स्ववर्णैर्घा पटे लेख्या गन्धैर्मण्डलकेषु वा ।

सूर्यादीनां मूर्तयस्ताम्रादिभिर्यथाक्रम कार्या । तदलाभे स्ववर्णैर्वर्णके पटे लेख्या, मण्डलकेषु वा । गन्धै रक्तचन्दनादिभिर्यथावर्ण लेख्या इत्यन्यथ । द्विभुजत्वादिविशेषस्तु मारुत्यपुराणोक्तो द्रष्टव्य । यथा—‘पद्मासन पद्मकर पद्मगर्भसमद्युति । सप्ताश्व सप्तरज्जुश्च द्विभुज स्यात्पदा रवि ॥ रवेत रवेता श्वरधरो दशाश्व रवेतभूपण । गदापाणिर्द्विबाहुश्च कर्तव्यो वरद शशी ॥ रक्तमाल्याश्वरधर शक्तिशूलगदाधर । चतुर्भुजो मेघगमो वरद स्यादरा सुत ॥ पीतमाल्याश्वरधर कर्णिकारसमद्युति । खड्गचर्मगदापाणि सिंहस्थो वरदो बुध ॥ देवदैत्यगुरु तद्वापीतश्वेतौ चतुर्भुजौ । दण्डिनौ वरदौ कार्यौ साधनकमण्डल ॥ इन्द्रनीलद्युति शूली वरदो गृध्रवाहन । बाणबाणासनधर कर्तव्योऽर्कसुत सदा ॥ करालवदन खड्गचर्मशूली वरप्रद । नीलै सिंहासन स्थश्च राहुरत्र प्रशस्यते ॥ पूसा द्विबाहव सर्वे गदिनो विकृतानना । गृध्रासन गता नित्य कतव स्युर्वरप्रदा ॥ सर्वे किरीटिन कार्या ग्रहा लोकहितावहा । स्वाहुलेनोच्छ्रिता सब शतमष्टोत्तर सदा इति ॥ एतेषां स्थापनदेशश्च तत्रै वोक्त—‘मध्ये तु भास्कर विद्याहोहित दक्षिणेन तु । उत्तरेण गुरु विद्याद् बुध पूर्वोत्तरेण तु ॥ पूर्वेण भार्गव विद्याःसोम दक्षिणपूर्वके । पश्चिमेन शनि विद्या द्वाद्दं पश्चिमदक्षिणे ॥ पश्चिमोत्तरतःकेतु स्थाप्या वै शुक्लतण्डले ॥’ इति ॥ २९७ ॥

१ गन्धमण्डलकेषु वा । २ सप्ताश्वरयसस्थश्च । ३ नीलसिंहासन ।

पूजाविधिमाह—

यथावर्णं प्रदेयानि घासांसि कुसुमानि च ॥ २९८ ॥

गन्धाश्च यलयश्चैव धूपो देयश्च गुग्गुलुः ।

कर्तव्या मन्त्रघन्तश्च चरवः प्रतिदैवतम् ॥ २९९ ॥

यथावर्णं यस्य ग्रहस्य यो वर्णस्तद्गर्णानि बह्वगन्धपुष्पाणि देयानि । यलयश्च धूपश्च सर्वेभ्यो गुग्गुलुर्देवः । चरवश्च प्रतिदैवतमग्निप्रतिष्ठापनान्वाधानादिपूर्वकं 'चतुरश्वशुरो मुष्टीसिर्वपति', 'अमुष्मै स्वा जुष्टं निर्वपामी' इत्यादिविधिना कार्याः । अनन्तर सुममिद्धेऽग्नेविष्माधानाद्यापारान्तं कर्म कृत्वा आदिरयाद्युद्देशेन यथाक्रमं वक्ष्यमाणमन्त्रैर्वक्ष्यमाणः समिधो वक्ष्यमाणप्रकारेण हुत्वा चरवो होतव्याः ॥ २९८-२९९ ॥

भाषा—(सूर्य आदि ग्रहों की मूर्तियाँ) क्रमशः ताँबे, स्फटिक, लाल-चन्दन, सोने की दूँ, चाँदी, लोहा, सीसा की क्रमशः बनवानी चाहिए । अथवा (इनकी आकृतियाँ) तत्तद् रंगों से वस्त्र पर अथवा मण्डल में चन्दनादि गन्धों से बनावे । ग्रह के वर्ण के अनुसार (उस-उस वर्ण का) वस्त्र और फूल दे । गन्ध, घट्टि, धूप और गुग्गुलु देना चाहिए और प्रत्येक देवता के लिए मन्त्र के साथ चरु बनाकर (उसका हवन करना चाहिए) ॥ २९४-२९९ ॥

मन्त्रानाह—

आकृष्णेन इमं देवा अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् ।

उद्गुह्यस्येति च श्रुचो यथासंख्यं प्रकीर्तिताः ॥ ३०० ॥

बृहस्पते अतियदर्यस्तथैवाद्भारपरिभ्रुतः ।

शं नो देवीस्तथा काण्डारकेतुं कृण्वन्निर्मांस्तथा ॥ ३०१ ॥

'आकृष्णेन रजसा वर्तमान' (श्र. १।३।६।२) इत्यादयो नव मन्त्राः यथाक्रमादिरयादीनां वेदितव्याः ॥ ३००-३०१ ॥

भाषा—'आकृष्णेन', 'इमं देवा', 'अग्निर्मूर्धा', 'दिवः ककुत्', 'उद्गुह्यस्व', 'बृहस्पते अतियदर्यः', 'अद्भारपरिभ्रुतः', 'शं नो देवी', और 'काण्डारकेतुं कृण्वन्' ये यथाक्रम नौ देवताओं के मन्त्र हैं ॥ ३००-३०१ ॥

इदानीं समिध आह—

अर्कः पलाशः स्रदिर अपामार्गोऽथ पिप्पलः ।

उदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात् ॥ ३०२ ॥

१. अनावन्वाधानादनन्तरं कर्म कृत्वा । २. त्रिमा भपि । ३. औदुम्बर ।

अर्द्धपलाशादयो यथाक्रम सूर्यादीनां समिधो भवन्ति । ताश्चार्द्रा भवन्त्या  
सत्त्वच प्रादेशमात्रा कर्तव्या ॥ ३०२ ॥

भाषा—अर्क, पलाश, खदिर, अषामार्ग, पीपल, उदुम्बर, शमी, दूर्वा और  
इस-के क्रमश ( इन नौ ग्रहों के लिए ) समिध् होते हैं ॥ ३०२ ॥

एकैकस्यं त्वष्टशतमष्टाविंशतिरेव वा ।

होतव्या मधुसर्पिर्मर्या दध्ना क्षीरेण वा युताः ॥ ३०३ ॥

किंच, आदित्यादीनामेकैकस्याष्टशतसख्या अष्टाविंशतिसख्या वा  
यथासभव मधुना सर्पिषा दध्ना क्षीरेण वा युता भक्ता अर्कादिसमिधो  
होतव्या ॥ ३०३ ॥

भाषा—(आदित्यादि में) प्रत्येक ग्रह के लिए आठ-आठ सौ या अठाइस  
अठाइस समिधाएँ मधु और घी दही या दूध में मिलाकर दहन करे ॥ ३०३ ॥

इदानीं भोजनान्याह—

गुडौदनं पायसं च हविष्यं क्षीरपाष्टिकम् ।

दध्योदनं हविश्चूर्णं मांसं चित्राक्षमेव च ॥ ३०४ ॥

दद्याद् ग्रहक्रमदेवं द्विजेभ्यो भोजनं बुध ।

शक्तितो वा यथालाभं सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ३०५ ॥

गुडमिश्र ओदनो गुडौदन, पायस पायसाजम्, हविष्य मुन्यकादि,  
क्षीरपाष्टिक क्षीरमिश्र पाष्टिकौदन, दध्ना मिश्र ओदनो दध्योदन, हविर्घृतौ-  
दनः । चूर्ण तिलचूर्णमिश्र ओदन, मांस भक्ष्यमांसमिश्र ओदन, चित्रौदनो  
नानावर्णौदन, एतानि गुडौदकादीनि यथाक्रममादित्याष्टद्वेषेण भोजनार्थं  
द्विजेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । ब्राह्मणसख्या यथाविभव दष्टव्या । गुडौदनाद्यभावे  
तु यथालाभमोदनादि पादप्रचालनादिविधिपूर्वकं सत्कृत्य समान पुर सर  
दद्यात् ॥ ३०४-३०५ ॥

भाषा—गुड मिला हुआ भात खीर, हविष्य ( तीनी का भात ), दूध  
के साथ साठी का भात, दही भात, घी-भात, मधुमास युक्त भात, तिल  
युक्त भात, अनेक वर्ण के धावल भादि का भात, ये क्रमश इन ग्रहों के लिये  
ब्राह्मणों को विद्वान् पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार या अपने लाभ के अनुसार  
उनका सत्कार करके, विधिपूर्वक भोजन देवे ॥ ३०४-३०५ ॥

१ कस्याष्टशत । एकैकस्याष्टशतक । २ सयुताः । ३ घृतान्न  
च कृसरामिषचित्रकम् । ४ द्वित ।

दक्षिणामाह—

धेनुः शङ्खस्तथानङ्घ्रान् हेम वासो हृद्य क्रमात् ।

कृष्णा गौरायसं छाग एता चै दक्षिणा स्मृता ॥ ३०६ ॥

धेनुर्दोम्भी, शङ्ख प्रसिद्ध, अनङ्घ्रवान् भारसहो<sup>१</sup> बलीवर्द्ध, हेम सुवर्णम्, वास पीतम्, हृद्य पाण्डुर, कृष्णा गौ, <sup>२</sup>आयस शस्त्रादि, छागप्रसिद्ध, एता धे वादयो यथाक्रममादियाद्युद्देशेन ब्राह्मणानां दक्षिणा स्मृता उक्ता मन्वादिभिः । एतच्च समये सति, असमये तु यथालाभ शक्तितोऽयदेव यकिं चिद्देयम् ॥ ३०६ ॥

भाषा—( दूध देने वाली ) गाय, शङ्ख, ( भार ढाने वाला ) बैल, सोना, पीला बख, पाण्डुवर्ण का घोड़ा, काही गाय, लोहे के शस्त्र आदि और यकरा—ये क्रमशः इन ग्रहों के लिये ( ब्राह्मण की ) दक्षिणा होते हैं ॥

‘शान्तिकामेनाविशेषेण सर्वे ग्रहा पूजयितव्या’ ( भा० २१५ ) इत्युक्त तत्र विशेषमाह—

यश्च यस्य यदा <sup>३</sup>दु स्थ स तं यत्नेन पूजयेत् ।

ग्रहणैवा वरो दत्त पूजिता पूजयिष्यथ ॥ ३०७ ॥

यस्य पुरुषस्य यो ग्रहो यदा <sup>३</sup>दु-स्थोऽष्टमादिदुष्टस्थानस्थित स त ग्रह तदा यत्नेन विशेषेण पूजयेत् । यस्मादेवा ग्रहाणां ग्रहणा पूर्व वरो दत्त ‘पूजिता स-तो यूयमिष्टप्रापणेनानिष्टनिरसनेन च पूजयितार पूजयिष्यथ’ इति ॥ ३०७ ॥

भाषा—जिस पुरुष के लिए जो ग्रह प्रतिकूल ( अष्टम आदि स्थान में स्थित ) हो वह उस उस ग्रह की विधिपूर्वक पूजा करे । ग्रहों ने इन्हें चर दिया है कि तुम्हारी पूजा किये जाने पर तुम लोग पूजा करने वाले को सुखी और प्रसन्न करोगे ॥ ३०७ ॥

अविशेषेण द्विजानधिकृत्य शान्तिकपौष्टिकादानि कर्माभ्यनुष्ठातानि, तत्राभिषेकैर्गुणयुक्तस्य राज्ञो विशेषाधिकार इति दर्शयति—

ग्रहाधीना नरे-द्राणामुच्छ्रया पतनानि च ।

भावाभावौ च जयतस्तरमात्पूज्यतमा ग्रहाः ॥ ३०८ ॥

[ ग्रहाणामिदमातिर्य्यं कुर्यात्सवत्सरादपि ।

आरोग्यबलसंपन्नो जीचेत्स शरद शतम् ॥ ]

१ भारवाहो ।

२ आयसमस्त्रादि आयस तास्त्रादि ।

३ दुष्टो ।

४ अभिषेकयुक्तस्य ।

नरेन्द्राणामभिषिक्तचत्रियाणां ग्रहा पूज्यतमा, इत्यनेनान्येषामपि पूज्या इति गम्यते । उभयत्र कारणमाह—प्राणिनामभ्युदयविनिपाता ग्रहाधीना-  
यरमात्तरमाधिकारिणि पूज्या । किंच जगत. स्यावरजङ्गमात्मकस्य भावा-  
भावाद्भुत्पत्तिनिरोधौ ग्रहाधीनौ । तत्र यद्येते पूजितास्तदा स्वकौल एवोत्पत्ति-  
निरोधौ भवत, अ-यथा उत्पत्तिसमये नोत्पाद, न काले निरोधश्च । जगदीश्वर  
स्वाच्च नरेन्द्राणा तद्योगस्येककारिणां पूज्यतमा ग्रहा इति तेषां विशेषेण शान्ति-  
कादिष्वधिकार । तथा च गौतमेन ( ११११ ) '—राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मण-  
वर्ज्यम्' इति राजानमधिकृत्य 'वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्' ( गौ १११९ )  
चलततश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत्' इत्यादीन्कांश्चिद्धर्मानुक्त्वा—'यानि च देवोत्पात  
चिन्तका प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत् ( गौ ११११० ) तदधीनमपि ह्येके योगस्येव प्रतिजा-  
नते' इति । शान्तिकपौष्टिकाद्यनुष्ठानहेतुमभिधाय 'शान्तिकपुण्याहस्वस्त्वयना  
युष्यमङ्गलसयुष्मान्याभ्युदयिकानि विद्वयण<sup>१</sup>स्तम्भनाभिचारद्विपद्बुद्धियुक्तानि च  
पालानौ कुर्यात्'(गौ. ११११११५ १०) इति शान्तिकादीनि दर्शितानि ॥३०८॥

भाष्या—राजाओं का अभ्युदय और पतन, तथा ससार का अस्तित्व  
एव विनाश ग्रहों के अधीन होने हैं, इसलिये ये ग्रह सबसे अधिक पूज्य  
होते हैं ।

[ जो व्यक्ति वर्ष में एक बार भी इन ग्रहों की पूर्वोक्त विधि से पूजा  
करता है वह स्वास्थ्य और बल से युक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित  
रहता है । ] ॥ ३०८ ॥

इति ग्रहशान्तिप्रकरणम् ।

### राजधर्मप्रकरणम्

साधारणान्गृहस्थधर्मानुक्त्वेदानीं राज्याभिषेकादिगुणयुक्तस्य गृहस्थस्य  
विशेषधर्मानाह—

महोत्साह स्थूललक्ष कृनशो वृद्धसेवक ।

विनीत सखसंपन्न कुलीन सत्यवान्गुचि ॥ ३०९ ॥

अदीर्घसूत्र स्मृतिमानशुद्रोऽपरुपस्तथा ।

धार्मिकोऽध्यसनश्चैव प्राज्ञ शूरो रहस्यवित् ॥ ३१० ॥

स्वरग्धगोप्ताऽऽन्वीक्षिभ्यां दण्डनीत्या तथैव च ।

विनीतस्त्वथ वार्तायां प्रत्यां चैव नराधिप ॥ ३११ ॥

१ अथ आ-वेपामपि । २ स्वकालाद्भुत्पत्ति । ३ तस्य नोत्पादो  
न काले । ४ सवननाभिचार । ५ अदीर्घसूत्री ।

रिमाणं च तस्योपवर्णनं, 'अमुकनद्या दक्षिणतोऽयं ग्रामः त्रेत्रं वा, पूर्वतोऽमु  
ग्रामस्य' एतावन्नवर्तननिर्यादिनिवर्तनपरिमाणं च लेख्यम् । एवं आघाट-  
नदीनगरवरमादिः संचारित्येन भूमेभ्युनाधिकभावसंभवात्तन्नित्यव्यर्थम्, स्वहस्ते  
स्वहस्तलिखितेन मतं मे अमुकनाम्नः अमुकपुत्रस्य यद्यत्रोपरि लेखितमित्यने  
संपन्नं संपुक्तं, कालेन च द्विविधेन शकनृपातीतरूपेण संवत्सररूपेण च दानकाले  
चन्द्रसूर्योपरागादिना संपन्नं स्वमुद्रया गरुडचाराहादिरूपयोपरि बहिश्चिह्नितमङ्क-  
स्तिभरं दंडं शासनं 'शस्यन्ते भविष्यन्तो नृपतयोऽनेन 'दानाच्छ्रेयोऽमुपालनम्  
इति शासनं कारयेत्, महीपतिर्न भोगपतिः । संधिविमहादिकारिणा 'देः  
केनचिदलेख्यम् ; 'संधिविमहकारी तु भवेद्यस्तस्य लेखकः । स्वयं राज्ञा समा-  
दिष्टः स लिखेद्राजशासनम् ॥' इति स्मरणात् । दानमात्रेणैव दानकाले सिद्धं  
शासनकरणं भोगाभिवृद्धया फलातिशयार्थम् ॥ ३१९-३२० ॥

भाषा—( कपास आदि के ) वस्त्र पर या ताम्रपट्ट पर अपनी मुद्रा  
( मुहर ) अङ्कित करके राजा अपने वंश के पूर्वपुरुषों के नाम तथा अपना  
नाम दान के वस्तु को मात्रा और ( खेत आदि होती ) चौदही का विवरण  
लिखावे और तब अपने हाथ से पितृनाम सहित अपना नाम एवं तिथि  
लिखकर उस राजाज्ञा को पुष्ट ( प्रागालिक ) बनावे ॥ ३१९-३२० ॥

हृदानीं राज्ञो निवासस्थानमाह—

रम्यं पशव्यमाजीव्यं जाङ्गलं देशमायसेत् ।

तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये ॥ ३२१ ॥

रम्यं रमणीयं अशोकचम्पकादिभिः । पशव्यं पशुभ्यो हितं पशुवृद्धिकरम् ।  
आजीव्यमुपजीव्यं कन्दमूलपुष्पफलादिभिः । जाङ्गलं यद्यप्यशोककतरुपर्वतो  
देशो जाङ्गलस्तथाप्यत्र 'सजलतरुपर्वतो देशो 'जाङ्गल' शब्देनाभिधीयते । तं  
देशमावसेदधिवसेत् । तत्रैवपिधे वेशे जनानां कोशस्य सुवर्णादिरात्मनश्च  
रक्षणार्थं दुर्गं कुर्वीत । तच्च पट्टविधम् । यथाह मनुः ( ७।७० )—'धन्व-  
दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्षमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं च समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥'  
इति ॥ ३२१ ॥

भाषा—रमणीय, पशुओं की ( चारे आदि से ) वृद्धि के योग्य जीवन-  
निर्वाह में ( कन्दमूल, पुष्प और फल से ) सहायता देने वाले एवं जनप्राय  
देश में निवास करें । उस स्थान पर परिजनों, कोश एवं अपनी रक्षा के लिये,  
दुर्ग बनवावे ॥ ३२१ ॥

तत्र तत्र च निष्णातानभ्यक्षान्कुशलाऽशुचीन् ।

प्रकुर्यादायकर्मन्तद्व्ययकर्मसु चांयतान् ॥ ३२२ ॥

किंच, तत्र तत्र धर्मार्थकामादिषु अध्ययान् योग्यानधिकारिण प्रकुर्यान्नि-  
युञ्जीत । यथाह — 'धर्मकृत्येषु धर्मज्ञानार्थकृत्येषु पण्डितान् । क्षीणु ह्यीवाक्षियु  
ज्जीत नीचान्नि-येषु कर्मसु ॥' इति । कीदृशान् ? निष्णाताननन्यव्यापारान् ।  
कुशलान् तत्तद्व्यापारचतुरान् । शुचीन् चतुर्विधोपधाशुद्धान् । आयकर्मसु  
सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु व्ययकर्मसु सुवर्णादिदानस्थानेषु च उद्यताननलसान् ।  
चशब्दात्प्राज्ञस्वादिगुणयुक्तान् । उक्तं च—'प्राज्ञत्वमुपधाशुद्धिरप्रमादोऽभियुक्ता ।  
कार्येषु व्यसनाभाव स्वामिमल्लिख योग्यता ॥' इति ॥ ३२२ ॥

भाषा—तत्तत् ( धर्म, अर्थ, काम आदि ) कर्मों में, आयकर्म और व्यय  
कर्म में योग्य, कार्यकुशल, पवित्र एवं कर्त्तव्यनिष्ठ अध्ययनों को नियुक्त  
करे ॥ ३२२ ॥

'भोगाश्च दद्याद्विप्रेभ्यो यस्मिन् विविधानि च' ( भा० ३१५ ) इति सामा-  
न्येन स्वस्वदानमुक्तम्, इदानीं नृपाणां विक्रमाजितस्य दाने फलातिशयमाह—

नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्रणार्जितम् ।

विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ॥ ३२३ ॥

अस्मादुत्कृष्टतमो धर्मो नृपाणां न विद्यत यद्रणार्जितं द्रव्यं विप्रेभ्यो  
दीयते । यच्च प्रजाभ्योऽभयदानम् ॥ ३२३ ॥

भाषा—राजाओं के लिए इसमें यद्वर कोई धर्म नहीं है कि युद्ध में  
अपहन धन ब्राह्मणों को दान करें और अपनी प्रजाओं को अभयदान दें ॥ ३२३ ॥

'रणार्जितं देयम्' इत्युक्तं, द्रव्यार्जनाय रणे प्रवृत्तस्य विपत्तिरपि सम्भवतीति  
न धर्मो नाप्यर्थ इति ततो निवृत्तिरेव श्रेयसीत्यत आह—

य आह्वयेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराह्मुखा ।

अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥ ३२४ ॥

ये भूम्याद्यर्थमाह्वयेषु प्रवृत्ता अपराह्मुखा अभिमुखा वध्यन्ते मार्यन्ते  
ते स्वर्गं यान्ति । योगाभ्यासरता यथा । यत्कूटैरविपदिग्धादिभिरायुधैर्योद्धारो  
भवन्ति ॥ ३२४ ॥

भाषा—जो भूमि के लिये युद्ध में सम्मुख लड़ते हुए अष्ट ( विप से  
न लुके हुए ) हथियारों से मारे जाते हैं वे योगियों के समान ( मृत्यु के  
उपरान्त ) स्वर्ग को जाते हैं ॥ ३२४ ॥

१. धर्मादिलयादिषु । २. ज्यापती ।



पदानि फतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम् ।

राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम् ॥ ३२५ ॥

किंघ, स्वपलेषु करितुरगरथपदातिषु भग्नेष्वविनिवर्तिना परपलाभिमुख-  
यायिनां पदानि फतुतुल्यान्यथमेघतुल्यानि विपर्यये दोषमाह—विपला-  
यिनां पदाद्मुखाना हतानां राजा सुकृतमादत्ते ॥ ३२५ ॥

भाषा—अपनी ( हाथ, घोड़े, रथ, पैदल आदि ) सेना के नष्ट हो जाने  
पर भी शत्रु की सेना की ओर लड़ते हुए राजा के प्रत्येकवग यज्ञों के तुल्य होते  
हैं ( अर्थात् जितने पग जाता है उतने यज्ञों का फल पाता है ) और वह  
चोट शत्रु पर लायन करने वालों ने शुभ कर्मों के पुण्य प्राप्त करता है ॥ ३२५ ॥

तवाहवादिनं क्लीयं निर्हति परसंगतम् ।

न हन्याद्विनियुक्तं च युद्धप्रेक्षणकादिकम् ॥ ३२६ ॥

अपि च, तवाहमिति वो वदति तं क्लीय नपुंसकं निर्हति निरायुष  
परसंगतमन्येन सह युद्धयमानं विनियुक्तं युद्धाद्विनियुक्त युद्धप्रेक्षणकं युद्ध-  
दर्शिनं । 'न हन्यात्' इति सर्वत्र सवन्धः । 'आदि' ग्रहणादशमारथ्यादीनां ग्रह-  
णम् । यथाह मौतम ( १०१६७-१८ )—'न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र  
व्यश्वसारथ्यानायुधकृताजलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षाल्बोम्भस्तद्वृत्तगो-  
ब्राह्मणादिभ्य' इति । शङ्खोऽप्यवाह—'न पार्श्वीय विपत्तं न भुञ्जान गोपानही  
मुञ्चन्तं नावर्माणं सर्वमां न क्षिप्यं न करेषु न वाजिनं न सारथिनं न सुतं न  
दूतं न ब्राह्मणं न राजानमराजा हन्यात्' इति ॥ ३२६ ॥

भाषा—'मैं तुम्हारा ही हूँ' ऐसा कहनेवाले, नपुंसक, शय्यहीन, हमारे के  
साथ युद्ध में सलज्ज, ( युद्ध में ) नियुक्त और युद्ध देखने के लिये भागे हुए  
व्यक्ति को नहीं मारना चाहिए ॥ ३२६ ॥

कृतरक्ष. समुत्थाय पश्येदायव्ययी स्वयम् ।

व्यवहारस्ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामतः ॥ ३२७ ॥

कृतरक्ष पुरस्थात्मनश्च रक्षां विधाय प्रतिदिनं प्रातः काल उत्थाय स्वयमे-  
वायव्ययी पश्येत् । ततो व्यवहारान् दृष्ट्वा मभ्याह्नकाले स्नात्वा कामतो  
यथाकालं भुञ्जीत ॥ ३२७ ॥

भाषा—( पुर की और अपनी ) रक्षा करके वह स्वयं आय और व्यय  
का लेखा देखे, इसके बाद व्यवहार ( यात्र-मुकदमे ) देखे और तब स्नान  
करके समय से भोजन करे ॥ ३२७ ॥

१द्विष्यं व्यापृतानीतं भाण्डागारेषु<sup>२</sup> निक्षिपेत् ।

पश्येच्चारांस्ततो दूतान्प्रेषयेन्मन्त्रिसंगतः ॥ ३२८ ॥

तदनन्तर द्विष्य व्यापृतैर्द्विष्याद्यानयननियुक्तैरानीत स्वयमेव निरीच्य भाण्डागारेषु निक्षिपेत् । ततश्चारांस्वशास्त्रप्रथागतान् पश्येत् । ये परराज्ये घृत्सान्तरपरिज्ञानाय परिधाजकतापसादिरूपेण गूढचारिणः प्रेषितास्तौक्षारान्दृष्ट्वा क्वचिन्निवेशयेत् । तदनन्तर दूतांश्च पश्येत् । दूताश्च ये प्रकटमेव राज्यान्तर-प्रति गतागतमाचरन्ति । ते च त्रिविधा — निस्पृष्टार्था, सदिष्टार्था, शासनह-राश्चेति । तत्र निस्पृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितुं चमा, उक्तमत्र ये परस्मै निवेद्यन्ति ते सदिष्टार्था, शासनहारास्तु राजलेख-हारिणः, नान्यूर्यप्रथितानागतान्मन्त्रिसङ्घेन पश्येत् । दृष्ट्वा तद्द्वारतामाकलय्य पुनः पुनः प्रेषयेत् ॥ ३२८ ॥

भाषा—( स्वर्णं आदि लाने क लिप् ) नियुक्त व्यक्तियों द्वारा लाये गये स्वर्ण को ( देखकर ) भण्डार में रखे, तब गुप्तचरों में यानें करे और फिर मन्त्री के साथ बैठकर दूतों को निर्दिष्ट कार्य करने के लिये भेजे ॥ ३२८ ॥

तत्र स्वैरचिह्नारी स्यान्मन्त्रिभिर्वा समागतः ।

यत्नानां दर्शनं कृत्वा सेनान्या सह चिन्तयेत् ॥ ३२९ ॥

तदनन्तरमपराह्णे स्वैर यथेष्टमेशोऽन्त पुरविहारी स्यात् । मन्त्रिभिर्वा विधासिभिः कलाकुशलैः परिहासवेदिभिः परिवृत स्याभिश्च रूपयौवनवैदाभ्य-शालिनीभिः — भुक्तवान्निहरेर्चर्चव स्याभिरमृतपुरे सह । विद्वत्पुत्रं यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ इति ( ७२२१ ) मनुस्मरणात् । ततो विशिष्टैर्व-शुद्धसुमत्रिलेपनालकारैरलङ्कृतं हस्त्यश्वरथपदातिबलानि दृष्ट्वा सेनान्या सेना-पतिना सह तद्भ्रमणादि देशकालोचितं चिन्तयेत् ॥ ३२९ ॥

भाषा—तब ( अपराह्ण में ) इच्छानुसार ( अन्त पुर में ) विहार करे अथवा मन्त्रियों के साथ बैठे । पुनः अपनी मनाओं का निरीक्षण करके सेना-पतियों के साथ ( देशकालोचित ) विचार विमर्श करे ॥ ३२९ ॥

मंध्यामुपास्य षट्पुयाच्चारणां गूढभाषितम् ।

गीतर्नृत्यैश्च भुञ्जीत पठेत्साध्यायमेव च ॥ ३३० ॥

ततः सायंकाले मंध्यामुपास्य, सामान्येन शास्त्रस्यापि पुनर्बचनं कार्याकुल-त्वाद्द्विस्मरणार्थम् । अनन्तर ये पूर्वदृष्टा क्वचिदस्थाने निवेशितास्तेषां चारणां

१. द्विष्यादिक्रु । २. गारे न्यसेत्त । ३. क्षारान्विश्वरथान् ।

४. राजान्तर । ५. शासनहस्ताश्चेति । ६. नृत्तैश्च ।

गृहभाषितमन्तर्वेदमनि शरणागिः शृणुयात् । उक्तं च मनुना ( ७।२२३ )—  
 'संस्थां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेदमनि शरणागृत् । रहस्यात्पापिनां चैत्र प्रणिधीर्त्वा  
 च चेष्टितम् ॥' इति । ततो नृत्यगीतादिभिः कंचित्कालं क्रीडित्वा कक्षान्तरं  
 प्रविश्य भुञ्जीत; 'गत्या कक्षान्तरं खन्यरसमनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेज्जोजनार्थं  
 च स्त्रीभिरन्तःपुरं सह ॥' इति ( मनुः ७।२२४ ) स्मरणात् । ततोऽविस्मरणार्थं  
 यथादाकि स्वाप्पार्यं पठेत् ॥ ३३० ॥

भाषा—( सायंकाल ) सन्ध्यापामना करके गुप्तचरों के रहस्यमय वचनों  
 को ( भकेले बैठकर ) सुने । तब गीत और नृत्य का आनन्द ले, भोजन करे  
 और स्वाप्याय का अध्ययन करे ॥ ३३० ॥

संविशेत्तूर्यघोषेण प्रतिबुद्धयेत्सथैव च ।

शास्त्राणि चिन्तयेद् बुद्ध्या सर्वकर्तव्यतास्तथा ॥ ३३१ ॥

तदनन्तरं तूर्यशङ्खघोषेण संविशेत्स्वप्पात् । तथैव तूर्यादिघोषेण  
 प्रतिबुद्धयेत् । प्रतिबुद्धय च शास्त्रविद्भिर्विद्याभिः सह पृथ्वी वा पश्चिमे  
 यामे शास्त्राणि चिन्तयेत् सर्वकर्तव्यताश्च सर्वकार्याणि च । एतद्य स्वस्यं  
 प्रायुच्यते । अस्वस्यः पुनः सर्वकार्येष्वन्य निगोजयेत् । यथाह मनुः ( ७।२२५ )  
 —'एतद्दृष्टं समातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः । अस्वस्य सर्वमेवैतन्मन्त्रिमुत्पे  
 नियेस्येत् ॥' इति ॥ ३३१ ॥

भाषा—तदनन्तर तूर्य और शंख घण्टि के साथ सोवे और इसी प्रकार  
 जागे । अपनी बुद्धि से शास्त्रों का और विद्ये जाने वाले सभी कार्यों का  
 चिन्तन करे ॥ ३३१ ॥

प्रेषयेद्य ततश्चारान् स्वेभ्यन्वेषु च साँदरान् ।

• ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैराशीर्भिरभिनन्दितः ॥ ३३२ ॥

दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वैद्यान् दँद्याद् गां काञ्चनं महीम् ।

नैवेदिकाणि च रततः श्रोत्रियेभ्यो गृहाणि च ॥ ३३३ ॥

अनन्तरं तत्रत्य एव विश्वामात्रेषान् चारान् दानमानसकारैः पूजितान्  
 स्वेषु सामन्ताद्यधिकारिषु अन्वेषु च महीपतिषु प्रेषयेत्तत्त्विकीर्षितपरिज्ञानाय ।  
 ततः प्रातः संध्यासुपास्याऽग्निहोत्रं हुत्वा पुरोहितर्विद्याचार्यादिभिराशीर्भिरभि-  
 नन्दितो ज्योतिर्विदो दृष्ट्वा तेभ्यश्च गृहादिसिधतिं विदिष्या सान्त्तिकादीनि च

१. स्त्रीभिरन्तःपुरं पुनः । २. एतद्विधान । ३. सर्वमेतत्तु मृत्युपे  
 विनियोजयेत् । ४. सादरम् । ५. नृद्याह्नाः । ६. तथा श्रोत्रियाणां ।

पुरोहितापादिश्य वैद्याश्च दृष्ट्वा तभ्यश्च स्वशरीरस्थितिं निवेद्य प्रतिविधान  
चादिश्य मा दाग्नीं ऋज्वन महीं च नैवेशिकानि विवाहोपयोगीनि क-याल  
कारादीनि गृहाणि च मुधावल्लितादीनि श्रोत्रियेभ्योऽधीतवद्भ्यो ब्राह्मणेभ्यः ।  
'दद्यात्' इति प्रत्येक सवष्यते ॥ ३३२ ३३३ ॥

भाषा—तब गुप्तघरों को आदर के साथ अपने मन्त्रियों आदि के निकट  
अथवा दूसरे राजाओं के समीप भेजे । ( प्रातः सन्ध्या और अग्निहोत्र के  
उपरान्त) ऋत्विज्, पुरोहित और आचार्य से अग्निहोत्र प्रहण करे । ज्योतिषी  
और वैद्य से मिले ( उनसे क्रमशः प्रहस्थिति और शारीरिक स्वास्थ्य की जान-  
कारी प्राप्त करे ), इनके बाद श्रुत्रिय ( वदश् ) ब्राह्मणों को दुधार गाय,  
सोना, भूमि, विवाह योग्य अलंकारादि उपकरण और चासभवन का दान  
करे ॥ ३३२-३३३ ॥

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्व क्रोधनोऽरिपु ।

स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता ॥ ३३४ ॥

किंच, ब्राह्मणेष्वधिष्ठिपरस्वपि क्षमी क्षमावान् । स्निग्धेषु स्नेहव सु  
मित्रादिष्वजिह्व अवच्छ । अरिपु क्रोधन । भृत्यवर्गेषु प्रजासु च हिताचरणेना-  
हितनिवर्तनेन च पितैव दयावान् । 'स्यात्' इति प्रत्येक सवष्यते ॥ ३३४ ॥

भाषा—राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील होना चाहिए, ( मित्रादि )  
अनुराग रखने वालों के प्रति सरल, शत्रुओं के प्रति क्रोधी तथा सेवकों एवं  
प्रजा के प्रति पिता के समान (दयावान् एवं हितकारी) होना चाहिए ॥३३४॥

प्रजापालनफलमाह—

पुण्यात्पद्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् ।

सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजाना परिपालनम् ॥ ३३५ ॥

यस्मान्न्यायेन श्राद्धोक्तमागण प्रजा परिपालयन् परिपालितप्रजोपहित-  
पुण्यात् पद्भाग पष्ट भागमादत्ते । यस्मात्च सर्वेभ्यो भूम्यादिदानेभ्य प्रजानां  
परिपालनमधिकफलम् । तस्मात् 'प्रजासु यथा पिता तथैव स्यात्' इति  
शतेन सवन्ध ॥ ३३५ ॥

भाषा—न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओं के पुण्य का  
छँठवा भाग प्राप्त करता है । अतएव भूमि आदि सभी प्रकार के दान से  
उत्पन्न पुण्यफल से प्रजापालन का फल अधिक हाता है ॥ ३३५ ॥

चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।

पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्रजायस्थैश्च विशेषतः ॥ ३३६ ॥

चाटाः प्रतारकाः विश्वास्य ये परधनमपहरन्ति, प्रच्छन्नापहारिणस्तस्कराः, दुर्वृत्ता ईन्द्रजालिककितवाद्य, सहो यल सहसा यलेन कृतं साहसं महद्य तत्साहसं च महासाहस तेन वर्तन्त इति महासाहसिका-प्रसङ्गापहारिणः, 'आदि'शब्दान्मौलिककुडकदुर्वृत्तयः । एतैः पीडयमाना वाध्यमानाः प्रजा रक्षेत् । कायस्था लेपना गणशाश्च तैः पीडयमाना विशेषतो रक्षेत् ; तेषां राजपक्षमत्तयातिनायायितया च दुर्निवारत्वात् ॥ ३३६ ॥

भाषा—लुटेरों, चोरों, ऐन्द्रजालिक आदि धूर्तों एवं दुस्साहसी डाकुओं आदि से पीडित प्रजा की रक्षा करे और विशेषतया कायस्थों ( लेखकों एवं गणकों ) से पीडित व्यक्तियों की रक्षा करे ॥ ३३६ ॥

अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्कल्पिय प्रजा ।

तस्मात्तु नृपतेरर्थं यस्माद् गृह्णात्यसौ करान् ॥ ३३७ ॥

अरक्ष्यमाणाः प्रजाः यत्किञ्चित्कल्पियं चौर्यपरदारगमनादि कुर्वन्ति तस्मात्पापावर्धं नृपतेर्भवति । यस्मादसौ राजा रक्षणार्थं प्रजाम्ब्यः करान् गृह्णाति ॥ ३३७ ॥

भाषा—राजा द्वारा अरक्षित प्रजा जो कुछ ( चोरी आदि ) पाप करती है, उसमें से आधा पाप उसका ही जाता है; क्योंकि वह रक्षाकरने के लिये ही प्रजाओं से कर लेता है ॥ ३३७ ॥

ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम् ।

साधून्समानयेद्वाजा विपरीतोश्च घातयेत् ॥ ३३८ ॥

उत्कीचजीविनो द्रव्यहीनान्कृत्वा विवासयेत् ।

संहानमानसत्कारान्धोत्रियान्वासयेत्सदा ॥ ३३९ ॥

राष्ट्रे राष्ट्राधिकारेषु ये नियुक्तास्तेषां विचेष्टितं चरितं चारैरुत्कल-चणैः सम्यक् ज्ञात्वा साधून्सुचरितान् समानयेत् दानमानसत्कारं पूजयेत् । विपरीतान्द्रुष्टचरितान्सम्यग्निदिग्वा घातयेत् अपराधानुसारेण । ये पुन-रुत्कीचजीविनस्तान्प्रपरहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रात्प्रवासयेत् । धोत्रियान्संहान-मानसत्कारैः सहिताभूत्वा स्वराष्ट्रे स्वदेशे सदैव वासयेत् ॥ ३३८-३३९ ॥

भाषा—जो राज्यकार्य में अधिकारयुक्त पदों पर नियुक्त हों उनका आचरण भलीभाँति सुसचरो द्वारा जानकर राजा उत्तमचरित्रवालों का

(दान आदि में) सम्मान करे और विपरीत आचरण वालों को (अपराध के अनुसार) दण्ड देवे । जो धूम लेकर जीविमा चलाते हैं उनका धन छीन कर उन्हें कगाल) बनाकर) देन में निकाल देना चाहिए । श्रेयिष (येदाप्यय-नरत ग्राह्यो) को दान, सम्मान और सरकार के साथ सदा ही (अपने राज्य में) बसाना चाहिए ॥ ३३८-३३९ ॥

अन्यायेन नृपां राष्ट्रात्स्वकोशं 'योऽभिवर्धयेत् ।

सोऽचिराच्छीघ्रमेव विगतध्रीका प्रिगटलपमीका व-पुभि सह नादा प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

योऽसौ राजा स्वराष्ट्रादन्यायेन द्रव्यमादाय स्वकाशं अभिवर्धयेत् सोऽचिराच्छीघ्रमेव विगतध्रीका प्रिगटलपमीका व-पुभि सह नादा प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

भाषा—जो राजा अन्यायपूर्वक अपनी प्रजा से (धन लेकर) अपने कोश की वृद्धि करता है वह साम्रज्ञ ही शीघ्र ही होकर बान्धवों सहित नष्ट हो जाता है ॥ ३४० ॥

प्रजापीडनसंतापारसमुद्भूतो हुताशन ।

राश कुलं धियं 'प्राणाश्चाऽद्भ्या न निवर्तते ॥ ३४१ ॥

प्रजानां सरकाराद्विहतर्पादनन य समापरतस्मादुद्भूतो हुताशन इव समापकारित्वाद्दुष्पराशि 'हुताशन'शब्देनोच्यते । स राश कुलं धियं प्राणाश्चाद्भ्या नाशमर्ताया न निवर्तते नोपनाम्यति ॥ ३४१ ॥

भाषा—प्रजापीडन के सताप की भूमि राजा के कुल, शोभा और प्राणों को नष्ट किये बिना क्षान्त नहीं होती ॥ ३४१ ॥

य एव नृपतेर्धर्मं स्वराष्ट्रपरिपालने ।

तमेव पृच्छन्माप्नोति परराष्ट्रं यदा नयन् ॥ ३४२ ॥

न्यायत स्वराष्ट्रपरिपालन राजो या धर्मज्ञ सखल वचनप्राणव्यायेन पर राष्ट्रं यदा नयन् आरमणात्पृच्छन्माप्नोति धर्मवदभाग य ॥ ३४२ ॥

भाषा—न्यायपूर्वक अपने राज्य का पालन करने में राजा का जो धर्म होता है वही धर्म वह दूसरे राष्ट्र को वश में करने पर प्राप्त है ॥ ३४२ ॥

'यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहार कुलम्यति ।

तथैव परिवाच्योऽसौ यदा यदा मुपागत ॥ ३४३ ॥

१. यऽभिवर्धयेत् । २. प्राजानश्चा, प्राणश्चाद्भ्या । ३. ५९७ ।

४. किं नु यस्मिन् ।

किंच, यदा परदेशो वनमुपागतस्तदा न स्वदेशाचारादिकर कार्यं, वि तु यस्मिन्देशे य आचार कुलस्थितिव्यवहारो वा यथैव प्राणसौ चर्यवासौ परिपालनीयो यदि शास्त्रविद्बो न भवति । 'यदा वनमुपागत' इत्यनेन वनोपगमनात्प्रागनियम इति दर्शितम् । यथोक्तम् ( मनु ७।१५५ )— 'उपरुप्यारिमासीत् राष्ट्र चास्थोपपादयेत् । दूषयैच्चास्य सतत यवसाञ्चोदकं न्यनम् ॥' इति ॥ ३४३ ॥

भाषा—अपने वन में आ जाय तो जिस देश में जो आचार, व्यवहार और कुल की मर्यादा हो उसका उसी रूप में वह पालन करे ॥ ३४३ ॥

मन्त्रमूलं यतो 'राज्यं तस्मान्मन्त्रं सुरक्षितम् ।

कुर्याद्यथाऽस्य न विदु कर्मणामा फलोदयात् ॥ ३४४ ॥

परमात् 'तै साधं चिन्तयेद्वाच्यम्' (शा० ३।२) इत्याद्युक्त मन्त्रमूल राज्य तस्मान्मन्त्र यत्नेन तथा सुरक्षित कुर्यात्, यथाऽस्य राज् कर्मणां सधि विग्रहादीनामाफलोदयात् फलनिष्पत्ते प्रागन्ये मन्त्र न जानन्ति ॥ ३४४ ॥

भाषा—राज्यकार्य का मुख्य आधार मन्त्र ( मन्त्रणा, गुप्त परामर्श ) है, अतएव मन्त्र को इस प्रकार गुप्त रखे कि राजा के कर्मों ( सधि विग्रह आदि ) के फलीभूत होने के पूर्व उसकी जानकारी किसी को न मिल सके ॥ ३४४ ॥

अस्मिन्प्रमुदासीनोऽनन्तरस्तत्पर पर ।

क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं सामादिभिरुपकर्मै ॥ ३४५ ॥

किंच, अस्मिन् शत्रु, मित्र सुहृत्, उभयविलक्षण उदासीनश्च । ते च त्रयस्त्रिविधा सहजा कृत्रिमा प्राकृतश्चेति । तत्र महजोऽस्ति सापत्नवितुष्व तापुत्रादि । कृत्रिमोऽस्ति यस्यापकृत येन चापकृतम् । प्राकृतारवनन्तर देशाधिपति । सहज मित्र भागिनयपैतृत्पत्नीयमादृन्त्रीयादि । कृत्रिम मित्र येनोपकृत यस्य अपकृतम् । प्राकृतमित्रमेव तस्मिन्देशाधिपति । महजकृत्रिममित्रशत्रुलक्षणरहितो सहजकृत्रिमोदासीनो । प्राकृतादासीनो 'द्वयन्तरितदेशाधिपति । अस्ति पुनश्चतुर्विध—'घातशोच्छेदयथादनीयकशनीय भेदेन । तत्र घातशोऽनन्तरभूमिपतिव्यसनः हीनबलो विरक्तप्रकृति । विदुर्गो मित्रहीनो दुर्बलश्चोच्छेदव्य । पाडनाथो मन्त्ररत्नहीन । प्रबलमन्त्ररत्नयुक्त कर्शनीय, 'निर्मूलनात्समुच्छेद पीडन बलनिग्रहम् । कर्शन तु पुन प्राहु'

१ राज्यगतो मन्त्र । २ प्रागन्ये । ३ ह्यनन्तरदेशः । मध्यन्तरदेशः । ४ घातशोच्छेदनीय ।

कोशदण्डापकर्शनात् ॥' इति । मित्र द्विविध-वृहणीय, कर्शनीयमिति । कोशदण्डहीन वृहणीयम् । कोशदण्डाधिक कर्शनीयम् । 'अनन्तरस्तरपर पर' इति प्राकृतारिमिश्रोदासीनानाह-अनन्तर प्राकृतोऽरि, तस्पर प्राकृत मित्र, तस्मात्पर प्राकृत उदासीन, शेषा पुन प्रसिद्धवाचोक्ता । एतद्वाजमण्डल क्रमदा पूर्वादिदिक्षुमेण चिन्त्य तेषां चेष्टित ज्ञातव्यम् । ज्ञात्वा च सामादिभिरुपायैर्विषयमार्णानुसंधेयम् । एव पुरत वृष्टत पार्श्वतश्च त्रयस्य भागमा चैक इति त्रयोदशराजकमिदं राजमण्डल पञ्चाकारम् । पार्णिप्राहाक्रन्दसारोदयस्व रिमिश्रोदासीनेष्वेवान्तर्भवन्ति, सज्ञाभेदमात्र ग्रन्थान्तरे दर्शितमिति योगीश्वरेण न पृथगुक्ता ॥ ३४५ ॥

भाषा—( सीमा से ) सटे हुए राज्य, उसके घाट के राज्य और उसके भी घाट के राज्य पर शासन करने वाले राजा क्रमशः शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं । इन राजमण्डलों पर क्रमशः ( पूर्वादि दिशा से लेकर ) ध्यान रखना चाहिए और इनके साथ साम आदि उपायों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३४५ ॥

'सामादिभिरपक्रमै' ( भा० ३४५ ) इत्युक्तम्, इदानीं तानुपायानाह—

उपाया साम दानं च भेदो दण्डस्तथैव च ।

सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्धयेयुर्दण्डस्त्वगतिका गति ॥३४६॥

साम प्रियभाषणम्, दान सुवर्णादि भेदो भेदकरण तस्मात्तादीना परस्परतो वैरस्योपादमेन, दण्ड उपांशु प्रकाशाभ्यां घनापहाराद्विर्घपथन्तोऽपकार । एते सामाद्य परिपन्थ्यादिसाधनोपाया । एते च देशकालाद्यनुसारेण सम्यक्प्रयुक्ता विद्वयेयुः । तेषां च मध्य दण्डस्त्वगतिका गति, उपाया न्तरसभवे सति न प्रयोक्तव्य । एतच्च पीडनीयकर्शनीयाभिप्रायेण । यातयोश्चेत्तन्वयोरस्तु दण्ड एव मुख्य । एते सामाद्यो न केवल राज्यव्यवहारविषया अपि तु सकललोकव्यवहारविषया यथा—'अधीष्व पुत्रकाधीष्व दास्यामि तव मोदकान् । यद्वाऽम्परमै प्रदास्यामि कर्णमुखाटयामि ते ॥' इति ॥ ३४६ ॥

भाषा—साम ( प्रियभाषण ), दान ( सुवर्णादि उपहार देना ), भेद ( फूट डालना ), और दण्ड ( घनापहरण और वध आदि कर्म ) ये चार उपाय हैं, इनका उचित रूप से ( देश, काल आदि के अनुसार ) प्रयोग



करने पर सफलता मिलती है । और कोई उपाय न चलने पर ही दण्ड का आश्रय लिया जाता है ॥ ३४६ ॥

संधि च विग्रहं यानमासनं संश्रयं तथा ।

द्वैधीभावं गुणानेतान् यथावत्परिकल्पयेत् ॥ ३४७ ॥

किं, संधिर्व्यवस्थाकरणम्, विग्रहोऽपकार, यान पर प्रति यात्रा, आमनगुपेक्षा, संश्रयो बलवदाश्रमणम्, द्वैधीभाव स्वयंभूय द्विधाकरणम् । पुराणसंधिप्रभृती-गुणान् यथावद्वेदकालकृत्स्निसिद्धिचरोन कल्पयेत् ॥ ३४७ ॥

भाषा—संधि, विग्रह ( अपकार ), यान ( चढ़ाई ), उपेक्षाभाव, यद्य वान का आश्रय तथा अपनी सेना का द्विधा विभाजन—इन गुणों का यथोचित ( दैत, काल, शक्ति, मित्र आदि का विचार करके ) अवलम्बन करे ॥ ३४७ ॥

यानकालानाह—

यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत् ।

परश्च हीन आत्मा च हृष्टवाहनपूरुष ॥ ३४८ ॥

यदा परराष्ट्र सस्यैर्नीह्यादिभिर्गुणैश्च समजले-धनतृणादिभिरुपेत सपन्न गजुश्च हीनो बलादिभि, आत्मा च हृष्टवाहनपूरुष वाहनानि हृष्टयथादानि तानि च पूरुषाश्च वाहनपूरुषा हृष्टा वाहनपूरुषा यस्य स तथोक्त । तदा परराष्ट्रमात्मसाक्तुं व्रजेत् ॥ ३४८ ॥

भाषा—जय शत्रु का राश्य अन आदि से भरापूरा हो, शत्रु की सेना दुर्बल हो और अपनी सेना क अश्वदि वाहन एवं सैनिक प्रसन्न ( एवं आसाहपूर्ण ) हों तब आक्रमण करे ॥ ३४८ ॥

माणिनामभ्युदयत्रिनिपाताना देवायत्तत्वाद्यदि देवमस्ति तदा स्वयमेव पर-  
राष्ट्रादि वशीभविष्यति, अध नास्ति कृतेऽपि पौरुषे न भविष्यति, अतो वदर्थे वाय यात्राप्रयास इत्यत आह—

द्वैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता ।

तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पूर्वदेहिकम् ॥ ३४९ ॥

कर्मसिद्धि फलप्राप्तिरिष्टानिष्टलक्षणा । सा न कवल दैव व्यवस्थिता । अपि तु पुरुषकारेऽपि, लोक तथा दर्शनात्, चिकित्सकादिशास्त्रवैयर्थ्याच्च । अपि च पुरुषकाराभावे दैवमेव नास्त्याद्याह—तत्र दैवमिति । यत पूर्वदेहाजित पौरुषमेव दैवमुच्यते । अक्षरपुरुषकारानन्तर महाकठोदयाभिव्यक्त पौरुष

पौरुषेण कर्म । तस्मात्पुरुषकाराभावे न दैवमस्तीति पुरुषकारे यत्नो विधा-  
तव्यः ॥ ३४९ ॥

भाषा—( इष्ट या अनिष्ट ) फल की प्राप्ति दैव ( भाग्य ) और पुरुष  
( अपने कर्म ) से होती है । इसमें दैव ( भाग्य ) [ इस जन्म में अल्प प्रयत्न  
से अधिक फल के रूप में ] अभिव्यक्त पूर्व शरीर द्वारा किया गया कर्म ही  
होता है ॥ ३४९ ॥

इदानीं मतान्तराख्याह—

केचिद् दैवात्स्वभावात् कालात्पुरुषकारतः ।

संयोगे केचिद्वच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः ॥ ३५० ॥

केचिदिष्टानिष्टलक्षण फल दैवादेवेच्छन्ति । केचिस्वभावात्स्वयमेव भवति,  
न कारणमपेक्ष्य इति । केचिःकालात् । केचिःपुरुषकारत एवेति । इदानीं  
स्वमतमाह—दैवादीनां संयोगे समुच्चये फलं भवतीति कुशलबुद्धयो मन्वादयो  
मन्यन्ते ॥ ३५० ॥

कुछ लोग ( इष्ट या अनिष्ट ) फल को भाग्य या स्वभाव से उत्पन्न  
मानते हैं, कुछ लोग समय को और कुछ लोग पौरुष या कर्म को फल का  
कारण मानते हैं । कुछ बुद्धिमानों ने इन सबके संयोग ( मिलने ) से फल की  
उत्पत्ति मानी है ॥ ३५० ॥

एकैकस्मात्फलं न भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत् ।

एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्धयति ॥ ३५१ ॥

नात्र तिरोहितमस्ति ॥ ३५१ ॥

भाषा—जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार  
पौरुष के बिना भी भाग्य या दैव की सिद्धि नहीं होती है ॥ ३५१ ॥

लाभाय परराष्ट्रं गन्तव्यमिष्टदुष्कम् । लाभश्च त्रिविधः हिरण्यलाभो मूल-  
लाभो मित्रलाभश्चेति, तेषु मित्रलाभो ज्यायात् । ततस्तरप्राप्त्युपाये यत्नो विधा-  
तव्यः । तत्प्राप्त्युपायश्च सश्रवचनमित्याह—

हिरण्यभूमिलांभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः ।

अतो यतेत तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहितं ॥ ३५२ ॥

१. केचिद्दैवाद्दृष्टात्केचिद्वैचित् । २. सिद्धयन्त्यर्थां मनुष्याणां तेषां  
योनित्तु पौरुषम् । ३. लाभेषु ( = हिरण्य-भू मित्रलाभानां मध्ये ) ।  
४. तत्प्राप्तौ ।

यस्मात् हिरण्यभूमिप्रलाभेभ्यो मित्रलब्धिवरा उत्कृष्टा तस्मात्तत्राप्यै  
यतेत यानं कुर्यात् सामादिभिः । सत्यं च रचेत् । समाहितः सावधानः । सत्य-  
मूलवान्मित्रलाभस्य ॥ ३५२ ॥

भाषा—सुवर्ण और भूमि के लाभ से मित्र की प्राप्ति उत्कृष्ट है । अतः  
एव मित्र की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए और सावधान होकर सत्यता  
की रक्षा करनी चाहिए ॥ ३५२ ॥

इदानीं राज्याङ्गान्याह—

‘स्वाभ्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च ।

मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

‘महोरस्ताह’ ( भा० ३०९ ) इत्याद्युक्तलक्षणो महीपतिः स्वामी, अमात्या  
मन्त्रिपुरोहितादयः, जनो ब्राह्मणादिप्रजा, दुर्गं धन्वदुर्गादि, कोशः सुवर्णादि-  
घनराशि, दण्डो इत्यथरथपत्तिलक्षणं चतुरङ्गबलम् । मित्राणि सहजकृत्रिम-  
प्राकृतानि, एताः स्वाभ्याद्याः राज्यस्य प्रकृतयो मूलकारणानि । एवं राज्यं  
सप्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

भाषा—राजा, अमात्य ( मन्त्री, पुरोहित आदि ), प्रजा, दुर्ग, कोश,  
दण्ड ( सेना ) और मित्र—ये राज्य के मूल कारण हैं; अतः राज्य की सप्ताङ्ग  
कहा जाता है ॥ ३५३ ॥

तदवाप्य नृपो दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत् ।

धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ॥ ३५४ ॥

तदेवंविधं राज्यं प्राप्य दुर्वृत्तेषु बद्धरुशठधूर्तपरदारपरद्रव्यापहारिहिंस-  
कादिषु नृपो दण्डं पातयेत् प्रयोजयेत् हि यस्माद्धर्म एव दण्डरूपेण पूर्वं ब्रह्मणा  
निर्मितः । सत्यं च दण्ड इति यौगिकी सज्ञा—‘दण्डो दमनादित्याहुस्तेना-  
दान्ताद्दमयेत्’ ( ११।१२८ ) इत्यादिगीतमस्मरणात् ॥ ३५४ ॥

भाषा—इस प्रकार का राज्य प्राप्त करके राजा दुराचारियों अर्थात्  
अपराधियों को दण्ड देवे, क्योंकि भाद्रि काल में ब्रह्मा ने दण्ड के रूप में  
धर्म की ही सृष्टि की है ॥ ३५४ ॥

स नेतुं न्यायतोऽशक्यो लुब्धेनाकृतवृद्धिना ।

सत्यसंघेन शुचिना सुसहायेन धीमता ॥ ३५५ ॥

१. स्वाभ्यमात्यौ । २. न्यायतः शक्यो ( = न्यायतो यथाशास्त्रं नेतुं प्रणेतुं  
शक्यः ) । ३. लुब्धेन कृतवृद्धिना ( = अलुब्धेन न्यायधनव्ययकारिणा कृत-  
वृद्धिना लब्धप्रज्ञेन ) ।

स पूर्वोक्तो दण्डो लुब्धेन कृपणेनाकृतबुद्धिना चञ्चलबुद्धिना न्यायतो न्यायानुसारेण न तु प्रयोक्तुं शक्यो न भवति । कीदृशेन तद्दि शक्य इत्याह—  
सत्यमधेनाप्रतारकेण । ह्युचिना जितारिषद्वर्गेण । सुसहायेन पूर्वोक्त  
सहायमहितेन । धीमता नयानयकुशलेन स दण्डो न्यायतो धर्मानुसारेण  
चेतु शक्य ॥ ३५५ ॥

भाषा—दण्ड को लोभी और चञ्चल बुद्धि वाला व्यक्ति न्यायपूर्वक नहीं  
चला सकता; सत्यशील, पवित्र उत्तम सहायकों से युक्त एवं नीतिशास्त्र का  
विद्वान् ही उसे ( न्याय से ) चला सकता है ॥ ३५५ ॥

यथाशास्त्रं प्रयुक्तं सन् सदेवासुरमानघम् ।

जनदानन्दयेत्सर्वमन्यथा तत्प्रकोपयेत् ॥ ३५६ ॥

स दण्ड शास्त्रोक्तमार्गेण प्रयुज्यमान सन् देवासुरमानघै सहित इदं  
सर्वं जगदानन्दयेत् हर्षयत् । अन्यथा शास्त्रातिक्रमेण प्रयुक्तश्रेयसाप्रको-  
पयेत् ॥ ३५६ ॥

भाषा—शास्त्र के अनुसार प्रयोग में लाये जाने पर दण्ड देवता, राजस  
और मनुष्यों सहित इस सम्पूर्ण ससार को आनन्दित करता है अन्यथा  
( शास्त्र के विपरीत प्रयुक्त होने पर ) वह उसे कुपित ही करता है ॥ ३५६ ॥

न कवलमधर्मदण्डेन जगत्प्रकोप, अपि तु प्रयोक्तुं दण्डहानिरपीत्याह—

अधर्मदण्डनं स्वर्गकीर्तिलोकविनाशनम् ।

सम्यक्तु दण्डनं राज्ञ स्वर्गकीर्तिजयावहम् ॥ ३५७ ॥

य पुन शास्त्रातिक्रमेण लोभादिना दण्ड कृत स पापहेतुत्वास्वर्ग  
कीर्ति लोकाश्च विनाशयति । शास्त्रोक्तमार्गेण तु कृतो धर्महेतुत्वास्वर्गकीर्ति  
जयानां हेतुर्भवति ॥ ३५७ ॥

भाषा—( लोभ आदि के वशीभूत होकर ) शास्त्र के विपरीत दण्ड  
देने से राजा के स्वर्ग कीर्ति और ( उत्तम ) लोक का नाश ही जाता है ।  
सम्यक् ( शास्त्रानुसार ) दण्ड देना राजा के स्वर्ग, यश और विजय का  
कारण होता है ॥ ३५७ ॥

अपि धाता सुतोऽधर्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि धा ।

नादण्ड्यो नाम राजोऽस्ति धर्माद्विचलित स्वकात् ॥ ३५८ ॥

१. ऽसुरमानुषम् । २ तु प्रकोपयेत् । ३ प्रकोपनमपि तु । ४ स्वर्ग  
कीर्ति लोकांश्च नाशयेत् । ५ कृत सोऽपापहेतुत्वात् ।

अर्घ्योऽर्घाहं आचार्यादि । शेष प्रविद्ध । एते भ्रातृसुतादयोऽपि स्वयं  
नाचलिता दण्डया, किमुतान्ये । यत स्वधर्माञ्जलित. अदण्डयो नाम राज्ञः  
कोऽपि नास्ति । एतच्च मातापित्रादिव्यतिरेक्येण । तथा च स्मृत्यन्तरम्—  
'अदण्डयो मातापित्रो र्नातकपुरोहितपरिवाचकवानप्रस्था क्षुतशीलशौचाचार  
घन्तरने हि धर्माधिकारिणः' इति ॥ ३५८ ॥

भाषा—भाई, पुत्र आचार्य आदि धर्म व्यक्ति, स्वशूर या मामा—कोई  
भी अपने धर्म से विचलित हो तो राजा के लिये अदण्ड्य नहीं होता ( अर्थात्  
राजा को उसे अवश्य दण्ड देना चाहिए ) ॥ ३५८ ॥

यो दण्डयान्दण्डयेद्राजा सम्यग्धर्मांश्च घानयेत् ।  
दृष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समातधरदक्षिणै ॥ ३५९ ॥

हिंसा, यस्तु राजा दण्डयान् स्वधर्मचलनादिना दण्डयोग्यान् सम्यक्  
शास्त्रदृष्टेन मार्गेण धिग्जनदण्डादिना दण्डयति, वप्यान्वधाहान् घातयति  
तेन राजा भूरिदक्षिणै क्रतुभिरिष्ट भवति । बहुदक्षिणानुफल प्राप्नोता-  
त्यर्थ । न च फलभ्रवणादण्डप्रणयनं काम्यमिति मन्तव्यम्, अकरणे प्रायश्चित्त  
स्मरणात् । यथाह यतिष्ठ ( १९१४०-४४ )—'दण्डयोरसर्गे राजैकरात्रमु-  
पजयेत्', 'त्रिरात्र पुरोहित', 'दृष्टमदण्डयदण्डने पुरोहित', 'त्रिरात्र रात्र'  
इति ॥ ३५९ ॥

भाषा—जो राजा दण्डनोय व्यक्तियों को सम्यक् ( शास्त्रानुसार ) दण्ड  
देता है और पद्ययोग्य व्यक्तियों को मारता है, वह अधिक दक्षिण चाले यज्ञों  
का फल प्राप्त करता है ॥ ३५९ ॥

'दुष्टे सम्यग्दण्ड प्रयोक्तव्य' ( आ० ३५४ ) इत्युक्त, दुष्टपरिज्ञान  
च व्यवहारदर्शन मन्तरेण न भवतीति तत्परिज्ञानाय व्यवहारदर्शनमहारह  
स्वयं कर्तव्यमित्याह—

इति संचिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्यफलं पृथक् ।  
व्यचहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः पटिवृतोऽग्यहम् ॥ ३६० ॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण क्रतुतुल्य फल दण्डयदण्डने, स्वर्गादिनाश चादण्डय  
दण्डने सम्यग्विचिन्त्य पृथक्पृथक्प्रार्णादिक्रमेण, सम्यैर्वक्ष्यमाणलक्षणै परित्त,  
प्रतिदिन व्यवहारान्वच्यमांगमार्गेण दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थं राजा स्वयं  
पश्येत् ॥ ३६० ॥

भाषा—इस प्रकार यज्ञ के समान फल का विचार करके राजा प्रतिदिन सभ्य अर्थात् श्रेष्ठ जनों के साथ स्वयं पृथक् पृथक् ( वर्ण आदि के क्रम से ) व्यवहारों ( वार्दों या मुकदमों ) को देखे ॥ ३६० ॥

कुलानि जाती श्रेणीश्च गणान्नानपदानपि ।

स्वधर्माच्चलिताव्राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥ ३६१ ॥

कुलानि ब्राह्मणादीनाम्, जातयो मूर्धावसिक्तप्रभृतय, श्रेणयस्ताम्बूलिकादानान्, गणा हेलातुकादीनाम्, ज्ञानपदा\* कारुकादय, पूता-स्वधर्माच्चलिता-प्रच्युतान् राजा यथापराध विनाय दण्डयित्वा पथि स्वधर्मं स्थापयेत् । 'दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत्' ( जा० ३५४ ) इत्युक्तं, स च दण्डो द्विविध — शारीरोऽर्थदण्डश्च । यथाह नारद — शारीरश्चार्थदण्डश्च दण्डो हि द्विविध स्मृतः । शारीरस्ताडनादिस्तु मरणात् प्रकीर्तित ॥ कौण्डिन्यादिसर्वदण्ड सर्पस्वान्तस्तर्था च ॥' इति । द्विविधोऽप्यवराधानुसारेणानेकधा भवति । आह रम—'शारीरो दशधा प्रोक्तो ह्यर्थदण्डस्तथैकधा' इति ॥ ३६१ ॥

भाषा—ब्राह्मण आदि कुलों, मूर्धावसिक्त आदि जातियों, सामूलिक आदि श्रेणियों तर्कों और जनपदों को अपने धर्म से अष्ट होने पर राजा दण्ड देकर पुनः धर्मसमत माग में प्रतिष्ठित करे ॥ ३६१ ॥

तत्र कृष्णलमायसुवर्णपलादिशस्त्रैरर्थदण्डा यज्ज्या, त च प्रतिदर्शं भिक्षुपरिमाणार्था इत्येकस्त्वापराधोऽपि देशभेदेन न्यूनाधिकदण्डो मा भूदिति कृष्णलादिशस्त्राना नियतपरिमाणत्रिपयस्व दण्डव्यवहारे दर्शयितुमाह—

जालसूर्यमरीचिस्थं प्रसरेणु रज स्मृतम् ।

तेऽष्टौ श्लक्षा तु तास्तिस्त्रो राजसर्पप उच्यते ॥ ३६२ ॥

गौर तु ते त्रय पट् ते यधो मध्यस्तु ते त्रय ।

२ वृष्णरा पञ्च ते मापस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ ३६३ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वार पञ्च षापि प्रकीर्तितम् ।

पालका-तरप्रतिष्ठादिस्वरिमस्थित यद्भस्त्रत् प्रसरेणुरियुक्त योगीश्वरादिभिस्तत्प्रतिष्ठाभि । ते च प्रसरेणुषोऽष्टौ श्लक्षा श्वेदजयुष्काण्डम् । ता श्लिषा स्तिस्त्रो राजसर्पपो राजिका । ते रागतसर्पपाश्या गौरसर्पं निद्वार्थं । गौरसर्पया पट् यधो मध्य मध्यम, न स्यूतो न सूयम । एतेन गौरसर्पया षपि मध्यमा इति ज्ञायते । तथा राजसर्पया षपि 'मध्यम दण्डादेव ५ सर्पपा-

द्विशब्दाः न केवलमुन्मानवचनाः किंतु तदुन्मितद्रव्यवचना इति गम्यते, तथा प्रस्थपरिमिता यवाः प्रस्थ उच्यते । एवं सर्पवाद्युन्मितं द्रव्यं सर्पवादिशब्दैः । सर्पवादिशब्दानां च केवलोन्मानवचनत्वे घसरेणु<sup>१</sup>नुपसंहारयोन्नातुमशयत्वात्तद्द्वारेण कृष्णलादिव्यवहारो न स्यात् । तत्र स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम-मध्यसर्पवाद्युन्मानभेदेन प्रतिवेशं व्यवहारभेदे स्थिते दण्ड-व्यवहारे मध्य इति निवच्यते । ते मध्यमा यवाश्चय एकः कृष्णलः । ते कृष्णलाः पञ्चैको मापः । ते मापाः षोडशैकः सुवर्णः । ते सुवर्णाश्चत्वारः पलमिति संज्ञाः कथिता इति । पञ्च चापि पलं प्रकीर्तितं नारदादिभिः । तत्र स्थूलैस्त्रिभिर्वैः कृष्णलपरिकल्पनायां व्यावहारिकनिष्कस्य षोडशैकः कृष्णलो भवति । तैः पञ्चभिर्मापः । मापैः षोडशभिः सुवर्णः । स च व्यावहारिकैः पञ्चभिर्निष्कैरेकः सुवर्णो भवति । ते चत्वारः पलमिति । निष्काणां विंशतिः पलम् । यदा तु सूक्ष्मैस्त्रिभिर्वैः कृष्णलः परिकल्प्यते तदा व्यावहारिकनिष्कस्य द्वाविंशत्तमो भागः कृष्णलो भवति । तस्मिन्पक्षे सुवर्णः सार्धं निष्कद्वयं भवति । पलं च दशनिष्कम् । यदा तु मध्यमपक्षैः कृष्णलपरिकल्पना तदा निष्कस्य विंशतितमो भागः कृष्णलः, सुवर्णश्चतुर्निष्कः, षोडशनिष्कं पलम् । एवं पञ्चसुवर्णं पलमिति । पक्षे विंशतिनिष्कं पलम् । एवमन्यदपि निष्कस्य चत्वारिंशो भागः कृष्णलः, द्विनिष्कः सुवर्णोऽष्टनिष्कं पलमिःयादिलोकव्यवहारानुसारेणास्मादेव सूत्राद्द-हनीयम् ॥ ३६२-३६३ ॥

भापा—जाळी ( विडकी ) से भीतर प्रवेश करने वाली सूर्य किरण में दिखलाई पड़ने वाले भूलिकण घसरेणु कहलाते हैं । भाट घसरेणु मिल कर एक लिच्छा होती हैं और तीन लिच्छा का एक राजसर्प कहा जाता है । तीन राजसर्प का एक गौर सर्प होता है, छः गौर सर्प का एक मध्यमव्यव और तीन मध्यमव्यव का एक कृष्णल होता है । पाँच कृष्णल का एक माप और सोलह माप का एक सुवर्ण होता है चार या पाँच सुवर्ण का एक पल कहा गया है ॥ ३६२-३६३ ॥

एवं सुवर्णस्योन्मानं प्रतिपाद्येदानीं रजतस्याह—

द्वे कृष्णले रूच्यमापो घरणं षोडशैव ते ॥ ३६४ ॥

शतमानं तु दशभिर्घरणैः पलमेव तु ।

निष्कं सुवर्णाश्चत्वारः

द्वे कृष्णले पूर्वोक्ते, रूच्यमापो रूच्यसंबन्धी मापः । ते रूच्यमापाः षोडश धरणम् । 'पुराण' इत्यस्यैव संज्ञान्तरम् ; 'ते षोडश स्याद्वरणं पुरा-

णश्चैव राजत इति ( ८।१३६ ) मनुस्मरणात् । दशभिर्धरैः शतमानं पलमिति चाभिधीयते । पूर्वोक्ताश्चत्वारः सुवर्णा एको राजनो निष्को भवति ॥ ३६४ ॥

इदानीं तान्नस्योन्मानमाह—

कार्पिकस्ताम्रिकः पण ॥ ३६५ ॥

पलस्य चतुर्थोऽंशः कर्प इति लोकप्रसिद्धः । कर्पेणोन्मितः कार्पिकः । ताम्रस्य विकारस्ताम्रिकः । कर्पसमितस्ताम्रविकारः पणसज्ञो भवति, कार्पापण-सज्ञकश्च, 'कार्पापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्पिकः पणः' इति ( ८।१३६ ) मनु-वचनात् । पञ्चसुवर्णपलपक्षे विंशतिमापः पणो भवति । तथा सति—'माषो विंशतिमो भागः पणस्य परिकीर्तितः' इत्यादिव्यवहारः सिद्धो भवति । चतु-सुवर्णपलपक्षे तु षोडशमापः पणो भवति । अरिंमश्च पक्षे सुवर्णं कार्पापणः पणः शब्दानां समानार्थत्वेऽपि पणः कार्पापणशब्दो ताम्रविषयावेव । एव तावद्धे मरूप्यताघ्राणामुन्मानमुक्तम्, दण्डव्यवहारोपयोगित्वात् । कांस्यरीतिकादीना-मपि लोकव्यवहारान्नभूतानामेवोन्मानः द्रष्टव्यम् ॥ ३६५ ॥

भाषा—दो कृणल का एक रूप्यमाप होता है । सोलह रूप्यमाप का एक धरण होता है । दश धरणों का एक सौ मान वाला पल होता है । ( पूर्वोक्त ) चार सुवर्ण का एक निष्क कहलाता है । एक कर्प ( पल के चतुर्थांश ) के बराबर तौंके क सिक्के या तोल को पण कहा जाता है ॥ ३६४-३६५ ॥

स्वशास्त्रपरिभाषामाह—

साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहसः ।

तदर्धं मध्यमः प्रोक्तस्तदर्धमधमः स्मृतः ॥ ३६६ ॥

पणानां सहस्रं पणसहस्रम्, तत्परिमाणमस्येति पणसाहसः । अशीत्या सहस्रतः इति साशीतिः । अशीत्यधिकपणसहस्रपरिमितो यो दण्डः स 'उत्तमसाहसः'सज्ञो वेदितव्यः । तदर्धं मध्यमः तस्य साशीतिपणसहस्रस्यार्धं चत्वारिंशदधिकपणपञ्चशतपरिमितो दण्डो 'मध्यमसाहसः' सज्ञः । तदर्धम-धमः तस्य चत्वारिंशदधिकपणपञ्चशतपणस्यार्धं सप्तत्यधिकपणशतद्वयपरिमितो दण्डः 'अधमसाहसः'सज्ञः स्मृतः उक्तो मन्वादिभिः । यत्तु—'पणानां द्वे शतसार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं चैव चोत्तमः' इति ( ८।१३८ ) मनुोक्तः तत्परिमाणमतिपूर्वापराधविषयः द्रष्टव्यम् ॥ ३६६ ॥

भाषा—एक हजार अस्सी पण का दण्ड उत्तम साहस में होता है, उससे भी आधा मध्यम साहस में दण्ड होता है । मध्यम साहस के आधा दण्ड अधम या प्रथम साहस के लिये होता है ॥ ३६६ ॥



दण्डभेदानाह—

धिग्दण्डस्त्यथ धाम्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा ।

२६७ योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यपराधशादिमे ॥ ३६७ ॥

धिग्दण्डो धिग्धिति कुत्सनम्, धाम्दण्डस्तु परपदापवचनात्मकः, धनदण्डो धनापहारात्मकः, वधदण्डः शारीरोऽवरोधादिजीवितान्तः, एते चतुर्विधा दण्डाः व्यस्ताः एकैकशः, समस्ताः द्वित्राः त्रिचतुरो वाऽपराधानुसारेण प्रयोक्तव्याः । उक्तक्रमेण पूर्वपूर्वासाध्ये उत्तर उत्तरः प्रयोक्तव्यः । यथाह मनुः ( ८।१२९ )—‘धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्दाम्दण्डं तदनन्तरम् । त्नीधं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥’ इति ॥ ३६७ ॥

भाषा—धिग्दण्ड ( धिक्कार के वचन ), धाम्दण्ड ( कठोर वचनों द्वारा कटकारना ), धन दण्ड, और वध ( शारीरिक दण्ड )-इन दण्डों में सबका न एक एक का अपराध के अनुसार प्रयोग करना चाहिए ॥ ३६७ ॥

दण्डव्यवस्थानिमित्तान्याह—

ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा ।

ययः कर्म च यित्तं च दण्डं दण्डयेषु पातयेत् ॥ ३६८ ॥

यथापराधं ज्ञात्वा तदनुसारेण दण्डप्रणयनं कुर्वति । एवं देशकालवयः-मवित्तानि ज्ञात्वा तदनुसारेण दण्डयेषु दण्डार्हेषु दण्डप्रणयनं कुर्यात् । या बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वसङ्कटावृत्तानुसारेण च । यद्यपि राजानमधिकृत्यायं राजधर्मकलाप उक्तस्तथापि यनान्तरस्थापि विषयसङ्कलाद्विपरिपालनाधिकृतस्यायं धर्मो वेदितव्यः । ‘राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्दृपः’ ( मनु. ७।१ ) इत्यत्र पृथङ्पृथगप्रदण्डाकरप्रदण्डस्य रक्षार्थात्वात्, रक्षणस्य च दण्डप्रणयनापत्त्यादिति ॥ ३६८ ॥

भाषा—अपराध, देश, समय, शक्ति, आयु, कार्य और धन का पत लगा करके ही दण्डनीय व्यक्तियों को ( अपराधियों को ) दण्ड देना चाहिए ॥ ३६८ ॥

इति श्रीपद्मनाभमहोपाध्यायामनस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकविज्ञाने

महारकरय कृतौ श्रद्धामितासरायां याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रविद्युतौ

सदाचारः प्रथमाध्यायः ॥

उक्तमोपपत्त्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः

धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः

## व्यवहाराध्यायः

### साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम्

अभिपेक्षादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनं परमो धर्मः । तच्च दुष्टनिग्रह-  
मन्तरेण न सम्भवति । दुष्टपरिज्ञानं च न व्यवहारदर्शनमन्तरेण सम्भवति ।  
तद्व्यवहारदर्शनमहरहः कर्तव्यमित्युक्तं ( भा० ३६० )—'व्यवहारान्स्वयं  
पर्येष्यन्मयैः परिवृतोऽन्वहम्' इति । स च व्यवहारः कीदृशः, कतिविधः, कथं  
चेतीतिकर्तव्यताकलापो नाभिहितः, तदभिधानाय द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते—

व्यवहारान्नृपः पर्येद्विद्वद्भिर्ग्राहणैः सह ।

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥ १ ॥

व्यवहारानिति । अन्यविरोधेन स्वार्थसवन्धितया कथनं व्यवहारः ।  
यथा कश्चिदिदं चैत्रादि मदीयमिति कथयति, अन्योऽपि तद्विरोधेन मदीयमिति ।  
तस्यानेकविधत्वं दर्शयति बहुवचनेन । नृप इति न चत्रियमात्रस्यायं धर्मः किंतु  
प्रजापालनाधिकृतस्यान्यस्यापीति दर्शयति । पर्येदिति पूर्वोक्तस्यानुवादो धर्म-  
विशेषविधानार्थः । विद्वद्भिर्वेदव्याकरणादिधर्मशास्त्राभिज्ञैः । ग्राहणैर्न चत्रिया-  
दिभिः । 'ग्राहणैः सह' इति मृत्नीयानिर्देशादेवामप्राधान्यम् । 'सहयुक्तेऽप्रधाने'  
( पा. २।३।१९ ) इति स्मरणात् । अतश्चादर्शनेऽभ्यथादर्शने वा राज्ञो दोषो न  
प्राह्यगणानाम् । यथाह मनुः ( ८।१।२८ )—'अदण्डवान्दण्डयन्राजा दण्डयाश्चैवा-  
प्यदण्डयन् । अयश्चो महदाप्नोति नरकं चैवं गच्छति ॥' इति । कथम् ? धर्मशा-  
स्त्रानुसारेण, नार्थशास्त्रानुसारेण । देशादिसमयधर्मस्यापि धर्मशास्त्राविरुद्धस्य  
धर्मशास्त्रविषयत्वाच्च पृथगुपादानम् । तथा च वचयति ( व्य० १८६ )—'निजधर्मा-  
विरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् । सोऽपि यानेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च य ॥'  
इति क्रोधलोभविवर्जित इति । 'धर्मशास्त्रानुसारेण' इति सिद्धे 'क्रोधलोभवि-  
वर्जितः' इति वचनमादरार्थम् । क्रोधोऽमर्षं, लोभो लिप्सातिशयः ॥ १ ॥

भाषा—राजा क्रोध और लोभ त्यागकर ( नीति के ) विद्वान् ग्राहणों  
के साथ धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहारों ( यादों, मुकदमों ) पर विचार  
करे ॥ १ ॥

सम्पादाह—

श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।

राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥ २ ॥

किंच, श्रुताध्ययनसंपन्नाः श्रुतेन मीमांसोपाकरणादिध्रुवणेन अध्ययनेन च वेदाध्ययनेन संपन्नाः, धर्मज्ञाः, धर्मशास्त्रज्ञाः, सत्यवादिनः सत्यवचन-शीलाः, रिपौ मित्रे च ये समाः रागद्वेषादिरहिताः, पूर्वभूताः सभासदः सभाया संसदि यथा सीदन्त्युपविशन्ति तथा दानमानसकारैः राज्ञा कर्तव्याः । यद्यपि 'श्रुताध्ययनसंपन्नाः' इत्यविशेषणोक्तं, तथापि ब्राह्मणा एव । यथाह कार्या-यनः—'स तु सभ्यैः स्थिरैर्युक्तः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विप्रोत्तमैः । धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थ-शास्त्रविचारवैः ॥' इति । ते च त्रयः कर्तव्याः; बहुवचनस्यार्थरत्वात् 'परिमन्देशे निपीदन्ति विप्रा वेदविदश्च यः' इति (८११) मनुस्मरणाच्च । वृद्धस्पतिस्तु सप्त पञ्च त्रयो वा सभासदो भवन्तीत्याह—'लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा । यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥' ( १११ ) इति । नच 'प्राज्ञैः सह' इति पूर्वश्लोकोक्तानां ब्राह्मणानां 'श्रुताध्ययनसंपन्ना' इत्यादि विशेष-णमिति मन्तव्यम्; तुल्यीयाप्रथमान्तनिर्दिष्टानां विशेषणविशेष्यभावसंभवाद्, 'विद्वद्भिः' इत्यनेन पुनरुक्तिप्रसङ्गाच्च । तथा च कार्यायनेन ब्राह्मणानां सभासदां च स्पष्टं भेदो दर्शितः—'समाह्वयवाक्यं सामाह्यं समाह्वयपुरोहितः । ससभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः ॥' इति । तत्र ब्राह्मणा अनियुक्ताः, सभासद-स्तु नियुक्ता इति भेदः । अत एवोक्तम्—'नियुक्तो वाऽनियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति' इति । तत्र नियुक्तानां यथावस्थितार्थरुचनेऽपि यदि राजाऽन्वयो करोति तदाऽसौ निवारणीयः, अन्यथा दोषः । उक्तं च कार्यायनेन—'अन्या-येनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः । तेऽपि तद्वागिनस्तस्माद्बोधनीयः स तैर्नृपः ॥' इति । अनियुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽनभिधाने वा दोषो ननु राज्ञोऽनिवारणे—'संभो वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अशुबन्विशुब-न्वापि नतो भवति किहिवपौ ॥' इति ( ८१२ ) मनुस्मरणात् 'रिपौ मित्रे च' इति चकाराल्लोकरक्षणाद्यर्थं कतिपयैर्वर्जिभिरप्यधिष्ठिते सदः कर्तव्यम् । यथाह कार्यायनः—'कुलशीलवयोवृक्षवित्तवन्दिमश्वरैः । वणिगिभ्यः स्वात्कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम् ॥' इति ॥ २ ॥

भाषा—राजा वेदादि के अध्ययन से युक्त, धर्मशास्त्र के ज्ञाता, सत्यवादी तथा शत्रु एवं मित्र के प्रति समान भाव वाले ( रागद्वेषरहित ) पुरुषों को सभासद् धनावे ॥ २ ॥

'व्यवहारान्तरं परयेत्' ( व्य० १ ) इत्युक्तं, तत्रानुक्तमपि—

अपश्यता कार्यधशास्त्रव्यवहारान्नुपेण तु ।

सभ्यै सह नियोक्तव्यो ब्राह्मण सर्वधर्मवित् ॥ ३ ॥

कार्यान्तरैर्व्याकुलतया व्यवहारानपरवता नृपेण पूर्वोक्तैः सभ्यै सह सर्वधर्मवित् सर्वान्-धर्मशास्त्रोक्तान्सामयिकान् धर्मान्भवेत् विचारयताति सर्वधर्मवित् ब्राह्मणो न क्षत्रियादिर्नियोक्तव्यो व्यवहारदक्षते । तच्च कारवायनो-क्तगुणत्रिशिष्टं कुर्यात् । यथाह—'दान्त कुलीन मध्यस्थमनुद्वेगकर स्थिरम् । परत्र भारु धमिष्ठमुद्युक्त क्रोधवर्जितम् ॥' इति । एवभूतब्राह्मणासभ्ये क्षत्रिय वैश्य वा नियुज्यत, न शूद्रम् । यथाह कारवायन—'ब्राह्मणो यत्र न स्यात् क्षत्रिय तत्र योजयत् । वैश्य वा धर्मशास्त्रं शूद्र यत्नेन वर्जयत् ॥' इति । नार-देन स्वयमेव सुरयो दर्शित—'धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थित । अमाहितमति पश्यन्व्यवहाराननुकमात् ॥ इति । प्राड्विवाकमते स्थितो न स्वमते स्थित, राजा चारक्षुष्या परसैन्यं पश्यतीतिवत् । तस्य चेदं योगिकी सज्ञा अधिप्रार्थयिषी पृच्छतीति प्राट्, तयोर्वचन विरुद्धमविरुद्धं च सभ्यै सह विवि-नक्ति विवेचयति वेति विवाक, प्राट् चामौ विवाकश्च प्राड्विवाकः<sup>१</sup> उक्तं च—'विवादानुगतं पृष्ट्वा ससम्पत्प्रयत्नः । विचारयति येनासौ प्राड्विवाकरतत स्मृत ॥' इति ॥ ३ ॥

भाषा—किसी कार्यवश ( या अस्वस्थता आदि से ) व्यवहार न देख सकने पर राजा को सभासदों के साथ सभी धर्मों को जानने वाला, ब्राह्मण हम कार्य के लिए नियुक्त करना चाहिए ॥ ३ ॥

प्राड्विवाकादयः सभ्या यदि रागादिना स्मृत्यपेत व्यवहार विचारयन्ति नदा राजा किं कर्तव्यमित्यत आह—

रागाह्याभाद्भयाद्वाऽपि स्मृत्यपेतादिकारिणः ।

सभ्या पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम् ॥ ४ ॥

अपि च, पूर्वोक्ता सभ्या रजसो निरङ्कुशत्वेन तदभिभूता रागास्नेहानि-शयाहोभास्त्रिभ्यातिशयाद्भयात्सन्नामास्मृत्यपेत स्मृतिविरुद्ध, 'आदि' शब्दादा-चारापेत कुर्वन्त पृथक्पृथगैकैकशो विवादाद्द्विवादात्पराजयमित्तादमाद्द्विगुण दम दण्ड्या, न पुनर्विवादास्पर्दीभूत्वाद् द्रव्यात् । तथा सति स्त्रीसप्रदणादिषु ३ दण्डाभावप्रसङ्गः । रागलोभभयानामुपादानं रागादिष्वेव द्विगुणो दमो नाशान-

१ एवप्रतया । २ धर्मान् शास्त्रोक्तान् । ३ ब्राह्मण एव । ४ विविक्त विवेचयति वा ।

'मोहादिष्विति नियमार्थम् । नच 'राजा सर्वैरेष्टे प्राक्षणवर्जम्' ( १११ )  
 'इति गीतमवचनास' प्राक्षणा दण्ड्या इति मन्तव्यम् ; तस्य प्रदांतापवात् ॥  
 पक्ष 'पदिभः परिहायो राजाऽक्षयखावन्यखादृष्टप्रधाबहिष्कार्यप्रपरीवाद्यपरि-  
 हार्यम्' ( गौ. ८, १२-१३ ) इति, तदपि 'स पृथ बहुधृतो भवति लोकवेदवे-  
 दाङ्गविद्याकीर्षावपेतिहासपुराणकुशलस्तवेषस्तद्वृत्तिसाष्टचारिशासंस्कारैः सं-  
 स्कृतस्त्रियु कर्मस्वभिरतः पदसु वा सामयाचारिकेष्वभिवितीत' ( गौ. ८-  
 ११ ) इति, प्रतिपादितयदुक्तविषयं; न प्राक्षणाप्रविषयम् ॥ ४ ॥

भाषा—( किसी के प्रति ) रनेह, लोभ या भय के वशीभूत होकर  
 व्यवहार में धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले समासदों से उस विवाद के  
 परामर्श के निमित्त जितना प्रश्न हो उसके ह्युना इत्य धृषक् धृषक् दण्डस्वरूप  
 लेना चाहिये ॥ ४ ॥

**व्यवहारविषयमाह—**

स्मृत्याश्चरव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः ।  
 आवेदयति चेद्वाञ्छे व्यवहारपदं हि तत् ॥ ५ ॥

'धर्मशास्त्रमसाधारविरुद्धेन मार्गेण परैराधर्षितोऽभिभूतो यद्वाञ्छे प्रादि वाकाय  
 श' आवेदयति विज्ञापयति चेद्यदि, तद्वाञ्छेमानं व्यवहारपदं प्रतिज्ञोत्तरसशय-  
 त्तुपरामर्शप्रमाणनिर्णयप्रयोजनात्मको व्यवहारस्तस्य पदं विषयः । तस्य चेदं  
 सामान्यलक्षणम् । स च द्विविधः—कङ्कामियोगस्तथाभियोगश्चेति । यथाह  
 रदः ( १।२७ )—'अभियोगस्तु विशेषः कङ्कामिवाभियोगतः । कङ्काऽ-  
 तां तु संतर्पात्तत्वं होद्यमिदर्शनात् ॥' इति । होद्य लोप्लं, लिङ्गमिति  
 ।वत् । तेन दर्शनं, साद्याद्वा दर्शनं होद्यमिदर्शनं तस्मात् । तस्वाभियोगोऽपि  
 ।विधः—प्रतिषेधात्मको विषयारम्भश्चेति । यथा—'मत्तो हिरण्यादिकं गृहीत्वा'  
 न प्रयच्छति', 'क्षेत्रादिकं समावसपहरति' इति च । उक्तं च कात्यायनेन—  
 'न्याय्यं स्वं मेच्छते कर्तुमन्दाय्यं वा करोति यः' इति । स पुनश्चाष्टादशधा  
 भिद्यते । यथाह मनुः ( ८।४-७ )—'क्षेपामाद्यमृणादानं निषेपोऽस्वामिविक्रयः ।  
 संभूय च समुत्थानं दत्तस्वानपकर्म च ॥ चेतनस्यैव चाऽऽदानं सविद्व-  
 ष्यतिक्रमः । क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ स्त्रीमाचिवादधर्मश्च  
 पारुष्ये दण्डयाचिके । स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंप्रहणमेव च ॥ स्त्रीपुंसोर्मो  
 विनायश्च द्यूतमाह्वय एव च । पश्याम्यष्टादशैवानि व्यवहारस्विताविह ॥' इति ॥

१. न प्राक्षणां दण्ड्य इति । २. राजा चक्षयखावन्यस्य । ३. वेदाङ्ग-  
 विद्यावेतिहास । ४. सामयाचार ।

एतान्यपि साध्यभेदेन पुनर्बहुत्वं गतानि । यथाह नारदः ( ११२० )—'एवामे  
 प्रभेदोऽन्यः शतमष्टोत्तरं भवेत् । क्रियाभेदान्मनुष्याणां शतशास्त्रो निगद्यते ॥  
 इति ॥ 'आवेदयति चेद्वाज्ञे' इत्यनेन स्वयमेवागारयावेदयति, न राजप्रेरितस्तत्पुरु  
 षप्रेरितो वेति दर्शयति । यथाह मनुः ( ८१४३ )—'नोत्पादयेत्स्वयं का  
 राजा वाप्यस्य पूरुषः । नच प्रापितमन्येन प्रसेतार्थं कथंचन ॥' इति ।  
 परैरिति परेण पराम्णा परैरित्येकस्यैकन द्वाम्णा बहुभिर्वा व्यवहारो भवतीति  
 दर्शयति ॥ अस्पुनः—'एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीणां प्रेषजनस्य च । अनादेवं  
 भवेद्वादो धर्मविद्विरुदाहृतः ॥' इति नारद ( कार्त्वायन ? ) पञ्चनं, तद्विद्वत्सा  
 ध्यद्वयविययम् । 'आवेदयति चेद्वाज्ञे' इत्यनेनैव राजा पृष्टो विनीतयेव आवेद  
 येत् । आवेदितं च युक्तं चेन्मुद्रादिना प्रत्यर्थाह्वानमकववादीनां चानाह्वानमित्या  
 धार्थसिद्धमिति नोक्तम् । स्मृत्यन्तरे तु स्पष्टार्थमुक्तम् । यथा 'काले कार्याधिनिं  
 पृच्छेद् गृणन्तं पुरतः स्थितम् । किं कार्यं का च ते पीडा मा भैरीर्त्रहि मानव ॥  
 केन कस्मिन्कदा करमापृच्छेदेव समागतम् । एव पृष्टः स पद्मपारस सम्प्री-  
 क्षणैः सह ॥ विमृश्य कार्यं न्याय्य चेदाह्वानार्थमतः परम् । मुद्रा वा निक्षिपेत्-  
 शिमन्पुरुषं वा समादिशेत् ॥' अकल्पवालस्यविरविपमस्यत्रिय्याकुलान् । कार्याति-  
 पातिव्यसनिनृपकार्योत्सवाकुलान् । मत्तोमत्तप्रमत्तार्ताभ्र्यासाह्वानयेन्नुपः ॥ न  
 हीनवर्षा युवति कुले जातां प्रसूतिकाम् । सर्ववर्णोत्तमां कन्यां वा ज्ञातिप्रभुकाः  
 स्मृता ॥ तदधीनकुटुम्बिन्यः स्वैरिण्यो गणिकाश्च याः । निष्कुला याश्च पतिता-  
 स्तासामाह्वानमिष्यते ॥ काल देशं च विज्ञाय कार्याणां च बलाबले । अकववादी-  
 नेपि शनैर्दानैराह्वानयेन्नुपः ॥ ज्ञात्वाभियोग येऽपि स्युर्वने प्रयजितादयः । तान-  
 प्याह्वानयेद्वाजा गुरुकार्येष्वकोपयन् ॥' इति । आसेधव्यवस्थाप्यर्थासिद्धैव  
 नारदेनोक्ता ( ११४७ ५३ )—'वक्तव्येऽर्थे द्यतिष्ठन्तमुक्तामस्तं च तदूच ।  
 आसेधयोद्दिवादर्थां यावदाह्वानदर्शनम् ॥ स्थानासेधः कालकृतः प्रयासात्कर्मग-  
 स्तथा । अतुर्विधः स्यादासेधो नासिद्धत्वं विलह्येत् ॥' आसेधकाल आसिद्ध  
 आसेधं योऽनिवर्तते । स विनेयोऽन्यथाकुर्वन्नासेधो दण्डमागमयेत् ॥ नदीम-  
 स्तारकान्तारदुर्देशोपप्लवादिषु आसिद्धत्वं परासेधमुत्सामन्त्रापरास्पुन्यात् ॥ निर्वे-  
 ष्टुकामो रोगार्तो विपन्नधर्मसने स्थितः । अभियुक्तस्तथाऽन्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥  
 यथा प्रचारे गोपालाः सस्यावापे कृषीबलाः । निक्षिपन्त्रापि तत्कालमायुधीयाश्च  
 विप्रहे ॥' इति । आसेधो राजाज्ञयाऽपरोधः । अकल्पवादिषः पुत्रादिकमग्नं वा  
 सुहृदं प्रेषयेयुः, नच ते परार्थवादिनः, 'यो न भ्रमा न च दिता न पुत्रो न

नियोगकृत् । परार्थवादी दण्डयः स्याद्व्यवहारेषु विमुच्यन् ॥<sup>१</sup> (२।२३) इति  
नारदनचनात् ॥ ५ ॥

भाषा—यदि धर्मशास्त्र और समय के आचार के विरुद्ध टंग से दूरी  
द्वारा पीडित होकर राजा निवेदन करे तो वह व्यवहार का विषय होत  
है ॥ ५ ॥

प्रत्यर्थिनि मुद्रालेख्यपुरुषाणामभ्यतमेनानीते किं कुर्यादित्यत आह—  
प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना ।  
समामासतदर्घाहर्नामजात्यादिचिह्नितम् ॥ ६ ॥

अर्थेति इत्यर्थः साध्यः, सोऽस्यास्तीत्यर्थः, तत्प्रतिपक्षं प्रत्यर्थी, तस्याग्रतः  
पुरतो लेख्यं लेखनीयम् । यथा येन प्रकारेण पूर्वमावेदनकाले आवेदितं  
तथा, न पुनरभ्यधा, अभ्यधावादिश्वेन व्यवहारस्य—भङ्गप्रसङ्गात् ।—'अभ्यधादी  
क्रियाद्वेषो नोपस्थाता निरुत्तरः । 'आहुतः प्रवलापी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥'  
( नारदः २।३३ ) इति । आवेदनकाले पूर्वार्तिवचनेभ्य लिखितस्वापुनर्लेखन-  
मनर्थकमित्यत आह—समामासेत्यादि । सर्वस्वरमासपक्षतिथिवारादिना-  
मर्थिप्रत्यर्थिनामप्राज्ञणजात्यादिचिह्नितम् । 'आदि' चाद्वेन द्रव्यतःसव्यास्थान-  
धेलासुमालिङ्गादीनि गृह्यन्ते ॥ यथोक्तम्—'अर्थपक्षमर्तंशुर्षं परिपूर्णमनाकुलम् ।  
साध्यवद्वाचकपदं प्रकृतार्थानुयन्धि च ॥ प्रसिद्धमविरुद्धं च निश्चितं सापने-  
क्षमम् । रुचिस्त निहितार्थं च देशकालानिरोधि च । सर्वर्तुमामपचाहोवैश्वदेस-  
प्रदेशावत् । स्थानाद्यसथसाध्याख्याजात्याकारप्रयुक्तम् ॥ साधवप्रमाणवश्यावदा-  
रमप्रत्यर्थिनामवत् । परामपूर्वज्ञानेकराजनामभिरङ्कितम् ॥ समालिङ्गाःसर्षादाव-  
ःकथिताहर्तुदायकम् । यदावेदयते राजे तज्जापेयमिधीयते ॥' इति । भाषा 'प्रतिज्ञाः  
'पक्ष' इति नार्थाःतरम् । आवेदनसमये कार्यमात्रं लिखितं प्रत्यर्थिनोऽग्रतः समा-  
मासादिविदिष्टं लिख्यत इति विशेषः । सर्वस्वरविशेषण यद्यपि सर्वव्यवहारेषु  
नोपयुज्यते, सर्वोद्देशिप्रतिग्रहकालेषु निर्णयार्थमुपयुज्यते; आधी प्रतिग्रहे कृते  
पूर्वांशु यत्नवत्तरा' इति वचनात् । अर्थव्यवहारोऽपि एवस्मिन्सव्यसरे यदाव्याकं  
रद्द्रव्यं यतो येन गृहीतं प्रत्यर्थितं च पुनरभ्यस्मिन्सव्यसरे तद्द्रव्यं तस्मिन्वाप तत्त-  
तेन गृहीतं, यावमानो यदि द्रव्याप्यायं गृहीतं प्रत्यर्थितं वेति । यदाव्याकं  
गृहीतं प्रत्यर्थितं नास्मिन्सव्यसरे द्रापुपयुज्यते । एव नावाप्यपि षोडशम् । दत्त-  
यानादयः पुनः स्वावरेष्वेवोपयुज्यन्ते—'देशश्चैव तथा स्थानं सनिवेदास्तर्कं च ।

जातिः मंज्राऽधिवासश्च प्रमाणं क्षेत्रनाम च ॥ पितृपैतामहं चैव पूर्वराजानुकीर्त-  
नम् । स्थावरेषु विवादेषु दशैतानि निवेशयेत् ॥ इति स्मरणात् । देशो मध्य-  
देशादिः । स्थानं वाराणस्यादि । संनिवेशः तत्रैव पूर्वापरद्विग्विभागपरिच्छिन्नः  
सम्यङ्निवेशो गृहक्षेत्रादिः । जातिः अर्थिप्रत्यर्थिनोर्प्राङ्गणत्वादिः । संज्ञा च देव-  
दत्तादिः । अधिवासः समीपदेशनिवासी जनः । प्रमाणं निवर्तनादि भूपरिमाणम् ।  
क्षेत्रनाम शालिक्षेत्र ऋमुक्क्षेत्रं कृष्णभूमः पाण्डुभूमः इति । पितुः पितामहस्य च  
नामार्थिप्रत्यर्थिनोः पूर्वेषां श्रयाणाम् । राज्ञां नामकीर्तनं चेति । समामासादीनां  
परिमन् व्यवहारो यावदुपयुज्यते तत्र तावत्क्षेत्रनीयमिति तात्पर्यार्थः । एव पञ्च-  
लक्षणे स्थिते पञ्चलक्षणरहितानां पञ्चवदवभासमानानां पञ्चाभासस्य सिद्धमेवेति  
योगीश्वरेण न पृथक्पञ्चाभासा उक्ताः । अन्यैस्तु विस्पष्टार्थमुक्ताः ।—अप्रसिद्धं  
निराबाध निरर्थं निष्प्रयोजनम् । असाध्य वा विरुद्धं वा पञ्चाभासं विजर्जयेत् ॥  
इति । अप्रसिद्धं 'मदीयं शशविषाणं गृहीत्वा न प्रयच्छति' इत्यादि । निराबाधं  
अस्मद्गृहक्षेत्रप्रकाशनाय स्वगृहे व्यवहरतीत्यादि । निरर्थं अभिधेयरहितं कण-  
टनपगजद्वयेत्यादि । निष्प्रयोजनं यथा—अथ देवदत्तोऽस्मद्गृहसनिधौ सुस्वरभ-  
धीत इत्यादि । असाध्यं यथा—अहं देवदत्तेन सभ्रूमङ्गमुपहमित इत्यादि । एतत्सा-  
धनासंभवात्साध्यम् । अत्रकालत्वाच्च साक्षिसमयो लिखितं दूरतोऽवस्थास्य  
दिव्यमिति । विरुद्धं यथाह मूकेन शश इत्यादि । पुरराट्प्रादिविरुद्धं वा—'राज्ञा  
विवर्जितो यश्च यश्च पौरविरोधकृत् । राष्ट्रस्य वा समस्तस्य प्रकृतीनां तथैवे च ॥  
अन्ये वा ये पुरप्राममहाजनविरोधकाः । अनादेशास्तु ते सर्वे व्यवहाराः प्रकी-  
र्तिताः ॥' इति ॥ यत्तु—'अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो न सिद्धयति' इति, तत्र  
यद्यनेकवस्तुसंकीर्णं इत्युच्यते, तदा न दोषः, मदीयमनेन हिरण्यं वामो रूप-  
कादि वाऽपहृतमित्येवंविधस्यादुष्टत्वात् । श्रृणादानादिपदसक्रे पञ्चाभास इति  
चेत्तदपि न । मदीया रूपका अनेन वृद्धया गृहीताः सुवर्णं चास्य हस्ते निशि-  
प्तम्, मदीयं क्षेत्रमयमपहरतीत्यादीनां पञ्चावमिष्यत एव । किंतु क्रियाभेदात्क-  
मेण व्यवहारो न युगपदिष्येतावत् ॥ यथाह कात्यायनः—'बहुप्रतिज्ञं यस्कार्यं  
व्यवहारो सुनिश्चितम् । कामं तदपि गृहीत्वा राजा तत्रैव भुजसया ॥' इति तस्मा-  
दनैकपदसंकीर्णं पूर्वपक्षो युगपच्च सिद्धयतीति तस्यार्थः । अर्थिप्रहणार्पुत्रपित्रादि  
प्रहणं तेषामेकार्थत्वात् । नियुक्तस्यापि नियोगेनैव तदेकार्थत्वाच्चेत् ॥  
—'अधिनः सनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रहितोऽपि वा । यो यस्यार्थे विवदते तथोर्जय  
पराजयौ ॥' इति स्मरणात् नियुक्तजयपराजयौ मूलस्वामिनोरेव । एतच्च भूमौ  
फलके वा पाण्डुत्वेन लिखित्वा भावापोद्गारेण विशोभितं पञ्चापत्रे निवेशयेत् ।



पूर्वपक्षं स्वमाद्योक्तं प्रादिषवाकोऽभिलेखयेत् । पाण्डुलेखेन फलके ततः पत्रे  
विशोध्यतम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । शोधनं च यावदुत्तरदर्शनं कर्तव्य  
नातः परम् । अनवस्थाप्रसङ्गात् । अतएव नारदेनोक्तम्—'शोधयेत्पूर्ववादं तु  
यावदुत्तरदर्शनम् । अथष्टम्यस्योत्तरेण निवृत्तं शोधनं भवत् ॥' इति । पूर्वपक्षम-  
शोधयित्वा यदोत्तरं दापयन्ति सम्यास्तदा 'रागाहोभात्' इत्युक्तदृष्टेन  
सम्यान्दण्डयित्वा पुनः प्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारः प्रवर्तनीयो राज्ञेति ॥ ६ ॥

भाषा—पहले प्रथमी, ( प्रतिपत्नी, प्रतिवादी या मुद्दई ) के विषय में  
अर्थी ( वादी, मुद्दालेह ) द्वारा पहले बताया गया ( अभियोग ) लिखे, और  
उसके आगे वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदि अङ्कित करे ॥ ६ ॥

एवं शोधितपत्रारूढे पूर्वपक्षे किं कर्तव्यमित्यत आह—

श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वाधिदकसंनिधौ ।

श्रुतो भाषार्थो येन प्रत्यर्थिनाऽसौ श्रुतार्थः, तस्योत्तरं पूर्वपक्षादुत्तरत्र  
भवतीत्युत्तरं लेख्यं लेखनीयम् । पूर्वाधिदकस्यार्थिनः संनिधौ समीपे उत्तरं च  
यत्पूर्वोक्तस्य निराकरणं तदुच्यते । यथाह—'पक्षस्य व्यापकं सारमसंदिग्धमना-  
कुलम् । अस्यापवागममित्येतदुत्तरं तद्विदो विदुः ॥' इति पक्षस्य व्यापकं  
निराकरणसमर्थम् । सारं न्याय्यं न्यायादनयेत् । असंदिग्धं संदेहरहितम् ।  
अनाकुलं पूर्वापराविद्वद्म् । अस्यापवागम्यं अप्रसिद्धपक्षप्रयोगेण दुरिष्ट-  
विभक्तिमत्साक्षात्प्राहाराभिधानेन वा अन्यदेवाभाषाभिधानेन वा यद् व्याख्येयार्थं  
न भवति तत्सदुत्तरम् ॥ तस्य अनुविधम्—संनिधौपत्तिः, मिथ्या, प्रत्यक्षकन्दनं पूर्व-  
न्यायश्चेति । यथाह कात्यायनः—'सत्यं मिथ्योत्तरं चैव प्रत्यक्षकन्दनं तथा । पूर्वं  
न्यायविधिश्चैवमुत्तरं स्यात्पक्षानुविधम् ॥' इति । तत्र सत्योत्तरं यथा—'रूपककृतं  
मद्यं धारयति' इत्युक्ते 'सत्यं धारयामि' इति । यथाह—'साध्यस्य साध्यवधनं  
प्रतिपत्तिरुदाहृता' इति । मिथ्योत्तरं तु नाहं धारयामीति । तथा च कारवायन—  
'अभियुक्तोऽभिपोगस्य यदि कुर्यात्पक्षवम् । मिथ्या तस्य विप्रानीयादुत्तरं  
व्यवहारतः ॥' इति ॥ तस्य मिथ्योत्तरं अनुविधम्—'मिथ्यैतत्प्राभिजातानि तदा  
तत्र न मनिधि । अजातमास्मि ताकाळ इति मिथ्या अनुविधम् ॥' इति ।  
प्रत्यक्षकन्दनं नाम 'मध्य गृहीतं प्रतिदत्तं प्रतिग्रहेण लब्धम्' इति वा । यथाह  
नारदः—'अर्थिना लिखितो योऽर्थः प्रथमी यदि त तथा । प्रत्यक्ष कारणं प्रयात्  
प्रत्यक्षकन्दनं सृष्टम् ॥' इति । प्राच्यायोत्तरं तु यत्राभियुक्त एव प्रयात्  
'अस्मिन्नर्थेऽनेनाहंमैतुच्छरतत्र चाप व्यवहारमार्गेण पराजित' इति । उक्तं

य कात्यायनेन—'भाषारेणावसन्नोऽपि पुनर्ल्लेख्यते यदि । सोऽभिधेयो जितः  
 पूर्वं प्राङ्ग्यायस्तु स उच्यते ॥' इति । एवमुत्तरलक्षणे स्थिते उत्तरलक्षणरहिताना-  
 नामुत्तरवदवभासमानानामुत्तराभासत्वमर्थसिद्धम् । स्पष्टीकृतं च स्पष्टयन्तरे—  
 'सदिग्धमन्यप्रकृतादत्यल्पमतिभूरि च । पक्षैकदेशव्याप्यन्यत्तथा नैवोत्तरं  
 भवेत् ॥ यद्व्यस्तपदमप्यापि निगूढार्थं तथाकुलम् । व्याख्यागम्यमसारं च नोत्तरं  
 स्वार्थसिद्धये ॥ इति । तत्र संदिग्ध—'सुवर्णशतमनेन गृहीतमित्युक्ते 'सत्यं  
 गृहीतं सुवर्णशतं माषशतं वे'ति । प्रकृतादन्यद्यथा—'सुवर्णशताभियोगे पणशतं  
 धारयामी'ति । अत्यल्पं—'सुवर्णशताभियोगे पणशतं धारयामी'ति । अति-  
 भूरि—'सुवर्णशताभियोगे द्विशतं धारयामी'ति । पक्षैकदेशव्यापि—'हिरण्य-  
 वस्त्राद्यभियोगे हिरण्यं गृहीतं नान्यदि'ति । व्यस्तपद—'ऋणादानाभियोगे  
 पदान्तरेणोत्तरम्, यथा 'सुवर्णशताभियोगे अनेनाह ताडित' इति । अद्यापि—  
 देशस्थानादिविशेषणव्यापि यथा—'मध्यदेशे वाराणस्यां पूर्वस्थां दिशि  
 क्षेत्रमनेनापहत'मिति पूर्वपक्षे लिखिते, 'क्षेत्रमपहतमि'ति । निगूढार्थं यथा—  
 'सुवर्णशताभियोगे किमहमेवास्मै धारयामी'त्यत्र 'धनिना प्राङ्'विवाक. सम्भ्यो  
 वा अर्थी वा अन्यस्मै धारयतीति सूचयतीति निगूढार्थम् । आकुल पूर्वापरविरुद्ध  
 यथा—'सुवर्णशताभियोगे कृते, सत्यं गृहीतं न धारयामी'ति । व्याख्यागम्यं—  
 दुःश्लिष्टविभक्तिममाससाप्याहाराभिधानेन व्याख्यागम्यम्, अदेशभाषाभिधानेन  
 वा । यथा—'सुवर्णशतविषये पितृऋणाभियोगे, 'गृहीतशतवचनात् सुवर्णानां  
 पितुर्न जानामी'ति । अत्र गृहीतशतस्य पितुर्द्वचनात् 'सुवर्णानां शतं गृहीत-  
 मि'ति न जानामीति । असार—'न्यायविरुद्ध, यथा 'सुवर्णशतमनेन वृद्धया  
 गृहीतं वृद्धिरेव दत्ता न मूल'मित्यभियोगे, 'सत्यं वृद्धिर्दत्ता न मूलं गृहीत'  
 मिति । उत्तरमित्येकवचननिर्देशादुत्तराणां सवरो निरस्तः । यथाह कात्यायन—  
 'पक्षैकदेशे यत्सत्यमेकदेशे च कारणम् । मित्या चैवैकदेशे च सकरात्तदनुत्तरम् ॥'  
 इति । अनुत्तरस्य च कारणं तेनैवोक्तम्—'न चैकरिमन्दिवादे तु क्रिया  
 स्याद्वादिनोद्भवो' । न स्वार्थसिद्धिरुभयोर्न चैकत्र क्रियाद्वयम् ॥' इति ।  
 मित्याकारणोत्तरयोः संकरे अर्थिप्रत्यर्थिनोद्भवोरपि क्रिया प्राप्नोति—'मित्या  
 क्रिया पूर्वावादे कारणे प्रतिवादिनि' इति स्मरणात् । तदुभयमेकरिमन्धवहारे-  
 विरुद्धम् । यथा—'सुवर्णं रूपकशतं चानेन गृहीत'मित्यभियोगे, 'सुवर्णं न  
 गृहीतं, रूपकशतं गृहीतं प्रतिदत्त चे'ति । कारणप्राङ्ग्यायसकरे तु प्रत्यर्थिन  
 एव क्रियाद्वयम्—'प्राङ्ग्यायकारणोक्ती तु प्रत्यर्थी निर्दिशोक्तिवाम्' इति । तथा  
 सुवर्णं गृहीतं प्रतिदत्त,—'रूपके व्यवहारमार्गेण पराजित' इति । अत्र च प्राङ्

न्याये जयपत्रेण वा प्राह्न्यापदशिभिर्वा भाषीयताम्यम्, कारणोक्तौ तु सावित्रेषुवादिभिर्भाषयितव्यमिति विरोधः । एवमुत्तरत्रयसंकरेऽपि द्रष्टव्यम् । यथा—'अनेन सुवर्णं रूपकणतं वस्त्राणि च गृहीतानीत्यभियोगे, 'सत्यं सुवर्णं गृहीतं प्रतिषेधं रूपकणतं न गृहीतं, वस्त्रविषये तु पूर्वस्यापेन पराजितः' इति । एवं चतुः-संकरेऽपि । एतेषां चानुत्तरार्थं यौगपद्येन तस्य तस्यांशस्य तेन तेन त्रिनाऽसिद्धेः प्रमेणोत्तरस्यमेव । क्रमश्चाद्यिनः प्रत्यर्थिनः सख्यानां चेच्छ्रया भवति । यत्र पुनरुभयोः संकरे तत्र तस्य प्रमृतार्थविषयाय तत्क्रियोपादानेन पूर्वं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः, पश्चाद्द्रव्यविषयोत्तरोपादानेन च व्यवहारो द्रष्टव्यः । यत्र तु संप्रतिपत्तेरन्तरस्य च संकरस्तत्रोत्तरान्तरोपादानेन व्यवहारो द्रष्टव्यः । सप्तमिदानीं क्रियाभावात् ॥ यथा हारीतेन—'मिथ्योत्तरं कारणं च स्वातामेकत्र चेदुभे । तस्यं चापि सहान्येन तत्र प्राज्ञं किमुत्तरम् ॥' इत्युक्तोक्तम्—'यत्प्रमृतार्थविषयं यत्र वा स्वातिक्रियाकलम् । उत्तरं तत्र तज्ज्ञेयमसंकीर्णमतोऽन्यथा ॥' संकीर्णं भवतीति शेषः । शोषोपेक्षया ऐच्छिकक्रमं भवतीत्यर्थः । तत्र प्रमृतार्थं यथा—'अनेन सुवर्णं रूपकणतं वस्त्राणि च गृहीतानीत्यभियोगः 'सत्यम्, सुवर्णं रूपकणतं च न गृहीतं, वस्त्राणि तु गृहीतानि प्रतिदत्तानि चे'ति । अत्र मिथ्योत्तरस्य प्रमृतविषयावार्थिनः क्रियामादाय प्रथमं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः पश्चाद्द्रव्यविषयो व्यवहारः । एवं मिथ्याप्राह्न्यापसंकरे कारणमाह्न्यापसंकरे च योजनीयम् । तथा तस्मिन्नेवाभियोगे, 'सत्यं सुवर्णं रूपकणतं च गृहीतं प्रति दास्यामि, वस्त्राणि तु न गृहीतानि, गृहीतानि प्रतिदत्तानी'ति वा वस्त्रविषये पूर्वं पराजित इति चोत्तरे सप्तमिपत्तेर्भूरिविषयावेऽपि तत्र क्रियाभावान्मिथ्या-नुत्तरक्रियामादाय व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः । यत्र तु मिथ्याकारणोत्तरयोः कृत्स्न-पञ्चपापिधं यथा—'शुद्धप्रादिकतया कश्चिद्द्रवति 'इयं गौर्मदीया अमुकस्मिन्काले नष्टा, अक्षरस्य गृहे दृष्टे'ति । अन्यस्तु 'मिथ्यैतत्, प्रेक्षितकालात्पूर्वमेवास्मद्गृहे स्थिता मम गृहे जाता वे'ति वदति । इदं तावत्पञ्चमिराकरणममर्थेवाज्ञानुत्तरम् । नापि मिथ्यैव; कारणोपन्यासात् । नापि कारणम् ; एकदेशस्थाप्य-श्रुपगमाभावात् । तस्मात्संकारणं मिथ्योत्तरमिदम्—अत्र च प्रतिवादिनः क्रिया, 'कारणे प्रतिवादिनि' इति बध्नात् ॥ ननु 'मिथ्या क्रिया पूर्ववादे' इति पूर्ववा-दिनः कस्मात्क्रिया न भवति ? तस्य शुद्धमिथ्याविषयात् । 'कारणे प्रति-वादिनी'त्येतदपि कस्माच्छुद्धकारणविषयं न भवति । नैतत् ; सर्वस्यापि कारणो-त्तरस्य मिथ्यामहत्वरितरूपस्याच्छुद्धकारणोत्तरस्याभावात् ॥ प्रसिद्धकारणोत्तरे

१. कारणोत्तरे तु । २. प्रतिदास्यामि । ३. ऐच्छिकक्रममपेक्षाक्रमं भवतीत्यर्थः । ४. ऐच्छिकः क्रमो भवतीत्यर्थः । ५. एतत्प्रदर्शितं ।

प्रतिज्ञातार्थकदेशस्याप्यभ्युपगमेनैकदेशस्य मिथ्यात्वम्—यथा 'सत्य रूपज्ञान गृहीत न धारयामि प्रतिदत्तत्वादिनि । प्रकृतोदाहरणे तु प्रतिज्ञातार्थकदेश स्याप्यभ्युपगमो नास्तानि विशेष ॥ एतच्च हारातेन स्पष्टमुक्तम्—'मिथ्या कारणयोर्वापि प्राह्य कारणमुत्तरम् इति । यत्र मिथ्याप्राह वाच्यो पक्षवापि स यथा— रूपकगत धारयतीत्यभियोगे मिथ्यैतदस्मिन्नर्थे पूर्वमप्य परान्वित ' इति । अत्रापि प्रतिवादिन एव क्रिया प्राह्यापकारणोक्ती तु प्रत्यर्थी निर्दिष्टा क्रियाम् इति वचनात्, शुद्धस्य प्राह्यापकारणोक्तीनुत्तरत्वप्रसङ्गत्, सप्रति पक्षरपि साध्यत्वेनोपदिष्टस्य पक्षस्य सिद्धत्वेनोपघातेन साध्यत्वनिराकरणे देवोत्तरत्वम् । यदा तु कारणप्राह्यापसंकर यथा—'ज्ञानमनेन गृहीतमि प भियुक्त प्रतिवदति सत्य गृहीत प्रतिदत्त चेत्यस्मिन्नेवार्थे प्राह्यापनाथ परान्वित ' इति । तत्र प्रतिवादिना यथाकथीति न कश्चिद्वादिप्रतिवादिनारेक स्मि स्यवहारे क्रियाद्वयप्रसङ्ग इति निर्णय ॥

एवमुत्तरे पत्रे नियतित साध्यविद्धेः साधनाद्यत्वात्साधननिर्देश क कुर्यां द्वित्यपचित आह—

ततोऽर्था लेखयेत् सद्य प्रतिज्ञातार्थसाधनम् ॥ ७ ॥

तत उत्तरान्तरम् अर्था साध्यवान् सद्य एवान्तरमेव प्रतिज्ञातार्थ साधन लेखयेत् । प्रतिज्ञात साध्य स चाभावध्वनि प्रतिज्ञातार्थ तस्य साधन साध्यतेऽनेनति साधन प्रमाणम् । अत्र 'सद्य लेखयेत् इति वदतोत्तराभिधाने कालविलम्बनमप्यङ्गीकृतमिति गण्यते । तच्चोत्तरत्र विषयविव्यते । अर्था प्रतिज्ञातार्थसाधन लेखयदिति वदता यत्र साध्यमस्ति स प्रतिज्ञातार्थसाधन लेखयदित्युक्त, अतश्च प्राह्यापस्यैव प्राह्यापकारणोक्ती साध्यत्वात्प्राह्यापकारणोक्ती आत् इति स एव साधन लेखयेत् । कारणोत्तरादि कारणस्यैव साध्यत्वात्कारण योचेवार्थोति स एव लेखयेत् । मिथ्यात्वे तु पूर्ववाच्येवार्था स एव साधन निर्दिष्टेत् । ततोऽर्था लेखयेदिति वदता अर्थेव लेखयद्यथ इत्युक्तम् । अतश्च सप्रतिवाद्युत्तरे साध्यासाधन भावेत्तरत्वादिन द्वंद्वोरप्यर्थितान्साधननिर्देश एव भारतंति तावत्तैव व्यवहार परिमत्प्यत इति गण्यते । एतदेव हारातेन स्पष्टमुक्तम्—'प्राह्यापकारणोक्ती तु प्रत्यर्थी निर्दिष्टेऽप्युक्तम् । मिथ्योक्ती एववादी तु प्रतिवत्ती न सा भवत् ॥ इति ॥ ७ ॥

भाषा—प्रथमी द्वारा सुनी हुई बात और उमका उत्तर अर्था को उपरिघात में लिखता । (उत्तर क बाद) अर्था अभिप्राय को सिद्ध करने वाला प्रमाण तत्काल लिखे ॥ ७ ॥

ततः किमिष्यत आह—

तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा ।

तस्य साधनस्य प्रमाणस्य व्यवहाराणल्लिखितसाध्यादिलक्षणस्य सिद्धौ निर्धृत्तौ सिद्धिं साध्यस्य जयलक्षणां प्राप्नोति । अतोऽस्मात्प्रकारादन्यथा प्रका-  
रात्तरेण साधनादिदौ विपरीतं साध्यस्यासिद्धिं पराजयलक्षणमाप्नोतीति  
संबन्धः ॥

एवं व्यवहाररूपमभिधायोपसंहरति—

चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विधादेवमुपदर्शितः ॥ ८ ॥

'व्यवहारान्नुपः परयेत्' ( १७० १ ) इत्युक्तौ व्यवहारः सोऽपमित्यं चतु-  
ष्पादचतुरंशवृत्तनया विधादेवु ऋणादानादिपूपदर्शितो वर्णितः । तत्र 'प्रत्यधि-  
नोऽप्रतो हेतव्ये' इति भाषापादः प्रथमः । 'धृतार्थस्योत्तरं लेख्यम्' इत्युत्तरपादो  
द्वितीयः । ततः 'अर्थो लेख्योऽसद्यः' इति क्रियापादस्तृतीयः । 'तत्सिद्धौ सिद्धिमा-  
प्नोति' इति साध्यसिद्धिपादश्चतुर्थः । यथोक्तम्—'परस्परं मनुष्याणां स्वार्थवि-  
प्रतिपत्तिषु । वाक्यन्यायाद्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः ॥ भाषोत्तरक्रियासाध्य-  
सिद्धिमिः ऋमवृत्तिभिः । आक्षिप्तचतुरंशस्तु चतुष्पादभिधीयते ॥' इति । समति-  
पचतुरे तु साधनानिर्देशाद्भाषापादस्यासाध्यत्वाच्च न साध्यसिद्धिलक्षणः पादोऽ-  
स्तीति द्विपादत्वमेव । उत्तरामिधानानन्तरं सम्मानामर्थिप्रत्यधिनोः कस्य क्रिया  
स्वादिति परामर्शलक्षणस्य प्रत्याकलितस्य योगीश्वरेण व्यवहारपादत्वेनानभि-  
धानाद् व्यवहर्तृसंबन्धाभावाच्च न व्यवहारपादत्वमिति स्थितम् ॥ ८ ॥

भाषा—उक्त साधन या प्रमाण की सिद्धि होने पर वह विजयी होता  
है, अन्यथा हार जाता है । यह व्यवहार चतुष्पद ( पूर्वोक्त चार स्तर  
वाला ) होता है जो ऋणदान आदि के विवादों में प्रदर्शित किया गया है ॥८॥

इति साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ।

असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम्

एवं सर्वव्यवहारोपयोगिनीं व्यवहारमातृकामभिधायानुना क्वचिद्व्यवहार-  
विशेषे कंचिद्विशेषं दर्शयितुमाह—

अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत् ।

आभयुज्यत इति अभियोगोऽपराधः तमभियोगमनिस्तीर्यापरिहृत्य एनमभियोक्तारं न प्रत्यभियोजयेत् अपराधेन न संयोजयेत् । यद्यपि प्रत्यवस्कन्दनं प्रत्यभियोगरूपं तथापि स्वापराधपरिहारार्थमकवाद्यास्य प्रतिषेधविषयत्वम् । अतः स्वाभियोगानुपमर्दनरूपस्य प्रत्यभियोगस्यायं निषेधः । इदं प्रत्यर्थिनमधिकृत्योक्तम् ॥—

अथ अर्थिनं प्रत्याह—

अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतिं नयेत् ॥ ९ ॥

अभियुक्तं च नान्येनेति । अन्येनाभियुक्तमनिस्तीर्णाभियोगमन्योऽर्थाभियोजयेत् । किं च, उक्तमावेदनसमये यदुक्तं तद्विप्रकृतिं विरुद्धभावं न नयेत् न प्रापयेत् । एतदुक्तं भवति—यद्वस्तु येन रूपेणावेदनसमये निवेदितं तद्वस्तु तथैव भाषाकालेऽपि लेखनीयं, नान्यथेति ॥ ननु 'प्रत्यर्थिनोऽप्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना' ( व्य० ६ ) इत्यत्रैवेदमुक्तं, किमर्थं पुनरच्यते 'नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्' इति ? उच्यते,—'यथावेदितमर्थिना' ( व्य० ६ ) इत्यनेनाऽऽवेदनसमये यद्वस्तु निवेदितं तदेव भाषासमयेऽपि तथैव लेखनीयम् । एकस्मिन्नपि पदे न वस्त्वन्तरमियुक्तम् । यथा—'अनेन रूपकशतं बृद्धया गृहीतम्' इत्यावेदनसमये प्रतिपाद्य प्रत्यर्थिसंनिधौ भाषासमये 'बहुशतं बृद्धया गृहीतम्' इति न वक्तव्यम् । तथा सति पदान्तरागमनेऽपि वस्त्वन्तरागमनाद्दीनवादी दण्ड्यः स्यादिति 'नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्' इत्यनेनैकवस्तुत्वेऽपि पदान्तरागमनं निषिद्धयते । यथा 'रूपकशतं बृद्धया गृहीत्वाऽयं न प्रयच्छति' इत्यावेदनकालेऽभिधाय भाषाकाले 'रूपकशतं बलादपहतवान्' इति वदतीति । तत्र वस्त्वन्तरागमनं निषिद्धम्, इह तु पदान्तरागमनं निषिद्धयत इति न वीनरुक्तव्यम् । एतदेव स्पष्टीकृतं नारदेन—'पूर्वपादं परित्यज्य योऽन्वमालम्बते पुनः । पदसंक्रमणाऽज्ञेयो हीनवादी स वै नरः ॥' इति । हीनवादी दण्ड्यो भवति, न प्रकृतादर्थादीयते । अतः प्रत्यर्थिनोऽर्थिनश्च प्रमादपरिहारार्थमेवायम् 'अभियोगमनिस्तीर्य' इत्याद्युपदेशो न प्रकृतार्थसिद्धयसिद्धिविषयः । अत एव पश्यति ( व्य० १९ ) 'यत्नं निरस्य भूतेन व्यवहाराद्यवेष्टुम्' इति । एतच्चार्थव्यवहारे द्रष्टव्यम् । मन्युक्ते तु व्यवहारे प्रमादाभिधाने प्रकृतादपि व्यवहारादीयत एव । यथाह नारदः—'सर्वेष्वर्थविवादेषु चाङ्गुले नावसीदति । परस्त्रीभूयणादाने दास्योऽन्ववर्थात् दीयते ॥' इति । अस्यार्थः—सर्वेष्वर्थविवादेषु न मन्युक्तेषु चाङ्गुले प्रमादाभिधानेऽपि नावसीदति न परार्जयते । न प्रकृतादर्थादीयत इत्यर्थः । अत्रोदाहरणं परस्त्रीत्यादि । परस्त्रीभूयणादाने प्रमादाभिधानेन दण्ड्योऽपि यथा प्रकृता-

दर्याद् हीयते, एवं सर्वेष्वर्थविवादेष्विति । अर्थविवादप्रदणान्मन्युकृतविवादेषु प्रमादाभिधाने—प्रकृतादप्यर्थाद्धीयते इति गम्यते । यथा—‘अहमनेन शिरसि पादेन ताडित’ इत्यावेदनसमयेऽभिधाय भाषाकाले ‘पादेन हस्ते ताडित’ इति वदन् केवलं दण्डयः । पराजीयते च ॥ ९ ॥

भाषा—अभियोग ( अपराध ) का उत्तर दिये बिना अभियोग करने वाले पर उठता अभियोग न करे । जिस पर किसी दूसरे ने अभियोग किया हो उस पर अभियोग न करे और न कहीं हुई बात को घाद में बदले ॥ ९ ॥

‘अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्’ ( व्य० ९ ) इत्यस्यापवादमाह—  
कुर्यात्प्रत्यभियोगं च कलहे साहसेषु च ।

कलहे वाददण्डपाठ्यात्मके साहसेषु विपश्चादिनिमित्तप्राणव्यापादना-  
 देषु प्रत्यभियोगसंभवे स्वाभियोगमनिस्तीर्याप्यभियोजारं प्रत्यभियोजयेत् ।  
 तन्वशापि पूर्वपञ्चानुपमर्दनरूपत्वेनानुत्तरस्वाश्रयभियोगस्य प्रतिज्ञान्तरात्वे युग-  
 मध्यवहारासंभवः समानः । सत्यम् । नात्र युगपद्व्यवहाराय प्रायभियोगोपदेशः,  
 अपि तु न्यूनदण्डप्राप्तये अधिकदण्डनिवृत्तये वा । तथा हि—‘अनेनाहं ताडितः  
 तस्ये वा’ इत्यभियोगे, ‘पूर्वमहमनेन ताडितः तस्ये वा’ इति प्रत्यभियोगे दण्डा-  
 ष्टयम् । यथाह नारदः ( १५०९ ) ‘पूर्वमाचारमुद्यस्तु निदत्त स्यात्त दोषभाक् ।  
 आद्यः सोऽप्यस्यकारी पूर्वं तु विनयो गुरुः ॥’ इति । यदा दुर्गह्योयुगपत्तादना-  
 देष्ववृत्तित्तत्राधिकदण्डनिवृत्तिः—‘पारुष्ये साहसे वापि युगपरान्तवृत्तयोः ।  
 विशेषश्चेन्न लभ्येत विनयः स्यात्समस्तयोः ॥’ इति । एवं युगपद्व्यवहारप्रवृत्त-  
 िभवेऽपि कलहादीं प्रत्यभियोगोऽर्थावृत्तादानादिषु तु विरथं क एव ॥

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्विधिगुणैवा ससम्यस्य समापत्तेः कर्तव्यमाह—

उभयोः प्रतिभूमाह्यः समर्थः कार्यनिर्णये ॥ १० ॥

उभयोर्गर्धिप्रत्यर्थिनोः सर्वेषु विवादेषु निर्णयस्य कार्यं कार्यनिर्णयः ।  
 गहिताभ्यादिषु पाठाकार्यशब्दस्य पूर्वनिपानः । निर्णयस्य च परकार्यं माधि-  
 धनदानं दण्डदानं च तस्मिन्समर्थः प्रतिभूः प्रतिभवति तत्कार्यं सद्भवतीति  
 तिभूमाह्यः पसम्येन समापत्तितः । तस्यासंभवेऽर्थिप्रत्यर्थिनो रक्षणे पुरुषा  
 योजव्याः । सम्यञ्च ताभ्यां प्रतिदिनं वेतनं देयम् । यथाह कात्यायनः—  
 ‘य चेत्प्रतिभूनास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनः । स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्-  
 स्याद वेतनम् ॥’ इति ॥ १० ॥

भाषा—किन्तु कलह और साहस के अपराध में अभियोग करने वाले पर भी अभियोग चला सकता है । दोनों कार्य के निर्णय ( या निर्णय के कार्य ) में समर्थ प्रतिभू ( जमानतदार ) लेना चाहिए ॥ १० ॥

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्निर्णयकार्ये ससम्पन्नेन सभापतिना प्रतिभूर्वाह्य इत्युक्तम्, किं तन्निरणयकार्यं यस्मिन्प्रतिभूर्गृह्यत इत्यपेक्षित आह—

निह्वये भावितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम् ।

मिथ्याभियोगी द्विगुणमभियोगाद्धनं वदेत् ॥ ११ ॥

अर्थिना निवेदिनस्याभियोगस्य प्रत्यर्थिनाऽपह्वये कृते यदाऽर्थिना साक्ष्यादिभिर्भावितोऽङ्गीकारित प्रत्यर्थी तदा दद्याद्धनं प्रकृतमर्थिने राज्ञे च तत्सममपलापदण्डम् । अर्थार्थी भावयितु न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगी जात इत्यभियोगादभियुक्तघनाद् द्विगुणं धनं दद्यात् राज्ञः । प्राङ्म्याये प्रत्यवस्कन्दने चेद्मेव योजनीयम् । तत्रार्थेवाऽपह्वयवादी प्रत्यर्थिना भावितो राज्ञे प्रकृतधनसम दण्ड दद्यात् । अथ प्रत्यर्थी प्राङ्म्याय कारण वा भावयितु न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगीति राज्ञे द्विगुणं धनं दद्यात् । अर्थिने च प्रकृत धनम् । सप्रतिपद्युत्तरे तु दण्डाभाव एव । एतच्च श्रुणादानविषयमेव । यदा त्तरेषु तत्र तत्र दण्डाभिधानादधनव्यवहारेष्वस्यासम्भवाच्च न सवधिषयत्वम् । 'राज्ञाऽधमर्णिना—दाप्य' ( व्य० ४२ ) इत्यस्य श्रुणादानविषयत्वेऽपि तत्रैव विशेष वक्ष्याम । यद्वा,—एतदेव सर्वव्यवहारविषयत्वेनापि योजनीयम् । कथम् ? अभियोगस्य निह्वयेऽभियुक्तं कृते यद्यभियोगत्रा साक्ष्यादिभिर्भावितोऽभियुक्तस्तदा तत्समं तत्र तत्र प्रतिपद्योक्तमेव । च शब्दोऽत्रधारणे । धनं दण्डं दद्याद्वाह्य इत्यनुवादः । अर्थाभियोगा अभियोग भावयितु न शक्नोति तदा मिथ्याभियोगीति प्रतिपद्योक्तं धनं दण्डं द्विगुणं दद्यादिति विधीयते । अत्रापि प्राङ्म्याये प्रत्यवस्कन्दने च पूर्ववदेव योजनीयम् ॥ ११ ॥

भाषा—अर्थी द्वारा लगाये गये अभियोग का निह्वय ( छिपाने या अस्वीकार ) करने पर प्रत्यर्थी ( उस वाद के मूल्य के ) समान धन राजा को दण्डस्वरूप देवे । और शूद्रा अभियोग चलाने वाला अभियोग क मूल्य से दूना धन देवे ॥ ११ ॥

१ प्रतिभूर्वाह्य इत्यत आह । २ धनं दद्याद्वाह्ये । ३ तत्रार्थेवाऽपह्वयवादी प्रत्यर्थी । ४ ववतु ।



ततः 'अर्थां लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थमापनम्' (श्व० ७) इति वदतोत्तरपाद-  
लेखने कालप्रतीक्षणं दर्शितं तत्रापवादमाह—

साहसस्तेयपारुष्यगोभिशपात्यये स्त्रियाम् ।

विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥ १२ ॥

माहसं विपशम्नादिनिमित्तं प्राणश्वापादनादि, स्तेयं चौर्यम्, पारुष्यं  
यादृशपारुष्यं चक्षुमानलक्षणम्, गौर्दोःश्री, अभिज्ञापः पातकाभियोगः,  
अत्ययः प्राणघनातिपातस्तस्मिन्, द्वन्द्वैकवज्जावादेकवचनम् । स्त्रियां कुलस्त्रियां  
दास्यां च कुलस्त्रियां चारित्रविवादे, दास्यां स्वत्वविवादे, विवादयेत् उत्तरं दाप-  
येत्, सद्य एव, न कालप्रतीक्षणं कुर्यात् । अन्यत्र विवादान्तरेषु, काल  
उत्तरदानकालः, दृच्छयाऽधिपत्यधिभ्यसम्प्रापतीनां स्मृत उक्तः ॥ १२ ॥

भाषा—साहस ( विप, शद्य आदि से प्राण लेना ), चोरी, कठोर भाषण,  
दूध वाली गौ के महापातक, प्राण और धन का नाश तथा स्त्रियों के (हरण  
या चरित्रविषयक) विवादों में तुरन्त उत्तर देना चाहिए । अन्य विवादों में  
दृच्छानुसार समय बताया गया है ॥ १२ ॥

दुष्टलक्षणमाह—

देशाद् देशान्तरं याति सुक्लिणी परिलेदि च ।

ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैषर्षमेति च ॥ १३ ॥

परिशुष्यस्सलङ्कापयो विरुद्धं यद् भापते ।

वाक्चक्षुः पूजयति नो तयोः प्रीतिर्भुजत्यपि ॥ १४ ॥

स्वभावाद्बिकृतिं गच्छेन्नमोघाकायकर्मभिः ।

अभियोगेऽर्थं साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः ॥ १५ ॥

मनोवाक्कायकर्मभिर्यः स्वभावादेव न भयादिनिमित्ताद्बिकृतिं विकारं  
यानि गच्छति असावभियोगे साक्ष्ये वा दुष्टः परिकीर्तितः । तां विकृतिं  
निगम्य वर्णयति—देशाद्देशान्तरं याति न फलितवतिष्ठते । सुक्लिणी  
ओष्ठपर्यन्तौ परिलेदि निहामेण स्पर्शयति प्रहृत्यतीति कर्मणो विकृतिः । अस्य  
ललाटं स्विद्यते स्वदेविन्द्विदित भवति, मुखं च वैषर्षं विमर्षस्य पाण्डुर्यं  
कृष्णत्वं वा एति गच्छतीति वायस्य विकृतिः । विशुष्यस्सलङ्कापयोः  
परिशुष्यस्सगद्दृष्टस्सलङ्कापयस्स वाक्चक्षुः यस्य स तथोक्तः । विरुद्धं पूर्वापरविरुद्धं  
यद् भापते इति वाचोविकृतिः । परोक्षां वाच प्रतिवचनदानेन न पूज-  
यति, चक्षुर्वा प्रतिवीक्षणं न पूजयतीति मनमो विकृतेर्निद्रम् । तथा

ओष्टौ निर्भुजति वक्रयतीत्यपि कावस्य विकृतिः । एतच्च होपसभावनामात्र  
सुच्यते, न दोषनिश्चयाय, स्वाभाविकनैमित्तिकविकारयोर्विवेकस्य दुर्ज्ञेयत्वात् ।  
अथ कश्चिन्निपुणमतिर्वियक प्रतिपद्येत तथापि न पराजयनिमित्त कार्यं भवति ।  
नहि मरिष्यतो लिङ्गदशनेन मृतकार्यं कुर्वति । एवमस्य पराजयो भविष्यतीति  
लिङ्गादवगतोऽपि न पराजयनिमित्तकार्यंप्रसङ्गः ॥ १३-१५ ॥

भाषा—जो हथर उधर घूमता रहता है ( एक स्थान पर स्थिर नहीं  
रहता ) ओठों को आभ स चाटना है, ललाट से पसीना निकलता है, जिसके  
मुँह का रंग उतरा रहता है । जियका मुँह घोलते समय सूखने लगता है,  
रुक रुक कर वाणी निकलता है, अपने विरुद्ध बहुत सी बातें कहता है ( पूर्व  
काल में कही हुई बात के विरोध में कह ले जाता है ) पूछने पर तत्काल  
उत्तर नहीं देता, देपने पर सामने भाँख उठा कर नहीं देखता, ओठों को  
देदा करता रहता है ( काटा करता है ) मन, वाणी, शरीर और कर्म के  
स्वभाव से परिवर्तित हो गया हो—इस प्रकार के व्यक्ति अभियोग और  
साक्ष्य में दुष्ट कहे गये हैं ॥ १३-१५ ॥

संदिग्धार्थे स्वनम्ब्रो य सावयेद्यश्च निष्पतेत् ।

न चाहृतो चदेतिचिद्धीनो दण्डवश्च स स्मृतः ॥ १६ ॥

किंच, संदिग्धमर्थमधमर्णेनागङ्गाकृतमेव य स्वतः साधननिर्देश  
साधयत्यासेधादिना स हीनो दण्डवश्च भवति । यश्च स्वय सप्रतिपन्न  
साधनेन वा साधित वाच्यमानो निष्पत्तं पलायेत, यश्चाभियुक्ता राजा  
चाहृत मदन्ति न किंचिद्ददति 'सोऽपि हीनो दण्डवश्च स्मृतः' इति सव  
ध्यतः । 'अभियोगे च साक्ष्ये वा दुष्ट स परिकीर्तितः' इति प्रस्तुतत्वाद्दीनपरि  
ज्ञानमात्रमेव मा भूदिति 'दण्डवः प्रहणम् । दण्डवस्य चापि 'शास्योऽप्यर्थात्  
हीयतः' इत्यर्थाद्हीनत्वदर्शनादत्र तन्मा भूदिति 'हीनः प्रहणम्' ॥ १६ ॥

भाषा—जो संदिग्ध धन अपनी इच्छा से ( विना किसी प्रमाण के )  
लेना चहे और जो व्यक्ति स्वय स्वीकार किये गये या प्रमाणित हुए धन  
के माँगने पर भाग जाय जो अभियुक्त राजा द्वारा छुलाये जाने पर कुछ  
भी उत्तर न दे, वे सभी पराजित हाते हैं और दण्ड के भागी कहे गये हैं ॥ १६ ॥

अथ यत्र द्वावपि युगपद्दर्माधिकरण प्राप्ते भाषायादिना । तद्यथा—कश्चि  
त्प्रतिप्रदेण सेत्र लब्ध्वा कश्चित्कालमुपभुज्य कार्यवशात्सकुटुम्बो देशान्तर  
गतः । अन्योऽपि तदेव सेत्र प्रतिप्रहण लब्ध्वा कश्चित्कालमुपभुज्य देशान्तर

गत । ततो द्वावपि युगपदाय य मदीयमिदं क्षेत्रं मदीयमिदं क्षेत्रम् इति पर  
पर पितृदत्तानो धर्माधिकारण प्राप्ती तत्र कस्य क्षियत्याकाङ्क्षित आह—

साक्षिभूयत सत्सु साक्षिण पूर्ववादिन ।  
पूर्वपक्षेऽधरीभूत भवन्त्युत्तरवादिन ॥ १७ ॥

उभयत उभयोरपि वादिनो साक्षिषु सभवेत्सु साक्षिण पूर्ववादिन  
'पूर्वस्मिन्काले मया प्रतिगृहीतमुपभुक्त च' इति वा यदायसौ पृत्रादा, न पुनर्यं  
पूर्वं निवदयति तस्य साक्षिण प्रष्टव्या । यदा स्व य एव वदति 'साधमनन पूर्व  
प्रतिगृहीतमुपभुक्त च' इति राक्षदमेव क्षेत्रमरमादेव कथेण लब्ध्या मल्ल दत्तम्'  
इति, 'अनन वा प्रतिग्रहेण लब्ध्या मल्ल दत्तम्' इति तत्र पूर्वपक्षोऽसाध्य-  
तयाऽधरीभूतैस्तस्मिन्पूर्वपक्षेऽधरीभूत उत्तरकाल प्रतिगृहीतमुपभुक्त चेति  
वादिन साक्षिण प्रष्टव्या भवति ॥ इदमेव व्याख्यान युक्ततरम् । मिथो  
परे पूर्ववादिन साक्षिणो भवति ॥ प्राङ्-यायकाराणांस्तौ पूर्वपक्षेऽधरीभूते उत्त  
रवादिन साक्षिणो भवन्ताति व्याख्यानमयुक्तम् ॥ अस्यायस्य 'ततोऽर्थो लेख  
यस्यैव प्रतिज्ञातायैसाधनम्' (३५० ७) इत्यनेनैतौ क्षेत्रवात्पुनरुक्तिप्रमहात् । एवं  
व्याख्यानमेव स्पष्टीकृत नारदेन— मिथ्या क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि ।  
प्राङ्-यायविधिसिद्धौ तु जयपत्र क्रिया भवत् ॥ इत्युक्त्वा— द्वावपि वदतोरर्थे  
द्वावो ससु च साक्षिषु । पूर्वपक्षो भवेत्तस्य भवेत्तस्य साक्षिण ॥ इति  
वदता । एतस्य च पूर्व-यवहारविलक्षणत्वाद् भेदेनोप-यास ॥ १७ ॥

भाषा—दोनों ओर के साक्षी जाये हों तो पहले धपना पूर्वका में  
अधिकार बनाने वाले साक्षी ही बात सुने । यदि पूजक कमजोर हा तो  
बाँध के समय में धपना अधिकार बनाने वाला साक्षियों से पूजना  
चाहिए ॥ १७ ॥

सपणश्चेद्विवाद स्यात्तत्र हीनो तु दापयेत् ।  
दण्डं च सपणं चैव धनिर्न धनमेव च ॥ १८ ॥

अपि च, यदि विवादो व्यवहार सपण-पणन पण तेन मह वर्तते इति  
सपण स्यात्तदा तत्र तस्मिन् सपणे व्यवहारे हीन पराजित पृथक् दण्ड स्वष्ट  
पण राजे भूमिने च विवादास्पदीभूत धन दापयन्नाका । यत्र पुनरेकः  
कोपावज्ञवशात् 'यत्तदमत्र पराजितो भवामि तदा पणत दारयामि इति प्र-  
जायते, अ यस्तु न किञ्चित्प्रतिजानाते तत्रापि व्यवहार प्रवर्तते । तस्मिन्  
प्रकृते पणप्रतिज्ञावादी यदि हीयते तदा स एव सपण दण्ड दाप्य । अ यस्तु  
पराजितो दण्ड दाप्य, न पणम् स्वपणं च इति विकल्पेऽपदानात् । यत्रायेव

१ कारिण । २ साक्षिषु ससु । ३ तस्मिन्पक्षे । ४ सपण ।

तम्, अन्यस्तु पञ्चाशत् प्रतिजानीते तथापि पराजये स्वकृतमेव पणं दाप्यौ ।  
'मपणश्चेद्विवाद स्यात्' इति वदता पणरहितोऽपि विवादो दक्षित इति ॥ १८ ॥

भाषा—यदि सपण ( शर्त लगाकर ) विवाद हो रहा हो और पण की प्रतिज्ञा करने वाला हारता है तो उससे प्रतिज्ञात धन ( राजा ) दिलावे । वे दोनों ही यदि कम और अधिक धन की शर्त लगावें तो पराजय स्वीकार करने वाले से पण दिलवाये और धन के अधिकारी को धन दिलवाये ॥ १८ ॥

इत्थं निरस्य भूतेन व्यवहाराद्येऽनुपः ।

भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः ॥ १९ ॥

किञ्च, इत् प्रमादाभिहितं निरस्य परित्यज्य भूतेन वस्तुतस्वानुसारेण व्यवहाराद्येऽन्त नृत् । यस्माद् भूतमपि वस्तुतस्वमपि अनुपन्यस्तमनभिहितं हीयते हानिमुपगच्छति व्यवहारतो व्यवहारेण साध्यादिभिः । तस्माद् भूतानुसरण कर्तव्यम् । यथाविप्रत्ययिनी सत्यमेव वदतस्तथा समभ्येन सभापतिना यत्तित्य सामादिभिरुपायैः । तथा सति साध्यादिनैरपेक्ष्येणैव निर्णयो भवति ॥ अथ सर्वथापि भूतानुसरण न शक्यते कर्तुं, तथा सति साध्यादिभिर्निर्णयः कार्य इत्यनुक्त्वम् । यथोक्तम्—'भूतच्छलानुसारिष्वदिद्वयति' समुदाहृतः । भूत तत्त्वार्थसंयुक्त प्रमादाभिहितं इत्थम् ॥' इति । तत्र भूतानुसारी व्यवहारो मुख्यः, छलानुसारी त्वनुक्त्वः । साक्षिलेऽप्यादिभिर्भ्यवहारभिर्णये कदाचिद्दस्त्वनुसरण भवति, कदाचिन्न भवति; साध्यादीनां स्वभिचारस्यापि संभवात् ॥ १९ ॥

भाषा—इत् ( प्रमाद से कही हुई बात ) को छोड़कर राजा वस्तुस्थिति के अनुसार व्यवहारों का निर्णय करे । सच्ची बात होने पर भी उसे न कहने पर व्यवहार में पराजित ही होता है ॥ १९ ॥

'भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः' (स्य० १९) इत्यप्रोदाहरणमाह—

निद्वेते लिखितं नैकमेऋदेशे विभाषितः ।

दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ब्राह्मस्त्वनिवेदितः ॥ २० ॥

नैकमनेकं सुवर्णरजतवस्त्रादि लिखितमभियुक्तमर्थिना प्रत्यर्थी यदि सर्वमेव निद्वेतेऽपजानीते तदादिनैकदेशे द्विरप्ये साध्यादिभिः प्रत्यर्थी भावितोऽग्नीकारितः सर्वं रजताद्यर्थं पूर्वलिखितं दाप्योऽर्दिने नृपेण । न ब्राह्मस्त्वनिवेदितः 'पूर्वं भाषाशले अनिवेदितः पश्चादर्थिना पूर्वं मया विस्मृतः' इति निवेदमानो

१. तस्मात् । २. तत्त्वार्थयुक्त यत्प्रमादाभि । ३. निद्वेते लिखितेऽनेकदेशेऽविभा ।

न प्राणो नोदर्यो नृपेण । एतत्तु न केवलं वाचनिकम् । एकदेशे प्रायश्चित्तो  
 मिथ्यावादिश्च निश्चयादेकदेशान्तरेऽपि मिथ्यावादिरेव संप्रवृत्तः । एवं तर्कापरना-  
 मसंभावनाप्रत्ययानुगृहीतादस्मादेव योगीश्वरवचनत्वेन वाचनीयं नृपेणेति  
 निर्णयः । एवं च तर्कवाचयानुसारेण निर्णये क्रियमाणे चतुर्नोऽन्यथात्वेऽपि इय-  
 हारदर्शिनः न दोषः । तथा च गौतमः (११।२३, २४) — 'न्यायाधिगमे तर्कोऽन्यु-  
 पायस्तेनाभ्युह्य यथास्थानं 'गमयेत्' इत्युक्त्वा, 'तस्माद्गोत्राचार्यावनिःशो' (११।  
 ३२) इत्युपसंहरति । न एकदेशमावितोऽनुपादेशवचनः प्रायश्चित्तावदिह गमयते ।  
 'एकदेशविभावितो नृपेण सर्वं दाप्या' इति वचनात् । यत्तु कात्यायनेनोक्तम् —  
 'अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत्संसाधयेद्धनी । सात्त्विकिरेव देवामी एतन्ते साधितं  
 जनम् ॥' इति, तैत्तिरीयसंहितायाः प्रायश्चित्तप्रकरणेऽपि । तत्र हि बहून्वर्षानभिपुण-  
 ्यप्रादिर्न ज्ञानोमीति प्रतिषेधसिद्धवत्वाद्वा, न भयनीयेकदेशविभावितोऽपि न सात्त्विक-  
 साधयेदिति 'निष्ठुते लिखितं नैकम्' (१५० १९) इति शब्दं तत्र न प्रवर्तते ।  
 इत्याभावादपेक्षिततर्काभावाच्च । — 'अनेकार्थाभियोगेऽपि' इति वाच्योपनवचन  
 सामान्यविषयं, विशेषसाध्यस्य विषयं निष्ठुते शरं परिहृयात्प्रायश्चित्तोत्तरे प्रवर्तते ॥  
 अनु 'ऋणादिषु विवादेषु रियरप्रायेषु निश्चिनम् । ऊने वाऽप्यधिके चार्थे प्रोक्ते  
 साध्यं न सिद्धयति ॥' इति वदता कात्यायनेनानेकार्थाभियोगे सात्त्विकिरेकदेशे  
 भावितेऽधिके वा भाविते साध्यं सर्वमैव न सिद्धयतीत्युक्तम् । तथा सर्वैकदेशे  
 भाविते असावितैकदेशसिद्धिः कुतश्च १ उच्यते, — लिखितसार्थमाधनसो-  
 पन्दरतैः सात्त्विकिरेव देवाभियानेऽपि वा मिथ्याने वा कृष्यमेव साध्यं न सिद्धयतीति  
 तस्यार्थः । तत्रापि निश्चिनं न सिद्धयतीति वचनात्पूर्ववर्णनं च एवेति प्रमाणा-  
 न्तरस्यावसरोऽस्येयः, 'दुर्लं निरस्य' इति विपत्त्या । साहसाद्वा तु सरलमा-  
 ध्यमाधनतैर्वादिः सात्त्विकिरेव देवेऽपि साधितं कृत्वासाध्यमिद्धिर्भवानेव, तावन्मैव  
 साहसादेः सिद्धयतीति, कात्यायनवचनत्वाच्च — 'स एवार्थानेऽपि सदिने सात्त्विकि-  
 सफलं भवेत् । स्वीत्येव साधनं चार्थं साध्यं परिहृयितम् ॥' इति ॥ २० ॥

ननु 'निहते लिपित नैकम्' (१५० १०) इतीय स्मृतिस्तथा 'अनेकार्थाभि  
योगोऽपि' इतीयमपि स्मृतिरेव तत्रानयो स्मृत्यो परस्परविरोधे सतीतरेतरवा-  
धनादप्रामाण्यं कस्मान्न भवति, विषयव्यवस्था किमिवाश्रोयत इत्यत आह—

'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।'

यत्र स्मृत्यो परस्परतो विरोधस्तत्र विरोधपरिहाराय विषयव्यवस्थापना  
दायुःसर्गापवादादिलक्षणो न्यायो बलवान् समर्थः । स च न्याय कुत प्रयेतस्य  
इत्यत आह—व्यवहारत इति । व्यवहाराद् वृद्धव्यवहाराद्-व्यव्यतिरेकलक्षणाद्-  
व्यागम्यते । अतश्च प्रकृतोदाहरणेऽपि विषयव्यवस्थैत्र युक्ता । पूर्वमन्यत्रापि विष-  
यव्यवस्थाविकल्पादि यथासंभव योऽयम् ॥

एव सर्वत्र च प्रसङ्गेऽपवादादमाह—

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्भ्रमंशास्त्रमिति स्थिति ॥ २१ ॥

'धर्मशास्त्रानुसारेण' इत्यनेनैवौशनसाचार्यशास्त्रस्य निरस्तत्वात् धर्मशास्त्रान्त-  
रगतमेव राजनीतिलक्षणमर्थशास्त्रमिह विवक्षितम् । अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रस्मृत्यो  
विरोधे अर्थशास्त्राद्धर्मशास्त्र बलवदिति स्थितिर्मर्त्यादा । यद्यपि समानकर्तृकतया  
अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रयोः स्वरूपगतो विशेषो नास्ति तथापि प्रमेयस्य धर्मस्य  
प्राधान्यादर्थस्य चाप्राधान्याद्धर्मशास्त्र बलवदित्यभिप्रायः । धर्मस्य च प्राधान्य-  
शास्त्रादौ दर्शितम् । तस्माद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्विरोधेऽर्थशास्त्रस्य बाध एव न  
विषयव्यवस्था, नापि विकल्पः किमत्रोदाहरणम् ? न तावत्—'गुरु वा बाल-  
पृथ्वी वा ब्राह्मण वा बहुभ्रुतम् । आततायिनमायान्त हन्यादेवाविचारयन् ॥  
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भुवति कश्चन । प्रकृष्ट वा प्रकाश वा मनुस्त मनु-  
सृष्टति ॥' ( मनु ८।३५०-५१ ) तथा—'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तग-  
रणे । जिघांसन्त निघासीयाश्च तेन प्रकृष्टा भवेत् ।' इत्यर्थशास्त्रम्, 'इय  
विशुद्धिरुदिता प्रमाण्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न  
विधीयते ॥' ( मनु १।१८९ ) इत्यादि धर्मशास्त्र, तयोर्विरोधे धर्मशास्त्र बल-  
वदिति युक्तम् ॥ अनयोरेकविषयवासम्भवन विरोधाभावाच्च बलाबलचिन्ताऽ  
वतरति । तथा हि—'शास्त्र द्विजातिभिर्प्राह्य धर्मो यत्रोपरुध्यते' ( मनु ८।३४८ )  
ह्ययुपक्रम्य—'आत्मतश्च परित्राणे दक्षिणाता च सगरे । स्त्रीविप्राभ्युपपत्ती  
च शन्धर्मेण च दण्डभाव ॥' ( मनु ८।३४९ ) इत्यादिसंज्ञे दक्षिणादीनां  
यज्ञोपकरणानां च रक्षणे युद्धे च स्त्रीब्राह्मणदिसायां च—'आततायिनमकूट

१ स्मृतेर्विरोधे । २ परस्परविरोध । ३ प्रकाश वाऽप्रकाश वा ।  
४ वेदान्तपारगम् । ५ न दुष्यति ।

शास्त्रेण अत्र दण्डभाक् इत्युक्त्वा तस्यार्थसादार्थमिदमुच्यते 'गुरु वा बालवृद्धी  
 चा' इत्यादि । गुर्वादानस्यन्तायःपानत्पाततापिनो हन्याद्विमुक्तान्यानिनि ।  
 'वा'सद्वदश्रवणात् 'अपि वदा-तपारगम्' इत्यत्र 'अपि'सद्वदश्रवणा-न गुर्वादीनां  
 चत्पायप्रतीति, 'नाततापिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणवपात्' इति सुम-तुवच-  
 नात्, 'आचार्यं च प्रवक्षार मातर पितर गुरुम् । न हि स्याद् ब्राह्मणान्नाश्र  
 सर्वाश्रय तपस्विन ॥' इति ( ४११६२ ) मनुवचनाच्च । आचार्यादीनामा  
 ततापिनो द्विमाप्रतिषेधेनेद वचनमर्थवत्ता-वधा, हिंसामात्रप्रतिषेधस्य सामान्य  
 शास्त्रेणैव सिद्धस्यात् । 'नाततापिवधे दापो ह-तुर्भवति कश्चन' इत्येतदपि  
 ब्राह्मणाद्विषयतिक्तविषयमेव । यत 'अग्निदो गरदशैव शस्त्रपाणिर्धनापह ।  
 श्रेत्रदारहरशैव पठेते ह्याततापिन ॥' यथा—'उघासिदिविषाग्निश्च दापोदान  
 करस्तथा । आधर्वणेन ह-ना च पिशुग्रापि राजनि ॥ भार्यानिक्रमकारी च  
 रग्ना-वपणनापर । पञ्चमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततापिव ॥ इति सामान्ये  
 नाततापिनो द्दशितः । अतश्च ब्राह्मणाद्य आततापिनश्च क्षामादिनाण्यर्थ  
 द्विमानभिसधिना नियार्यमाणा प्रमादाद्यदि विपद्येरस्तत्र लघु प्रायश्चित्त  
 शत्रुदण्डभावाश्चेति निश्चय । तस्माद्-यदिहोदाहरण यच्छ-यम् । तदुच्यत,—  
 'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वशा यत । अतो यतेत तग्वाही' ( भा० ३५१ )  
 इत्यथशास्त्रम् ।—'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोमयिर्जित' ( व्य० १ ) इति  
 धर्मशास्त्रम् । तयो क्वचिद्विषय विरोधो भवति । यथा—चतुष्पाद्व्यवहारे  
 प्रवर्तमाने एकस्य जयेऽवधार्यमाणे मित्रलब्धिर्भवति, न धर्मशास्त्रमनुसृत  
 भवति । अन्यस्य जयेऽवधार्यमाणे धर्मशास्त्रमनुसृत भवति, मित्रलब्धि-  
 विपरीता, तप्रार्थशास्त्राद्धर्मशास्त्र यद्यत् । अत एव 'धर्मार्थसन्निपात अर्थ-  
 ग्राहिण एतद्व' इति प्रायश्चित्तस्य गुराव दर्शितमापस्तम्बेन । एतदेवति  
 द्वादशवर्षिक प्रायश्चित्त परामुच्यते ॥ २१ ॥

भाषा—जब दो स्मृतियों ( धर्मशास्त्र क वचनों ) में परस्पर विरोध हो  
 तो व्यवहार से दिया गया न्याय बलवान् होता है । धर्मशास्त्र की अवस्था  
 धर्मशास्त्र का प्रमाण अधिक सरल होता है, ऐसी ही व्यवस्था है ॥ २१ ॥

'ततोऽर्थी लेखयेत्सद्य प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' ( व्य० ७ ) इत्युक्तं, किं नत्सा  
 धनमित्यपेक्षित भाद—

प्रमाणं लिखित भुक्ति साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ।

एवाम-यतमाभावे दि-यान्यतममुच्यते ॥ २२ ॥

प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणम् । तच्च द्विविध मानुष द्वैविध चति ।  
 तत्र मानुष प्रमाण त्रिविध-लिखित भुक्ति साक्षिणश्चेति । शक्ति मह-

पिभिः । तत्र लिखितं द्विविध-शासनं चीरकं चेति । शासनमुक्त्वणम् । चीरकं तु वक्ष्यमाणलक्षणम् । मुक्तिरूपभोगः । साक्षिणो वक्ष्यमाणस्वरूपप्रकाराः । ननु लिखितस्य साक्षिणां च दण्डाभिव्यक्तिद्वारेण दण्डेऽन्तर्भावाद्युक्तं प्रामाण्यम् । मुक्तेस्तु कथं प्रामाण्यम् ? उच्यते—मुक्तिरपि वैश्विद्विद्विद्वेगैर्युक्ता स्वरादेतुभूत-  
कदाचिक्रमन्यभिधारादनुमापयन्त्यनुपपद्यमाना या वक्ष्ययन्तीत्यनुमानेऽर्थावर्ती  
चान्तर्भवतीति प्रमाणमेव— १. यथा लिखितादीनां प्रयोगाभ्यन्तप्रयोगाद्यभावे  
 दिव्यानां वक्ष्यमाणस्वरूपभेदानामन्यतम जातिदेशकालद्वयवाद्येषुया प्रमाण-  
 मुच्यते । मानुषाभाव एव दिव्यस्य प्रामाण्यमस्मादेव यचनादवगम्यते; दिव्यस्य  
 स्वरूपप्रामाण्ययोरागमगम्यावात् । अतश्च यत्र परस्परविवादेन युगपदमाधि-  
 कारिणं प्राप्तयोरेको मानुषीं क्रियामपरस्तु देवीमयलभ्यते तत्र मानुष्येव प्राप्ता ।  
 यथाह कात्यायनः—'यद्येको मानुषीं प्रयादृश्यो प्रयासु द्वैविकीम् । मानुषीं तत्र  
 गृहीयाद्यतु देवीं क्रियां नृप. ॥' इति । यत्रापि प्रधानैकदेशमाधनं मानुष सभ-  
 वति तत्रापि न देवमाधयणीयम् । यथा 'रूपकज्ञानमनया पृथवा गृहीयाऽप्यं  
 न प्रपद्यन्ती'त्यभिधोवापह्नवे—'ग्रहणे साक्षिणः सन्ति नो संशयायां वृद्धिविद्वे-  
 यः, अतो दिव्येन भावयामी'त्युक्ते तत्रैकदेशविभावितभ्यावेमादि संशयावृद्धि-  
 विशेषतिद्वेनं दिव्यस्यावकाशाः । उक्तं च कात्यायनेन—'यद्येकदेशस्यासावि  
 क्रिया विद्येन मानुषी । सा प्राप्ता ननु पूर्णापि द्वैविकी यदेतां गृणाम् ॥' इति ।  
 यस्तु—गृहमाहविकानां तु प्राप्त दिव्यैः परीक्षणम्' इति, तदपि मानुषागम-  
 न्मनिषमार्थम् । यदपि नारदेनोक्तम्—'अरण्ये निजने रात्रावन्तर्वरमनि साहये ।  
 न्यामरणावहृष्ये चैव दिव्या संभवति क्रिया ॥' इति; तदपि मानुषागमय एव ।  
 तस्मात्मानुषाभाव एव दिव्यम निर्णय ह्यसौत्सर्गिकम् । अथ च आपरादो हरणने-  
 'प्रधानो माहते वादे पाठये दृग्दवाचिके । वल्लेकभूतेषु कायेषु साक्षिणो दिव्य-  
 मेव-च ॥' इति । तथा ऐश्वर्यानामपि क्वचिद्विषमो हरणने । यथा—'पूगधेगी-  
 गणादीनां या विधितिः परिक्रान्तिः । तस्मान्मु साधनं ऐश्वर्यं न दिव्यं न च  
 साक्षिणः ॥' तथा—'द्वारमार्गाक्रियाम'गत्रापादादिषु सिधा । मुक्तिरेव तु पूर्वा  
 स्यात् दिव्यं न च साक्षिणः ॥' तथा—'दस्तादस्तेऽथ श्रुत्यागी इवामिती निर्णय  
 मेति । विक्रपादानमवधे क्रान्ति' धममतिरुदति ॥ कृते समाहृते चैव विवादे  
 समुपविधने । साक्षिणः साधने प्रोक्तं न दिव्यं न च ऐश्वर्यम् ॥' इति ॥ १२ ॥  
 भाषा—लिखित, मुक्ति ( उपमो'ग, कदा ) चीर साक्षी ये प्रमाण होने  
 हैं । इनमें से कोई ( प्रमाण ) न होने तक दिव्यो ( एक प्रकार के लक्षण )  
 को प्रमाण विहित किया गया है ॥ १२ ॥

१. पूर्वादि ।
२. वदता वादिता, द्वैवी विवदता ।



उभयत्र प्रमाणसङ्गाधे प्रमाणगतबलाद्यलविवेके चास्ति पूर्वापरयोः कार्ययोः  
करय्य यत्नव्यस्यमित्यत आह—

**सर्वेष्वर्थविवादेषु यत्नव्युत्तरा क्रिया ।**

ऋणादिषु सर्वेष्वर्थविवादेषु उत्तरा क्रिया—क्रियत इति क्रिया कार्यं यत्न-  
यती । उत्तरकार्यं माधिते तद्वादी विजयी भवति, पूर्वकार्यं सिद्धेऽपि तद्वादी  
पराजीयते । तद्यथा—कश्चिद् ग्रहणेन धारणं साधयति कश्चित्प्रतिदानेनाधारणम्,  
तत्र ग्रहणप्रतिपादनयोः प्रमाणसिद्धयोः प्रतिदानं यत्नवदिनि प्रतिदानवादी जयी  
भवति । तथा पूर्वं द्विकं जतं गृहीत्वा कालान्तरे त्रिकं जतमङ्गीकृतवान्, तत्रो-  
भयत्र प्रमाणसङ्गाधेऽपि त्रिकजतग्रहणं यत्नवत् । पश्चात्त्रात्रिणापूर्वाभाधेनानुरूपतेः ।  
उक्तं च—'पूर्वाभाधेन भोवत्तिरुत्तरस्य हि सेस्मति' इति ॥

अस्यापवादमाह—

**आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु यत्नवत्तरा ॥ २३ ॥**

आध्यादिषु त्रिषु पूर्वमेव कार्यं यत्नवत् । तद्यथा—एकमेव सेत्रनन्वस्या-  
ऽऽधि कृत्वा किमपि गृहीत्वा पुनरन्वस्याप्याथाप किमपि गृह्णाति; तत्र पूर्वस्यैव  
तद्भवति, नोत्तरस्य । एवं प्रतिग्रहे ऋणे च ॥ नन्वादितस्य तदानीमस्वस्वापुन-  
राधानमेव न सम्भवति । एव दत्तस्य क्रोतस्य च दातृगवी भोव्यद्येते तस्मादिदं  
वचनमनर्थकम् । उच्यते—अस्याप्येऽपि यदि मोहात्कश्चिद्वाभाद्वा पुनराधानादिकं  
करोति तत्र पूर्वं यत्नवदिनि न्यायमूलमेवेद् वचनमित्यस्योद्यम् ॥ २३ ॥

भाषा—(ऋण भादि) धन के समा विवादों में उत्तर कार्य (दातृ का  
प्रमाण) यत्नवान् होता है; किन्तु आधि (अन्धक, रेहन), दान  
और ऋण में पूर्व कार्य (अपना अधिकार पहले का पताने वाला पक्ष) ही  
यत्नवान् होता है ॥ २३ ॥

भुक्ते कैश्चिद्विद्वेषैर्लुक्तायाः ग्रामाण्यं दशायिष्यन् कस्याश्चिद्भुक्तेः कार्यान्तरमाह—

**पश्यतोऽभ्रुवतो भूमेर्दानीर्विंशतिवार्षिकी ।**

**परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ २४ ॥**

परेणासंबन्धेन<sup>१</sup> भुज्यमानां भुव धनं वा पश्यत' अभ्रुवतः 'मद्रीष्यं भू-  
न त्यथा भोक्तव्या' इत्यप्रतिषेधयतः तस्या भूमेर्दशतिवार्षिकी अप्रतिर्य  
विंशतिवार्षिकभोगनिमित्ता हानिर्भवति । धनस्य तु हस्तपश्चादेर्दशवार्षिकी  
हानि । नन्वेतदनुपपन्नम्, नद्व्यप्रतिषेधास्स्वात्मपदाच्छ्रुति । अप्रतिषिद्धस्य<sup>२</sup> दान-

१. सर्वेष्वेव विवादिषु । २. जयति । ३. असंबन्धेन । २. अप्रति-  
षिद्धस्य ।

इदमपि वास्तवो ध्यवहारो भवत्येव । 'दृष्टं निरस्य भूतेन ध्यवहाराद्येन्नुप' (०५०  
 १९) इति नियमात् ॥ अथ मतम् । यद्यपि न वस्तुहानिर्नापि ध्यवहारहानिस्त  
 थापि पश्यतोऽप्रतिषेधतो ध्यवहारहानिशङ्का भवतीति तद्विदुत्तथै तूर्णो न स्यात्  
 ध्यमिर्युपदिश्यत इति । तस्य न-स्मात्कालाया भुक्तेर्हानिशङ्काकारणत्वाभावात्,  
 तूर्णो न स्यात्तद्यमिर्येतावन्मात्राभिधिर्यायां विंशतिग्रहणमविवक्षितं स्यात् ।  
 अथोच्यते-विंशतिग्रहणमूर्ध्वं पद्मदोषोद्गातानिराकरणार्थम् । यथाह कार्यायन -  
 'शक्तस्य सनिधावर्थो यस्य लोभयेन भुज्यते । विंशतिवर्षाण्यतिक्रांतं तस्यत्र दण्डं  
 जितम् ॥' इति, तदपि न-आष्यादित्यपि विंशतेरूर्ध्वं पद्मदोषोद्गातानिराकरणस्य  
 समर्थेनाधिसीमेत्याद्यपवादसंभवात् । यथाह कार्यायन - अथ विंशतिवर्षाणि  
 धाधिर्भुक्तं मुनिश्चितं । तेन लेख्येन तस्मिन्दिनेऽप्यदोषविधजिता ॥' तथा-सी  
 माविधादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते । तस्य दोषा प्रवक्तव्या यावद्दूर्वाणि  
 विंशति ॥' इति । एतेन 'घनस्य दशवापिकी' इत्येतदपि प्रयुक्तम् । तस्मादस्य  
 श्लोकस्य 'सस्योऽर्थो वक्तव्यः । उच्यते-भूमिर्धनस्य च फलहानिरिह विवक्षिता, न  
 वस्तुहानिर्नापि ध्यवहारहानि । तथा हि निराक्रोशं विंशतिवर्षाण्यभोगादूर्ध्वं यद्यपि  
 स्थामा न्यायत चेद्य लभत, तथापि फलानुसरणं न लभते, अप्रतिषेधलक्षणा  
 स्वापराधादस्माच्च वचनात् । परोक्षभागे तु विंशतरूर्ध्वमपि फलानुसरणं लभत  
 एव परस्य' इति वचनात् । प्रत्यक्षभागे च साक्रोशे, 'अमुञ्चत' इति वचनात् ।  
 विंशते प्राक् प्रत्यक्षे निराक्रोशे च लभते, विंशतिग्रहणात् । ननु तदुत्पन्नस्यापि  
 कुलस्य स्वत्वात्तद्वानिर्युपपन्नैव । यादम्, तस्य स्वरूपाविनाशेन तथैवावस्थाने  
 यथा-तदुत्पन्नरूपमपनसदृशदीना यत्पुनस्तदुत्पन्नमुपभोगाद्यष्ट तत्र स्वरूपनाशा  
 देव स्वस्वनाशः । 'अनागम तु यो भुङ्क्ते बहून्पदशता यपि । चौरदण्डेन त पाप  
 दण्डयेत्पृथिवीपति ॥' इत्येतावचनेन निष्क्यरूपेण गणयिष्यात् चौरवत्तासम  
 द्रव्यदान प्राप्त 'हानिविंशतिवर्षिकी' इत्यनेनापोद्यते । रात्रदण्डं पुनरस्यैव  
 विंशतरूर्ध्वमपि, अनागमोपभोगादपवादामावाच्च । तस्मात्स्याद्युपेक्षालक्षणात्  
 पराधादस्माच्च वचनाद्विंशतेरूर्ध्वं फलं नष्टं न लभत इति स्थितम् । एतन्न  
 घनस्य दशवापिकी, इत्येतदपि व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

भाषा—स्वामी क देलते रहने और आपति न करने पर भूमि दूसरे  
 व्यक्ति द्वारा जोती जाने पर वीस वर्ष में उसका (स्वामी क) अधिकार श  
 निकल जाना है और इस प्रकार घन का उपभोग दूसरा करे तो दस वर्ष के  
 बाद स्वामी का अधिकार नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

अस्यापवादमाह—

आधिसीमोपनिक्षेपजडबालघनैर्विना ।

१तयोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणा घनैरपि ॥ २५ ॥

आधिश्च सीमा च उपनिक्षेपश्च आधिसीमोपनिक्षेपा । जडश्च बालश्च जडबालौ, तयोर्धने जडबालघने, आधिसीमोपनिक्षेपाश्च जडबालघने च आधिसीमोपनिक्षेपजडबालघनानि तैर्विना । उपनिक्षेपो नाम रूपकसंख्याप्रदर्शनेन रक्षणार्थं परस्य हस्ते निहित द्रव्यम् । यथाह नारद — 'स्व द्रव्य यत्र विद्य भ्रमाक्षिपत्येव विशङ्कित । निक्षेपो नाम तस्मिन् व्यवहारपदं युषै ॥' इति उपनिधानमुपनिधिः । आध्यादिषु पश्यतोऽद्भुततोऽपि भूमेर्विशतेरुर्ध्वं घनस्य च दशभ्यो त्रयोभ्य ऊर्ध्वमध्युपचयहानिर्न भवति, पुरुषापराधस्य तथाविधस्याभावात्, उपेक्षाकारणस्य तत्र तत्र सभवात् । तथा हि—आधेरौधिरौपाधिक एव भोग इत्युपेक्षायामपि न पुरुषापराधः । सीमन्क्षिरकृतगुणाङ्गादिविद्धं सुमाध्यखादुपेक्षा सभवति, उपनिक्षेपोपनिध्वोर्भुक्ते प्रतिविद्यस्यात्, प्रतिपेक्षानि क्रमोपभोगे च मोक्षफललाभादुपेक्षोपपत्तिः । जडबालयोर्जडत्वाद्बालत्वाद्गुणयुक्तैव, राज्ञो बहुकार्यव्याकुलत्वात्, स्त्रीणामज्ञानादप्रामगम्याच्च । श्रोत्रियस्याध्ययनाध्यापनसदर्थं विचारानुष्ठानव्याकुलत्वाद्गुणयुक्तैव । तस्मादाध्यादिषु सर्वत्रोपेक्षाकारणसभवा समष्टभोगे निराकरोते च न कदाचिदपि फलहानि ॥२५॥

भाषा—आधि ( बन्धक ), सीमा, उपनिक्षेप, जड ( मग्नयुद्धि ), बालक का घन, उपनिधि राजघन, स्त्रीघन, श्रोत्रिय का घन दूसरे द्वारा दस वा बीस वर्ष तक भोगे जाने पर भी अपने स्वामी के अधिकार से हीन नहीं होते हैं ॥ २५ ॥

आध्यादिषु दण्डविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

आध्यादीना विद्वत्तरं धनिने दापयेद्धनम् ।

दण्डं च तस्समं राज्ञे शक्त्यपेक्षमथापि वा ॥ २६ ॥

य आध्यादीना श्रोत्रियद्रव्यपर्वतानां विरकालोपभोगयत्नेनापहर्ता त विरादारुपदीभूतं घनं स्वामिने दापयदित्यनुवादः । दण्डं च तस्समं विवादास्पदीभूतद्रव्यसमं राज्ञे दापयेदिति विधिः । यद्यपि गृहपेशादिषु तस्समो दण्डो न सभवति तथापि—'मर्यादायाः प्रमेदे च सीमानिष्क्रमणे तथा' ( ६५० १५५ ) इत्यादिर्वच्यमागो दण्डो द्रष्टव्यः । अथ तस्समदण्डेनापहर्तुर्दमनं न भवति ॥

१ तस्योपनिधिः ।

२ आधिरवनिमित्तक

३ सीमन्क्षिरकृतगुणाङ्गादिविद्धं

वात् ।

४ आध्यादीनां निहन्तार दापयेद्धनिने धनम् ।

धनायेन, तदा दातव्येषु धनं दापयेत् । यावता तस्य दर्वोपशमो भवति तावदापयेत् । 'दण्डो दमनादित्याहुरस्तेनादाभ्यान्दमयेत्' ( गी० ११२८ ) इति दण्डप्रदणस्य दमनार्थत्वात् । यस्य तु तावममपि द्रव्यं नास्ति, सोऽपि पापता पीडयते तावदाप्यः । यस्य पुनः किमपि धनं नास्ति अस्ती धिरदण्डादिना दमनीयः । तथा च मनुः ( ८१३२९ )—'धिरदण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु यथदण्डमतः परम् ॥' इति । यथदण्डोऽपि शारीरो ब्राह्मणभ्यतिरिक्तानां दशधा दर्शितः । तथाह मनुः ( ८१९२५ )—'दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽप्रवीत् । त्रिषु पर्णेषु यानि स्युरर्चतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तपेव च ॥' इति । एतेषां यस्मिन्नापराधरतत्रैवोपस्थादौ निग्रहः कार्य इति द्रष्टव्यम् । कर्म वा कारयितव्यो यन्धनागारं वा प्रयेनयितव्यः । यथोक्त कात्यायनेन—'धनदानासहं युद्धा स्थाधीनं कर्म कारयेत् । अज्ञस्यै यन्धनागारं प्रदेरयो ब्राह्मणारणे ॥' इति । ब्राह्मणस्य पुनर्द्रव्याभाधे कर्मत्रियोगादीनि प्रयोऽयानि । यथाह गीतमः ( १२।४० )—'कर्मत्रियोगविद्यापननिर्वायनाङ्कुरणान्यवृत्ती ।' इति । नारदोऽपि ( १४।८ )—'यथः सर्वस्वहरणं पुरास्त्रिर्वासनाङ्कने । तद्दण्डेद् दण्डोऽपि दण्ड उक्तमनाहतः ॥ अविरोधेन सर्वेषामेव दण्डविधिः स्मृतः ॥' इत्युक्त्वोक्तम्—'यथाहते ब्राह्मणस्य, न वयं ब्राह्मणोऽर्हति ॥' इति ।—शिरसो मुण्डनं दण्डस्तरस्य निर्वासनपुरात् । ललाटे चाभिज्ञस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दमेन च ॥' ( नारदः १४।९ ) इति ॥ अङ्कने च व्यवस्था दर्शिता ( ९।२३७ )—'गुरुद्वये भग. कार्यः सुरावाते सुराश्वजः । स्तेपे तु श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥' इति । यत्तु—'चक्षुर्निरोधो ब्राह्मणस्य' ( २।२७।१७ ) इत्यापरतम्यवचनं, ब्राह्मणस्य पुरास्त्रिर्वासनसमये वखादिना चक्षुर्निरोधः कर्तव्य इति तस्यार्थः, न तु च.सुरद्वरणम्, 'अज्ञतो ब्राह्मणो व्रजेत्' ( मनुः ८।१२३ ) 'न शारीरो ब्राह्मणे दण्डः' ( गीतमः १२।४६ ) इत्यादिमनुगीतमादिवचनविरोधादित्यल प्रसङ्गेन ॥ २६ ॥

भाषा—आधि ( उन्धक ) आदि के हरण करने वाले से धन के अधिकारी को धन दिलवाये; उसके समान ही दण्ड राजा को दिलवाये अथवा उसकी नाफि देलकर उसके अनुसार दण्ड निर्धारित करे ॥ २६ ॥

स्वस्वाव्यभिचारत्वेन भोगस्य स्वप्ने प्रामाण्यमुक्तम् । भोगमात्रस्य स्वस्व-  
व्यभिचारित्वात्कीदृशो भोगः प्रमाणमित्यत आह—

आर्गमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वकमागतात् ।

स्वस्वहेतु प्रतिग्रहक्यादि आगम । स भोगादप्यधिको चलीयान्, स्वस्व  
 बोधने भोगस्यागमसापेक्षत्वात् । यथाह नारद ( १।८५ )— आगमेन विशुद्धन  
 भोगो याति प्रमाणताम् । अविशुद्धागमो भोग प्रामाण्य नैव गच्छति ॥' इति ।  
 नच भोगमात्रास्वस्वागम , परकीयस्याप्यपहारादिभोगभोगमभवात् । अतएव—  
 'भोग कवलतो यस्तु क्विर्तयेशागम क्वचित् । भोगच्छुलापदेशेन विशेष स तु  
 तस्कर ॥' (नारद १।८।६) इति स्मर्यते । अतश्च सागमो दीर्घकालो निरन्तरो  
 निराक्रोश प्रत्यर्षिप्रत्यक्षश्चेति पञ्चश्लेषणयुक्तो भोग प्रमाणमित्युक्त भवति ।  
 तथा च स्मर्यते 'सागमो दीर्घकालश्चाविच्छेदोऽप्यस्त्रोऽस्ति । प्रत्यर्षिसन्निधानश्च  
 परिभोगोऽपि पञ्चधा ॥' इति । क्वचिच्चागमनिरपेक्षस्यापि भोगस्य प्रामाण्य  
 सिद्धाह—विना पूर्वक्रमागतादिति । पूर्वेषां पित्रादीनां श्रयाणां क्रम  
 पूर्वक्रम , तेनागतो यो भोगस्तस्माद्दिना । आगमोऽभ्यधिक इति सब ध । न  
 पुनरागमादभ्यधिक आगमनिरपेक्ष । प्रमाणमित्यर्थ । तत्राप्यागमोऽज्ञातनिर  
 पेशो न सत्तानिरपेक्ष । सत्ता तु तेनैवावगमयत इति बोद्धव्यम् । विना पूर्व  
 क्रमागतात् इत्यतश्च स्मार्तकालप्रदर्शनार्थम् । 'आगमोऽभ्यधिको भोगात्' इति च  
 स्मार्तकालविषयम् । अतश्च स्मरणयोग्ये काले योग्यानुपलब्ध्या आगमाभाव  
 निश्चयसम्भवादागमज्ञानसापेक्षस्यैव भोगस्य प्रामाण्यम् । अस्मार्ते तु काले योग्या  
 नुपलब्धभावात्नागमाभावनिश्चयासम्भवादागमज्ञाननिरपेक्ष एव सततो भोग  
 प्रमाणम् । एतदेव स्पष्टीकृत कार्यायनेन— स्मार्तकाले क्रिया भूमे सागमा  
 मुक्तिरिष्यते । अस्मार्तेऽनुगमाभावात्कमादित्रपुरुषागता ॥' इति । स्मार्तश्च कालो  
 वर्षशतपर्यन्त , 'शतायुर्वै पुरुष' इति ध्रुत । अनुगमाभावादिति योग्यानु  
 पलब्ध्यभावेनागमाभावनिश्चयामभवादिस्वर्थ । अतश्च वर्षशताधिको भोग  
 सततोऽपतिरव प्रत्यक्षश्रागमाभावे वाऽनिश्चितेऽभ्यभिचारादाक्षिप्तागम स्वस्व  
 गमयति । अस्मार्तेऽपि कालेऽनागमस्मृतिवरम्परायां सस्यां न भोग प्रमाणम् ।  
 अत एव अनागम तु यो मुहूर्ते बहून्यब्दशता यपि ॥ चौरदण्डेन त पाप  
 दण्डयत्पृथिवीपति ॥ इत्युक्तम् । नच 'अनागम तु यो मुहूर्ते इत्येकत्रचननिर्देशात्  
 'बहून्-बदशतान्यपि इति अपि शब्दप्रयोगात्प्रथमस्यैव पुरुषस्य निरागमे चिर  
 कालोपभोगोऽपि दण्डविधानमिति मतव्यम् । द्वितीये वा पुरवे निरागमस्य  
 भागस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चैतदिष्यते— आदौ तु कारण दान मध्ये भुक्तिस्तु  
 सागमा' ( नारद २।८७ ) इति नारदस्मरणत् । तस्मात्सर्वत्र निरागमापभोगे  
 अनागम तु यो मुहूर्ते' इत्येतद् द्रष्टव्यम् । यदपि 'अ-वायेनापि यदुक्त पित्रा पूर्व  
 तैस्त्रिभिः । न तच्छुक्वयमपाहर्तुं क्रमात्रिपुरुषागतम् ॥' इति, तदपि पित्रा सह

पूर्वतरैस्त्रिभिर्इति योऽयम् । तत्रापि 'प्रमात्रिपुरपागत'मित्यस्मात्तंहालोपभोग-  
लक्षणम् । त्रिपुरविवक्षायामेकवर्षाभ्यन्तरेऽपि पुरपत्रदातिक्रमसम्भवात्, द्विर्वाये  
वर्षे निरागमस्य भोगस्य प्रामाण्यप्रसंग । तथा सति 'स्मार्तकाले क्रिया भूमे सा-  
गमा भुक्तिरिवते' इति स्मृतिविरोध, 'अन्यायेनापि यद्भुक्तम्' इत्येतच्चाध्याय-  
नापि भुक्तमपहर्तुं न शक्य, किं पुनरन्यायानिश्चये इति व्याख्येयम्; 'अपि' शब्द-  
ध्वजगत् । यच्च क्व हारातेन—'वद्विनाऽऽगममायन्तं' भुक्त पूर्वस्त्रिभिर्भवत् । न  
तच्छुद्धयमपाहर्तुं प्रमात्रिपुरपागतम् ॥' इति, तत्राप्यस्यन्तन्तमागम विनेति ।  
अस्यन्तमुपलभ्यमानमागम . विनेति व्याख्येय, न पुनरागमस्वरूप विनेति ।  
आगमस्वरूपाभावं भोगक्षतेनापि न स्वयं भवतीत्युक्तम् । 'प्रमात्रिपुरपागतमि-  
त्येतदुच्छायम् । ननु स्मरणयोग्ये काले भोगस्यागमसापेक्षस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् ।  
तथा हि—यथागम प्रमाणाऽन्तरेणावगतस्तदा तेनैव स्वस्वावगमान्न भोगस्य  
स्वरव आगमे वा प्रामाण्यम् । अथ प्रमाणाऽन्तरेणागमो नावगत कथं तद्विशिष्टो  
भोग प्रमाणम् ? उच्यते,—प्रमाणाऽन्तरेणावगतागमसहित एव निरन्तरो  
भोग कालान्तरे स्वयं गमयति । अवगतोऽप्यागमो भोगरहितो न कालान्तरे  
स्वयं गमयितुमलम् । मध्ये दानविक्रवादिना स्वस्वावगमसम्भवादिति सर्वं  
मनवद्यम् ॥

आगमसापेक्षो भोग प्रमाणमित्युक्तम्, आगमस्तर्हि भोगनिरपेक्ष एव  
प्रमाणमित्यत आह—

आगमेऽपि धर्तं नैव भुक्ति स्तोकापि यत्र नो ॥ २७ ॥

यस्मिन्नागमे स्वस्वापि भुक्तिर्भोगो नास्ति तस्मिन्नागमे धल संपूर्णं नैवा  
स्ति । अयमभिसंधि—स्वस्वस्वनिवृत्ति परस्वस्वापादन च दानम्, परस्व-  
स्वापादन च परो यदि स्वीकरोति तदा संपद्यते, नान्यथा । स्वकारण त्रिविध—  
मानस, वाचिक, कायिकश्चेति । तत्र मानसो ममेदमिति सकलरूप । वाचिकस्तु  
ममेदमित्याद्यभिध्याहारोह्येऽपि सविद्वत्प्रक प्रत्यय । कायिक पुनरुपादानाभिमर्त्त  
नादिरूपोऽनेकविध । तत्र च नियम स्मर्यते—'दद्यात्कृष्णाजिनं पृष्टेर्गां पुरष्टे  
करिणं करे । केशरेषु तथैवाथ दासो शिरसि दापयेत् ॥' इति । आश्वलायनोऽ-  
प्याह—'अनुमन्त्रयेत् प्राण्यभिमृशेद्द्वाराणि वन्यां च' इति । तत्र द्विरण्यवस्त्रादा-  
द्युदकदानानन्तरमेवोपादानादिसम्भवात् त्रिविधोऽपि स्वीकार संपद्यते । चेत्त्रादौ  
पुन फलोपभोगव्यतिरेकेण कायिकस्वीकारासम्भवात्स्वहृदयेनाप्युपभोरोत भवित-  
व्यम्, अन्यथा दानकथायै संपूर्णता न भवतीति फलोपभोगलक्षणकायिक

स्वीकारितान् आगमो दुर्ययो भवति तन्वद्विज्ञानादागमात् । एतच्च द्वयोः पूर्वापर-  
कालपरिज्ञाने । पूर्वापरकालपरिज्ञानं तु 'सुगम इति पूर्वज्ञानागम एव यत्कीया-  
निति । अथवा—'लिटिग साक्षिणो भुक्ति प्रमाण त्रिविधम्' इत्युक्त एतेषां  
समवाये दुष्ट वरथ वा पाठव्यभिचयत्रेदमुपतिष्ठते— आगमोऽभ्यधिको भोगाद्धिना  
पूर्वज्ञानागमात् । आगमेऽपि यत् नैव भुक्ति स्वीकार्ये यत्र नो ॥' इति । अय-  
मर्थः—आद्ये पुरथे साक्षिभिर्भावित आगमात् नानादृश्यधिमो घटवान् । पूर्वज्ञाना-  
गताङ्ग गाद्धिना । न पुनः पूर्वज्ञानागतो भोगश्चतुर्थे पुरथे लिखितेन भावितदा-  
गमाद्बलवान् । गण्यमे तु भवति उतादागमात्तदाङ्गभावनद्विगम्यागमात् कथं वा-  
निति । एतदेव तत्रादेव स्पष्ट इत्यम्—'गद्वी तु दान्ता दान मध्व भुक्तिरतु  
सागमा । वारण भुक्तिरेव । कतता २ चिरन्तनी ॥' इति ॥ २० ॥

भाषा—तीन पढा पढते स चल आते हूए भग ( कर्तव्य ) की अपेक्षा  
आगम ( लेख ) लिखित प्रामाणिक होता है । ( आगम सादेव भोग ही  
प्रमाण होता है । लिखित जो भी गदा भा भग गदा दीया पढाँ आगम में ही  
दग नदी रह जाय है ) ॥ २० ॥

'परथोऽमरत' ( व्य० २४ ) इत्यादि विज्ञानव्योपभागादूर्ध्वं भूमेर्धनस्या-  
पि दश-पोषभागादूर्ध्वं कानुतरणं न भव ॥ इत्युक्तम् तत्र कानुतरणवदण्डा-  
नुसरणमपि न भवित्पतीत्याशङ्क्य पुरुषव्यस्यदा च दण्डव्यवस्था वृत्तपि  
तुगाह—

आगमस्तु एनो येन सोऽभियुक्तस्तमुदरेत् ।  
न तस्मिन्स्तस्तुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी ॥ २१ ॥

येन पुरथेन भूयगादेरागम स्वीकारः कृत स पुरुष 'कुतस्ते क्षेत्रादिरम्'  
इत्यभियुक्तमागम प्रतिग्रहोद्विक लिखितादिभिरुदरेत् भावयत् । अनेन व्याप्त  
स्य पुरथम्यागममनुदरेतो दण्ड इत्युक्तं भवति । तस्मिन्तो द्वितीयोऽभियुक्तो  
नागममुदरेत्, किन्तु अत्रिचिज्जाऽप्रतिषेध पमस्य भागम् । अनेन आगममनु-  
दरेतो द्वितीयस्य न दण्डाऽपि तु विधिष्ट भगमनुदरेतो इति प्रतिपादितम् ।  
तस्मिन्स्तुतीयो नागम भावि विधिष्ट भोगमुदरेत् अपि तु क्रमागत भोगमा-  
श्रय । अनेनापि तृतीयस्य क्रमागतभोग मुद्रादी दृष्टो नागमानुदरेतो न विधि-  
ष्टभोगानुदरेतो क्षेत्रमिहितम् । तत्र तयोद्वितीयतृतीययोर्भुक्तिरेव गरीयसा ।  
तत्रापि द्वितीये गुरुरतृतीये गरीयसीति विवेकऽयम् । त्रिष्वप्यागमानुदरेतोऽर्थ-  
हानिः समानैव, दण्डे तु विशेष इति तत्पर्यर्थः । उक्तं च हारीतेन—'आगमस्तु

१. सहितादागमाभावात्, दनुमन्त्रयेत् । २. प्रतिप्रदावेति ।

कृतो येन स दण्ड्यस्तमनुद्धरन् । न तस्मिन्तरस्तुतो वा भोग्यदानिरतधोरपि ॥  
इति ॥ २८ ॥

भाषा—जिव ध्यक्ति ने आगम ( लेख ) करवाया है वह अभियोग चलाये जाने पर उसे प्रस्तुत करे । उसके पुत्र या पौत्रों को वह आगम प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं रहता, उनके सम्बन्ध में भोग ही प्रमाण होता है ॥ २८ ॥

अस्मार्तकालोपभोगस्यागमज्ञाननिरपेक्षस्य प्रामाण्यमुक्त 'विना पूर्वद्वयमाग सात्' ( व्य० २७ ) इत्यत्र, तस्यापवादमाह—

योऽभियुक्त परेत स्यात्तस्य रिक्थी तमुद्धरेत् ।

न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता ॥ २९ ॥

यदा पुनराहर्त्रादिरभियुक्तोऽकृतव्यवहारनिर्णय एव परेत स्यात् परलोक गतो भवेत्तदा तस्य रिक्थी पुत्रादिस्तमागममुद्धरेत् । यस्मात्तत्र तस्मिन्व्यवहारे भुक्तिरागमरहिता साध्यादिभि साधितापि न प्रमाणम्, पूर्वाभियोगेन भागस्य सापवादस्यात् । नारदेनाप्युक्तम् ( १.९३ )—'तथा'रुद्रविवादस्य प्रेतस्य व्यवहारिण । पुत्रेण सोऽर्थ्यं सशोध्यो न त भोगो निर्वर्तयेत् ॥' इति ॥ २९ ॥

भाषा—यदि अभियुक्त ( अभियोग चलते समय ही ) मर जावे तब उसके उत्तराधिकारी ( पुत्र इत्यादि ) उस आगम को प्रस्तुत करें । उस स्थिति में विना आगम के भोग प्रमाण नहीं माना जाता ॥ २९ ॥

अभिर्णितव्यवहारे व्यवहर्तरि प्रते व्यवहारो न निवर्तत इति स्थितम् । निर्णितेऽपि व्यवहारे, स्थिते च व्यवहर्तरि व्यवहार क्वचिःप्रवर्तते क्वचित् प्रवर्तत इति व्यवस्थासिद्धय व्यवहारदर्शनां बलाश्लमाह—

नृपेणाधिकृता पूगा श्रेणयोऽथ कुलानि च ।

पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेय व्यवहारविधौ नृणाम् ॥ ३० ॥

नृपेण राजा अधिकृता व्यवहारदर्शने विमुक्ता—'राजा सभासद् कार्या' ( व्य० २ ) इत्यादिनोक्ता पूगा समूहा, मिश्रजातीनां मिश्रवृत्तीना एकस्था ननिवासिना,—यथा प्रामनगरादय, श्रेणयो नानाजातीनामेकजातीनामप्येक-मोऽप्येकोविना समाला, यथा देहशुक्रादीना ताम्रवृत्तिरुद्रिन्दुधर्मजारादीनां च, कुलानि ज्ञातिसर्वान्धव-धूनां समूहा, एतेषां नृपाधिकृतादीना चतुर्णां पूर्वं पूर्वं यद्यत्पूर्वं पठितं तत्तद्गुरु बलवत्ज्ञेयं यदित्यम् । नृणां व्यवहर्तृणा, व्यवहारविधौ व्यवहारदर्शनकार्ये । एतदुक्तं भवति—नृपाधिकृतैर्निर्णीते व्यवहारे पराजितस्य यद्यप्यसतोप रुद्रष्टिबुद्ध्या भवति, तथापि न पूगादियु पुनर्ध्ववहारो भवति ।



एवं पूगनिर्णतिऽपि न श्रेण्यादिगमनम् । तथा श्रेणिनिर्णति कुलगमन म  
भवति । कुलनिर्णति तु श्रेण्यादिगमन भवति । श्रेणिनिर्णति पूगादिगमनम् ।  
पूगनिर्णति नृपाधिकृतगमन भवतीति । नारदेन पुनर्नृपाधिकृतैर्निर्णतिऽपि व्यव-  
हारे नृपगमन भवतीत्युक्तम्—'कुलानि श्रेण्यश्चैव गणाश्चाधिकृता नृपा । प्रतिष्ठा  
व्यवहाराणा गुर्वेषामुत्तरोत्तरम्' इति । तत्र च नृपगमने सोत्तरेत्सभ्येन राज्ञा  
पूर्वं मर्त्ये सपणव्यवहारे निर्णीयमाने यद्यमौ कुट्टपवादी पराजितस्तदाऽसौ  
दण्डय । अथासौ जयति तदाऽधिकृता सभ्या दण्डयाः ॥ ३० ॥

भाषा—मनुष्यों का व्यवहार देखने के कार्य में राजा द्वारा नियुक्त  
व्यक्ति, पूगा ( समूह ), एक कार्य करने वालों की विराद्री और जाति तथा  
सम्बन्धी का समूह ( कुल ) को मगना श्रेष्ठ समझना चाहिए ॥ ३० ॥

दुर्बलैर्व्यवहारदक्षिभिर्दृष्टा व्यवहार परावर्तते, प्रबलदृष्टस्तु न निवर्तत  
इत्युक्तम् , इदानीं प्रबलदृष्टोऽपि व्यवहार कश्चिन्निवर्तत इत्याह—

यत्नोपाधिविनिर्मुक्तान्व्यवहाराधिवर्तयेत् ।

स्त्रीनक्तमन्तरागारर्याह शशुकृतांस्तथा ॥ ३१ ॥

यत्नेन बलात्कारेण उपाधिना भयादिना विनिर्मुक्तान्व्यवहारान्नि-  
वर्तयेत् । तथा स्त्रीभिः, नक्त रात्रावस्त्रीभिरपि, अन्तरागारे गृहाभ्यन्तरे, बहिर्गमा  
दिभ्यः, शशुभिश्च कृतान् व्यवहारान् 'निवर्तयेत्' इति सवन्ध ॥ ३१ ॥

भाषा—यत्पूर्वक एव भय आदि द्वारा निवृत्त व्यवहारों एव स्त्रियों के  
साथ, रात्रि को, घर के भीतर, प्राप्त आदि के बाहर और शशुओं द्वारा किये  
गये व्यवहारों पर पुन विचार करे ॥ ३१ ॥

असिद्धव्यवहारिण आह—

मत्तोन्मत्तार्तव्यसनिवालभीतादियोजितः ।

असंयद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्धयति ॥ ३२ ॥

अपि च, मत्तो मदनान्यद्व्ययेन, उन्मत्त उन्मादेन पञ्चविधेन वातपित्तश्लेष्म  
स्निपातग्रहसभवेनोपसृष्ट, आतो व्याध्यादिना, व्यसनमिष्टवियोगैऽनिष्टप्राप्ति-  
जनित दुःख, तद्वाग्व्यसनी, बालो व्यवहारायोग्य, भीतोऽरातिभ्यः, 'आदि'  
ग्रहणापुराणादिविरुद्ध ।—पुराराष्ट्रविरुद्धश्च यश्च राज्ञा विमज्जित ।  
अनाद्वयो भवेद्वादो धर्मविज्ञिरदाह्न ॥' इति मनुस्मरणात् । पूर्वयोजित कृतो

१. नृपैः । २ सोत्तरेति उत्तराश्लासी सम्बन्धेति तस्मद्विनेन-स्वोत्तर ।

३ बलोपधि । तत्रोपधि कैतव ४ उपधिना भवेन । ५ असवन्धकृत ।

६. वियोगोऽनिष्टप्राप्तिरतज्जनित ।

व्यवहारो न सिद्ध्यति । अग्निदुष्कासंयद्भृशोऽपि व्यवहारो न सिद्ध्यतीति  
संयमः । यत्तु स्मरणम्—‘गुरोः शिष्ये पितुः पुत्रे दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः ।  
त्रिरोधे तु मिश्रतेषां व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥’ इति, तदपि गुरुरभिप्रादीना-  
मायन्तिदण्डव्यवहारप्रतिषेधपर न भवति तेषामपि कथञ्चिद्व्यवहारोऽप्येष्टयात् ।  
तथा हि—‘शिल्पादिशिष्टिरवधेन दत्ता रज्जुवेणुविद्युत्पाशैस्तदुत्तरां, धन्येन  
मन् राशा शास्यः’ ( २४२४ ) इति गौतमस्मरणत् । ‘गोचमात्रे कथयन्’  
( ८१०० ) इति मनुस्मरणत् । यदि गुरु कोपाद्येनान्नान्नदत्ता दण्डेनोचमात्रे  
सादयति, तदा श्रुतिव्यपेतेन मार्गेणाधपितः शिष्यो यदि राज्ञे निवेदयति,  
तदा भयस्येव व्यवहारपदम् ॥ तथा—‘भूर्यां पितामहोपात्ता’ ( व्य० १२१ )  
इत्यादिप्रचनार्वितामहोपात्ते भूर्यादीं पितापुत्रयो र्वाग्ने मग्ने, यदि पिता  
विक्रमादिना पितामहोपात्त भूर्यादि नादायति तदा पुत्रो यदि धर्मोपिर्करण  
प्रयेक्षयति तदा पितापुत्रयोरपि भयस्येव व्यवहारः ॥ तथा—‘दुर्मिते धर्मकार्ये च  
व्याधौ सप्ततिरोधे । श्रुतीत र्छोधन भर्ता भ्रातामा दातुमर्हति ॥’ इति  
स्मरणत्, दुर्मित्यादिव्यतिरेकेण यदि शोधन भर्ता स्वदातव्य विद्यमानधनोऽपि  
याच्यमानो न ददाति तदा दम्पत्यारपीत्यत एव व्यवहारः । तथा भक्तदामस्य  
स्वामिना सह व्यवहारं वचयति । गर्भदास्यपि, गर्भदासादीन्विद्व्य—  
‘दक्षिणा स्वामिन इच्छिमोच्येरेष्टात्सदायात् । वास्तव्यम विगुह्यत पुत्रभाग  
लभेत च ॥’ इति नारदोक्तत्वे च, तदमोचने पुत्रभागादाये च स्वामिना सह  
व्यवहारः केन वार्यते ? तस्माद्दृष्टादृष्टया श्रेयस्करा न भवति गुरोर्भिर्ष्यवहार  
इति प्रथम शिल्पादयो निवारणीयाः । राज्ञा समभ्येनेति ‘गुरोः शिष्ये’ इत्यादि  
श्लोकस्य तात्पर्याथं । अत्यन्तनिर्दग्धे तु शिल्पादानामप्युक्तोऽथा प्रवर्तनीयो  
व्यवहारः । यदपि—‘पुत्रस्य बहुभिः सार्धं स्वार्णं श्रेयस्करस्य च । अनादेयो  
भवेद्दादो धर्मोपिर्ददाहत् ॥’ इति नारदवचनम्, तद्येनचापि—‘गणद्वय  
हरेष्वस्तु सविद लक्ष्येच यः’ । ( व्य० १०० ) तथा—‘एव एवतां यद्गतां च’  
( व्य० २२१ ) इत्यादिस्मरणादेर्दार्ढ्येर्दुर्गतिः सार्धं व्यवहार इत्यत एवेति  
भिक्षार्थेर्दुर्गतिरेकस्य गुणपद्व्यवहारो न भवतीति द्रष्टव्यम् । स्त्रीणां अपि  
गोपशौण्डिजादिस्त्रीणां स्वातन्त्र्याद्व्यवहारो भयस्येवेति, तदन्गामां ह्युत्तरीणां  
पतिषु जीवैस्तु साधारतन्त्र्यादानादेयो व्यवहार इति व्याप्तेयम् । ‘मिष्यजनस्य  
स्वामिपारतन्त्र्या’ इत्यर्थव्यवहारेऽपि स्वाभ्यनुज्ञयैव व्यवहारा नान्यथेति  
व्याख्येयम् ॥ ३२ ॥

१. धिकारिण प्रव्रिजति । २ व्यवहारान् । व्यवहारपदं । ३ जीवस्तु  
सरसु । ४. योजनीयम् ।

भाषा—सत्त ( नक्षे में युक्त ), उन्मत्त ( पागल ), रोगी, मियज्जन की मृत्यु आदि से विगत्तिग्रस्त, घालक, अस्त ( शत्रु से भयातुर ) व्यक्तियों के ऊपर चलाया गया व्यवहार पत्र असवद्ध व्यक्ति द्वारा चलाया गया व्यवहार मिद्ध या विचारणीय नहीं होता ॥ ३२ ॥

पराशर्य व्यवहारमुक्त्वा हृदानो पराशर्यं द्रव्यमाह—

प्रनष्टाधि गतं देयं नृपेण धनिने धनम् ।

विभाषयेत्तच्छ्लिङ्गैस्तरसमं दण्डमर्हति ॥ ३३ ॥

प्रनष्ट द्विरण्यादि शीहिरकस्थानपालादिभिरधिगतं राज्ञे समर्पितं यत्तद्राज्ञा धनिने दानव्यम् । यदि धना रूपमज्ञादिभिर्निर्दिष्टैर्भावयति । यदि न भवति तदा तत्प्रथमं दण्डयेत्, अन्वयनादित्यात् । अविद्यमानस्य स्वराजिमित्तत्वात्स्वराजे प्रक्षेपे तत्पराशर्यत्तरनेनोक्ता । अत्र च कालावधिं यत्परति ( १७३ )—‘शीहिरकैः स्थानेषु शैर्वा नष्टावदन्माह्वयम् । तत्रास्वराज्यराक्षसो हरेत् परतो नृपः ॥’ इति । मनुना पुनः तत्पराशर्यमवधिष्येन निर्दिष्टम् ( ८।३० )—‘प्रनष्टस्वामिक रिवथ राजा श्रयद् निधापयेत् । अर्वाक् स्वददाद्गोस्वामी परतो नृपतिर्हरेत् ॥’ इति । तत्र वर्षत्रयपर्यन्तमवश्यं रक्षणीयम् । तत्र यदि स्वराज्यद्वारं स्वाम्यागच्छेत्तदा हृत्स्नमेव दद्यात् । यदा पुनः स्वराज्यदूर्ध्वभागच्छति, तदा किञ्चिद्भागं रक्षण-गुर्यं गृहीत्वा शेषं स्वामिने दद्यात्, यथाह—‘शरद्रीत्याय पद्भागं प्रनष्टाधि-गतान्मनुपः । दशमं द्वादशं वापि मतां धर्ममनुस्मरन् ॥’ ( मनु० ८।३० ) इति । तत्र प्रथमे वर्षे हृत्स्नमेव दद्यात्, द्वितीयं द्वादशं भागं, तृतीये दशमं, चतुर्थादिषु षष्ठं भागं गृह्णात्वा शेषं दद्यात् । राजभाष्यस्य चतुर्थोऽन्तोऽप्रिगन्त्रे दानव्यः । स्वाम्यनागमे तु हृत्स्नस्य धनस्य चतुर्थमंशमधिगन्त्रे दत्त्वा शेषं राजा गृह्णीयात् । तथाह गौतमः ( १०।३६-३८ )—‘प्रनष्टस्वामिकमधिगत्य स्वराज्यं राजा रक्षयम् । ऊर्ध्वमंशं तु ध्वजुर्गोऽन्तां राज्ञः शेषम्’ इत्यत्र संवत्परमित्येक-वचनमत्रिदशितम् । ‘राजा श्रयद् निधापयेत्’ इति स्मरणात् ‘हरेत् परतो नृपः’ इत्येतदपि स्वामिन्दानागतं श्रयद्गोस्वामी व्ययीकरणाद्यनुष्ठानपरम् । तत्र परमागते तु स्वामिनि स्वर्वाभूतेऽपि द्वेष्ये राजा स्वोत्तमवतार्यं तत्प्रथमं दद्यात् । एतच्च द्विरण्यादिविषयम् । गजादिविषये यत्परति ( १७४ )—‘पगानेकशक्रे दद्यात्’ इत्यादिना ॥ ३३ ॥

भाषा—किसी की गोरूँ हुई वस्तु पाकर राजा उस धन के अधिकारी को यह वस्तु ( धन ) देवे और यदि वह जिह्वाँ द्वारा उमे ( भयना ) प्रमागित कर सके तो उसके समस्त दण्ड का भागी होता है ॥ ३३ ॥

१. रूपकसंख्या । २. पद्भाग । ३. चतुर्थो भागः शेषं राज्ञ इति ।

रथ्याशुलकशालादिनिपतितस्य सुवर्णादिर्नक्षस्याधिगमे विधिमुपस्था अथुना  
भूमौ चिरनिष्ठातस्य सुवर्णादिर्निधिश्चद्वयाध्यस्याधिगमे विधिमाह—

राजा लब्ध्या निधिं दद्याद् द्विजेभ्योऽर्घं द्विजः पुनः ।

विठानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ ३४ ॥

इतरेण निधौ लब्धे राजा पष्टांशमाहरेत् ।

अनिवेदितविष्ठातो दाप्यस्तं दण्डमेव च ॥ ३५ ॥

उक्तलक्षणं निधिं राजा लब्ध्या अर्घं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा शेषं कोदो निवेदयेत् ।  
ब्राह्मणस्तु विद्वान् भुजाध्ययनसंपन्नः सदाप्यसौ यदि निधिं लभेत तदा सर्वमेव  
गृहीयात्, यस्मादसौ सर्वस्य जगतः प्रभुः । इतरेण तु राजविद्वद्ब्राह्मणव्यति-  
रिक्तेन अविद्वद्ब्राह्मणवृत्तियादिना निधौ लब्धे राजा पष्टांशमधिगन्त्रे दद्यात् शेषं  
निधिं स्वयमाहरेत् । यथाह वसिष्ठ—‘अप्रज्ञायमानं वित्तं योऽधिगच्छेद्वाजा तद्द-  
रेत्, अधिगन्त्रे पष्टमंशं, प्रदद्यात्’ इति । गौतमोऽपि ( १०।३।५ )—‘निध्य-  
धिगमो राजधनं भवति, न ब्राह्मणस्याभिरूपस्य, ब्राह्मणोऽप्याख्याना पष्टमंशं  
लभेत्तोयेके’ इति । अनिवेदित इति कर्त्तरि निष्ठा । अनिवेदितश्चासौ विज्ञातश्च  
राज्ञेऽप्यनिवेदितविज्ञातः, यः कश्चिन्निधिं लब्ध्या राज्ञे न निवेदितवान् विज्ञातश्च  
राज्ञा स सर्वं निधिं दाप्यो दण्डं च दातव्यपेक्षया । अथ निधेरपि स्वाग्नास्य  
रूपकसंख्यादिभिः स्वार्घं भावयति तदा तस्मै राजा निधिं दत्त्वा पष्टं द्वादशं  
षाडशं स्वयमाहरेत् । यथाह मनुः ( ८।३५ )—‘ममापमिति यो द्रुपाग्निनिधिं  
सत्येन मानवः । तस्यादर्दं त पदभागं राजा द्वादशमेव वा ॥’ इति । संश्लिष्यत्प-  
स्तु वर्णकालापेक्षया वेदितव्यः ॥ ३४-३५ ॥

भाष्य—राजा ( इस प्रकार का ) धन लेकर उसका भाषा ब्राह्मणों को  
दान कर दे । विद्वान् ब्राह्मण यदि ऐसी निधि पाये तो सम्पूर्ण स्वीकार करे,  
क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत् का स्वामी होता है । ( राजा, विद्वान् ब्राह्मण के  
अतिरिक्त ) किसी और से धन लेवे तो उसका छुटा अंश लाने वाले को  
देकर शेष राजा स्वयं ले लेवे । न यतार्द्रं गर्हं निधिं ज्ञानं हो जाय तो उसे  
सम्पूर्ण निधि दण्ड के रूप में दिलवाये ॥ ३४-३५ ॥

श्रीरहस्यं शक्यत्—

देयं श्रीरहस्यं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु ।

अददद्धि समाप्नोति किरियं यम्य तस्य तत् ॥ ३६ ॥

श्रीरहस्यं द्रव्यं श्रीरेभ्यो विज्ञित्य जानपदाय स्वदेशनिवासिने यस्य तत्  
द्रव्यं तस्मै राजा द्यातव्यम् । द्वि पश्चात् अददत् अमपददत् यस्य तदपहृतं

१. दद्याद्द्विमेभ्योऽर्घं । २. राजधनं न ब्राह्मणस्य । ३. रूपकसंख्यादिभिः ।

द्रव्यं तस्य किविषयमाप्नोति । तस्य चौरस्य च । यथाह मनु ( ८।४० )—  
 'दातव्य सर्ववर्णैभ्यो राज्ञा चौरैर्हृत धनम् । राजा तदुपयुञ्जानचौरस्याप्नोति  
 किविषयम् ॥' इति । यदि चौरहस्तादादाय स्वयमुपभुङ्क्ते तदा चौरस्य  
 किविषयमाप्नोति । अथ चौरहृतमुपेक्षते तदा जानपदस्य किविषयम् । अथ चौर-  
 हताहरणाय यत्तमानोऽपि न शक्नुयाद्दाहृतं तदा तावद्धन स्वकोशाद्यात् ।  
 यथाह गौतम — ( १।।४६ ) 'चौरहृतमवजित्य यथास्थानं गमयेत्कोशाद्वा दद्यात्'  
 इति । कृष्णद्वैपायनोऽपि—'प्रत्याहृतं न शक्तस्तु धन चौरैर्हृतं यदि । स्वकोशा  
 तद्धि देयं स्यादशक्तेन महाचिता ॥' इति ॥ ३६ ॥

भाषा—चोरों से छीने गये धन को राजा अपने देश के निवासी को  
 ( जिसका वह धन हो ) देवे । यदि उसका धन नहीं देना तो उस धन के  
 अधिकारी क सभी पाप उभे लग जाते हैं ॥ ३६ ॥

इत्यसाधारणव्यवहारमातृकामकरणम् ।

### अथ ऋणादानप्रकरणम् ३

साधारणासाधारणरूपा व्यवहारमातृकामभिधायाधुनाष्टादशानां व्यवहार-  
 पदानामाद्यष्टादशानां पद दर्शयति—'अशीतिभागो वृद्धिः स्यात्' इत्यादिना,  
 'मोक्ष्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने' ( व्य० ६४ ) इत्येवमन्तेन । तत्र  
 ऋणादान सहविधम्—ईदृशमृण देय, ईदृशमदेय, अनेनाधिकारिणादेय, अस्मिन्  
 समये देय, अनेन प्रकारेण देयम्, इत्यधमर्णं पञ्चविधम् । उत्तमर्णं दानविधि,  
 आदानविधिश्चेति द्विविधमिति । एतच्च नारदेन स्पष्टीकृतम् ( १।१।४ )—ऋण  
 देयमदेय च येन यत्र यथा च यत् । दानप्रदणधर्मैर्मांशुणादानमिति स्मृतम् ॥'  
 इति । तत्र प्रथममुत्तमर्णस्य दानविधिमाह, तत्पूर्वकत्वादिनरेषाम्—

अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सवन्धके ।

धर्णकमाच्छतं द्वित्रिचतुष्पञ्चकमन्यथा ॥ ३७ ॥

मासि मासि प्रतिम म् बन्धक विश्वासाथं यदाधीयते, आधिरिति यावत् ।  
 बन्धकेन सह वर्तत इति मत्र धर प्रयोग, तस्मिन्मबन्धके प्रयोगे प्रदुष्य  
 द्रव्यस्य अशीतितमो भागो वृद्धिर्धर्म्या भवति । अन्यथा बन्धकरहिते प्रयोगे  
 वर्णानां ब्राह्मणादानां क्रमेण द्वित्रिचतुष्पञ्चकं वात धर्म्यं भवति । ब्राह्मणेऽधमर्णं  
 द्विकं वात, त्रिपिं त्रिक, चैरये चतुर्क, शूत्रे पञ्चकम् । मासि मासीत्यत्र द्वौ  
 वा, त्रयो वा, चतसरो वा, पञ्च वा, द्वित्रिचतुष्पञ्चा, अस्मिन् एते वृद्धिर्भवते इति

द्वित्रिचतुषष्टकं शतम् । 'सत्याया अनिदाद-ताया कृ' ( पा ५११२२ )  
 इत्यनुवृत्तौ 'तदस्मि वृद्धवायलाभशुलापदा दीयते' ( पा ५११४७ ) इति वन् ।  
 ( वृद्धेवृद्धिश्चकृद्धि प्रतिमास तु कालिना । इच्छाकृता कारिता स्यात्कायिका  
 कार्यकर्मणा ) इत्य च वृद्धिर्मासि मासि गृह्यते इति कालिना । इत्यमेव वृद्धिर्दि-  
 यतगणनाया विभज्य पतिदिवस गृह्यमाणा कायिका भवति । तथा च नास्तेन  
 ( १११०२, ४ )—'कायि । कालिना चैव कारिता च तथा एता । चन्द्रद्विष्य  
 चाद्येषु मस्य वृद्धिश्चतुर्विधा ॥' इत्युक्त्येवम्—'कायिकोविनी दश पणपादा-  
 दिवायिका । प्रतिमास एत ता या वृद्धि सा कालिना मता ॥ वृद्धि सा  
 कारिता षाड्मर्णिकेन स्वय कृता । वृद्धरपि पुत्रवृद्धिश्चकृद्धिर्दशहता ॥' ( ११  
 १०३ ४ ) इति ॥ ३७ ॥

भाषा—य-धक रत्ने तुण धन पर उत्तरा धरणीर्वा भाग प्रत्येक मास मे  
 ध्याज होता है । अन्यथा ( य-धक न होने पर ) वर्ष के अनुसार ( ब्राह्मण  
 आदि न क्रमशः ) दश तीन, चार बीस पौष प्रतिशत ध्याज लगाना  
 चाहिये ॥ ३७ ॥

ग्रहादिशेषेण वृद्धे प्रकारान्तरमाह—

कान्तारमास्तु दशकं नामुद्रा विंशकं शतम् ।

कान्तारमरण्य तत्र गच्छेत्तीति कान्तारमा । य वृद्धया धन गृहात्वाधि-  
 लाभायमनिगद्येन प्राणधनविनाशशङ्कास्थान प्रविशन्ति त दशकं शत वृत्तु । यं  
 च समुद्रगाम्ने विंशकं शतम् । मासि मासीत्येव । एतदुक्तं भवति—कान्तार  
 गेभ्या दशकं शतं नामुद्रमथश्च विंशकं शतं, उत्तमर्षं भादशात्, मूलविनाश-  
 स्यापि दण्डितस्यादिनि ॥

इदानीं कारि ता वृद्धिमाह

दद्युर्वा स्वर्गा वृद्धिं चर्चं सर्वांसु जातिषु ॥ ३८ ॥

मर्षं वा प्राणतदुवाड-मर्षां तत्र-यत्र मय-धक वा दृष्टौ दशभ्यु-  
 पगता वृद्धिं सर्वान् जातिषु दद्युः । कृत्वि-जायि वृद्धिर्भवति, यथाह नारद  
 ( १११०८ )—'न वृद्धिं पति चानां स्यादनाकारिता क्वचित् । नकारिता  
 मन्वृष्यै रम्यशार्धोद्भिर्धनं ॥' इति । यस्तु याचिक गृह्यते, दशान्तर गणसत  
 प्रति कालपायनतासम्—वा याचिकमादाय ममदत्ता दित्तं ममेत् । ऊर्षं  
 मयसरासस्य तद्धन वृद्धिमाप्नुयात् ॥' इति । यत्र याचिकमादाय याचिकः  
 स्वदत्ता देवान्तरं भवति त प्रति मनेव नम्—कृतोद्धारमदत्ता यो याचिकस्तु

१ पुत्रवृद्धिश्चकृद्धिश्च ।

२ विंशतिर ।

३ पाति ।

द्विशं ब्रजेत् । ऊर्ध्वं मातृव्यासस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात् ॥' इति । यः पुनः स्वदेशे स्थित एव याचितो याचितक न ददाति त याचितदालादारभ्योकारितां वृद्धिं दापयेद्ग्राजा । यथाह—'स्वेदेशेऽपि स्थितो यस्तु न दद्याद्याचिन' इति । तं नतोऽकारितां वृद्धिमनिच्छन्तं च दापयेत् ॥' इति । अनाकारितवृद्धेरपचादो नारदेशोक्त—'पण्यमूढस्य भृतिर्न्यायो दण्डो यश्च प्रकल्पितः । वृथादानाच्छिरुवणा वर्धन्ते चाविचिताः ॥' इति । अविचिता अनाकारिता इति ॥ ३८ ॥

भाषा—( अधिक लाभ के लिये श्राण लेकर ) गहन वन में जाने वाले से दत्त प्रतिज्ञान और समुद्र की यात्रा करने वाले से भीस प्रतिज्ञान वृद्धि ( व्याज ) लेनी चाहिए । अथवा सभी जानियों के लिये जो जितनी वृद्धि देना स्वीकार करे उतनी देवे ॥ ३८ ॥

अनुना द्रव्यविशेषेण वृद्धिविशेषमाह—

सन्नतिस्तु पशुस्त्रीणां—

पशुस्त्रीणां सन्नतिरेव वृद्धिः । पशूनां स्त्रीणां दोषनासमर्धस्य तत्पुष्टिपन्नतिसामस्य प्रयोग सम्भवति । ग्रहण च क्षीरपरिचर्यायिनं ॥

अधुना प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य वृद्धिग्रहणमन्तरेणापि चिरकालारस्थितस्य वस्य द्रव्यस्य कियती परा वृद्धिरिष्येति आह—

—रसस्याष्टगुणा परा ।

यत्प्रधान्यद्विरण्यानां चतुस्त्रिगुणा परा ॥ ३९ ॥

रसस्य तैःपशुनादेर्वृद्धिग्रहणमन्तरेण चिरकालारस्थितस्य सङ्कतया वृद्ध्या वर्धमानस्य अष्टगुणा वृद्धिः परा, नात परं वर्धते । तथा यत्प्रधान्यद्विरण्यानां यथामदस्य चतुगुणा । त्रिगुणा द्विगुणा च वृद्धिः परा । यद्यिष्टेन सुरसस्य त्रैगुण्यमुक्तम् ( २।४४।७ ) त्रिगुणा इतरण्य त्रिगुण धान्य । धान्येनैव रसा ध्यास्याताः पुष्पमूलकानि च । तुलाद्यैर्मण्युक्तम्' इति । अनुना तु धान्यस्य पुष्पमूलकफलादीनां च पञ्चगुण्यमुक्तम्—धान्ये द्वादशे लये षाष्टे गानिष्कामति पञ्चताम्' इति । शर्दः प्ले' फल पुष्पमूलकलादि, उषो मेघेर्णाचारीकेनादि, वक्षो मलीवर्द्धरमादिः । धान्यशर्दलापलादिपया वृद्धिः पञ्चगुण्ये गानिष्कामतीति । सत्रापमर्णयोःपतापदोःन दुर्निष्ठादिकालपदोःन च व्यवस्था द्रष्टव्या । एतच्च सङ्कल्पयोगे सङ्कल्पारणे च वर्द्धयम् । पुष्ट्यान्तरसङ्कल्पेन प्रयोगान्तरकरणे तस्मिन्नेव

१. याचन । २ रस्य वृद्धिः । ३ विशेषे । ४. तुल्येन त्रिनय ।  
वर्द्धयमष्ट । ५. वृत्तफल ।

वा पुरुषे जनेऽपि रेकसेकाभ्यां प्रयोगान्तरकरणे सुवर्णादिव द्वैगुण्यातिक्रम्य पूर्वानद्धर्षते । सहरषभोगेऽपि प्रतिदिनं प्रतिमास प्रतिस्वस्तर वा वृद्ध्याहरणे-  
ऽधमर्णदेशस्य द्वैगुण्यासम्भवात्पूर्वाहृतवृद्ध्या सह द्वैगुण्यमतिक्रम्य वर्धते  
एव । यथाह मनु ( ८।१५१ )—‘कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नारयेति सहर-  
दिता ।’ इति । सहरदाहतेऽपि पाठोऽस्ति । उच्यते चार्थं प्रयुक्तं द्रव्यं कुसीद, तस्य  
वृद्धिं कुसीदवृद्धिः, सा द्वैगुण्यं नारयेति नातिक्रामति । यदि सहरदाहिता सहर-  
युक्ता । पुरुषान्तरसकमगादिना प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यमत्येति । सहरदाहतेति  
पाठे तु शनैः शनैः प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिस्वस्तर वाऽधमर्णादाहता द्वैगुण्य  
मत्यतीति व्याख्ययम् । तथा गीतमेनाप्युक्तम् ( १२।३१ )—‘चिरस्थाने द्वैगुण्य  
प्रयोगस्य’ इति । ‘प्रयोगस्य’ इत्येकत्रचननिर्देशात्प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्याति-  
क्रमोऽभिप्रेत । ‘चिरस्थाने’ इति निर्देशात् शनैः शनैर्वृद्धिप्रदणे द्वैगुण्यातिक्रमो  
दर्शित ॥ २० ॥

भाषा—पशु और स्त्री के लिये उनकी स तान ही वृद्धि ( वयाज )  
होगी है । रस ( तेल, घृत आदि ) लेने पर उसकी वृद्धि स्वाकृत वृद्धि से  
अधिक से अधिक गठगुना हो सकती है । चय, धान्य और सोने का वृद्धि  
अधिक से अधिक क्रमशः चौगुनी, तिगुनी या दुगुनी होती है ॥ २० ॥

श्रृणुप्रयोगधर्मा उक्ता, सावत प्रदुषस्य धनस्य प्रदणधर्मा त्वयन्ते—

प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्यो नृपनेर्भवेत् ।

साध्यमानो नृपं गच्छ-दण्ड्यो दाप्यश्च तद्धनम् ॥ ४० ॥

प्रपन्नमभ्युपगतमधमर्णेन धनं साध्यादिभिर्भावितं वा साधयन् प्रवाह-  
रन् धर्मादिभिरुपायैरुत्तमर्णो नृपतर्वाच्यो निवारणाया न भवति ॥ धर्मा  
दयश्चापाया मनुना दर्शिता ( मनु ८।४९ )—‘धर्मेण स्ववहारेण ह्यलेनाचरितं  
च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पद्ममन बलेन च ॥’ इति । धर्मेण प्रीतियुक्तं साधयन्  
नेन, स्ववहारेण साधिलेषर्षाद्युपायेन, ह्यलेन तमवादि-व्याजेन भूपणादिप्रद-  
णेन, भक्षरितेन भभोजनेन, पद्ममनोपायेन बलेन निगद्वयन्धनादिना, उप-  
पत्तार्थं प्रयुक्तं द्रव्यमेतैरुपायैरामपात्तुर्थादिति । ‘प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्यं’  
इति अत्र नृपतिवन्तः साधयन् राजा निवारणीय इति दर्शयति । अत्रैव स्वर्षी  
कृतं वाक्यायनेन—‘प ह्येसो धनी कश्चिद्विक्रमं न्यायवादिनम् । तस्मादर्थान्  
दायेत तस्मिन् प्राप्नुयाद्दमम् ॥’ इति । अस्तु धर्मादिभिरुपायैः प्रपन्नमर्थं साधय-

१. गान्तरीकरणे ।

२. गच्छेत् ।

३. प्रपन्नं साधयन्नर्थं ।

४. ह्येनाद्युपस्थानम् ।

५. प्राप्नुयात् ।



मानो याच्यमानो नृप गच्छेद्वाजानमभिगम्य साधयन्तमभियुङ्क्ते स दण्डो भवति, शक्यनुसारेण धनिने तद्धन दाप्यश्च । राजा दापने च प्रकाश दर्शिता — 'राजा तु स्वामिने विप्र सान्त्वेनैव प्रदापयेत् । देशाचारेण चान्यास्तु दुष्टान्स पीड्य दापयेत् ॥ रिचिधन सुहृद् वापि ह्यलेनैव प्रदापयेत् ॥' इति । 'साध्यमानो नृप गच्छन्' इत्येतत् 'स्मृत्याचारमपेतेन' इत्यस्य प्रत्युदाहरण बोद्धव्यम् ॥४०॥

भाषा—दिये गये धन को धर्मपूर्वक लेने का प्रयत्न करने वाले के बीच में राजा दखल न देवे । यदि वह उसके लिये राजा के समीप निवेदन करता है तो दण्ड्य होता है और राजा को धनी के धन दिला देना चाहिए ॥ ४० ॥

बहुपूज्यमर्णिकेषु युगपरप्राप्तेष्वेकोऽधमर्णिक केन क्रमेण दाप्यो राज्ञेयपेक्षित आह—

गृहीतानुकमादाप्यो धनिनामधमर्णिक ।

दत्त्वा तु ब्राह्मणायैव नृपतेस्तदनन्तरम् ॥ ४१ ॥

समानजातीयेषु धनिषु येनैव क्रमेण धन गृहीत तेनैव क्रमेणाधमर्णिको राजा दाप्य । भिन्नजातीयेषु तु ब्राह्मणादिक्रमेण ॥ ४१ ॥

भाषा—समान जाति के धनियों में जिस क्रम से ( जिस जिस का ) धन लिया हो उस उस को ऋणी से दिलवाये । ( यदि भिन्न जाति क ऋणदाता हों तो ) पहले ब्राह्मण का धन दिलवा कर तब क्षत्रिय आदि का दिलावे ॥ ४१ ॥

यदा पुनरुत्तमर्णो दुर्बल प्रतिपन्नमर्थ धर्मादिभिरपायै साधयितुमशक्नु-  
वन्राज्ञा साधितार्थो भवति तदाऽधमर्णस्य दण्डमुत्तमर्णस्य च श्रुतिदानमाह—

राज्ञाऽधमर्णिको दाप्य साधिताद् दशकं शतम् ।

पञ्चकं च शतं दाप्य प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिक ॥ ४२ ॥

अधमर्णिको राजा प्रतिपन्नार्थासाधिनाद्दशकं शतं दाप्य । प्रतिपन्नस्य साधितार्थस्य दशमं शतं राज्ञाऽधमर्णिको ह्यण्डरूपेण गृह्णीयादित्यर्थ । उत्तमर्णस्तु प्राप्तार्थं पञ्चकं शतं श्रुतिरूपेण दाप्य । साधितार्थस्य विंशतितमं भागमुत्तमर्णाद्वा राजा श्रुत्यर्थं गृह्णीयादित्यर्थ । अप्रतिपन्नार्थासाधने तु दण्डविभागो दर्शित — 'निह्वे भावितो दद्यात्' ( ४० ५ ) इत्यादिना ॥ ४२ ॥

भाषा—यदि राजा ऋणी से वसूल करक ऋणदाता को धन दिलाव तो ऋणी से दस प्रतिशत और धन पाने वाले ऋणी से पाँच प्रतिशत श्रुति-रूप में ले ॥ ४२ ॥

सधनमपमर्णिकं प्रत्युक्तम्, अधुना निर्धनमधमर्णिकं प्रत्याह—

हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत् ।

प्राह्वणस्तु परिक्षीणः शनैर्दाप्यां यथोदयम् ॥ ४३ ॥

प्राह्वणादिजातिदत्तमर्णो हीनजातिं एत्रियादिजातिं परिक्षीणं निर्धनमृणार्थं ऋणनिवृत्त्यर्थं कर्म स्वजात्यनुरूपं कारयेत् तत्कृद्भ्यादिरोधेन । नाह्वणस्तु पुनः परिक्षीणो निर्धनः शनैःशनैः यथोदयं यथासंभवं द्वाप्यः । अत्र च 'हीनजाति' ग्रहणं समाप्तजातेरभ्युपलक्षणम् । अतश्च समाप्तजातिमपि परिक्षीणं यथाचितं कर्म कारयेत् । 'प्राह्वण'ग्रहणं च श्रेयोजातेरुपलक्षणम् । अतश्च एत्रियादिरपि परिक्षीणो वैश्यादेः शनैःशनैर्दाप्यो यथोदयम् । एतदेव मनुना स्पष्टीकृतम् ( ८।१७७ )—'उर्मणापि समं कृपां ह्येनिरेनाधमर्णिकः । समोऽपकृष्टजातिश्च दद्यात्प्रेयास्तु तच्छूनैः ॥' इति । उत्तमर्णेन सम निवृत्तोत्तमर्णाधमर्णव्यपदेश-मत्प्राप्तमपमर्णः कर्मणा दुर्गादिमर्णः ॥ ४३ ॥

भाषा—( धनी से ) निम्नजाति के ऋणी से जिसके पास ऋण लौटाने के लिए धन न हो, धनी व्यक्ति के यहाँ उसकी जाति के अनुरूप कार्य करावे । यदि हम प्रकार का अपमर्ण ऋणी प्राह्वण हो तो शनैः-शनैः ( धोड़ा-धोड़ा करके ) उसकी ऋण के अनुसार धन वसूल करे ॥ ४३ ॥

मध्यम्यस्थापितं न वर्धते—

दीपमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं यः स्वकं धनम् ।

मध्यम्यस्थापितं चेतस्याद्बर्धते न ततः परम् ॥ ४४ ॥

इति, उपचयार्थं प्रयुक्तं धनं अधमर्णेन दायमानमुत्तमर्णो बुद्धिबोधादि न गृह्णाति तदाऽधमर्णेन मध्यमदस्ते स्थापितं यदि स्यात्तदा ततः स्वापनादूर्ध्वं न वर्धते । अथ स्थापितमपि दायमानो न ददाति ततः पूर्ववद्बर्धते एव ॥ ४४ ॥

भाषा—यदि धन देने वाला व्यक्ति दया के लिये ऋण दिये गये धन को ऋण द्वारा लौटावे जाने पर भी ( दया के लोभ से ) ग्रहण नहीं करता और उस धन को ऋणी किसी मध्यमर्ण के पास जमा कर दे तो उसके बाद उसकी बुद्धि ( दया ) नहीं लगती ॥ ४४ ॥

इदानीं देवमृग यदा येन च देयं तदाह—

अधिभक्तः कुटुम्बार्थं यष्टं तु कृतं भवेत् ।

दद्युस्तद्विषयिनः प्रेते प्रीयिते वा कुटुम्बिनि ॥ ४५ ॥

१. मृगार्थं कर्म । २. बुद्धिबोधादिभिः । ३. पितं यस्यात् ।  
४. तस्यात् । ५. पूर्व वर्धते एव ।

अविभक्तैर्बहुभिः कुटुम्बार्थमेकैकेन वा यद्यत् कृतं तद्यत् कुटुम्बी दद्यात् । तस्मिन्प्रेते प्रोपिते वा तद्विस्थिते सर्वे दद्युः ॥ ४५ ॥

भाषा—सयुक्त परिवार में ( एक साथ रहने वाले ) अनेक व्यक्तियों या एक व्यक्ति द्वारा जो ऋण कुटुम्ब व पातन के लिये लिखा गया हो, उसे उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका सर्वा उत्तराधिकारी ( सम्पत्ति के भागीदार ) लौटावे ॥ ४५ ॥

येन देयमित्यत्र प्रत्युदाहरणमाह—

न योषित्पतिपुत्राभ्यां न पुत्रेण कृतं पिता ।

दद्यात्तं कुटुम्बार्थान् पतिः स्वीकृतं तथा ॥ ४६ ॥

पत्न्या कृतमृग योषित्पत्यां न न दद्यात् । पुत्रेण कृतं योषित्पत्यां न दद्यात् । तथा पुत्रेण कृतं पिता न दद्यात् । तथा भाग्योक्तं पतिर्न दद्यात् । 'कुटुम्बार्थादने' इति सर्वशेषः । अतश्च कुटुम्बार्थं येन कवापि कृतं गत् कुटुम्बिता देयम् । तद्भावे तद्वाच्यइरेदेयमित्युक्तमेव ॥ ४६ ॥

भाषा—जो ऋण कुटुम्ब के भरणपोषण के लिये नहीं लिखा गया हो ( किसी अन्य प्रयोजन से लिखा गया हो ) ऐसे पति द्वारा लिखे गये ऋण को स्त्री न लौटावे, पुत्र द्वारा लिखे गये ऋण को माता न भरे, पिता न भरे, और पत्नी द्वारा लिखे गये ऋण को पति लौटाने का अधिकारी नहीं होगा ॥ ४६ ॥

'पुत्रपौर्द्वैर्द्वै' देयम्' ( व्य० ५० ) इति वक्ष्यति तस्मै पुरस्तात्पदादमाह—

सुराकामयूतकृतं दण्डशुल्कायशिक्षकम् ।

वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यात् पैतृकम् ॥ ४७ ॥

सुरापानेन यत्कृतमृग कामकृतं स्त्रीव्यसननिमित्तं द्यूने पराजयनिमित्तं दण्डशुल्कचोरशिक्षकं वृथादानं धूर्तवन्दिमहादिभ्यो यत्प्रतिज्ञातम्—'धूर्तं यन्दिनि महे च कुत्रैवे निर्याय शटे । चाटचारणचारेषु दत्तं भवति निष्फलम् ॥' इति स्मरणात् । एतदणं पित्रा कृतं पुत्रादि शीघ्रिद्वैर्द्वैभ्यो न दद्यात् । अत्र 'दण्डशुल्कायशिक्षकं' निश्चयवशिष्टदण्डजात्यर्थं द्वात्ययमिति न मन्तव्यम् ।—'दण्डं वा दण्डशेषं वा शुल्कं तच्छेषमेव वा । न दातव्यं तु पुत्रेण यत् न वधावहारिकम् ॥' इत्यर्थान्तस्मरणात् । गोमतेनाप्युक्तम्—'मद्यशुल्कयूतदण्डं न पुत्रो न रिभवेयुः' इति । न पुत्रस्थापति भवन्तीत्यर्थः । अनेनादेयमृगमुक्तम् ॥ ४७ ॥

भाषा—मदिरापान एवं जुआ खेलों के निमित्त लिखे गये ऋण, दण्ड और शुल्क की विधि के अतिरिक्त भाग, वृथादान के ( धूर्त बन्दी, मकल आदि

के लिये प्रतिज्ञात) धन—इन पेटुक ( पिता द्वारा लिये गये ) ऋणों को चुकाने का अधिकारी पुत्र नहीं होता ॥ ४७ ॥

'न पति स्र कृत तथा' ( व्य० ४६ ) इत्यस्यापवादमाह—

गौपशौण्डिकशैलूपरज्जकव्याघयोपिताम् ।

ऋणं दद्यात्पतिस्तेषां यस्माद्भृत्तिस्तदाधया ॥ ४८ ॥

गोपो गोपाल, शौण्डिक सुराकार, शैलूपो नट, रज्जको वस्त्राणां रज्जक, व्याघो मृगयु, एतेषा योपिङ्गिर्दण कृत तत्तत्पतिभिर्देयम् । यस्मात्तेषां भृत्तिर्जायते तदाधया योपिदधीना । 'यस्माद्भृत्तिस्तदाधया' इति हेतु-वचनेनाप्येवमपि ये योपिदधीनजीवनास्तेऽपि योपिःकृतमृणं दद्यादिति गम्यते ॥ ४८ ॥

भाषा—गाय ( गह्वीर, गाले ), कलारी ( सुराकार ), नट, रगरेज भीर बहुरिया की स्त्रियों द्वारा लिपे गये ऋण उनके पति दधे क्योंकि उनकी जीवनभृत्ति स्त्रियों के ही अधीन होती है ॥ ४८ ॥

'पतिकृण भार्गव न दद्यात्' ( व्य० ४९ ) इत्यस्यापवादमाह—

प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या धा सह यत्कृतम् ।

स्वयकृतं धा यद्वर्णं नान्यत्स्त्री दातुमर्हति ॥ ४९ ॥

सुसुपूर्णा प्रत्यक्षता धा पत्या नियुक्तया ऋणदाने यत्प्रतिपन्नं तत्प्रतिकृतमृण देयम् । यच्च पत्या सह भार्यया ऋणं कृतं तदपि भर्त्राभावात् भार्यया अपुत्रया देयम् । यच्च स्वयकृतं ऋणं तदपि देयम् । ननु 'प्रतिपन्नादि त्रयं स्त्रिया देयम्' इति वक्तव्यम् । सदहाभावत् । उच्यते—'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रयं पत्याधना स्मृता । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्मैते तस्य तद्धनम् ॥' इति वचनात्निर्धनत्वेन प्रतिपन्नादिभ्यदानौशङ्कायामिदमुच्यते—'प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं'मित्यादि । न चानेन वचनेन स्त्यादीनां निर्धनत्वमभिधीयते; पारस-स्थमात्रप्रतिपाद्यं परत्वात् । एतच्च विभागप्रकरणे स्पष्टीकरित्यते । 'ना-यच्च स्त्री दातुमर्हति' इत्ये-तत्सर्द्धि न वक्तव्यम् । विधानेनैवा-यत्र प्रतिप्रेरसिद्धे । उच्यते—'प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या धा सह यत्कृतम्' इत्येतयोरपवादार्थमुच्यते । अन्यस्त्रुता-कामादिपत्यापात्त प्रतिपन्नमपि पत्या सह कृतमपि न देयमिति ॥ ४९ ॥

भाषा—( मरणान्त-न या विद्वान् जाने गाले ) पति द्वारा लिये गये या पति क ग्राह लिये गये ऋण का धधया स्वयं लिये गये ऋण को ही स्त्री लौटा सकती है भ-व ऋणों को नहीं ॥ ४९ ॥

पुनरपि यदण दातव्य, येन च दातव्य, यत्र च काले दातव्य, तत्रित्तयमाह—

पितरि प्रोपिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा ।

पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्वये साक्षिभावितम् ॥ ५० ॥

पिता यदि दातव्यमृणमदश्वा प्रेत, दूरदेश गत, अचिक्रितनीयस्याव्याद्य-  
भिभूतो वा नदा नभृत्कृतमृणमाद्ययापनेऽवश्य देयम्, पुत्रेण पौत्रेण वा पितृणा  
भावेऽपि पुत्रायेन पौत्रत्वेन च, सत्र क्रमोऽप्ययमेव—पित्रभावे पुत्र, पुत्राभावे  
पौत्र इति । पुत्रेण पौत्रेण वा निह्वय कृते अविना साक्षादिभिर्भावितमृण देय  
पुत्रपौत्रैरित्यन्वयः । अत्र 'पितरि प्रोपिते' इत्येतावदुक्तम्, कालविशेषस्तु नारदे-  
बोको द्रष्टव्य — 'नारदावसवसराद्धिशापितरि प्रोपित सुत । ऋण दद्युः पितृभ्य  
वा उपष्टे भ्रातर्यथापि वा ॥' इति । प्रेतेऽप्यप्राप्तव्यवहारकालो न दद्यात्, प्राप्त  
व्यवहारकालस्तु दद्यात् । स च कालस्तर्नैव दर्शित — गर्भस्थ सरसो ज्ञेय आष्ट  
मांद्गरसराष्टिष्टु । बाल भा योद्धशाद्धर्वात्पीगण्डश्चेति शब्दत ॥ परतो व्यव  
हारश्च स्वतन्त्र पितराकृते ॥' इति । यद्यपि पितृमरणादूर्ध्वं बालोऽपि स्वतन्त्रा  
जातस्तथापि नर्णभारभवति । यथाह— 'अप्राप्तव्यवहारश्चेत्येतन्प्रोऽपि हि नर्ण  
भाक् । स्वानन्वय हि स्मृत उपष्टे उपैष्टव गुणवच कृतम् ॥' इति । तथा भासे  
धाहाननिषेधश्च दृश्यते— 'अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोऽमुक्तो प्रती । विपम  
रथाश्च नामेष्टया न चैतानाह्वयन्तृप ॥' इति । तस्मात् 'अतः पुत्रेण जातेन  
स्वार्थमुत्सृज्य यत्नत । षण्णास्वितः माचनीयो यथा नो मरक प्रदेत् ॥' इति ।  
पुत्रेण व्यवहारज्ञतया जातेन विष्पन्ननेति व्याख्येयम् । आद्येऽपि बालस्याप्य-  
धिकार — 'प्रज्ञाभिर्वाप्यवहारयेद-यत्र स्वधानिनपनात्' इति गौतमस्मरणेन ।  
'पुत्रपौत्रै रिति बहुवचननिर्देश इहैव पुत्रा यदि विभक्ता स्वोशानुरूपेण ऋणं  
दद्यु । अविभक्ताश्चेत्सभूयसमुत्थानेन गुणप्रधानभावेन यत्मानानां प्रघातभूत  
एव वा दद्यादिति गम्यते । यथाह नारद् ( १११४ )— 'अत ऊर्ध्वं पितु पुत्रा  
प्राण दद्युर्यथांशत । अविभक्ता विभक्ता वा यस्मैतावद्दहते धुरम् ॥' इति । अत्र  
च यद्यपि 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देय मित्यविवक्षयेत्कोर्त्तं, तथापि पुत्रेण यथा पिता सृष्टिकृ  
द्वदिति तथैव देयम् । पौत्रेण तु सम मूलमेव दातव्य, न सृष्टिरिति विशेषऽवग-  
न्तव्य । प्राणमाशर्नादयस्त्वियं देय पुत्रैर्विभाजितम् । पैतामह समं देयमदेय  
तस्मिन्तस्य तु ॥' इति सूत्ररूपनिवचनात् । अत्र 'विभावित'मित्यविवक्षेयोपादानात्वा  
चित्तिभावितमित्यत्र साक्षिग्रहण प्रमाणोपलक्षणम् । सम यावद्दृहीत तावदेव,

१ कृतमृणमदश्य । २ अष्टमात् । ३ व्याहारेद्-यत्र । ४ परतो  
चोद्दहते । ५ तथैव प्राण ।

देय, न वृद्धि । तस्मृतस्य प्रपीत्रस्यादेयमगृहीतधनस्य । एतद्योत्तरश्लोके स्पष्टी  
 क्रियते ॥ ५० ॥

भाषा—पिता के परदेस जाने पर, मर जाने पर या व्यसन में (अन्वध्य  
 रोग से पीड़ित) होने पर पुत्र और पोत्र उसके द्वारा पि या मया ऋण दें । यदि  
 वे अस्वीकार करें तो राधियों द्वारा प्रमागित होने पर दें ॥ ५० ॥

अशापाकरणे ऋणी त पुत्र पोत्र इति त्रय कर्तारो दक्षितारस्तेषा च सम्वाये  
 क्रमोऽपि दर्शित । इदानीं ऋणन्तरस्तत्रमाये च क्रममाह—

रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योपिद्ग्राहस्तथैष च ।

पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यं पुत्रहीनस्य रिक्थिन ॥ ५१ ॥

अन्यदाय द्रव्यमन्यस्य कथादिभ्यतिरेकेण यस्मिन् भवति तद्विषयम् ।  
 त्रिभागात् रिक्थं गृह्णातीति रिक्थग्राह, स ऋणं दाप्य । एतदुक्तं भवति—  
 'दा यदीय द्रव्यं रिक्थरूपेण गृह्णाति स नष्टमृणं दाप्यो न चौरादिरिति । योपि  
 भार्या गृह्णातीति योपिद्ग्राह, स तथेवर्णं दाप्य । या मरीया योपिद्ग्राहति स  
 नष्टमृणं दाप्य । योपि तोऽविभाज्यद्रव्यत्वेन रिक्थं यपदेशात्सर्वद्रव्यं न दत्तम् ।  
 पुत्रानन-याश्रितद्रव्यं ऋणं दाप्य, अन्यमश्रितमन्याश्रित, अ-याश्रित गार्हृपि  
 तुमश्रितं द्रव्यं यस्यासावन्याश्रितद्रव्यं, न न-याश्रितद्रव्योऽन-याश्रितद्रव्यं,  
 पुत्रहीनस्य रिक्थिन ऋणं दाप्य इति सारम्भ । एतेषां सप्तत्रयं मन्थ  
 पाठक्रम एव । 'रिक्थग्राह ऋणं दाप्यः, न दत्तत्वे योपिद्ग्राहः, तद्भावे पुत्र  
 इति । नन्वतथा समवाय एव नोपपन्नः, 'न आतरो न पितर पुत्रा रिक्थहरा  
 विपु' इति पुत्रे सत्य-यस्य रिक्थग्राहगासमवायः । योपिद्ग्राहोऽपि वापयद्यत्,  
 (मनु ५।१६२)—'न द्वितीयश्च साप्रीणां क्वचिन्नतानदिश्यत्' इति स्मरणात् ।  
 तथा तद्वग पुत्रो दाप्य इत्यप्ययुक्तम्, 'पुत्रवार्त्तैर्ऋणं देयम्' (धृ० ५०) इत्यु  
 क्त्वात् । 'अनन्याश्रितद्रव्य' इति विशेषणस्यनर्थ-म्, पुत्र सति द्रव्यस्यान्या  
 श्रयणासमवायत्, समवे च रिक्थग्राह इत्यननैव गतार्थत्वात् । पुत्रहीनस्य रिक्थिन  
 इत्यतदपि न वक्तव्यम् । पुत्रे सत्यपि 'रिक्थग्राह ऋणं दाप्य' इति स्थितम् ।  
 धत्सति पुत्र रिक्थग्राह सूरारं दाप्य इति सिद्धमेवति । अत्रोच्यते—पुत्रे सत्य  
 प्यन्यो रिक्थग्राहः समवति, क्लृपान्धयधिरादानां पुत्रत्वोऽपि रिक्थहरताभावात् ।  
 तथा च क्लृपादी-नुक्तम् 'भर्तव्यैः स्तुनिरदाया' (धृ० १४०) इति वक्ष्यति । तथा  
 'नवर्गपुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यं न दत्तम्' इति वीत्तमस्मरणात् । तथा क्लृपादिपु  
 पुत्रे सत्यु अन्यायपुत्रे च सवर्गपुत्रे सति रिक्थग्राही विवृण्व्यस्तपुत्रादि । योपि

१ एतदपिप्यते । २ ऋक्थिनः । ३ रिक्थग्राहभावात् । ४ भार्यायास्तु ।  
 भर्तव्याश्च ।

स्त्रीधनिनोः स्त्रीहारी धनिपुत्रयोः ॥ इति । धनस्त्रीहारिपुत्राणां समाये यो धनं हरेत् ऋणभाक् पुत्रोऽमतोः स्त्रीधनिनोः, स्त्री च धनं च स्त्रीधने, ते विद्येते ययोरनी स्त्रीधनिनी, तयोः स्त्रीधनिनोरमतोः पुत्र एव ऋणभाक् भवति । धनिपुत्रयोरमतोः स्त्रीहार्यवर्णभाक् । स्त्रीहार्यभावे पुत्र ऋणभाक्, पुत्राभावे स्त्रीहारीति विरोधाभामपरिहारः पूर्ववत् । 'पुत्रहीनस्य रिबिधनः' इत्यस्यान्वा-  
 ष्याश्या—एते धनस्त्रीहारिपुत्रा ऋणं कस्य दाप्या इत्यपेक्षायां उत्तमर्णस्य दाप्याः, तदभावे तैःपुत्रादेः, पुत्राद्यभावे कस्य दाप्या इत्यपेक्षायामिदमुपतिष्ठते-  
 'पुत्रहीनस्य रिबिधनः' इति । पुत्राद्यन्वयहीनस्योत्तमर्णस्य यो रिक्थी रिक्थ-  
 प्रहणयोभ्यः सपिण्डाद्विस्तस्य रिबिधनो दाप्याः । तथा च नारदेन (१११२)  
 'प्राणस्य तु यद्देयं मात्रपस्य च नास्ति चेत् । निर्वपेत्तासकुक्ष्येपु तद्भावेऽस्य  
 यन्धुपु ॥' इत्यभिहितम्—'यदा तु न सकुक्ष्याः स्युर्न च संयन्धिवाग्धवाः ।  
 तदा दद्याद् द्विजेभ्यस्तु तेभ्यस्त्वप्यसु निधिपेत् ॥' नारदः (१११३) इति ॥५१॥

भाषा—रिक्थ ( सम्पत्ति का भाग ) लेने वाले ( सम्पत्ति के स्वामी  
 द्वारा लिये गये ) ऋण को लौटावें, स्त्री को प्रहण करने वाला उसके मृत पति  
 का लिये ऋण भी दे । जिसका धन पुत्र के अनिरिक्त अर्थ्य को न मिला हो  
 उसका ऋण पुत्र देवे और पुत्रहीन ऋणी का धन उसकी सम्पत्ति का भाग  
 लेने वाले सुकावें ॥ ५१ ॥

अधुना पुरपविशेते ऋणप्रहणं प्रतिषेधप्रसङ्गादन्वदपि प्रतिषेधति—

आतृणामथ दम्परयोः पितुः पुत्रस्य चैव हि ।

प्रातिभाष्यमृणं साक्ष्यमविभक्ते न तु स्मृतम् ॥ ५२ ॥

प्रतिभुवो भावः प्रातिभाष्यं, आतृणां दम्परयोः पितापुत्रयोश्चाविभक्ते द्रव्ये  
 द्रव्यविभागात्प्राक्प्रातिभाष्यमृणं साक्ष्यं च न स्मृतं मन्वादिभिः १. अवि तु  
 प्रनिषिद्ध, साधारणघनत्वात् । प्रातिभाष्यसाक्षिण्ययोः पक्षे द्रव्यावसानत्वात्,  
 ऋणस्य चानश्यप्रतिषेधत्वात् । एतच्च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण, परस्परा-  
 नुमत्या त्वविभक्तानामपि प्रातिभाष्यादि भवत्येव । विभागादूर्ध्वं तु परस्परा-  
 नुमतिव्यतिरेकेणापि भवति ॥ ननु दम्परयोर्विभागात्प्राक्प्रातिभाष्याद्विप्रतिषेधो  
 न युज्यते; तयोर्विभागाभावेन विशेषणानर्थात् । विभागाभावश्चापरतन्त्रेण  
 दर्शितः ( आप० घ० २११४-१६ )—'जायापरयोर्न विभागो विद्यते' इति ।  
 साध्यम्; धीतरमातांशिसाक्ष्येषु कर्मसु ताप्येषु च विभागाभावो न पुनः

विरोधप्रतिभासः । २. इति विवक्षायां । ३. तस्त्रीपुत्रादेः ।

४. पक्षे स्वयन्धुपु । ६. द्रव्यव्ययावसानत्वात् ।

सर्वकर्मसु द्रव्येषु वा । तथा हि—‘जायापरयोर्न विभागो विद्यते’ इत्युक्त्वा किमिति न विद्यते इत्यपेक्षायां हेतुमुक्तवान्—‘वागिमहणादि सहस्रव कर्मसु’, ‘तथा पुण्यफलेषु च’ ( भाष० ध० २।१४, १७ १८ ) इति । हि यस्मात्वागिमहणादारभ्य कर्मसु सहस्रं श्रूयते—‘जायापत्नी भविनामाद्धीयाताम्’ इति, तस्मादाधाने सहाधिकारादाधानविद्वाग्निसाध्यकर्मसु सहाधिकारः । तथा ‘कर्म स्मार्तं विवाहाभ्यां’ ( भा० १७ ) इत्यादिस्मरणाद्विवाहमिद्वाग्निसाध्येषु कर्मसु सहाधिकार एव । अतश्चोभयविधाग्निनिर्घेषेषु कर्मसु पूर्वेषु जायापरयो पृथगेशधिकार सपद्यते । तथा पुण्यानां फलेषु स्वर्गादिषु जायापरयो सहस्रं श्रूयते—‘दिवि ज्योतिरजरमारभेताम्’ इत्यादि । येषु पुण्यकर्मसु सहाधिकारस्तेषां फलेषु सहस्रमिति यादव्य, न पुन पूर्वानां भर्तृनुशयानुष्ठितानां फलेष्वपि ॥ मनु द्रव्यस्वामिष्वेदेषु सहस्रमुक्तम्, ‘द्रव्यपरिमहेषु च’ नहि भर्तृविप्रवासो नैमित्तिके दान स्तेषमुपदिशति’ ( भाष० ध० २।१४।१८ २० ) इति । साधम् ; द्रव्यस्वामिष्व पत्न्या दक्षिणमनेन, न पुनर्विभागाभावः । यस्मात् ‘द्रव्यपरिमहेषु च’ इत्युक्त्वा तत्र कारणमुक्तम्—‘भर्तृविप्रवासो नैमित्तिकेऽपर्यक्तस्ये दानऽतिविभोजनभिज्ञापदानादी हि यस्मात् स्तेषमुपदिशति मन्वाद्यस्तस्माद्धीयाता भवि द्रव्यस्वामिप्रसक्ति, अन्यथा स्तेष स्यात्’ इति । तस्माद्भर्तृविशुद्ध्या भार्याया भवि द्रव्यविभागो भवत्येव, न स्वेष्टद्वयः । यथा वक्ष्यति ई०श्व० १।५ )—यदि कुर्वाणमानसान्परत्न्या कार्या समातिहा’ इति ॥ ५२ ॥

भाषा—अविभक्त ( सपुत्र ) रहने वाले माह्यो, पति पत्नी, पिता और पुत्र का प्रातिभाष्य ( जामिन ) एव कर्तव्य और साधन का विधान ( मनु आदि न ) नहीं किया है ॥ ५२ ॥

अधुना प्रातिभाष्य निरूपयितुमाह—

दर्शने प्रत्यय दाने प्रातिभाष्यं विधीयते ।

आर्थां तु वितथे द्वाप्यायितरस्य स्तुता अपि ॥ ५३ ॥

प्रातिभाष्य नाम विधामार्थं पुरुषन्तरं सह समय , न च त्रियमेदादिप्रधा भिद्यते । यथा दर्शनं ‘दर्शनापेक्षायां पुन दर्शयिष्यामी’ति । प्रायस विद्यते, ‘मम प्रायवेनास्य धन प्रपद्य नाय रत्नं ब्रह्मविष्वते यनोऽमुकरस्य पुत्राऽय उर्वरा प्रायभूरस्य मामघैरोऽस्मी ति । दाने ‘यद्यपि न दर्शति तदानीमहमेव दास्यामी’ति । ‘प्रातिभाष्यं विधीयते’ इति अन्वये अन्वयते । आर्थां तु दर्शनाप्यस्य



प्रतिभुवो वितथे अन्यथाभावे अदर्शने विश्वासव्यभिचारे च दाप्यौ राज्ञा प्रस्तुत धनमुत्तमर्णस्य । इतरस्य दानप्रतिभुव सुता अपि दाप्या ॥ वितथ हायेव शाठयेन निर्धनत्वेन वाऽधमर्णोऽप्रतिकुर्वति 'इतरस्य सुता अपि' (११११९) इति वदता पूर्वयो सुता न दाप्या इत्युक्तम् । 'सुता' इति वदता न पौत्रा दाप्या इति दर्शितम् ॥ ५३ ॥

भाषा—दर्शन ( दिखा देना ), प्रत्यय ( विश्वास दिलाना ) और दान ( स्वयं देने की प्रतिज्ञा ) को प्रातिभा०य ( प्रतिभू या जामिन होना ) कहते हैं । प्रथम दो प्रकार का प्रातिभाष्य करने वाले इटा पडे तो राजा उनमें से धनी व्यक्ति का धन दिलावे, तीसरे प्रकार का प्रातिभा०य करने वाले के इटा पड़ने पर उसके पुत्रों से भी वह धन बचूल करे ॥ ५३ ॥

एनदेव स्पष्टीकर्तुमाह—

दर्शनप्रतिभूर्यञ्च मृत प्रात्ययिकोऽपि वा ।

न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्दद्युर्दानाय र्यं स्थित ॥ ५४ ॥

यदा तु दर्शनप्रतिभू प्रात्ययिको वा प्रतिभूदिव<sup>१</sup> गतस्तदा तयो पुत्रा प्रातिभाष्यायात् पैतृकमृण न दद्यु । यस्तु दानाय स्थित प्रतिभूदिव<sup>२</sup> गतस्तस्य पुत्रा दद्यु, न पौत्रा । ते च मूलमेव दद्युर्न वृद्धिम् । 'ऋण पैतामह पौत्र प्रातिभाष्यायात् सुत । सम दद्यात्तस्मिन्नु न दाप्याविनि निश्चय ॥' इति व्यासवचनात् । प्रातिभाष्यव्यतिरिक्त पैतामहमृण पौत्रः स यावद्गृहीत तावदेव दद्यात् वृद्धिम् । तथा तस्मिन्तोऽपि प्रातिभा०यायात् विधमृण सममेव दद्यात् । तयो पौत्रपुत्रयो सुतो प्रपौत्रं पौत्रावप्रातिभाष्यायात् प्रातिभाष्यायात् च ऋण यथाऋणमगृहीतधनी न दाप्याविति । यदपि स्मरणम्—'सादको वित्तहीन स्यात्लग्नको वित्तवा-यदि । मूल तस्य भवद् देय न वृद्धिं दातुमर्हति ॥' इति,—तदपि लग्नक प्रतिभू, सादकोऽधमर्ण, लग्नको यदि वित्तवा मृतस्तदा तस्य पुत्रेण मूलमेव दातव्यं न वृद्धिरिति व्याख्येयम् । यत्र दर्शनप्रतिभू प्रत्ययप्रतिभूर्वा बन्धक पर्याप्त गृहीत्वा प्रतिभूर्जातस्तत्र तत्पुत्रा अपि तस्मादेव बन्धकात् प्रातिभाष्यायात्तमृण दद्युवेव । यथाह काश्यायन —'गृहीत्वा बन्धक यत्र दर्शने ऽस्य स्थितो भवेत् । विना वित्रा धनात्तस्मादाप्य स्यात्तदण सुत ॥' इति । 'दर्शन' ग्रहण प्रत्ययस्थोपलक्षणम् । विना वित्रा पितरि प्रेते दूरदेश गते वेति ॥ ५४ ॥

भाषा—यदि दर्शनप्रतिभू या प्रत्ययप्रतिभू की मृत्यु हो गयी हो तो उसके पुत्रों से ऋण न दिलावे कि तु दानप्रतिभू के मरने पर उसके पुत्र से ही धनी को धन दिलावे ॥ ५४ ॥

यस्मिन्ननेकप्रतिभूसभवस्तत्र कथं दाप्यस्तत्राह—

बहव स्युर्यदि स्वाशैर्दृष्टु प्रतिभुवो धनम् ।

एकच्छायाश्रितेष्वेपु धनिकस्य यथारुचि ॥ ५५ ॥

यद्यकस्मिन्प्रथमे द्वौ बहवो वा प्रतिभुव स्युस्तर्दणं सविभज्य स्वाशेन दृष्टु । एकच्छायाश्रितेषु प्रतिभूपु एकस्याधमर्णस्य छाया सादृश्य तामाश्रिता एक छायाश्रिता । अधमर्णो यथा कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थितस्तथा दानप्रतिभुवो ऽपि प्रत्येक कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थिता । एव दक्षणे प्रथये च । तेष्वेकच्छायाश्रितेषु प्रतिभूपु ससु धनिकस्योत्तमणस्य यथारुचि यथाकामम् । अतश्च धनिको वित्ताद्यपेक्षया स्वार्थं यं प्राथयते स एव कृत्स्नं दाप्य नशित । एकच्छायाश्रितेषु यदि कश्चिद् देशो तर गतस्तत्पुत्रश्च सनिहितस्तदा धनिकेच्छया स सर्वं दाप्य । मृते तु कस्मिंश्चित्तत्सुतः स्वपित्रशमवृद्धिकं दाप्य । यथाह कारपावन — एकच्छायाप्रविष्टानां दाप्यो यस्तत्र हरयते । प्रोपिते तत्सुत सर्वं पित्रशतु मृते समम् ॥ इति ॥ ५५ ॥

भाषा—यदि अनेक प्रतिभू होंवे तो वे ऋण को आपस में बाँटकर अपना अपना अंश चुकावें और यदि अनेक प्रतिभू (जामिनो) में सभी ऋणों के समान होकर पूरा धन देने को उद्यत हों तो धनी अपनी इच्छा के अनुसार किसी एक से ले लेवे ॥ ५५ ॥

प्रातिभाष्ये ऋणदानविधिमुक्त्वा प्रतिभूदत्तस्य प्रतिक्रियाविधिमाह—

प्रतिभूदापिता यत्तु प्रकाश धनिनो धनम् ।

द्विगुणं प्रतिदातव्यमृणिकैस्तस्य तद्भवेत् ॥ ५६ ॥

यद्द्वय प्रतिभूस्त पुत्रो वा धनिकेनोपपीडित प्रकाश सर्वज्ञममण राजा धनिनो दापितो न पुनर्द्विगुण्यत्रोभेन स्वयमुपैत्य दत्तम् । यथाह नारद ( ११२१ ) य च धं प्रतिभूदद्यादनिहनोपपीडित । ११ ऋणिकस्त प्रतिभुवे द्विगुणं प्रतिदापयत् ॥ इति । ऋणिकैरधमर्णस्तस्य प्रतिभुवस्तद् द्वय द्विगुण

१ दातव्यमित्यत आह । २ दाने प्रतिभुव । ३ तथैकच्छाया । ४ वित्ताद्यपेक्षया । ५ यं प्राथयते । ६ दद्यान्नशित । ७ तेष्वेकच्छाया । ८ मृते सति । ९ धनिनो । धनिने धनम् । १० तत्र दातव्य । ११ ऋणिकस्त । १२ प्रतिदापयत् ।

प्रतिदातव्यं स्यात् । तच्च कालविशेषमनपेक्ष्य सद्य एव द्विगुणं दातव्यम् ,  
 वचनारम्भसामर्थ्यात् । एतच्च हिरण्यविषयम् । ननु 'इदं प्रतिभूरिति वचन  
 द्वैगुण्यमात्रं प्रतिपादयति, तच्च पूर्वोक्तकालकलाक्रमावाधेनाप्युपपद्यते । यथा  
 कातेष्टिविधानं शुचिरवावाधेन । अपि च सद्यः सवृद्धिकदानपक्षे पशुस्त्रीणां सद्यः  
 सत्तरस्यभावात्-मूलदानमेव प्राप्नोतीति,—तदमत्, 'वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतु  
 स्त्रिद्विगुणां परा' ( २५० ३५ ) इत्यनेनैव कालकलाक्रमेण द्वैगुण्यवादिसिद्धे द्वैगु  
 ण्यमात्रविधाने चेद् वचनमनर्थकं स्यात् । पशुस्त्रीणां तु कालक्रमपक्षेऽपि सत्तरस्य-  
 भावे स्वरूपदानमेव । यदा प्रतिभूरपि द्रव्यदानानन्तरं कियतापि कालेनाधम-  
 णेन सघटते तदा सततिरपि<sup>३</sup> सभक्षयेव । यद्वा पूर्वमिदं सत्तरस्य सद्यः पशुस्त्रियो  
 दास्य-तीति न किञ्चिदेतत् । अथ प्रातिभाष्ये<sup>४</sup> प्रीतिवृत्तम्, अतश्च प्रतिभुत्वा  
 दत्तं प्रीतिदत्तमेव । नच प्रीतिदत्तस्य दाचनात्प्राग्वृद्धिरिति, यथाह ( नारद  
 १।१०९ )—'प्रीतिदत्तं तु यत्किञ्चिद्द्वर्धते न स्वयाचितम् । वाच्यमानमदत्तं  
 चेद्वर्धते पञ्चकं शतम् ॥' इति । अतश्चास्य प्रीतिदत्तस्यायाचितस्यापि दानदिव  
 सादारम्यं यावद् द्विगुणं कालक्रमेण वृद्धिरित्यनेन वचनेनोच्यते इति, तदस्य-  
 सत्, —अस्यार्थस्यास्माद्धचनादप्रतीतं 'द्विगुणं प्रतिदातव्यम्' इत्येतावदिह प्रती  
 यते । तस्मात्कालक्रममनपेक्ष्यैव द्विगुणं प्रतिदातव्यं वचनारम्भसामर्थ्यादिति  
 सुष्ठुक्तम् ॥ ५६ ॥

भाषा—जिस प्रतिभू ( या उसके पुत्र ) से राजाने धनी का धन सयके  
 सामने दिखाया हो उसको श्रण लेने वाले दूता देकर चुकावें ॥ ५६ ॥

प्रतिभूदत्तस्य सर्वत्र द्वैगुण्ये प्रातिऽपवादमाह—

संतति र्त्नीपशुभ्येय घान्यं त्रिगुणमेव च ।

वस्त्रं चतुर्गुणं प्रोक्तं रसश्चाष्टगुणस्तथा ॥ ५७ ॥

हिरण्यद्वैगुण्यवरकालानादरेणैव स्त्रीपश्चादयं प्रतिपादितवृद्ध्या दाप्या ।  
 श्लोकरत्नं व्याख्यातं पक्षः । अस्य द्रव्यस्य यावत् वृद्धिः पराकाष्ठोक्ता तद्द्रव्यं  
 प्रतिभूदत्तं स्यादङ्गनं तथा वृद्ध्या सह कालविशेषमनपेक्ष्यैव सद्यो दातव्यमिति  
 तात्पर्यार्थः । यद्वा तु दर्शनप्रतिभू सप्रतिपत्तेः का<sup>१</sup> अधमणं दर्शयितुमस्मर्धं  
 रतदा तैद् वपणाप सस्य पञ्चत्रयं दातव्यम् । तत्र यदि तं दत्तयति तदा मोर्धं  
 ष्योऽ यथा प्रस्तुतं धनं दाप्य, 'नष्टस्यान्वपणार्थं तु दाप्य पञ्चत्रयं परम् ।  
 यद्यसौ दर्शयत्तत्र मोक्तव्यं प्रतिभूर्भवत् ॥ कालं न्यतात् प्रतिभूर्वदि तं नैव

१ इदं वचनं । २ वस्त्रदानं । ३ सततिरेव । ४ प्रातिवृत्तं च ।

५ तदन्वेषणाय । ६ मोक्तव्यो नामधेयः ।

दर्शयेत् । निवन्ध दापयेत्तु प्रेते चैव विधि स्मृत ॥' इति कात्यायनवच-  
नात् । लग्नके विशेषनिषेधश्च तेनैवोक्त — 'न स्वामी न च वै शत्रु स्वामिना-  
ऽधिकृतस्तथा । निरुद्धो दण्डितश्चैव सदिग्धश्चैव न क्वचित् ॥ नैव रिक्थी न  
मिन्न च न चैवाप्यन्तवासिन । राजकार्यनियुक्ताश्च ये च प्रव्रजिता नरा ॥ न  
द्राक्षो धनिने दातु दण्ड राज्ञे च तरसमम् । जीवन्वापि पिता यस्य तथैवेच्छा-  
प्रवर्तक ॥ नाविज्ञाय ग्रहीतस्य प्रतिभू स्वक्रियां प्रति ॥' इति । सदिग्धो-  
ऽभिशात । अत्यन्तवासिनो नैष्टिकग्रहचारिण ॥ इति प्रतिभूविधि ॥

धनप्रयोगे द्वौ विश्वासहेतु—प्रतिभूराधिश्च । यथाह नारद (१११२९)—  
'विश्रम्भहेतु द्वाप्रत्र प्रतिभूराधिरैव च' इति । तत्र प्रतिभूर्निरूपित, इदानीमा-  
धिर्निरूप्यते । आधिर्नाम गृहीतस्य द्रव्यस्योपरि विश्वासाद्यर्थमधमर्णेनोत्तमर्णोऽधि-  
क्रियते, आधीयत इत्याधि । स च द्विविध—कृतकालोऽकृतकालश्च । पुनश्चैकैकशो  
द्विविध—गोप्यो भोग्यश्च । यथाह नारद (१११२४ २५)—'अधिक्रियत इत्याधि-  
स विज्ञेयो द्विलक्षण । कृतकालोऽपनेयश्च यावद्देवोद्यतस्तथा ॥ न्य पुनर्द्विविध प्रोक्तो  
गोप्यो भोग्यस्तथैव च ॥ इति । कृते काले आधानकाल एवामुष्मिन्काले दीपोस्त-  
थादी 'मयायमर्थमर्णिको मोक्तव्योऽयथा तथैवाधिभविष्यतीत्येव निश्चिते काले  
उपनेय आरमसमीप नेतव्य मोचनीय इत्यर्थ । देय दानम् । देयमनतिक्रम्य  
यावद् देयम् । उद्यत नियत, स्थापित इत्यर्थ । यावद् देयमुद्यतो यावद्देवोद्यत,  
गृहीतधनप्रत्यपन्नावधिरनिरूपितकाल इत्यर्थ । गोप्यो रक्षणीय ॥ ५७ ॥

भाषा—यदि प्रतिभू से स्त्री और पशु दिलाया गया हो तो सतति सहित  
स्त्री और पशु दे । धान्य का तिगुना वस्त्र हो तो चौगुना और तेल घृत आदि  
रस हो तो उसका आठगुना प्रतिभू को शत्रु देवे ॥ ५७ ॥

एव चतुर्विधस्याधेर्विशेषमाह—

आधि प्रणश्येद् द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते ।

कास्ते कालकृतो नश्येत्फलभोग्यो न नश्यति ॥ ५८ ॥

प्रयुक्ते धने स्वकृतया वृद्धया कालक्रमेण द्विगुणीभूते यद्याधिरधमर्णेन  
द्रव्यदानेन न मोक्ष्यते तदा नश्यति । अधमर्णस्य धन प्रयोक्तु स्व भवति ।  
कालकृत कृतकाल, आहितान्वादिषु पाठान् कालशब्दस्य पूर्वनिपात । स तु  
काले निरूपिते प्राप्ते नश्येत् द्वैगुण्यवाप्रागूर्ध्वं वा । फलभोग्य फल भोग्य यस्यास्ती  
फलभोग्य—चैत्रारामादि, स कदाचिदपि न नश्यति । कृतकालस्य गोप्यस्य

१ दापयेत्तु प्रेते चैव । २ प्रयुक्तास्तु । ३ नाविज्ञातो ।

४ माधिर्मा । ५ निरूपिते ।

भोगस्य च तरकालातिमसे नाश उक्त—'काले कालकृतो नश्ये'दिति । अकृत-  
कालस्य भोगस्य नाशाभाव उक्त—'फलभोग्यो न नश्यती'ति । पारिमेप्यादाधि-  
प्रणश्येदियेतदकृतकालगोप्याधिविषयमवतिष्ठते । द्वैगुण्यातिक्रमेण निरूपितकाला-  
तिक्रमेण च विनाशे चतुर्दशदिवसप्रतीक्षणं कर्तव्यं, बृहस्पतिवचनात् ( ११।२७  
२८ ) 'हिरण्ये द्विगुणीभूते पूर्णे काले कृतावधे १, बन्धकस्य धनी स्वामी द्विसप्ताह  
प्रतीक्ष्य च ॥ तदन्तरा धनं दत्त्वा ऋणी बन्धकमाप्नुयात् ॥' इति ॥ नन्वाधि-  
प्रणश्येदियत्पुप-नम् । अधमर्णस्य स्वस्वनिवृत्तिहेतोर्दानविक्रपादेरभावात् ।  
धनिनश्च स्वस्वहेतोः प्रतिग्रहकपादेरभावात् मनुवचनविरोधाच्च । ( ८।१४३ )—  
'न चाधे कालसरोधाधिसर्गोऽस्ति न विक्रय ' इति । कालेन सरोध कालसरो-  
धश्चिरकालमवस्थानं तस्मात्कालसरोधाच्चिरकालावस्थानादाधेर्न निसर्गोऽस्ति,  
नान्धघ्नाधीकरणमस्ति, न च विक्रय । एवमाधीकरणविक्रयप्रतिषेधाद्धनिम  
स्वस्वाभावोऽवगम्यत इति । उपपत्ते—आधीकरणमेव लोकं सोपाधिकस्वस्व  
निवृत्तिहेतुः । आधिरवीकारश्च सोपाधिकस्वस्वापत्तिहेतुः प्रसिद्धः । तत्र धनद्वैगुण्ये  
निरूपितकालप्राप्तौ च द्रव्यदानस्यात्यन्तनिवृत्तेरनेन वचनेनाधमर्णस्यात्यन्तिकी  
स्वस्वनिवृत्ति उच्यते न च स्वस्व-निक स्वस्व भवति । न च मनुवचनविरोधः ।  
यत् मनु ( ८।१४३ )—'नाधेवाधी सोपकारे कौसीर्दी वृद्धिमाप्नुयात्' इति ।  
भोग्याधि प्रत्युपेदमुच्यते—'न चाधे कालसरोधाधिसर्गोऽस्ति न विक्रय ' इति ।  
भोग्यस्याधेश्चिरकालावस्थानेऽप्याधीकरणविक्रयनिषेधेन धनिन स्वस्व नास्तीति ।  
इहाप्युक्तं 'फलभोग्यो न नश्यती'ति । गोप्याधी तु पृथगारव्य मनुना  
( ८।१४४ )—'न भक्त्यो यलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्' इति । इहापि  
वच्यते—गोप्याधिभोगे नो वृद्धिरिति । आधि प्रणश्यद् द्विगुणे इति तु  
गोप्याधि प्रत्युपेद इति सर्वमविच्छेद्यम् ॥ ५८ ॥

भाषा—यदि कालक्रम से ध्यान द्वारा बढ़कर ऋण के दूना हो जाने पर  
बन्धक रुपये हुए द्रव्य को न लुब्धाव तो वह अपने समय से प्रणष्ट हो जाता  
है ( उस पर ऋणों का अधिकार नहीं रह जाता ) किन्तु जिस आधि  
( बन्धक ) का फल धनी स्वस्व को मिलता हो ( जैसे गेन भादि ) उस पर  
से बन्धक रखने वाले का अधिकार समाप्त नहीं होता ॥ ५८ ॥

गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः सोपकारे चैव द्वापिते ।  
नष्टो देवो विनष्टश्च दैयराजश्रुतादृते ॥ ५९ ॥

१, श्रुतावधौ । २ काले प्राप्ते च । ३ चिरन्तनकालः । ४ स्वस्व  
न भवति । ५ उप द्वापिते ।

किंच, गोप्याधेस्ताम्रकटाहादेरुपभोगेन वृद्धिर्भवति । अक्षयेऽप्युपभोगे महस्यपि वृद्धिर्हातव्या, समयतिष्ठमात् । तथा स्योपकारे उपकारकारिणि बलीवर्द्धताम्रकटाहादौ भोग्याधी सवृद्धिक हापिते हानिं व्यवहाराद्यमव गमिते नो वृद्धि इति सबन्ध । नष्टो विकृतिं गत ताम्रकटाहादिशिद्धदमेदनादिना पूर्ववत्कृत्वा देय । तत्र गोप्याधिर्नष्टश्रेष्ठपूर्ववत्कृत्वा देय । उपभुक्तोऽपि चेद्-वृद्धिरपि हातव्या । भोग्याधिर्यदि 'नष्टस्तदा पूर्ववत्कृत्वा देय । वृद्धिसद्भावे वृद्धिरपि हातव्या । विनष्ट आ यन्तिक नाश प्राप्त, सोऽपि देयो मूल्यादिद्वारेण । तद्दाने सवृद्धिक मूल्य लभते धनी । यदा न ददाति तदा मूलनाश, 'विनष्टे मूलनाश स्याद्देवराजकृतादते' ( १११२६ ) इति नारदवचनमात् । देवराजकृता दते—दैवमभ्युदकदेशोपप्लवादि । दैवकृताद्विनाशाद्विना, तथा स्वापराधरदि ताद्राजकृतात् । देवराजकृते तु विनाशे सवृद्धिक मूल्य दातव्यमधमर्णेनाऽऽप्यन्तर वा । यथाह—'स्रोतसापद्धते चेन्ने राजा चैवापहारिते । आविरन्व्योऽप कर्तव्यो देय वा धनिने धनम् ॥' इति । तत्र 'स्रोतसापद्धत' इति दैवकृतोप-लक्षणम् ॥ ५९ ॥

भाषा—( वृद्धि पर रखी गई ) गोप्य आधि क उपभोग किये जाने पर वृद्धि ( ब्याज ) न देवे, उपकारक आधि ( बँल आदि ) में हानि होने पर भी वृद्धि न दें । दैव और राजोपद्रव के विना ही बन्धक रखी हुई वस्तु नष्ट हो जाय या खो जाय तो बन्धक रखी हुई वस्तु के समान वस्तु देवे ॥ ५९ ॥

आधे स्वीकरणात्सिद्धी रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम् ।

यातश्चेदस्य आधेयो धनभाग्या धनी भवेत् ॥ ६० ॥

अपि च, आधेर्भाग्यैस्य गोप्यस्य च स्वीकरणादुपभोगादाधिग्रहणसिद्धि-र्भवति, न सात्तिलेक्ष्यमात्रेण नाप्युद्देशमात्रेण । यथाह नारद ( १११३८ )—'आधिरस्तु द्विविध प्रोक्तो जह्मम स्याचरस्तथा । सिद्धिरस्योभयस्यापि भोगो यद्यस्ति मान्यथा ॥' इति । अस्य च फल—'आधी प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बल-वसरा' ( ६० २३ ) इति । या 'स्वीकारागता क्रिया सा पूर्वा बलवती, स्वी काररहिता तु पूर्वापि न बलवतीति । स चाधि प्रपत्नेन रक्ष्यमाणोऽपि काल-वशेन यद्यसारतामविकृत एव सवृद्धिकमूल्यद्रव्यापर्षासतां गतस्तदाधिरग्य कर्तव्यः, धनिने धन वा देयम् । 'रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम्' इति वदता आधि प्रपत्नेन रक्षणीयो धनिनेति ज्ञापितम् ॥ ६० ॥

१. नष्टश्रेष्ठता ।

२ वृद्धिर्हातव्या ।

३ गोप्यस्य भोग्यस्य च ।

४. स्वीकारागतक्रिया पूर्वा ।

भाषा—भोग्य भाधि स्वीकार करने पर उसका भोग करने पर ही उसकी सिद्धि होती है । प्रथमपूर्वकर रखी जाने पर भी यदि भाधि असार ( वृद्धि युक्त और मूल्यद्रव्य मिलाकर अपर्णाप्त हो जाय, या नष्ट ) हो जाय तो दूसरी भाधि रखनी चाहिए, अथवा धन दाता को उसका धन लौटा देना चाहिए ॥६०॥

‘भाधि प्रणश्येद् द्विगुणे’ ( -य० ५८ ) इत्यस्यापवादमाह—

चरित्रबन्धककृतं स वृद्ध्या दापयेद्धनम् ।

सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिदापयेत् ॥ ६१ ॥

चरित्र शोभनाचरित चरित्रेण बन्धक चरित्रबन्धक तेन यद् द्रव्यमाप्तमाप्तं कृत पराधीन वा कृतम् । एतदुक्तं भवति—धनिन स्वच्छाशयरेण बहुम् व्यमपि द्रव्यमाधीकृत्याधर्गर्णनाहमेव द्रव्यमाप्तमाप्तकृतम् , यदि बाधमर्णस्य स्वच्छाशयस्वनाहपमूल्यमाधि गृहीतः वा बहुद्रव्यमेव धनिनाधमर्णाधीन कृत मिति । तद्धन स नृपो वृद्ध्या सह दापयत् । अयमाशय —एव च बन्धक द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये न नश्यति, किंतु द्रव्यमेव द्विगुण दातव्यमिति । तथा सत्यकारकृत । कारण कार । भावे घञ् । सत्यस्य कार सत्यकार —‘कारे सत्यागदस्य’ ( पा ६।३।७० ) इति मुञ् । सत्यकारेण कृत सत्यकारकृतम् । अयमभि सन्धि —यदा बन्धकार्पणसमय एवथ परिभाषित द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये मया द्विगुणं<sup>१</sup> द्रव्यमेव दातव्यं नाधिनाश इति, तदा तद् द्विगुण दापयेदिति । अन्योर्थं । चरित्रमेव बन्धक चरित्र बन्धक । ‘चरित्र’ शब्देन गङ्गास्नानाग्निहोत्रा विजित्तमपूर्वमुच्यते । यत्र तदेवाधीकृत्य यद् द्रव्यमाप्तमाप्तकृतं<sup>२</sup> तत्र तदेव द्विगुणीभूत दातव्यम् , नाधिनाश इति । भाधिपल्लदाद्व्यह्वयते—सत्यकारकृतमिति । ऋषतिक्रयादिव्यवस्थानिर्वाहाय यद् बहुलीयकादि परहस्ते कृत तद्व्यवस्थातिक्रमे द्विगुण दातव्यम् । तत्रापि येनाहुलीयकाद्यर्पित स एव चेद् व्यवस्थानिर्वर्ती तेन तदेव दातव्यम् । “इतरश्चेद् व्यवस्थातिर्वर्ती तदा तदेवाहुलीयकादि द्विगुण प्रतिदापयेदिति ॥ ६१ ॥

भाषा—चरित्र बन्धक ( स्वेच्छा से कम मूल्य की वस्तु बन्धक लेकर अधिक धन देना या अधिक मूल्य की वस्तु बन्धक रखकर कम धन श्रण लेना ) होने पर वृद्धि क साथ धन दिलाये । सत्यकार ( धन क दूना होने पर बन्धक नष्ट न होकर दूना धन देने की शर्त ) किया गया हो तो दूना धन दिलाये ॥ ६१ ॥

१ प्रतिपादयेत् । २ एवविध । ३ द्विगुणीभूतमेव द्रव्य । ४ कृतं तदा तत्र । ५ इतर चेत् ।

उपस्थितस्य मोक्तव्य आधिः स्तेनोऽन्यथा भवेत् ।  
प्रयोजकेऽसति धनं कुले न्यस्याधिमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

किंच, धनदानेनाधिमोक्षणायोपस्थितस्याधिमोक्तव्यो धनिना, न वृद्धि-  
मेन स्थापयितव्यः, अन्यथा अमोक्षणे स्तेनश्चौरवदण्डैः भवेत् । असंनिहिते  
पुनः प्रयोक्तारि कुले तदासहरते सवृद्धिक धनं विधायाधमर्णकः रवीयं बन्धकं  
गृहीयात् ॥ ६२ ॥

भाषा— श्रुणी के बन्धक छुदाने आने पर उसकी वस्तु दे देनी चाहिए ।  
( व्याज के लोभ से टालना नहीं चाहिए ) अन्यथा चोर के समान दण्ड का  
भाग्य होता है । जिसके पास बन्धक रखा हो उसके अनुपस्थित होने पर  
व्याज सहित धन उसके कुल के किसी दूसरे व्यक्ति को सौंप कर बन्धक प्राप्त  
कर ले ॥ ६२ ॥

अथ प्रयोक्ताऽप्यसंनिहितस्तदासाश्च धनस्य प्रहीतारो न सन्ति, यदि वा  
असंनिहिते प्रयोक्तार्याधिविक्रयेण धनदिरसाऽधमर्णस्य तत्र किं कर्तव्यमिरयपेक्षित  
आह—

तरकालकृतमूल्यो वा तत्र तिष्ठेदवृद्धिकः ।

तरिमन्काले यत्तस्याधेमूल्यं तरपरिकल्प्य तत्रैव धनिनि तमाधि वृद्धि-  
रहितं स्थापयेत् तत ऊर्ध्वं विवर्धते । यावद्धनी धनं गृहीत्वा तमाधि मुञ्चति,  
यावद्वा तन्मूल्यद्रव्यमृणे<sup>१</sup> प्रवेशयति ॥

यदा तु द्विगुणीभूतेऽपि धने द्विगुणं धनमेव प्रहीतव्यं, न स्वाधिनाश इति  
विचारितमृणप्रहणकाल एव तदा द्विगुणीभूते द्रव्ये असंनिहिते चाऽधमर्णं  
धनिना किं कर्तव्यमिरयत् आह—

विना धारणेकाद्वापि विक्रीणीत ससाक्षिकम् ॥ ६३ ॥

धारणकादधमर्णाद्विना अधमर्णेऽपनिहिते माधिभिरस्तदासैश्च सह तमाधि  
विक्रीय तद्धनं गृहीयाद्धनी । 'वा' शब्दो स्ववस्थितविक्रयार्थः । यदणं प्रहणकाले  
द्विगुणीभूतेऽपि धने धनमेव प्रहीतव्यं, न स्वाधिनाश इति न विचारित,  
तदा 'आधिः प्रणरयेद् द्विगुणे' (९५० ५८) इत्याधिनाशः । विचारिते स्वयं पण  
इति ॥ ६३ ॥

१. दण्डयो भवति । २. कल्पने तत्रैव । ३. ऊर्ध्वं धनं वर्धते ।  
४. मृणिने । ५. धारणिकात् ।



भाषा—अथवा उस बन्धक का उस समय जितना मूल्य लगता हो वह कह कर बिना व्याज के ही बन्धक को वहीं रहने दे ( उसक बाद उसकी वृद्धि नहीं होती ) । यदि ऋण धन दूना हो जाय तो बिना ऋणी के भी साचियों के समझ उस बन्धक की वस्तु को धनी बेच सकता है ॥ ६३ ॥

भोग्याधी विशेषमाह—

यदा तु द्विगुणीभूतमृणमाधी तदा खलु ।

मोक्ष्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे घने ॥ ६४ ॥

यदा प्रयुक्त धन स्वकृतया वृद्धया द्विगुणीभूत तदाधी कृते तदुत्पन्ने आध्युत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे धनिन प्रविष्टे धनिनाऽऽधिर्मोक्तव्य । यदि चादावे वाधी दत्ते 'द्विगुणीभूते द्रव्ये त्रयाधिर्मोक्तव्य' इति, परिभाषया कारणान्तरेण वा भोग्याभावेन यदा द्विगुणीभूतमृण तदा, आधी भोग्याधौ धनिनि प्रविष्टे तदुत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे सत्याधिर्मोक्तव्य । अधिकोपभोगे तदपि देयम् । सर्वथा सवृद्धिकमूलणापाकरणार्थाध्युत्पन्नमभोगविवयमिदं वचनम् । तमेन त्रयाधिमाचक्षते लौकिका । यत्र तु वृद्धयर्थं एवाभ्युपभोग इति परिभाषा, तत्र द्वैगुण्यातिक्रमेऽपि यावन्मूलदान तावदुपभुङ्क्ते एवाधिम् । एतदेव स्पष्टीकृतं वृहस्पतिना (११।३३ ४)—'ऋणी बन्धमवाप्नुयात् । फलभोग्य पूर्णकालं दावा द्रव्यं तु सामकम् ॥ यदि प्रकर्षितं तस्यात्तदा न धनभाष्यनी । ऋणी च न लभेन्न्य परस्परमतं विना ॥' इति । अस्यार्थं — फलभोग्य यस्यासी फलभोग्य बन्धक आधि । स च द्विविध—सवृद्धिकमूलापाकरणार्थं वृद्धिमात्रापाकरणार्थश्च । तत्र च सवृद्धिकमूलापाकरणार्थं बन्ध पूर्णकाल पूर्ण कालो यस्यासी पूर्णकालस्तमाप्नुयादणी । यदा सवृद्धिक मूल फलद्वारेण धनिन प्रविष्टं तदा बन्धमाप्नुयादित्यर्थं । वृद्धिमात्रापाकरणार्थं तु बन्धक सामकं दावाप्नुयादणी । सम मूल, सममेव सामकम् ॥ अस्यापवादमाह—यदि प्रकर्षितं तस्यात् । तत् बन्धक प्रकर्षितमतिशयितं वृद्धेरप्यधिकफलं यदि स्यात् 'तदा न धनभाष्यनी' सामकं न लभेत धनी । मूलमदावैव ऋणी बन्धमवाप्नुयादिति यावत् । अथ त्वप्रकर्षितं तद्वन्धक वृद्धयेऽप्यपर्षितं, तदा सामकं दावापि बन्ध न लभेताधमर्णं । वृद्धिशेषमपि दावैव लभेतेत्यर्थं । पुनरुभयप्रापवादमाह—'परस्परमतं विना' उक्तमर्णाधमर्णयो परस्परानुमत्यभावे 'यदि प्रकर्षितम्' इत्याद्युक्तम्, परस्परानुमती तत्कृतमपि बन्धकं यावन्मूलदान तावदुपभुङ्क्ते धनी, निवृष्टमपि मूलमाप्रदाने नैवाधमर्णो लभत इति ॥ ६४ ॥

१ मूलदापाकरणार्थं, मूलणापाकरण । २ मूलदान । ३ बन्ध आधि । ४ मूलमदावैव । ५ वृद्धिशेषमदावैव ।

भाषा—( भोग्य भाधि होने पर ) ऋण दूना होने पर ऋणी व्यक्ति जय दूना धन प्राप्त कर ले तो बन्धक की वस्तु छोड़ देवे ॥ ६४ ॥

इति ऋणादानप्रकरणम् ।

### अथ 'उपनिधिप्रकरणम्' ४

उपनिधि प्रत्याह—

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते ।

द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ ६५ ॥

निक्षेपद्रव्यस्थाधारभूत द्रव्यान्तर वासन करण्णादि, तत्स्थ वासनस्थ यद्द्रव्य रूपसत्त्वादिविशेषमनाख्याय अकथयित्वा मुद्रितमन्यस्य हस्ते रक्षणार्थं विश्वम्भादर्प्यते स्थाप्यते तद्द्रव्यमौपनधिकमुच्यते । यथाह नारद —'अस ख्यातमविज्ञात समुद्र यन्निधायते । तज्जानीयाहुपनिधि निक्षेप गणित विदु ॥' इति । प्रतिदेय तथैव तत् । यस्मिन्स्थापित तेन यथैव पूर्वमुद्रादिचिह्नितमर्पित तथैव स्थापकाय प्रतिदेय प्रथर्पणीयम् ॥ ६५ ॥

भाषा—जब किसी पात्र में रखकर रूप या सख्या आदि बताये बिना कोई वस्तु दूसरे को ( निक्षेप के रूप में ) दी जाती है तब वह द्रव्य उपनिधि कहलाता है, उसे ज्यों के र्यों लौटाना होता है ॥ ६५ ॥

प्रतिदेयम्' ( व्य० ६५ ) इत्यस्यापवादमाह—

न दाप्योऽपहृतं तं तु राजदैविकतस्करैः ।

तमुपनिधि राज्ञः दैवेनोदकादिना तस्करैर्वाऽपहृत नष्ट न दाप्योऽसौ यस्मिन्नुपनिहितम् । धनिन एव तद्द्रव्य नष्ट यदि जिह्वकारित न भवति । यथाह नारद ( १।९ )—'ग्रहीतु सह योऽर्थेन नष्टो नष्ट स दायिन । देवराजकृते तद्द्रव्य चेत्तज्जिह्वकारितम् ॥' इति ॥—

अस्यापवादमाह—

अपेक्ष्येन्मार्गितेऽदत्ते दाप्यो दण्डं च तत्समम् ॥ ६६ ॥

स्वामिना मार्गिते षाचिते यदि न ददानि तदा तदुत्तरकाल यद्यपि राजा दिभिर्भ्रैषो नाश सजातस्तथापि तद्द्रव्य मूल्यकक्षणया धनिने ग्रहीता दाप्यो राज्ञे च तत्सम दण्डम् ॥ ६६ ॥

१ निक्षेप ।

२ तत्तु ।

३ तद्द्रव्येत्तज्जिह्व तद्द्रव्येदाजिह्व ।

४ अशश्रेयसा ।

भाषा—किन्तु उसके राजा, दैयिक उत्पात द्वारा नष्ट या चोरों द्वारा चुरा लिये जाने पर वह ( उपनिधि द्रव्य ) प्रतिदेय नहीं होता। और यदि उपनिधि रखने वाले के मागने पर भी वह वस्तु नहीं लौटाई जाती एव उसके बाद राजा आदि द्वारा नष्ट हो जाती है तो उसे देना होता है और साथ ही उसके बराबर दण्ड भी सुनाना होता है ॥ ६६ ॥

भोक्तार प्रति दण्डमाह—

आजीवन्स्वेच्छया दण्डस्यो दाप्यस्तं चापि सोदयम् ।

य स्वेच्छया स्वाम्यननुज्ञयोपनिहित द्रव्यमाजीवन्नुपभुङ्क्ते व्यवहरति वा प्रयोगादिना लाभार्थमवाधुपभोगानुसारेण लाभानुसारेण च दण्डव्य, त चोपनिधि सोदयमुपभोगे सवृद्धिक व्यवहारे सलाभ भनिने दाप्य । वृद्धिप्रमाण च कापायनेनोक्तम्—'निक्षेप वृद्धिरोप च क्रय विक्रयमेव च । यत्पर्यमानो न चेद्दद्याद्दुर्धते पञ्चक क्षतम् ॥' इति । एतच्च भक्षिते द्रष्टव्यम् । उपेक्षाज्ञाननष्टे तु तत्रैव विशेषो दर्शित—'भक्षित सोदय दाप्य सम दाप्य उपेक्षितम् । किञ्चिन्म्यून प्रदाप्य स्याद् द्रव्यमज्ञानमाक्षितम् ॥' इति । 'किञ्चिन्म्यूनम्' इति चतुर्थांशहानम् ॥

उपनिधेर्धर्मा-याचितान्विध्वतिदिशति—

याचितान्व्याहितन्यासनिक्षेपादिष्वयं विधि ॥ ६७ ॥

विधाहाद्युत्सवपु घञ्जालकारादि याचिस्वाऽऽनीत याचितम् । यदेकरस्य हस्ते निहित द्रव्य तेनाप्यनु पश्चाद्-यहस्ते स्वामिने देहाति निहित तदन्वाहितम् । न्यासो नाम गृहस्वामिनेऽदर्शयित्वा तापरोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रक्षेपो गृहस्वामिने समर्पणीयमिति । समस्त तु समर्पण निक्षेप । 'आदि'शब्देन सुवर्णकारादिहस्ते कटकादिनिर्माणाय न्यस्तस्य सुवर्णादे, प्रतिन्यासस्य च परस्परप्रयोजनोपेक्षया 'एवमेद् मदीय रक्षणीय, मयद् एवदीय रक्षयते' इति न्यस्तस्य ग्रहणम् । यदाह तारद (२।१४)—एव एव विधिर्दंष्टो याचिता वाहितादिषु । सिद्धिरूपनिधी न्यासे प्रतिन्यासे तथैव च ॥' इति । एतेषु याचितान्व्याहितादिष्वयं विधि उपनिधेर्धर्म प्रतिदानादिविधि स एव वदितव्य ॥ ६७ ॥

भाषा—जो अपनी इच्छा से उपनिधि द्रव्य का भोग करता है उसे उसके लाभ के साथ उपनिधि दिलाव और साथ ही दण्ड भी दे । यही नियम याचित ( मगना ) अन्वाहित ( मागने वाले से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा स्वामी के पास भिगवाई गई ), न्यास ( परोक्ष में घर के किसी अ-य व्यक्ति के

हाथ में सीपी गई ) और निक्षेप ( सम्पत्त्य दी हुई ) वस्तुओं के विषय में भी लागू होते हैं ॥ ६७ ॥

इति उपनिधिप्रकरणम् ।

### अथ साक्षिप्रकरणम् ५

प्रमाण लिखित भुक्ति साक्षिणश्चति कीर्तितम्' (श्रु० २२) इत्युक्तं, तत्र भुक्तिनिरूपिता, साक्षित साक्षिस्वरूप निरूप्यते । साक्षी च साक्षाद्दर्शनाच्छ्रवणाद्य भवति । यथाह मनु ( ८।७४ )—'समक्षदर्शनासाक्षय ध्रुवणाश्चैव सिद्धवति' इति । स च द्विविध - कृतोऽकृतश्चेति । साक्षिभवेन निरूपित कृत । अनिरूपितोऽकृत । तत्र कृत पञ्चविधोऽकृतश्च पद्विध इत्येकादशविध । यथाह नारद ( १।१७८ )—'एकादशविध साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीषिभि । कृत पञ्चविधो ज्ञेय पद्विधोऽकृत उच्यते ॥' इति । तेषां च भेदस्तेनैव दर्शित — 'लिखित स्मारितश्चैव यद्व्यह्यभिज्ञ एव च । गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविध स्मृत ॥' (नारद १।१४०) इति । लिखितादीनां च स्वरूप कारयायनेनोक्त— 'अर्थिना स्वयमान्नीतो यो लेख्ये सनिवेश्यते । स साक्षी लिखिनो नाम स्मारित पत्रकाहते ॥' इति । स्मारित पत्रकाहते' इत्यस्य विवरण तेनैव कृतम्— यस्तु कार्यप्रसिद्धयर्थं दृष्ट्वा कार्यं पुन पुनः । स्मारयते ह्यर्थिना साक्षी स स्मारित इहोच्यते ॥' इति । यस्तु यद्व्यह्ययागत साक्षी क्रियते स यद्व्यह्यभिज्ञ । अनयो पत्रानारूढाद्येऽपि भेदस्तेनैव दर्शित — प्रयोजनार्थमान्नीत प्रसङ्गादागतश्च य । द्वौ साक्षिणौ (वलिखितौ पूर्वपक्षस्य साधकौ ॥ इति, तथा—'अर्थिना स्वार्थमि द्दयर्थं प्रार्थयिष्यन्न स्फुटम् । यः श्राव्यते स्थितो गूढो गूढसाक्षी न उच्यते ॥' इति, तथा—'साक्षिणामपि य साक्षयमुपर्युपरि भाषते । ध्रुवणाच्छ्रवणाद्वापि स साक्ष्युत्तरसञ्ज्ञित ॥' इति । पद्विधस्याप्यकृतस्य भेदो नारदेन दर्शित (१।१५१)— 'प्रामश्च प्राद्विवाश्च राजा च व्यवहारिणाम् । कार्येष्वधिकृतो य स्यादर्थिना प्रहितश्च य ॥ कुक्षया कुलविवादेषु विज्ञेयारतेऽपि साक्षिण ॥' इति । 'प्राद्वि व वाक'ग्रहण ऐराकसम्भोषलक्षणाद्यर्थम् लेखका प्राद्विवाश्च संभ्याश्चैवानुपूर्वश । नृपे पश्यति तत्रकार्यं साक्षिण समुदाहृतम् ॥' इति ।

तेऽपि साक्षिण कीदृशा, क्रियन्तश्च भवन्तीत्यत आह—

तपस्विनो दानशीला कुलीनाः सत्यवादिन ।

धर्मप्रधाना क्रजय पुत्रघन्तो घनान्विता ॥ ६८ ॥

ऽयवरा साक्षिणो ज्ञेया श्रौतस्मार्तक्रियापरा ।

यथाजाति यथावर्ण सर्वे सर्वेषु वा स्मृता ॥ ६९ ॥

तपरिवनस्तप शीला, दानशीला दाननिरता, कुडीना महाकुलप्रसूता, सत्यवादिन सत्यैवदनशीला, धर्मप्रधाना न स्वार्थकामप्रधाना, श्रृजवोऽ-  
कुटिला, पुत्रव तो विद्यमानपुत्रा, धनान्विता बहुसुवर्णादिधनयुक्ता, श्रौतरमा-  
र्तक्रियापरा नियमैमित्तिकानुष्ठानरता, एवभूता पुरुषास्त्ववरा साक्षिणो  
भवन्ति । त्रय अवरा न्यूना येषां ते ऽयवरा त्रिभ्योऽर्वाक् न भवन्ति । परतस्तु  
यथाकाम भवन्तीत्यर्थः । जातिमनतिक्रम्य यथाजाति । जातयो मूर्धावसिक्ताद्या-  
सनुलोमजा प्रतिलोमजाश्च । तत्र मूर्धावसिक्तानां मूर्धावसिक्ता साक्षिणो भवन्ति ।  
एवमब्रह्मादिष्वपि दृष्टव्यम् । वर्णमनतिक्रम्य यथावर्णम् । वर्णा ब्राह्मणादयः ।  
तत्र ब्राह्मणानां ब्राह्मणा एवोक्तलक्षणा उक्तसख्याका साक्षिणो भवति । एव  
क्षत्रियादिष्वपि दृष्टव्यम् । तथा स्त्रीणां साक्ष्यं म्रिय एव कुर्युः । यथाह मनु  
( ८।१८ )—‘स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रिय कुर्युः’ इति । सजातिसवर्णासभवे सर्वे  
मूर्धावसिक्तादयो ब्राह्मणादयश्च सर्वेषु मूर्धावसिक्तादिषु ब्राह्मणादियु च यथा-  
सभव साक्षिणो भवति । उक्तलक्षणानां साक्षिणामसभवे प्रतिषेधरहिताना-  
नाम-वेषामपि साक्षिणप्रतिपादनादर्थमसाक्षिणो वक्तव्याः । ते च पञ्च-  
विधा नारदेन दर्शिता—‘असाक्ष्यमपि हि शास्त्रेषु दृष्टं पञ्चविधो बुधैः ।  
पचनाक्षोपतो भेदास्त्रयमुक्तिर्मुक्ता तर ॥’ इति । कं पुनर्वचनात् असा-  
क्षिण इत्यत आह—‘श्रोत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रव्रजितादयः । असाक्षि-  
णस्ते वचनाच्चात्र हेतुवदाहृत ॥’ ( १।१५८ ) इति । तापसा वानप्रस्थाः ।  
‘आदि श देन पित्रा त्रिवदमानादीनां ग्रहणम् । यथाह शङ्ख—‘पित्रा विषद-  
मानगुरुकलयासिपरिमाजकवानर्पस्थनिर्मां या असाक्षिणः’ इति । दोषादसाक्षिणो  
दर्शिता—‘रतेना साहसिकारचण्डा कितवा वैश्वकारतथा । असाक्षिणस्ते  
दुष्टधात्तेषु सत्यं न विद्यते ॥’ ( नारद १।१५९ ) । चण्डा कोपना, कितवा  
घृतकृत । भेदादसाक्षिणां च स्वरूपं तेनैव दर्शितम्—साक्षिणा लिखितानां  
च निर्दिष्टानां च वादिनाम् । तेषामकोऽ-यथावादी भेदासर्वे नै साक्षिणः ॥’  
इति । तथा स्वयमुक्तिस्वरूपं चोक्तम्—‘स्वयमुक्तिर्निदिष्ट स्वयमेवैस्य यो  
वदेत् । सूचीशुक्लः स शास्त्रपु न स साक्षिणमर्हति ॥’ ( १।१६१ ) इति ।

१ सत्यवादिन । २ दानपरा । ३ स्वयमुक्तिर्मुक्तान्तरम् ; स्वयमुक्ते ।  
४ वानप्रस्था निर्मांयाच्चासा, निर्मां या निगदस्था । ५ वचकारतथा ।  
६ वादिना । ७ असाक्षिणः । ८ मुक्तिर्हि निर्दिष्टः ।

मृत्नान्तरस्यापि लक्षणमुक्तम्—'योऽर्थं धारयितव्यं स्यान्नस्मिन्नसति चाधिनि ।  
 क तद्वदनु साक्षित्वमित्यसाक्षी मृत्नान्तर ॥' ( १११६२ ) इति । येनार्थिना  
 प्रत्यर्थिना वा साक्षिणो योऽर्थं धारयितव्यो भवेत् 'यूपमग्रार्थे साक्षिण' इति  
 तस्मिन्नधिनि प्रत्यर्थिनि वा असति मृत्नेऽर्थे चाभिवेदिते, 'साक्षी क करिमन्नर्थे  
 कस्य वा कृते साक्ष्यं यदस्ति मृत्नान्तर साक्षी न भवति । यत्र तु मुमूर्षुणा  
 स्वस्थेन वा पित्रा पुत्रादय आविता 'अस्मिन्नर्थेऽस्मी साक्षिण' इति तत्र मृत्ना-  
 न्तरोऽपि साक्षी । यथाह नारद ( ११९६ )— मृत्नान्तरोऽधिनि प्रेते मुमूर्षु  
 आविताहते । तथा—'आरितोऽनातुरेणापि यस्त्वथां धर्मसहित । मृत्तेऽधि तत्र  
 साक्षी' स्यात्पट्सु चा-वाहितादिषु ॥ इति ॥ ६८-६९ ॥

भाषा—तपस्वी, दानी कुलीन, सध्यग्रादी, ( अर्थ और काम को छोड़  
 कर ) धर्म में प्रमुख रूप से रत, सरल, पुत्रवान्, धनवान् और श्रुत एव  
 स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान करने वाले तीन से अधिक साक्षी जानने चाहे जो  
 ब्राह्मणादि वर्ण एव मूर्धावमिक्त आदि जातियों क अनुसार सबका सबके लिये  
 साक्षी बनना विहित है ॥ ६८-६९ ॥

मानेतानसाक्षिणो दर्शयति—

स्त्रीबालवृद्धवितथमत्तोन्मत्ताभिःशस्तका ।

रद्गायन्तारिषांस्त्रिषुःकूटवृद्धिक्सेन्द्रिया ॥ ७० ॥

पतितात्तार्थसंबन्धिसहायरिपुतस्करा ।

साहसी दृष्टदापश्च निर्धूताचास्त्वसाक्षिण ॥ ७१ ॥

स्त्री प्रसिद्धा, बालोऽप्राप्तव्यवहार, वृद्धोऽशीतिकार, 'वृद्ध'महण वचन-  
 निषिद्धानामन्येषामपि श्रोत्रियादीनामुपलक्षणार्थम् ; कित्तवोऽक्षरेवी, मत्त  
 पानादिना, उन्मत्तो घृहाविष्ट, अभिदास्तोऽभियुक्तो ब्रह्मदुरथादिना, रद्गाय-  
 तारी चारण । पात्रविहनो निर्धूमप्रभृत्नय । कूटकृत् कपटलेपयादिकारी ।  
 विकलेन्द्रिय आत्रादिरहित, पतितो मत्तहादि, भास सुहृत्, अर्थ  
 संबन्धी विप्रतिपक्षमानार्थसंबन्धी, सदाय एककार्यं, रिपु शत्रु, तस्कर  
 स्तेन, साहसी बलापह्नकारि । दृष्टदांगो दृष्टविरुद्धवचन, निर्धूतो  
 बन्धुमिस्त्वक्त, 'भास शत्रुद्-वेषामपि रम्यन्तरोक्तानां दोषात्साक्षिणो भेदाद्  
 साक्षिणो स्वपमुक्तेर्मृत्नान्तरस्य च ब्रह्मणम् । एते स्त्रीबालादय साक्षिणो न  
 भवन्ति ॥ ७०-७१ ॥

१. साक्षिणो करिमन्नर्थे । २. साक्षात्प्यात् । ३. यतारिषांस्त्रिषुः ।  
 ४. पात्रविष्ट । ५. निर्धूतश्चेत्यसा । ६. भूताविष्ट । ७. स्वबला ।  
 ८. दृष्टवितथवचन ।

स्त्री, बालक ( ८० वर्ष से ऊपर का ), बृद्ध, जुआरी, मत्त ( मदिरा पीने वाला ), उग्मत्त ( पागल ), महापातकी, रगायतारी, पाग्यन्धी, झूठा लेख लिखने वाला, विकल्पेन्द्रिय ( चहरा या गूंगा ), प्रह्व हत्यादि महापाप करने वाला पतित, मित्र, धन देने वाला, सहायक, शत्रु, चोर, माहसी ( बलपूर्वक किमी घस्तु का भयहरण करने वाला ), प्रायश्च दोष से मुक्त, और यन्त्रुओं द्वारा परिष्कृत व्यक्ति ताची नहीं होते हैं ॥ ७०-७१ ॥

'श्ववरा साक्षिणो ज्ञेया' ( ध्य० ६९ ) ह्यस्यापवादमाह—

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् ।

ज्ञानपूर्वक निश्चयनैमित्तिककर्मानुष्ठापी धर्मवित् स एकोऽप्युभयानुमत-क्षेत्राची भवति । 'अपि'शब्दबलाद् द्वावपि । यद्यपि 'श्रौतस्मार्तस्त्रियापरा.' ( १७० ६९ ) इति श्ववराणामपि धर्मनिश्च समान, तथापि तेषामुभयानुमत्तभावेऽपि साक्षित्व भवति । एकस्य द्वयोर्भयानुमत्तैव साक्षित्व भवतीत्यर्थवत् 'श्ववर'ग्रहणम् ॥—

'तपस्विनो दानशीला, ( श्य० ६८ ) ह्यस्यापवादमाह—

सर्वः साक्षी संप्रहणे चौर्यपारुष्यासाहसे ॥ ७२ ॥

संप्रहणादीनि वष्यमाणलक्षणानि तेषु सर्वे वचनानिपिदास्तत्र प्रभृतिगुण-रहितैश्च साक्षिणो भवन्ति । दोषाद्साक्षिणो भेदात्साक्षिणः स्वयमुक्तिश्चात्रापि साक्षिणो न भवन्ति, सर्वथाभावादिति हेतोरत्रापि विद्यमानत्वात् ।—'मनुष्यमा-रणचौर्यं परदारामिमर्शनम् । पारुष्यमुभय चेति साहस रयाच्चतुर्विधम् ॥' ( नारद १४१ ) इति वचनाद्यद्यपि स्त्रीसंप्रहणचौर्यपारुष्याणां साहसत्वं तथापि तेषां स्वबलावष्टम्भेन जनसमक्ष विषयानां साहसत्वं । रहसि क्रियमाणानां तु 'संप्रहणादि'शब्दवाच्यत्वमिति तेषां साहसाप्यनुपादानम् ॥ ७२ ॥

भाषा—दोनो पक्ष स्वीकार करें तो धर्म को जानने वाला एक ही व्यक्ति साक्षी हो सकता है । चोरी और कटोर चचन के निर्जन स्थान पर करने अर्थात् संप्रहण में और इनके खुलमखुल्ला करने पर अर्थात् साहस में सभी साक्षा हो सकते हैं ॥ ७२ ॥

साक्षिणावणमाह—

साक्षिणः श्रावयेद्वादिप्रतिवादिसमीपगान् ।

अधिप्रशयित्सनिधौ साक्षिणः समवेतान् 'नासमवेता र्षंष्टा प्रज्यु' ( १३५ ) इति गौतमवचनात्, वष्यमाण श्रावयेत् । तत्रापि कात्यायनेन नित्येण

१ अपिशब्दाद् द्वावपि । २ अर्थं च श्ववर । ३ सत्यवादिस्वहेतो ।

४ पृथगपृष्टा ।

दर्शित — 'समान्त साधिण' सर्वानर्थिप्रार्थयिष्यमिधी । प्राद्विवाको नियुञ्जीत त्रिधिनाऽनेन सान्त्वयन् । देवमाह्वयमानिधये साद्य पृथ्द्वेदत द्विजान् । उदहमुत्तान्नाह्मुत्तान्वा पूर्वाङ्घ्रि वै शुचि शुचीन् ॥' ( मनु ८।७९, ८० ) 'आह्वय साधिण पृथ्द्वेत्त्रियस्य शपथैर्भृङ्गम् । समस्तान्विदिताचारान्विज्ञानार्थान्पृथक्पृथक् ॥' ( नारद १।१९८ ) इति । तथा ब्राह्मणादिषु धारणे मनुना निषमो दर्शित ( ८।११३ )— सथेऽ शापयेद्भिष्व चत्रिय वाहनायुधै । गोवीजक्राज्जनैर्दशैश्च शूद्र सर्वैस्तु पातकै ॥' इति । ब्राह्मणस्येवधा मु'वत सस्य ते नश्यतीति शापयेत् । चत्रिय वाहनायुधानि तत्र विकलानीति, गोवीजक्राज्जनादीनि तत्र विकलानि भविष्यन्तीति वैश्यम् , शूद्रमन्यथा मुवतस्तत्र सर्वाणि पातकानि भविष्यन्तीति शापयेत् । अत्र पापवादस्तेनैव दर्शित ( ८।१०९ )— 'गोरक्षका-वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् । प्रेष्यान्वार्युषिकीश्वैव विप्रान्शूद्रवदाचरेत् ॥' इति । विप्र' ग्रहण चत्रियवैश्ययोरेवपलक्षणार्थम् । कुशीलवा गायका । प्रतिपदिना साविद्रूपणे दत्ते प्रवचयोर्यद्रूपणेपु पापवादेषु तथैव निर्णय । अयोस्येषु तु तद्दृचनाकरोक्तश्च निर्णयो न साध्यन्तरेणेति नानवरथा । यदि साविद्रूपमुद्धारः साधयितु न शक्नोति प्रतिवादी, तदाऽसौ दापानुसारेण दण्ड्य । अथ साधयति, तदा न साधिण । यथाह— 'असाधयन्दम दाप्यो दूपण साधिणां स्फुटम् । भाविने साधिणा वर्या साधिषर्मनिराकृता ॥' इति । उद्दिष्टेषु च सर्वेषु साधिषु दुष्टेष्वर्था यदा क्रियान्तरनिरयेषस्तदा पराजितो भवति, जित स त्रिनय दाप्यः सास्त्रदष्टेन कर्मणा । यदि वादी निराकाङ्क्ष साधिसस्ये व्यवदिशत ॥' इति स्मरणात् । साकाङ्क्षश्चेत्क्रियान्तरमवलम्बेनेत्यभिप्राय ॥—

कथं ध्रावपेद्विशत आह—

ये पातककृतां लोका महापातकिनां तथा ॥ ७३ ॥

अग्निदाना च ये लोका ये च स्त्रीशालघातिनाम् ।

स तान्सर्वानमाप्नोति यः साध्यमनृतं यदेत् ॥ ७४ ॥

सुसृतं यत्रयथा किञ्चिज्जन्मान्तरदातै कृतम् ।

तत्सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे मृषा ॥ ७५ ॥

'पातकोपपातकमहापातककारिणामग्निदानां स्त्रीशालघातिनां च य हाका स्तान्सर्वानमाप्नोति य साध्यमनृतं वदति । तथा जन्मान्तरदानैर्यसुसृतं कृतं, तत्सर्वं तस्य भवति, यैस्तेऽनृपवदनेन पराजितो भवति' इति, इति

१ मुवन्त । २ मारानुसारेण । ३ असाधयन् अमापयन् ।

४ ये च पातकिनां लोका । ५ तान्सर्वान-समदा । ६ यथा ।

७ यस्तेऽनृपवचनेन । यस्ततोऽनृपवचनेन ।



धाघपेत्' इति संबन्धः । एतच्च शूद्रत्रिपयं द्रष्टव्यम् ; 'शूद्रं सर्वैस्तु पातयैः'  
 ( मनुः ८।१२३ ) इति शूद्रे सर्वपातक'धातवस्य निहितत्वात् । गोरचक्रादि-  
 द्विजातिविषयं च; 'गोरचक्राम्वागिमिफान्' ( मनुः ८।१०२ ) इत्युक्तत्वात् ।  
 अत्रैवानेकजन्माजितसुकृतसंकमणस्य महापातकादिकलमासेनानृतवचनमात्रेणानु-  
 जुषपत्तेः, साक्षिसंप्राप्तार्थमिदमुच्यते । यथाह नारदः ( १।२०० )—'पुराणै-  
 र्घर्मवचनैः सत्यमाहात्म्यकीर्तनैः । अनृतव्यापरादेषु श्रेष्ठमुत्प्रामपेदिमान् ॥'  
 इति ॥ ७३-७५ ॥

भाषा—यादी और प्रतिवादी के तभीप स्थित साक्षियों को सम्बोधित  
 कर उन्हें इस प्रकार सुनावे—जो लोक पातक करने वाले एवं महापातकियों  
 को मिलते हैं, जो लोक भाग छगाने वालों को एवं जो लोक खी एवं बालकों  
 की हत्या करने वालों को मिलते हैं उन सभी लोकों को वह व्यक्ति प्राप्त करता  
 है जो साक्ष्य में शूद्र बोलता है । तुम लोगों ने सौ जन्म अन्तर्गत में जो कुछ  
 भी पुण्यार्जन किया है उन सबको उस व्यक्ति का समझना जिसे तुम शूद्र ही  
 पराजित करोगे ॥ ७३-७५ ॥

यदा तु धाविताः साक्षिणः कथंचिन्न प्रयुस्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

अनुबन्धि नरः साक्ष्यमृणं सदशबन्धकम् ।

राज्ञा सर्वं प्रदाप्यैः स्यात्पट्चत्वारिंशकेश्हनि ॥ ७६ ॥

यः साक्ष्यमङ्गीकृत्य धावितः सन् कथंचिन्न वदति स राज्ञा सर्वं सदृष्टिक-  
 मृणं धनिने दाप्य, सदशबन्धकं दशमांशसहितम् । दशमांशश्च राज्ञो भवति;  
 'राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधितादशकं क्षतम्' ( ४१० ४२ ) इत्युक्तत्वात् ।  
 एतच्च पट्चत्वारिंशकेश्हनि प्राप्ते वेदितव्यम् । ततोऽर्थावदन्न दाप्यः, इदं च  
 स्यात्पापुप्लवहितस्य । यथाह मनुः ( ८।१०७ )—'त्रिपक्षादनुबन्तापय-  
 मृणादिषु नरोऽगदः । तदणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्ध च सर्वशः ॥' इति । 'अगद'  
 इति राजदैवोपप्लवविरहोपलक्षणम् ॥ ७६ ॥

भाषा—जो साक्ष्य स्वीकार करके उसके अनन्तर कुछ न बोले उससे  
 राजा वृद्धि के साथ सम्पूर्ण प्राण का धन धनी को दिलावे तथा साथ ही  
 उसका दशमांश वसूल करे । इन सभी धनों को राजा विपालितवै दिन  
 दिलावे ॥ ७६ ॥

यस्तु जानन्नपि स चयमेव नाङ्गीकरोति दौराग्यात्त प्रत्याह—

न ददाति हि य साक्षर्यं जानन्नपि नराधम ।

स कूटसाक्षिणा पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥ ७१ ॥

य पुनर्नराधमो विप्रतिपन्नमर्थं विशेषतो जानन्नपि साक्षर्यं न ददाति नाङ्गीकरोति स कूटसाक्षिणा तुल्य पापैः दण्डेन च । कूटसाक्षिणा च दण्ड वचयति । कूटसाक्षिणश्च दण्डविराग पुनर्यवहार प्रवर्तनीय । कृतोऽपि वा, कौटसाक्ष्ये विदिते विवर्तनीय । यथाह मनु ( ८।१।७ )— यस्मिन्-यस्मिन्-शिववादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥' इति ॥ ७७ ॥

भाषा—जो नीच मनुष्य जानता हुआ भी साक्षर्य (गवाही) नहीं देता है वह कूटसाक्षियों का पाप करता और उस उन्हीं के समान दण्ड देना चाहिये ॥ ७७ ॥

साक्षिविप्रतिपत्तौ कथं निर्णय इत्यत आह—

द्वैधे बहूना वचन समेषु गुणिना तथा ।

गुणिद्वैधे तु वचन ग्राह्य ये गुणवत्तमा ॥ ७८ ॥

साक्षिणां द्वैधे विप्रतिपत्तौ बहूनां वचन ग्राह्यम् । समेषु समसण्येषु द्वैधे ये गुणिनस्तेषां वचन प्रमाणम् । यदा पुनर्गुणिनां विप्रतिपत्तिस्तदा ये गुणवत्तमा श्रुताऽप्यनतदर्शानुष्ठानधनपुत्रादिगुणसंपन्नस्तेषां वचनं ग्राह्यम् । यत्र तु गुणिनः कतिपये इतरे च पहवस्तत्रापि गुणिनामेव वचनं ग्राह्यम् ; 'उभयां नुमत साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्' ( इय० ७२ ) इति गुणातिशयस्य सुटयत्वात् । यत्तु 'भेदादसाक्षिणः' ( इय० ६८।६९ ) इत्युक्तं तत्पर्यसाध्येनागृह्यमाणविशेषविषयम् ॥ ७८ ॥

भाषा—साक्षियों के कथनों में अंतर (द्वैध) हो तो उनमें से अधिकांश की बात को, दोनों ओर समान हों तो गुणियों के कथन को और गुणियों में भी परस्पर विरोध हो तो जो सर्वाधिक गुणवान् साक्षी हों उनके वचन को ग्रहण करना चाहिये ॥ ७८ ॥

साक्षिभिश्च कथमुक्तं च कथं वा पराजय इत्यत आह—

यस्याचु साक्षिण सत्या प्रतिज्ञा स जयी भवेत् ।

अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजय ॥ ७९ ॥

यस्य वादिनः प्रतिज्ञा द्रव्यजातिसख्यादिविशिष्टा साक्षिण सत्यां चक्षित सत्यमेव जानामीो वचमिति स जयी भवति । यस्य पुनर्वादिनः प्रतिज्ञा

मन्यदा वैपरीक्षेण मिथैतदिति यद्विदित तस्य पराजयो भ्रुवो निश्चितः । यत्र तु प्रतिज्ञानार्थस्य विस्मरणादिना भावाभावा साक्षिणो न प्रतिपादयन्ति, तत्र प्रमाणान्तरेण निर्णयः कार्यः । न च राज्ञा साक्षिणः पुनः पुनः प्रष्टव्याः । स्वभावोत्तमेव वचनं प्राप्यम् । यथाह—'स्वभावांक्त वचस्तेषां प्राह्यं यद्दोष-  
घञ्जितम् । तत्रे तु साक्षिणो राज्ञा न प्रष्टव्याः पुनः पुनः ॥' इति ॥ ७९ ॥

भाषा—जिसकी ( जिस यादो की ) प्रतिज्ञा ( दावे ) को साक्षी सत्य फरार दें वह विजयी होता है और जिस ( यादो ) का प्रतिज्ञा को ये असत्य यताते हैं उसकी निश्चित पराजय होती है ॥ ७९ ॥

'अन्यथा चादिनो यस्य भ्रुवस्तस्य पराजयः' ( श्रु० ७९ ) इत्यस्यापवादमाह—

उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणयत्तमाः ।

द्विगुणा याऽन्वया द्रुयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः ॥ ८० ॥

पूर्वोक्तलक्षणैः साक्षिभिः साक्ष्ये स्वाभिप्राये' प्रतिज्ञानार्थवैपरीक्षेणाभिहिते यद्यन्ये पूर्वभ्यो गुणयत्तमाः द्विगुणा वा अन्यथा प्रतिज्ञानार्थाननुगुण्येन साक्ष्यं द्रुयुस्तदा पूर्वं साक्षिणः कूटा 'मिथ्यायादिनो भवेयुः । नन्येतदनुवच्यम् ; अर्थिप्रत्यर्थिसम्यसम्भाषतिभिः परीक्षितैः प्रमाणभूतैः साक्षिभिर्निर्गदिते प्रमा-  
णान्तरान्वेषणेऽनवरथादोषप्रसङ्गात्—'निर्गिके व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत् । लिखितं साक्षिणो चापि पूर्वमावेदितं न चेत् ॥', 'यथा पक्षेषु धान्येषु निष्फलाः प्रावृष्यो गुणाः । निर्गिकव्यवहाराणां प्रमाणमफलं तथा ॥' ( मा० १।६३-६२ ) इति नारदवचनाच्च । उच्यते,—यदाऽर्था प्रतिज्ञानार्थस्या-  
न्तरात्मसाक्षिष्वेनानाविकृतदोषाणामपि साक्षिणां वचनमर्थविसराक्षिष्वेनाप्रमाणं मन्यमानः साक्षिण्यपि दोषं कल्पयति तदा प्रमाणान्तरान्वेषणं केन वार्यते ? उक्तं च—'यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रथयः स एवावगोचीनः' इति ॥ यथा अक्षुरादिकरणदोषानध्यवसायेऽप्यर्थविसरात्तज्जमितस्य ज्ञानैरेवा-  
प्रामाण्येन करणदोषरूपना तथेहापि; साक्षिपरीक्षातिरेकेण चावपरीक्षोप-  
देसाच्च ।—'साक्षिभिर्भाषितं वाक्यं महं सम्यैः परीक्षयेत्' इति । कात्यायनेना-  
स्युक्तम्—'यदा शुद्धा क्रिया न्यायान्तदा तद्वाक्यशोधनम् । शुद्धाच्च वाक्याद्यः  
शुद्धः स शुद्धोऽर्थ इति स्थितिः ॥' इति । क्रिया साक्षिलक्षणा, 'नार्थतन्वन्धि-  
नाहाः' ( मनुः ८।६४ ) इति न्यायाद्यदा शुद्धा तदा तद्वाक्यशोधनं साक्षिवा-  
क्यशोधनं कर्तव्यम् ; चावयशुद्धिश्च सत्यार्थप्रतिपादनेन; 'सत्येन शुद्धयते

१. स्वाभिप्रायेण प्रतिज्ञा । २. मिथ्यासाक्षिणो । ३. कारणं दुष्टं ।

४. ज्ञानस्य प्रामाण्य । ५. वावपरीक्षोप' ।

निर्देष्टा, तत्रप्रतिपक्षस्तदभाववादी प्रत्यर्थी, तत्राभावरस्य भावसिद्धिसापेक्षसिद्धि-  
 स्वाद्भावस्य चाभावसिद्धिनिरपेक्षसिद्धिस्वाद्भावस्यैव साध्यस्य युक्तम्, अभावस्यै  
 स्वरूपेण साक्षादिप्रमेयत्वाभावात् । अतश्चाधिन एव क्रिया युक्ता । अपि  
 चोत्तरानुसारेण सर्वत्रैव क्रिया निपता स्मर्यते, 'माह-यावकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी  
 निर्दिशेत्क्रियाम् । मिथोक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत् ॥' इति । न  
 चैकस्मिन्व्यवहारे द्वयोः क्रिया, 'नचैकस्मिन्निवाद् तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोः'  
 इति स्मरणात् । तस्मात्प्रतिवादिन साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वाऽथवा  
 द्यूरित्यनुपपन्नम् ॥ अथ मतम्-यत्र द्वावपि भावप्रतिज्ञावादिनौ 'मदीयमिदं  
 दायादप्राप्तं मदीयमिदं दायादप्राप्तं'मिति प्रतिज्ञावादिनो पूर्वापरकालविभागा-  
 नाकलितमेव वदतस्तत्र द्वयोः साक्षिणु ससु कस्य साक्षिणो ग्राह्या इत्या-  
 काङ्क्षाया-—'द्वयोर्विषयद्वयोरर्थे द्वयोः ससु च साक्षिणु । पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवे-  
 युस्तस्य साक्षिण ॥' इति ध्येनेन यः पूर्व निवेदयति, तस्य साक्षिणो ग्राह्या  
 इति स्थिते, तस्याप्येवाद्-—'उक्तेऽपि साक्षिभिः साध्ये' इति । अतश्च पूर्वोत्त-  
 रयोर्वादिनो समसख्येषु समगुणेषु साक्षिणु ससु पूर्ववादिन एव साक्षिण  
 प्रष्टव्या । यदा तु उत्तरवादिन साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वा तदा प्रति-  
 वादिन साक्षिण प्रष्टव्या । एव च नाभावस्य साध्यता, उभयोरपि भाववादि-  
 स्वात्, चतुर्विधोत्तरविलक्षणत्वाच्च प्रकृतोदाहरणे न क्रिया-व्यवस्था । एकस्मिन्व्य-  
 वहारे तु यथैकस्यार्थिनः क्रियाद्वयं परमते तथा वादिप्रतिवादिनो क्रियाद्वयेऽ  
 प्यविरोध इति । तदप्योच्यते—'उक्तेऽपि साक्षिभिः साध्ये' इत्यपि  
 ज्ञानार्थाप्रकरणाद्वाऽस्यार्थस्यानवगमादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ ८० ॥

भाषा—साक्षियों के अथवा वक्तव्य ( ध्यान ) के लेने पर जो दूसरी  
 प्रकृत गुणवाले व्यक्ति या उनसे देने व्यक्ति अन्यथा ( उनके वक्तव्य के विप-  
 रीत ) कहें तो वे पहले के साक्षी कूट साक्षी हो जाते हैं ॥ ८० ॥

कूटसाक्षिणो दक्षितास्तेषां दण्डमाह—

पृथक्पृथग्दण्डनीया कूटकृत्साक्षिणस्तथा ।

विवादाद् द्विगुणं दण्डं विवादास्यो ग्राह्येण स्मृत ॥ ८१ ॥

यो धनदानादिना कूटान्साक्षिणं करोति स कूटकृत्, साक्षिणश्च ये तथा  
 कूटास्ते विवादास्य विवादापराजयपरराजये यो दण्डस्तत्र तत्रोक्तस्त दण्ड

१ वाभावनिरपेक्ष । २. अभावस्वरूपेण । ३. कस्मिन्निवादे ।

४ पवादमाह । ५ त्याचार्यां नानुमन्यन्ते । ६ विवादाद्विवादापराजये,  
 विवादापराजये ।

द्विगुण पृथक्पृथगेकैकशो दण्डनीया । ब्राह्मणस्तु विवाहयो राष्ट्राश्रित्वात्स्य, न  
दण्डनीय । एतच्च लोभादिकारणविशेषपरिज्ञाने अनभ्यासे च वेदितव्यम् ।  
लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽभ्यासे च मनुनोक्तम् ( ८।१२०-२१ )—‘लोभा  
सहस्र दण्डश्च स्यान्मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैन्यात्पूर्वं  
चतुर्गुणम् ॥ कामाद्दशगुण पूर्व क्रोधात्तु त्रिगुण परम् । अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे  
वालिरथाच्छतमेव तु ॥’ इति । तत्र लोभोऽर्थलिप्सा, मोहो विपर्ययज्ञानम्,  
भय सत्रास, मैत्रा स्नेहानिश्चय, काम स्त्रीर्भ्यतिक्रामिलाप, क्रोधोऽमर्ष ।  
अज्ञानमस्फुटज्ञानम्, वालिरथ ज्ञानानुत्पाद । सहस्रादिषु तादृशिका षण्णा  
गृह्यन्ते । तथा ( मनु ८।१२३ )—‘कौटसाद्य तु कुर्वाणास्त्रीन्वर्णाधार्मिको नृप ।  
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मण तु विवाहयेत् ॥’ इति, एतच्चाभ्यासविषयम् । कुर्वा-  
णानिति वर्तमाननिर्देशात् । स्त्री-वर्णाश्चत्रियादीन् पूर्वोक्त दण्ड दण्डयित्वा प्रवा-  
सयेन्मारयेत् । अर्थशास्त्रे ‘प्रवास’शब्दस्य मारणे प्रयोगात्, अस्य चार्थर्शास्त्ररूप-  
त्वात् । तत्रापि प्रवासनमोष्ठ्येदं न जिह्वाच्छेदन प्राणवियोजन च कौटसाद्य-  
विषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । ब्राह्मण तु दण्डयित्वा विवासयेत् स्वराष्ट्राश्रित्कासयेत् ।  
यद्वा,—वामसो विगतो विवासा । विवासस करोतीति निचि कृते ‘णाविष्टव  
स्मातिपदिकस्य’ इति टिलोपे रूपम् । विवासयेत् नग्नीकुर्यादित्यर्थ । अथवा  
वसत्यस्मिन्निति वासो गृहम् । विवासयेत् भग्नगृह कुर्यादित्यर्थ । ब्राह्मणस्यापि  
लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽनभ्यासे च तत्र तत्रोक्तो दण्ड एव । अनभ्यासे स्वर्ध-  
दण्डो विवासन च । तत्रापि जातिद्रव्यानुष-धाद्यपेक्षया विवासन नग्नीकरण गृह-  
भङ्गो देशाश्रित्वासन चेति व्यवस्था द्रष्टव्या । लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽ-  
नभ्यासे चारविषये कौटसाद्ये ब्राह्मणस्यापि चत्रियादिवदर्थदण्ड एव ।  
महाविषये तु देशाश्रित्वासनमेव । अन्याभ्यासे सर्वेषामेव मनुक्त द्रष्टव्यम् ।  
न च ब्राह्मणस्वार्थदण्डो नास्तीति मन्तव्यम् । अर्थदण्डाभावे शारीरदण्डे  
च निषिद्धे स्वल्पेऽप्यपराधे नग्नीकरणगृहभङ्गाङ्ककरणविप्रवासन दण्डाभावो  
वा प्रमज्जयेत्, ‘चतुर्णामपि वर्णानां प्रायश्चित्तमङ्घ्र्यताम् । शारीर धनसयुक्त  
दण्ड धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥’ इति स्मरणाच्च । तथा ( मनु ८।३७८ )—‘सहस्र  
ब्राह्मणो दण्डो गुप्तो विप्रा बलाद् व्रजन्’ इति स्मरणात् । यस्तु शत्रुवचनम्—  
‘त्रयाणां वर्णानां धनापहारवध च-धकिया विवासनाङ्ककरण ब्राह्मणस्य’  
इति, तत्र धनापहार सर्वस्वापहारो विवक्षित वधसाहचर्यात्, ‘शारीर-  
स्ववरोधादिर्भोवितान्त प्रकीर्तित । काकिण्यादिसर्वधर्दण्ड सर्वस्वान्त

१ न दण्डया । २ द्रष्टव्यम् । ३ भयाद्दौ मध्यमो दण्डो । ४ स्त्रीभ्य-  
तिरेकाभि । ५ वर्तमानकाल । ६ शास्त्रस्वरूप ।

स्तथैव च ॥' ( नारदः परि० ५४ ) इति बधसर्वस्वहरणयोः सहपादात् । यदप्युक्तम्—'राष्ट्रादेनं बधिः कुर्यात्समप्रधनमचतस्रम्' इति, तत्प्रथम-कृतसाहसविषयं; न सर्वविषयम् । शारीरस्तु प्रहणस्य न कदाचिद्भवति । 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्' ( मनुः ८१३८० ) इति सामान्येन मनुस्मरणात् । तथा मनुः ( ८१३८१ )—'न ब्राह्मणवधाद्भूषानधर्मो विद्यते भुवि । तस्मादस्य बधं राजा मनमापि न धिन्तयेत् ॥' इति ॥ ८१ ॥

भाषा—( धन लेकर ) मिथ्या बोलने वाले कूट-साक्षियों में प्रत्येक से उस विवाद में हारने वाले पर जितना दण्ड हो उससे दूना धन दण्ड के रूप में लेवे और यदि वह कूटसाक्षी ब्राह्मण हो तो उसे अपने राज्य से निर्वासित करे ॥ ८१ ॥

जानतः साधयानङ्गीकारे भाह—

यः साक्ष्यं ध्यावितोऽन्येभ्यो निहृते तत्तमोवृतः ।

स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ ८२ ॥

अपि च, यस्तु साक्षिस्वमङ्गीकृत्याभ्यः साक्षिभिः सह साक्ष्यं ध्यावितः मक्षिगदनेकाले तमोवृतो रागात्प्राक्कान्तचित्तस्तरसादयमन्येभ्यः साक्षिभ्यो निहृते—'नाहमत्र साक्षी भवामि' इति, स विवादपराजये यो दण्डस्तं दण्ड-मष्टगुणं दाप्यः । ब्राह्मणं पुनरष्टगुणदण्डदानात्समर्थं विवासयेत् । विवासने च नग्रीकरणगृहभङ्गदेशनिर्वासनलक्षणं विषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । इतरेषां स्वष्टगुणदण्डदानासंभवे स्वजात्युचितकर्मकरणनिगडवन्धनकारागृहप्रवेशादि द्रष्टव्यम् । एतच्च पूर्वश्लोकेऽप्यनुमर्तव्यम् । यदा सर्वे साक्ष्यं निहृवते तदा सर्वे समानदोषाः । यदा तु साक्षयमुक्त्वा पुनरन्यथा वदन्ति, तदानुबन्धात्पेक्षया दण्डयाः । यथाह कात्यायनः—'उदावाऽन्यथा मुवागाश्च दण्डयाः स्युर्वा-वक्ष्यन्ति' इति । न चान्येनोक्ता साक्षिणोऽन्येन रहस्यमुसर्तव्याः । यथाह नारद ( १११६५ )—'न परेण समुद्दिष्टमुपेयात्साक्षिण रह । भेदपेक्षैव चान्येन हीयेतैव समाचरन् ॥' इति ॥ ८२ ॥

भाषा—जो साक्षी होना स्वीकार करके अन्य साक्षियों के साथ दापय दिलाये जाने पर साक्षी होने से पिरन होता है उससे विवाद के हारने पर जो दण्ड हो उसका आठ गुना धन दण्ड के रूप में ले और यदि वह ब्राह्मण हो तो उसे राज्य से निर्वासित करे ॥ ८२ ॥

साक्षिणामवचनमस्यवचनं च सर्वत्र प्रतिपिद्धं, सद्यथादार्थमाह—

वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यं नृतं वदेत् ।

यत्र वर्णिनां शूद्रविद्वत्त्रविप्रानां सत्यवचनेन वधः समाप्यते तत्र साध्यमनृत वदेत् सत्यं न वदेत् । अनेन च सत्यवचनप्रतिषेधेन साक्षिणः पूर्वप्रतिषिद्धमसत्यवचनमवचनं चाभ्यनुज्ञायते । यत्र शङ्काभियोगादौ सत्यवचने वर्णिनो वधोऽनृतवचने कस्यापि वधस्तत्रानृतवचनमभ्यनुज्ञायते । यत्र तु सत्यवचनेऽर्थिप्रार्थिनिोरन्यतरस्य वधोऽसत्यवचने चान्यतरस्य वधस्तत्र तूष्णीं-भावाभ्यनुज्ञा राजा यद्यनुमन्यते । अथ राजा कथमप्यकथने न मुञ्चति तदा भेदाद्साक्षिण्यं कर्तव्यम् । तस्याप्यसभवे सत्यमेव वदितव्यम् । असत्यवचने यणिवधदोषोऽसत्यवचनदोषश्च । सत्यवचने तु वर्णिवधदोष एव, 'तत्र च यथा-शास्त्रं प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् ॥-

तर्ह्यसत्यवचने तूष्णींभावे च शास्त्राभ्यनुज्ञानात्प्रत्यवायाभाव इत्यत आह—

तत्प्रायनाय निर्वाप्यश्चरुं सारस्वती द्विजैः ॥ ८३ ॥

तत्प्रायनाय अनृतवचनावचननिमित्तप्रत्यवायपरिहाराय सारस्वतश्च रुद्विजैरैकैकशो निर्वाप्य कर्तव्यम् । सारस्वती देवता अस्याति सारस्वतः । अनवस्थावितान्तरूपमपक्रीदने 'चरु'शब्दः प्रसिद्धः । इहायमभिसन्धिः—'साक्षिणामनृतवचनमवचनं च यन्नपिद्धं तदिहाभ्यनुज्ञातम् । यत्तु—'नानृतं वदेत् । अमृतवन्निशुक्लवापि नरो भवति किद्विधी' ( मनु ८।१३ ) इति सामान्येनानृतवचनमवचनं च प्रतिषिद्धं तदतिक्रमनिमित्तमिदं प्रायश्चित्तम् । नच मन्तव्यं साक्षिणामनृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानेऽपि साधारणानृतवचनावचनप्रतिषेधातिक्रमनिमित्तकप्रत्यवायस्य तादृक्स्थ्यादभ्यनुज्ञावचनमनर्थकमिति । यैत साध्यमनृतवचनावचनयोर्भूयान्प्रत्यवाय साधारणानृतवचनावचनयोरक्षीयानित्यर्थवदभ्यनुज्ञावचनम् । यद्यपि भूयसः प्रत्यवायस्य निवृत्त्या आनुषङ्गिकराराध्वायसः प्रत्यवायस्य निवृत्तिरन्यत्र तथापीद्वाभ्यनुज्ञावचनात्प्रायश्चित्तनिधानाच्च भूयसो निवृत्त्यादक्षीयानप्यानुषङ्गिकोऽपि प्रत्यवायो न निवर्तत इति गम्यते । एतदेवा-न्यत्र प्रश्नेषु वर्णिवधान्नाश्याया पात्यादीनामनृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानं वेदितव्यम् । नच तत्र प्रायश्चित्तमस्ति, प्रतिषेधान्तराभावात् । निमित्तान्तरेण कालान्तरेऽर्थतत्त्व-वधमेऽपि साक्षिणामनृतवचनावचनावचनयोर्भूयान्प्रत्यवायस्य वचनादवगम्यत इति ॥ ८३ ॥

भाषा—जहाँ सत्य बोलने से चारों वर्णों में किसी वर्ण के व्यक्ति क वध की समाप्ति हो वहाँ साक्षी शूद्र बोले । उस ( असत्यभाषण ) की शुद्धि के लिए द्विज सारस्वती देवी के लिए चरु बनाकर चढ़ावे ॥ ८३ ॥

इति साक्षिप्रकरणम् । १

१. अभ्यनुज्ञा । २. नाभूतं । ३. निषिद्ध । ४. स्थ्यादवचनाभ्यनुज्ञा । ५. साक्षिणामसत्यवचनावचनप्रतिषेधातिक्रमयो ।

## अथ लेख्यप्रकरणम् ६

भूमिसाक्षिणी निरूपिता, सांप्रत लेख्य निरूप्यते । तत्र लेख्य द्विविधम्—  
शासन जानपद चेति । शासन निरूपितम् । जानपदमभिधीयते । तच्च द्विवि  
धम्—स्वहस्तकृतमन्यकृत चेति । तत्र स्वहस्तकृतमसाक्षिक, अन्यकृत ससाक्षि  
कम् भानयोश्च देशाचारानुसारेण प्रामाण्यम् । यथाह नारद ( ११३५ )—  
'लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्ताऽन्यकृतं तथा । असाक्षिमसाक्षिमद्यं सिद्धिर्देश-  
स्थितैस्तयोः ॥' इति । तत्रान्यकृतमाह—

य. कश्चिदर्थो निष्णात. स्वकृत्या तु परस्परम् ।

लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन्धनिकपूर्वकम् ॥ ८४ ॥

धनिकाधमर्णयोर्वोर्धो हिरण्वादि परस्पर स्वकृत्या 'इयता कालेनैताजहे-  
यम्', 'इयती च प्रतिमासं वृद्धि' इति निष्णातो व्यवस्थित तस्मिन्धने कालान्तरे  
विप्रतिपत्तौ वस्तुतत्त्वनिर्णयार्थं लेख्य साक्षिमदुक्कलक्षणसाक्षियुक्त धनिकपूर्वक  
धनिकः पूर्वो यस्मिन्स्वधनिकपूर्वकम् । धनिकनामलेखनपूर्वकमिति पाठः ।  
कार्यं कर्तव्यम् । उत्पलक्षणा साक्षिणो वा कर्तव्या, 'कर्ता तु परकृतं कार्यं  
मिद्वयर्थं तस्य साक्षिणः । प्रवर्तन्ते विवादेषु स्वकृतं वाऽथ लेख्यकम् ॥' इति  
स्मरणात् ॥ ८४ ॥

भाषा—जब धनी और अधमर्ण ( ऋण ) में अपनी इच्छा से परस्पर  
कोई बात तय हुई हो ( जैसे ऋण भुगतान का समय, वृद्धि की दर आदि )  
तो साक्षियों के सामने उसे लिख देना चाहिए । लेख में धनिक ( ऋणदाता )  
का उल्लेख करें ॥ ८४ ॥

समामासतदर्धाहर्नामजातिस्वर्गोत्रकैः ।

सग्रहव्यारिकात्मीयपितृनामादिचिह्नितम् ॥ ८५ ॥

अपि च, समा संवत्सर, मासश्चैत्रादि, तर्धं पक्ष — शुक्ल कृष्णो वा,  
अहस्तियि प्रतिपदादि, नाम धनिकर्णिकयो, जातिर्गोत्रणवादि, स्वर्गोत्र  
चातिष्ठादिगोत्रम्, एतैः समादिभिश्चिह्नितम्, तथा सग्रहव्यारिक बहूचादि-  
न्नास्त्रप्रयुक्त गुणनाम बहुच कठ इति । आत्मीयपितृनाम धनिकर्णिकपितृनाम,  
'भादि'ग्रहणाद् इत्यजातिसव्याचौरादैर्ग्रहणम् । 'एतैश्च चिह्नितं लेख्यं कार्यम्'  
इति गतेन सवन्ध ॥ ८५ ॥

१. मन्यहस्तकृत ।

२. स्वर्गोत्रकै ।

३. धनिकाऽधमर्णिकयो ।

४. सव्याचारदे ।



भाषा—वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम, जाति और गोत्र के साथ लिखना चाहिए । तथा बह्वृच आदि वेद की शाखा, और अपने पिता का नाम लिखना चाहिए ॥ ८५ ॥

समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत् ।

मत्तं मेऽमुकपुत्रस्य यद्वापि लिखितम् ॥ ८६ ॥

किंच, धनिकाधमर्णयोर्द्वयं स्वहस्त्या व्यवस्थितस्तस्मिन्नर्थे समाप्ते लिखिते ऋणी अधमर्णो नामास्मीय स्वहस्तेनास्मिन्बलेऽप्ये यद्वापि लिखितं तन्ममामुक-पुत्रस्य मत्तं अभिप्रेतमिति निवेशयेत् पत्रे विलिखेत् ॥ ८६ ॥

भाषा—ऋणदाता और ऋणी में तब हुई बात लिखने के उपरान्त ऋणी अपने हाथ से अपना नाम लिखे और यह भी लिखे कि अमुक के पुत्र मुझको ऊपर लिखी हुई बात स्वीकार है ॥ ८६ ॥

साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम् ।

अथाहममुकः साक्षी लिखेयुरिति तं समा' ॥ ८७ ॥

तथा, तस्मिन्बलेऽप्ये ये साक्षिणो लिखितास्तेऽप्यास्मीयपितृनामलेखनपूर्वकं अस्मिन्नर्थेऽयममुको देवदत्त साक्षी इति स्वहस्तेनैकैकशो लिखेयुः । ते च समा सख्यातो गुणतश्च कर्तव्याः । यद्यधमर्ण साक्षी वा लिपिज्ञो न भवति तदा-धमर्णोऽन्येन साक्षी च साधयन्तरेण सर्वसाक्षितनिधौ स्वमतं लेखयेत् । यथाह नारद —'अलिपिज्ञ ऋणी य स्वास्वमन तु स लेखयेत् । साक्षी वा साक्षिणा-ऽन्येन सर्वसाक्षिमपीपत् ॥' इति ॥ ८७ ॥

भाषा—साक्षी लोग भी अपने हाथ से अपने पिता के नाम के साथ अपना नाम लिखे कि इस समय मैं अमुक क यहाँ साक्षी के रूप में उपस्थित हूँ । साक्षियों की संख्या सम होनी चाहिए ॥ ८७ ॥

उभयाभ्यर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना ।

लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत् ॥ ८८ ॥

अपि च, ततो लेखक उभयाभ्यां धनिकाधमर्णिकोभ्यां प्रार्थितेन मयाऽमुकेन देवदत्तेन विष्णुमित्रसूनुना एतद्वन्द्यं लिखितमिच्छन्ते लिखेत् ॥ ८८ ॥

भाषा—तब अन्त में लेखक लिखे कि धनिक और ऋणी दोनों की प्रार्थना से अमुक के पुत्र अमुक नाम क मैंने यह लेख लिखा ॥ ८८ ॥

माप्रतं स्वकृतं लेख्यमाह—

चिनापि साक्षिभिल्लेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत् ।

तरप्रमाणं स्मृतं लेख्यं यलोपधिहताहते ॥ ८९ ॥

यदलेख्य स्वहस्तेन लिखितमथमर्गेण तत्साक्षिभिर्विनापि प्रमाणं स्मृतं मन्वादिभिः । यलोपधिहताहते बलेन बलाकारेण उपधिना ह्यल्लोभक्रोधभय-  
मदादिलक्षणेन यस्मृतं तस्माद्दिना । नारदोऽप्याह ( ११३७ )—'मत्ताभि-  
युक्तस्त्रीयालबलाकारकृतं च यत् । तदप्रमाणं लिखितं भयोपधिहृतं तथा ॥' इति  
तन्चेतरस्वहस्तकृतं परहस्तकृतं परहस्तकृतं च यदलेख्यं देशाचाराजुसारेण सवन्धक  
स्ववहारेऽवन्धकस्ववहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिख्यचारापरिलोपेन च लेख्य-  
मिरयेतावत् न पुनः साधुनान्दैरेव, प्रातिस्विच्छेदनाभापयापि लेखनीयम् । यथाह  
नारद ( ११३६ )—'देशाचारात्रिरुद्धं यद्वयनाधिविधिलक्षणम् । तदप्रमाणं  
स्मृतं लेख्यमविलुप्तक्रमाक्षरम् ॥' इति । विधानविधिः, भाषेर्विधिराधिविधिराधी-  
करण तस्य लक्षणं गोप्याधिभोग्याधिकालकृतमिरयादितद् व्यक्तं विरपष्टं यस्मि-  
स्तद्वयनाधिविधिलक्षणम् । अविलुप्तक्रमाक्षरम् । अर्धानां क्रम क्रमशाक्षराणि च  
क्रमाक्षराणि अविलुप्तानि क्रमाक्षराणि यस्मिस्तदविलुप्तक्रमाक्षरं । तदेवभूतं लेख्य  
प्रमाणम् । राजशासनवन्न साधुनान्दनियमोऽत्रैत्यभिप्रायः ॥ ८९ ॥

भाषा—तो लेख अपने हाथ से लिखा होता है वह साक्षियों के बिना  
भी प्रमाण होता है, यद्यत्तं वह बलपूर्वक या छल या लोभ से न लिखा  
गया हो ॥ ८९ ॥

लेख्यप्रसङ्गेन लेख्यारुद्धमप्युण त्रिभिरेव देयमित्याह—

ऋणं लौढयकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु ।

यथा साक्ष्यादिकृतमृण त्रिभिरेव देयं, तथा लेख्यकृतमप्याहर्तृतेऽपुत्रतःपुत्रै-  
स्त्रिभिरेव देयं, न चतुर्थादिभिरिति नियम्यते । ननु 'पुत्रपौर्त्रेर्ण देयम्' ( व्य०  
५० ) इत्यविशेषेण ऋणमात्रं त्रिभिरेव देयमिति नियतमेव । वादम् । अस्यैवो-  
त्सर्गस्य पत्रारुद्धेर्णविषये स्मृत्यन्तरप्रभवामपवादादशङ्कामपनेतुमिदं वचनमारब्धं ।  
तथा हि—पत्रारुद्धेणमभिधाय कार्यायनेनाभिहितम्—'एवं कालमतिक्रान्तं  
वितृणां दाप्यते ऋणम्' इति । इत्थं पत्रारुद्धेणमतिक्रान्तकालमपि वितृणा  
सर्गन्धि दाप्यते । अत्र 'वितृणां' इति बहुवचननिर्देशात्कालमतिक्रान्तमिति

१. विना तु । २. तत्रैतत् । ३. कृतं च लेख्यं । ४. सवन्धकस्ववहारे च ।  
५. तत्पुत्रपौत्रैः ।

वचनाच्चतुर्थादिर्दाप्य इति प्रतीयते । तथा हारीतेनापि—'लेख्यं यस्य भवेद्धस्ते  
 लाभं तस्य विनिर्दिशेत्' इति । अप्रापि यस्य हस्ते लेख्य ( पत्र ) मस्ति तस्य-  
 र्गलाभ इति सामान्येन चतुर्थादिभ्योऽप्युणलाभोऽस्तीति प्रतीयते । अत्र श्रौत  
 दादाहानिवृत्त्यर्थमेव द्वचनमित्युक्तम् । वचनद्वय च योगीश्वरवचनानुसारेण  
 योजनीयम् ॥—

अस्यापवादमाह—

आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते ॥ ९० ॥

सबन्धकेऽपि पत्रारूढ ऋण त्रिभिरेव देयमिति नियमाहणापाकरणावधि-  
 कारेणैष्याहरणेऽप्यनधिकारप्राप्ताविदमुच्यते । यान्चतुर्थेन पञ्चमेन वा ऋण  
 न दीयते तावदेवाधिर्भुज्यत इति वदना सबन्धकर्णापाकरणे चतुर्थादेरप्य-  
 धिकारो दर्शित । नञ्वेतदप्युक्तमेव 'फलभोग्यो न नश्यति' ( ४० ५८ )  
 इति । सम्यम् । तदप्येतस्मिन्नस्यपवाद्बचने पुरुषत्रयविषयमेव स्यादिति  
 सर्वमनवद्यम् ॥ ९० ॥

भाषा—लिखा गया ऋण तीन पीढ़ी तक ही देय होता है । और आधि  
 ( बन्धक ) का भोग उस समय तक किया जाता है जब तक कि ऋण न  
 छौटाया जाय ॥ ९० ॥

प्रासङ्गिक परिसमाप्य प्रकृतमेशानुसरति—

देशान्तरस्थे दुर्लक्ष्ये नष्टोन्मृष्टे हने तथा ।

भिन्ने दग्धेऽथवा छिन्ने लेट्यमन्यत्तु कारयेत् ॥ ९१ ॥

व्यवहाराद्यमे पत्रे पत्रान्तर कुर्यादिति विधीयत । व्यवहाराद्यस्य चारथन्त-  
 व्यवहितदेशान्तरस्थे पत्रे दुर्लक्ष्ये दुष्टानि सदिष्टमानानि अवाचकानि वा  
 लेख्यानि लिख्यचराणि पदानि वा यस्मिन्तत् दुर्लक्ष्य तस्मिन्दुर्लक्ष्ये, नष्टे  
 कालवशेन, उन्मृष्टे मपीदौर्बल्यदिना मृदितलिप्यपरे, हते तैस्करादिभिः, भिन्ने  
 विदलिते, दग्धे भग्नना प्रचलिते, छिन्ने द्विषाभूते सति पत्रं द्विर्भवति । एत  
 च्चार्षिप्रश्वयिनो परस्परानुमती सत्याम् । विमथां तु व्यवहारप्राप्तौ देशान्तर-  
 स्थपत्रानयनौषाध्यापेक्षया कालो दातव्य । दुर्गदेशावस्थिते नष्टे वा पत्रे  
 साक्षिभिरेव व्यवहारनिर्णय कार्य । यथाह नारद ( १।१४२ )—'लेख्ये देशा

१. वचनाच्च चतुर्थादि । २ पत्रारूढे ऋणे । ३ कारणापहरणे ।  
 ४. दग्धे तथा छिः । छिन्ने भिन्ने तथा दग्धे । ५ तस्करादिना । ६ द्वितीयपत्र  
 भवति । ७ नाय दुर्गाभापेक्षया । ८ दुर्गदेशावस्थिते ।

न्तरन्यस्ते शीर्णे दुर्लिखिते ह्यते । सतस्तःकालकरणमसतो द्रष्टृदर्शनम् ॥' इति ।  
 सतो विद्यमानस्य पत्रस्य देशान्तरस्थस्यानघनाय कालकरण कालागधिर्दातव्यः ।  
 असत पुनरविद्यमानस्य पत्रस्य पृथं ये द्रष्टार साक्षिणस्तैर्दर्शनं व्यवहारपरि-  
 समापनं कार्यम् । यदा तु साक्षिणो न सन्ति तदा दिग्भेन निर्णयः कार्यः—  
 'अलेख्यसाक्षिके देवीं व्यवहारे विनिर्दिशेत्' इति स्मरणात् । पृथक्च जानपद-  
 व्यवस्थापत्रम् । राजकीयमपि व्यवस्थापत्रमीदृशमेव भवति । इयांस्तु विशेषः—  
 'राजः स्वहस्तसयुक्तस्वमुद्राचिह्नितः तथा । राजकीयस्मृत्यलेख्य सर्वेष्वर्थेषु  
 साक्षिमत् ॥' इति । तथान्यदपि राजकीयं जयपत्रकं वृद्धवसिष्ठेनोक्तम्—'यथोप-  
 न्यस्तसाध्यार्थसयुक्तसोत्तरक्रियम् । सात्कारणकं चैव जयपत्रकमिष्यते ॥ प्राङ्-  
 निवासादिहस्ताङ्गमुद्रितराजमुद्रया । विद्देश्यैर्वादिने दद्यात्प्रविने जयपत्रकम् ॥'  
 इति । तथा सभासदोऽपि मैत्रेयस्योक्तमुद्रितराजमुद्रया । विद्देश्यैर्वादिने दद्यात्प्रविने जयपत्रकम् ॥'  
 इति । तथा सभासदोऽपि मैत्रेयस्योक्तमुद्रितराजमुद्रया । विद्देश्यैर्वादिने दद्यात्प्रविने जयपत्रकम् ॥'  
 इति स्मरणात् । सभासदा च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण न व्यवहारो निराण्यो  
 भवति । यथाह नारदः—'यत्र सम्यो जन सर्वं साध्येतदिति मन्यते । स  
 निराण्यो विवादः स्यात्सशक्यस्त्वन्यथा भवेत् ॥' इति । एतच्चतुष्पाद्यवहार-  
 एव ।—'साध्योऽसाध्यमर्थं यच्चतुष्पादान्वितं च यत् । राजमुद्रान्वितं चैव  
 जयपत्रकमिष्यते ॥' ( कात्यायनः १ ) इति स्मरणात् । यत्र तु हीनता । यथा—  
 'अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपरथाता निरुत्तरः । आहूतमपेक्षाशी च हीनः पञ्चविध-  
 स्मृतः ॥' ( नारदः मा० २१३३ ) इति । तत्र न जयपत्रकमस्ति, अपि तु  
 हीनपत्रकमेव । तच्च कालान्तरे वृद्धपात्रवर्धं, जयपत्रं तु प्राङ्गन्यापविधिसिद्धव-  
 र्धमिति विशेषः ॥ ९१ ॥

भाष्या—लेख के कहीं दूसरे देश में छूट जाने पर, पढ़ने योग्य न रह  
 जाने पर खो जाने, मिटजाने, चुरा लिये जाने, गल जाने, जल जाने अथवा  
 फूट जाने पर दूसरा लेख बनवाना चाहिए ॥ ९१ ॥

लेख्यसर्वेहे निर्णयनिमित्तान्याह—

संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिपितादिभिः ।

युक्तिप्राप्तिक्रियाच्चिह्नसंप्रश्रापमहेतुभिः ॥ ९२ ॥

'शुद्धमशुद्धं वा' इति संदिग्धस्य लेख्यस्य शुद्धिः स्वहस्तलिपितादिभिः  
 स्यात् । स्वहस्तेन लिखितं यत्कालान्तरं तेन शुद्धिः । यदि सदृशा-वचाराणि

१. दृष्टदर्शनं । २. व्यवहारे । ३. दत्तं मे । ४. मुद्राङ्कितं ।  
 ५. व्यवस्थापनी । ६. संदिग्धलेख्ये शुद्धिः ।

भवन्ति तदा शुद्धि स्यादित्यर्थ । 'भाद्रि' शब्दात् सात्तिलेखकरस्वहस्तलिखिता-  
न्तरसवादाच्छुद्धिरिति । युक्त्या प्राप्त्युक्तिप्राप्ति, देशकालपुरुषाणा द्रव्येण सह  
संबन्ध प्राप्ति । 'अस्मिन्-देशेऽस्मिन्-कालेऽस्य पुरपस्येद द्रव्य घटते' इति युक्तिप्राप्ति,  
क्रिया तत्साध्युप-न्यास, चिह्नमसाधारण श्रीकारादि, 'सब-धोऽर्थिप्रत्यर्थिनो  
पूर्वमपि परस्परविश्वासेन दानप्रहणादिसबन्ध आगमोऽस्यैतावतोऽर्थस्य सभा  
वित प्राप्त्युपाय, एते एव हेतव । एभिर्हेतुभि सदिग्धलेख्यस्य शुद्धि स्यात्'  
इत्यन्वय । यदा तु लेख्यसर्वदे निर्णयो न जायते तदा सात्तिलिखितं कार्यं ।  
यथाह कार्यायन—'दूषिते पत्रक वादी तदारूढास्तु निर्दिशेत्' इति । सात्तिलि  
सभवविषयमिदं वचनम् । साध्यसभवविषय तु हारीतवचनम्—'न मयैतकृत  
पत्र कृतमेतेन कारितम् । अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णय ॥' इति ॥ ९२ ॥

भाषा—लेख्य के विषय में सन्देह हो तो अपने हाथ से लिखे हुए लेख्य  
से युक्तिप्राप्ति ( इस देश में इस समय पर इस व्यक्ति पर इतना द्रव्य होता  
है ) क्रिया ( उसके सात्तिलि का उपन्यास ), चिह्न ( श्रीकार भादि ) सबन्ध  
( धनी और ऋणी का पहले का पारस्परिक सबन्ध ) और आगम ( द्रव्यप्राप्ति  
का उपाय ) हेतुओं से शुद्धि होती है ॥ ९२ ॥

एव शोधिते पत्रे ऋणे च दातव्ये प्राप्ते यदा कृ स्नमेव ऋण दातुमसमर्थ-  
स्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्देवा दत्त्वर्णिको धनम् ।

धनी ३वोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम् ॥ ९३ ॥

यदाऽधमर्णिक सबलमृण दातुमसमर्थस्तदा शक्यनुसारेण दावा पूर्वकृतरप  
लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत् 'एतावन्मया दत्तम्' इति । उत्तमर्णो वा उपगत प्राप्त  
धन तस्यैव लेख्यस्य पृष्ठे दद्याद्भिलिखेत्—'एतावन्मया लब्धम्' इति । कथम् ?  
स्वहस्तपरिचिह्नित स्वहस्तलिखिताक्षरचिह्नितम् । यद्वा, उपगत प्रवेशपत्र स्वह-  
स्तलिखित<sup>३</sup>चिह्नितमधमर्णोत्तमर्णो दद्यात् ॥ ९३ ॥

भाषा—ऋणी धन देकर लेख्य के पीछे लिख दिया करे । धनी भी धन  
प्राप्त करके अपना हस्ताक्षर करके उपगत ( प्राप्तिपत्र, रसीद ) देवे ॥ ९३ ॥

ऋणे तु कृ स्ने दत्ते लेख्य किं कर्तव्यमित्यत आह—

दत्त्वर्ण पाटयेत्सलेख्यं शुद्धयै वाऽन्यत्तु कारयेत् ।

क्रमेण सहृदेव वा कृ स्नमृण दावा पूर्वकृत लेख्य पाटयेत् । यदा तु  
दुर्गमेशायसिधत लेख्य नष्ट वा तदा शुद्धयै अधमर्णस्वनिचुष्यर्थस-यस्लेख्य

१ सबन्धप्राप्ति । २ उपगत ।

३ लिखितपरिचिह्नित ।

कारपेदुत्तमर्गेनाधमर्गं । पूर्वोक्तक्रमेणोत्तमर्गो विशुद्धिपन्नमपमर्गाय इत्यादि-  
र्यथं ॥—

ससाक्षिकं श्रणे वृत्तने दातव्ये किं कर्तव्यमित्यत आह—

साक्षिमन्त्रव भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकम् ॥ ९४ ॥

यत्तु ससाक्षिकमृण तत्पूर्वमाहितममममेव दद्यात् ॥ ९५ ॥

भाषा—श्रण देकर लेख को काट दे अथवा श्रणी की मिष्टि के लिए धनी दूसरा लेख लिखावे । जो श्रण साक्षियों के सामने लिया गया हो उसे जन्दी साक्षियों के सामने ही लीयाना चाहिए ॥ ९५ ॥

इति लेखप्रकरणम् ।

### अथ दिव्यप्रकरणम् ७

लितितमाभिभुक्तिरूपेण त्रिविधं मानुषं प्रमाणमुक्तम् । अथावसरमास दिव्यं  
प्रमाणमभिधास्यन् 'तुलाभ्याप' इत्यादिभिर्वापै पञ्चभि स्तोत्रैर्दिव्यमाह्वयै  
कथयति । तत्र तावद्विषयान्युपदिशति—

तुलाभ्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये ।

तुलादीनि कोशान्तानि पञ्च दिव्यानीह धर्मशास्त्रे विशुद्धये तद्विधयर्थायैव  
सदेर्दनिपृच्छये दातव्यानीति ॥—

मर्त्येभ्यः प्राग्याम्यदि तत्तुलादीनि दिव्यानि मन्त्रित—'घटोऽग्निदृक् सैव  
विष कोशस्तथैव च । तत्तुलाश्चैव दिव्यानि सत्तमस्तसमापक ॥' इति पितामह-  
स्मरणात् । अत इयमेतावन्मपदेशत आह—

महाभियोगोच्चेतानि

एतानि महाभियोगेष्वेव मान्यमेति नियमने न पुनरिमान्येष दिव्या  
नीति । महत्वावधि च कथयति । मन्वशमभियोगेऽपि काश<sup>१</sup> इत्यने; 'कोदा  
मण्डोऽपि दापयेत्' इति स्मरणात् । सायम् । कोशस्य तुलादिषु पात्रा न महा-  
भियोगेष्वेवैवति नियमार्थं, किन्तु सायद्व्यमाभियोगेऽपि प्राप्यवर्धे । अथवा  
शास्त्राभियोगे एव स्यात् । 'अथद्व्यमाभियुक्तानो घटादीनि विनिर्दिनेत् । तत्तु  
लाश्चैव कोशस्य शास्त्रावेषे न सन्त्य ॥' इति स्मरणात् ॥

१. उत्तमर्गं अथ । २. द्विभिराह्वय । ३. तद्विधय । ४. अथप्राग्या ।  
५. योगे स्तेनानि । ६. कोशोऽस्यवेष ।

महाभियोगेषु शङ्कितेषु सावष्टम्भेषु चाविशेषेण प्रास्तावपवादमाह—

—शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ॥ ९५ ॥

एनानि तुलादीन्धभियोक्तरि शीर्षकस्थेऽभियुक्तस्य भवन्ति । शीर्षक शिरो व्यवहारस्य चतुर्थं पादो जयपराजयलक्षणरतेन च दण्डो लक्ष्यते, तत्र तिष्ठतीति शीर्षकस्थ तस्ययुक्तदण्डभागिरथं ॥ ९५ ॥

भाषा—तुला, अग्नि, जल, विष और कोश ये द्युद्धि (सदेह निवृत्ति) के लिये दिव्य कहे गये हैं । इनका प्रयोग महाभियोगों में होता है और वह भी प्रमुख अभियुक्त के लिए अभियोक्ता के शीर्षकस्थ होने पर किया जाता है (शीर्षकस्थ = जय पराजय का भागी ।) ॥ ९५ ॥

'ततोऽर्थां लेखयेत्सद्य प्रतिज्ञानार्थसाधनम्' ( ९० ७ ) इति भावप्रतिज्ञावादिन एव 'कियेति व्यवस्था दर्शिता तदपवादाथमाह—

रुच्या घाऽन्यतर. कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः ।

रुच्याभियोक्त्रभियुक्तयो परस्परसप्रतिपत्याऽन्यतरोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा दिव्यं कुर्यात् । इतरोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा शिर शारीरमर्षदण्ड वा वर्तयेदङ्गीकुर्यात् । अयमभिलिखि — न मानुषप्रमाणवदिव्य प्रमाण भावैकगोचर अपि तु भावाभावाविशेषेण गोचरयति । अतश्च मिथ्योत्तरे प्रत्यवस्कन्दने प्राह्न्याये वाऽर्धिप्रसर्पिनोरन्यतरस्येच्छया दिव्य भवतीति ॥—

अरुपाभियोगे महाभियोगे शङ्कासावष्टम्भयोर्व्यविशेषेण कोशो भवतीत्युक्त, तुलादीनि विषयान्तानि तु महाभियोगेष्वेव सावष्टम्भेष्वेवेति च नियमो दर्शित । तत्रावष्टम्भाभियोगेष्वेवेश्यस्यापवादमाह—

विनापि शीर्षकारकुर्यान्नृपद्रोहेऽथ पातके ॥ ९६ ॥

राजद्रोहाभिशङ्काया ब्रह्महत्यादिपातकाभिशङ्कायां च शिर स्थायिना विनापि तुलादीनि कुर्यात् महाचौर्याभिशङ्कायां च । यथाह—'राजभि शङ्कितानां च निर्दिष्टानां च दन्त्युभि । आत्मशुद्धिपरानां च दिव्य देय शिरो विना ॥' इति । तण्डुला पुनररुपचौर्यशङ्कायामेव ।—'चौर्यं तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चय' इति वितामहवचनात् । तसमापस्तु महाचौर्याभिशङ्कायामेव, 'चौर्यं शङ्काभियुक्तानां तसमापो विधीयते' इति स्मरणात् । अन्ये पुन शपथा अरुपा र्थविषया, 'सत्यं वाहनशस्त्राणि गोवीजकनकानि च । देवतापितृपार्दाश्च दत्तानि सुकृतानि च ॥ ११० ॥ इति पुरासि पुत्राणां दाराणां सुकृदा तथा । अभियोगेषु

सर्वेषु' कोशपानमथापि वा ॥ इत्येते शपथा मोक्षा मनुना स्वरूपकारणे ॥' इति नारदस्मरणात् ॥ यद्यपि मानुषप्रमाणानिर्णयस्य निर्णायक यत्तद्विषयमिति लोकप्रसिद्धया शपथानामपि दिव्यत्व तथापि कालान्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन समनन्तरनिर्णयनिमित्तेभ्यो घटादिभ्यो दिव्येभ्यो भेदस्वरूपदेशो ब्राह्मणपरिवाजकत्व । कोशस्य तु शपथत्वेऽपि घटादिषु पाठो महाभियोगविषयत्वेनावष्टम्भाभियोगविषयत्वेन च घटादिमाभ्यान्नतु समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन । तण्डुलानां तस्यमापस्य च समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेऽप्यल्पविषयत्वेन शङ्कान्विषयत्वेन च घटादिवैलक्षण्यसाधेवपाठ इति सतोऽयम् । एतानि च दिव्यानि शपथाश्च यथासमयमृणादिषु विवादेषु प्रयोक्तव्यानि । यत्तु—पितामहवचनम् 'स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्' इति, तदपि लिखितसामन्तादिसद्भावे दिव्यानि परिवर्जयेदिति व्याख्येयम् । ननु विवादान्तरेऽपि प्रमाणान्तरसभवे दिव्यानामनवकाश एव । सत्यम् । श्रणादिषु विवादिषु उक्तलक्षणसाध्युपन्यासेऽर्थिना कृतेऽपि प्रथमार्थं यदि दण्डाभ्युपगमावष्टम्भेन दिव्यमवलम्बते तदा दिव्यमपि भवति । 'साक्षिणामाशयेपसभवादि'पस्य च निर्दोषत्वेन वस्तुतः विषयत्वात्तल्लक्षणत्वाच्च धर्मस्य । यथाह नारद—'तत्र सत्य स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिणि । देवसाधे पौरुषेयी न लेख्य वा प्रयोजयेत् ॥' इति । स्थावरेषु च विवादिषु प्रथमार्थिना दण्डावष्टम्भेन दिव्यावलम्बने कृतेऽपि सामन्तादिदृष्टप्रमाणसद्भावे न दिव्य ब्राह्मणमिति निष्पन्निराकरणार्थं 'स्थावरेषु विवादिषु' इत्यादिपितामहवचन नारदन्तिकदिभ्यनिराकरणार्थम्, लिखितसामन्ताद्यभावे स्थावरविवादेऽप्यनिर्णयप्रसङ्गात् ॥ ९६ ॥

भाष्या—अथवा इच्छानुसार इ-है अभियुक्त और अभियोक्ता दोनों में किसी के लिये किया जाता है, अथवा वे दोनों ही दारौरीक या आर्थिक दण्ड स्वीकार करें । राजद्रोह और घट्टहत्यादि पातक में बिना अथ पराजय के विचार के इनका प्रयोग किया जाता है ॥ ९६ ॥

दिव्ये साधारणविधि —

सचैलं ज्ञातमाह्वय सूर्योदय उपोषितम् ।

कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ ९७ ॥

किंच, पूर्वशुभोषितमुदिते सूर्ये सचैलं ज्ञात दिव्यब्राह्मणमाह्वय नृपस्य सम्माना च ब्राह्मणानां संनिधौ सर्वाणि दिव्यानि कारयेत्प्राह्वयिष्यत् 'प्रिराश्रो-

१ साध्येषु । सर्वेषु कोशपान । २. नारदादि । ३. नन्तरनिमित्तनिर्णयेभ्यो । ४. न्तरसद्भावे । ५. उक्तलक्षणे । ६. माशये शोप । ७. सचैलं ज्ञान-माह्वय ।



पोषिताय स्युरेकरात्रोषिताय वा । नित्यं दिव्यानि देवानि शुचये चार्द्रवाससे ॥  
 इत्युपवासविशेषः पितामहेनोक्तो बलवद्वलजन्महाकार्यविपकार्यविषयत्वेन  
 व्यवस्थितो द्रष्टव्यः । उपवासनियमश्च कारयितुः प्राङ्ग्विवाकस्यापि—'दिव्येषु  
 सर्वकार्याणि प्राङ्ग्विवाकः समाचरेत् । अभ्यरेषु यथाभ्यर्च्युः सोपवासो नृपाज्ञया ॥'  
 इति पितामहवचनात् ॥ अत्र यद्यपि सूर्योदय इत्यविशेषोक्तं, तथापि शिष्ट-  
 समाचारादानुवाचरे दिव्यानि देवानि । तत्रापि—'पूर्वाह्नेऽग्निपरीक्षा स्यात्पू-  
 र्वाह्ने च घटो भवेत् । मध्याह्ने तु जल देयं धर्मतत्त्वमभीप्सताम् ॥ दिवसस्य  
 तु पूर्वाह्ने कोशशुद्धिर्विधीयते । रात्री तु परिचमे यामे विषं देयं सुशीतलम् ॥'  
 इति पितामहोक्तेरविशेषो द्रष्टव्यः ॥ अनुक्तकालविशेषाणां तण्डुलतण्डुलमाप-  
 प्रभृतीनां पूर्वाह्ण एव प्रदानम्; 'पूर्वाह्ने सर्वदिव्यानां प्रदानं परिकीर्ति-  
 तम्' इति सामान्येन नारदस्मरणात् । अहनि त्रिधा विभक्ते पूर्वो  
 भागः पूर्वाह्णः, मध्यमो मध्याह्णः, उत्तरोऽपरह्णः । तथापरोऽपि काल-  
 विशेषो विधिप्रतिषेधमुखेन दर्शितः । विधिमुखस्तावत्—'अग्नेः शिशि-  
 रहेमन्तौ वर्षाश्चैव प्रकीर्तिताः । शरद्ग्रीष्मेषु सलिलं हेमन्ते शिशिरे विषम् ॥  
 चैत्रो मार्गशिरश्चैव वैशाखश्च तथैव च । एते साधारणा मासा दिव्यानामविरो-  
 धिनः ॥ कोशस्तु सर्वदा देयस्तुला स्यात्सार्वाकालिकी ॥' इति । 'कोश' ग्रहणं  
 सर्वशपथानामुपलक्षणम् । तण्डुलानां पुनर्विशेषानभिधानात्सार्वाकालिकत्वम् ।  
 प्रतिषेधमुखोऽपि—'न शीते तोयशुद्धिः स्यान्नोष्णकालेऽग्निशोधनम् । न प्रायृषि  
 विष दद्यात्प्रवाते न तुला तथा ॥ नापराह्णे न सन्ध्यायां न मध्याह्ने कदाचन ॥'  
 इति । 'न शीते तोयशुद्धिः स्यात्' इत्यत्र 'शीत' शब्देन हेमन्त शिशिर-वर्षाणां  
 ग्रहणम् । 'नोष्णकालेऽग्निशोधन'मित्यत्र 'उष्णकाल' शब्देन ग्रीष्मशरदोः  
 विधानलक्ष्यस्यापि पुनर्विषेध आदरार्थः; प्रयोजनं तु वक्ष्यते ॥ ९७ ॥

भाषा—( शपथ लेने वाले को ) पहले दिन उपवास कराके सूर्योदय के  
 समय बख सहित स्नान कराके तुलावे और रात तथा प्राङ्गो के समय सभी  
 दिव्य करावे ॥ ९७ ॥

अधिकारिन्यवस्थामाह—

तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपद्मब्राह्मणरोगिणाम् ।

अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यथाऽसत विषस्य वा ॥ ९८ ॥

स्त्री स्त्रीमात्र जातिवयोवस्थाविशेषानादरेण, बाल आ पाँचसाद्वर्षांप्रवृत्ति-

१ कोशसिद्धिः । २. अनुकवेला । ३. प्रथमो भागः । ४ उच्छेदः ।

५. तोयसिद्धिः स्यात् ।

विशेषानादरेण, वृद्धोऽशीतिकावर, अन्धो नेत्रविकल पटु पादविकल, ब्राह्मणो जातिमात्रम् रोगी व्याधित, एतेषां शोधनार्थं तुल्यैवेति नियम्यते । अग्नि फालस्तप्तभापश्च क्षत्रियस्य । जलमेव वैश्यस्य । 'वा' शब्दोऽवधारणे । विषस्य यथा उक्तपरिमाणा सप्तैव शूद्रस्य शोधनार्थं भवन्ति । ब्राह्मणस्य तुलाविधानात् 'शूद्रस्य यथा सप्त विषस्य घा' इति विषविधानादग्निजलं वेति क्षत्रियवैश्यविषयमुक्तम् । एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन—'ब्राह्मणस्य घटो देय क्षत्रियस्य हुताशन । वैश्यस्य सलिलं प्रोक्तं विषं शूद्रस्य दापयेत् ॥' इति । यत्तु श्यादीनां दिव्याभातरमरणम्, 'सद्यतानां भृशातानां व्याधितानां तपस्विनाम् । स्त्रीणां च न भवेद्दिव्यं यदि धमरावपेक्षितं ॥' इति, तत् हस्या वाऽन्यतरं कुर्यात्' ( श्व० १६ ) इति विवक्ष्यनिवृत्त्यर्थम् । एतदुक्तं भवति—'अवष्टम्भाभियोगेषु श्यादीनामभियोगेषुऽभियोग्यानामेव दिव्यं, एतेषामभियोग्य-श्वेऽप्यभियोग्यामेव दिव्यम् । परस्पराभिर्गोषु तु चिन्त्य एव । तत्रापि तुल्यैवेति कार्यायनवचनेन नियम्यते । तथा महापातकादिशुद्ध्याभियोगे श्यादीनां तुल्यैवेति एतच्च वचनं सर्वदिव्यसाधारणेषु मार्गशिरश्चैत्रवैशाखेषु श्यादीनां सर्वदिव्यसमवधाने नियामकतयार्थवत् । नच सर्वकालं स्त्रीणां तुल्यैवेति, स्त्रीणां तु न विषं प्रोक्तं न चापि सलिलं स्मृतम् । घटकोशादिभिस्तासामन्तरस्तत्र विचारयेत् ॥' इति विषसलिलव्यतिरिक्तघटकोशाभ्यादिभिः शुद्धिविधानात् । एवञ्चालादिष्वपि योजनीयम् । तथा ब्राह्मणादीनामपि न सार्वकालिकस्तुलादिनियमः, 'सर्वेषामेव वर्णानां क्रोशशुद्धिर्विधीयते । सर्वाण्येतानि सर्वेषां ब्राह्मणस्य विषं विना ॥' इति पितामहस्मरणात् । तस्मात्साधारणे काले बहुदिव्यसमवधाने तुलादिनियमाद्यमेवेद् वचनम् । कालान्तरे तु तत्तत्कालविहितं सर्वेषाम् । तथाहि—चर्पास्वग्निरेव सर्वेषाम् । हेम तशिशिरयोस्तु क्षत्रियादित्रयाणामग्नि-विषयोर्विकल्पः । ब्राह्मणस्य स्वग्निरेव न कदाचिद्विषम्, 'ब्राह्मणस्य विषं विना' इति प्रतिषेधात् । ग्रीष्मशरदोस्तु सलिलमेव । येषां तु व्याधिविशेषेणाभ्यादिनिषेधः—'कुष्ठिनां वर्जयेदग्निं सलिलं खासकासिनाम् । पित्तश्लेष्मघतां निरस्य विषं तु परिव्रजेत् ॥' इति तपामग्न्यादिकालेऽपि साधारणं तुलाद्यै<sup>३</sup> दिव्यं भवति ॥ तथा 'तोयमग्निर्विषं चैव दातव्यं बलिना नृणाम्' इति 'वचनान्दुर्गला-नामपि सर्वथा विधिप्रतिषेधोऽस्तुफालानतिक्रमेण जातिवयार्थस्थाधितानि दिव्यानि देयानि ॥ ९८ ॥

१ सार्वकालः । २ यथा । ३ तुला दिव्यः । ४ दुर्गलानामिति सर्वदा । ५ प्रतिषेधात् उक्तकालानति । ६ वरधानाधितानि ।

भाषा— स्त्री, बालक, वृद्ध, अन्ध, पगु, ब्राह्मण एव रोगी के लिए तुला का दिव्य करे । अत्रिय क लिए अग्नि का, वैश्य के लिए जल का, क्षीर शूद्र के लिये सात यव के बराबर विष का दिव्य होता है ॥ १८ ॥

‘महाभियोगेषेतानि’ ( अथ० १५ ) इत्युक्त, तत्राभियोगस्य यदेषु मह-  
 श्व तदिदानीमाह—

नासहस्रादरेत्फालं न विषं न तुलां तथा ।

पणसहस्रादर्वाक् फाल विष तुलां वा न कारयेत् । मध्यवर्ति जलमपि ।  
 यथोक्तम्—‘तुलादीनि विपा-तानि गुरुष्वर्धेषु दापयेत्’ इति । अत्र कोशस्याप्र-  
 हण ‘कोशमह्वेषु वि दापयेत्’ इत्यक्ष्णाभियोगेऽपि तस्य स्मरणात् । एतानि  
 चत्वारि दिव्यानि पणसहस्रादूर्ध्वमेव भवन्ति नार्वागिपर्यं ॥ नन्वर्वागप्यग्वा-  
 दीनि पितामहेन दर्शितानि—‘सहस्रे तु घट दद्यात्सहस्राधे तथायसम् । अर्ध-  
 र्थाधे तु सलिल तस्यार्धे तु विष स्मृतम् ॥’ इति सत्यम् ।—तत्रैव व्यवस्था  
 चन्द्रस्यपहारे पातिस्य भवति तद्विषय पितामहवचन, इतरद्रव्यविषय योगी  
 श्वरवचनमिति । एतच्च वचनद्वय स्तेयसाहसविषयम्, अपहृवे तु विशेषे दर्शित  
 कात्यायनेन—‘दत्तस्यापहृवो यत्र प्रमाण तत्र कल्पयेत् । स्तेयसाहसयोर्दिव्य  
 स्वतपेऽर्धे प्रदापयेत् ॥ सर्वद्रव्यप्रमाण तु ज्ञात्वा हेम प्रकल्पयेत् । हेमप्रमाण  
 युक्त तु तथा दिव्य नियोजयेत् ॥ ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानां घातनाशे विष  
 स्मृतम् । अशीतेस्तु विनाशे वै दद्यात्सर्वं द्रुताशनम् ॥ घटया नाशे जल देय  
 चत्वारिंशति वै घटम् । विंशद्दशविनाशे तु कोशपान विधीयते ॥ पक्ताधिकस्य  
 वा नाशे ततोऽर्धाधरस्य तण्डुला । ततोऽर्धाधर्विनाशे द्वि रपूरोऽपुत्रादिमस्त-  
 कान् ॥ ततोऽर्धाधर्विनाशे तु लौकिकवस्त्र क्रिया स्मृता । एव विचारयन्नासा  
 घर्माध्यां न हीयते ॥ इति ‘ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानाम्’ इत्यत्र ‘सुवर्णशब्द  
 ‘योदश माया सुवर्ण’ ( भा० ३६३ ) इत्युक्तपरिमाणवचनः । ‘नाश’शब्दश्च-  
 प्रापहृववचन । ‘नासहस्रादरेत्फालम्’ इत्यत्र तु तादृक्पणसहस्र बोद्धव्यम् ॥—

ननु नृपद्रोहे महापातके चैतानि दिव्यान्युक्तानि, तत्रापि ‘नासहस्रादरे-  
 त्फालम्’ ( अथ० १९ ) इत्यत्राह—

नृपार्थेष्वभिशापे च घटेषु शुचयः सदा ॥ १९ ॥

नृपद्रोहेषु महापातकानियोगे च सदा द्रव्यसंख्यामनपेक्षयेत्तानि दिव्यानि  
 घटेषु कुयुंरुपवासादिना शुचयः सन्तः । तथा देशविशेषेऽपि नारद

१ यदेषवः । २ तत्रैव व्यवस्था । ३ दद्यादेव । ४ दद्यात् त्रिंश-  
 द्विनाशे तु । ५ अभिशापेषु । ६ नृपद्रोहेषु ।

नोक्त — 'सभाराजकुलद्वारदेवायननक्षत्रे । निधेयो निश्चल पूजो धूपमाद्यपा-  
जुलेपनै ॥' इति । निधेयो घट । धूपव्या च कात्यायनेनोक्ता—'इन्द्रस्थानेऽ  
भिदास्तानां महापातकिनां नृणाम् । नृपद्रोहे प्रवृत्तानां रात्रद्वारे प्रयोजयेत् ॥  
प्रतिलोभ्यप्रसूतानां दिव्यं देय चतुष्पथे । असौऽभ्येषु सभामध्ये दिव्य देय  
विदुर्बुधा । अस्पृश्याद्यमदायानां ग्लेश्चानां पापकारिणाम् । प्रातिलो-  
भ्यप्रसूतानां निश्चयो न तु राजनि । सप्रसिद्धानि दिव्यानि सशये तेषु  
'निर्दिशेत् ॥' इति ॥ ९९ ॥

भाषा—सदृश पण से कम के विवाद में तप्तकाल, विष या तुला का  
( तथा जल का ) दिव्य न कराये । राजद्रोह और महापातक के अभियोग में ये  
दिव्य सदैव पवित्रता के साथ कराये ॥ ९९ ॥

इति दिव्यमातृका ॥

एष सर्वदिव्योपयोगिर्नो दिव्यमातृकामभिधावेदानीं घटादिदिव्यानां  
प्रयोगमाह—

तुलाधारणविद्वद्भिरभियुक्तस्तुलाधितः ।

प्रतिमानसमीभूतो रेखा कृत्वाऽवतारितः ॥ १०० ॥

'त्वं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता ।

तत्सत्यं वद कल्याणि ! संशयान्मां विमोचय ॥ १०१ ॥

यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय ।

शुद्धश्चेद् गमयोर्ष्व मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत् ॥ १०२ ॥

तुलाया धारण तोलन ये विदन्ति सुवर्णकारप्रभृतयस्तै प्रतिमानेन  
मृदादिना समीभूत समीकृतस्तुलामाधितोऽधिखंडोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा  
दिव्यकारी रेखा कृत्वा येन सनिवेशेन प्रतिमानसमीकरणदशायां शिष्यतलेऽ-  
वस्थितस्तस्मिन्पाण्डुलेखेनाङ्कितत्वाऽवतारितस्तुलामभिमन्त्रयेत् प्रार्थयेतानेन  
मन्त्रेण—हे तुले ! त्वं सत्यस्य स्थानमसि, पुरा आदिष्टौ देवैर्हिरण्यगर्भप्र-  
भृतिभिर्विनिर्मितोऽसिदितः । तत्सत्यमासाद्य सदिश्वस्यार्थस्य स्वरूपं वद दर्शय,  
कल्याणि शोभने ! अस्मात्सशयान्मां विमोचय । हे मात ! यद्यहं पापकृद्-  
सत्यवाचस्मि ततो मां त्वमधो नय । अथ शुद्ध सत्यवाचस्मि ततो मामूर्ष्व

१ ततोऽभ्येषु तु कार्येषु सभामध्ये विदुर्बुधा । २ ग्लेश्चानामपकारिणा ।  
३. दापयेत् । ४. रेखा । ५. विशोधय । ६. पाण्डुलेखेन ।

गमयेति ॥ प्राड्विशाकरय तुलाभिमन्त्रणमन्त्रा<sup>१</sup> स्मृत्यन्तरोक्ता, अथ तु दिव्य-  
कारिण । जयपराजयलक्षण तु मन्त्रलिङ्गादेवावगम्यत इति न पृथगुक्तम् ॥  
घटनिर्माण पुनरारोहणाद्यर्थभिद्धमेव पितामहनारदादिभि स्वष्टीकृतम् । तद्यथा-  
'द्विषा तु पश्चिम वृक्ष मूपवन्म-ग्रपूर्वकम् । प्रणम्य लोकपालेभ्यस्तुला कार्या  
मनीषिभि ॥ मन्त्र सौम्यो वानरपरशरक्षेदने जप्य एव च । चतुरस्रा तुला  
कार्या एटा ऋज्वी तथैव च । कटकानि च देवानि त्रिषु स्थानेषु चार्थवत् ।  
चतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ चोपरि तत्समी ॥ अन्तर तु तयोर्हस्तौ भवेदध्यर्ध-  
मेव वा । हस्तद्वय निखेय तु पादयोर्हयोरपि । तोरणे च तथा कार्ये पार्व-  
योर्हयोरपि । घटाद्बुधवतरे स्यातां निरय दशभिरङ्गुलै ॥ अवलम्बौ च कर्तव्यौ  
सोरणाभ्यामधोमुखौ । मृन्मयी सूत्रसबद्धौ घटमस्तकचुम्बिनौ ॥ प्राङ्मुखो  
निश्चल कार्यं शुचौ देशे घटस्तथा । शिवद्वय समासुय पार्वयोर्हयोरपि ॥  
प्राङ्मुखान्कल्पयद्भर्तृन्निशक्ययोर्हयोरपि । पश्चिमे तोलयेत्कृतं न-परिमन्त्रुत्तिका  
शुभाम् ॥ पिटक पूरयेत्सिमिष्टिकाप्रावपांसुभि । अत्र च मृत्तिदृष्टिकाप्राव  
पांसूनां विकल्प । 'परीक्षका नियोक्तव्यास्तुलामानविशारदा ॥ वणिजो हेम  
काराश्च कांस्यकारास्तथैव च । कार्यं परीक्षकैर्नित्यमवलम्ब्यसमो घट ॥ उदक  
च मृदातम्य घटस्योपरि पण्डितै । यस्मिन्न प्लवते तोय स विज्ञेय समो  
घट ॥ तोलयित्वा नर पूर्व पश्चात्तमवतार्यं तु । घट तु कार्येक्षित्य पताकाप्य  
जशोभितम् ॥ तत आवाहयेद् देवान्विधिनानेन मन्त्रवित् । वादिप्रत्यूषोपैश्च  
गन्धमाण्यानुलेपनै ॥ <sup>२</sup>प्राङ्मुखं प्राञ्जलिभूर्त्वा प्राङ्द्विवाक्स्नतो वदेत् । एषोहि  
भगवन्धर्मं अस्मिन्दिश्ये समाविश ॥ सद्वितो लोकपालैश्च वस्वादिपमरुङ्गै ।  
आवाह्य तु घटे धर्मं पश्चाद्भगानि विन्यसेत् ॥ इन्द्र पूर्वं तु सस्थाप्य प्रेतेश  
दक्षिणे तथा । बरुण पश्चिमे भागे कुबेर चोत्तरे तथा ॥ अग्न्यादिलोकपालाश्च  
कोणभागेषु विन्यसेत् । इन्द्र पीतो यम श्यामो बरुण स्फटिकप्रभ ॥ कुबेरस्तु  
सुवर्णाभो वह्निश्चापि सुवर्णभ । तथैव निर्वाति श्यामो वायुर्ध्वं प्रशरयते ॥  
ईशानस्तु भवेद्रक्त एव भ्वायेत्कमादिमान् । इन्द्रस्य दक्षिणे पार्वे वसूना-  
राधयेद् बुध ॥ धरो ध्रुवस्तथा सोम आपश्चैवानिलोऽनल । प्रथूपश्च प्रभा  
सश्च वासवोऽष्टौ प्रकीर्तितः ॥ देवेशानयोर्मध्य <sup>३</sup>आदित्यानां तथा गणम् ॥  
घाताऽर्यता च मित्रश्च बृहणोऽशुभंगस्तथा ॥ इन्द्रो विवस्वान्पूषा च पर्जन्यो  
दशम स्मृत । ततस्त्वष्टा तन्नो विष्णुरजघन्यो जघन्धम ॥ इत्येते

१. मन्त्रा स्मृत्यन्तरोक्ता । २. प्रा-तर । ३. हेमकारश्च कांस्यकारः ।

४. प्राञ्जलि प्राङ्मुखो भूर्त्वा । ५. ध्रुवोऽध्वरस्तथा सोमः । धरो ध्रुवश्च सोमश्च ।

६. आदित्यानां तवायन । आदित्याराधन तथा । ७. बृहणोऽसौ भग ।

द्वादशादिया नाममि परिकीर्तिता । अग्ने पश्चिमभागे तु रुद्राणाम-  
 पन विदुः ॥ वीरभद्रश्च शत्रुमुख गिरिदाश्च महायशा । अजैकपादहिर्युष्य  
 पिनाकी चापराजित ॥ भुवनाधीश्वरश्चैव कपाली च विदापति । स्थानुर्भवश्च  
 भगवान् रुद्रास्येकादश स्मृता ॥ प्रेतेशरक्षोमप्ये तु मातृस्थान प्रकल्पयेत् ।  
 माह्नी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥ वाराही चैव माहेश्वरी  
 चामुष्ठा गणसयुता । निश्चैतरेत्तरे भागे गणेशायतन विदुः ॥ परुगस्यो-  
 त्तरे भागे मरुतां स्थानमुच्यते । पत्रन स्पर्शानो वायुरनिलो भारतस्तथा ॥  
 प्राण प्राणेशजीवी च मरुतोऽष्टौ प्रकीर्तिता । धटस्योत्तरभागे तु दुर्गाभावाहयेद्  
 बुध ॥ पतासां देवतानां तु स्वनाम्ना पूजन विदुः । भूपावसान धर्माय दावा  
 चार्थादिक क्रमात् ॥ अर्थादिपश्चाद्दाना भूपान्तमुपकल्पयेत् । गन्धादिकां  
 नैवद्योन्तां परिचर्या प्रकल्पयेत् ॥' इति । अत्र च तुलां पताकापञ्जालकृता  
 विधाय तस्यां 'पशोही'ति मन्त्रेण घर्ममावाह्य 'घर्मायार्थं कल्पयामि नम'  
 ह्रयादिना प्रयोगेणार्थपात्राचमनायमधुपर्काचमनीयघ्नानवस्त्रपशोपवीताचमनी-  
 यमुकुरकटकादिभूपान्त दावा इन्द्रादीनां दुर्गा-तानां प्रणवार्थं स्वनामभिश्च-  
 तुर्ष्यन्तेर्नमोन्तैरर्थादिभूपान्त पदार्थानुसमयन दावा धर्माय गन्धपुष्पपूपदीप  
 नैवद्यादि दावा इन्द्रादीनां गन्धादीनि पूर्ववद्दात् । गन्धपुष्पाणि च धटपूजायां  
 रक्षानि कार्याणि । यथाह नारद —'रक्षैर्गंधैश्च माहर्षैश्च दध्यपूजाजतादिभि ।  
 अचयेत्तु धट पूर्वं तत निर्हास्तु पूजयेत् ॥' इति । इन्द्रादीनां तु विशेषानभि-  
 धानाद्यथालाभ रक्षैरन्यैवां पूजनमिति पूजाक्रम ॥ पतञ्च सर्वं प्राड्विवाक  
 कुर्यात् । यथोक्तम्—'प्राड्विवाकस्ततो विप्रो वेदवेदाङ्गपारग । श्रुतवृत्तोप-  
 सपद्य शान्तचिन्तो निमग्नर ॥ सत्यसध शुचिर्दक्ष सर्वमाणिहिते रत । उपो  
 पित शुदवासा कृतवतानुधावन ॥ सर्वासा देवतानां च पूजां कुर्याद्यथाविधि ॥'  
 तथा । अश्विभिश्चतुर्भिश्चतस्रु दिष्टु लौकिकामो होम कार्य । यथाह—  
 'चतुर्दिष्टु तथा होम कर्तव्यो वदपारगै । आग्नेय हविषा चैव समिद्धिर्दोम-  
 साधनै ॥ सावित्र्या प्रगवेनाथ स्वाहा-तेनैव होमयेत् ॥' प्रणवादिका गायत्री  
 मुद्यार्थं पुन स्वाहाकारान्त प्रगवमुच्चार्य समिद्राज्यचरु प्रयेकमष्टोत्तरशत  
 जुहुयादित्यर्थं । एव हवनान्ता देवपूजां विधायानन्तरमभियुक्तमर्थं वक्ष्यमाण-  
 मन्त्रसहित पत्रे लिखित्वा तत्पत्र साध्य शिरोगत कुर्यात् । यथाह—'वदर्थम  
 भियुक्त स्याद्विखित्वा त तु पत्रक । मन्त्रेणानेन सहित तत्कार्यं तु शिरोगतम् ॥'  
 मन्त्रत्रायम्—'आदिरयचद्वावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदय यमश्च । अहश्च

१ अग्ने पश्चिमदिग्भागे रुद्राणां स्थापन विदुः । २ निवेद्यान्ता परि-  
 चर्या । ३ य चार्थमभियुक्त स्यात् ।

राग्रिरथ उभे च संप्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥' इति । एतच्च धर्मावा-  
हनादि शिरसि पत्रारोपणान्तमनुष्ठानकाण्डं सर्वदिश्यसाधारणम् । यथोक्तम्—  
'इमं मन्त्रविधिं हृत्स्नं सर्वदिश्येषु योजयेत् । आवाहनं च देवानां तथैव  
परिकल्पयेत् ॥' इति । अनन्तरं प्राङ्घ्रिवाको धृतमामन्त्रयेत्; 'धृतमामन्त्रयेत्सर्वैश्च  
विधिनानेन सास्त्रवित्' इति स्मरणात् । मन्त्राश्च दर्शिताः—'त्वं धत ! ब्रह्मणः  
सृष्टः परोक्षार्थं दुरात्मनाम् । धकाराद्धर्ममूर्तिसत्त्वं टकारात्कुटिलं नरम् ॥ एवो  
भावपसे यस्माद्धरतेनाभिधीयते । त्वं धेरित सर्वजन्तूनां पापानि सुकृतानि  
च ॥ स्वमेव देव ! जानीये न विदुषानि मानवाः । ध्रुवहाराभिशास्तोऽयं  
मानुषः दृद्धिमिच्छति ॥ तदेन संशयादस्माद्धर्मतच्छातुमर्हसि ॥' इति । शोधयस्तु  
'त्वं तुल्ये' इत्यादिना पूर्वोक्तेन मन्त्रेण तुलामामन्त्रयेत् । अनन्तरं प्राङ्घ्रिवाकः  
शिरोगतपत्रकं शोध्य यथास्थान निवेश्य च धृतमारोपयति; 'पुनरारोपयेत्त-  
स्मिद्धुरोयस्थितपत्रकम्' इति स्मरणात् । आरोपितं च विनाहीपञ्चकं चावत-  
थैवापस्थापयेत् । तत्कालपरीक्षां च ज्योतिःशास्त्राभिज्ञः कुर्यात् ; 'ज्योतिर्विद्  
प्राक्षणः श्रेष्ठः कुर्यात्कालपरीक्षणम् । विनाद्य. पञ्च विज्ञेयाः परीक्षाकाल-  
कोविदै ॥' इति स्मरणात् । दशगुर्वंशरोचचारकालः प्राणः । पट्प्राणा  
विनाहो । उक्तं च—'दशगुरुवर्णं. प्राणः पट् प्राणाः स्याद्दिनादिका तासाम् ।  
पट्पटा घटी घटीनां पट्पटाह. खाग्निभिर्दिनेर्मांसः ॥' इति । तस्मिन् काले  
शुद्धयशुद्धिपरीक्षणार्थं शुचयः पुरुषा राज्ञा नियोक्तव्याः । ते च शुद्धयशुद्धी  
कथयन्ति । यथोक्तं पितामहेन—'साक्षिणो ब्राह्मणाः श्रेष्ठा यथाइष्टार्थंवादिनः ।  
ज्ञानिनः शुचयोऽस्तुब्धा नियोक्तव्या नृपेण तु ॥ शंसन्ति साक्षिणः श्रेष्ठाः  
शुद्धयशुद्धी नृपे तदा ॥' इति । शुद्धयशुद्धिनिर्णयकारणं चोक्तम् ( नारदः  
१।२८३ )—'तुलिनो यदि वर्धेत स शुद्धः स्यान्न संशयः । समो वा हीयमानो  
वा न सौ शुद्धो भवेन्नरः ॥' इति । यस्तु पितामहवचनम्—'भक्ष्यदोषः समो  
ज्ञेयो बहूदोषस्तु हीयते' इति, तत्र यद्यप्यभियुक्तस्यार्थस्याल्पत्वं बहुरत्वं च न  
द्विष्येनावधारयितुं शक्यते तथापि सकृदमतिपूर्वत्वेनाल्पत्वमसकृन्मतिपूर्वत्वेन  
च महत्वमिति दण्डप्रायश्चित्ताल्पत्वमहत्वमवधारयते । तदा खानुपलक्ष्यमाण-  
दृष्टकारण एव कलादीनां छेदो भङ्गो वा भवति तदाप्यशुद्धिरिव—( नारदः  
१।२८४ ) 'कषयक्षेदे तुलामङ्गे धतुकर्कटयोस्तथा । रज्जुच्छेदेऽप्यभङ्गे च तथैवा-  
शुद्धिमादिशेत् ॥' इति स्मरणात् । कषय शिष्यतलम् । कर्कटौ तुलान्तयोः

१. सर्वभूतानां । २. स्वमेव सर्वं । ३. यथानिवेश च । ४. पट्पटा-  
होरात्र उक्तश्च । ५. शोधयशुद्धि । ६. सर्वे । ७ न विशुद्धो ।  
८. छेदे च भङ्गे च ।

शिवयाधारावीपह्मकावायसकीलकी कर्कटशृङ्गमंनिभी । अक्षः पादस्तम्भयो-  
रपरि निविष्टस्तुलाधारपट्टः । यदा तु हर्यमानकारणक पूर्वा भङ्गस्तदा पुनरा-  
रोपयेत् ; 'शिवयादिच्छेदैर्मङ्गेषु पुनरारोपयेन्नरम्' इति स्मरणात् । ततश्च—  
'ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्दधिणाभिश्च तोपयेत् । एवं कारयिता राजा भुक्त्वा  
भोगान्मतोरमान् ॥ महतीं कीर्तिमाप्नोति ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥' यदा तुक्तलक्षणं  
घटं तथैव स्थापयितुमिच्छति तदा वायसाद्युपघातनिरासार्थं कपाटादिसहितं  
चालं कुर्यात् ; 'विशालामुज्जतां' शुभ्रां घटशालां तु कारयेत् । यत्रस्था नोप-  
हृष्येत श्वमिश्रण्डालवापसैः ॥ तत्रैव लोकपालादीन्सर्वाग्निद्वेषु निवेशयेत् ।  
त्रिमन्थं पूजयेदेतान्गन्धमाश्यानुलेपनैः ॥ कपाटवीजसंयुक्तां परिचारकर-  
क्षिताम् । मृत्पानीयाग्निसंयुक्तामशुन्यां कारयेन्नृपः ॥' इति स्मरणात् ।  
वीजानि यवश्रीशादीनि ॥ ॥ १००-१०२ ॥

भाषा—तौलने में जो निपुण ( सुवर्णकार आदि ) हों, उनसे अभियुक्त  
को तुला पर चढ़ा कर तौलाने और उसके बराबर जो मिट्टी आदि वस्तु हो  
उसके बराबर रक्षा बनाकर उसे तुला से उतारे । इसके बाद दिव्य करने वाला  
तुला की इस प्रकार प्रार्थना करे—हे तुला ! तुम सत्य के स्थान हो । आदि-  
काल में देवताओं ने तुम्हारी सृष्टि की है । हे करपाणी ! तुम सत्य को प्रकट  
करो और मुझे इस संशय से विमुक्त करो । हे माता, यदि मैं पापी हूँ तो  
मुझे नीचे ले जाओ और यदि मैं निर्दोष हूँ तो मुझे ऊपर उठाओ ॥१००-१०२॥

इति घटविधिः ॥

श्वानीं अक्रमप्राप्तमग्निदिव्यमाह—

करौ विमृदितमीद्वेर्लक्षयित्वा ततो न्यसेत् ।

सप्तौश्वत्थस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण घेष्टयेत् ॥ १०३ ॥

द्विभ्रमातृकोक्तमाधारणधर्मेण सस्य तुलाविधानोत्तधर्मावाहनादितिरःपत्रा-  
रोपणान्ते च विष्यन्ते सत्यधमविनविधौ विशेषः । विमृदितमीद्वेर्विमृदिता  
त्रिघर्षिता मोहय कराम्यां येनासौ विमृदितमीद्विरस्तस्य करौ लक्षयित्वा  
त्रिलकालकर्मणकिणादिस्थानेष्वलक्षकरसादिनाऽहयित्वा । यथाह मातृदः  
(११३०१)—'हस्तक्षतेषु सर्वेषु कुर्याद्धसपदानि तु' इति । अनन्तरं सप्ताश्वत्थस्य  
पत्राणि हस्तयोरञ्जलीकृतयोर्न्यसेत्—'पत्रैरञ्जलिमापूर्य आश्वथैः सप्तभिः समैः'

१. मङ्गे तु । २. मुच्छिद्रतां । ३. अग्निविधि । अग्निविधानं ।  
४. सतीही लक्ष । ५. सप्त आश्वत्थपत्राणि । ६. तावत्सूत्राणि घेष्टयेत् ।  
पत्राणि ।



इति स्मरणात् । तानि च 'हस्तसहितानि सूत्रेण तावद्वेष्टयेत् । वायव्यश्वश्वप  
णानि सप्तकृत्वो वेष्टयेदित्यर्थं । सूत्राणि च सप्त शुक्लानि भवन्ति—वेष्टयीत  
सितैर्हस्तैः सप्तभिः सूत्रतन्तुभिः' इति नारदवचनात् । तथा सप्त शमीपत्राणि  
सप्तैव दूर्वापत्राणि चाक्षतांश्च दध्यक्षानक्षताश्चाश्वश्वपत्राणामुपरि विन्यसेत्,  
'सप्त विष्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथाक्षतान् । दूर्वायां सप्त पत्राणि दध्यक्षांश्चाक्ष-  
तान्यसेत् ॥' इति स्मरणात् । तथा कुसुमानि च विन्यसेत्, 'सप्त विष्पलप-  
त्राणि अक्षता-सुमनो दधि । हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र सूत्रेणवेष्टेन तथा ॥' इति पिता  
महवचनात् । सुमनस पुष्पाणि । यदपि स्मरणम्—'अथस्तप्त तु पाणिभ्याम-  
कंपत्रैस्तु सप्तभिः । अन्तर्हितं रहन् शुद्धश्वदग्ध सप्तमे पदे ॥' इति, तदप्यश्व-  
श्वपत्राभावेऽकंपत्रविषय वेदितव्यम्, अश्वश्वपत्राणां पितामहप्रशमावचनेन मुख्य  
स्वावगमात्—'विष्पलाज्जायते वह्निं विष्पलो वृक्षराट् स्मृत । अतस्तस्य तु  
पत्राणि हस्तयोर्विन्यसेद् बुध ॥' इति १०३ ॥

भाषा—अग्नि का दिव्य करने वाले के दोनों हाथों में धान मलवा कर  
हथेलियों पर घने हुए पत्रादि के स्थानों पर अलक्षक रस से चिह्न बनवाकर  
उसके ऊपर पीपल के सात पत्ते रखे और उ हँ ( सात श्वेत ) धागों से लपट  
देवे ॥ १०३ ॥

कर्तुरग्नयभिमन्त्रणमाह—

त्वमग्ने ! सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक ! ।

साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे ! मम ॥ १०४ ॥

हे अग्ने ! त्व सर्वभूतानां जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानामन्त शरी  
राभ्य तरे चरसि उपयुक्तान्नपानादीनां पावकत्वेन वर्तसे । पावक शुद्धिहेतोः  
कवे क्रान्तदर्शिनः । साक्षिवत् पुण्यपापेभ्यः सत्यं ब्रूहि । 'पुण्यपापेभ्यः' इति  
व्यञ्जोपे पञ्चमी । पुण्यपापान्यवेद्य सत्यं ब्रूहि दर्शयेत्यर्थः । अयं पिण्डे त्रिभि-  
स्तापैः सनत्से सदशेन पुरत आनीते कर्ता पश्चिममण्डले प्राङ्मुखश्चित्तं भजेन  
मन्त्रेणार्गिनः अभिमन्त्रयेत् । यथाह नारद (११२८८-८९)—'अग्निवर्णमयं पिण्डं  
सस्फुलिङ्गं सुरञ्जितम् । तापे तृतीये सताप्यं ब्रूयात्सत्यपुरस्कृतम् ॥' इति ।  
अस्यार्थं लोहशुद्धयर्थं सुतप्त लोहपिण्डमुदके निक्षिप्य पुनः सताप्योदकं निक्षि-  
प्य तृतीये तापे सताप्यं सदशेन गृहीत्वा पुरत आनीते सत्यपुरस्कृतं सत्यशब्द  
युक्तं 'त्वमग्ने सर्वभूतानाम्' इत्यादिमं त्र कर्ता ब्रूवादिनि ॥ प्राङ्मुखश्चित्तं मण्ड-  
लभूषागाहविणप्रदेशे लौकिकमग्निमुपसमाधाय 'अग्नये पावकाय स्वाहा' इत्या-

१ स्वहस्तसहितानि । २ अन्तर्हित रह शुद्धमदग्ध । अन्तर्हितैर्हस्तैः ।

उपेनाष्टोत्तरशतवारं जुहुयात् ; 'शान्त्यर्थं जुहुमादरनी घृतमष्टोत्तरं शतम्' इति  
स्मरणात् । इत्या च तस्मिन्सप्तगनावयःपिण्डं प्रक्षिप्य तस्मिन्सप्तगन्तव्यमाने धर्मावाह-  
नादिद्वयानन्तं पूर्वोक्तं विधिं विधाय तृतीये तापे वर्तमाने भयःपिण्डस्थमग्निमे-  
भिर्मन्त्रैरभिमन्त्रयेत्—'स्वमग्ने ! वेदाश्चत्वारस्यं च यज्ञेषु हृष्यमे । एवं मुत्सं सर्वदे-  
वानां एवं मुत्सं ब्रह्मवादिनाम् ॥ अदरस्यो हि भूतानां ततो वेत्सि शुभाष्टमम् । पापं  
पुनासि धै यस्मात्तस्मात्पावक ! उच्यसे । पापेषु दर्शयात्मानमर्षिन्मान्मव पावक ! ।  
अथवा शुद्धभाषेषु शीतो भव्य हुताशन ! ॥ स्वमग्ने ! सर्वदेवानामन्तश्चरसि  
साक्षिष्वत् । त्वमेव देव ! जानीषे न विदुर्यानि 'मानुषाः ॥ व्यवहाराभिगतस्तोऽयं  
ऋणुषः शुद्धिमिच्छति । तदेनं संदायादरमाद्धर्मतस्त्राप्तमहंसि ॥' इति ॥ १०४ ॥

भाषा—( इसके बाद दिव्य करने वाला प्रार्थना करे )—हे अग्नि ! तूम  
सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान हो । हे पवित्र करने वाले, क्लान्तदर्शी कवि  
शुण्य और पाप के साक्षी होकर सत्य को प्रकाशित करो ॥ १०४ ॥

तस्येत्युक्तवतो लौहं पञ्चाशत्पलिकं समम् ।

अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि ॥ १०५ ॥

अपि च, तस्य कर्तुरित्युक्तवतः 'स्वमग्ने सर्वभूतानामि'त्यादिभिर्मन्त्रैरभि-  
मन्त्रणं कृतवतो लौहं लोहशिकारं पिण्डं पञ्चाशत्पलिकं पञ्चाशत्पलसंमितं  
सप्तमस्त्रहितम् । सर्वतश्च समं घृतं शुक्लं तद्याऽष्टाहुलायामम् ; 'असहीनं समं  
घृत्या अष्टाहुलमयोमयम् । पिण्डं तु तापयेदग्नी पञ्चाशत्पलिकं समम् ॥ इति  
पितामहस्मरणात् । अग्निवर्णमग्निस्तद्वामुभयोरुर्हरतपोरधश्चपत्रदधिदूर्वाद्य-  
न्तरितयोर्न्यसेत्प्रक्षिपेत्प्राङ्निवयाकः ॥ १०५ ॥

भाषा—उसके ऐसा कहने के बाद उसके दोनों हाथों पर पचास पल  
तौल का लोहे का पिण्ड अग्नि के समान लाल करके रखे ॥ १०५ ॥

ततः किं कुर्यादित्यत आह—

स तमादाय सतैव मण्डलानि शनैर्ब्रजेत् ।

स पुरुषान्तं तस्यलोक्षपिण्डं अक्षलिना गृहीत्वा सप्त मण्डलानि शनैर्ब्रजेत् ।  
पृथकारेण मण्डलैश्चैव पदभ्यासं मण्डलानतिक्रमणं च दर्शयति । यथाह पिता-  
महः—'न मण्डलमतिक्रामेन्नाप्यर्वाक्रथापमेत्पदम्' इति ॥—

सतैव मण्डलानि शनैर्ब्रजेदित्युक्तं, तत्रैकैकं मण्डलं किंप्रमाणकं मण्डलयो-  
रन्तरं च कियत्प्रमाणकमित्यत आह—

<sup>६</sup>पौडशाहुलकं श्रेयं मण्डलं तावदन्तरम् ॥ १०६ ॥

पोदश अङ्गुलानि यस्य तत् पोदशाङ्गुलकम् । पोदशाङ्गुलप्रमाण मण्डल  
 बोद्धव्यम् । मण्डलयोरन्तर मध्य च तावदेव पोदशाङ्गुलकमेव ।—सप्त  
 मण्डलानि यत्रेदिनि वदता प्रथममस्थानमण्डलमेकमुक्तम् । अत आष्टमण्ड  
 लानि पोदशाङ्गुलकानि मण्डलानामन्तराणि मस्थानीत्यर्थ । मण्डलान्तराणि तु  
 सप्त तावत्प्रमाणानि ॥ एतदेव नारदेन परिसर्यायोक्तम् ( १।२७५, ७६ )—  
 'द्वात्रिंशदङ्गुल प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम् । अष्टमिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्व  
 यम् । चत्वारिंशत्समधिक भूमेरङ्गुलमानत ॥' इति । अथमर्थ—अवस्थानम  
 ण्डलारपोदशाङ्गुलान्मण्डलान्तरमन्यन्मण्डलम् । द्वितीयाद्येकमेक द्वात्रिंशदङ्गुल  
 सान्तराल, तदेवमवस्थानमण्डल पोदशाङ्गुलम् । ग त्वानि च सप्त मण्डलानि  
 सान्तरालानि द्वात्रिंशदङ्गुलानि । एवमष्टाभिर्मण्डलैश्चत्वारिंशदधिक शतद्वय  
 भूमेरङ्गुलमानतोऽङ्गुलमानमिति सार्वविभक्तिकस्तसि । अस्मिन्तु पक्षेऽवस्थानम  
 ण्डल पोदशाङ्गुल विधाय द्वात्रिंशदङ्गुलप्रमाणानां सप्तानां सान्तरालमण्डलभू  
 भागानामेकमेक भूभाग द्विधा विभज्यान्तरालभूभागान्पोदशाङ्गुलप्रमाणान्वि  
 हाय मण्डलभूभागेषु द्विपोदशाङ्गुलप्रमाणेषु गत्तूपदप्रमाणानि सप्त मण्डलानि  
 कार्याणि । यथा तेनैवोक्तम् ( नारद १।२९९ )—'मण्डलस्य प्रमाण तु कुर्या  
 त्त्सपदसमितम्' इति । यत्तु पितामहेऽयोक्तम्—'कारये मण्डलान्यष्टौ पुरस्तात्  
 यम तथा । आग्नेय मण्डल चाद्य द्वितीय वारुण स्मृतम् ॥ सुनीय वायुदैवस्य  
 चतुर्थ यमदैवतम् । पञ्चम त्विन्द्रदैवस्य षष्ठ कौशेरमुच्यते । सप्तम सोमदैवस्य  
 सावित्र त्वष्टम तथा । नवम सर्वदैवस्यमिति दिव्यविदो विदुः ॥ द्वात्रिंशदङ्गुल  
 प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम् । अष्टाभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम् ॥ षट्  
 पञ्चाशत्समधिक भूमेस्तु परिकल्पना । कर्तुं पदसम कार्यं मण्डल तु प्रमा  
 णत ॥ मण्डले मण्डले देवा कुरा शास्त्रप्रचोदिता ॥' इति ।—तत्र नवम सर्व-  
 दैवस्यमपरिमिताङ्गुलप्रमाण मण्डल विहायाष्टाभिर्मण्डलैश्चाभिश्चान्तरालैः प्रत्येक  
 पोदशाङ्गुलप्रमाणैरङ्गुलानां षट्पञ्चाशदधिक शतद्वय सपद्यते । तत्रापि गत  
 स्थानि सप्तैव मण्डलानि । यत् प्रथमे तिष्ठति नवमे क्षिपतीति न विरुद्धपते ।  
 अङ्गुलप्रमाणे च— तिर्यग्यवोदराण्यष्टावूर्णा वा ग्रीहयश्च । प्रमाणमङ्गुलरयोक्त  
 वितस्तिर्द्वांशङ्गुला ॥ हस्तो वितस्तिर्द्वितय दण्डो हरतश्चतुष्टयम् । तसहस्रद्वय  
 क्रोशो योजन तश्चतुष्टयम् ॥' इति बोद्धव्यम् ॥ १०६ ॥

भाषा—यह उस तप्त लौहपिण्ड को लेकर धीरे धीरे सात मण्डल चले ।

- १ परिसर्यायोक्तम् ।      २ द्वादशाङ्गुलप्रमाणानां ।      ३ तत्रवम ।  
 ४ द्वादशाङ्गुल ।

एक मण्डल सोलह अङ्गुल का होता है और दो मण्डलों के बीच इतना ही (सोलह अङ्गुल) अन्तर रहता है ॥ १०६ ॥

सप्त मण्डलानि गत्वा किं कर्तव्यमिरपत आह—

मुषत्वाग्निं मृदितघ्नीद्विरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात् ।

अष्टमे मण्डले स्थित्वा नवमे मण्डलेऽग्निं तप्तमयः पिण्डं स्ववत्या घ्नीहीन् कराम्णां मर्दयित्वाऽदग्धहस्तश्चेत्शुद्धिमाप्नुयात् । दाग्धहस्तश्चेदशुद्ध इत्यर्थसिद्धम् । यस्तु संत्रासात्प्रखलन्द्दस्ताभ्यामन्यत्र दहते तथाप्यशुद्धो न भवति । यथाह कात्यायनः—‘प्रखलन्नभिश्चस्तश्चेत्स्थानादग्न्यत्र दहते । अदग्धं तं विदुर्वैवास्तस्य भूषोऽपि दापयेत् ॥’ इति ॥—

अन्तरा पतिते पिण्डे संदेहे वा पुनर्हरेत् ॥ १०७ ॥

यदा पच्छतोऽन्तराष्टममण्डलादवाग्नेत्र पिण्डः पतति दग्धादग्धावे वा संशयस्तदा पुनर्हरेत् इत्यर्थमाप्तमुक्तम् । तत्र चायमनुष्ठानक्रमः—पूर्वेषुर्मुंशुद्धि विधायोपरेषुर्मण्डलानि यथाशास्त्रं निर्माय मण्डलाधिदेवताश्च मन्त्रैस्तत्र तत्र संपूज्याग्निमुपसमाधाय शान्तिहोमं निर्वर्षाग्नावयः पिण्डं निधाय धर्मावाङ्नादिसर्वदेवतापूजां हवनाभ्यां निर्वर्ष्य उपोषितस्य स्नातस्थार्द्रवाससः पश्चिमे मण्डले तिष्ठतो घ्नीहिमर्दानादिकरसंस्कारं विधाय प्रतिज्ञापत्रं समन्त्रकं कर्तुः शिरसि षड्गुणा प्राट्ठिववाकरवृत्तीये तापेऽग्निमभिमन्थ्य तप्तमयः पिण्डं संदर्शने गृहीत्वा कर्त्रभिमन्त्रितं तस्याङ्गलौ निदध्यात् । सोऽपि मण्डलानि सप्त गत्वा नवमे मण्डले प्रक्षिप्यादग्धः शुद्धो भवतीति ॥ १०७ ॥

भाषा—( उसके बाद ) अग्नि को गिराकर फिर घ्नीहि हाथों से मले । यदि जला नहीं रहता है तो शुद्ध होता है । यदि जलने के संदेह से लौह-पिण्ड बीच ही में गिर जाय तो उसे पुनः उठाकर ले चले ॥ १०७ ॥

इत्यग्निविधिः ॥

संप्रशुद्धकविधिमाह—

सत्येन माऽभिरक्ष त्वं चरुणेत्यभिशीप्य कम् ।

नाभिदग्धोदकस्थस्य गृहीत्वोरु जलं विशेत् ॥ १०८ ॥

हे चरुण ! ‘सत्येन मामभिरक्ष त्वम्’ इत्यनेन मन्त्रेण कमुदकमभिशाप्याभिमन्थ्य नाभिदग्धोदकस्थस्य नाभिप्रमाणोदकस्थितस्य पुरुषस्योरु गृहीत्वा

१. कराम्णां घ्नीहीन् । २. भूतशुद्धि । ३. पश्चिममण्डले । ४. संद-  
ष्ट ५ न । ५. अभिशाप्य । अभिशाप्य ।

शोष्यो जल प्रविशेत् जले निमज्जेत् । एतच्च वरुणपूजायां सखाम्, 'गन्ध-  
 माक्षयं सुरभिर्मधुशीरघृतादिभि । वरुणाय प्रकुर्वीत पूजामादौ समाहितः ॥'  
 इति नारदस्मरणात् । तथा साधारणधर्मेषु धर्मावाहनादिसकल<sup>१</sup>देवतापूजाहो-  
 मसमन्त्रप्रतिष्ठापत्रशिरोनिवशनाग्नेषु ससु च । तथा—'शोष ! त्व प्राणिनां  
 प्राण सृष्टेराद्य तु निर्मितम् । शुद्धेश कारण प्रोक्त द्रव्याणां देहिनां तथा ॥  
 अतस्त्व दर्शयामान शुभाशुभपरीक्षणे ॥' इति प्राड्विवाकेनोद्काभिमन्त्रणे कृते  
 शोष्यः 'सख्येन माऽभिरुच त्व वरुण !' इति जल प्रार्थयेत् । उदकरुणानानि च  
 नारदेनोक्तानि ( १।३०५ )— नदीषु तनुषेगासु सागरेषु वहेषु च । हृदेषु देव-  
 खातेषु तडागेषु सर सु च' इति । तथा पितामहेनापि—'सिधरतोये निमज्जेत  
 न प्रादिणि न चारुषकं । नृणशीवाडरहिते जलौकामरस्यवर्जिते ॥ देवखातेषु  
 यत्तोय तरिमन्कुर्वाद्दिशोधनम् । आहार्यं यर्जपन्निरय शीघ्रगासु नदाषु च ॥  
 भाविशस्तलिले निरपमूर्तिपद्मविवर्जिते ॥' इति । आहार्यं तडागादिभ्य आदृत  
 ताम्रकटाहाद्विषित जलम् । नाभिप्रमाणोदकरथश्च यज्ञिपवृषोद्भवां धर्मरंधूगाम  
 घटभ्य प्राह्मुत्तस्तिष्ठत्, 'उदकं प्राह्मुत्तस्तिष्ठेद्दर्भरथूणां प्रगृह्य च ।' इति  
 स्मरणात् ॥ १०८ ॥

भाषा—'हे वरुण ! तुम सख्य द्वारा मेरी रक्षा करो' इस प्रकार जल का  
 आवाहन कर के नाभि तक जल में लदे हुए पुरुष की जीवों को पकड़कर  
 जल में डुबकी लगावे ॥ १०८ ॥

तत किं कर्तव्यमित्यत आह—

समकालमिषुं मुक्तमानोयान्यो जयी नर ।

गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥ १०९ ॥

निमज्जनसमकाल गते तरिमन् जविन्यवरिम-पुरुषे अभ्यो जयी सरवान  
 स्थानस्थितः पूर्वमुक्तमिषुमानीय जले निमग्नाङ्ग यदि परपति तदा स शुद्धो  
 भवति । एतद्युक्तं भवति—त्रिषु शारेषु मुक्तेश्वेको योगशास्त्रमध्यमनारपालस्थान  
 गत्वा तमादाय तत्रैव तिष्ठति । अभ्यस्तु पुरुषो योगवान् धरमोत्तरस्थाने तोरण  
 मूले तिष्ठति । एष स्थितयोरनृनीयस्थां करतालिकायां शोष्यो निमज्जति ।  
 तस्मिन्कालमेव तोरणमूलस्थितोऽपि द्रुततर मध्यमनारपालस्थान गच्छति । धर-  
 माही च तस्मिन्प्राप्ते द्रुततर तोरणमूल प्राप्त्वा तज्जलगत यदि न परपति तदा

- १ देवपूजा । २ हायुक्त प्रार्थयत । ३. निमज्जेत् । ४ अदृष्टा ।  
 ५ मानवेद्यो । ६ गतेऽप्यस्मिन् । ७ तदा शुद्धा । ८ स्थितयो-  
 रनयोऽनृनीय । ९ मध्यमनार । १० तदा शुद्धिं प्राप्स्यतीति ।

शुद्धो भवतीति । एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन—'गन्तुष्यापि च कर्तुं समं गमनमज्जनम् । गच्छेत्तोरणमूलात्तु लक्ष्यस्थानं जवी नरः ॥ तरिमन्गते द्वितीयोऽपि वेगादादाय सायकम् । गच्छेत्तोरणमूलं तु यतः स पुरुषो गतः ॥ आगतस्तु शरणाही न पश्यति यदा जले । अन्तर्जलगतं सम्यक्तदा शुद्धं विनिर्दिशेत् ॥' इति । अविनोश्च पुरुषयोर्निर्धारणं कृतं नारदेन—'पञ्चाशतो धावकानां यौ स्वात्तामधिकौ जवे । तौ च तत्र नियोक्तव्यौ शरानयनकारणात् ॥' इति । तोरणं च निमज्जनसमीपस्थाने समे शोष्यकर्णप्रमाणोच्छ्रितं कार्यम् ; 'गया तु तज्जलस्थानं तटे तोरणमुच्छ्रितम् । कुर्वति कर्णमात्रं तु भूमिभागे समे शुचौ ॥' इति नारदस्मरणात् । शरन्नयं वैणवं च धनुर्मङ्गलद्वयैः श्वेतपुष्पादिभिः प्रथमं संपूजयेत् ; 'शरान्संपूजयेत्पूर्वं वैणवं च धनुस्तथा । मङ्गलैर्धूपपुष्पैश्च ततः कर्म समाचरेत् ॥' इति पितामहवचनात् । धनुषः प्रमाणं लक्ष्यस्थानं च नारदेनोक्तम्—'क्रूरं धनुः सप्तशतं मध्यमं षट्शतं स्मृतम् । मन्दं पञ्चशतं ज्ञेयमेव ज्ञेयो धनुर्विधिः ॥ मध्यमेन तु चापेन प्रक्षिपेच्च शरत्रयम् । हस्तानां तु शते सार्धं लक्ष्यं कृत्वा विचक्षणः ॥ न्यूनाधिके तु दोषः स्याच्छिपतः सायकान्तथा ॥' इति । अङ्गुलानां सप्तधिकं शतं सप्तशतं क्रूरं धनुः । एवं षट्शतं पञ्चशतं च । एवं चैवादशाङ्गुलाधिकं हस्तचतुष्टयं क्रूरस्य धनुषः प्रमाणम्, मध्यमस्य दशाङ्गुलाधिकम्, मन्दस्य नवाङ्गुलाधिकमित्युक्तं भवति । शराश्चानायसाम्रा वैणवाः कार्याः, 'शराश्चानाय साम्रास्तु प्रकुर्वन्ति विशुद्धये । वैणुकाण्डमयांश्चैव क्षेप्ता तु सुदृढं क्षिपेत् ॥' इति स्मरणात् । क्षेप्ता क्षत्रियस्तद्वृत्तिर्वा ब्राह्मणः सोपवासो नियोक्तव्यः । यथाह—'क्षेप्ता च क्षत्रियः प्रोक्तस्तद्वृत्तिर्ब्राह्मणोऽपि वा । अक्रूरहृदयः पान्तः सोपवासस्ततः क्षिपेत् ॥' इति । त्रिषु मुत्तेषु मध्यमः शरो ब्राह्मणः, तेषां च प्रोदितानां च शराणां शास्त्रचोदनात् । मध्यमस्तु शरो ब्राह्मणः पुरपेग वलीयसा ॥' इति वचनात् । तत्रापि पतनस्थानादानेतव्यः; न सर्पणस्थानात्, 'शरस्य पतनं ब्राह्मणं सर्पणं तु विवर्जयेत् । सर्पन्सर्पन्शरो यायाद् दूराद्दूतरं यतः ॥' इति वचनात् । वाते च प्रवायति विपनादिदेशे च शरमोक्षो न कर्तव्यः; 'इषु न प्रक्षिपेद्विद्वान्मास्ते च्छैतिवायति । विगमे भूपदेशे च वृक्षस्थानसमाकुले ॥ वृणमुद्गमलतावह्नीपङ्कपापाणसंशुते ॥' इति पितामहवचनात् । निमगनाङ्गं पर्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयादिति वक्षता उन्मग्निताङ्गस्याशुद्धिर्दक्षिता । स्थानान्तरगमने चाशुद्धिः पितामहेनोक्ता; 'अन्यथा न विशुद्धिः स्यादेकाङ्गस्यापि दर्शनात् ॥' इति 'स्थानाद्वाऽन्यत्र गमनाद्यस्मिन्पूर्वं निवेशितः ॥' इति एकाङ्गस्यापि दर्शनादिति च

कर्णाद्यभिप्रायेण । 'शिरोमात्रं तु दृश्यते न कर्णौ नापि नासिका । भस्म प्रवेशने यस्य शुद्धं तमपि निर्दिशेत् ॥' इति विशेषाभिधानात् । अथमत्र प्रयोगक्रम — 'उक्तलक्षणजलाशयसनिधायुक्तलक्षण तोरणं विधाय उक्तप्रमाणे देशे लक्ष्यं निधाय तोरणसनिधौ' सगर धनु सपृथ जलाशये वरुणमावाह्य पूजयित्वा तत्तीरे धर्मादींश्च देवान्दहनान्तमिष्ट्वा शोष्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रमावृष्य प्राड्विवाको जलमभिमन्त्रयते—'तोय । ख प्राणिना प्राण.' इत्यादिना मन्त्रेण । अथ शोष्य —'सत्येन' इत्यादिना मन्त्रेण जलमभिमन्त्र्य गृहीतरथूणस्य नाभिमात्रोदकावस्थितस्य पलीयस पुरपस्य समीपमुपसर्पति । अथ शरीरु त्रिषु मुक्तेषु मध्यमशरपातस्थाने मध्यम शर गृहीत्वा जविन्वेकस्मिन्पुरूपे स्थिते अन्यस्मिंश्च तोरणमूले स्थिते प्राड्विवाकेन तालत्रये दत्ते युगपद्गमनमञ्जनमथ पारानयनमिति ॥ १०९ ॥

भाषा—उमके हुबकी लगाने के समय ही छोड़े गये घाण को छानेके लिए पुरु तेज हीड़ने वाला व्यक्ति जावे, छीटने पर यदि वह दिश्य करने वाले व्यक्ति को जल डूबा हुआ ही पावे तो वह शुद्ध होता है ॥ १०९ ॥

### इत्युदकविधिः ॥

हृदानो विषविधानमाह—

स्यं विष । प्रह्वण पुत्र. सत्यधर्मे व्यधस्थितः ।  
 प्रायस्वास्मादभीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम् ॥ ११० ॥  
 एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम् ।  
 यस्य वेगैर्विना जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥ १११ ॥

'ख विष इत्यादिमन्त्रेण विषमभिमन्त्र्य कर्ता विष हिमशैलजं शृङ्गभय भक्षयेत् । तत्र च भक्षितं सत् यस्य विष वेगैर्विना जीर्यति स शुद्धो भवति । विषयेगो नाम घातोर्ध्वान्तरप्राप्ति । 'घातोर्ध्वान्तरप्राप्तिर्विषयेग इति शृङ्ग' इति पत्रगात् । घातवश्च एगसृङ्गाममेद्वेस्थिमजाशुक्राणीति मस । एवं च सत्येन विषयेगा भवन्ति । तेषां च लक्षणानि पृथगेव विवतन्त्रे कथितानि—'येगो रोमाद्यमाद्यो रचयति विषयं स्वेदवक्रतोपसोपी तस्योर्ध्वस्तरपरी द्वी वपुषि जगपगो वर्गवे दप्रवेपी । यो वेग पञ्चमोऽग्नौ नैयति विवराता वष्टमङ्ग च द्विषां पटो नि घासमोही वितरति च मूर्तिं सप्तमो भक्षकर्य ॥' इति । अत्र च महादेवस्य

१ समीपे सगर । २. सत्ये धर्मे, ; सत्यधर्मव्यवस्थितः । ३. वृष स्थितम् । ४ जीर्णं तस्य शुद्धिं विनिर्दिशेत् । ५. अथमविषवर्णा ।

पूजा कर्तव्या । यथाह नारद —‘दद्याद्विप सोपवातो देवद्राक्षणसनिधौ ।  
 धूपोपहारमन्त्रैश्च पूजयित्वा महेश्वरम् ॥’ इति प्राङ्दिव्याकृतोपवातो महादेव  
 पूजयित्वा तस्य पुरतो विप व्यवस्थाप्य धर्मादिपूजा हवमान्तां विधाय प्रति  
 ज्ञापयन् शोभ्यस्य शिरसि निधाय विपमभिमन्त्रयते—‘एव त्रिप ! ब्रह्मणा  
 सृष्ट परीक्षार्थं पुरात्मनाम् । पापानां दर्शयामान शुद्धानाममृत भव ॥ मृत्युमूर्ते  
 विप ! त्वं हि ब्रह्मणा परिनिर्मितम् । प्रायस्यैव नर पापासभ्येनास्यामृत भव ॥’  
 इति । एवमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखावस्थिताय दद्यात् , ‘द्विजाणां सनिधावेव  
 दक्षिणाभिमुखे स्थिते । उदङ्मुखं प्राङ्मुखो वा विप दद्यात्समाहित ॥’ इति  
 नारदवचनात् । विप च वत्सनाभादि प्राङ्मुखं , ‘शृङ्गिणो वत्सनाभस्य हिमजस्य  
 विपस्य वा ॥’ इति पितामहवचनात् । वर्ज्यानि च तैर्नैवोक्तानि—‘चारितानि च  
 जीर्णानि कृशिमणि तथैव च । भूमिजानि च सर्वाणि विपाणि परिवर्जयत् ॥’  
 इति । तथा नारदेनापि ( ११२२१ )—‘भ्रष्ट च चारितं चैव धूपित मिश्रित  
 तथा । कालकृतमलासु च विप यत्नेन यज्ञयेत् ॥’ इति । कालश्च नारदेनोक्तः  
 ( ११२१९ )—‘तोलयिष्येऽस्ति काले देय तद्धि हिमागमे । नापराह्णे न  
 मध्याह्णे न सध्याया तु धर्मवित् ॥’ इति । कालान्तरे तु कप्रमाणादेष देयम् ,  
 ‘पूर्वं चतुर्थया मात्रा ग्रीष्मे पञ्चमया स्मृता । हेमन्ते सा सप्तमया शरद्वत्पा  
 तसोऽपि हि ॥’ इति स्मरणात् । अल्पेति पञ्चमेश्वर्ये । ‘हेमन्त’ग्रहणेन  
 शिशिरस्यापि ग्रहणम् । ‘हेमन्तशिशिरयो समासेन’ इति श्रुते । वसन्तस्य  
 च सर्वदिग्भ्यसाधारणत्वात्त्रयस्य सप्त यथा विप च घृतप्लुत देय, नारदवचनात् ।  
 ‘विपस्य पलपद्मभागाद्भागो विंशतितमस्तु य । तमष्टभागहीनं तु शोष्ये दद्याद्घृत-  
 प्लुतम् ॥’ ( नारद ११२२१ ) इति । पल चात्र चतुःसुवर्णकम् । तस्य पष्टो  
 भागो दश मापा दश यथाश्च भवन्ति । ‘त्रिषव श्वेककृष्णलम् । पञ्चकृष्णलको  
 माप’ इत्येको माप पञ्चदश यथा भवन्ति । एव दशाना मापाणा यथा-  
 सार्धंस्त भवन्ति । पूर्वं च दश यथा इति पष्टमधिकं तत यथा पलस्य पष्टो  
 भागस्तस्माद्विंशतितमो भागोऽष्टौ यथास्तस्याष्टमाग एकयत्न, तेन हीनं विंशति  
 तमभाग सप्तमय घृतप्लुत दद्यात् । घृतं च विपात्रिशद्गुणं प्राङ्मुखं , ‘पूर्वाह्णे  
 क्षीतले देवो विप देयं तु देहिनाम् । घृते नियोजितं श्लक्ष्णं विष्टं त्रिशद्गुणा-  
 न्वितम् ॥’ इति कात्यायनवचनात् । त्रिशद्गुणेन घृतेनाश्वितं विपम् । शोभ्यश्च  
 कुहकादिभ्यो रक्षणीय, ‘त्रिरात्र पञ्चरात्र वा पुरुषै र्वैरधिष्ठितम् । कुहकादि-  
 भयाद्वाजा रक्षदहिष्यकारिणम् ॥ शोषणीर्न-त्रयोगाश्च मणीनथ विपापदान् ।  
 कर्तुं शरीरसंस्थास्तु गूडोत्पन्नाः परीक्षयेत् ॥’ इति पितामहस्मरणात् । तथा



विषमपि रैशणीयम्— शाङ्गं हैमवत हास्त गन्धर्वर्णरमान्वितम् । अकृत्रियम-  
समूहममन्त्रोपहृतं च यत् ॥' ( ११३२२ ) इति नारदस्मरणात् । तथा विपे  
पीते यावत्परतालिकाशतपञ्चकं तावत्प्रतीक्षणीयोऽनन्तरं चिकित्सनीयः । यथाह  
नारद — 'पञ्चतालशतकालनिर्विकारो यदा भवेत् । तदा भवति सशुद्धस्वतत  
कुर्वाञ्चिकिरिसतम् ॥' इति । पितामहेन तु दिनान्तोऽवधिहृत्कोऽव्यपमात्रा-  
विषय — 'भक्षिते तु यदा स्वर्धो मूर्च्छाद्भृदिर्विर्जितः । निर्विकारो दिनस्यान्ते  
शुद्धतमपि निर्दिशेत् ॥' इति । अत्र च प्राङ्निवाक सोपवासो महादेव सपूज्य  
तत्पुरतो विषयथापयित्वा धर्मादीनिष्ट्वा शोष्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रनिधाय  
विषमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखस्थिताय विषयप्रयच्छति । स च शोष्यो विषम  
भिमन्त्र्य भक्षयतीति क्रमः ॥ ११०-१११ ॥

भाषा—'हे विषय ! तूम ग्रहा के पुत्र हो और सर्वधर्म में प्रतिष्ठित हो ।  
इस अभिज्ञाप से सत्य के द्वारा मेरी रक्षा करो और मेरे लिये अमृत बनो'  
इस प्रकार विषय से प्रार्थना करके दिव्य करने वाला व्यक्ति हिमालय से उत्पन्न  
एक शृङ्गसे निकले हुए विषय का भक्षण करे । यदि विषय बिना प्रभाव दिखाये  
हो पच जाय तो वह उमकी शुद्धि प्रकट करता है ॥ ११०-१११ ॥

इति विषयविधानम् ॥

अथ कोशविधिमाह—

देवानुग्रान्समभ्यर्च्य तस्त्वनानोदकमाहरेत् ।

संस्त्राभ्यं पाययेत्तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम् ॥ ११२ ॥

वस्त्रादेवाद्दुर्गादिपाद्रीन् समभ्यर्च्य गन्धपुष्पादिभिः पूजयित्वा तस्त्वाप्य  
तस्त्वनानोदकमाहरेत् । आहृष्य च 'तोय ! त्वं प्राणिनां प्राणः' इत्यादिना  
तत्तोयं प्राङ्निवाकं संस्त्राभ्यं शोष्येन च तत्तोयं पात्रान्तरे कृत्वा 'सत्येन माभि-  
रक्ष त्वं वरुणः' इत्यनेनाभिमन्त्रितं पाययेत्प्रसृतित्रयम् । एतस्य साधारण  
धर्मस्तु । धर्मावाहनादिसकलदेवतापूजाहोमसमन्त्रकप्रतिज्ञापत्रशिरोनिवेशनात्तेषु  
सस्त्रु । अत्र च स्नाप्यदेवतानियमं कार्यनियमोऽधिकारिनियमश्च पितृमहादि-  
भिरक्तः—'भक्तो यो यस्य स्वस्य पाययेत्तस्य तज्जलम् । समभावे तु देवानां  
मादित्यस्य च पाययेत् ॥ दुर्गायां पाययेत्शैरान्ये च सस्त्रोपजीविनः । भारक-  
रस्य तु यत्तोयं प्रहृणं तत्र पाययेत् ॥ दुर्गायां स्नापयेच्छूलमादित्यस्य तु  
मण्डलम् । अन्येषामपि देवानां स्नापयेद्दशुधानि तु ॥' इति देवतानियमः ।

१ परीक्षणीयः । २ सथापि । ३. मिमुखाय स्थिताय । मुखाय विषयः ।  
४ संस्त्राभ्यः । ५ पितामहनारदादिभिः । ६ स्नापयेत् ।

'विश्वेभ्यो सर्वशङ्कानु संधिकार्ये तथैव च । पपु कोशः प्रदातव्यो नियं चित्तवि-  
शुद्धये ॥' इति कार्यनियमः । 'पूर्वाह्नि सोपरासस्य दातव्यार्द्रपटस्य च । सशु-  
कस्याभ्यसनिनः कोशपानं विधीयते ॥' ( नारदः १।३२८ ) सशुक आस्तिकः ।  
'मद्यपत्नीभ्यसनिनां कितवानां तथैव च । कोशः प्राज्ञैर्न दानव्यो ये च नास्तिक-  
वृत्तयः ॥ महापराधे निर्घर्मे कृत्स्ने श्लेषकुरिते । नास्तिकप्रमाणदोशेषु कोशपानं  
विघर्णयेत् ॥' इति । महापराधो महापातकको, निर्घर्मे वर्णाश्रमधर्मरहितः  
पात्रगृही, कुस्तितः प्रतिशोमन्नः । दाशाः कैयर्थाः, इत्यधिकारिनियमः । तथा  
शोमयेन मण्डलं कृत्वा तत्र शोष्यनाश्लेषाभिमुखं स्थापयित्वा पाययेदिति  
नारदवचनादवगन्तव्यम् । यथाह—'समाहृत्वाभितरतं तु मण्डलाभ्यन्तरे  
स्थितम् । आश्लेषाभिमुखं कृत्वा पाययेत्प्रवृत्तिप्रयम् ॥' इति ॥ ११२ ॥

भाषा—( दुर्गा आदि ) उग्रदेवताओं की गन्ध, पुष्प आदि से पूजा करके  
उतके स्नान का जल लेवे; उसे दूसरे पात्र में रखकर तीन अजलि जल दिव्य  
करने वाले को पिलावे ॥ ११२ ॥

ननु तुलादिषु विधान्तेषु समनन्तरमेव शुद्धयशुद्धिभावना, कोशे तु कथमि-  
र्यत आह—

अर्वाक् चतुर्दशादहो यस्य नो राजदैविकम् ।

व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यात् संशयः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशादहः पूर्वं यस्य राजिकं राजनिमित्तं दैविकं देवप्रमथं व्यसनं दुःखं  
घोरं महत् नो नैव जायते अल्पस्य देहिनामपरिहार्यं वास्य शुद्धो वेदितव्यः ।  
ऊर्ध्वं पुनरवधेनं दोषः । यथाह नारदः ( १।३३१ )—'ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहा-  
द्वैकृतं तु महद्भवेत् । नाभियोज्यः स विदुषा कृतकालव्यतिक्रमात् ॥' इत्यर्थ-  
सिद्धमेवोक्तम् । 'अर्वाक् चतुर्दशादहः' इत्येतन्महाभियोगविषयम्; 'महाभियोगे-  
प्येतानि' इति प्रस्तुर्याभिधानात् । अवप्यन्तरागि पितामहेनोक्तान्यल्पविषयाणि,  
'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इति स्मरणात् तानि च—'त्रिरात्राससरात्राद्वा द्वाद-  
शाहाद् द्विसप्तकात् । वैकुण्ठं यस्य दृश्येत पापकृत्स उदाहृतः ॥' इति । महा-  
भियोगोक्तद्रव्यादूर्वाचीनं द्रव्यं त्रिधा विभज्य त्रिरात्राशपि पञ्चमं स्वचरथापनी-  
यम् ॥ ११३ ॥

भाषा—जित्त (इस दिव्य को करनेवाले) व्यक्ति पर चौदह दिन के भीतर  
राजकृत या दैवकृत घोर दुःख नहीं गिरता वह शुद्ध होता है, इसमें  
संशय नहीं ॥ ११३ ॥

इति कोशविधिः ॥

तुलादीनि कोशा-तानि पञ्च महादिश्यानि यथोद्देश योगीश्वरेण व्याख्या-  
तानि । स्मृत्यन्तरे स्वस्वाभियोगविषयाण्यन्या-यपि दिश्यानि कथितानि ।  
यथाह पितामह — 'तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणोदितम् । चीरे तु  
तण्डुला देवा ना-यत्रेति विनिश्चय ॥ तण्डुलाङ्कारयस्तुक्लुङ्खालेना-वस्य  
कस्यचित् । मृ-मये भाजने कृत्वा आदिस्यस्याप्रत शुचि ॥ स्नानोदकं समि-  
ध्या रात्रौ तत्रैव वासयेत् । प्राह्मुक्षोपोपित स्नान शिरोरोपितप्रक्रमम् ॥ तण्डु-  
ला-भक्षयित्वा तु पत्र निष्ठीवयेत्ततः । पिण्डस्य तु मान्यस्य अभावे भूर्जं पत्र  
तु ॥ लोदित हरयते यस्य हस्तुस्तालु च शीर्यते । गात्र च कर्मते यस्य तमशुद्ध  
विनिर्दिशेत् ॥' इति । शिरोरोपितप्रक्रमं तण्डुलान्भक्षयित्वा निष्ठीवयामाहुर्वि-  
द्याक ॥ भक्षयित्वेति च ग्यन्तारिसिद्धि टपम् । सर्वदिश्वसाधारण च धर्मावा-  
हनादि पूर्ववदिहापि कर्तव्यम् ॥

इति तण्डुलविधि ॥

तप्तमापविधिं पितामहेनोक्तः । तथा हि—'सौवर्णं राजतं चापि ताद्य वा  
पाहशाङ्गुलम् । अतुरङ्गुलपात तु मृ-मय षाड्य मण्डलम् ॥' अर्जुनस्यार्थं ।  
'पूरयद्भूततैलाभ्यां विनास्या तु पलैस्तु तत् । सुवर्णमापकं तरिम-सुतसे निचि-  
पेत्ततः ॥ अङ्गुष्ठाङ्गुलिभोगेन उदरेक्षतमापकम् । कस्यचो न धनुषाद्विरक्तो वा  
न जयते । शुद्धो भवति धर्मेण निर्विकारकराङ्गुलि ॥' इति । 'उदरेत्'इति  
यचनात्प्रादुर्भवेणमात्र, नै बहि प्रक्षेपणमादर्शयाम् ॥

अपर कथ्य — 'सौवर्णं राजते ताद्ये भायसे मृन्मयऽपि वा । गम्य पूनमु-  
पादाय तदग्नौ तापयेत्पुचि । सौवर्णं राजतीं ताद्योमापसीं वा सुतोपिताम् ।  
सलिलेन सङ्घृतीतां प्रक्षिपत्ताम्रमुद्रिकाम् ॥' ( नारद १।३३५ ) 'धर्मद्वीपित  
रङ्गादवे द्यनत्प्रसर्शगोचरे । परीक्षेताद्दुर्पणेन शुद्धकार मुषोपकम् ॥ ततश्चानेन  
म-श्रेण सकृत्तदभिम ग्रयेत् ॥ पर पत्रिग्रमण्डनं पूत स्व यज्ञकर्मसु । दह पापकं ।  
पाप स्व हिमशीत शुची भव ॥ उपोपित तत स्नानमाद्रंवाससमागतम् । प्राहये-  
न्मुद्रिकां तां तु पूतमप्यगतां तथा ॥ प्रदक्षिणीं च तस्याथ परीक्षेत् परीक्षका ।  
यस्य विरक्तोदका न स्यु शुद्धोऽसावग्यथाऽशुचि ॥ इति । अत्रापि धर्मावाह-  
नाद्यनुसंधातव्यम् ॥ घृत्नानुमन्त्रणं प्राद्विषयाकरव । 'स्वमानं । सर्वभूतानाम्'  
इति श्लेषस्य । यमिम ग्रगमन्त्र । 'प्रदक्षिणीं पर सेतु'इति यचनात् प्रदक्षिण्यैव  
मुद्रिकोदरणम् ॥

इति तप्तमापविधि ॥

धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥ धर्माधर्माद्यदिव्यविधिश्च पितामहेनोक्तः । तथाच—  
 'अधुना संप्रवक्ष्यामि धर्माधर्मपरीक्षणम् । हन्तृणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां  
 मृणाम् ॥' इति । हन्तृणामिति साहसामियोगेषु, याचमानानामिति अर्थाभियोगेषु,  
 प्रायश्चित्तार्थिनामिति पातकाभियोगेषु; 'राजतं कारयेद्धर्ममधर्मं सीसकायसम्'  
 इति प्रतिमाविधानं सीसकं वा भायसं वेति ॥ पञ्चान्तरमाह—'लिखेद्दूर्जे पटे  
 वापि धर्माधर्मो सितासितौ । अमुष्य पञ्चगव्येन गन्धमाह्वयैः समर्चयेत् ॥  
 सितपुष्पस्तु धर्मः स्यादधर्मोऽसितपुष्पपुष्पम् । एवंविधापोषणिक्य विण्ढयोस्तौ  
 निधापयेत् ॥ गोमयेन मृदा वापि विण्डी कार्या समंततः । मृद्गाण्डरेऽनुग्रहते  
 स्याभ्यौ चानुपलक्षितौ ॥ उपलिप्ते शुचौ देशे देवघ्राहणसन्धिषु । आवाहयेत्ततो  
 देवैर्हलोकपालांश्च पूर्ववत् ॥ धर्मावाहनपूर्वं तु प्रतिज्ञापत्रकं लिखेत् ॥' ततः—  
 'यदि पापविमुक्तोऽहं धर्मस्वायातु मे करे । अशुद्धश्चेन्मम करे पापं भावातु  
 धर्मतः ॥' इति ॥ अभिशरतोऽभिमन्त्रयते—'अभियुक्तस्तयोश्चैकं प्रगृहीताविल-  
 म्बितः । धर्मं गृहीते शुद्धः स्यादधर्मे तु स हीयते ॥ एवं समासतः प्रोक्तं  
 धर्माधर्मपरीक्षणम् ॥' इति ॥

इति धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥

अन्वे च क्षपया द्रव्याहपरस्वमहस्वविषया जातिविशेषविषयाश्च मग्वादि-  
 भिरुक्ताः । ते यथा—'निष्के तु सशयवचनं द्विनिष्के पादलम्भनम् । त्रिकाद-  
 र्चाङ्गु पुण्यं स्यात्कोक्षपान्नमनः परम् ॥' ( मनुः ८।१।१३ ) 'सशयेन क्षापयेद्विमं  
 चत्रियं याहनायुधैः । गाबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शुद्धं सर्वैस्तु पातकैः ॥' ( मनुः  
 ८।१।१३ ) इत्यादयः । अप्र च शुद्धिविभाषना मनुनोक्ता ( ८।१।१५ )—'न  
 चाऽऽर्तिमृच्छति चिम्रं स ज्ञेयः क्षापये शुचिः' इति । आर्तिरपि 'यस्य नो राज-  
 दैविकं स्पसनं जायते घोरम्' इत्युक्तैः । कालनियमश्च एकरात्रमारभ्य त्रिरात्र-  
 पर्यन्तं त्रिरात्रमारभ्य पञ्चरात्रपर्यन्तम् । एकरात्रप्रभृतिसर्वं कार्यलाघवगौरवव-  
 र्यालोचनया द्रष्टव्यम् ॥ एवं दिव्यैर्जपपराजयावधारणे दण्डविशेषोऽपि कर्तितः  
 कात्यायने—'ज्ञातार्थं क्षापयेच्छुद्धमशुद्धो दण्डभागमयेत्' इति । तं दण्डमाह—  
 'विये तोये हुताशे च तुलाकोशे च सण्डुले । सप्तमापकदिव्ये च क्रमाहणं  
 प्रकृतयेत् ॥ सहस्रं षट्सतं चैव तथा पञ्चशतानि च । अशुद्धिद्वेषकमेवं च हीनं  
 हीनेषु कक्षयेत् ॥' इति ॥ 'निह्वये भावितो दद्याद्' इत्युक्तदण्डेनायं दिव्य-  
 निबन्धनो दण्डः समुपधीयते ॥

इति दिव्यप्रकरणम् ॥

## अथ दायविभागप्रकरणम् ८

प्रमाण मानुष दैवमिति भेदेन वर्णितम् ।

अधुना वर्ण्यते दायविभागो योगमूर्तिना ॥

तत्र 'दाय' शब्देन यदन स्वामिसम्पदादेव निमित्तादन्यस्य स्व भवति तदुच्यते । स च द्विविध - भप्रतिबन्ध, सप्रतिबन्धश्च । तत्र पुत्राणां पौत्राणां च पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च पितृधन पितामहधन च स्व भवतीत्यप्रतिबन्धो दाय । पितृव्यभ्रात्रादीनां तु पुत्राभावे स्वाम्यभावे च स्व भवतीति सप्रतिबन्धो दाय । एव तत्पुत्रादिपुत्र्यूहनीय । विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामने कस्वाप्त्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम् । एतदेवाभिप्रेत्योक्त नारदेन—'विभागोऽर्थस्य पिश्यस्य तनयैर्न बह्व्यते । दायभाग इति प्रोक्त व्यवहारपद सुधै ( ना० १३११ ) ॥' इति । पिश्यस्येति स्वत्विनिमित्तसम्बन्धोपलक्षणम् । 'तनयै' इत्यपि प्रत्यासन्नोपलक्षणम् । इदमिह निरूपणीयम्,—करिमन्काले करस्य कथं केश्व विभाग कर्तव्य इति । तत्र करिमन्काले कथं केश्वेति तत्र तत्र श्लोकव्याख्यान एव बह्व्यते । करस्य विभाग इत्येतावदिह चिन्त्यते । किं विभागास्वरवमुत् स्वस्य सतो विभाग इति । तत्र स्वावमेव तावन्निरूप्यते—किं शास्त्रैकसमधिगम्य स्वावमुत् प्रमाणान्तरसमधिगम्यमिति । तत्र शास्त्रैकसमधिगम्यमिति तावद्युक्त, गौतमवचनात्—स्वामी विषयत्रयसविभागपरिमहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिक लब्ध सत्रियस्य विजित निर्विष्ट वैश्यशूद्रयो ॥' ( गौ० १०३९ ४२ ) इति । प्रमाणान्तरगम्ये स्वध्वे नेद वचनमर्थवश्यात् । तथा स्तेनातिदेशे मनु ( ८१ ३४० )—'योऽदत्तादायिनो हस्ताकिल्पसेत ब्राह्मणो धनम् । याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव स ॥' इति । अदत्तादायिन सकाशाद्याजनादिद्वारेणापि द्रव्यमर्जयतां दण्डत्रिषानमनुपपन्न स्यात्स्वत्वस्य लौकिकत्वे । अपि च, लौकिक चेत्स्वत्व मम स्वमनेनापहतमिति न ज्ञेयात् ; अपहतुरेव स्वत्वात् । अन्यथाऽन्यस्य स्व तेनापहतमिति नापहतं स्वम् । एव तर्हि सुवर्णरजतादिस्वरूपवदस्य वा स्वमन्यस्य वा स्वमिति सशयो न स्यात् । तस्माच्छास्त्रैकसमधिगम्य स्वत्वमिति । अत्रोच्यते—लौकिकमेव स्वत्वं लौकिकार्थक्रियासाधनत्वात् र्ग्यादित् । आहवनीयादीनां हि शास्त्रगम्यानां न लौकिकक्रियासाधनत्वमस्ति ॥ न-वाहवनीयादीनामपि वाकादिसाधनत्वमस्त्येव । नैतत्-नहि तत्राहवनीयादि

१. अत्र पुत्रसङ्गाव स्वामिसङ्गावश्च प्रतिबन्ध, तदभावे पितृव्याद्येन भातृत्वेन च स्व भवतीति विशेष । २ द्रव्यस्य व्यवस्थापन । ३ वैश्यस्य । ४. अदत्तादायिनश्चौरस्य । ५ याजनाध्यापनाद्वापि । ६ अन्वयात् ।

रूपेण पाकादिसाधनत्वम् । किं तर्हि ? प्रत्येकादिपरिहरणमाभास्यादिरूपेण । इह तु मृगणादिरूपेण न कृपादिसाधनत्वमपि तु स्वत्वेनैव । नहि यस्य यस्त्वं न भवति तत्तस्य मयावर्धनियतां साधयति ॥ अपि च,—प्रत्यन्तयातिनामप्यदृष्टताम्यवहारानां स्वल्पव्यहारे दृश्यते, कृपाकृपादिदर्शनात् । किंच,—नियतोपाधिक स्वार्थं लोकसिद्धमेवेति म्यावविदो मन्यन्ते । तथा हि—‘एतस्मात्पुत्रे तृतीये वर्णके द्रव्यार्जननियमानां म्यवर्धये स्वत्वमेव न स्यात् । स्वावस्था लौकिकत्वादिति पूर्वपक्षसंभवमाशङ्क्य द्रव्यार्जनस्य प्रतिप्रदादिना स्वत्वसाधनत्व लौकिसिद्धमिति पूर्वपक्षं समर्थितो गुरुणा—ननु च द्रव्यार्जनस्य प्रत्यर्थये स्वत्वमेव न भवतीति याग एव न सत्तत । प्रलपितमिदं केनापि ‘अर्जनं स्वत्वं नापादयतीति विप्रतिषिद्धम्’ इति यदता । तथा सिद्धान्तेऽपि स्वत्वस्य लौकिकत्वमद्वापृश्यैव विचारप्रयोजनमुत्तम्, अतो ‘नियमातिक्रमं पुरुषस्य न प्रो’ इति । अस्य चार्थ एव विवृत—यदा द्रव्यार्जननियमानां म्यवर्धये तदा नियमातिरिक्तेनैव द्रव्येण ऋतुसिद्धिर्न नियमातिक्रमातिरिक्तेन द्रव्येण न ऋतुसिद्धिरिति न पुरुषस्य नियमातिक्रमदोषः पूर्वपक्षे । शब्दान्ते ‘वर्जननियमस्य पुरुषार्थत्वात्तदतिरिक्तमेणातिरिक्तेनापि द्रव्येण ऋतुसिद्धिर्भवति, पुरुषस्यैव नियमातिक्रमदोष इति नियमातिप्रमाजितस्यापि स्वात्मप्रोक्तम्,—अन्यथा ऋतुसिद्धयभावात्, न चैतावता और्वादिप्राप्तस्यापि स्वत्वत्वादिति मन्तव्यम् । लोके तत्र स्वात्मसिद्धयभावात्, व्यवहारविसवादाच्च एव प्रतिप्रदाद्युपायके स्वत्वे लौकिके रिधते—‘प्राज्ञणस्य प्रतिप्रदादय उपाया’, ‘उत्रियस्य विजितादय, वैश्यस्य वृष्यादय, शूद्रस्य शुभ्र्यादय’ इत्यदृष्टार्थां नियमा । रिष्यादयस्तु सर्वसाधारणा—‘स्वामी रिष्यकृपसविभागपरिप्रदाधिगमेपु’ ( गौ० १०।३९ ) इत्युक्ता । तत्राप्रतिबन्धो दायो रिष्यम् । प्रथमं प्रतिद । सविभागं सप्रतिबन्धो दाय । परिप्रहोऽन्यपूर्वस्य जन्मकाण्डे स्वीकार । अधिगमो निष्वादेः प्राप्ति । एतेषु निमित्तेषु सस्तु स्वामी भवति । ज्ञातेषु ज्ञायते स्वामी । ‘प्राज्ञणस्याधिकं लब्धम्’ ( गौ० १०।४० ) इति प्राज्ञणस्य प्रतिप्रदादिना यज्ञं च तदधिकमसाधारणम् । ‘उत्रियस्य विजितम्’ ( गौ० १०।४१ ) इत्यग्राधिकमित्यनुवर्तते । उत्रियस्य विजयदण्डादिलब्धमसाधारणम् । ‘निर्विष्टं वैश्यशूद्रयो’ ( गौ० १०।४२ ) इत्यत्राप्यधिकमित्यनुवर्तते । वैश्यस्य वृषिगोरणादिलब्धं निर्विष्टं तदसाधारणम् । शूद्रस्य द्विजशुभ्र्यादिना ऋतिरूपेण यज्ञं च तदसाधारणम् । एवमनुलोमजानां प्रतिलोमतानां च

१ नियतोपाधिक । २ ऋतुसिद्धिनियमातिक्रमातिरिक्तेन द्रव्येण न ऋतुसिद्धिरिति । ३ दोष इति पूर्वपक्षे । ४ कृतेषु ।

लोकप्रसिद्धेषु स्वस्वहेतुषु यद्यदसाधारणमुक्त 'सूतानामधसारथ्यम्' इत्यादि तत्तत्सर्वं निर्विघ्नद्वन्द्वेनोच्यते सर्वस्यापि श्रृतिरूपत्वात् ॥ 'निर्वेक्षो श्रृतिभोगयो' ( तृ० ना० २१४ ) इति त्रिकाण्डीस्मरणात् । तद्यदसाधारण वेदितव्यम् । यदपि 'पत्नी दुहितरश्चैव' ( व्य० १३५ ) इत्यादिस्मरणे तत्रापि स्वामिसन्धिस्तथा बहुषु दायविभागितया प्राप्तेषु लोकप्रसिद्धेषु स्वस्वव्यामोहनिवृत्त्यर्थं स्मरणमिति सर्वमनवद्यम् ॥ यदपि मम स्वमनेनापहृतमिति न प्रयास्वस्वस्य लौकिकत्वं इति, तदप्यसत्, स्वस्वहेतुभूतकृपादिमद्वेदास्वस्वसद्वेदोपपत्तेः । विचारप्रयोजनं तु—'यद्गृहितेनार्जयन्ति कर्मणा प्राङ्गणं धनम् । तस्योत्सर्गेण शुद्धयन्ति जप्येन तपसैव च ॥' इति । शास्त्रैकसमधिगम्ये स्वस्ये । गृहितेनासप्रतिग्रहवाणिज्यादिना लब्धस्य स्वस्वमेव नास्तीति तत्पुत्राणां 'तद्विभाज्यमेव । यदा तु लौकिक स्वस्व तदाऽसप्रतिग्रहादिलब्धस्यापि स्वस्वात्तत्पुत्राणां तद्विभाज्यमेव । 'तस्योत्सर्गेण शुद्धयन्ति' इति प्रायश्चित्तमर्ष-विभुरेव, तत्पुत्रादीनां तु दायस्वेन स्वस्वमिति न तेषां दोषस्य च, 'सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभ क्रयो जय । प्रयोग कर्मयोगश्च सप्रतिग्रह एव च ॥' इति ( १०११५ ) मनुस्मरणात् ॥

इदानीमिदं सदिच्छते— किं विभागास्वैमुक्त स्वस्य सतो विभाग इति । तत्र विभागास्वैमिति तावद्युक्तम् ; जातपुत्रस्याघानविधानात् । यदि जन्मनैव स्वस्व स्यात्तदोत्पन्नस्य पुत्रस्यापि तस्व साधारणमिति द्रव्यस्याप्येवाघानादिषु पितुरनधिकार स्यात् । तथा विभागात्प्राक् पितृप्रसादलब्धस्य विभागप्रतिषेधो नोपपद्यते, सर्वानुमत्त्वा दत्तत्वाद्धिभागप्राप्त्यभावात् । यथाह—'सौर्वभार्याघने चाभे यच्च विद्याधन भवेत् । त्रीण्येतान्यविभाजयानि प्रसादो यक्ष पैतृक ॥' ( ना० १३१६ ) इति ॥ तथा 'भर्ता प्रीतेन यद्वक्षं शिष्यै तस्मिन्मृतेऽपि सत् । सा यथाकाममरनीयाद्दद्याद्वा स्थावररहिते ॥' इति प्रीतिदानवचनं च नोपपद्यते-जन्मनैव स्वस्वे । न च 'स्थावररहिते यद्वत्तम्' इति सप्तम्यो युक्तं व्यवहितयो-जनाप्रसङ्गात् । यदपि—'मणिमुक्ताप्रवाळानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः । स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः ॥' तथा—'पितृप्रसादाद्भुज्यन्ते यद्याण्याभरणाणि च । स्थावरं तु न भुज्येत प्रसादे सति पैतृके ॥' इति स्थावरस्य प्रसाददानप्रतिषेधवचनं, तत्पितामहोपात्तस्थावरविषयम् । अतीते पितामहे तद्धनं विनापुत्रयो साधारणमपि मणिमुक्तादि पितुरेव, स्थावरं तु साधारणमित्यस्मादेव वचनाद-वगम्यते । सरमाद्य जन्मना स्वस्व किंतु स्वामिनाशाद्धिभागाद्वा स्वस्वम् । अतः

१ न विभाज्यमेव । २ स्वस्व लौकिकं तदा । ३ स्वस्वहेतुः । ४ प्रसादादिह न प्रति । प्रसाददाने प्रति । ५ समानमपि ।

एव पितृहर्षं विभागाभ्याम्भ्यस्वस्वस्व प्रहीणस्वादन्येन गृह्यमाणं न निवार्यत इति चोद्यस्यानवकाशाः । तथैकपुत्रस्यापि पितृपयाणादेव पुत्रस्य स्वमिति न विभागमपेक्षत इति । अप्रोच्यते—लोकप्रसिद्धमेव स्वस्वमित्युक्तम् । लोके च पुत्रादीनां जन्मनैव स्वत्वं प्रसिद्धतरं नापह्नुवमर्हति । 'विभाग'शब्दश्च बहुस्वामिक्रयनविषयो' लोकप्रसिद्धः, नान्यदीर्यविषयो न प्रहीणविरयः; तथा 'उत्प-स्यैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्याः' इति गौतमवचनाच्च । 'मणिमुक्ताप्रवालानाम्' इत्यादिवचनं च जन्मना स्वस्वपक्ष एवोपपद्यते । नच पितामहोपात्तरथावरविषयमिति युक्तम् ; 'न पिता न पितामहः' इति वचनात् । पितृमहस्य हि स्वार्जितमपि पुत्रे पौत्रे च स्वस्वदेयमिति वचनं जन्मना स्वत्वं गमयति । तथा परमते मणिमुक्ताप्रवालवस्त्राभरणादीनां पैतामहानामपि पितुरेव स्वत्वं; वचनात्, एवमस्मन्मतेऽपि पित्रार्जितानामप्येतेषां पितुर्दानाधिकारः, वचनादित्यविशेषः ॥ यत्तु 'भर्त्रा प्रीतेन' इत्यादिविष्णुवचनं स्थावरस्य प्रीतिदानज्ञापनं तरस्योपार्जितस्यापि पुत्राद्यभ्यनुज्ञयैवेति व्याख्येयम् ; पूर्वोक्तैर्मणिमुक्तादिवचनैः स्थावरस्यतिरिक्तस्यैव प्रीतिदानयोग्यत्वनिश्चयात् ॥ यदप्यर्थसाध्येषु वैदिकेषु धर्मस्वनधिकार इति, तत्र तद्विधानपलादेवाधिकारो गम्यते । तस्मात्पैतृकं पैतामहे च द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वम्, तथापि पितुरावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानकृत्यभरणापद्धिमोक्षादिषु च स्थावरस्यतिरिक्तद्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितम् । स्थावरे तु स्वार्जिते पित्रादिप्राप्ते चपुत्रादिवारतन्त्रमेव; 'स्थावरं द्विपदं चैत्र यद्यपि स्वयमर्जितम् । असंभूय सुतान्सर्वान्न दानं न च विक्रयः ॥ ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः । वृत्ति च तेऽभिकाहृष्टमिति न दानं न च विक्रयः ॥' इत्यादिस्मरणात् । अस्यापवादः—'एकोऽपि स्थावरे कुर्यादानाधमनविक्रयम् । आपत्काले कुटुम्बार्थं धर्मार्थं च विशेषतः ॥' इति । अस्वार्थः-अप्राप्तस्ववहारेषु पुत्रेषु पौत्रेषु वाऽनुज्ञानादावतमर्षेषु भ्रातृषु वा तथाविधेषु विभक्तेश्चपि सकलकुटुम्बस्यापिन्यानापदि तत्पोषणे वाऽवश्य कर्तव्येषु च पितृभ्रात्रादिषु स्थावरस्य दानाधमनविक्रयमेकोऽपि समर्थः कुर्यादिति । यत्तु वचनम्—'विभक्ता वाऽविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः । एको द्वनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रये ॥' इति, तदप्यविभक्तेषु द्रव्यस्य मध्यस्थत्वादेकस्यानीश्वरत्वात् सर्वाभ्यनुज्ञाऽवश्यं कार्या । विभक्तेषु तूत्तरकालं विभक्ताविभक्तसंशयस्यु-

१. प्रसिद्धो । २. भ्यदीपधनविषयो । ३. तं तथोत्पद्येव । ४. पितृपितामहस्य । ५. मुक्तावस्त्राभरणा । ६. एतेषां मणिमुक्तादीनां । ७. विमोक्षणादिषु । ८. वा अनुज्ञादा । अनुज्ञादानादावः ९. अनीशकत्वात् ।



दासेन व्यवहारसौकर्याय सर्वाभ्यनुज्ञा न पुनरेकस्यानोश्चरत्वेन, अतो विभक्तानुमतिव्यतिरेकेणापि व्यवहार सिद्धायेवेति व्याख्येयम् । यदपि—‘स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च । हिरण्योदकदानेन पट्टिभर्गच्छति मेदिनी ॥’ इति, तथापि ग्रामानुमति, ‘प्रतिग्रहप्रकाश स्यात्स्थावरस्य विशेषतः’ ( व्य० १०६ ) इति स्मरणात् व्यवहारप्रकाशनार्थमेवापेक्ष्यते, न पुनर्ग्रामानुम या विना व्यवहारासिद्धि । सामन्तानुमतिस्तु सीमाविप्रतिपत्तिनिरामाय । ज्ञातिदायादानुमतेरतु प्रयोजनमुक्तमेव ‘हिरण्योदकदानेन’ इति, ‘स्थावरे विक्रयो नास्ति कुर्यादाधिमनुज्ञया’ इति स्थावरस्य विक्रयप्रतिषेधात्, ‘भूमि य प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति । उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतौ स्वर्गयामिनौ ॥’ इति दानप्रशसादर्शनाच्च । विक्रयेऽपि कर्तव्ये सहिरण्यमुदक दत्त्वा दानरूपेण स्थावरविक्रय कुर्यादित्यर्थः । पैतृके पैतामहे च धने ज-मनैव स्वस्वेऽपि विशेषं ‘भूर्या पितामहोपात्ता’ ( व्य० १२१ ) इत्यत्र वक्ष्याम ॥ इदानीं यस्मिन्काले येन च यथा विभाग कर्तव्यस्तद्वर्णयन्ताह—

विभागं चेत्पिता कुर्याद्विच्छया विभजेत्सुतान् ।

ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वं वा स्यु समांशिन ॥ ११४ ॥

यदा विभाग पिता चिकीर्षति तदा इच्छया विभजेत् पुत्रानात्मन सकाशात् पुत्र पुत्रौ पुत्रान् । इच्छया निरङ्कुशत्वादनियमप्र सौ नियमार्थमाह— ज्येष्ठ वा श्रेष्ठभागेनेति । ज्येष्ठ श्रेष्ठभागेन मध्यम मध्यभागेन, कनिष्ठ कनिष्ठभागेन, ‘विभजेत्’ इत्यनुवर्तते । श्रेष्ठाद्विभागश्च मनुनोक्त ( १११२ )—‘ज्येष्ठस्य विंश उद्धार सर्वदं व्याच च यद्दरम् । ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीय तु षष्ठीयस ॥’ इति । ‘वा’ शब्दो वक्ष्यमाणपक्षापेक्ष । सर्वं वा स्यु समांशिन इति । सर्वं वा ज्येष्ठाद्य समांशभाज कर्तव्यं । अयं च विपमो विभाग स्वाजितद्रव्यविषयः । पितृकामायाते तु समस्वाभ्यस्य वक्ष्यमाणस्वान्नेच्छया विपमो विभागो युक्तः । विभागं चेत्पिता कुर्यादिति । यदा पितृर्विभागेच्छा स तावदेक कालः । अपरोऽपि जीवैत्यपि पितरि द्रव्यनि स्पृहे निवृत्तरूपे मानरि च निवृत्तरजस्काया, पितुरनिच्छावामपि पुत्रे-ज्यैव विभागो भवति । यथोक्त नारदेन ( १३।३ )—‘अत ऊर्ध्वं पितु पुत्रा विभजेयुर्धनं समम्’ इति पित्रो ऊर्ध्वं विभाग प्रतिपाद्य—‘मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च । निवृत्ते चापि रमणे पितर्युपरतस्पृहे ॥’ इति दर्शितः । अत्र ‘पुत्रा धनं समं विभजेयुः’ इत्यनुपपद्यते । गौतमेनापि—‘ऊर्ध्वं पितु पुत्रा विभजेरन्’ ( २८।१ )

इत्युक्त्वा 'निवृत्ते चापि रजसि' ( गौ० २८।२ ) इति द्वितीय कालो दर्शित ।  
'जायति चेच्छति' ( गौ० २८।२ ) इति तृतीय कालो दर्शित । तथा सरज  
स्कायामपि मातर्यनिच्छत्यपि पितर्यभर्मवर्तिनि दीर्घरोगप्रस्ते च पुत्राणामिच्छया  
भवति विभाग । यथाह शङ्ख — अकामे पितरि रिक्थविभागो वृद्धे विपरीत  
चेतसि रोगिणि च' इति ॥ ११४ ॥

भाषा—यदि पिता (सपत्नि का) विभाग करे तो उसे अपनी इच्छानुसार  
पुत्रों में बाँटे । ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठभाग ( मझले को मध्यम और  
सबसे छोटे को कनिष्ठभाग ) देकर विभाजन करे अथवा सबको समान  
अंश देवे ॥ ११४ ॥

वित्तिच्छया विभगो द्विधा दर्शित—समो विपमश्च, तत्र समविभागे  
विशेषमाह—

यदि पुर्यात्समानंशान् पत्न्य कार्या समांशिका ।

न दत्तं स्त्रीघनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा ॥ ११५ ॥

यदा स्वेच्छया पिता सर्वानेन सुतान् समविभागिन करोति तदा पत्न्यश्च  
पुत्रसमाशनाज कर्तव्या, यासा पत्नीना भर्त्रा श्वशुरेण वा स्त्रीघन न दत्तम् ।  
दत्ते तु स्त्रीघने अर्धांश वचयति ( व्य० १४८ )—'दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत्' इति ॥  
यदा तु श्रेष्ठभागादिना ज्येष्ठादीन् विभजति तदा पत्न्य श्रेष्ठादिभागात्  
लभते, कित्दूष्टनोदाराःसमुदायात्समानेवाशोऽहमे ते स्वोद्धार च ॥  
यथाहापस्तम्ब ( घ० २।१४।९ )—'परीभाण्ट च गृहेऽलङ्कारो भार्याया'  
इति ॥ ११५ ॥

भाषा—यदि अपनी इच्छा से पिता सभी पुत्रों को समान अंश देता  
है तो उस उन पत्निवों को भी समान भाग देना चाहिये, जि हैं अपने  
पति से वा श्वशुर स्त्रीघन नहीं मिला है ॥ ११५ ॥

ज्येष्ठ वा श्रेष्ठभागैर्न सर्वे वा स्यु समांशिन ( व्य० ११४ ) इति  
पञ्चदशवेऽप्यपवादमाह—

शफस्यानीहमानस्य किञ्चिद्दत्त्वा पृथक्क्रिया ।

स्वयमेव द्रव्याजैनसमर्धस्य वित्द्वयमनीहमानस्यानिर्च्यतोऽपि यत्किञ्चिद्-  
सारमपि दत्त्वा पृथक्क्रिया विभाग कर्तव्य विध्ना । त्पुत्रादीना नादन्निष्ठा  
ना भूदिति ॥—

'उपेष्ट या श्रेष्ठमागेन' ( श्व० ११४ ) इति न्यूनाधिकविभागो दर्शित । तत्र शास्त्रोक्तोद्धारादिविषमविभागव्यतिरेकेणान्यथाविषमविभागनिषेधार्थमाह—

न्यूनाधिकविभक्ताना घर्म्यः पितृकृत स्मृत ॥ ११६ ॥

यूनाधिकविभागेन विभक्तानां पुत्राणामसौ न्यूनाधिकविभागो यदि धर्म्यं शास्त्रोक्तो भवति तदाऽसौ पितृकृत कृत एव न निवर्तत इति म वादिभि स्मृत । अन्यथा तु पितृकृतोऽपि निवर्तत इत्यभिप्राय । यथाह नारद ( १३।६ )— व्याधित कुपितश्चैव विषयास्तमानस । अन्यथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभु ॥ इति ॥ ११६ ॥

भाषा—ओ पुत्र स्वयं द्रव्याज्जन करने में समर्थ हो उसे उसके न चाहुने पर भी कुछ देकर बँटवारा करना चाहिए । यदि पिता द्वारा पुत्रों में किया गया न्यून या अधिक विभाजन धर्म क अनुसार है तो वह परिवर्तनीय नहीं होता ॥ ११६ ॥

इदानीं विभागस्य कालान्तर कर्त्रं तर प्रकारनियमाह—

विभजेरनुता पित्रोरुर्ध्वं रिक्थमृण समम् ।

पित्रोर्भातापित्रोरुर्ध्वं प्रपणादिति कालो दर्शित । अनुता इति कर्तारो दर्शिता । सममिति प्रकारनियम । सममेवेति रिक्थमृण च विभजेरनु । ननु 'ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च ( मनु १।१०४ ) इत्युपक्रम्य ( मनु १।१०५ )— उपेष्ट एव तु गृह्णीयादियस्य धनमशेषत । शेषास्तमुपर्जं वयुर्यथैव पितर तथा ॥ इत्युक्त्वोक्तम् ( मनु १।११२ )— उपेष्टस्य विंश उद्धार सर्वद्रव्याश्च यद्वारम् । तैनोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयस ॥' इति । सर्वरमाद्द्रव्यसमुदाया द्विशतितमो भाग सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठ तज्ज्येष्ठाय दातव्यम् तदर्थं चत्वारिंशत्तमो भागो मध्यम च द्रव्य मध्यमाय दातव्यम् तुरीयमशीतितमो भागो हीन द्रव्य च कनिष्ठाय दानव्यमिति मातापित्रोरुर्ध्वं विभज्जतामुद्धारादिविभागा मनुना दर्शित । तथा ( १।११६।११७ )—'उद्धारेऽनुदृष्टे श्वेषामिय स्यादश वक्ष्यता । एकाधिक हरेऽपेष्ट पुत्रोऽर्धं ततोऽनुज ॥ अशमस यवीयाम इति धर्मो न्यवस्थित ॥ इति । उपेष्टस्य ही भागी, तदन तरजातस्य सार्धं एको भाग ततोऽनुजानामेकैको विभाग इत्युद्धारव्यतिरेकेणापि त्रिषमो विभाग

१ धर्म । २ विभजेयु । ३ रुर्ध्वमृण । ४ प्रपणात् ।  
५ तदर्थं मध्यमस्य स्यात्तदर्थं तु कनीयस इति । ६ दानसमुच्चपात् ।

दर्शितं पित्रोरुर्ध्वं विभजताम् । जीवद्विभागे च स्वयमेव विपमो विभागो दर्शित — 'ज्येष्ठ वा श्रेष्ठमागन' ( अ० ११४ ) इति । अत सर्वस्मिन्नपि काले विपमो विभागोऽस्तीति कथं सममेव विभजेरन्निति नियम्यते ॥ अत्रोच्यते— सत्यम्, अथ विपमो विभाग शौखदृष्टस्तथापि लोकविद्विष्टत्वाच्चानुष्ठेय, 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्ट धर्म्यमप्पाचरेत् त्वु ( भा० १५६ ) इति निषेधात् । यथा 'महोष्ठा वा महाज वा श्रोत्रियायोपवृत्तयेत् ( भा० १०९ ) इति विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम् । यथा वा— 'मैत्रावरुणी वा यदाममु च ध्यामालमेत' इति गवालम्भनविधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम् । उक्त च— 'यथा नियोगधर्मा नो नानुच ध्यावधोऽपि वा । तयोद्धारविभागोऽपि नैव सप्रति वर्तते ॥' इति । ( नियोगमनतिक्रम्य यथानियोग, नियोगाधीनो यो धर्मो 'देवराक्षसुतोत्पत्ति'रित्यादिः स नो भवति ) भावस्तम्बोऽपि ( भा० ध० २१४११ )— 'जीव पुत्रेभ्यो दाय विभजेरसमम्' इति 'समतामुभया— 'ज्येष्ठो दायदा इत्येके' ( भा० ध० २१४१५ ) इति 'कृत्स्नधन' ग्रहण ज्येष्ठ स्वैकीयमतेनोप-यस्य देशविशेषे सुवर्णं कृष्णा गाव कृष्ण भौम ज्येष्ठस्य रथ पितु परीभाण्ड च गृहेऽलकारो भार्याया ज्ञातिधन चेत्येके' ( ध० २१४१ ६-९ ) इत्येकीयमतेनैवमुद्धारविभाग दर्शयित्वा तच्छास्त्रैर्विप्रतिपिद्धम्' ( भा० ध० २१४११० ) इति निराकृतवान् । त च 'शास्त्रविप्रतिषेध स्वयमेव दर्शयति स्म 'मनु पुत्रेभ्यो दाय न्यभनदित्यविशेषेण श्रूयते' ( भा० २१४१११ ) इति । तस्माद्विपमो विभाग शास्त्रदृष्टोऽपि लोकविरोधाच्छ्रुतविरोधाच्च नानुष्ठेय इति सममेव विभजेरन्निति नियम्यते ॥—

मातापित्रोर्धनं सुता विभजेरन्नित्युक्तं, तत्र मातृधनेऽपचादगाह—

### मातुर्दुहितर शेषमृणात्

मातुर्धनं दुहितरो विभजेरन् । श्रणाच्छेष मातृकृतर्णापाकरणावशिष्टम् । अतश्चर्णसम न्यून वा मातृधनं सुता विभजेरन्नित्यस्य विषयः । एतदुक्तं भवति— 'मातृकृतमृणं पुत्रैरेवापाकरणीयं, न दुहितुभिः । श्रणावशिष्टं तु धनं दुहितरो गृह्णीयुरिति । युक्तं चैतत्— 'पुमान् पुसोऽधिके शुके स्त्री भव यधिके स्त्रिया' ( मनु ३।४९ ) इति स्वयमेवाना दुहितुषु बाहुव्यात् स्त्रीधनं दुहितृगामि, पितृधनं पुत्रगामि, पितृयवानां पुत्रेषु बाहुव्यादिति । तत्र च गौतमेन विशेषो

१ दर्शितो मनुना । २ कथं विभजेरन्निति सममेव नियम्यते । ३ शास्त्र-दृष्टोऽस्ति । ४ धर्मोऽन्यो । ५ स्वमतमुभया । ६ विशेषेण । ७ परीभाण्डः । ८ विप्रतिपिद्धः । ९ कृतम् ।

दर्शित ( २८।२४ )—‘स्त्रीधनं दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च’ इति ।  
अस्यार्थं—प्रत्ताऽप्रत्तासमवायेऽप्रत्तानामेव स्त्रीधनम् । प्रत्तासु च प्रतिष्ठिताप्रति  
ष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठितानां चेवेति । अप्रतिष्ठिता निर्धना ॥—

दुहितृभावे मातृधनमृणावनिष्ट की गृह्णीयादित्यत आह—

ताभ्य ऋतेऽन्वय ॥ ११७ ॥

ताभ्यो दुहितृभ्यो विना दुहितृणामभावे अन्वय पुत्रादिगृह्णीयात् ।  
एतच्च—‘विभजेरन्सुता पित्रोरुर्ध्वम्’ ( व्य० ११० ) इत्यनेनैव सिद्ध स्पष्टार्थं  
मुक्तम् ॥ ११७ ॥

भाषा—माता और पिता की मृत्यु के बाद सभी पुत्र मिल कर पिता की  
सम्पत्ति एवं ऋण का बराबर बराबर विभाजन कर लें । माता का धन पुत्रियों  
को लें और पुत्रियों न हों तो ( माता का धन भी ) पुत्र ग्रहण करें ॥११७॥

अविभाज्यमाह—

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम् ।

मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत् ॥ ११८ ॥

क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हनर्मप्युद्धरेत्तु य ।

दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥ ११९ ॥

मातापित्रोर्द्रव्याविनाशेन यस्स्वयमर्जित, मैत्र मित्रसकाशाद्यह्लब्ध,  
औद्वाहिक विवाहलब्ध दायादानां भ्रान्तुणां तन्न भवेत् । क्रमादिपितृक्रमादायात्  
यत्किञ्चिद्द्रव्यं अन्यैर्हृतमसामर्थ्यादिना पित्रादिभिरनुद्धृतं य पुत्राणां मध्य  
हृतराभ्यनुत्तयोद्धरति नदायादेभ्यो भ्रात्रादिभ्यो न दद्यात्, उद्धर्तैव गृह्णीयात् ।  
तत्र चेत्तु तुरीयांशमुद्धर्ता लभते शेष तु सर्वेषां सममेव । यथाह शब्द—‘पूर्वं  
नष्टा तु यो भूमिमेकश्चेदुद्धरेत्क्रमात् । यथाभागं लभन्तेऽन्ये दशवर्शं तु तुरीय  
कम् ॥’ इति । क्रमादभ्यागतमिति शेष । तथा विद्यया वेदाध्ययनेनाध्यापनेन  
वेदार्थव्याख्यानेन वा यल्लब्धं तदपि दायादभ्यो न दद्यात्, अर्जक एव  
गृह्णीयात् । अत्र च ‘पितृद्रव्याविरोधेन यत्किञ्चिदस्वयमर्जितम् ॥’ इति सर्वत्र  
शेष । अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रमर्जितं पितृद्रव्याविरोधेन यदौद्वाहिकं,  
पितृद्रव्याविरोधेन च क्रमादायातमुद्धृतं, पितृद्रव्याविरोधेन विद्यया यल्लब्धमिति  
प्रत्येकमभिसवध्यते । तथा च पितृद्रव्याविरोधेन प्रत्युपकारेण यन्मैत्रम्,  
आसुरादिविवाहेषु यल्लब्धम्, तथा पितृद्रव्यव्ययेन यत्क्रमादायातमुद्धृतं तथा  
पितृद्रव्यव्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्धम्, तत्सर्वं सर्वैर्भ्रातृभिः पित्रा च

१ मप्युद्धरेत्तु ।

२ सर्वत्र शेषः ।

३ क्रमादायात् ।

१८ या०

विभजनीयम् । तथा 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्यविरोधेन प्रतिग्रहलब्धमपि विभजनीयम् । अस्य च सर्वशेषत्वाभावे मैत्रमौह्यद्विकमिरयादिनारव्य-पम् । अथ पितृद्रव्यविरोधेनावि यन्मैत्रादिलब्धं तस्याविभाज्यत्वाय मैत्रादिवचनमर्थविशुच्यते । तथा सति समाचारविरोध, विद्यालब्धे नारदवचनविरोधश्च ।—'कुटुम्ब विभृषाद् भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छन् । भागं विद्याधनात्समास्य लभेताधुनोऽपि सन् ॥' (नारद १३।१०) इति । तथा विद्याधनस्याविभाज्यस्य लक्षणमुक्त कारत्यायनेन—'परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्ताभ्यतस्तु या । तथा लब्ध धन यस्तु विद्याप्राप्त तदुच्यते ॥' इति । तथा 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्यस्य भिन्नत्वावधारणे प्रतिग्रहलब्धस्याविभाज्यत्वमाचारविरोद्धमापद्यते । एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना ( १।२०८ )—'अनुपपन्नपितृद्रव्य श्रमेण यदुपार्जितम् । दायादेश्चो न तद्दायाद्विद्यया लब्धमेव च ॥' इति श्रमेण मेधा युद्धादिना । ननु पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रादिलब्धं तदविभाज्यमिति न यत्तस्यम् ; विभागप्राप्त्यभावात् । यद्येन लब्धं तत्तस्यैव, मान्यस्येति प्रसिद्धं नरम् । प्राप्तिपूर्वकश्च प्रतिषेध । अत्र कश्चिदित्य प्राप्तिमाह—'यत्किञ्चिदपि तस्मिन् प्रेते धन ज्येष्ठोऽधिगच्छति । भागो यद्यीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिन ॥' ( मनु १।२०७ ) इति । ज्येष्ठो वा कनिष्ठो वा मध्यमो वा पितरि प्रेते अप्रेते वा यद्यीयसां वर्षीयसा चति व्याख्यानेन पितरि सत्यसति च मैत्रादीनां विभाज्यत्व प्राप्तं प्रतिषिद्धयत इति,—तद्वत्, नद्यत्र प्राप्तस्य प्रतिषेध, किंतु सिद्धस्यैवानुपादोऽपम् । लोकनिद्धस्यैवानुपादका-येष प्रायेणास्मिन्प्रकरणे वचनानि । अथवा समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वं तत्र समाशिन ।' इति प्राप्तस्यापत्राद् इति सनुच्यतु भवान् । अतश्च 'यत्किञ्चिदपि तस्मिन् प्रेते' इत्यस्मिन्प्रचने ज्येष्ठादिपदाविरक्त्या प्राप्तिरिति व्यामोहमात्रम् । अनो मैत्रादिवचने पितृप्रागूर्ध्वं वा विभाज्यत्वेनोक्तस्य 'यत्किञ्चिदपि तस्मिन् प्रेते' इत्यपवाद् इति व्याख्येयम् । तथाऽयदप्यविभाज्यमुक्तं मनुना ( १।२।१९ )—'यद्यप्यप्रमलकार कृता-समुदकं स्त्रिय । योग्येन प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥' इति । घृणानामेव यद्यागामविभाज्यत्व, यद्येन घृणं तत्तस्यैव । पितृघृणयस्याणि तु पितृसुखं विभजनीयं भ्रातृभोजने दातव्यानि । यथाह गृह्यसुति—'यद्यालकारादप्यापि पितृसुखं दातव्यानि । गन्धमास्यं समस्यस्यं भ्रातृभोजने समर्पयेत् ॥' इति । अभिजयानि तु यद्याणि विभाज्यान्वेव । यत्र वादनमद्यतिथिकादि, तदपि यद्येनारुहं तत्तस्यैव । विभ्य तु यद्यवदेव, अथादीनां यद्युत्थे तु तद्विक्रयव्यप्यादिनां विभा-

- १ सम विभजनीय । २ विरोधभाष्येन । ३ निषेध । ४. चाविभाज्य । ५ इत्यपवादाद् । ६ विनूयानि ।

उपश्रवणम् । वैश्वदेव्याविभाज्यस्य उपेष्टस्य ( मनु ९।११९ )—'अत्राधिकं संक-  
 दाय ७ मातु विभम भजेत् । अत्राधिकं संकंशफ उपेष्टस्यैव विधीयते ॥' इति  
 मनुस्मरणात् । अणकारोऽपि यो येन एव स तस्यैव । अपृत्न साधारणो  
 विभाज्य एव । ( मनु ९।२०० )—'पत्नी जीवति य स्त्रीभिरलकारो एतौ  
 भवेत् । न त भवत्पत्न्यादा भजमाना पतन्ति ते ॥' इति । 'अलकारो एतौ  
 भवेत्' इति <sup>१</sup>विश्वेगोपादानादपृत्नानां विभाज्यस्य गण्यते । कृतास्य तण्डुलमोद  
 कादि तद्व्यविभाज्य यथासम्य भोज्यम् । उदक उदकाधार पूगादि तद्य  
 विभम मूल्यद्वारेण न विभाज्य पर्यायिणोपभोज्यम् । श्रियश्च दास्यो विभमा  
 न मूल्यद्वारेण विभाज्या, पर्यायेण कर्म कारयितव्या । धवरद्वारतु विभ्रा  
 रवैरिष्याद्या मया अपि पुत्रैर्न विभाज्या । 'स्त्रीषु च सयुक्तास्त्रिभाग' ( २८।  
 ४६ ) इति गौतमस्मरणात् । योगश्च सेमश्च योगसेमम् । 'योग'शब्देनाल्लभ्यलभ  
 कारणं धीतरमातांविनमास्य इष्ट कर्म लक्ष्यते । 'सेम'शब्देन लब्धपरिचयगतेभूत  
 वहिर्वेदिदानतडागारामनिर्माणादि पूर्णं कर्म लक्ष्यते । तदुभय पतृकमपि  
 पितृद्वयविरोधार्जितमप्यविभाज्यम् । यथाह लीलाधि—'सेम पूर्णं योगमिष्ट  
 मियाहुस्त्वत्पदंविन । अविभाज्ये च ते प्रोक्ते दायनासनमेव च ॥' इति ।  
 'योगसम' शब्देन योगसेमकारिणो राजमन्त्रिपुरोहितादय उच्यन्ते-इति  
 ऋषिम् । पृथ्व्यामरशस्त्रापात्रप्रभृतय इत्यन्वे । प्रचारो गृहाराणादिषु  
 प्रवृत्तनिर्गममार्गं सोऽप्यविभाज्य । यत्पूजनमा सेमस्वाविभाज्यामुक्तम्—  
 'अविभाज्यं सगोशानामामहस्रकुलादपि । याज्य सेम च पत्र च कृतास्र  
 मुदकं श्रिय ॥' इति, तद्माह्नगोत्प नक्षत्रियादिपुत्रविषयम् । 'न प्रतिग्रह  
 भूदया क्षत्रियादिसुनाय वै । यद्यप्येतां पिता दद्यान्मृते विधासुनो हरेत् ॥'  
 इति स्मरणात् । याज्य याजनकर्मलक्ष्यम् । पितृप्रसादलक्ष्यस्याविभाज्यस्य  
 यथ्यते । नियमातिक्रमार्जितस्याविभाज्यत्वमनन्तरमेव न्यरासि । पितृद्वय-  
 विरोधेन यद्वर्जितं तद्विभक्तनीयमिति स्थितं, तत्रार्थकस्य भागद्वय वस्तिष्ट  
 वचनात्—'यन सेवा स्वयमुपार्जित स्यात्स इवशमेव लभेत' ( १०।५१ )  
 इति ॥ ११८ ११९ ॥

भाषा—माता पिता के धन की गहायता के बिना स्वय कहीं से स्वय  
 उपार्जित धन, मित्र से मिले हुए तथा विवाह में प्राप्त धन में भाइयों का  
 हिस्सा नहीं होता । पितृ परम्परा से आया हुआ धन, जिसे किसी और ने  
 बलपूर्वक अधिकार में किया हो, छुड़ाने वाले पुत्र का होता है, उसमें से

१ तु विभम मनुस्मृति । २ पतन्त्यथ । ३ विश्वपर्योपादाना ।  
 ४ करण ।

माइयों को अश न देवे, तथा अपनी विद्या के द्वारा प्राप्त धन में भी दायार्थों का अश नहीं होता ॥ ११८-११९ ॥

अस्थापवादमाह—

सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु सम स्मृत ।

अविभक्तानां भ्रातॄणां सामान्यस्यार्थस्य कृपिवागिभ्यादिना समुत्थाने समद्वयवर्धने केनचित्कृते सम एव विभागो नार्जयितुरर्जयम् ॥—

विद्ये द्रव्ये पुत्राणां विभागो दक्षित, इदानीं पैतामहे पौत्राणां विभागे विशेषमाह—

अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागरूपना ॥ १२० ॥

यद्यपि पैतामहे द्रव्ये पौत्राणां जन्मना स्वैव पुत्रैरविशिष्ट, तथापि तेषां पितृद्वारेणैव पैतामहद्रव्ये<sup>१</sup> विभागरूपना, न स्वस्थापेक्षया । एतदुक्तं भवति—यदाऽविभक्ता भ्रातर पुत्रानुत्पाद्य दिव्य गतास्तदैकस्य द्वौ पुत्रौ, अन्यस्य त्रयोऽपरस्य चत्वार इति पुत्राणां वैपश्ये तत्र द्वावेकं<sup>२</sup> स्वपितृमश लभेते, अन्ये त्रयोऽप्येकमश पितृ, चत्वारोऽप्येकमेवाश पितृ लभन्त इति । तथा केपुत्रिण्युत्रेषु द्वियमाणेषु केपुत्रिण्युत्रानुत्पाद्य द्विनष्टेष्वप्ययमेव<sup>३</sup> -याय । द्वियमाणां स्थानशानेय लभन्ते, नष्टानामपि पुत्रा विधानेष्वर्जयन्त इति वाचनिकी व्यवस्था ॥ १२० ॥

भाषा—विभाजन के पहले माइयों के एक में रहते समय के सामान्य धन की कृपि व्यापार आदि से वृद्धि होने पर उसमें मयका समाग अश होता है । पितामह के धन में पिता के अश के आधार पर ही पुत्र के अश का निर्धारण होता है ( अर्थात् पितामह की सम्पत्ति में अपने अपने पिता का भाग लगाकर और फिर अपने-अपने पिता के भाग में अपने अश का भाग लगाने पर ही पौत्र का भाग आता है ॥ १२० ॥

अपुना विभक्ते पितर्यधिष्ठमानभ्रातृक वा पौत्रस्य पैतामहे द्रव्ये विभागो नास्ति ।<sup>४</sup> अधियमाणे पितरि 'पितृतो भागरूपना' (व्य० १२०) द्युक्तत्वात् । अत्रु या स्त्राजितवपितु रिच्छयैवेत्याशङ्कितं भाह—

भूर्यां पितामहोपात्ता नियन्धो द्रव्यमेव वा ।

तत्र स्यात्सदृशं म्वायं पितु पुत्रस्य चैव हि ॥ १२१ ॥

१ साधारणस्यार्थस्य । २ माघद्वयम् । ३ द्रव्यविभाग । ४ विप्रस्य । ५ स्वयमेव । ६ अधियमाणे तु पितरि । ७ चोभयो ।



भूः शालिषेत्रादिका । निवन्ध एकस्य पर्णभरकस्येयन्ति पर्णानि, तथा एकस्य ऋमुकफलभरकस्येयन्ति ऋमुकफलाभीत्याद्युक्तलक्षण । द्रव्य सुवर्णरजसादि यत्पिनामहेन प्रतिग्रहविजयादिना लब्ध तत्र पितु पुत्रस्य च स्वोभयलोकप्रतिद्वमिति कृत्वा विभागोऽस्ति । हि यस्मात्तत्सदृश समानम्, तस्मान्न पितुरिच्छयैव विभागो नापि पितुर्भागद्वयम् । अतश्च 'पितृतो भागकल्पना' ( व्य० १२० ) इत्येतरस्वाम्ये समोऽपि वाचनिकम् । 'विभाग चेऽपि ता कुर्यात्' ( व्य० ११४ ) इत्येतरस्वार्जितविषयम् । तथा—'द्वावशी प्रतिपद्यन् विभजन्नाग्मन पिता' ( नारद १३।१२ ) इत्येतदपि स्वार्जितविषयम् । 'जीवतोरस्वत्तत्र स्याज्जस्यापि समन्विन इत्येतदपि पारतन्त्र्यमातापित्रजितद्रव्यविषयम् । तथा—'अनीशास्ते हि जीवतो' इत्येतदपि । तथा सत्तत्कार्या मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति । तथाऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्य दीयमाने विक्रायमाने वा पौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकार, पित्रजिते न तु निषेधाधिकार तत्परतन्त्रत्वात् । अनुमतिस्तु वर्तन्त्या । तथा हि—'पैतृक पैतामह च स्वाग्य यद्यपि जन्मनैव, तथापि पैतृके पितृपरतन्त्रत्वात् पितृस्वार्जकत्वेन प्राधान्यात् पित्रा विनियुज्यमाने स्वार्जिते द्रव्ये पुत्रेणानुमति कर्तव्या । पैतामह तु द्वयोः स्वाग्यमविशिष्टमिति निषेधाधिकारोऽप्यस्तीति विशेष । मनुरपि ( ९।२०९ ) 'पैतृक तु पिता द्रव्यमनवाप्त्यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्साधमकाम स्वयमपितम् ॥' इति । यत्पितामहार्जितकेनाप्यपहृत पितामहाननुद्धृत यदि पितोद्धरति तत्स्वार्जितमिव पुत्रैः सार्धं मकाम स्वयं न विभजेदिति वदन् पितामहार्जितसकामोऽपि पुत्रेच्छया पुत्रैः सह विभजेदिति दर्शयति ॥ १२१ ॥

भाषा—जो भूमि निषेध ( बुद्धी आदि ) एव धन पितामह ने उपाजित किये हों उसमें भी उपरोक्त के समान ही पहले पिता का भाग लगाकर फिर उसके अन्तर्गत पुत्र का भाग होता है ॥ १२१ ॥

विभागोत्तरकालमुत्पन्नस्य पुत्रस्य कथं विभागकल्पनेत्यत आह—

विभक्तेषु सुतो जात सवर्णाया विभागभाक् ।

विभक्तेषु पुत्रेषु पश्चात्सवर्णायां भार्यायामुत्पन्नो विभागभाक् । विभज्यत इति विभाग । पित्रोर्विभागस्त भजतीति विभागभाक्, पित्रोरुर्ध्वं तयोरेकलभत इत्यर्थः । मानुभाष चाम्बरवां दुहितरि 'मातृदुहितर ओषम्' ( व्य०

१ भारकस्य । २ स्वाग्यसार्धसिद्धमिति । ३ पितु स्वार्जकत्वेन । ४ कारोऽप्यस्तीति ।

११७) इत्युक्त्वात् । असवर्णायामुत्पन्नस्तु स्यादमेव पि पाठ्यते, मातृक तु सर्वमेव । एतदेव मनुनोक्तम् ( १।२।६ )—'ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्रमेव हरेद्धनम्' इति । पित्रोरिदं पित्र्यमिति व्याख्येयम्, 'अनीश पूर्वज पित्रोर्भ्रातृ मांति विभक्तज' इति स्मरणात् । विभक्तयोर्मातापित्रोर्विभागे विभागात्पूर्व-मुत्पन्नो न स्वामी, विभक्तजश्च भ्रातृभागे न स्वामीत्यर्थः । तथा विभागोत्तरपाल पित्रा यत्किञ्चिद्भित्तं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव, 'पुत्रै सह विभक्तेन पित्रा यास्वय-मर्जितम् । विभक्तवस्य तत्सर्वमनीशा पूर्वजा स्मृता ॥' इति स्मरणात् । ये च विभक्ता पित्रा सह सख्यं पितृरूप्यं तै सार्धं विभक्तजो विभजत् । यथाह मनु ( १।२।६ )—'सख्यं सतेन वा ये स्युर्विभजेत स तै सह' इति ॥—

पितृरूप्यं पुत्रेषु विभक्तेषु पञ्चादुत्पन्नस्य कथं विभागदण्डनेत्यत आह—

दृश्याद्वा तद्विभाग स्यादायव्ययविशोधिनात् ॥ १२२ ॥

तस्य पितरि प्रेते भ्रातृविभागवस्येऽस्पष्टगर्भायां मातरि भ्रातृविभागोत्तर काठमुत्पन्नस्यापि विभागः । तद्विभागं कुन ह्येतत् आह । दृश्याद्भातृभिर्गृहीता द्धनात् । कीदृशात् ? आयव्ययविशोधिनात् । आय प्रतिदिनस्य प्रतिमास्य प्रत्यब्द वा यदुत्पद्यते, व्ययं पितृकृत्तर्णावाहरणं, ताभ्यामायव्यथाभ्या य-द्ध-धित तत्तस्मादुद्धृत्य तज्जागो दातव्यं स्यात् । एतदुक्तं भवति—मातरिपुत्रेषु भागेषु तदुत्पन्नाय प्रवेश्य पितृकृतं चर्णमपनीयावशिष्टेष्वयं स्वयं स्वेष्वयो भागेष्व<sup>१</sup> किञ्चिदुद्धृत्य विभक्तवस्य भागं स्वभागसमं वर्तव्यं इति । एतच्च विभक्तवस्येऽप्रजस्य भ्रातृभावायामस्पष्टगर्भायां विभागात्पूर्वमुत्पन्न स्यापि यदितव्यम् । स्पष्टगर्भायां तु प्रत्यय प्रतीत्ययं विभागं वर्तव्यं । यथाह वसिष्ठ ( १७।४१ )—'अथ भ्रातृणां दायविभागो यात्रावपथा विश्वस्तानामा-मापुत्रलाभात्' इति । गृहीतगर्भाणामाप्रमवात्प्रतीचुगमिति योजनायम् ॥ १२२ ॥

भाषा—पुत्रां मे संपत्ति का विभाजन होने क कुछ कालोपरा त यदि सवर्णा परती स पुत्र उत्पन्न होता है तो वह भां भाग का अधिकारी होता है । पिता क मरण पर यदि भाद्र्यों क विभाग क समय माता की गर्भ हो किन्तु वह ज्ञात न हो और उसमे विभाग हान क कुछ कालोपरा त पुत्र होव तो आय व्यय का हिसाब करके उसमें से उस भाग देता ख छिष्ट ॥ १२२ ॥

१ भ्रातृभागे तु सर्वमेव । मातृभागः । २ ह्यनुभूतः । ३ भागेष्वो यत्किञ्चिदुद्धृत्य । ४ समयं भ्रातृभावायामस्पष्टगर्भायां स्वभागाः । समयं भ्रातृभावायामप्रजस्य स्पष्टगर्भायां विभागात्पूर्वम् ।

विभक्तज पित्र्य मातृक च सर्वं धनं गृह्णातीत्युक्तं, तत्र यदि विभक्त पिता माता वा विभक्त्याय पुत्राय स्नेहवशादाभरणादिकं प्रयच्छति, तदा विभक्तनेन दानप्रतिषेधो न कर्तव्यः नापि दत्तं प्रत्याहर्तव्यमित्याह—

पितृभ्यां यस्य यद् दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

मातापितृभ्यां विभक्ताभ्यां पूर्वं विभक्तस्य पुत्रस्य यद्दत्तमलकारादि तत्तस्यैव पुत्रस्य, न विभक्तजस्य स्व भवति । न्यायसाम्याद्विभागात्प्रागपि यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव । तथा भवति विभक्तजे विभक्तयो विश्वोरशं तदूर्ध्वं विभक्ततां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव, नान्यस्येति वेदितव्यम् ॥—

जीवद्विभागे स्वपुत्रसमाशित्वे पत्नानामुक्तं, 'यदि कुर्यात्समानशान्' (२७० ११५) इत्यादिना । पितृरूर्ध्वं विभागोऽपि पत्नीनां स्वपुत्रसमाशित्वे दत्तं-वितुमाह—

पितरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत् ॥ १२३ ॥

पितरूर्ध्वं पितुः प्रयाणादूर्ध्वं विभजता मातापि स्वपुत्रांशसममंशं हरेत्,— यदि स्त्रीधनं न दत्तम् दत्ते त्वर्धांशद्वारिणीति धेयते ॥ १२३ ॥

भाषा—माता पिता त्रिषु ( विभक्त ) पुत्र को जो वस्तु दते हैं वह उसी का धन होता है । पिता की मृत्यु के बाद ( यदि स्त्रीधन न मिला हो ) तो विभाग के समय माता भी पुत्रों के बराबर अंश ग्रहण करे ॥ १२३ ॥

पितरि प्रते यद्यत्सकृता भ्रातरं सन्ति, तदा तत्संस्कारे कोऽधिक्रियत इत्येव आह—

“असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृते ।

पितरूर्ध्वं विभक्तनिर्भ्रातृभिरसकृता भ्रातरं समुदायद्वयेण संस्कर्तव्या ॥—  
असंस्कृतास्तु भगिनीषु विशेषमाह—

भगिन्यश्च निजादंशाद् दत्त्वांशं तु तुरीयकम् ॥ १२४ ॥

अस्यार्थ—भगिन्यश्चासकृता संस्कर्तव्या भ्रातृभिः । किं कृत्वा ? निजादंशाच्चतुर्थमंशं दत्त्वा । अनेन दुहितरोऽपि पितरूर्ध्वमंशमाप्ति य इति सम्प्रति । तत्र 'निजादंशात्' इति प्रत्येकं परिकवितादशाद्दुर्बुध्वा चतुर्थांशो दातव्य इत्येवमर्थो न भवति, किंतु यज्जातीया वन्या, तज्जातीयपुत्रमाणाश्चतु

१ तस्यैव । २ मातुः स्वपुत्र । ३ प्रायणा । ४ वदति । ५ असंस्कृताश्च । ६ संस्कार्या । ७ इत्येवमर्थो । इत्यर्थो ।

धांसभागिनी सा कर्तव्या । एतदुक्तं भवति—यदि ब्राह्मणी सा कन्या तदा ब्राह्मणीपुत्रस्य दावानशो भवति, तस्य चतुर्थांशरतस्या भवति । तद्यथा—यदि कस्यचिद् ब्राह्मणस्यैका पत्नी पुत्रश्चैक कन्या चैका, तत्र पित्र्य सर्वमेव द्रव्य द्विधा पत्नी पुत्रश्चैक कन्या चैका, तत्र पित्र्य सर्वमेव द्रव्य द्विधा विभज्य तत्रैक भाग विभज्य तत्रैक भाग चतुर्धा विभज्य तुरीयमश कन्यायै दत्त्वा शेष पुत्रो गृह्णीयात्, यदा तु द्वौ पुत्रौ एका च कन्या, तदा पितृधन सर्वं त्रिधा विभज्य एक भाग चतुर्धा विभज्य तुरीयमश कन्यायै दत्त्वा शेष द्वौ पुत्रौ विभज्य गृह्णीत, अथ स्वेक पुत्रो द्वे कन्ये, तदा पित्र्य धन त्रिधा विभज्य एक चतुर्धा विभज्य तत्र द्वौ भागौ द्वाभ्या कन्याभ्यां दत्त्वाऽवशिष्ट सर्वं पुत्रो गृह्णातीत्येव समानजातीयेषु भ्रातृषु भगिनीषु च योजनायम् । यदा तु ब्राह्मणीपुत्र एक चत्रियाकन्या चैका, तत्र पितृधन सप्तधा विभज्य चत्रियापुत्रभागार्द्धचतुर्धा विभज्य तुरीयाश चत्रियाकन्यायै दत्त्वा शेष ब्राह्मणीपुत्रो गृह्णाति । यदा तु द्वौ ब्राह्मणी पुत्रौ चत्रियाकन्या चैका, तत्र पित्र्य धनमेकादशधा विभज्य तेषु त्रानशान् चत्रियापुत्रभागार्द्धचतुर्धा विभज्य चतुर्थमश चत्रियाकन्यायै दत्त्वा शेष सर्वं ब्राह्मणीपुत्रा विभज्य गृह्णीत ॥ एव जातिवैषम्ये भ्रातृणो भगिनीना च सख्याया साम्ये वैषम्ये च सर्वत्रोहनीयम् । नच<sup>१</sup> 'निजादनादद्यात् तु तुरीयक'मिति तुरीयांशविवक्षया सरकारमात्रोपयोगि द्रव्य दत्त्वेति व्याख्यान युक्तम् । मनुवचनविरोधात् ( १।१।८ )—स्वैर्भ्योऽशोऽप्यस्तु कन्याभ्य प्रदद्युर्भ्रातर पृथक् । स्वास्वादशाश्चतुर्भाग पतिता स्युरदिसव ॥' इति । अस्यार्थ—ब्राह्मणादयो भ्रातरो ब्राह्मणीप्रभृतिभ्यो भगिनीभ्य चैभ्य स्वजातिविहितैर्भ्योऽशोभ्य 'चतुरांशशाहरेद्विप्र' ( मनु १।१।५३ ) इत्यादिवचनभेदेभ्य स्वास्वादशादास्मीया दास्मीयाद्दायाश्चतुर्थं चतुर्थं भाग दद्यु । न चात्रास्मीयभागादुद्दृश्य चतुर्थांशो देय ह्युच्यते, किंतु स्वजातिविहितादेकरमादेकरमादशाश्चतुर्थमशेकर्याप्यकर्यै कन्यायै चतुर्थांशो देय इति जानिष्यम्ये सख्यावैषम्ये च विभागवत्कृत्स्नैर्नच । 'पतिता स्युरदिसव' इत्यस्मिन् प्रथयापध्ववणादपश्यदात्तापता प्रतीयते । अत्रापि चतुर्थभागपचनमविवक्षितं सरकारमात्रोपयोगिद्रव्यदानमेव विवक्षितमिति चेन्न । स्मृतिद्वयेऽपि चतुर्थांशदानाविवक्षया प्रमाणाभावाददाने प्रथयापध्ववणाच्चेति । यदपि कैश्चिदुच्यते—अज्ञानविवक्षया बहुभ्य वृक्षाया ह्येधनस्य, यद्बुभगिनीकस्य च निर्धनता प्राप्नोतीति, तदुक्तरीत्या परिहृतम् ।

१ कस्यचिद्ब्राह्मण्यचैका । २ अथ तु । ३ गृह्णीयात् एव । ४ पित्र्य धन । ५ गृह्णायात् । ६ गृह्णीयाताम् । ७ नच दत्त्वांश तु । ८ सरकारोपयोगि । ९ अतृधनकस्य ।

नक्षत्रात्मीयाद्वागादुद्दृष्टाय चतुर्थांशस्य दानमुच्यते येन तथा स्यात्, अतोऽस  
हायमेधातिथिप्रभृतीनां व्याख्यानमेव चतुर्दश, न भास्ये । तस्मात्पितृरुर्ध्वं  
वन्याप्यशभागिनीं पूर्वं चैरिक्तचिरिपता ददाति, तदेव लभते, विशेषवचना  
भावादिति सर्वमनवद्यम् ॥ १२४ ॥

भाषा—पिता की सृष्टि के बाद यदि भाई विभाजन करें तो जिन  
भाइयों का सस्कार न हुआ हो उनका सस्कार सबके सम्मिलित धन द्वारा  
होना चाहिए और बहनों का विवाह सस्कार न हुआ हो तो सभी भाई अपने  
भाग से चतुर्थांश देकर उनका सस्कार करें ॥ १२४ ॥

एव 'विभाग चेरिपता कुर्यात्' ( ४५० ११४ ) इत्यादिना प्रश्न-धेन समा-  
नजातीयानां भ्रतृणां परस्पर पित्रा च सह विभागश्छृतिरुक्ता, अधुना भिन्न-  
जातीयानां विभागमाह—

चतुस्त्रिद्वयेकभागा स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजा ।

शत्रज्जास्त्रिद्वयेकभागा विड्जास्तु द्वयेकभागिनः ॥ १२५ ॥

'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' ( भा० १७ ) इति ब्राह्मणस्य चतस्र, चत्रियस्य  
तिस्र, वैश्यस्य द्वे शूद्रस्यैकैति भार्या दर्शिता । तत्र ब्राह्मणात्मजा ब्राह्मणो  
त्पन्ना वर्णश — 'वर्ण'शब्देन ब्राह्मणादिवर्णो स्त्रिय उच्यन्ते । सत्यैकवचनाच्च  
वीप्सायाम्' ( पा० ५।४।४३ ) इत्यधिकरणकारकादेकवचनाद्वीप्साया शस् ।  
अतश्च वर्णे वर्णे ब्राह्मणोत्पन्ना यथाक्रम चतुस्त्रिद्वयेकभागा स्युर्भवेयु । एत-  
दुक्त भवति—प्र हण्येन ब्राह्मण्यामुत्पन्ना एकैकशत्रुरशत्रुरो भागांल्लभन्ते ।  
तेनैव चत्रियायामुत्पन्ना प्रत्येक श्रींस्त्रीन् वैश्यायां द्वौ द्वौ शूद्रायामेकमेकमिति ।  
चत्रजा चत्रियेणोत्पन्ना, 'वर्णश' इत्यनुवर्तते, यथाक्रम, त्रिद्वयेकभागा ।  
चत्रियेण चत्रियायामुत्पन्ना प्रत्येक श्रींस्त्रीन्, वैश्यायां द्वौ द्वौ, शूद्रायामेकमे-  
कम् । विड्जा वैश्येणोत्पन्ना । अत्रापि 'वर्णश' इत्यनुवर्तते, यथाक्रम द्वयेक  
भागिनः । वैश्येण वैश्यायामुत्पन्ना प्रत्येक द्वौ द्वौ भार्या लभन्ते । शूद्राया  
मेकमेकम् । 'शूद्रस्यैकैव भार्या' इति भिन्नजातीयपुत्राभावात्तपुत्राणां पूर्वोक्त  
एव विभाग, यद्यपि 'चतुस्त्रिद्वयेकभागा' इत्यविशेषेणोक्त, तथापि प्रतिग्रह  
प्राप्तभूयतिरिक्तविषयमिदं दृष्टव्यम् । यत स्मरन्ति—'न प्रतिग्रहभूदेवा  
चत्रियादिसुताय वै । यद्यप्येवा पिता दद्यान्मृते विवासुतो हरेत् ॥' इति ।  
प्रतिग्रहग्रहणा क्रयादिना लब्धा भू चत्रियादिसुतानामपि भवत्येव । शूद्रापुत्रस्य

१ चरिष्ठ, न भासुरे । २. विड्जौ तु द्वयेकभागिनौ । ३ वर्णाक्षय  
उच्यन्ते । ४. उत्पन्ना एकैकशत्रुस्त्रि ।

विशेषप्रतिषेधाच्च । 'शूद्रा द्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति' इति । यदि ऋयादिप्रासा भू चत्रियादिसुताना न भवन्तदा शूद्रापुत्रस्य विशेषप्रतिषेधो नोपपद्यते । यत्पुन ( मनु ९।१५५ )—'ब्राह्मणश्चत्रियविश्रां शूद्रापुत्रो न विवध भाक् । यद्वैवास्य पिता दद्यात्तदेवाह्य धन भवेत् ॥' इति, तदपि जीवता पित्रा यदि शूद्रापुत्राय किमपि मदत् स्यात्तद्विषयम् । यदा तु प्रसाददान नास्ति, तदैकाशभागित्पविरुद्धम् ॥ १२५ ॥

भाषा—वर्णानुसार ब्राह्मण के (क्रमशः चार वर्गों की परिधियों से उत्पन्न) पुत्रों के चार, तीन, दो और एक भाग होते हैं, चत्रिय के (क्रमशः चत्रिया, वैश्या और शूद्रा पत्नी से उत्पन्न) पुत्रों का तीन, दो और एक भाग, वैश्य के (क्रमशः वैश्या और शूद्रा पत्नियों से उत्पन्न) पुत्रों के दो और एक भाग होते हैं ॥ १२५ ॥

अथ सर्वविभागशेषे किंचिदुच्यते—

अन्योन्यापहृतं 'द्रव्यं विभक्ते यंचु दृश्यते ।

तत्पुनस्तौ समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थिति ॥ १२६ ॥

परस्परापहृत समुदायद्रव्य विभागकाले 'चाज्ञात विभक्ते पितृधने यद् दृश्यते, तत्समैरंशैर्विभजेरन्नित्येव स्थिति शास्त्रमर्थादा । अत्र 'समैरंशै' इति वदतोद्धारविभागो निषिद्धः । विभजेरन्निति वदता येन दृश्यते तत्रैव न ब्राह्म मिति दर्शितम् । एव च वचनस्यार्थवशात् समुदायद्रव्यापहारे दोषाभावपरत्वम् । मनु मनुना उपलक्ष्यैव समुदायद्रव्यापहारे दोषा दक्षिणे न कनायसाम् ( मनु ९।२१३ ) 'या' ज्येष्ठो विनिर्जुषति लोभाद् आतृ-यत्नीयम् । सोऽज्येष्ठ स्यादभागश्च नियन्तस्यश्च राजभि ॥' इति वचनात् । नैतत्, यत् सभावित स्वातन्त्र्यस्य पितृस्थानीयस्य ज्येष्ठस्यापि दोष वदना ज्येष्ठपरत प्राणा वनीयसां पुत्रस्थातीयानां दण्डापुषिकनाया सुतरा दापो दर्शित एव । तथा चादिशयेनैव शेष ध्यते । गौतम — यो वै भागिन भागान्नुदते चयते येन स यदि येन न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्र चयत' इति । यो भागिन भागाहं भागान्नुदत भागादपा करोति भाग वरमै न प्रयच्छति, स भ गानुप पुन नोचैर चयत गानयति दोषिण प्ररोति, यदि त ग नाशयति, तदा तस्य पुत्र पौत्र वा नाग्यतीनि, ज्येष्ठचित्तोपम-परेणैव साधारणद्रव्यापहारिणो दाप र्थुत । अथ साधारण द्रव्यमाभना ऽपि स्व भवतापि स्वस्वपुद्गला गृह्यमाण न दोषमावदन्ति मतम् । तद्वत्,

१ प्रप्त । २ यदि दृश्यते । ३ वा ज्ञात । ४ ज्ञात । ५ यो लोभाद् विनिर्जुषति । ६ चोत्तर । ७ ध्यते ।

श्वश्रुद्ध्या गृहीतेऽप्यवर्जनीयतया परस्वमपि गृहीतमेवेति निषेधानुपवेशाद्दोष-  
मावहस्येव । यथा मौद्रे चरी त्रिपक्षे सदृशतया मापेषु गृह्यमाणेषु 'अवजिवा  
वै मापा' इति निषेधो न प्रविकसति, मुद्रावयवश्रुद्ध्या गृह्यमाणत्वादिनि पूर्वप-  
क्षिणोक्ते मुद्रावयवेषु गृह्यमाणेष्ववर्जनीयतया मापावयववा अपि गृह्यन्त एवेति  
निषेध प्रविशस्येवेति शब्दान्तिनोक्तम् । तस्माद्ब्रह्मचरतो न्यायतश्च साधारणद्र-  
व्यापहारे दोषोऽस्त्येवेति सिद्धम् ॥ १२६ ॥

भाषा—विभाग के समय आपस में छिपाकर रखा गया धन यदि वितृ-  
धन के विभाग के उपरान्त दिखाई पड़े तो वे सभी भाई उसका समान अंश  
करके विभाजन कर लें, यही नियम है ॥ १२६ ॥

द्वयामुप्यायणस्य भागविशेष दर्शयस्तस्य स्वरूपमाह—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादित सुतः ।

उभयोरप्यसौ रिक्थी विण्ढदाता च धर्मतः ॥ १२७ ॥

'अपुत्रां गुर्वनुज्ञातः' ( भा० ६८ ) इत्याद्युक्तविधिना अपुत्रग देवरादिना  
परक्षेत्रे परमार्यायां गृह्णिय मेनोत्पादिन पुत्र उभयोर्बीजिषेत्रिणोरसौ  
रिक्थी रिक्थहारी विण्ढदाता च धर्मत इति । अस्यार्थ—यदाऽसौ  
नियुक्तो देवरादि स्वयमप्यपुत्रोऽपुत्रस्य<sup>१</sup> क्षेत्रे स्वपरपुत्रार्थं प्रवृत्तो य जनयति, स  
द्विवितृको द्वयामुप्यायणो द्वयोरपि रिक्थहारी विण्ढदाता च । यदा तु नियुक्त  
पुत्रवान् क्वचल क्षेत्रिण पुत्रार्थं प्रैयतते, तदा तदुत्पन्न क्षेत्रिण एव पुत्रो भवति,  
न बीजिन । स च न नियमेन बीजिनो रिक्थहारी विण्ढेरो वेति ।  
यद्येक मनुना ( १।५३ )—'क्रियाभ्युपगमाक्षेत्रे बीजार्थं यत्प्रैयते । तद्येह  
भागिनौ ह्यौ याञ्जी क्षेत्रिक एव च ॥' इति । क्रियाभ्युपगमादिति अत्रोत्पन्न  
मपरममावयोहभयोरपि भवति किं सतिद्वीकौणाक्षेत्रं क्षेत्ररामिना<sup>२</sup> बीजाव  
पनार्थं बीजिने दीयते तत्र तस्मिन्क्षेत्रे उत्पन्नस्यापत्यस्य बीजिषेत्रिणी भातिनी  
स्वामिनौ ह्यौ महर्षिभिः । तथा ( मनु १।५२ )—'फल एतन्निमघाय  
क्षेत्रिणां बीजिनां तथा । प्रत्यक्ष क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्वलीयसी ॥' इति ।  
फल एतन्निमघायेति । अत्रोत्पन्नमपरममावयोहभयोरतिस्वयंपमनभिगघाय  
परक्षेत्रे यदपरममुत्पाद्यते तदपरय क्षेत्रिण एव । यतो वाच तेषिर्बीज्यतीः  
गवाधादिषु तथा दर्शनात् । अत्रापि नियोगो वाग्दत्तादिपय एव, इतरस्य  
नियोगस्य मनुना निषिद्धत्वात् ( १।५९, ६० )—'देवराद्वा सविण्ढाद्वा श्रिया

१. अपरस्य । २. प्रवर्तते । ३. विण्ढदाता च । ४. करणेन यत्क्षेत्र ।  
५. बीजावपनार्थं । ६. तपानियोगो ।

सम्बद्धनियुक्तया । प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिश्रमे ॥ विधवायां  
 नियुक्तरतु घृताक्तो वाग्मतो निशि । एरुमुत्पादपेषुग्रं न द्वितीयं कथंचन ॥  
 इत्येवं नियोगमुपन्यस्य मनुः स्वयमेव निषेधति ( १।६४, ६८ )—‘नान्य-  
 स्मिन्विधवा नारी निषोक्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन्निह नियुज्जाना  
 धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ नोद्वाहिरेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्यते क्वचित् ।  
 न विवाहविधायुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो  
 विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ स महीमखिलां  
 शुक्लान् राजपिप्रवरः पुरा । यर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ततः  
 प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकी स्त्रियम् । नियोजयत्यपराधार्थं गैर्हन्ते तं  
 हि साधवः ॥’ इति ॥ न च विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विद्वत् इति मन्तव्यम् ;  
 नियोक्तानां निन्दाधवणात्, स्त्रीधर्मेषु व्यभिचारस्य बहुदोषधवणात्, संयमस्य  
 प्रशस्तत्वाच्च । यथाह मनुरेव ( ५।१५७ )—‘काम तु चरयेद् देहं पुष्पमूर्फलैः  
 शुभैः । ननु वामापि गृहीयात्परथो प्रेते परस्य तु ॥’ इति जीवनाथं पुरवान्त-  
 राश्रयण प्रतिषिद्धय ( मनुः ५।१५८।१६१ )—‘आसीतामरणारक्षान्ता नियता  
 ब्रह्मचारिणी । यो धर्मं पुरुषलोनां षाङ्गन्ती तमनुत्तमम् ॥ अनेकानि सहस्राणि  
 कीमारमहाचारिणाम् । दिवं गतानि विषाणामकृत्वा कुलसतनिम् ॥ मृते  
 भर्तारि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यं स्ववर्षिता । स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते  
 मण्ड्यचारिणः ॥ अपत्यलोभाया तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सेह निन्दामवाप्नोति  
 परलोकाद्य हीयते ॥’ इति पुत्रार्थमपि पुरवान्तराश्रयणं निषेधति । तस्माद्-  
 विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विद्वत् इति न युक्तम् ॥ एवं विवाहसंस्कृतानियोगे प्रतिषिद्धे  
 वस्तुहि धर्मो नियोग इत्यत आह ( मनुः १।६९।७० )—‘यस्या स्त्रियेत  
 कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ यथा-  
 विद्वैधिगम्येनां शुक्लवस्त्रां शुचिप्रताम् । मियो भजेताममवास्तकृतकृदनातुतौ ॥’  
 इति । यस्मै पादुक्तः कन्या स प्रतिग्रहमन्तरेणैव तस्याः पतिरिष्यमादेव  
 यचनादरगम्यते । तस्मिन्प्रेते देवरस्तस्य उपेष्ट कनिष्ठो वा निज सोदरो वि-देत  
 परिणयेत् । यथाविधि यथाशास्त्रमधिगम्य परिगीय अनेन विधानेन घृताभ्य-  
 द्वाष्टितपमादिनां शुक्लवस्त्रां शुचिप्रतां मनोवाक्कायसयतां मियो रहस्यागर्भग्रह-  
 णान्प्रत्यवेक्यवारं गच्छेत् । अथ च विवाहो याघ्निको घृताभ्यद्वादिनियमवत्,  
 नियुक्ताभिगमनग्नमिति न देवरस्य; भार्यावमापादयति । अतस्तदुत्पद्यमपर्यं  
 चेत्प्रसवामिन् एव भवति, न देवरस्य सविदा तृभयोरपि ॥ १२७ ॥

भाषा—पुत्रहीन देवर आदि द्वारा दूसरे की पत्नी से नियोग विधि से



उत्पन्न पुत्र दोनों की सम्पत्ति का अधिकारी होता है और धर्मानुसार विण्ड दान देने वाला होता है ॥ १२७ ॥

समानासमानजातीयानां पुत्राणां विभागवत्सिद्ध्या, अयुता सुप्यगौण पुत्राणां दायग्रहणव्यवस्थां दर्शयिष्यसेषा स्वरूप तावदाह—

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्सम पुत्रिकासुत ।

श्रेत्रज श्रेत्रजातस्तु सगोत्रेणोत्रेण वा ॥ १२८ ॥

उरसो जात औरस पुत्र, म च धर्मपत्नीज -सवर्णा धर्मविवाहोटा धर्मपत्नी, तस्यां जात औरस पुत्रो मुख्य । तत्सम पुत्रिकासुत तत्सम औरससम पुत्रिकासुत । अत एवौरससम । यथाह वमिष्ट - अत्रानृक्षा प्रदास्यामि शुभ्य कन्यामलङ्कताम् । अस्यां यो जायते पुत्र स मे पुत्रो भवदिति ॥' इति । अथवा पुत्रिकैव सुत पुत्रिकासुत, साऽप्यौरससम एव विप्रत्रयवानामकपत्वात्, माश्रययवानां बाहुक्याद्य यथाह वमिष्ट ( १७।१५ )—'तृतीय पुत्रिकैव' इति । तृतीय पुत्र पुत्रिकैवेत्यर्थः । द्यामुष्पायणस्तु जनकरयौरसादपृष्ट अन्वश्रेत्रोपश्रवात् । 'श्रेत्रज श्रेत्रजातस्तु सगोत्रेणोत्रेण वा । इतरं सपिण्डेन देवरेण चोत्पन्न पुत्र श्रेत्रज ॥ १२८ ॥

भाषा—धर्मपूर्वक विवाहिता सवर्णा पत्नी से उत्पन्न पुत्र औरस दाता है पुत्रिकासुत ( पुत्रों का पुत्र नाती अथवा एकमात्र पुत्रो जो पुत्र ही होनी है ) वस ( औरस पुत्र ) के समान ही होता है । श्रेत्रज और श्रेत्रजात पुत्र सगोत्र या दूसरे सपिण्ड आदि द्वारा उत्पन्न होता है ॥ १२८ ॥

गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गृहजस्तु सुत स्मृत ।

कानीन कन्यकाजातो मातामहसुतो मत ॥ १२९ ॥

गृहज पुत्रो भर्तृगृहे प्रच्छन्न उत्पन्ना हीनाधिकतानीयपुरुषत्रयपरिहारेण पुरवविशापत्वनिश्चयाभावेऽपि स्वर्गैजत्पनिश्चये सति चोद्भव । कानीनस्तु कन्यकायामुत्पन्न पूर्ववत्सवर्णरित मातामहस्य पुत्र । यद्यन्ता सा भयसथा विनृह एव सरिथना अथ वा तदा चोद्भवेव पुत्र । यथाह मनु ( ९।१७२ )—'पितृपेशमनि क वा तु य पुत्र जनयेद्गृह । त कानीन वद नाता वेदु कन्यामसुतवम् ॥' इति ॥ १२९ ॥

भाषा—घर में ( निम्न जाति के पुरुष मत्सर्ग के कारण ) प्रसूत-न रूप से उत्पन्न पुत्र गृहज कहलाता है और कुंवारी कन्या से उत्पन्न कानीन मातामह अर्थात् माता का पुत्र होता है ॥ १२९ ॥

अक्षतायां क्षताया वा जात पौनर्भवः सुतः ।  
दद्यान्माता पिता वा य स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥ १३० ॥

पौनर्भवस्तु पुत्रोऽक्षताया क्षताया वा पुनर्भां सवर्णादुत्पन्न । मात्रा भर्त्रनुज्ञया प्रापिते प्रीते वा भर्तरि वित्रा बोभाभ्यां वा सवर्णाय वरमै दीयते, स तस्य दत्तक पुत्र । यथाह मनु ( ९।१६८ )—‘माता पिता वा दद्याता यमङ्गि पुत्रमापदि । सदृश प्रातिसयुक्त स ज्येष्ठो दत्त्रिम सुत ॥’ इति । आपद्ग्रहणादनापदि न देय, दानुरय प्रतिषेध । तथा एकपुत्रो न देय । ‘न स्ववैक पुत्र दद्यात्प्रतिगृहीयाद्वा’ ( १।५।३ ) इति वसिष्ठस्मरणात् । तथाऽनेकपुत्रमज्ञावेऽपि ज्येष्ठो न देय । ‘ज्येष्ठन जातमात्रेण पुत्री भवति मानव’ ( मनु ९।१०६ )—इति तस्यैव पुत्रकार्यकारणे मुख्यत्वात् । पुत्रप्रतिग्रहप्रकारश्च ‘पुत्र प्रतिग्रहीष्यन्धन्धूनाहूय राजनि चावेद्य निवेदानमध्ये ध्याहतिभिर्हुत्वा अदूरवान्धव धन्धुसनिवृष्ट एव प्रतिगृहीयात्’ इति वसिष्ठेनोक्त । ‘अदूरवान्धवम्’ इत्यस्यन्तदेशभाषाविप्रकृष्टस्य प्रतिषेध । एव क्रीतस्वयदत्तकृत्रिमेवपि योजनीयम्, समागन्वायत्वात् ॥ १३० ॥

भाषा—अक्षता ( पहले पुरुष सम्पर्क से वञ्चित ) या क्षता ( जो पहले यौन सम्बन्ध का अनुभव कर चुकी हो ) सवर्णा पुत्राभू ( पुत्र त्रिवाहिता ) का पुत्र पौनर्भव होता है, जिस पुत्र को माता और पिता किसी को दे देवे वह दत्तकपुत्र कहलाता है ॥ १३० ॥

क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीत कृत्रिम स्यात्स्वयंकृत ।  
दत्तान्मा तु स्वयंदत्तो गर्भे विप्र सदोदज ॥ १३१ ॥

क्रीतस्तु पुत्रस्ताभ्यां मातापितृभ्या मात्रा वित्रा वा विक्रीत पूर्वपुत्र, नयैक पुत्र ज्येष्ठ च वर्जयित्वा आपदि सवर्ण ह्येष । यत्तु मनुनोक्तम् ( ९।१७४ )—‘क्रीणीयाद्यस्त्रपरस्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकत्वात् । स क्रीतक सुगन्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥’ इति, तद्गुणै सदृशोऽसदृशो वति व्याख्यय, न जारया, ‘सजातावेवमय प्रोक्तस्तनयेषु’ ( व्य० १३३ ) इत्युपसंहारात् । कृत्रिम स्यात्स्वयंकृत । कृत्रिमस्तु पुत्र स्वय पुत्रार्थिता धनक्षेत्रप्रदर्शनादि प्रलोभनै पुत्रीकृतो मातापितृविहीन तत्सजावे तत्परतन्त्रत्वात् । दत्तान्मा तु पुत्रो वा मातापितृविहीनस्ताभ्यां स्वता वा तवाह पुत्रो भवामीति स्वयर्दत्तस्य

मुपगत । सहोदजस्तु गर्भे स्थितो गर्भिण्यां परिणीताया य परिणीत स  
बोदु पुत्र ॥ १३१ ॥

भाषा—माता पिता द्वारा ( या जनम से किसी एक द्वारा ) धन लेकर  
दूसरे के हाथ बेचा गया पुत्र क्रीतपुत्र होता है और स्वयं बनाया गया पुत्र  
कृतिम कहलाता है । ( माना पिता से रक्त या हीन होकर ) स्वयं को पुत्र  
के रूप में अर्पित करने वाला दत्तारमा और विवाह के समय जो गर्भ में रहा  
हो वह सहोदज पुत्र कहलाता है ॥ १३१ ॥

उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपचिद्धो भवेत्सुन ।

अपचिद्धो मातापितृभ्यामुत्सृष्टो यो गृह्यते, स ग्रहीतु पुत्र सर्वत्र  
सर्वत्र इत्येव ॥—

एव सुकथामुख्यपुत्राननुकथ्येतेषां दायग्रहणे ऋममाह—

पिण्डद्वौऽशहरश्चैवां पूर्वाभावे पर पर ॥ १३२ ॥

एतेषां पूर्वोक्तानां पुत्राणां द्वादशानां पूर्वस्य पूर्वस्याभावे उत्तर उत्तर  
श्राद्धद्वौऽशहरो धनहरो वदितस्य । औरसपौत्रिकेषममवादे औरसस्यैव धनग्रहणे  
प्राप्ते मनुषवाद्माह ( १।१३४ )— पुत्रिकायां कृताया तु यदि पुत्रोऽनुजायत ।  
समस्तत्र विभाग स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ इति । तथा अन्वेषामपि  
पूर्वस्मिन्-पूर्वस्मिन्-सत्ययुत्तरेषां पुत्राणां चतुर्थांशभागिभ्यमुक्त वसिष्ठेन । 'तस्मि  
श्रवतिगृहीते औरस उत्पद्यत चतुर्थभागभागी स्यादुक्तक' ( १।५।९ ) इति ।  
'दत्तक'ग्रहण क्रीतकृत्रिमादानां प्रदर्शनार्थम्, पुत्रीकरणाविशेषात् । तथा च  
कात्यायन — 'उत्पन्ने स्वीरसे पुत्रे चतुर्थांशहरा सुता । सर्वर्णा असवर्णास्तु  
प्रासाच्छादनभाजना ॥' इति । सर्वर्णा दत्तकश्चेत्रजादपरने स्वस्वीरसे चतुर्थां  
शहरा । असवर्णा कानीनगृहोत्पन्नसहोदजपौनर्भवारसे स्वीरसे सति न चतु  
र्थांशहरा, स्त्रिंशु प्रासाच्छादनभाजना । यदपि विष्णुवचनम्— 'अप्रशरनास्तु  
कानीनगृहोत्पन्नसहोदजा । पौनर्भवश्च नैवेते पिण्डरिक्थांशभागिन ॥'  
इति, तदस्वीरसे सति चतुर्थांशनिषेधपरमेव, औरसाद्यभावे तु कानीनादी  
नामपि सकलविषयधनप्रदणमस्त्वय । 'पूर्वाभावे पर पर' इति वचनात् ॥  
यदपि मनुवचनम् ( १।१६३ )— 'एक स्वीरस पुत्र पिश्यस्य यस्तुन प्रभु । शेषा  
णामानुशस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवतम् ॥' इति, तदपि दत्तकादीनामीरसप्रतिवृत्त्य  
निर्गुण्ये च वदितस्यम् । तत्र क्षेत्रस्य विदेषो दक्षितस्तनैव ( मनु १।१६४ )—

‘पठं तु चेन्नजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्भनात् । औरसो सुतः ।  
 वा ॥’ इति प्रतिकूलस्वनिर्गुणस्वसमुच्चये पठमंशमी भवेत् ॥ १३० ॥  
 निवेक्ष्यम् ॥ यदपि मनुना पुत्राणां पट्टकद्वयमुपन्यसे ( मनुः ११५५ )  
 यस्वमुक्तम्, उत्तरपट्टकस्यादायादान्धवस्वमुक्तम् ( मनुः ११५५ )  
 ‘औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमं पुत्रं च । गूढोत्पन्नोऽपि विद्वश्च दायादा यान्धवाः  
 पट्ट ॥ कानीनश्च सहोदश्च क्लीतः पौनर्भूःस्तथा । स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च पट्टदायादा  
 यान्धवाः ॥’ इति, तदपि स्वपितृसपिण्डसमानोदकानां सनिहितरिक्थहरान्तरा  
 भावे पूर्वपट्टकस्य तद्विषयहरस्यम्, उत्तरपट्टकस्य तु तज्जास्ति । यान्धवत्वं पुनः  
 समानगोत्रस्येन सपिण्डस्येन चोदकप्रदानादिकार्यंकरस्यं वर्गद्वयस्यापि सममेवेति  
 व्याख्येयम् ॥ ( मनुः ११४२ )—‘गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्हरिप्रमः सुतः ।  
 गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति दत्तः स्वघा ॥’ इत्यत्र ‘द्वित्रिम’ग्रहणस्य पुत्र-  
 प्रतिनिधिप्रदर्शनार्थत्वात् । पितृधनहारिस्त्वं तु पूर्वस्य पूर्वस्याभावे सर्वेषाम-  
 वितिष्टम् । ( मनुः ११८५ )—‘न भ्रातरौ न पितरः पुत्रा रिक्थहराः वितुः ।’  
 इत्यौरसव्यतिरिक्तानां पुत्रप्रतिनिधीनां सर्वेषां रिक्थहारिस्वप्रतिपादनपरत्वात् ।  
 औरसस्य तु ( मनुः ११३६ )—‘एक एव औरसः पुत्रः पितृस्य वसुनः प्रभुः ।’  
 इत्यनेनैव रिक्थभाक्त्वस्योक्तत्वात् । ‘दायाद’दादस्य ‘दायादानपि दापयेत्’  
 इत्यादौ पुत्रव्यतिरिक्तरिक्थभाक्त्वस्येन प्रसिद्धत्वाच्च । वासिष्ठादिषु वर्ग-  
 द्वयेऽपि कस्यचिद्द्वयस्येन पाठो गुणवद्गुणवद्विषयो वेदितव्यः । गौतमीये तु  
 ‘पौत्रिके यस्य दशमत्वेन पाठो विजातीयविषयः । तस्मात्स्थितमेतत्पूर्वपूर्वाभावे  
 परः परोऽंशभागिति ॥ यस्तु ( ११८२ )—‘भ्रातृणामेकजातानामेकक्षेत्रे पुत्र-  
 यान्धवेत् । सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुःप्रधीत् ॥’ इति, तदपि भ्रातृपुत्रस्य  
 पुत्रीकरणसंभवेऽन्येषां पुत्रीकरणनिषेधार्थम्, न पुनः पुत्रस्यप्रतिपादनाय ।  
 ‘तस्मिन्ना गौत्रजा यन्तुः—’ ( व्य० १३५ ) इत्यनेन विरोधात् ॥ १३२ ॥

भाषा—माता पिता द्वारा छोड़ा जाने पर जो पुत्र ग्रहण किया जाता है वह अपविद्ध पुत्र होता है । इन पुत्रों में पहले-पहले के अभाव में बादवाले विध्वंस, दान एवं संपत्ति के अग्रग्रहण के अधिकारी होते हैं ॥ १३२ ॥

इदानीमुत्तोपसंहारस्याग्नेन तत्रैव नियममाह—

सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः ।

समानजातीयेष्वेव पुत्रेषु अयं ‘पूर्वाभावे परः पर’ ह्युक्तो विधिः, न भिन्न-  
 जातीयेषु । तत्र च कानीनगूढोत्पन्नसहोदजपौनर्भागां सर्वेषां जन्मद्वारेण,

सुपगत । सद्योऽङ्गस्य गर्भेऽङ्गनामावस्योक्तत्वात् । तथानुलोमजानां मूर्धाव  
 बोद्धुं पुत्र ॥ १३१ ॥ पामप्यभावे क्षेत्रज्ञादीनां दासहरणं बोद्धव्यम् ।

भाष्या—माता विना आगम दासावेऽपि न लभते । यथाह मनु (९।१।५४)  
 दूमरे श्लेषे स्यात्ति संशुक्रः यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत् । नाधिकं दशमाहवाच्युदा  
 कृत्राय धर्मन ॥' इति । यदि सपुत्रो विद्यमानद्विजातिपुत्रो यद्यपुत्रोऽविद्यमान-  
 बद्धजातिपुत्रा वा स्यात्परिमन्वृते क्षेत्रज्ञादिर्वाऽ वा वा सविष्ट शूद्रापुत्राय तद-  
 नाहत्तमांसाधिकं न दद्यादियस्मादेव क्षत्रियावैरयापुत्रयो सवर्णापुत्राभावे  
 सकलधनप्रदण गम्यते ॥

अथुना शूद्रधनविभोगे विदोषमाह—

जातोऽपि दास्यर्थां शूद्रेण कामतोऽशहरो भवेत् ॥ १३३ ॥

मृते पितरि कुर्युस्तं धातरस्तवर्धभागिकम् ।

अध्यातृको हरेत्सर्वं दुहितृणां सुताहते ॥ १३४ ॥

शूद्रेण दास्यामुत्पन्न पुत्र कामत पितुरिच्छया भाग लभते । विदुष्यं  
 तु यदि परिणीतापुत्रा सन्ति तदा ते धातरस्त दासीपुत्र अर्धभागिन कुर्युं,  
 स्वभागादर्थं ददुरित्यर्थं । अथ परिणीतापुत्रा न सन्ति तदा कृत्स्न धनं दासी  
 पुत्रो गृहीयात् यदि परिणीतादुहितरणापुत्रा वा न सन्ति । तत्सजाये स्वर्ध-  
 भागिक एव दासीपुत्र । अथ च 'शूद्र प्रदणाद् द्विजातिना दास्यामुत्पन्न  
 पितुरिच्छयाऽप्यन न लभते नाप्यर्धं, दुहितर एव कुर्यात् । किंश्चिदु-  
 श्चेष्टीयमात्र लभते ॥ १३३-१३४ ॥

भाष्या—मैत्रे समान जाति के पुत्रों के विषय में यह पूर्व और परमाय  
 का उल्लेख किया है । शूद्र द्वारा दासी से भी उत्पन्न पुत्र विना की इच्छा से  
 अनामाही होता है । पितर की श्राद्ध के बाद भाई ( = परिणीता पानी के  
 पुत्र ) उस दासीपुत्र को आधा भाग प्रदान करें । भाई ( परिणीतापुत्र ) न  
 हो और विवाहिता पुत्रिर्वा एव उनके पुत्र न हों तो दासीपुत्र सम्पूर्ण धन  
 ले ले ॥ १३३-१३४ ॥

मुष्पगीमसुता दास्य शृमतीति निरूपितम्, तेनामभावे सर्वेषां दायादन्तम  
 ब्रह्मते—

परनी दुहितरथैव पितरी धातरस्तथा ।

तरसुता गोभजा यन्धुनिष्यसम्राजचारिण ॥ १३५ ॥

१ स्वरूपद्वारेण । २. प्यमापुत्रोऽपि वा भवेत् । ३ विभातोऽपि ।  
 ४ धन गृहीयात् । ५ कृत्स्न धन, दूरत एव । ६ यन्धुनिष्याः सम्राज ।

एवमभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ।

स्वर्थातस्य छपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥ १३६ ॥

पूर्वोक्ता द्वादशपुत्रा यस्य न सन्ति असावपुत्रा, तस्यापुत्रस्य स्वर्थातरस्य पर-  
लोक गतस्य धनभाक् धनग्राही एषां पत्न्यादीनामनुक्रान्तानां मध्ये पूर्वस्य  
पूर्वस्याभाव उत्तर उत्तरो धनभागिति सवन्धः । सर्वेषु सूधावसिक्तदिपुं अनुलो-  
मज्ञेषु सूतादिषु प्रतिलोमज्ञेषु वर्णेषु च ब्राह्मणादिषु भय दायग्रहणविधिर्वायग्रह-  
णक्रमो वेदितव्यः । तत्र प्रथमं परनी धनभाक् । परनी विवाहसकृता 'पायुर्नो  
यज्ञसयोनी' ( अ० ४।१।१३ ) इति स्मरणात् । एकवचनं च जात्यभिप्रायेण ।  
साश्च बह्वश्वश्रेयसातीया विजातीयाश्च तदा यथाश विमन्थ्य धनं गृह्णन्ति । वृद्ध-  
मनुरपि पर-या समग्रधर्मसन्धं धत्ति—'अपुत्रा जयन् मर्तुं' पाठयन्ती व्रते  
स्थिता । परन्वेव ध्यात्परिपन्थं कृत्स्नमश एभेत च ॥' इति । वृद्धविष्णुरपि—  
'अपुत्रधनं परन्वभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे  
मातृगामि' इति । कारवायनोऽपि—'पत्नी पर्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी ।  
तदभावे तु दुहिता यद्यन्ता भरेत्तदा ॥' इति । तथा 'अपुत्रस्याथ कुलजा पत्नी  
दुहितरोऽपि या । तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राश्च कीर्तिताः ॥' इति । बृह-  
स्पतिरपि ( बृह. २५।४८ )—'कुदयेषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृमनाभिषु । अस्तुरस्य  
प्रमीतरस्य परनी वज्रागहारीणी ॥' एतद्विद्वान्नीर्घं वाक्यानि लक्ष्यन्ते ( ना० १३।-  
२५-२६ ) 'भ्रातृणामप्रजा प्रेषाकश्चिच्छेषप्रजेन वा । विभनेर-धनं तस्य  
शेषास्ते स्त्रीधनं विना ॥ मरणं चास्य कुर्वीर-स्त्रीणामाजीवनक्षयात् । रक्षन्ति  
शय्यां मर्तुश्रेयाच्छिष्टपुरितरासु तु ॥' इति परनीव्रतावेऽपि भ्रातृणां धनग्रहणं  
पत्नीनां च भरणमात्रं नारदोक्तम् । गनुना तु ( १।१८५ )—'पिता हरेवपुत्रस्य  
रिषधं भ्रातर एव वा' इत्यपुत्रस्य धनं पितृभ्रातृवैति दर्शितम् । तथा ( मनु १।  
२१७ )—'अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च धृताया पितु  
माता हरेद्वनम् ॥' इति मातुः पितामहाश्च धनसवन्धो दर्शितः । ब्राह्मेणापि—  
'स्वर्थातस्य छपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे पितरौ हरेयाता उषेष्ठा वा परनी'  
इति भ्रातृणां विभोऽवैष्ठावाश्च पर-याः मन्त्रेण धनसवन्धो दर्शितः । वारवायने  
नापि—'विभक्ते सस्थिते द्रव्यं पुत्राभावे पिता हरेत् । भ्राता वा जननी वाऽथ  
माता वा त्रिपितुः क्रमात् ॥' इत्यवसादीनां विद्वद्भ्रातृणां वाक्यानां धारेऽश्रेण  
व्यवस्था दर्शिता—'पत्नी गृह्णीयात्' इत्येतद्वचनजातं विभक्तभ्रातृस्त्रोत्रिपत्यम् ।

१ दिव्यनुलोमज्ञेषु सूतादिषु प्रतिलोमज्ञेषु ब्राह्मणादिषु भय । २. भाक्  
विवाहः । ३ गृह्णन्ति यथा । ४ धनग्रहणम् । ५. स्वार्थकुलजा ।  
६ विद्वान्नि च वाक्यानीदृ ।

सा च यदि नियोगार्थिनी भवति । कुत एतत् नियोगसम्बन्धाया परया धनग्रहण  
न स्वतन्त्राया इति । 'विता द्वेदपुत्रस्य' ( मनु ९।१८५ ) इत्यादिरचनात्तत्र  
व्यवस्थाकारण वक्तव्यम् । नान्यद् व्यवस्थाकारणमस्ति इति गौतमवचनाच्च  
( २९।५।६ ) 'विण्डगोत्रर्विसम्बन्धा रिक्थ भजेरन् स्त्री वाऽनपारस्य बीज लिप्सेत्'  
इति । अस्यार्थ — विण्डगोत्रर्विसम्बन्धा अनपारस्य रिक्थ भजेरन् स्त्री वा रिक्थं  
भजेत् यदि बीज लिप्सेतेति । मनुवपि ( ९।१४६ )—'धन यो विभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य  
स्त्रियमेव वा । सोऽपत्य भ्रातुरस्याद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥' इति । अनेनैतद्दर्श  
यति विभक्तधनेऽपि भ्रातुर्युपरतेऽपत्यद्वारेणैव परया धनसम्बन्धो नान्यथेति ।  
तथाऽविभक्तधनेऽपि ( मनु ९।३२० )—'कनीयान्जयेष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पाद्य  
द्यद्दि । समस्तत्र विभाग स्यादिति धर्मो व्यवस्थित ॥' इति । तथा वसिष्ठोऽपि  
( १७।४८ ) 'रिक्थलोभाष्ठास्ति नियोग' इति रिक्थलोभास्त्रियोग प्रतिषेधयन्  
नियोगद्वारक एव परया धनसम्बन्धो नान्यथेति दर्शयति । नियोगाभावेऽपि  
परया भरणमात्रमेव नारदवचनात् 'भरण चास्य कुवीरन्स्त्रीणामाजीवनवयात्'  
इति । योगीश्वरेणापि किल वक्ष्यते ( ४५० १४२ )—'अपुत्रा योपिनश्रीषा भर्तव्या  
साधुवृत्तप । निर्वाहया स्वभित्तिरिष्य प्रतिकृष्टास्त्यैव च ॥' इति । अपि च,  
द्विजातिधनस्य यथार्थत्वात् स्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकाराद्भनग्रहणमयुक्तम् । यथा च  
केनापि स्मृतम्—'यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नं तत्रानधिकृतास्तु ये । अरिक्थमाजसने सर्वे  
प्रासाच्छादतभाजना ॥ यज्ञार्थं त्रिहितं वित्तं तस्मात्तद्विनियोजयेत् । स्थानेषु धर्म-  
क्षुष्टेषु न स्त्रीमूर्त्तविधर्मिषु ॥' इति —तदनुपपन्नम्, 'पानी दुहितर' ( ४५० १३५ )  
श्लोकप्र नियोगस्याप्रतीतेरप्रस्तुतत्वाच्च । अपि चेदमत्र वक्तव्यम्,—परया धनग्रहणे  
नियोगो वा निमित्तं तदुत्पन्नमपारस्य वा । तत्र नियोगस्यैव निमित्तं अनुत्पादित-  
पुत्रया अपि धनसम्बन्धो प्राप्नोति । उक्तस्य च पुत्रस्य धनसम्बन्धो न प्राप्नोति  
अथ सदपरस्यैव निमित्तत्वं, तथा सति पुत्रस्यैव धनसम्बन्धात्प्राप्तीति  
नारदवचनम् ॥

अथ स्त्रीणां पतिद्वारको धनसम्बन्धो पुत्रद्वारको वा नान्यथेति मतम्,—तद  
व्यसत् ; ( मनु ९।१९४ )—'अप्यस्यैवावहृनिष्ठं दत्तं च प्रीतिर्कर्मणि ।  
भ्रूमावृत्तिवृत्तं पतिवध स्त्रीधन स्मृतम् ॥' इत्यादिविरोधान् । किंच, सर्वथा  
पुत्राभावे 'पत्नी दुहितर' इत्यारब्धम् । तत्र नियुक्ताया धनसम्बन्धो यद्वा चेद्र-  
जस्यैव धनसम्बन्धो उक्तो भवति । स च प्रागेवाभिहित इति 'अपुत्रप्रकरणे पत्नी'  
ति नारदवचनम् । अथ विण्डगोत्रर्विसम्बन्धा रिक्थ भजेरन् स्त्री वाऽनपारस्य बीज  
लिप्सेत्' ( गौ० २९।५ ) इति गौतमवचनाच्चियुक्ताया धनसम्बन्ध इति । तद-

प्यसत्,—नहि यदि धीर्जं लिप्सेत तदाऽनपत्यस्य स्त्री धनं गृह्णीयादित्ययमर्थो-  
ऽस्मात्प्रतीयते । किंतु 'अनपत्यस्य धनं विण्ढगोश्रयिसंबन्धा भजेरस्त्री वा सा  
स्त्री धीर्जं वा लिप्सेत संबता वा भवेत्' इति तस्या धर्मांतरोपदेशः; 'वा'शब्दस्य  
पदान्तरवचनात्वेन दशार्थाप्रतीतिः । अपि च संयताया एव धनग्रहणं युक्तं, न  
नियुक्तायाः स्मृतिलोकनिन्दनायाः । 'अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते  
रिधता । पश्येव दद्यात्विण्ढं कृत्स्नमशं लभेत च ॥' इति संयताया एव धन-  
ग्रहणमुक्तम् ॥

तथा नियोगश्च निन्दितो मनुना (१।६४)—'नान्यस्मिन्विधया नारी नियो-  
क्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन् हि नियुजाना धर्मं ह्यपुः सनातनम् ॥' इत्यादिना  
यत्तु वसिष्ठवचनम् ( १७।६५ ) 'रिषयलोभाद्धारित नियोगा' इति, तद्विभक्तं  
संस्मृतिनि वा भर्तारि प्रेते तस्या धनसंबन्धो नारतीति स्वापायस्य धनसंबन्धार्थं  
नियोगो न कर्तव्य इति व्याख्येयम् । यदपि नारदवचनम् (१३।२६)—'भरणं  
चास्य कुर्वीरस्त्रीणामाजीवनस्तयात्' इति, तदपि 'संस्मृतीनां तु यो भागरतेपामेव  
स इत्येते' इति 'संस्मृतीनां प्राप्तुनस्वात्तस्त्रीणामनपत्यानां भरणमात्रप्रतिपादन-  
परम् । नच 'भ्रातृणामप्रजाः प्रेयात्' (ना० १३।२४) इत्येतस्य संस्मृतिविषयत्वे  
'संस्मृतीनां तु यो भाग' ( ना० १३।२४ ) इत्यनेन वीरवश्यमाशङ्कनीयम् ।  
यतः पूर्वोक्तविपरणेन स्त्रीधनस्याविभाज्यत्वं तस्त्रीणां च भरणमात्रं विधीयते ।  
यदपि 'अपुत्रा योपितर्भ्रूयाम्' (प्य० १४०) इत्यादिवचनं, तत् बलीयादिसौवि-  
पयमिति 'यप्यते । यत्तु 'द्विजातिधनस्य यज्ञार्थं पारस्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकाराद्भ्र-  
ग्रहणमयुक्तमिति,—तदसत्; सर्वस्य द्रव्यजातस्य यज्ञार्थत्वे दानहोमाद्यसिद्धेः ।  
अथ यज्ञाद्भव्य धर्मोपलक्षणत्वाद्दानहोमादीनामपि धर्मत्वात्तदर्थत्वमविरुद्धमिति  
मतम् । एवं तदर्थकामयोर्धनसाप्यवोरमिद्विरेव स्यात् । तथा सति 'धर्मार्थका-  
मान्त्वे काले यथाशक्ति न द्यापयेत्' (आ० ११५) । तथा 'न पूर्वोक्तमप्यन्दिनापरा-  
ज्ञानफलान्नुपार्थयाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः' (गी० १।२४) । तथा 'न तथैतानि  
दाक्यन्ते संनियन्तुमसेवया' ( मनुः २।९६ ) इत्यादिवाञ्छवक्तव्यतात्तममनुयचन-  
विरोधः । अपि च धनस्य यज्ञार्थत्वे 'हिरण्य धार्थम्' इति हिरण्यसाधारणस्य  
कृत्वर्थतानिराकरणेन पुत्र्यार्थत्वमुक्तं तस्यस्युद्धृतं स्यात् । किंच यज्ञशब्दस्य धर्मो-  
पलक्षणपरात्वे स्त्रीणामपि पूर्वधर्माधिकाराद्भ्रणग्रहणमुक्ततरम् । यत्तु पारतन्त्र्यवचनं  
'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनुः १।३) इत्यादि तदनु पारतन्त्र्य, धनस्वीकारे तु  
को विरोधः ॥ अथ तर्हि 'यज्ञार्थं द्रव्यमुपसम्' इत्यादिवचनम् ? उच्यते—  
'यज्ञार्थमेवाजितं यद्भ्रनं यद्यत् एव निगोक्तस्य पुत्रादिभिरपी'त्येवं परं तत् ।—



‘यज्ञार्थं लब्धमददज्ञास काकोऽपि वा भवेत्’ (भा० १२७) इति दोषश्रवणस्य पुत्रादिष्वैष्यविशेषात् । यद्यपि कार्यायनेनोक्तम्—‘अदौषिकं राजगामि योपिद्रु स्यौर्ष्वदेहिकम् । अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत् ॥’ इति । अदौषिकं दद्यादादरहितं यद्धनं तद्गामि राज्ञो भवति, योपिद्रुश्रौर्ष्वदेहिकमपास्य, नारदोपिद्रुश्रौर्ष्वदेहिकं धनितं श्राद्धाद्युपयुक्तं चापरस्य परिहृत्य राजगामि भवतीति सय-ध । अस्यापवादो उत्तरार्धे । श्रोत्रियद्रव्यं च योपिद्रुश्रौर्ष्वदेहिकमपास्य श्रोत्रियाद्योपपादयेदिति तदप्यवरुद्धस्त्रीविषयम्; योपिद्रुग्रहणात् । नारदवचनं च (१३१५२)—‘अन्यत्र प्राज्ञाणां किं तु राजा धर्मपरायण । तस्त्रीणां जीवनं दद्यादेव दायविधिं स्मृतं ॥’ इत्यवरुद्धस्त्रीविषयमेव । स्त्रीशब्दग्रहणात् । इदं तु ‘पत्नी शब्दं दृढाया सयताया धनग्रहणमविरुद्धम् । तस्माद्भिन्नाससृष्टिं यपुत्रे स्वयति पत्नी धनं प्रथमं गृह्णातीत्यथमर्थं निदो भवति । विभागस्योक्त्यात्ससृष्टिनां तु वक्ष्यमाणत्वात् । एतेनारदधनविषयस्य श्रीकौरादिभिश्चत निरस्तं वेदितव्यम् । तथा स्त्रीरसेषु पुत्रेषु सस्वपि जीवद्भिन्नाये अजीवद्भिन्नाये च पत्न्या पुत्रसमांशग्रहणमुक्तम् (व्य० ११५)—‘यदि कुर्वांसमानं ज्ञान् पत्न्य कार्या समांशिका’ इति । तथा—‘पितरुर्ष्वे विभजतां माताप्यश सम हरेत्’ इति च, तथास्यपुत्रस्य स्वर्दातस्य धनं पत्नी भरणदतिरिक्तं न लभत इति ध्यामोहमाद्यम् । अथ ‘पत्न्य कार्या समांशिका (व्य० ११५) इत्यत्र ‘माताप्यश सम हरेत्’ (व्य० १२३) इत्यत्र च जीवनोपयुक्तमेव धनं स्त्री हरतीति मतं—तदसत्, ‘अश शब्दस्य ‘सम शब्दस्य चानर्थक्यप्रसङ्गात् । स्यान्मतम्—बहुधनं जीवनोपयुक्तं धनं गृह्णाति अल्पे तु पुत्रांशसमांशं गृह्णातीति । तस्य न विधिवैषम्यप्रसङ्गः । तथा हि ‘पत्न्य कार्या समांशिका’ ‘माताप्यश सम हरेत्’ इति च बहुधने जीवनमाश्रोपयुक्तं वाक्यात्तरमपेक्ष्य प्रतिपादयति, अल्पधने तु पुत्रांशमममश प्रतिपादयतीति । ‘यथा चातुर्मास्येषु ‘द्वयो प्रगथित’ इत्यत्र पूर्वपक्षिणा सौमिकप्रणयनातिदेशे हेतुत्वेन प्राप्ताया उत्तरवद्या ‘न वैश्वदेवे उत्तरवदिमुपकरित’ ‘न शुनासीरीय’ इत्युत्तरवेदिप्रतिषेधे दर्शिते रादागतैकदेशिना ‘न सौमिकप्रणयनातिदेशप्राप्ताया उत्तरवद्या प्रथमं सनयो परं गोरथ प्रतिषेधं किंतुशत्रु वपन्तीति प्राकरणिषेन वचनेन प्राप्ताया उत्तरवद्या प्रतिषेधोऽपमिश्रमिहिते पुनः पूर्वपक्षिणाः ‘उपात्र वपति’ इति प्रथमात्समयो परं गोर प्रतिषेधमपेक्ष्य पाश्चिमीमुत्तरवेदिं प्रोपयति । मध्यमयोरस्तु निरपेक्षमवनिशयदुत्तरवदिं प्रापयति (जे० ७।३।२३-२५) इति विधिवैषम्यं दर्शितम् ।

१. दिव्यविशेषात् । २ आदायक । ३ उपवाद । श्रोत्रिय  
 ४ श्रीकौरादिभि । ५ तथा पत्न्य । ६ आचनमिति मत । ७  
 ८ तूपाच, तूपात्र । ९ प्रतिपादयति ।

राज्ञान्तेऽपि विधिद्वैपद्यभयाद्यप्रमथोत्तमयो पर्वणोरुत्तरवेदिप्रतिषेधो निर्यानु-  
चादो 'द्वयो म्रणयन्ति' इत्यथाद्यर्थवादपर्यालोचनया 'उपात्र वपन्ति' इति मध्य-  
मयोरेव वह्णप्रघाससाकमेधपर्वणोरुत्तरवेदि विधत्त इति दर्शितम् । यदपि  
मतम् ( मनु १।१८५ )—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थ भ्रातर एव वा' इति  
मनुस्मरणात्, तथा—स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्य तदभावे पितरौ  
हरेर्यतां ज्येष्ठा वा परनी' इति शङ्खस्मरणाच्च भूपुत्रस्य धन भ्रातृगामीति  
प्राप्त, 'भरण चास्य कुर्वीर-स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' ( ना० १३।२६ ) इत्यादि-  
वचनाच्च भरणोपयुक्तं धन परनी एमत इत्यपि स्थितम् । एव स्थिते बहुधने  
अपुत्रे स्वर्याति भरणोपयुक्त परनी गृह्णाति, शेष च भ्रातरः । यदा तु परनीभरण-  
मात्रोपयुक्तमेव द्रव्यमस्ति ततो न्यून वा तदा किं पर-येव गृह्णायुत भ्रात-  
रोऽपीति विरोधे पूर्वबलीयस्त्वज्ञापनार्थं 'परनी दुहितर' इत्यारब्धमिति, तद्  
प्यत्र भगवानाचार्यो न मृष्यति । यत् ( मनु १।१८५ )—'पिता हरेदपुत्रस्य  
रिक्थ भ्रातर एव वा' इति विकल्पस्मरणात्नेदं क्रमपर वचनम्, अपि तु  
धनप्रहणेऽधिकारप्रदर्शनमात्रपरम् । तच्चासत्यपि पन्यादिगणे घटत इति  
प्याचवचे । शङ्खवचनमपि सर्वैश्वर्याविवेकमिति । अपि चारवविषयस्वभ्रा-  
तृवचनात्प्रकरणाद्वा नावगम्यते । 'धनभागुत्तरोत्तरः' ( व्य० १३६ ) इत्यस्य  
च 'परनी दुहितर' इति विषयद्वये वाक्यान्तरमपेक्षारूपधनविषयत्वम्,  
पित्रादिषु तु धनमात्रविषयत्वमिति पूर्वोक्त विधिप्रैषः तदवस्थमेवेति । यस्तु  
हारीतवचनम्—विधवा यौवनस्था चे-नारी भवति कर्कशा । धायुष उप-  
णार्थं तु वातस्य जीवन तदा ॥' इति,—तदपि शङ्कितस्यभिचाराया सकल-  
धनप्रहणनिषेधपरम् । अस्मादेव वचनानुनाशङ्कितस्यभिचाराया सकलधन-  
प्रहण गम्यते । पुनर्देयाभिदेशोक्त शङ्केन 'ज्येष्ठा वा परनी' इति । ज्येष्ठा  
गुणज्येष्ठा अनाशङ्कितस्यभिचारा, सा सकल धन गृहीत्याऽन्या कर्कशामपि  
मातृपालयतीति सर्वमनवद्यम् । तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यावस-  
ष्टिमो धन परिणाता स्त्री सयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम् ।

तदभावे दुहितरः । 'दुहितर' इति यद्वचन समानजातीयानामसमान-  
जातीयानां च समविषयमात्रापर्यधम् । तथा च कात्यायन —'परनी भर्तुर्धनहरी  
या स्यादव्यभिचारिणी । तदभावे तु दुहिता यद्यन्हा भवत्तदा ॥' इति वृहस्प-  
तिरपि (२।५।५५ ५६)—'भर्तुर्धनहरी परनी तां विना दुहिता सृज्या । अत्राद्  
द्वास्तभवति पुत्राद् दुहिता नृगाम् ॥ तस्मात्पितृधनस्यैव यद्य सृष्टं त मानव ॥'

१ हरेती । २ अपुत्रधन । ३ अशङ्कात् । ४ धिकारमात्रप्रदर्शनपर ।  
५ सार्वविषय । ६ वचनादशङ्कित ।

इति । तत्र चोष्ठानूदासनवायेऽनूढैव गृह्णाति । 'तदभावे तु दुहिता यद्यनूदा भवे-  
त्तदा' इति विशेषस्मरणात् । तथा प्रतिष्ठनाप्रतिष्ठानां समवाये अप्रतिष्ठितैव तद-  
भाव प्रतिष्ठिता 'स्त्रीधन दुहितृणामप्रचानामप्रतिष्ठितानां च' (गौ २१।६) इति  
गौतमवचनस्य पितृधनेऽपि समानत्वात् । न चैतदुत्रिकात्रिपयमिति मन्तव्यम् ।  
'तत्सम पुत्रिकासुत' इति पुत्रिकायास्तरसुनस्य चौरससमत्वेन पुत्रप्रकरणेऽभिधाना-  
त् । 'च'शब्दाद्दुहितृभावे दौहित्रो धनभाक् । यथाह विष्णु — 'अपुत्रपौत्रसताने  
दौहित्रा धनमाप्नुयु । पूर्वेषां तु स्वभाकारे पौत्रा दौहित्रिका मता ॥' इति मनु-  
रपि (१।१३६) — अहृतो वा कृता वाऽपि य विन्देत्सदशास्तुतम् । पौत्री  
मातामहस्तेन दद्यात्पिण्ड हरेद्भनम् ॥' इति ॥

तदभावे पितरौ मातापितरौ धनभाजौ । यद्यपि युगपदधिकरणवचनतायां  
द्वन्द्वस्मरणात् तदपरादत्वादेकशेषस्य धनग्रहणे पित्रो क्रमो न प्रतीयते, तथापि  
विग्रहवाक्ये 'मातृ'शब्दस्य पूर्वनिपातादेकशेषभावपक्षे च मातापितराविति  
'मातृ'शब्दस्य पूर्व श्रवणात् पाठक्रममादेवार्थक्रममावगमाद्धनसव-धेऽपि क्रमापेक्षायां,  
प्रतीतक्रमानुरोधेनैव प्रथम माता धनभाक्, तदभावे पितेति गम्यते । किञ्च  
पिता पुत्रान्तरेष्वपि साधारण, माता तु न साधारणीति प्रत्यासत्त्यतिशयात्  
'अनन्तर सविष्ठाक्षरतस्य तस्य धन भवेत्' (मनु १।१८७) इति वचनान्मा-  
तुरेव प्रथम धनग्रहण युक्तम् । नच सविष्ठेष्वेव प्रत्यासत्तिर्नियामिका, अपि तु  
समानोदकादिष्वप्यविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिकेश्वरमादेव  
वचनाद्वगम्यत इति । मातापित्रोर्मातुरेव प्रत्यासत्त्यतिशयाद्ग्रहण युक्ततरम् ।  
तदभावे पिता धनभाक् ।

विग्रभावे भ्रातरो धनभाज । तथा च ( मनु १।१८५ ) — 'पिता हरेदपु-  
त्रस्य रिक्थ भ्रातर एव वा' इति । यत्पुनर्धरिश्चरेणोक्तम् ( १।२१७ ) — 'अन-  
पायस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्  
नम् ॥' इति मनुवचनाऽऽजीवस्यपि पितरि मातरि वृत्तायां पितुर्माता पितामही  
धन हरेत् पिता । यत् पितृगृहीत धन विजातीयेष्वपि पुत्रेषु गच्छति, पितामही-  
गृहीत तु सजातीयेष्वेव गच्छतीति पितामह्येव गृह्णातीति । एतदप्याचार्यो नानु-  
मन्यते । विजातीयपुत्राणामपि धनग्रहणस्योक्तत्वात्, 'चतुश्चिद्वेकभागा स्यु'  
( १५० १२५ ) इत्यादिनेति । यत्पुन ( मनु १।१८९ ) — 'अदार्यं ब्राह्मणस्य  
राज्ञः निरवमिति स्थिति' इति मनुस्मरण सन्तृपामिप्राय, मनु पुत्रामिप्रायम् ।  
भ्रातृष्वपि सोदरा प्रथम गृह्णीयुः भिसोदराणां मात्रा त्रिपत्नीत् । 'अनन्तर  
सविष्ठाक्षरतस्य तस्य धन भवेत्' ( मनु १।१८७ ) इति स्मरणात् ।

सौदारानामभावे भिक्षोदरा धनभाज , भ्रातृणामप्यभावे तत्पुत्रा पितृश्रमेण धनभाज । भ्रातृभ्रातृपुत्रसमवाये भ्रतृपुत्राणामनधिकार , भ्रात्रभावे भ्रातृपुत्राणामधिकारवचनात् , यदा स्वपुत्रे भ्रातरि स्वयति सद्भातृणामविशेषेण धनसंबन्धे जाते भ्रातृश्रमविभागस्यानेव यदि कश्चिद्भ्राता गृहतरतदा तत्पुत्राणा पितृतोऽधिकारे प्राप्ते तेषा भ्रातृणा च विभज्य धनग्रहणे 'पितृतो भागवल्पना' (९५० १२० ) इति युक्तम् ॥

भ्रातृपुत्राणामप्यभावे गोश्रजा धनभाज । गोश्रजा पितामही सपिण्डा-समानोदकाश्च । तत्र पितामही प्रथम धनभाक् । 'मातर्यपि च वृत्ताया पितुर्माता धन हरेत्' ( मनु ९।२।१७ )—इति मात्रनन्तर पितामहाः धनग्रहणे प्राप्ते वित्रादीनां भ्रातृसुतपर्यन्ताना बद्धकर्मत्वेन मध्येऽनुपवेशाभावात् , 'पितुर्माता धन हरेत्' इत्यस्य वचनस्य धनग्रहणाधिकारप्राप्तिमात्रपरत्वाद्दुश्चर्ये तत्सुतानन्तर पितामही गृह्णातीत्यविशेषः ॥ पितामहाश्चाभावे समानगोश्रजा सपिण्डा पितामहादयो धनभाज , भिक्षगोश्रजाणां सपिण्डानां 'बन्धु'शब्दन ग्रहणात् । तत्र च पितृसन्तानाभावे पितामही पितामहः पितृष्पास्तत्पुत्राश्च श्रमेण धनभाज । पितामहसन्तानाभावे प्रपितामहा प्रपितामहस्तत्पुत्रास्तत्सुतयश्चैत्येवमासप्तमासमानगोश्रजाणां सपिण्डानां धनग्रहणं वेदितव्यम् । तेषामभावे समानोदकानां धनसंबन्धे ते च सपिण्डानामुपरि सप्त वेदितव्याः । जन्मनामज्ञानावचिका वा । यथाऽऽह बृहन्मनु —'सपिण्डता तु पुरुषे सहमे विनियतते । समानोदकभावरतु निवर्तेतावत्पुत्रंशात् ॥ ज-मनाम्नो रगृतेरेके तत्पर गोश्रमुच्यते ॥' इति ।

गोश्रजाभावे बन्धवो धनभाज । बन्धवश्च त्रिविधा —भारमबन्धव , पितृ-बन्धव , मातृबन्धवश्चेति । यथोक्तम्—'भारमपितृत्वसु पुत्रा भारममातृत्वसु सुता । भारममातृत्वसु पुत्रा विज्ञेया भारमबन्धवा ॥ पितृ पितृत्वसु पुत्रा पितृमातृत्वसु सुता । पितृमातृत्वसु पुत्रा विज्ञेयाः पितृबन्धवा ॥ मातृ पितृत्वसु पुत्रा मातृमातृत्वसु सुता । मातृमातृत्वसु पुत्रा विज्ञेयाः मातृबन्धवा ॥' इति ॥ तत्र चान्तरङ्गत्वात्प्रथमसामबन्धवो धनभाजस्तदभाज पितृबन्धवस्तद्भावे मातृबन्धव इति श्रमो यदित्येव । य-धूनामभावे आचार्याः, तद्भावे शिष्य —'पुत्राभावे यः प्रयामश्च सपिण्ड , तद्भावे आचार्य , आचार्याभावेऽ तेषासी' इत्यापरतश्चरणात् ॥

शिष्याभाय समस्तधारी धनभाक् । यत्न सहैकरमादाचार्यादुपनयनात्पयन-सदपर्यन्तानप्राप्ति , स समस्तधारी । तद्भावे प्राङ्गणद्रव्य य. कश्चित् श्रोत्रियो गृही-यात् 'श्रोत्रिया प्राङ्गणरवामपरस्य रिषध भवेत्' (२५।४१) इति शीतमर-णात् । तद्भावे प्राङ्गणमाश्रम् । यथाऽऽह मनुः (९।१८८)—'सर्वेषामप्यभावे तु

ब्राह्मणा रिक्थभागिन । प्रैविषा शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न होयते ॥ इति ।  
न कदाचिदपि ब्राह्मणद्रव्य राजा गृह्णीयात् ; 'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा निरप्य  
मिति स्थिति' ( ९।१८९ ) इति मनुवचनात् । नारदेनाप्युक्तम्—'ब्राह्मणार्थस्य  
तस्मादो दायादश्चेत् कश्चन । ब्राह्मणायैव दातव्यमेतस्वी स्यान्नृपोऽन्यथा ॥'  
इति ॥ अग्निादिधन समहचारिपर्य-तानामभावे राजा हरेत् । न ब्राह्मण ।  
यथाऽऽह मनु ( ९।१८९ )—'इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृप'  
इति ॥ १३५-१३६ ॥

भाषा—जिसके पूर्वाक्त वारह प्रकार के पुत्रों में से किसी भी प्रकार का  
पुत्र न होवे उस पुत्रहीन के मर जाने पर पत्नी, पुत्रियाँ, माता पिता,  
भाई, भाइयों क पुत्र, गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति, धन्यु, शिष्य भीर ब्रह्मचारी में  
पहले पहले के न होने पर उसक बाद वाले धन के अधिकारी होते हैं । यह  
विधि सभी वर्णों क लिये है ॥ १३५-१३६ ॥

पुत्रः पौत्राश्च दाप्य गृह्णन्ति तदभावे पत्न्यादप्य ह्युक्तः इदानीं तदुभयाप  
चादमाह—

यानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिन ।

क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिन ॥ १३७ ॥

यानप्रस्थस्य यतेर्ब्रह्मचारिणश्च क्रमेण प्रतिष्ठोमक्रमेणाचार्यं, सच्छिष्यं,  
धर्मभ्रात्रेकतीर्थी च रिक्थस्य धनस्य भागिन । ब्रह्मचारी नैष्ठिक । उपकुर्वा  
णस्य तु धन माप्राप्य एव गृह्णन्ति । नैष्ठिकस्य तु धन तदपवादत्वेनाचार्यो  
गृह्णातीत्युच्यते । यतेस्तु धन सच्छिष्यो गृह्णाति । सच्छिष्य पुनरप्यारमणाश्च-  
अवगधारणतदर्थास्तुष्टानश्चम कुर्वन्तस्याचार्यादेरपि भागानर्हन्वात् । यानप्रस्थस्य  
धन धर्मभ्रात्रेकतीर्थी गृह्णाति । धर्मभ्राता प्रतिपन्नो भ्राता, पुत्रतीर्थी एकाधमी,  
धर्मभ्राता चापार्येकतीर्थी च धर्मभ्रात्रेकतीर्थी । एतेषामाचार्यादीनामभावे पुत्रा  
दिवु मरस्वयेकतीर्थेयं गृह्णाति । मनु 'अनशारत्वाध्रमान्तरगता' इति वसिष्ठ  
स्मरणादाध्रमा-न्तरगतानां रिक्थसवन्ध एव नास्ति कुतस्तद्विभाग १ मच्च नैष्ठि  
कस्य स्वाजितधनसर्वम्भो युक्त, प्रतिप्रहादिनिवेधात् । 'अनिचयो भिक्षु' ( ३।७ )  
इति गौतमस्मरणात् । भिक्षोरपि न स्वाजितधनसवन्धसम्भव । उच्यते—यान-  
प्रस्थस्य तावत्—'अह्ना मासस्य पणो वा तथा सवत्सरस्य वा । अर्थस्य  
निचयं कुर्यात्कृतमाशुभे जयेत् ॥' ( प्राय ७ ४७ ) इति वचनाद्भनसवन्धो-  
ऽस्तपच । यतेरपि—'क्रीडीनाच्छादनार्थं यो वासोऽपि बिभृदात्तथा । योगसमा-

१ सवन्ध प्रतिप्रहादिः । २ धनसम्भय । ३ हि वासोऽपि  
विभृदात्तथा ।

भेदांश्च गृहीयात्पादुके तथा ॥ इत्यादिवचनाद्ब्रह्मपुस्तकसम्बन्धोऽस्त्येष, नैष्ठि-  
कस्यापि शरीरयात्रार्थं च्छादिसम्बन्धोऽस्त्येवेति तद्विभागकथनं युक्तमेव ॥१३७॥

भाषा—वानप्रस्थ, यति और ब्रह्मचारी की सम्पत्ति का अधिकारी क्रमशः धर्मभ्राता और एकतीर्थी ( उसी भाश्रम में गियास करने वाला धर्म-  
भ्राता), सन्निध्य (अप्यारमशास्त्र में निपुण शिष्य) और आचार्य होते हैं ॥१३७॥

इदानीं स्वर्गांतरस्य पुत्रस्य परन्वाद्यो धनभाज इ युक्तस्यापवादमाह—

### संस्मृतिस्तु संसृष्टी—

विभक्त धनं पुनर्मिथीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति संसृष्टी; संसृष्टत्वं च न येन  
केनचित्, किंतु पित्रा भ्रात्रा पितृ-पुत्र वा, यथाऽऽह मृदरपति ( २५१७२ )—  
'विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः । पितृ-पुत्रेणाधवाः प्रीत्या स तस्य  
संसृष्ट उच्यते ॥' इति । तस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशः विभाग विभागकाले भवि-  
ज्ञातगर्भायाः भार्यायां पश्चाद्दुःपक्षस्य पुत्रस्य संसृष्टी दद्यात् । पुत्राभावे संसृष्टये-  
षापहरेद् गृहीयात्, न परन्वादि ॥

'संसृष्टिनस्तु संसृष्टा' इत्यस्यापवादमाह—

—सोदरस्य तु सोदरः ।

दद्यादपहरेच्छांशं जातस्य च मृतस्य च ॥ १३८ ॥

संसृष्टिनः संसृष्टीश्चनुवर्तते । अतश्च सोदरस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशः सादर  
संसृष्टी अनुजागस्य सुतस्य दद्यात्, तदभावे अपहरेदिति<sup>१</sup> पूर्ववत् सम्बन्धः । एव  
च सादरासोदरसंगे सोदरसंसृष्टिनो धनं सोदरः एव संसृष्टी गृह्यति न भिन्नोदरः  
संसृष्टयतीति पूर्वोक्तस्यापवादः ॥ १३८ ॥

भाषा—विभाजन के बाद पुनः एक साथ धन मिलाकर रहने वाले  
संसृष्टी कहलाते हैं संसृष्टी का धन संसृष्टी लेता है। सोदर (सगे) भाई  
का धन उसके मरने पर सोदर भाई को ही मिलता है। सोदर संसृष्टी की  
मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र जन्म ले तो उसे उसका अंश दे, यदि कोई  
पुत्र न हो तो उस धन को ले लेवे ॥ १३८ ॥

इदानीं संसृष्टिग्यपुत्रे स्वर्गति संसृष्टिनो भिन्नोदरस्य सोदरस्य चासंसृष्टिनः  
मज्जाधे, करस्य धनग्रहणमिति विन्यायां द्वयोर्निर्भयः ग्रहण कारणमाह—

अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्या धनं दरेत् ।

असंसृष्टर्यापि योऽऽद्यात्संसृष्टो नान्यमावृज ॥ १३९ ॥

१ च सोदरः । २ संसृष्टिगः धनं संसृष्टयनुजातस्य । ३ त्रिंशति  
सम्बन्धः । ४ भिन्नोदरस्यासंसृष्टिनः सोदरस्य च । ५ वा दद्यात्,  
चाद्यात् । ६ नान्यमावृजः ।

अन्योदयं सापत्नो भ्राता ससृष्टी धनं हरेत्, न पुनरन्योदयो धनं हरेत् ससृष्टी । अनेनान्यव्ययतिरेकान्ययामन्योदयस्य ससृष्टित्वं धनप्रदणे कारणमुक्तं भवति । अससृष्टीत्येतदुत्तरेणापि सवप्यते । अतश्चाससृष्टवपि ससृष्टिनो धनमादधीत । कोऽसाविरयत आह—ससृष्ट इति । ससृष्ट एकोद्वरससृष्ट । सोद्वर इति यावत् । अनेनाससृष्टस्यापि सोद्वरस्य धनप्रदणे सोद्वरस्य कारणमुक्तं, 'संसृष्ट' इत्युत्तरेणापि सवप्यते । तत्र च ससृष्ट ससृष्टीत्यर्थं । नान्यमातृज । अत्र 'एव' शब्दाध्याहारेण व्याख्यातं कार्यम्, ससृष्टवप्यन्यमातृज एव ससृष्टिनो धनमादधीतेति एव चाससृष्टवपि साऽऽद्यादित्यपि साऽऽध्ययगात् 'ससृष्टो नान्यमातृज एव' इत्यवधारणनियेषोऽसाससृष्टसोद्वरस्य ससृष्टंभिन्नोद्वरस्य च विभज्य प्रदणं कर्तव्यमित्युक्तं भवति । द्वयोरपि धनप्रदणकारणस्यैकैकस्य सजायात् । एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना ( १।२।१० )—'विभंक्ता मह जीवन्तो विभजेरभ्युत्थंदि' इति ससृष्टिविभागप्रकरणे 'येषां उपेष्ट कनिष्ठो वा ह्यियेतांसाप्रदानतः । त्रियेताम्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥ सोदयो विभजेरुत्तमसमेत्य सहिता समम् । भ्रातरो यं च ससृष्टा भगिन्यस्य सतामय ॥ (१।२।१।२।३) इति वदता । यत्र भ्रातृणो ससृष्टिनो मध्य उपेष्ट कनिष्ठो मध्यसो वाऽसाप्रदानतोऽसाप्रदान । सार्वभिकृत्कस्तमि । विभागकाल इति यावत् । द्रापेत र्वासात् अरयत आधमात्तारपरिप्रेतेन प्रहृष्टावादिना वा त्रियेत वा तस्य भागो न लुप्यते । अतः पृथगुद्वरणीयो न ससृष्टिन एव शृङ्गीपुरित्वर्थः । तस्योद्वरस्य विनियोगमाह—सोदयो विभजेरुत्तमिति । तमुद्वरत भागसोदयो सहोदरा अससृष्टा अपि समेत्य देदान्तरगता अपि समान्त्य सहिताः ससृष्टस्यैव न श्युमाधिकभावेन, यं च भ्रातरो भिन्नोद्वरससृष्टा, ते च समामयो भगिन्यस्यैव समं विभजेयुः । समं विभज्य शृङ्गीपुरिति तस्यार्थं ॥ १३९ ॥

भाषा—यदि सौतेला भाई ससृष्टी हो तो धन ले यदि सौतेला भाई ससृष्टी न हो तो वह धन न लेय । किन्तु एक ही मता से उत्पन्न मता भाई अससृष्ट भी हो तो धन पाता है । यदि सौतेला भाई ससृष्ट रहता हो तो वह अर्द्धमे सव धन न ले, (मृत इति क) सगे भाइयों में भी उत्पन्न विभाग रहे ॥ १३९ ॥

१. मुषण । अससृष्टी । २. निषेधादससृष्ट । ३. ससृष्टिनो भिन्नोद्वरस्य च । ४. ससृष्टा सद्वर्जादग्न । ५. समससृष्ट चिह्न । ६. भगिन्यस्य विभजेयुः ।

पुत्रपर्यादिसृष्टिना यदायप्रहणमुक्त, तस्यापवादमाह—

ह्यीयोऽथ पतितस्तज्ज पद्मवन्मत्तफो जडः ।

अन्वोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्तव्याः स्युर्निरंशकाः ॥ १४० ॥

ह्यीयस्त्वृतीया प्रकृति । पतितो ब्रह्महादि, तज्ज पतितोऽप्यत्र, पद्म पादविकल, उन्मत्तक यातिकपैतिकश्लैष्मिकसांनिपातिकप्रहावेशलक्षणैरन्मा दैरभिभूत, जडो विकलान्त करण, हिताहितावधारणाऽद्यम इति यावत् । अन्वो नेत्रेन्द्रियविकल, अचिकित्स्यरोगोऽप्रतिसमाधेययैद्यमादिरोगप्रस्त, 'आद्य'शब्देनाश्रमान्तरगतपितृद्वेष्युपपातक्वधिरमूकनिरिन्द्रियाणां ब्रह्मणम् । यथाऽऽह वपिष्ट ( १७।५२ )—'अनंशास्त्वाश्रमान्तरगता' इति । नारदोऽपि ( १३।२१ )—'पितृद्विष्ट पतित पण्डो यश्च स्व्यादौपपातिक । औरसा अपि नैतंऽज्ञ लभेरुद्येयजा कृत ॥' इति । मनुर्वि ( ९।२०१ )—'अनशी ह्यीयपतितौ जात्यन्धधधिरौ तथा । उ मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रिया ॥' इति । निरिन्द्रियो निर्गतनिन्द्रिय यस्माद् व्याप्यादिना स निरिन्द्रिय । एते ह्यीयादयोऽनशाः शिष्यभाजो न भवन्ति । केवलमशनाच्छादनक्षानेन पोषणीया भवेयुः । अभागे तु पतितस्वदोष । 'सर्वेषामपि तु न्याप्य दातु शक्या मनीषिणा । प्रासाच्छादनमत्यन्त पतितो ह्यददद्भवेत् ॥' ( ९।१०२ )—इति मनुस्मरणात् । अत्यन्त याश्चजीवमित्यर्थ । एतेषां विभागात्प्रागेव दोषप्रासाधनं- शाश्वमुपपन्न न पुनर्विभक्तस्य । विभागोत्तरकालमप्यौषधादिना दोषनिर्हरणे भागप्राप्तिरस्येव ।—'विभक्तेषु सुतो जात सर्वणांशो विभागभाक् ( १५० १२२ ) इत्यस्य समानन्यायत्वात् । पतितादिषु तु पुच्छिह्यमविवक्षितम् । अतश्च पत्नीदुहितृमायादीनामप्युक्तदोषैर्दुष्टानामनदािव वेदितव्यम् ॥ १०४ ॥

भाषा—नपुमक, पतित, पतित का पुत्र, पद्म पागल, जड, अन्धा, असाध्य रोग से प्रस्त ( औरस भाइयों को भी ) अज्ञान देकर केवल उनका भरण पोषण करना चाहिए ॥ १४० ॥

बलीयादीनामगोसायात्तपुत्राणामप्यनशिवे प्राप्ते इहमाह—

औरसा क्षेत्रज्ञास्त्वेषां निर्दोषा भागहारिणः ।

एतया बलीयादीनामौरसा क्षेत्रज्ञा या पुत्रा निर्दोषा अज्ञप्रहणशिरोधिषुलै-  
क्यादिकोपरहिता भागहारिणोऽज्ञप्राहिनो भवन्ति । तत्र बलीयस्य क्षेत्रज्ञ-  
पुत्र ममवश्य-यथाऔरसा अपि । 'औरस क्षेत्रज्ञ'योर्प्रहणमितरपुत्रस्युदात्तार्थम् ॥

१. भर्तव्यास्तु निरंशकाः ।

२ सनिपातप्रहा ।

३ अयादिरोग ।

४ स्वाद्यप्याश्रित ।

५ दोषाणामनशिव ।



बलीबादिदुहितृणां विशेषमाह—

सुताश्चैषां प्रभर्तव्या यावद्वै भर्तृसात्कृता ॥ १४१ ॥

एषां बलीबादीनां सुता दुहितरो यावद्विवाहसकृता भवन्ति, तावद्भरणीया 'च'शब्दात्सकार्याश्च ॥ १४१ ॥

भाषा—इन ( नपुसक आदि ) में यदि औरस या सेत्रज पुत्र निर्दोष होते हैं तो भद्रप्राही होते हैं । इन नपुसक आदि पुत्रों का वस समय तक भरण-पोषण करना चाहिए जब तक उनके पुत्रियों का विवाह न हो जाय ॥ १४१ ॥

बलीबादिपरनीनां विशेषमाह—

अपुत्रा योयितश्चैषां भर्तव्या साधुवृत्तय ।

निर्वास्या स्यभिचारिण्य. प्रतिकूलास्तथैव च ॥ १४२ ॥

एषां बलीबादीनामपुत्रा पत्न्य साधुवृत्तय सदाचारश्चेद्भर्तव्या भरणीया ; स्यभिचारिण्यस्तु निर्वास्या । प्रतिकूलास्तथैव च निर्वास्या भवन्ति, भरणीया श्चास्यभिचारिण्यश्चेत् । न पुन प्रातिकूल्यमात्रेण भरणमपि न कर्तव्यम् ॥ १४२ ॥

भाषा—इनकी पुत्रहीना पत्नियों यदि सदाचारिणी हों तो उनका भरण करना चाहिए, यदि स्यभिचारिणी और प्रतिकूल आचरण करने वाली होंवे तो उन्हें निर्वासित कर देना चाहिए ॥ १४२ ॥

'विभजेरम्मुता विप्रो' ( ४५० ११७ ) इत्यत्र स्त्रीपुधनविभाग ससेवेणाभिधाय पुरुषधनविभागो विस्तरेणाभिहित, इदानीं स्त्रीधनविभाग विस्तरेणाभिधास्यत्परस्वरूपं तावदाह—

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमभ्यग्न्युपागतम् ।

आधिवेदनिकार्थं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ १४३ ॥

विप्रा मात्रा परया भ्रात्रा च यद्वत्, यद्वत् विवाहकालेऽप्रावधिहृत्य मातृलादिभिर्दत्तम्, आधिवेदनिक अधिवेदननिमित्त 'अधिविद्वच्छियै दद्यात्' ( ४५० १४८ ) इति वक्ष्यमाण । 'आद्य'शब्देन रिक्थक्यसद्विभागपरिमहाधिगमप्राप्तमेतदस्त्रीधनं मन्वादिभिरप्यम् । 'स्त्रीधन'शब्दश्च यौगिको न पारिभाषिक । योगसमये परिभाषाया अपुत्रावात् । यत्पुनर्मनुजोक्तम् ( ९।१९४ ) —'अप्यग्न्युपागतम् दत्तं च प्रीतिकर्मणि । भ्रातृमातृपितृमातृ पट्टिवध स्त्रीधनं सृष्टम् ॥' इति स्त्रीधनस्य पट्टिवधार्थ, तन्मनूनसकयाप्यवच्छेदार्थं मापि कस्यदात्तवच्छेदाय ॥ अत्र-दादिररूपं च कालपरान्तेऽभिहितम्—'विवाहकाले चस्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निस्मिधौ । सत्पवनिनृत सति स्त्रीधनं परिकीर्ति-

तम् ॥ यद्युनर्त्तते नारी नीयमाना पितृगृहात् । अप्याशुनिकं नाम स्त्रीधनं  
 तद्गुदाहृतम् ॥ प्रोथ्या दत्तं तु यत्किञ्चिच्छूय्या वा शशुरेण वा । पादवन्दनिकं  
 चैव प्रीतिदत्तं तद्गुह्यते । उटया कन्यया वाऽपि पत्युः पितृगृहेऽपि वा । भ्रातुः  
 सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥' इति ॥ १४३ ॥

भाषा—पिता, माता, पति और भाई द्वारा दिया गया धन, विवाह में  
 भगिन के निकट मिला हुआ धन, आधिवेदनिक ( दूमरा विवाह करते समय  
 पति द्वारा पहली स्त्री के सन्तोष के लिये प्रदत्त ) धन इत्यादि स्त्रीधन कहे  
 गये हैं ॥ १४३ ॥

यन्धुदत्तं तथा गुल्कमन्याधेयकमेय च ।

त्रिषु यन्धुभिः कन्याया मान्यन्धुभिः पितृवन्धुभिश्च यदत्तम्, गुल्कं  
 यद् गृहीत्वा कन्या दीयते । अन्याधेयकं परिणयनादनु पश्चाद्दत्तं दत्तम् ।  
 लक्षं च कात्यायनेन—'विवाहात्परतो यस्य लब्धं मर्तृकुलाश्रयः । अन्याधेयं तु  
 तद्दत्तं लब्धं पितृकुलाश्रया ॥' इति स्त्रीधनं परिर्कीर्तितमिति गतेन संबन्धः ॥

एवं स्त्रीधनमुक्तं, तद्विभागमाह—

शैतीतायामप्रजसि यान्धवास्तद्व्याप्नुयुः ॥ १४४ ॥

तत्पूर्वोक्तं स्त्रीधनमप्रजसि अनयायायां दुहितृद्वीद्विधीद्वीद्विध्रपुत्रपौत्रदितायां  
 त्रिषामर्गीतायां यान्धवा भर्त्रादयो यत्रवसाना गृह्णन्ति ॥ १४४ ॥

भाषा—स्त्री के मातृपत्य एवं पितृपत्य के यन्धुओं द्वारा दिया गया धन,  
 गुल्क ( जो धन लेकर लम्बा ही जाय ), और अन्याधेयक ( विवाह के बाद  
 पतिगुल या पितृगुल में प्राप्त ) धन भी स्त्रीधन कहलाता है । स्त्री के  
 पिता मरतान ( पुत्री, नाभी, माता के पुत्र भादि ) मर जाने पर पति भादि  
 यापत्य स्त्रीधन ग्रहण करते हैं ॥ १४४ ॥

सामान्येन यान्धवा धनग्रहणाधिकारिणो वर्जिताः । इदानीं विवाहभेदेना-  
 धिकारिभेदमाह—

अप्रजस्त्रीधनं मर्तृर्धात्रादिषु चतुर्ष्वपि ।

दुहितृणां प्रसूता चैच्छेदेषु पितृगामि तत् ॥ १४५ ॥

अप्रजसः त्रिषाः पूर्वोक्तायाः मातृद्वेषादंजातादेषु चतुर्षु विवाहेषु  
 भार्याव प्राप्ताया भतीतायाः पूर्वोक्तं धनं प्रथमं मर्तृर्भयति । तद्भाये नाम-  
 त्यासदानां नदिच्छानां भयति । सेवेभ्यामुरगान्धर्वराजसवैशाखेषु विवाहेषु

तदप्रजखीधन विवृणामि । माता च पिता च पित्रो तौ मरुद्वीति विवृ  
 णामि । एकशेरविदिष्टाया अवि मान् प्रथम धामप्रहण पूर्वमेवोक्तम् । तदभाष  
 तप्रत्यासत्तानां घनप्रहणम् । सर्वेष्व विवाहेषु प्रसूतापाययती चेद् दुहितृणां  
 तद्धन भवति । अत्र दुहितृ दास्येद् दुहितृदुहितर उच्य ते । साचाद् दुहितृणां  
 'मातृदुहितर दोषम्' ( १५० ११० ) इत्यश्लेषत्वात् । अतश्च मानुषन मानसि  
 पृत्तायां प्रथ दुहितरो गृह्णन्ति; तत्र शोढ नृदाममवायेऽनूढैव गृह्णन्ति, तदभाष  
 च परिणीता, तत्रापि प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठिता गृह्णाति, तदभाष  
 प्रतिष्ठिता; यथाद् गीतम ( २९।६ )—'स्त्राधा दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठिता  
 च' इति । तत्र 'च शोढाप्रतिष्ठितानां च । अप्रतिष्ठिता अनपत्या निर्धना वा ।  
 एतच्च शुद्धरूपतिरेकण । शुद्ध तु सोदर्याणामेव 'भगिनीशुद्धरु सोदर्याणामूर्ध्वं  
 मातु' ( २९।६ ) इति गीतमयचनात् । सर्वासां दुहितृणामभावे दुहितृदुहितरो  
 गृह्णाति; दुहितृणां प्रसूता चेत्' इत्यस्माद्भवनात् । तासां भिन्नमातृणां विव  
 र्णनां समवाये मातृद्वारेण भागवशना प्रतिमातृ या र्ध्वर्गेण भागिन्त्य' ( २९।५ )  
 इति गीतमस्मरणात् ॥ दुहितृर्दीहित्रीणां समवाये दीहित्रीणां द्विचि-  
 द्य दातव्यम्; यथाद् मनुः ( ९।१९३ )—'यास्तासां स्युदुहितरस्तासामवि  
 यथाऽर्हा । मातामहा घनारिकपिप्रदेय पीतिपूर्वकम् ॥' इति ॥ दीहित्रीणाम  
 एवभाष दीहित्रा धाहारिण यथाद् नारद — ( १३।२ ) 'मातृदुहितरोऽभ य  
 दुहितृणां तद् वप' इति । तच्छब्देन सनिहितदुहितृवरासर्गात् ॥ दीहित्राणाम  
 भावे पुत्रा गृह्णन्ति । 'तास्य ऋतेऽन्वप' ( १५० ११० ) इत्युक्तत्वात् । मनुसि  
 दुहितृणां पुत्राणां च मानुषनसवन्ध दर्शयति ( ९ १९२ )—'जनस्यां सखि  
 तायां तु सर्व सद्योदरा । सम भजेर मातृक रिच्य भगिन्यश्च सनाभवः ॥' इति ।  
 मातृक रिच्य सर्वे सद्योदरा सम भजेरन्, सनाभवो भगि यश्च सम भजेर'छनि  
 मवन्ध; न पुन सहादरा भगिन्यश्च सन्वप भजेर'छनि इतरेतरदोगरव द्दष्टैव  
 तायाभावात्प्रतीते । विभक्त्यर्थव्यवधानावि 'च'दास्योपपत्ते, यथा ददत्त वृषि  
 कुर्याच्चदत्तमेति । 'सम'प्रहणमुद्धारविभागविधायकम् । 'सोदर'प्रहण भिन्न दर  
 विधायकम् । अनपरावहीमजातिस्त्रीधन तु भिद्योदराप्युक्तमजातीयसवन्धे दुहिता  
 गृह्णाति, तदभाष तदपापम्; यथाऽऽह मनु ( ९।१९८ )—'द्विषासु वद्व-  
 द्दित रित्रा दत्त वधयन । साद्वणी तद्वरेकस्या तदरापरव वा भवन् ॥' इति ।  
 'मातृ'गी'प्रहणमुक्तमभाषुपलक्ष्यम् । अतस्मात्पापयैरपाधन चप्रिचारस्या  
 गृह्णाति । पुत्राणामभाष पीत्रा रितामहीधनहारिण । 'रिच्यभाष ऋण प्रति  
 वृत्तुं' ( १९।० ) इति गीतमस्मरणात्, 'पुत्रवीर्यं च देयम्' ( १५० ५० ) इति

पौत्राणामपि 'पितामहृणापाकरणेऽधिकारात् । पौत्राणामन्यमादे पूर्वोक्ता भर्त्रा-  
दयो बान्धवा धनहारिणः ॥ १४५ ॥

**भाषा—**ब्राह्म, दैव, भार्य और प्राजापाय-विवाह हो तो स्त्री के निःसन्तान  
मरने पर उसका धन पति को मिलता है । शेष विवाहों में वह धन स्त्री के  
पिता का ही जाता है । किन्तु इन सभी विवाहों में यदि उस स्त्री के पुत्रियाँ  
हों तो उसका धन उन पुत्रियों को ही मिलता है ॥ १४५ ॥

स्त्रीधनप्रसङ्गेन वाग्दत्ताविषयं किञ्चिदाह—

दत्त्वा कन्यां हरन्दण्डयो व्ययं दद्याच्च सोदयम् ।

कन्यां वाषा वक्ष्याऽपहरन् द्रव्यानुबन्धापनुसारेण राज्ञा दण्डनीया ।  
पृथ्वापहरणकारणानाचे; सति तु कारणे 'दत्तामपि हरेत्पूर्वाग्नेयांश्चेद्भ्रा-  
जैव' ( भा० ६५ ) इत्यपहाराम्यनुज्ञानान्न दण्डयः । यच्च वाग्दाननिमित्तं  
वरेण स्वसंयन्धिनां कन्यासंयन्धिनां चोपचारार्थं धनं व्ययीकृतं, तत्सर्वं सोदयं  
सृष्टिकं कन्यादाता वराय दद्यात् ॥—

अथ कथंचिद्वाग्दत्ता संस्कारात्प्राहृ त्रियेत, तदा किं कर्तव्यमिष्यत आह—

मृतायां दत्तमादद्यात् परिशोध्योभयव्ययम् ॥ १४६ ॥

यदि वाग्दत्ता मृता तदा यापूर्वमगृहीयकादि शुद्धकं वरेण दत्तं, तद्वर आद-  
दीत परिशोध्योभयव्ययम् । उभयोरात्मनः कन्यादातुश्च यो व्ययः, तं परि-  
शोध्य विभ्रमद्वयापशिष्टमाददीत । यच्च कन्यायै मातामहादिभिर्दत्तं शिशुभूषणा-  
दिकं वा क्रमात्पतं, तत्सहोदरा भ्रातरो गृह्णीयुः; 'रिवधं मृतायाः कन्याया  
गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे मातुस्तदभावे पितुः' इति वीधापनस्मरणात् ॥ १४६ ॥

**भाषा—**कन्या का वाग्दान करके पुनः उसका हरण करने ( दान न  
करने ) वाले को उसके लिये व्यय किया गया धन सृष्टि सहित दण्ड लेकर  
वर को दिलावे । वाग्दत्ता कन्या के मरने पर दोनों ( पिता और वर ) के  
व्यय का शोध करके जो शेष बचे वह वर को देवे ॥ १४६ ॥

मृतप्रजास्त्रीधनं भर्तृगामीशुक्तम्, इदानीं जीवन्त्याः सप्रजाया अपि स्त्रिया  
धनग्रहणे कथित्तुरभ्यनुज्ञामाह—

दुर्मिक्षे धर्मकार्ये च ध्यायी संप्रतिरोधके ।

गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥ १४७ ॥

१. पितामहृणापाकरणाधिकारात् । २. दत्तासहोदयम् । ३. त्रियते  
सदा । ४. सर्वमादद्यात् । ५. शुद्धकं वा वरेण । ६. दिगणदय ।  
७. क्रमात्पतं । ८. भर्त्रा, भर्त्रा न स्त्रियो ।

दुर्मित्ते दृष्टुमभारणार्थं धर्मकार्ये अवश्यमर्थे व्याधी च सप्रतिरोधके, अन्दिमहणनिप्रहादी, द्रव्यान्तररहित स्त्रीधन गृहभर्ता न पुनर्दातुमर्हति, प्रकारान्तरेणैवद्वन्द्यात् । भर्तृव्यतिरेकेण जीवन्त्या स्त्रिया धन केनापि दायादेन न ग्रहीतव्यम्, जीवन्तीना तु तावा ये तद्धरेषु स्वयान्धवा । तांश्चैव्याच्यौरदण्डेन धार्मिकं पृथिवीपति ॥' (मनु ८।२९) इति दण्डविधानात् । तथा—'परयौ जीवति य स्त्रीभिरलङ्कारो घृतो भवेत् । न त भवेरन्दायादा भजमाना पतन्ति ते ॥' ( मनु ९।२०० ) इति दोषश्रवणाच्च ॥ १४७ ॥

भाषा—दुर्मित्त क समय, धर्म कार्य में, रोग में और बन्दी होने पर लिये गये स्त्री धन को पनि छो जो पुन देने का भागी नहीं होता ॥ १४७ ॥

आधिवेदनिक स्त्रीधनमुक्त, तदाह—

अधिविद्वस्त्रियै दद्यादाधिवेदनिकं समम् ।

न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत् ॥ १४८ ॥

यस्या उपरि विवाह साऽधिविद्या, सा चामौ स्त्री च, तस्यै अधिविद्वस्त्रियै, आधिपदनिकमधिपदननिमित्त धन सम यावदधिपदनार्थं व्ययीकृत तावद्दद्यात् । यस्यै भर्त्रा अशुरेण वा स्त्रीधन न दत्तम्, दत्ते पुन स्त्रीधने आधिवेदनिक-द्रव्यस्यार्थं दद्यात् । अर्थं शब्दश्चात्र समविभागवचनो न भवति, अतश्च यावता नरपूर्वदत्तमाधिवेदनिकसम भवति तावद् देयमित्यर्थं ॥ १४८ ॥

भाषा—जिम स्त्री क रहते दूमरा विवाह करे तो उस पहली स्त्री को यदि उसे स्त्री-धन न मिला हो तो दूमरे विवाह में व्यय किये गये धन के बराबर आधिवेदनिक ( सन्तोषार्थ ) धन दवे, यदि उसे स्त्री-धन मिला हो तो दूमरे विवाह क व्यय का आधा धन हा देना विहित है ॥ १४८ ॥

एवं विभागमुक्त्वा इदानीं तत्सदेहे निर्णयदत्तनाह—

विभागनिद्वये ज्ञातिवन्धुसाक्ष्यमित्तेष्वितै ।

विभागभाप्रना श्रेयौ गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः ॥ १४९ ॥

विभागस्य निद्वये अपलाये ज्ञातिभिः पितृवन्धुभिर्मातृप-धुभिः मातुला-दिभिः साजिभिः पूर्वोक्तलक्षणेणैव च विभागपत्रेण विभागभावना विभाग निर्णयो ज्ञातव्यः । तथा यौतकैः पृथक्कृतैर्गृहक्षेत्रैश्च । पृथक्कृत्यादिचार्यप्रवर्तन पृथक्पञ्चमहायज्ञादिधर्मानुष्ठान च । नारदेन विभागलिङ्गमुक्तम् (१३।३७, ३९)— इति । 'विभागधर्ममदह दायाद नां विनिर्णय । ज्ञातिभिर्भातलेष्येण पृथक्-

१ जापहत दद्यात् । २ देवमाधि । ३ प्रकीर्तितम् । ४ अशुरेण भर्त्रा वा । ५ श्रेया श्रेयःगृहयोगिकं ।

कार्यप्रवर्तनात् ॥ आस्तृणामविभक्तानामेको धर्म प्रवर्तते । विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक्पृथक् ॥' तथाऽपराप्यपि विभागलिङ्गानि तेनैवोक्तानि— 'साङ्ख्य प्रातिभाष्ये च दान ग्रहणमेव च । विभक्ता भ्रातरं कुर्युर्नाविभक्ता कथंचन ॥' ( ना० १३।४२, ४३ ) इति ॥ १४९ ॥

भाषा—विभाग को जरूरीकार करने पर जाति के लोगों, बन्धुनों, नातियों, ऐस और पृथक् किय गये घर और ऐस न विभाग का निर्णय होता है ॥ १४९ ॥

इति दायविभागप्रकरणम् ।

### अथ सीमाविरादप्रकरणम् ९

अधुना सीमाविरादनिर्णय द्वावधे—

सीमो विवादे क्षेत्रस्य सामन्ता. स्थविरादयः ।

गोपा. सीमाकृपाणां ये सर्वे च वनगोचराः ॥ १५० ॥

नयेपुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुपद्रुमैः ।

सैतुचल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैर्यत्पलक्षिताम् ॥ १५१ ॥

ग्रामद्वयसन्धिघन चतस्रश्च सीमा विवादे तथैकग्रामान्तर्धतिक्षेत्रमर्षा-  
दाविवादे च सामन्तादय स्थलाङ्गारादिनि पूर्वकृतैः सीमालक्षणैरपलक्षितानि  
चिह्नितानि सीमां नयेदुर्निश्चिनुयुः । सीमा क्षेत्रादिमर्षादा, सा चतुर्विधा—जनप-  
दसीमा, ग्रामसीमा, क्षेत्रसीमा, गृहसीमा चेति । सा च यथासंभव पञ्चलक्षणा ।  
तदुक्तं नारदेन—'स्वजिनी मरिच्यनी चैव नैधानी भयवर्जिता । राजशासननीता  
च सीमा पञ्चविधा स्मृता ॥' इति ॥ स्वजिनी पृष्ठादिर्लक्षिता, पृष्ठादीनां  
प्रकाशकत्वेन स्वजनुद्वयत्वात् । मरिच्यनी मल्लिलवसी, 'मरिच्य' शब्दस्य  
स्थाधारजललक्षणत्वात् । नैधानी निगतातनुयाङ्गारादिमती, तेषां निगतात्वेन  
निधानतुल्यात्वात् । भयवर्जिता अग्निप्रत्यर्थिपरस्परसप्रतिपत्तिनिमित्ता । राजशा-  
सननीता ज्ञानृषिद्वाराभारं राजेच्छया निमित्ता । एवभूतायां षोडश विवादा  
सम्भवति । यथाऽऽह कारपावन—'आधिषय न्यूनता चांशे अस्तिभारिनाऽमेव  
च । अमोगभुक्ति सामा च पद् भूवात्स्य हेतव ॥' इति ॥ तथा हि—'समाप्र  
पञ्चविवर्तनाया भूमौधिका भूमि' इति केनचिदुक्तं पञ्चविवर्तनेन माधिटे-

१ स्थविरा गणा ।

२. कृपाणां (= पृष्ठादिनां) । ३. चान्दे ।

४. स्वजनुद्वयम् ।

रथाधिक्ये विवाद । 'पञ्चनिवर्तना मदीया भूमि' इत्युक्ते न ततो यूनेवेति न्यूनतायाम् । पञ्चनिवर्तनो ममाश इत्युक्ते अत्र पृथक् नास्तीत्यस्तिनास्तिव्य विवाद सम्भवति । 'मदीया भू प्रागविद्यमानभोगेव भुज्यते' इत्युक्ते न सतता चिरतन्मेव मे 'भुक्ति रिरभोगभुक्ती विवाद । इय मयादेय वेति सीमाविवाद इति पटप्रकार एव विवाद सम्भवति । पटप्रकारेऽपि भूविवादे ध्रुवर्धाभ्या मीमाया अपि निर्णयमानस्वास्वीमानिर्णयप्रकरणे तस्यान्तर्भाव । सम-नाद्धवा सामन्ता । चतसृषु दिक्ष्वन तरग्रामादयस्ते च प्रतिसीम व्यवस्थिता । ग्रामो ग्रामस्य सामन्त क्षेत्र क्षेत्रस्य कर्तितम् । गृह गृहस्य निर्दिष्ट मन्तारपरिरभ्य द्वि ॥' इति कार्यायतनवचनात् । ग्रामादि'शब्देन तस्याः पुरुषा लक्ष्यन्ते । ग्राम पञ्चयित इति यथा । सामन्त'ग्रहण च तत्सप्तच्छाष्टुपलक्षणार्थम् । उक्त च कार्यायनेन— रमक्तकास्तु सामन्तारतसप्तकारतथोत्तरा । सप्तसप्त सप्तसप्तः पञ्चाकारा प्रकर्तिता ॥' इति ॥ स्थविरा वृद्धा । 'आदि'ग्रहणेन मौले'द्वृतयोर्ग्रहणम् । वृद्धादिलक्षण च तन्नैवेत्तम्— निष्पद्यमानैरेष्ट तत्कार्यं तद्गुणान्वितैः । वृद्धा वा यदि याऽवृद्धारस्ते तु वृद्धा प्रकीर्तिता ॥ ये तत्र पूर्व सामन्ता पश्चाद्देशान्तर गता । तन्मूलत्वात्तु ते मौला अपिभिः परिकीर्तिता ॥ उपध्वणसभोगकार्यान्वयानोपचिह्निता । उद्धरन्ति पुनर्यस्मादुद्धृतास्ते तत स्मृता ॥' इति ॥ गोषा गोचारका । सीमावृषाणा सीमासहितचेप्रकर्षका । मर्धे च वनगोचरा वनचारिणो व्याघ्रादयः । ते च मनुनोक्ता ( ८१२६० )— व्याघ्राश्चाकुनिका-गोषा कैवर्ता-मूलत्वात्तान् । व्याघ्रप्राहानुद्धृत्तीन-यांश्च वनगोचरान् ॥' इति ॥ स्थलमुन्नतो भूपदेश अङ्गारोऽनेरच्छिद्यम्, सुषा धान्यव्यय, द्रुमा न्यग्रोधादयः सेतुर्जलप्रवाहव्यय, चैत्य पाषाणादिव्यय, आदिशब्देन वेणुवालुकादीनां ग्रहणम्, एतानि च प्रज्ञाप्रकाशभेदेन द्विप्र काराणि । यथाऽऽह मनु ( ८१२४६ २४८ ) सीमावृक्षाश्च कुर्वन्त्यग्रोधाव्यय किंशुकान् । शाकमलीशालतालंश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ सुवमा वेणुश्च त्रिविधा ऋमीवर्लीस्थलानि च । शरा कुंजकगुल्मीश्च यथा सीमा न नश्यति ॥ तडागा-युद्धपानानि वाप्य प्रस्यवगानि च । सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥' इति प्रकाशरूपाणि । ( मनु ८ २४९-२५२ )—'उपच्छिन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् । सीमाज्ञाने नृणां बीज्य निश्य लोक विपर्ययम् ॥ अश्मनोऽस्थीनि गोवाग्निस्तुषा-भस्म कपालिका । करीपनिष्टकाङ्गारशर्करावा लुकास्तथा ॥ यानि चैवप्रकाराणि कालाद् भूमिर्न भक्षयेत् । नानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ एतैर्भिन्नैरन्य सीमां राजा विवदमानयो ॥'

इति प्रच्छन्नलिङ्गानि ॥ एतैः प्रकाशाप्रकाशरूपेन्द्रैः सामन्तादिर्प्रदर्शितैः सीमां प्रति विवदमानयोः सीमानिर्णयं कुर्याद्वाता ॥ १५०-१५१ ॥

भाषा—( दो गाँव की धपवा ) खेत की सीमा के विवाद में सामन्त, घुड़पुरुष, गोप ( चरवाहे ), सीमा पर के खेत जोतने वाले, और सभी वनचारी ( व्याध भादि )-के ऊँची भूमि, कौयला, भूमी, वृक्ष, खेत ( जल-प्रवाहवन्ध ), चींटियों की ढाँधी, गड्ढों, हड्डियों और पत्थर भादि से चिह्नित करके सीमा का निर्धारण करें ॥ १५०-१५१ ॥

यदा पुनश्चिह्नानि न सन्ति, विद्यमानानि वा लिङ्गलिङ्गतया संदिग्धानि, तदा निर्णयोपायमाह—

सामन्ता वा संमग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि वा ।

रक्तस्रग्बलनाः सीमां नयेयुः क्षितिर्वारिणः ॥ १५२ ॥

सामन्ताः पूर्वोक्तलङ्गानां, समग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि क्षेत्र्येषु समसंख्याः प्रयासन्नग्रामीणाः । रक्तस्रग्बलनाः रक्षाश्वरधराः मूर्च्छारोपितक्षितिर्लङ्घ्याः सीमानं नयेयुः प्रदर्शयेयुः । 'सामन्ता वा' इति विक्त्वाभिधानं स्मृत्यन्तरोक्तसाक्ष्यमिप्रायम् । यथाऽऽह मनुः ( ८।२५३ )—'साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमायादविनिर्णये' इति ॥ तत्र च साक्षिणां निर्णेतृत्वं मुच्यम् ; तदभावे सामन्तानाम् । तदुक्तम् ( मनुः ८।२५८ )—'साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्राम्याः सीमान्तवासिनः । सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयत्ना राजसंनिधौ ॥' इति; तदभावे तत्संकाशीनां निर्णेतृत्वम् । यथाऽऽहुः कार्यायनः—'स्वार्थमिदौ प्रदुष्टेषु सामन्तेऽपर्यगौरवात् । तत्संसक्तैस्तु कर्तव्य उद्धारो नात्र मशयः ॥ ससक्तसक्तद्वये तु तत्संसक्ताः प्रकीर्तिताः । कर्तव्या न प्रदुष्टारतु राज्ञा धर्मविज्ञानता ॥' इति । सामन्ताद्यभावे मौलादयो ग्राह्याः; 'तेषामभावे सामन्तमौलदृक्षोद्घृष्टनादयः । रथावरे पट्टप्रकारेऽपि कार्या नात्र विचारणा ॥' इति कार्यायनेन क्रमेविधानात् । एते च सामन्तादयः स्वस्यागुणातिरेकेण सभ्यन्ति । 'सामन्ताः साधनं पूर्वं निर्दोषाः स्युर्गुणाश्रिताः । द्विगुणास्तुत्तरा ज्ञेयास्ततोऽन्यं त्रिगुणा मताः ॥' इति रमरणत्वं ॥ ते च साक्षिणः सामन्तादयश्च सर्वैः सर्वैः क्षपयैः दापिताः सन्तः सीमां नयेयुः; ( मनुः ८।२५६ )—'शिरोभिरते सृष्टीयोर्वा' स्रग्बलना रक्तवासनाः । सुकृतैः दापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समजसम् ॥' इति रमरणत्वं । नयेयुरिति बहुवचनं द्वयोर्निरासार्थं नैव स्य । 'एकश्चेदुक्तं सीमां सोपधासः

१ प्रकाशितैः ।

२. समा ग्रामाः ।

३. कुर्वन्त ।

४. दोषेषु ।

५. क्रमाभिधानात् ।



समुद्ययेत् । रक्षमाववाग्जरधरो भूमिमादाय मूर्धनि ॥' ( भा० १११९०१९ )  
इति नारदेनैकस्थाभ्यनुज्ञानात् ॥ योऽय—'नैक समुद्ययेरसीमा नर प्रवयवा  
नपि । गुरवादास्य कार्यस्य क्रियया बहुषु ग्विना ॥' इत्येकस्य निषेध म उभया  
चुमनधर्मविद्वषतिरिक्तत्रिपय इत्यविरोध ॥ स्थलादिचिह्नाभावेऽपि साक्षिसामन्ता-  
दीना सीमाज्ञाने उवापविदीषा नारदेनोक्त—'निम्नगापहृतोरसृष्टनष्टचिह्नासु  
भूमिषु । तत्प्रदेशानुमानाच्च प्रमाणाङ्गोद्दर्शनात् ॥' ( भा १११६ ) इति ।  
निस्रगाया नद्या अपहृतेनापहरणेनोरसृष्टानि स्वस्थानारप्रच्युतानि नष्टानि वा  
लिङ्गानि यासु मर्यादाभूमिषु तत्र तत्प्रदेशानुमानादुरसृष्टनष्टचिह्नानां प्राचीन  
प्रदेशानुमानात् प्रामादास्य सहस्रदण्डपरिमित क्षेत्रमस्य प्रामस्य पश्चिमे भागे  
इत्यवधिधात्प्रमाणाद्वा प्रथयिसमस्यमविप्रनिपन्नाया अस्मार्तकालोपलक्षितभुक्तेर्वा  
निश्चिनुयु ॥ वृहस्पतिना चात्र विशेषो दर्शित—'आगम च प्रमाण च भोगं  
काल च नाम च । भूभागलक्ष्यं चैव ये विदुस्तेऽत्र साक्षिग ॥' इति । एते च  
साक्षिसामन्तादय शपथे ध्याविता सन्त कुलादिममज्ञ राज्ञा प्रष्टव्या । यथाह  
मनु ( ८१२५४ )—'प्रामयङ्कुलानां तु समस्य सीदिर साक्षिग । प्रष्टव्या सीम  
लिङ्गानि तथोश्चैव विवादिभो ॥' इति । ते च पृथा साक्ष्यादय समस्ता  
ऐकमस्यन साग्नि निर्णय द्रूयु । तैर्निर्णीता सीमा तत्प्रदर्शितसकललिङ्गयुक्तां  
साक्ष्यादिनामान्विता चाधिस्मरणार्थं पत्रे समारोपयेत् । उक्त च मनुना  
( ८१२६१ )—'ते पृटास्तु यथा द्रूयु समस्ता सीमिन निर्णयम् । निवन्धी-  
यात्तथा सीमा मर्षास्नाश्चैव नामत ॥' इति । एतेषां साक्षिसामन्तप्रभृतीनां  
सीमाचङ्कमणदिनादारभ्य यावद्विप्रपक्ष राजद्वैचिकस्यमनाभ्यसन चेन्नोपपद्यते  
तदा तत्प्रदर्शनात्सीमानिर्णय । अय च राजद्वैचिकस्यसनावधि कार्यायने  
नोक्त—'सीमाचङ्कमणे कोशे पादस्पर्श तथैव च । त्रिपक्षपक्षसहाह दैवराजि  
कमिष्यत ॥' इति ॥ १५२ ॥

भाषा—( यदि कोई चिह्न न हो तो ) सामन्त, आमवास क चार, आठ  
या दस प्रामवासा एाल रग का वल्ल धारण करके पृथ शिर पर मिट्टी का  
देना स्वकर सामा निर्धारित करें ॥ १५२ ॥

यदा स्वम पामुक्तमाक्षयउचता त्रिपक्षाभ्यन्तरे रोगादि दश्यते, अथवा प्रति  
वादिनिदिष्टाभ्यधिकमकपागुणमाक्षपन्नरविहृद्वचनता तदा ते मृवाभापितया  
दण्डनीयास्तद् ह—

अनृते तु पृथग्दण्डया राष्ठा मध्यमसाहसम् ।

४ पक्षनिर्भुक्तेर्वा । ५ साक्षिग सामन्तादय । ६ सीमान ।

अनृते मिथ्यावदने निमित्तभूते सति सर्वे सामन्ताः प्रत्येक मध्यमसाहसेन चत्वारिंशदधिकेन पणञ्चशतेन दण्डनीयाः । सामन्तविषयता चास्य साक्षि-  
मौलादीनां स्मृत्यन्तरे दण्डान्तरविधानादागम्यते । यथाऽऽह मनु (८।२५७)-  
'यथोक्तेन मयन्तरते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः । विपरीत मयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्वि-  
शतं दमम् ॥' इति ॥ नारदोऽपि ( ११।७ )—'अथ चेद्वृतं म्रूयुः सामन्ता-  
सीमनिर्णये । सर्वे पृथक्पृथक्दण्डया राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥' इति सामन्तानां  
मध्यमसाहस दण्डमभिधाय—'शेषाश्चेद्वृतं म्रूयुर्नियुक्ता भूमिकर्मणि । प्रत्येक तु  
जघन्यास्ते विनेयाः पूर्वसाहसम् ॥' इति, तत्सप्तकादिषु प्रथम साहसमुक्तवान् ।  
मौलादीनामपि तमेव दण्डमाह—'मौलवृद्धादयस्सवन्थ दण्डागत्या पृथक् पृथक् ।  
विनेयाः प्रथमेनैव साहसेनानृते स्थिताः ॥' ( ना० ११।८ ) इति । 'आदि-  
शाब्देन गोपशाकुनिकव्याधवनगोचराणां ग्रहणम् । यद्यपि शाकुनिकादीनां  
पापरतयाहिङ्गप्रदर्शनं एवोपयोगो न साक्षात्सीमनिर्णये तथाऽपि लिङ्गदर्शनं एव  
मृषाभाषितवसंभवाद्दण्डविधानमुपपद्यत एव । 'अनृते तु पृथक् दण्डया' इत्येत-  
द्दण्डविधानमज्ञानविषयम्; 'बहुजां तु गृहीतानां न सर्वे निर्णय यदि । कुर्युर्भ-  
याद्वा लोभाद्वा दण्डयारतूत्तमसाहसम् ॥' इति ज्ञानविषये साक्ष्यादीनां कारवा-  
यमेव दण्डान्तरविधानात् । तथा साक्षिवचनभेदेऽप्ययमेव दण्डरतेनैवोक्त —  
'कीर्तितं यदि भेद स्याद्दण्डयारतूत्तमसाहसम्' इति । एवमज्ञानादिनानृतवदने  
साक्ष्यादीन्दण्डयित्वा पुनः सीमाविचारः प्रवर्तयितव्यः । 'अज्ञानोक्ती दण्डयित्वा  
पुनः सीमा विचारयेत्' इत्युक्त्वा 'त्यस्ताः दुष्टास्तु सामन्तानन्यान्मौलादिभि-  
सह । समिश्य कारयेत्सीमां च धर्मविदो विदुः ॥' इति निर्णयप्रकाररतेनैवोक्त ॥-

यदा पुनः सामन्तप्रभृतयो ज्ञातारश्चिह्नानि च न मन्त्रिनः, तदा कथं निर्णय-  
इत्यत आह—

अभावे ज्ञातृचिह्नानां राजा सीमन्. प्रवर्तिता ॥ १५३ ॥

ज्ञातृणां सामन्तादीनां लिङ्गादीनां च वृत्तादीनामभावे राज्ञेय सीमन्-  
प्रवर्तिता प्रवर्तयिता । अन्तर्भावितोऽत्र प्यर्थः । ग्रामद्वयमध्यवर्तिनीं विवादा-  
स्पदीभूता भुवः समः प्रविभज्य 'अस्यैव भूरस्ययम्' इत्युभयोः समस्यै तन्मध्ये  
सीमालिङ्गानि कुर्यात् । यदा तस्यां भूमावन्धतरस्योपजारातिशयो दृश्यते, तदा  
तस्यैव ग्रामस्य सकला भूः समर्पणीया । यथाऽऽह मनु (८ २६५)—'सीमा  
यामविप्लवायां स्वयं राजैव धर्मवित् । प्रदिशद्भूमिमेतेषामुपकारादिति  
स्थितिः ॥' इति ॥ १५३ ॥

भाषा—इन ( सामन्त आदि ) के हूँ बोलने पर राजा को इन्हें मध्यमसाहस का दण्ड देना चाहिए । जानने वाले सामन्त आदि और वृक्ष आदि चिह्न न हों तो राजा ही सीमा निश्चित करे ॥ ३२३ ॥

असत्यामप्यतद्भावाशङ्कायामस्याः स्मृतेर्न्यायमूलता दर्शयितुमतिदेशमाह—

आरामायतनग्रामनिपानोद्यानवेश्मसु ।

एव एव विधिर्हो वर्याम्बुप्रचंदादिषु ॥ १५४ ॥

आराम पुष्पकरोपचयहेतुर्भूभाग, आयतन निवेशन 'पलालकृगवर्धं विभक्तो भूपदेश, ग्राम प्रसिद्ध, ग्राम' ग्रहण च नगराद्युपलक्षणार्थम्, निपान पानीयस्थान वाप कृषममृत्तिकम्, उद्यान क्रीडार्था भूमि, यश्म गृहम्, एतेष्वारामादि वयमेव सामन्तमाद्यदिच्छगा विविज्ञातस्य । तथा प्रचंणो-  
द्भनजलप्रवाहेषु अनयोर्गृहयोर्मध्यत ललौघ प्रवहति अनयोर्वैशेषिककारे विवादे 'आदि' ग्रहण स्यात्सादादिविधि प्राचीन एव विधिर्वैदितस्य । तथा च कारणा यत्—'श्वेत्कृषणवर्णागतां वदारासामगोरपि । गृहग्रामादावसमन्वयवैवगृहेषु च ॥' इति ॥ १५४ ॥

भाषा—यही विधि वाटिका, आयतन ( बैठक ), गाँव, वापी, कूर आदि जलस्थल, उद्यान और घर की सीमा का निर्धारण करने में भी होती है । वर्षा का जल जिन मार्ग से बहता हो उसके सन्ध में भी यह विधि समझनी चाहिए ॥ १५४ ॥

सीमानिर्णयमुक्त्वा तत्प्रसङ्गेन मर्यादाप्रभेदनाशौ दण्डमाह—

मर्यादाया प्रभेदे च<sup>१</sup> सीमातिक्रमणे तथा ।

क्षेत्रस्य हरणे दण्डा अधमोत्तममप्यमा ॥ १५५ ॥

अनेकक्षेत्रस्यवच्छेदिका साधारणा भूमिर्मादा, तस्या प्रकर्षेण भेदने सीमातिक्रमणे सीमाभित्तिरुद्धय कर्षणे क्षेत्रस्य च भयादिपदार्थेन हरणे यथा-  
क्रमेण अधमोत्तममप्यमसाहना दण्डा वदितस्या । 'क्षेत्र' ग्रहण चात्र गृहा-  
रामाद्युपलक्षणार्थम् । यदा पुन स्त्रीयभ्रान्तया क्षेत्रादिकमपहरति, तदा द्विसतो दमा वदितस्य । यथाऽऽह भजु ( ८।२६४ )—'गृह तद्भागमाराम चत्र या भीषया हरन् । शकानि पश्य दण्डय स्यादज्ञान द् द्विसतो दम ॥' इति ।

१ प्रकृष्टेषु च । २ पलालादिशूटावर्धं । ३. गु । ४ क्षेत्रस्य हरणे तथा । ५ सामातिक्रमणे दण्डया । ६ साधारणी । ७ सामा नमत्तिलद्वय ।

अपह्रियमाणश्चेत्वादिभूयस्त्रपर्यालोचनया । कदाचिदुत्तमोऽपि दण्डः प्रयोक्तव्यः ।  
अत एवाह—'वधः सर्वस्वहरणं पुरासिर्जातनाङ्गने । तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड  
उत्तमवाहसः ॥' इति ॥ १५५ ॥

भाषा—मर्षादा ( सेवों के बीच में यनी हुई में ) को तोड़ने और  
स्वीजा को पार करने ( अधिक जोतने ) और धमकी देकर सेव हीन लेने पर  
क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यमसाहस का दण्ड मनसना आदि ॥ १५५ ॥

यः पुनः परक्षेत्रे संतुकूपदिकं प्रार्थनयार्थदानेन वा लब्धानुज्ञो निर्मातुमि-  
च्छति तस्यैवधतः क्षेत्रस्वामिन एव दण्ड इत्याह—

न निषेधोऽल्पधाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः ।

परभूमिं छेदन्कूपः स्वक्षेत्रो बहुदकः ॥ १५६ ॥

परकीयां भूमिमपहरणाशयन्नपि सेतुर्जलप्रवाहवन्ध- क्षेत्रस्वामिना न  
प्रनिषेधः स चेदीप-पीडाकरो बहुपकारकश्च भवति । कूपश्चाणक्षेत्रस्यापिषेना-  
स्यराधो बहुदकत्वेन कल्याणकारकश्चेतो बहुदको नैव निवारणीयः । 'कूप'  
ग्रहणं च पापीपुष्करिण्यालुपलक्षणार्थम् । यदा पुनरमौ सर्वक्षेत्रवर्तितया बहु-  
वाधो नद्यादिसमीपक्षेत्रवर्तितया वाऽहोपकारस्त्वदासी निषेध इत्यर्थादुक्तं  
भवति । तेतोश्च द्विविध्यमुक्तं नारदेन ( १५५१८ )—'सेतुश्च द्विविधो ज्ञेयः  
सेवो बन्धस्तथैव च । तोयप्रवर्तनास्येवो बन्धः स्वात्तन्निवर्तनात् ॥' इति  
यदा बन्धनिमित्तं सेतुं भेदनादिना नष्टं स्वयं संस्करति तदा पूर्वस्वामिनं  
तद्वरयं शृपं वा पृष्टवैव संस्कर्त्वा । यथाऽऽह नारदः ( १११२० २१ )—'पूर्व-  
प्रवृत्तपुरसन्नमपृष्ट्वा स्वामिन तु यः । सेतु प्रवर्तयैस्फश्चिन्न स तत्फलभारभवेत् ॥  
मृते तु स्वामिनि पुनस्तद्वरये वाऽपि मानवे । राजानगामन्य ततः कुर्याःसेतु-  
प्रवर्तनम् ॥' इति ॥ १५६ ॥

भाषा—योही भूमि क लगने में बहुत कल्याण देने वाला सेतु दूसरे  
के भूमि में बनाने पर भी भूमि का स्वामी मना न करे । दूसरे की  
भूमि लेकर कुर्खी बनवाने पर भूमि की हानि कम होती है और उससे जल  
का लाभ अधिक होता है ॥ १५६ ॥

क्षेत्रस्वामिनं प्रत्युपदिष्टम् , इदानीं सेनोः प्रवर्तयितारं प्रत्याह—

स्वामिने योऽनिवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रवर्तयत् ।

उत्पन्ने स्वामिनो भोगस्तद्भावे महीपतेः ॥ १५७ ॥

क्षेत्रस्वामिनमनभ्युपगम्य तदभावे राजान वा य परक्षेत्रे सेतुं प्रवर्त-  
यस्वमौ फलभाङ् न भवति, अपि तु तदुत्प ने फले क्षेत्रस्वामिनो भोगस्तद्  
भावे राज्ञ् । तस्मात्प्रार्थयथा अर्थदानेन वा क्षेत्रस्वामिन तदभावे राजान  
वाऽनुज्ञाप्यैव परक्षेत्रे सेतु प्रवर्तनीय इति तात्पर्यार्थं ॥ १५७ ॥

भाषा—जो खेत के स्वामी से बिना पूछे ही खेत में सेतु बनाता है,  
उसमें फल होने पर खेत का स्वामी ही उपरका अधिकारी होता है । उसके न  
होने पर वह लाभ राजा को प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

क्षेत्रस्वामिना सेतुर्न प्रतिषेध इत्युक्तम्, इदानीं तस्यैव प्रसक्तानुप्रसक्तया  
अचिद्विधेय-तरमाह—

फालाहतमपि क्षेत्रं न क्षुर्याद्यो न कारयेत् ।

स<sup>३</sup> प्रदाप्यः कृष्टफलं क्षेत्रमन्येन कारयेत् ॥ १५८ ॥

य पुन क्षेत्रस्वामिपार्षे 'अहमिद क्षेत्रं कृषामि' इत्यह्नीकृत्य पश्चादुत्प  
नति, न चान्येन कर्षयति, तच्च क्षेत्रं यद्यपि फालाहत ईपद्धलेन विदारित  
न मन्थरीजावापाहं तथाऽपि तस्याकृष्टस्य फलं यावत्तत्रोत्पद्येहं साम तादि  
कल्पित भावदमी कर्षको दापनीय । तच्च क्षेत्रं पूर्वकर्षकादाच्छिद्यान्येन  
कारयेत् ॥ १५८ ॥

भाषा—जा खेत क स्वामी से खेत लेकर थोड़ा जोतकर फिर न  
अपने जोतता है और न किसी दूसरे को जोतने देता है उससे उस खेत में  
जितना पैदा होता है उतना अन्न दिलावे और खेत दूसरे को जोतने क  
लिष्ट देवे ॥ १५८ ॥

इति सीमाविवादप्रकरणम् ।

अथ स्वामिपालविवादप्रकरणम् १०

व्यवहारपदाना परस्परहेतुहेतुतद्भावाभावात् 'तेषामाद्यमृगादानम्' इत्यादि  
पाठक्रमो न विवक्षित इति ध्युक्त्वेन स्वामिपालविवादोऽभिधीयते—

मापानशौ तु महिषी सस्यघातस्य कारिणी ।

दण्डनीया तर्द्धं तु गौरस्तर्द्धमजायिवम् ॥ १५९ ॥

१ भ्युपगमय । २ यो न क्षुर्या-न । ३ त प्रदाप्या  
कृष्टशब्द (= शब्द क्षेत्रस्य फल, अकृष्टस्य क्षेत्रस्य शब्द । अकृष्टेऽपि क्षेत्रे  
त प्रदाप्य क्षेत्रम यथापद्यत् ) । ४ हेतुमद्भावात् ।

परसस्यविनाशकारिणी महिषी भष्ट्री मापान्दण्डनीया । गीस्तदर्धं चतुरो मापान् । अजा मेपाश्च मापद्वय दण्डनीया । महिष्यादीनां घनसवन्धभायात्तस्त्वामी पुरुषो लघ्यते । मापश्चात्र ताञ्जिकपणस्य विंशतितमो भाग । 'मापो विंशतितमो भाग पणस्य परिकीर्तित' इति नारदस्मरणात् । एतच्चाज्ञानविषयम्, ज्ञानपूर्वं तु 'पणस्य पादौ द्वौ गौ तु द्विगुण महिषी तथा । तथाऽज्ञाविकवरसाना पादौ दण्ड प्रकीर्तित ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्त द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्भरिदेनोक्तम् ( ११।३१ )—'माप गा दापयेदण्ड द्वौ मापौ महिषी तथा । तथाऽज्ञाविकवरसानां दण्ड स्यादर्धमापिक ॥' इति तत्पुन प्ररोहयोग्यमूला वशेषमक्षणविषयम् ॥ १५७ ॥

भाषा—यदि किसी की भैंस दूसरे की फसल नष्ट करे तो उससे शाठ माप दण्ड लेना चाहिए, गाय करे तो उसके आधे चार माप दण्ड ले और बकरा तथा भेंद करे तो उसके भी आधा ( दो माप ) दण्ड वसूल करे ॥ १५९ ॥

अपराधातिशयेन क्वचिदण्डद्वैगुण्यमाह—

भक्षयित्तपोपविष्टानां यथोक्ताद् द्विगुणो दम ।

यदि पशव परचेत्रे सस्य भक्षयित्वा तत्रैवानिवाहिता शेरते तदा यथोक्तादण्डाद् द्विगुणो दण्डो वदितव्य । सवरसाना पुनर्भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्तदण्डाच्चतुर्गुणो दण्डो वदितव्य । 'वसता द्विगुण प्रोक्त सवरसाना चतुर्गुण' इति वचनात् ॥

चेत्रा-तरे पश्व-तरे वातिदेशमाह—

सममेपा विधीतेऽपि खरोष्ट्रं महिषीसमम् ॥ १६० ॥

विधीत प्रचुरशृङ्गकाष्ठो रक्ष्यमाण परिशुद्धीतो भूपदेश तदुपघातेऽशीत रक्षेत्रदण्डेन सम दण्डमेपा महिष्यादीनां विधात् । एतश्च उष्ट्रश्च खरोष्ट्र त-महिषीसमम् । महिषी यत्र यादनेन दण्डेन दण्ड्यते तत्र तादनेनैव दण्डेन खरोष्ट्रमपि प्रत्येक दण्डनीयम् । सस्योपरोधकत्वेन खरोष्ट्रयो प्रत्येक महिषीतु स्यात्वादण्डस्य चापराधानुसारिवाखरोष्ट्रमिति ममाहारो न विवक्षित ॥ १६० ॥

भाषा—यदि पशु किसी दूसरे की फसल चरकर पटो बैंग भा हो तो, भी यथाय गय दण्ड का दूना दण्ड होना है । त्रिबीत ( चाड़े ) में भैंस आदि प्रवेश करे तो पहले क समान ही दण्ड ले । इस लक्ष्य में गददा और ऊँ के लिये भी भैंसे के समान दण्ड दाना है ॥ १६० ॥

परसस्यविनाशे गोस्वामिनो दण्ड उक्त, इदानीं क्षेत्रस्वामिने फलमप्यसौ दापनीय इत्याह—

यांचत्सम्यं विनश्येत्तु ताचत्स्यारक्षेत्रिण फलम् ।

गोपस्नाह्यश्च गोमी तु पूर्वोक्तं दण्डमर्हति ॥ १६१ ॥

‘सस्य’ग्रहण क्षेत्रोपचयोल्लङ्घनार्थम् । यस्मिन्क्षेत्रे यावत्पालधाम्यादिक गवादिभिर्विनाशित नावत्क्षेत्रफल ‘एतावति क्षेत्रे एतावद्भवति’ इति सामन्तैः परिकल्पित तत्क्षेत्रस्वामिने गोमी दापनीय । गोपस्तु ताडनीय एव, न फल दापनीय । गोपस्य च ताडन पूर्वोक्तघनदण्डसद्वितमेव पालदोषेण सस्यनाशे दृष्टव्यम् । ‘या नष्टा पालदोषेण गौरसु सस्थानि नाशयत् । न तत्र गोमिनां दण्ड पालस्त दण्डमर्हति ॥’ इति वचनात् ॥ गोमी पुन स्वापराधेन सस्यनाशे पूर्वोक्त दण्डमेवाहर्ति, न ताडनम् । फलदानं तु सर्वत्र गोस्वामिन् एव, तत्फलपुष्टमहिष्यादिकारेणोपभोगद्वारेण तत्क्षेत्रफलभागिस्त्वान् । गवादि भक्षितावशिष्ट पञ्जालादिक गोमिनैव ग्रहीतव्यम् । मध्यस्थकल्पितमूल्यदानन क्तीतमायत्वात् । अत एव नारद — गोभिस्तु भक्षित सस्य यो नर मनियाचते । सामन्तानुमत देय धान्य यत्तत्र वापितम् ॥ पालाल गोमिने देय चान्य वै कर्षकस्य तु ॥’ इति ॥ १६१ ॥

भाषा—गौं के निकट के मार्ग में, और पशुओं के खड़े के निकट के जितनी फसल खरे या नष्ट किये हो उतने का फल खेत के स्वामी को मिले । चरवाहे को पीटना चाहिए और गाप के स्वामी से उपरोक्त दण्ड ही लेना चाहिए ॥ १६१ ॥

क्षेत्रविशेषे अपवादमाह—

पथि ग्रामविधीतान्ते क्षेत्रे दोषो न विद्यते ।

अकामत. कामचारे चौरवदण्डमर्हति ॥ १६२ ॥

पथि मार्गसमीपवर्तिनि क्षेत्रे ग्रामविधीतसमीपवर्तिनि च क्षेत्रे अकामतो गोभिर्भक्षिते गोपगोमिनोर्द्वयोरेष्यदोषः । दोषाभावप्रतिपादन च दण्डाभावाय विनष्टसस्यमूल्यादानप्रतिषेधार्थं च । कामचारे कामतश्चारेण चौरवत् चौरस्य यादृशो दण्डस्तादृश दण्डमर्हति । एतच्चानामृतक्षेत्रविषयम्, ‘तत्रापरिवृत धान्य विहिरसु पशवो यदि । न तत्र प्रणयेदण्डं नृरति पशुरक्षिणाम् ॥

१. विनश्येत् ताचत्क्षेत्री फल लभेत् । २. पालस्ताह्योश्च गोमी तु पूर्ववदण्ड । पालस्ताह्योश्च गोमी तु पूर्वोक्त । ३. गोमिन एव । ४ मूल्यद्वारेण । ५ गोमिनो देय ।

८।२३८) — इति दण्डाभावस्यानागतचेत्रविषयत्वेन मनुनोक्तत्वात् । आगृते पुनर्मागंदिक्षेत्रेऽपि दोषोऽस्त्येव । वृत्तिकरणं च तेनैवोक्तम् । 'वृत्तिं च तत्र कुर्वीत यामुप्यो नाचलोकयेत् । द्विजं निवारयेत्सर्वं शम्भूकरमुत्पानुगम् ( मनुः ८।२३९ ) इति ॥ १६२ ॥

भाषा—गाँव के निःकट के मार्ग में और पशुओं के चाड़े से सटे हुए जेन में भूल से पशुओं के पड़ जाने पर कोई दोष नहीं होता । जानबूझ कर पशुओं को छोड़ने वाला चोर के समान दण्डनीय होता है ॥ १६२ ॥

पशुविशेषेऽपि दण्डाभावमाह—

महोक्षोत्सृष्टपशवः सूतिकागन्तुश्चादयः ।

पालो येषां न ते मोक्ष्या दैवराजपरिप्लुता ॥ १६३ ॥

महाश्रासातुचा च महोक्षो वृष सेचा । उत्सृष्टपशवः पृथोरसर्गादिनिषा-  
नेन देवतोद्देशेन वा त्यक्ता । सूतिका प्रसृता अनिर्देशाहा, आगन्तुकः  
स्वयूधात्परिभ्रष्टो देशान्तरादागतः । एते मोक्ष्या परसत्यभक्षणोऽपि न दण्ड्या ।  
येषां च पापे न विद्यते तेषुपि दैवराजपरिप्लुता दैवराजोपहता सत्यविनाश  
कारिणो न दण्ड्या । आदिशब्दप्रहणाद्भ्रष्टवशादयो गृह्यन्ते । ते चोक्तान्  
मोक्षा — 'अदण्ड्या हस्तिचो ह्यथा प्रजापाला हि ते स्मृता । \*अदण्ड्यौ  
काणकुञ्जौ च ये शशरकृतलक्षणा ॥ अदण्ड्यागन्तुकी गौश्च सूतिका वाऽभिया-  
रिणी । अदण्ड्याशोऽस्येव गावः श्राद्धकाले तथैव च ॥' इति । अत्रोत्सृष्टपशूनाम्  
स्वामिकत्वेन दण्डयत्वात्समाप्तत्वात् इष्टान्तरार्थमुपादानम् । यथोत्सृष्टपशवो न  
दण्ड्या एव महोक्षादप्य इति ॥ १६३ ॥

भाषा—साँड, यज्ञ विधि से छोड़े पये पशु, दस दिन से कम की ब्याई  
हुई गाय, अपने गिरोह से भटक कर भाये हुए पशु को छोड़ देना चाहिए  
( दण्ड नहीं देना चाहिए ) । जिसने पालने वाला न हो और जो राजा  
या देव से पीड़ित हो ऐसे पशु को ( खेत चरने पर भी ) छोड़ देना  
चाहिए ॥ १६३ ॥

गोस्वामिन उक्तम् , इत्यानीं गोप प्रशुपदिश्यते—

यथार्पितान्पशून्गोप स्वार्थं प्रत्यर्पयेत्तथा ।

प्रमादमृतनश्रांश्च प्रदाप्य कृतपेतनः ॥ १६४ ॥

१ सूतिकागन्तुकी च गी । २ च । ३. राजदैवपरि । ४ अदण्ड्या  
काणकुञ्जाश्च घृताश्च कृतलक्षणा ।



गोरस्वामिना प्रातः काले यथा गणयित्वा समर्पिता पशवस्तथैव सायंकाले गोपो गोरस्वामिने पशून् विगणय्य प्रत्यर्पयेत् । प्रभादेन स्वापराधेन मृताक्ष-  
 षाश्च पशून् कृत्वैतन्न कल्पितवैतनो गोप स्वामिने दाप्य । वैतनकल्पना च  
 नारदेनोक्ता ( ६।१० )—‘गवो शताद्भ्रसतरी धेनु स्याद् द्विशताभृति ।  
 प्रतिसवस्वर गोपे सशोहश्चाष्टमेऽहनि ॥’ इति । प्रभादनाशश्च मनुना स्पष्टी-  
 कृत ( ८।२३२ )—‘नष्ट जग्ध च कृमिभिः श्वहत त्रिपमे मृतम् । हीन पुरुष  
 कारणेन प्रदद्यात्पाल एव तु ॥’ इति ॥ प्रसङ्ग चौरैरपहत<sup>२</sup> न दाप्य । यथाऽऽह  
 मनु ( ८।२३३ )—‘विक्रम्य<sup>३</sup> तु हत चौरैर्न पालो दातुमर्हति । यदि दैवो च  
 काले च स्वामिन इत्यस्य शंसति ॥’ इति । दैवमृतानां पुन कर्णादि प्रदर्श-  
 नीयम् । ‘कर्णौ चर्म च वालाश्च वस्ति स्नायु च रोचनाम् । पशुषु स्वामिना  
 दद्यान्मृतेष्वङ्गानि<sup>४</sup> दर्शयन् ॥’ ( ८।२३४ ) इति मनुस्मरणात् ॥ १६४ ॥

भाषा—प्रातः काल जैसा पशु स्वामी ने गोप ( चरवाहे ) को मोंपा हो  
 जैसा ही ( उतने ही ) पशु सम्भ्या को घह ( गोप ) स्वामी को लौटावे । यदि  
 पशु उसरी असायधानी से मर गया हो या खो गया हो तो स्वामी उसका  
 वैतन ठहरा कर उसमें से उस पशु का मूल्य ले लेवे ॥ १६४ ॥

पालदोषविनाशे तु पाले दण्डो विधीयते ।

अर्धत्रयोदशपण. स्वामिनो द्रव्यमेव च ॥ १६५ ॥

किंच, ‘पालदोषेणैव पशुविनाशे अर्धाधिकत्रयोदशपण दण्ड पालो दाप्य ।  
 स्वामिनश्च द्रव्य विनष्टपशुमूल्य सभ्यस्यकल्पितम् । दण्डपरिमाणार्थं श्लोक,  
 अन्यत्पूर्वोक्तमेव ॥ १६५ ॥

भाषा—चरवाहे के दोष से पशु का नाश होने पर चरवाहे से साढ़े  
 तेरह पण दण्ड स्वामी को दिलावे ॥ १६५ ॥

गोप्रसङ्गात् गोप्रचारमाह—

प्राग्भ्येच्छया गोप्रचारो भूमिराजघशेन वा ।

द्विजस्तृणैश्च पुष्पाणि सर्वत सर्वदा हरेत् ॥ १६६ ॥

प्राग्भ्येच्छया प्राग्भ्यजनेच्छया भूम्यक्षयवमहत्त्वापेक्षया राजेच्छया वा गोप्र-  
 चार कर्तव्य । गजादीनां प्रचारणार्थं कियानपि भूभागोऽकृष्ट परित्स्वपनीय

१ द्विशताभृति । २ अपहतान् । ३ विघ्नप्य स्थिति । ४ दैव-  
 राजमृतानां । ५ पशुस्वामिषु दद्यात्तु मृतेष्वङ्गानि । पशुस्वामिषु दद्यात्तु  
 मृतेष्वङ्गानि । ६ अङ्गादि दर्शयेत् । ७ स्वामिने । ८ दोषेण पशु ।  
 ९ प्राग्भ्येच्छया । १० सर्वत समुपाहरेत् । ११ चरणार्थं ।

इत्यर्थः । द्विजस्तृणेष्वनाद्यभावे गशान्निदेवतार्थं तृणकाष्ठतृणानि सर्वतः स्वय-  
दनिवारिण आहरेत् । फलानि स्वपट्टनादेव । 'गोऽग्न्यर्थं तृणमेधासि वीरुदन-  
स्वतीनां च पुष्पाणि स्वपट्टादद्रीत फलानि चापरिवृत्तानाम्' ( गौ. १२।२८ )  
इति गौतमस्मरणात् । एतच्च परिवृत्तविषयम् । अपरिवृत्तते तु द्विजस्यति-  
रिक्तस्यापि परिग्रहादेव स्वयमिन्देः । यथा तेनैवोक्तम्—'स्वामी रिक्यक्रय-  
संविभागपरिग्रहाधिगमेषु' ( गौ. १३।३९ ) इति । यत्पुनरुक्तम्—'तृणं वा  
यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् । अनापृच्छन्निह गृह्णानो हस्तच्छेदन-  
मर्हति ॥' इति, तद्द्विजस्यतिरिक्तविषयमनापद्विषयं वा गवादिष्यतिरिक्तविषयं  
वेति ॥ १६६ ॥

भाषा—गाँव के लोगों की इच्छा से अथवा राजा की आज्ञा से गौओं  
के चरागाह के लिये भूमि पतानी चाहिए । द्विज जलाने के लिये ईंधन और  
पुष्प सभी स्थानों में सदा ये रोक टोक ले सकता है ॥ १६६ ॥

इदमपर गवादीनां स्थानासक्तौक्यार्थमुच्यते—

धनुःशतं परीणाहो ग्रामे क्षेत्रान्तरं भवेत् ।

द्वे शते स्वर्पटस्य स्यान्नगरस्य चतुःशतम् ॥ १६७ ॥

ग्रामक्षेत्रपौरान्तरं धनुःशतपरिमितं परीणाहोः सर्वतोदिर्शमनुष्ठसस्यं वा-  
च्यम् । स्वर्पटस्य प्रचुररक्ष्यन्तानस्य ग्रामस्य द्वे शते परीणाहः । नगरस्य  
वहुजनसंकीर्णस्य धनुषां चतुःशतपरिमितमन्तरं कार्यम् ॥ १६७ ॥

भाषा—गाँव के चारों ओर सौ धनु स्थान छोड़े, स्वर्पट ( कस्ये ) के  
चारों ओर दो सौ धनुष और नगर के चारों ओर चार सौ धनुष स्थान  
छोड़ देना चाहिए ॥ १६७ ॥

इति स्वामिपालविवादप्रकरणम् ।

### अथास्वामिविक्रयप्रकरणम् ११

संप्रथमस्वामिविक्रयार्थं व्यवहारपदमुपजन्मते । तस्य च लक्षणं नारदेनो-  
क्तम् ( ७।१ )—'निहितं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहत्य वा । विनीयतेऽयमर्घं  
यस्तु ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः ॥' इति, तत्किमिषाह—

स्वं लभेतान्यविक्रीतं क्रेतुर्दोषोऽप्रकाशिते ।

हीनाद्द्रव्यो हीनमूल्ये विलाहीने च तस्करः ॥ १६८ ॥

१. स्वपरिवृत्तादेव । २ परीणाहः ( = परिहितं कृत्वाधिकं ) । ३. ग्राम-  
क्षेत्रान्तरं । ४. स्वर्पटस्य ( = ग्रामनगरोदयधर्मयुक्तस्य ) । ५. परि-  
णाहः । ६. विचचनुष्ठसस्यं ।

स्वमात्मसंबन्धि द्रव्य अन्यविक्रीतमस्वामिविक्रीत यदि पश्यति, तदा लभेत गृहीयात्, अस्वामिविक्रयस्य स्वस्वहेतुत्वाभावात्। 'विक्रीत' ग्रहण दत्ता हितयोरपलक्षणार्थम्, अस्वामिविक्रीतत्वेन तुल्यत्वात्। अत एवोक्तम्— 'अस्वामिविक्रय दानमार्धि च विनिवर्तयेत्' इति। केतु पुनरप्रकाशने गोपिते ऋषे दोषो भवति। तथा हानात्तत्तद्द्रव्यागमोपायहीनाद्रहसि चैकान्ते सभाभ्य-द्रव्यादपि हीनमूषयेनावरतरेण च मूषयेन क्रये वेलोहीने वेलया हीनो वेलो हीनः, क्रयो राश्यादौ कृतस्तत्र च केता तस्करो भवति। तस्करवदृष्टभा रभवतीत्यर्थः। यथोक्तम् (ना० ७।१।३-५)—'द्रव्यमस्वामिविक्रीतं प्राप्य स्वामी तदाप्नुयात्। प्रकाश क्रयत शुद्धि केतु स्तेय रह क्रयात् ॥' इति ॥ १६८ ॥

भाषा—अपनी वस्तु किसी दूसरे के पास बेची हुई देखे तो उसे ले लेवे। चोरी छिपे क्रय करने में केता को दोष होता है। हीन ( जिसके पास वह वस्तु सामान्यत नहीं होनी चाहिए ) व्यक्ति से एकान्त में कममूल्य पर और अयुक्त समय पर ( रात्रि में ) खरीदे तो केता चोर होता है ॥ १६८ ॥

स्वाम्यभियुक्ते केता किं कर्त्तव्यमित्यत आह—

नष्टापहृतमासाद्य हर्तारं प्राहयेन्नरम् ।

देशकालातिपत्तौ च गृहीत्वा स्वयमर्पयेत् ॥ १६९ ॥

नष्टमपहृत चाऽऽन्यदीय क्रयादिना प्राप्य हर्तारं विक्रेतारं नरं प्रहयेत् चोरोद्धरणकादिभिः आरम्भविशुद्धयर्थं राजदण्डाप्राप्त्यर्थं च। अथाविदितदेशान्तरगत कालान्तरे वा विपन्नस्तदा मूलसमाहरणशक्तेर्विक्रेतारमदर्शयित्वा स्वयमेव तद्वन नाष्टिकस्य समर्पयेत्। तावत्तैवासौ शुद्धो भवतीति धीवराचार्येण व्याख्यातः—तद्विदमनुपपन्नम्, विक्रेतुर्दर्शनान्शुद्धि' ( व्य० ३०० ) इत्यनेन पौनस्वत्यप्रसङ्गात्। अतोऽन्यथा व्याख्यायते नष्टापहृतमिति। नाष्टिक प्रत्यय-मुपदेश। नष्टमपहृत चाऽऽऽमीयद्रव्यमासाद्य केतुद्वस्तस्य ज्ञात्वा त हर्तारं केतारं स्थानपालादिभिर्प्राहयेत्। देशकालातिपत्तौ देशकालातिक्रमे स्थानपालाद्यसन्निधाने तद्विज्ञापनकालात्पाक् पलायनाशङ्काया स्वयमेव गृहीत्वा संभ्य-समर्पयेत् ॥ १६९ ॥

भाषा—अपनी खोई हुई या चोरी गई हुई वस्तु देखे तो उसके विक्रेता को पकड़वाये, यदि उसके कहीं भाग जाने या देर होने की आशंका हो स्वयं पकड़ कर स्थानपाल के पास ले जावे ॥ १६९ ॥

१ अस्वामिक्रीतेन ।

२ क्रये ।

३ वा ।

४ विक्रेतार

प्राहयेत् । ५. तद्विज्ञापकारणात् ।

प्राहिते हर्तरि किं कर्तव्यमिरयत आह—

विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः स्वामी द्रव्यं नृपो दमम् ।

क्रेना मूल्यमवाप्नोति तस्माद्यस्तस्य विक्रयो ॥ १७० ॥

यद्यसौ गृहीतः क्रेना 'न मयेदमपहनम्, अन्यसजाताःश्वीनम्' इति वक्ति, तदा तस्य क्रेनुविशेषतुर्दर्शनमात्रेण शुद्धिर्भवति । न पुनरसावभियोऽयः, किंतु तस्मद्दर्शितेन विज्ञेया सह नाष्टिकस्य विवादः; यथाऽऽह दृढस्वपतिः—'मूले समाहृते क्रेता नाभियोऽयः कथंचन । मूलेन सह यादस्तु नाष्टिकस्य विधीयते ॥' इति ॥ तस्मिन् विवादे यद्यस्वामिविक्रयनिश्चयो भवति, तदा तस्य तष्टापह-तस्य गवादिद्रव्यस्य यो विक्री विक्रेता तस्य सकाशात्स्वामी नाष्टिकः स्वीयं द्रव्यमवाप्नोति; नृपश्चापराधानुरूपं दण्डः; क्रेता च मूल्यमवाप्नोति । अथामी देशान्तरगतस्तदा योजनसंख्याया आनयनार्थं कालो देयः; 'प्रकाश वा कथं कुर्यान्मूलं वापि समर्पयेत् । मूलानयनकालश्च देयस्तत्राऽऽयंशवया ॥' इति स्मरणात् ॥ अथाविशातदेशतया मूलमाहर्तुं न शक्नोति, तदा कथं शोधयिष्येव शुद्धो भवति; 'असमाहार्यमूलस्तु ऋषमेव विशोधयेत्' इति वचनात् ॥ यदा पुनः साधयादिभिर्द्रव्येन वा कथं न शोधयति मूलं च न प्रदर्शयति, तदा स एव दण्डभाग्भवति ॥ इति; 'अनुपस्थापयन्मूलं कथं वाऽऽवविशोधयत् । यथाऽभियोगं धनिने धनं दास्यो दमं च स.' ॥ इति मनुस्मरणात् ॥ १७० ॥

भाषा—यदि ऐमी वस्तु को बेचने वाला अपने पूर्य के विक्रेता को द्रव्य वा दे तो छूट जाता है । राजा इन विक्रेता से स्वामी को वस्तु दिखावे क्रेता अपना मूल्य उस व्यक्ति से प्राप्त कर लेता है जिसने उसे पहले बेचा हो ॥ १७० ॥

'स्वं लभेताव्यविस्तीतम्' ( व्य० १६८ ) इत्युक्तं, तद्विद्वत्सुना किं कर्तव्य-मिरयत आह—

आगमेनोपभोगेन नष्टं भाव्यमतोऽन्यथा ।

पञ्चमन्वो दमस्त्वेस्य राज्ञे तेनाविभाषिते ॥ १७१ ॥

आगमेन विषयत्वादिना उपभोगेन च 'मदीयमित्यं द्रव्यं तस्त्वेवं नष्टमप-हनं वा द्रव्यं' भाष्यं साधनीयं तस्त्वामिना । अतोऽन्यथा तेन स्वामिना अद्रिभाषिते पञ्चमन्वो नष्टद्रव्यस्य पञ्चमन्वो दमो व्याष्टिकेन राज्ञे देवः । अत्र चायं मम—पूर्वस्वामी नष्टमाग्रीय साधयेत्, तथाः क्रेता धीर्यपरिहारार्थं मूल्यलभाय च विक्रेतारमानयेत्, अथानेतुं न शक्नोति तदाऽमर्दं परिहाराय कथं साधयिष्या द्रव्यं नाष्टिकस्य समर्पयेदिति ॥ १७१ ॥

१. स्तत्र ।

२. स्तत्र राज्ञस्तेनापि भाष्यते ।

३. धेनि भाष्यं ।

४. शोधयिष्या ।

भाषा—जागम ( लेप ) और उपभोग द्वारा खोई हुई वस्तु पर अपने स्वल्प को प्रमाणित करे, अन्यथा प्रमाणित न कर सकने पर वस्तु क मूल्य का पञ्चमाश राजा दण्ड के रूप में उसमें वसूल करे ॥ १७१ ॥

तस्करस्य प्रच्छादक प्रत्याह—

हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परदस्तादद्यान्नुयात् ।

अनिवेद्य नृपे दण्ड्य स तु पण्यवर्ति पणान् ॥ १७२ ॥

हृतं प्रनष्टं वा चौरादिदस्तस्य द्रव्य 'अनेन मदाय द्रव्यमपहृतम्' इति नृपस्यानिवेद्येव दर्पादिना यो गृह्णाति असौ पशुत्तराशवति पणान्दण्डनीय, तस्करप्रच्छादकत्वेन दुष्टवान् ॥ १७२ ॥

भाषा—जो अपनी चोरी गई हुई या खोई हुई वस्तु दूसरे व्यक्ति के हाथ से राजा से बिना प्रार्थना किये हा लेता है तो उसे छिपाने वाले का दण्ड देना होता है ॥ १७२ ॥

राजस्वपानीत प्रत्याह—

शौक्तिकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् ।

अर्वाकसंघत्सरात्स्वामी हरेत परतो नृप ॥ १७३ ॥

यदा तु शुल्काधिकारिभिः स्थानरजिभिर्वा नष्टमपहृतं द्रव्यं राजपार्श्वं प्रस्थानात्, तदा स्वस्वरादर्वाकं प्राप्तश्चेत् शौक्तिकस्तद्द्रव्यमवाप्नुयात्, ऊर्ध्वं पुनः स्वस्वराद्वाजा गृह्णीयात् । स्वपुरुषानीतं च द्रव्यं जनसमूहेपुच्छोप्य वावत्सवत्सवराशा रक्षणाय, यथाऽऽह गौतम ( १०-३६।३० )—'प्रनष्टस्वामिक-मधिगम्य राज्ञे प्रमूयु । विद्ययाप्य स्वस्वराशा रक्षयम्' इति । यत्पुनर्मनु-नाऽव्यन्तरमुक्तम् ( ८।३० )—'प्रनष्टस्वामिकं द्रव्यं राजा श्यब्धं निधापयत् । अर्वाकं श्यब्दाद्धरेत्स्वामिं परतो नृपतिर्हरेत् ॥ इति,—सच्छुतवृत्तसपञ्चमाह्वण-विषयम् । रक्षणनिमित्तपद्भागदिप्रहणं च सेनैवोक्तम् ( मनु ८।३३ ) 'आद-दीताथ पद्भागं प्रनष्टाधिगताम्नृप । दशमं द्वादशं वापि सता धर्ममनुसरन् ॥' इति ॥ तृतीयं द्वितीय-प्रथमसप्तमरेषु यथाक्रमं पष्टदशो भागा वेदितव्या । प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तात् ॥ १७३ ॥

भाषा—शुल्क लेने वाले अधिकारी और स्थानपाल यदि किसी की खोई हुई या चोरी गई वस्तु लेकर राजा का दें। यदि उस का स्वामी उसे एक वर्ष के भीतर ही लेने आवे तब तो वह पात्र है अन्यथा ( एक वर्ष के बाद ) वह राजा का हो जाता है ॥ १७३ ॥

मनुक्तपद्मभागादिग्रहणस्य द्रव्यविशेषेऽपवादमाह—

पणानेकशफे दद्याच्चतुरः पञ्च मानुषे ।

महिषोप्सृगवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके ॥ १७४ ॥

एकशफे अखादीं प्रनष्टाधिगते तस्वामी राज्ञे रक्षणनिमित्तं चतुरः पणा-द-  
द्यात् । मानुषे मनुष्यजातीये द्रव्ये पञ्च पणान्, महिषोप्सृगवां रक्षणनिमित्तं  
प्रत्येकं द्वौ द्वौ पणौ, अजाविके पुनः प्रत्येकं पादं पादम् । 'दद्यात्' इति सः त्रा-  
नुपसृजते । अजाविकमिति समासनिर्देशेऽपि 'पादं पादम्' इति वीष्मादला-  
प्रत्येकं संबन्धोऽवगम्यते ॥ १७४ ॥

भाषा—एक खुरवाले घंड़े आदि पशुओं के लो जाने के बाद पुनः  
मिलने पर चार, खोरे दुग् मनुष्य के मिलने पर पाँच, भैस, ऊँट और गाय  
के मिलने पर दो-दो पण और बकरा तथा भेड़ के मिलने पर चौथाई पण  
राजा को देवे ॥ १७४ ॥

दत्तस्यामिप्रियप्रकरणम् ।

### अथ दत्ताप्रदानिकप्रकरणम् १२

अधुना विहिताविहितमार्गाश्रयत्तया दत्तानपवर्गं दत्ताप्रदानिकमिति च  
सद्व्याभिधानद्वयं दानाश्रयं व्यवहारपदमभिधीयते । तस्वरूपं च नारदेनोक्तम्  
(४११)—'दत्त्वा द्रव्यमममममः पुनरादातुमिच्छति । दत्ताप्रदानिकं नाम व्यव-  
हारपदं हि तत् ॥' इति । असम्यगविहितमार्गाश्रयेण द्रव्यं दत्त्वा पुनरादातु-  
मिच्छति यस्मिन्निर्वादापदे तद्दत्ताप्रदानिकम्—दत्तस्याप्रदानं पुनर्हरणं यस्मिन्दा-  
नाश्रये तद्दत्ताप्रदानिकं नाम व्यवहारपदम् । विहितमार्गाश्रयत्वेन तत्प्रतिपद्यभूतं  
तदेव व्यवहारपदं दत्तानपवर्गं-वर्गार्थोक्तं भवति । दत्तस्यानपवर्गं अधुनराहानाश्रयं  
यत्र दानाश्रये विवादपदे तद्दत्तानपवर्गं । तत्र देयादेयादिभेदेन चतुर्विधम् ।  
यथाऽऽह नारदः ( ४१२ )—'अथ देवमदेयं च दत्तं वाऽश्तमेव च । व्यवहारेषु  
विशेषो दानमार्गाश्रयविधः ॥' इति । तत्र देयमित्यनिषिद्धदानस्त्रियायोग्यमुच्यते ।  
अदेयमरजतया निषिद्धगणः वा दानानर्हम् । चापुनः प्रकृतिस्थेन दत्तमस्यावर्त-  
नीयं तद्दत्तमुच्यते । अदत्तं तु यत्प्रवाहाहणीयं तदुच्यते । तदेतत्संक्षेपतो  
निरूपयितुमाह—

मयं सुदुग्वाधिरोधेन देयं

स्वमासीयं सुदुग्वाधिरोधेन सुदुग्मवानुपरोधेन, सुदुग्मवर्णादिद्विमिति  
यावत् । तद्दद्यात् ; तद्वरणस्यापश्यव्यात् । यथाऽऽह मनुः ( १११ ० )—

१. आदिषोऽपु । २. दत्तानपवर्गं । ३. व्यवहारापदे । ४. रादानं ।

'वृद्धौ च मानाविनरी साध्या भार्या सुतः शिशुः । अप्यकार्यगतं कृत्वा मर्त्येभ्यः  
ममुरमवीत् ॥' इति । 'वृद्धुश्चापिराधेन' इत्यनेनादेवमेकविधं दर्शयति । 'एव  
दद्यात्' इत्यनेन चास्वभूतानामन्वहितयाचिनकाधिसाधारणनिक्षेपाणां पञ्चानाम-  
प्यदेयत्वं व्यतिरेकतो दर्शितम् ॥ यानुत्तर्नादेनाष्टविधत्वमदेयानामुक्तम् (४३ ४)  
— 'अन्वहित याचिनस्माधि साधारण च यत् । निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं  
चान्यथे सति ॥ आपस्वपि हि कष्टास्तु वर्तमानेन देहिना । अदेयान्याङ्गुराचार्या  
पञ्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥' इति,— एतद्देवत्वमाश्रमिप्रायेण, न पुन स्वराभावा-  
भिप्रायेण, पुत्रदारसर्वस्वप्रतिश्रुतेषु स्वरास्य सद्भावात् । अन्वहितादीनां स्वरूपं  
च प्रागेव प्रपञ्चितम् ॥

'एव दद्यात्' इत्यनेन दारसुतादेरपि स्वराविद्येगेन देवत्वप्रसङ्गे प्रतिषेधमाह—  
दारसुतादृते ।

गान्यथे सति सर्वस्वं यद्यान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ १७५ ॥

दारसुतादृते दारसुतव्यतिरिक्त एव दद्यात्, न दारसुतमिदं । तथा  
पुत्रपौत्राद्यन्यथे विद्यमाने सर्वं धनं न दद्यात् ; 'पुत्रानुरागघ्नं नृशृणु पृच्छति  
चैवं प्रकटयत्येत्' इति स्मरणात् । तथा द्विरण्यादिकमन्यस्मै प्रतिश्रुतमन्यस्मै  
न देयम् ॥ १७५ ॥

भाषा—दान इतना ही देना चाहिये जिसमे अपने कुटुम्ब के भरण  
पोषण में कठिनाई न हो । पुत्र और स्त्री दान में न देवे । यदि पुत्र और  
पौत्र आदि हों तो सब कुछ दान नहीं करना चाहिये ॥ १७५ ॥

एव दारसुतादिव्यतिरिक्त देवसुवत्या प्रसङ्गादेवधनप्रदण च प्रतिप्रहीना  
प्रकाशमेव कर्तव्यमित्याह—

प्रतिप्रदः प्रकाशः स्यात्स्वधायरस्य विद्योपनः ।

प्रतिप्रदणं प्रतिप्रद स प्रकाशः कर्तव्यो विवादानिराकरणार्थम् । स्वाध-  
रस्य च विद्योपनः प्रकाशमेव प्रकाशकार्यम्, तस्य सुवर्णादिवदात्मनि मिश्रणव्य  
दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥—

एव प्रासङ्गिकमुक्त्वा पट्टमनुसरणात्—

देयं प्रतिश्रुतं चैव दद्यात् नापदरेर्युतः ॥ १७६ ॥

देयं प्रतिश्रुतं चैव—दद्यात् धर्मार्थं प्रतिश्रुतं तन्मार्गं देयमेव पदवी 'धर्म-  
स्मर्युतो न भवति । स्मर्युते न पुनर्दानप्रयोगः' इतिश्रुत्यात्पदार्थमनुसाय न

१. नाश्रुतं सति सर्वस्व देयं दद्यात्स्वधायरस्य । २. धर्मस्मर्युतो ।

दत्तात्' (मी० ५।२३) इति शीतमरभरणात् । एषा नापदरेपुनः न्यायमार्गेण  
यत्नं तामसविधमपि पुनर्नापहर्तव्यम् । किंतु तर्थाशानुमन्तव्यम् । एतदुक्तं न्यायेन  
दत्तं तद्वत्तं षोडशप्रकारमपि प्रायाहर्तव्यमेवार्थाद्युक्तं भवति । नारादेन च  
(४।३)—'दत्तं तस्यविधं प्रोक्तमदत्तं षोडशात्मकम्' इति प्रतिपाद्य दत्तादत्तयोः  
स्वरूपं विवृतम्—'पण्यमूह्यं मृत्तिरदृष्टया स्नेहात्प्रत्युपकारतः । स्त्रीशुश्रूकानु-  
ग्रहार्थं च दत्तं दानविधौ विदुः ॥ अदत्तं तु भयश्लोभनोक्तवेगदत्तान्वितैः । तथो-  
क्तोचपरीहानस्पर्शसङ्कलयोगतः ॥ बालमूढास्वतन्त्रार्तसत्ते मत्तागवर्जितम् ।  
कर्ता ममेष्टं कर्मेति प्रतिलामेच्छया च यत् ॥ अपात्रे पात्रमित्युक्ते दायं चार्थम-  
संहिते । अदत्तं स्यादविज्ञानाददत्तमिति तत्तदुक्तम् ॥' (ना० ४।८, १९, ३१)  
इति । अद्यतनार्थः—पण्यस्य स्त्रीतद्व्यस्य यन्मूह्यं दत्तम्, मृत्तिर्वेतनं कृतकर्मणे  
दत्तम्, दृष्टया वन्दिचारणादिभ्यो दत्तम्, स्नेहाद् हुदित्वुप्रादिभ्यो दत्तम्, प्रत्यु-  
पकारतः 'उपहृतवते प्रायुपकाररूपेण दत्तम्, खाशुवद परिणयनाद्यं दन्याशादि-  
भ्यो यदत्तम्, यच्छानुग्रहार्थमदृष्टार्थं दत्तम्, तदेतत्तस्यविधमपि दत्तमेव न  
प्रथाहरणीयम् । भयेन वन्दिप्राहादिभ्यो दत्तम्, स्नेहेन 'पुत्रादिभ्यो वैरनिर्वात-  
नापान्यरमै दत्तम्, पुत्रविधोनादिनिमित्तनोकादेशेन दत्तम्, उरकोचेन वार्ध-  
प्रतिवन्धनिसापार्थमधिष्ठितेषो दत्तम्, परिहासेनोपहासेन दत्तम् । ईकः इत्  
द्वयमन्यरमै ददायन्तोऽपि सरमै ददातीति दानस्वरयात् । दृष्टयोगतः कृतदान-  
मभिसंधाय महत्तमिति परिभाष्य ददाति । बालेनाप्राप्तपोडनरपेण, मूढेन  
लोर्कत्रादानमिज्ञेन, अस्वतन्त्रेण पुत्रदासादिना, भातेन रोगामिभूतेन, मत्तेन  
मदनीयमत्तेन, उन्मत्तेन वातिवाद्युन्मादप्रस्तेन वा, अपवर्जितं दत्तम्, तथा—  
'अयं मद्दं यमिदं कर्म वरिष्यति' इति प्रतिलामेच्छया दत्तम्, अक्षतुर्देवाय  
'अक्षतुर्वदोऽहम्' इत्युक्तवते दत्तम्, 'दत्तं करिष्यामी'ति धनं लब्ध्वा घृतादी  
विनियुज्जानाय दत्तम्, इत्येव षोडशप्रकारमपि दत्तमदत्तमित्युच्यते, प्रथाहरणी-  
यत्वात् । भातदत्तस्यादत्तत्वं धर्मदार्थव्यतिरिक्तविषयम्, 'स्वस्तेनातेन वा  
दत्तं श्रावितं धर्मकारणात् । अदावा तु सृते दाय्यस्तस्मिन्तो नात्र सशयः ॥'  
इति कार्यापत्तरमरणात् ॥ तथेदमपरं सच्चिसार्थवचनं स्वर्विवादासाधारणम् ॥  
(मनु० ८।१६५)—'योगाधमनवित्तीत योगदानप्रतिग्रहम् । यस्य चाऽप्युपधि  
पश्यत्तरसर्धं विनिवर्तयेत् ॥' इति ॥ योग उपाधिः । यर्नागामिनोवाधिविशेषे-  
णाधिविच्छेदानप्रतिग्रहाः कृतारतदुपाधिविर्गमे तान् क्रयादीन्विनिवर्तयेदित्य-

१. धर्मस्युत्ते । २. उपहृते । ३. पुत्रादिवैर । ४. पृकोऽपि स्व  
द्रव्यः । ५. अप्राप्तव्यवहारेण । ६. लोकोपेदा । ७. मदीयं धर्मं । ८. येनो-  
पाधिः । ९. धिगमे क्रयादीन् ।



रथार्थः । य पुनः पं दशप्रकारमपि भदत्तं गृह्णाति, यश्चादेयं प्रयच्छति, तयो-  
र्दण्डो नारदेनोक्तः (८।१६५)—‘गृह्णात्यदत्त यो लोमाद्यश्चादेय प्रयच्छति ।  
अदेयदायको दण्डयस्तथा दत्तप्रतीच्छक ॥’ इति ॥ १७६ ॥

भाषा—दान सबके समुत्त लेना चाहिप और वह भी विशेषतः स्थावर  
(भूमि भादि) का दान तो सबके सामने लेना चाहिप । जो वस्तु मित्रको देने  
का संकल्प किया हो उसमें वह वस्तु अवश्य देवे और देकर पुनः अपहरण  
न करे ॥ १७६ ॥

इति दत्ताप्रदानिक नाम प्रकरणम् ।

### अथ क्रीतानुशयप्रकरणम् १३

अथ क्रीतानुशय वक्ष्यते । तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (९।१)—‘क्रीत्वा  
मूल्येन यः पण्यं क्रेता न ब्रह्म मन्वते । क्रीतानुशय इत्येतद्विवादादमुच्यते ॥’  
इति । तत्र च यस्मिन्नहनि पण्यं मीतं तस्मिन्नेवाहि तद्विद्वृतं प्रत्यर्पणीयमिति  
तेनैवं क्तम्—‘क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं क्रीतं मन्वते कथी । विद्वेतुः प्रतिदेयं  
तत्तस्मिन्नेवाह्वयविपुलम् ॥ ( ना० ९।२ इति ) । द्वितीयादिदिने तु प्रत्यर्पणे  
विशेषस्तेनैवोक्तं—‘द्वितीयादह्नि ददाक्रेता मूल्यमग्निदाशमाहरेत् । द्विगुणं तु तृती-  
यादह्नि परतं क्रेतुरेव तत् ॥’ (ना० ९।२) इति ॥ परतोऽनुशयो न कर्तव्य  
इत्यर्थः । एतच्च धाजादिव्यतिरिक्तापमोगाद्विनश्वरवस्तुविषयम् ॥

बीजादिक्रये पुनरन्य एव प्रत्यर्पणाप्रधिरित्याह—

दशौकपञ्चसप्ताहमासऽपहार्धमासिकम् ।

बीजायांघातारत्नखींदोष्यपुंसां परीक्षणम् ॥ १७७ ॥

बीजा मृदादिव्याजम्, भयो लोहम्, वायो बलीवर्दादि, रत्नं मुक्ताप्रका-  
लादि, स्त्री दासी, दोष्यं मदिप्यादि, पुमान् दाम, पृषो बीजादीनां यथाक्रमेण  
दशाहादिकं पञ्चाहाकालो विशेषः । परीक्ष्यमाणे च बीजादौ यद्यप्यवशं बुद्ध्याऽ-  
नुशयो भवति तदा दत्त हाद्यन्तरं एव कथमिच्छति, न पुनरुत्पत्तिमिच्छुपदेश-  
प्रयोजनम् । यस्तु मनुवाचनम् (८।२२२)—‘कृत्वा त्रिंशो वा क्रिषिदार्येहानु-  
शयो भवेत् । मऽनर्दशाहं तद्द्वयं दद्यत्तर्थाददेत च ॥’ इति,—तदुक्तलोहादिव्य-  
तिरिक्तोपमोगादिविनश्वरगृह्येयपानदायनाम्नादिविषयम् । सर्वं चैतदपरीक्षित-  
कृतविषयम् । यत्पुनः परीक्षितं ‘न पुनः प्रत्यर्पणीयम्’ इति समयं हावा क्रीतं-

१. तस्मिन्नहनि घातितम् । २. माहरेत् । ३. लोहादि । ४ मादि-  
त्यादि । ५. पमोगादिविनश्वर । ६ परीक्ष्य ।

तद्विमेषे न प्रत्यर्पणीयम्, तदुक्तम्—'जेता पण्यं परीक्षेत प्राक् स्वयं गुणदोषतः ।  
परीक्षयाभिमतं शीतं विमेषतुर्न भवेत्पुनः ॥' ( ना० १५८ ) इति ॥ १७७ ॥

भाषा—बोह्रि आदि का बीज, लोहा, भार ढाने वाले बैल आदि पशु,  
रत्न, स्त्री ( दामी ) भैंस आदि दूध देने वाले पशु और पुत्र्य ( दास ) का ऋष  
के उपरान्त परीक्षण का काल क्रमशः दूध, एक, पाँच, मात, दिन, एक  
मास, ३ दिन और एक पक्ष का होता है । ( अर्थात् निर्दिष्ट समय के भीतर  
ही फेर बदल हो सकता है ) ॥ १७७ ॥

दंष्ट्रादिपरीक्षागसङ्गेन स्वर्णादिरपि परीक्षामाह—

अग्नौ सुवर्णमक्षीणं रजते द्विपलं शते ।

अष्टौ प्रपुणि सीसे च नाम्ने पञ्च दशायलि ॥ १७८ ॥

पहली प्रताप्यमान सुवर्ण न क्षीयते, अतः षट्पादिसिद्धिर्वाग्धं यावत्सुवर्ण-  
कारहस्ते प्रक्षिप्त नायत्तुलित तं प्रत्यर्पणीयम्, एतदथा स्य दाप्या दण्ड्याश्च ।  
रजते तु शतपले प्रताप्यमाने पलद्वय क्षीयते । अष्टौ प्रपुणि सीसे च,  
'शते' इत्यनुवर्तते । प्रपुणि सीसे च शतपले प्रताप्यमानेऽष्टौ पत्रानि क्षीयन्ते ।  
नाम्ने पञ्च, दशायलि,—नाम्ने शतपले पञ्चपलानि, अथपि दशपत्रानि  
क्षीयन्ते । अत्रापि 'शते' इत्येव । कास्यस्य तु प्रपुणास्योन्निस्वात्तदनुवारेण  
स्यः कल्पनीयः । 'ततोऽधिनक्षयकारिणः शिषिपनो दण्ड्याः ॥ १७८ ॥

भाषा—आग में तपाने पर सोना बम नहीं होता, चोदी सौ में दो  
पल कम हो जाती है, पीतल और शीशा सौ में आठ पल, तीस पाँच पल  
और लोहा दस पल घट जाता है ॥ १७८ ॥

कचिरम्यलादो वृद्धिमाह—

शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पाससोत्रिके ।

मध्ये पञ्चपला वृद्धि सूक्ष्मे तु त्रिपला मता ॥ १७९ ॥

रघुलेनीसूत्रेण याज्ञम्यलादिकं विधत्ते तस्मिन् शतपले दशपला वृद्धि-  
र्वेदितव्या । एव कार्पाससूत्रनिर्मिते पटादौ वेदितव्यम् । मध्य अतिसूक्ष्म  
सूत्रनिर्मिते पटादौ पञ्चपला वृद्धि । सुसूक्ष्ममृत्ररचिते शते त्रिपला वृद्धिर्वेदि-  
तव्या । एतच्चाप्रकृतिलिखासोविषयम् ॥ १७९ ॥

१. द्विपल रजते शतम् । अष्टौ तु प्रपुणीसे च । २. तदनुवारेण ।  
३. इतोऽधिक । ४. कार्पासिरे तथा, कार्पासहेऽथ वा । मध्ये पञ्चपला  
हानिः ।

भाषा—ऊन और कपास क मटे सूत से कम्बल आदि बनाने में सौ पल में दस पल, मोटाई में मध्यम श्रेणी क सूत में पौन पल और पतले सूत से रानी वस्तु में सौ पल में तीन पल की वृद्धि समझनी चाहिए ॥ १७९ ॥

द्रव्यान्तरे विशेषमाह—

कार्मिके रोमवद्धे च त्रिंशद्भाग क्षयो मत ।

न क्षयो न च वृद्धिश्च कौशेये चात्कलेषु च ॥ १८० ॥

कार्मिक कर्मणा चित्रण निर्मितम् । यत्र निष्पन्ने पटे चक्रस्वस्तिकादिक चित्रे सूत्रे क्षियत तत्कार्मिकमित्युच्यते । यत्र प्राचारादौ रोमाणि बध्यन्ते स रोमवद्ध, यत्र त्रिंशत्तमो भाग क्षयो वेदितव्य कौशेय कौशप्रभवे चात्कलेषु वृत्तवृद्धिनिर्मितेषु वस्त्रेषु वृत्तवृद्धासौ न स्त, त्रिषु च वद्धयन्तार्थं द्विविन्दादिभ्यो दत्त नावशैव प्रयादेयम् ॥ १८० ॥

भाषा—कपीदाकारा, और कितारों में रोम बाँधने में तीसरे भाग का क्षय बताया जाता है। कौशेय और चात्कल क वस्त्र बनवाने में न तो कमी क्षय है और न वृद्धि है। हानी है ॥ १८० ॥

द्रव्यानन्तरप्रतिद्रव्य क्षयवृद्धप्रतिपादनासक्ते सामान्येन ह्यमवृद्धिज्ञानोपायमाह—

देशं कालं च भोगं च शास्त्रा नष्टे पलायनम् ।

द्रव्याणां कुशला द्रुयुर्यत्तदाप्यमसंशयम् ॥ १८१ ॥

शास्त्रीमादी द्रव्ये नष्टे ह्यममुपगमे द्रव्याणां कुशला द्रव्यवृद्धिद्वयामिज्ञा देश कालमुपभोगतया नष्टद्रव्यस्य पलायनं सारामारतां च परीक्ष्य पादकृतं यन्ति तदसंशयं निश्चिन्तो द्रव्या ॥ १८१ ॥

भाषा—द्रव्य क नष्ट हो जाने पर देश काल, भाग उस वस्तु की संरक्षा और अक्षयता जानकर उस द्रव्य क विषय में विशेष ज्ञान रखने वाले जितना कहें उतना ही ( निश्चिन्तो वा ) शिखाता चाहिए ॥ १८१ ॥

इति द्वाविंशत्युपपकरणम् ।

### अव्यभुपेत्याशु रूपांतरणम् १४

सांघातमभुपेत्याशुभ्रूय स्यमपर पिनादपद्मभिजातुपक्रमे तादररूप च मारदभोक्तम् ( ५१ )—अभुपेय तु शुभ्रूपा यस्तां न प्रतिपद्यते । अथ

१ वृद्धि इत्याम् । २ चात्कले तथा चक्रवस्तु । ३ चित्र सूत्रे । ४ प्राचारादी । ५ रोमवद्ध । ६ चात्कलानार्थं । ७ यत्तदाप्या अमसंशयम् यत्तदपरवृद्धम् ।

धूपाभ्युपेक्ष्यैतद्विवाद्यपदमुच्यते ॥' इति । 'भाष्ये'रं शुद्ध्या, ताम्नीकृत्य  
 पश्चाद्यो न सपादयति तद्विवाद्यपदमभ्युपेक्ष्याशुभ्याद्ययम् । शुद्ध्यायैव त्रिविध -  
 शिष्योऽ तेषामो भृतकाऽधिरर्म्भकृत् इति । तेषामाद्याध्वर कर्मकरा इ यु  
 च्यन्ते । ते च शुभकर्मकारिणः । दासा पुनर्गृहजातादय पञ्चदशप्रकारा -  
 गृहद्वाराशुचिरथानरथ्यावस्करानोघताशुभकर्मकारिणः । तदिदं नारादेन स्वष्टी  
 कृतम्— शुद्ध्यायैव त्रिविधं ज्ञानं दृष्टो मनो विधिः । चतुर्विधं कर्मकरातेषां  
 दासाश्चिपञ्चकाः ॥ शिष्या तेषामिभृतकाश्चतुर्भेदाः-पिर्भक्तृत्वं । एते कर्मकरा  
 ज्ञेया दासास्तु गृहजादय ॥ सामान्यमस्या-प्रत्यमेषामाहूर्मगीविधिः । जानि  
 कर्मकरास्तु<sup>१</sup> शिष्योऽ वृत्तिरेव च ॥ कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमव च ।  
 अशुभं दासकर्मोश्च शुभं कर्मकर्तृनां भृतम् ॥ गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करानोघ  
 नम् । गुह्याङ्गप्रशानोच्छिष्टविष्णुप्रहणोऽहनम् ॥ इच्छत स्वामिनश्चाङ्गद  
 स्यात्तमथा तत । अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभं यदत परम् ॥' ( ना० ५१२-७ )  
 इति ॥ तत्र शिष्यो वदविसार्थी, त तेषामो शिष्यपरिचरार्थी मूहयत य व र्म  
 करति स भृतः कर्मकर्तृतामधिष्ठाताऽधिकर्मकृत्, अशुचिस्थानमुच्छिष्टदत्ते  
 पार्थं गतादिकम् अवस्करा गृहमाजि-पास्वादिनिषेधस्थानम्, उद्धान स्यात् ।  
 भृतश्चात्र त्रिविधः । तदुक्तम्—'उत्तमस्यायुधीयोऽत्र मभ्यनरत्तु कृषीवत् ।  
 अधमा भारवाही स्याद्विष्येव त्रिविधो भृतः ॥ ( ना० ५१२२ ) इति । दासा  
 पुन - गृहज्ञानस्तथा लोको लब्धो दायादुपागतः । अत्रकालभूतस्तद्दत्तित  
 स्वामिना च य ॥ मार्त्तनो महत्शर्गासुखप्राप्त एणे जितः । तदाहसिपुपगा  
 प्रशयापमित दृत् ॥ भक्तदासश्च विद्ययन्तथैव वदन्नाहृतः । विज्ञेता चाग्रज  
 शास्त्र दासा पञ्चदश स्मृता ॥' ( ना० ५१२६ ) गृह दास्यां जानो गृहजात,  
 मातो मूहयत, लब्ध प्रतिग्रहा र्ना दायादुपागतः पित्रादिदास भनाका  
 लभृतो दुर्मिसे यो दासश्चाथ मणादहित आहित स्वामिना भनमद्वय  
 नाधिर्ता नात, गृहमाचारा दामयवमभ्युपगता जगदास सुखप्राप्त मगरे  
 विज्ञेय गृहदास, एणे जित -'यद्यस्मिं तयाद् पराजिताऽह तदा तद्दासो  
 भवानि' इति परिभाषय जित, तत्र दमि'पुपगा तयाह दस' इति रयय  
 सपतिपन्न प्रमत्यावनिन प्रमत्यावत्युन कृत् एता र्थाल तद्दास'  
 द्ययभ्युपगमित, भक्तदास तर्थात् भक्तार्थमेव दस्यवमभ्युपगमय य प्रविष्ट  
 यदथाहृत-वदन्ना गृहदासो तया हृत तस्य मेव तामुद्वष्ट दामयवन प्रविष्टा,  
 य अहृतात् त्रिकृणातऽप्यावामविक्रता, इत्येव पञ्चदश प्रकाराः ॥ यस्तु मनुना  
 ( ८१५५ )— एवताहृता भक्तदासा गृहज्ञा स्तदप्रिमी । पैतृका दण्डदासश्च

१ भाष्यकारण । २ अ धिर्भक्तृत्वं । ३ कर्मकरानुक्ता । ४ स्वामिन  
 स्वाङ्गे । ५ त्रिविधस्थानम् । ६ भृतार्थेव । ७ म चिवा ।

मसैते दास्योनय ॥' इति सप्तविधस्यमुक्त, - तत्तेषां दासत्वप्रतिपादनार्थं, ननु परिसरुषार्थम् । सत्रैषां शिष्य, 'तेवामिभृतकाधिकर्महृद्दासानां मध्ये सिष्यवृत्ति प्रागेव प्रतिपादिता ।— आहृतश्चाप्यधीयीत लब्ध चार्गमे निवेद्येत्' (भा० २७) इत्यादिना । अधिर्म्महृद्भृतकानां तु भृतिं येतनादानप्रकरणे वक्ष्यते ।—'यो याशुकुहने कर्म तावत्तस्य तु यतनम्' ( ४५० १९६ ) इत्यादिन ॥

दामाःतेवाविगोरसु धर्मविशेष वक्तुमाह—

यत्नादासीकृतधोरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते ।

स्वामिप्राणप्रदो भक्तत्यागात्तन्निष्क्रयादपि ॥ १८२ ॥

यत्नात् यत्नाद्यष्टभेन यो दासीकृत, यशोरैरपहस्य विक्रीत, 'अपि'शब्दा दाहितो दत्तश्च स मुच्यते । यदि स्वामी न मुञ्चति तर्हि राज्ञा मोचयितव्य । उक्त च नारदेन ( ५१३८ )—'चौरपहतविक्रीता ये च दासीकृता यत्नात् । राज्ञा मोचयितव्यशस्ते दास्य तपु हि नेष्यते ॥' इति । चौरवशात् यवहृदस्य स्वामिनः प्राणान्य प्रददाति रक्षत्यसावपि मोचयितव्य । तदिदं सर्वदासानां साधारण दास्यनिवृत्तिप्रणयम् ।— यश्चर्षास्वामिनः कश्चिन्मोचयत्प्राणसंशयात् । दाम्पत्यात् विमुष्यत् पुत्रभाग लभेत् च ॥' ( ५१३० ) इति नारदस्मरणात् ॥ भक्त्यामादाता प्रातिस्विकमपि मोक्षकरणमुच्यते । अनाकालभृतभक्त्यामी भक्तस्य त्यागादात्मभावादारभ्य स्वामिद्रव्य यावदुपभुक्त तावद्दत्त्वा मुच्यते । आहितदासी तु तन्निष्क्रयात् यद्गृह्णात्वा स्वामिना आहित, यद्य दत्त्वा धिनोत्तमर्णा-माचिन्, तस्य निष्क्रयात्सवृद्धिरस्य प्रत्यर्पणा मुच्यते । नारदेन विदोयोऽप्युक्त —'अनाकालभृतो दास्य-मुच्यते गोयुग ददत् । सभक्षित यद्गुर्भिद्ये न तच्छुद्धयत् कर्मणा ॥' भक्त्यद्वाराद्येप्यारभ्यो भक्त्याम प्रमुच्यते ।, 'आहितऽपि धन दत्त्वा स्वामी यत्नेनमुद्धरेत् ॥', अथ तु मोक्ष्य दत्त्वा षष्ठी दास्यारमुच्यते ( ना० ५१३१ ३६ ३२, ३३ ) ॥' इति ॥ तथा 'गवाढम्' इत्युपगतयुद्धप्राप्तपणनिर्जनकरद्वारादनामा च प्रातिस्विक मोचयितव्य च 'तनैवोक्तम् — गवाहमित्युपगतो युद्धप्राप्त पणे जित । 'प्रतिदीर्घदास्ये' मुच्यते स्तुहयकर्मणा ॥ कृतकालस्यपणमाहृत्कोऽपि विमुच्यते ।, निप्रहाद- दत्त्वायास्तु मुच्यते षड्वादन ॥ ( ना० ५१३४ २३, ३७ ) इति । दामेन सह सभ गतिराधाद्विषय । तदत्र गृहजातज नलद्वरदायमाहारमरिक्कदिगां स्वामिप्रा- णप्रदाननस्यमाद्वरुपमाधारणशरणव्यतिरेकण मोक्षा नास्ति, विशेषकारणानभि

३ प्रतिपादनपरम् । ४ भक्त्याप्राणात् । भक्त्याप्राणात्तन्निष्क्रयादपि ( = भाक्त भक्त्याम ) । ५ मोचनाय । ६ कृतकाल । ७ नारदनेत्र । ८ प्रदातात्प्रमाद ।

घानात् । दासमोक्षधनेन क्रमेण कर्तव्यम्—'एव दासमिच्छेद्यः कर्तुमदासं  
प्रीतमानसः । इच्छादादाय तस्यासौ भिन्धाह्वयं सहाभसत् ॥ साधनाभिः  
सपुण्याभिर्मूर्ध-यद्भिरवाक्रेत् । अदास इत्ययोस्त्वा त्रि प्राद्युत्त तमवासृजेत् ॥'  
( ना० ५४२, ४३ ) इति तेनैवोक्तम् ॥ १८२ ॥

भाषा—वह पूर्वक यनाया गया और चोरों द्वारा चेचा गया दास स्वामी  
का प्राण यचाने पर, स्वाना क राये हुए धन को लौटाने पर अथवा निष्पत्त  
का मुख्य सुखा देने पर ( दासता से ) मुक्त हो जाता है ॥ १८२ ॥

प्रमत्तदावमित्य तु भं चो नास्तीत्याह—

प्रमत्तदावसितो राक्षो दास 'धामरणा'निकम् ।

प्रमत्ता मन्वास, नतोऽस्मिन्. प्रच्युत । अनभ्युपयनदायत्रिच्छेदाश्च पूव  
दासो भवति । मरणमेव 'तद्दास'प्रस्थानो नाम्नरा प्रतिमो'चोऽस्ति ॥—

वर्णविसया दारव्यवस्थामाह—

वर्णानामानुलोभ्येन दारव्यं न प्रतिलोमत ॥ १८३ ॥

ब्राह्मणादीना वर्णानामानुलोभ्येन दारव्यम्—ब्रह्मण्य चत्रियादय, चत्रियस्य  
वैशःशूद्री, वैश्यस्य शूद्र इत्येवमानुलोभ्येन शसमाया भवति, न प्रतिलोभ्येन ।  
स्वधर्मस्यागिन पुन परिम्राजकस्य प्रतिलोभ्येनापि दास्यमिष्यत एव,  
यथाह नारद. ( ५३९ )—वर्णाना प्रतिलोभ्येन दासाय न त्रिधीयते ।  
स्वधर्मस्यागिनाऽन्वय दारवद् दासता मता ॥ इति ॥ १८३ ॥

भाषा—सन्वास न च्युत व्यक्ति जीवन भर राजा या दास होकर रहता  
है । दारव्य भाव वर्णों व आनुलाभ्य से ही होता है अर्थात् अपने से निम्नवर्ण  
का ही दास होता है । प्रतिलोभ्य नहीं होता ( निम्नवर्ण क व्यक्ति का दास  
उससे उच्चवर्ण वाला नहीं होता ) ॥ १८३ ॥

अन्तेवासिधर्मानाह—

कृतशिल्पाऽपि निवसेत्कृतफालं गुरोर्गृहे ।

अन्तयासो गुरुप्राप्तमोजनस्तत्फलप्रदः ॥ १८४ ॥

अन्तेवासि, गुरोर्गृह, कृतशिल्प 'अर्थ'गुरुप्राप्तमूर्ध-यद्भिरवाक्रेत्, स्वदृष्टे,  
वसामि' इति यावद्ब्राह्मण तावत्कार्यं यमत्,—यद्यपि वर्षचतुष्पादवांगिर  
एवरापेक्षितदिग्बन्धि । कथं निवसेत् ? गुरुप्राप्तमोजन गुरो, सदाशा'प्राप्त  
भोषण येन न सथाफ्त, तावत्प्रद तस्य निम्नस्य फलम चावाप्य प्रददातीति

१ मरणान्ति २ स्थान्ता नाम्नरा प्रतिमो'चोऽस्ति । ३ भं जनं

शाफलप्रद ।

तस्मात्प्रद', एवभूतो वसेत् । नारदेन विशेषेऽप्यत्र दर्शित — 'स्वशिष्यमि-  
 दृशाहर्तुं यान्धवानामनुज्ञया । आचार्यस्य वसेदन्ते कृत्वा कालं सुनिश्चितम् ॥  
 आचार्यं शिक्षयेदैन स्वगृहे दत्तभोजनम् । न चान्यत्रकारयेत्कर्म पुनर्वर्चनमाच-  
 रेत् ॥ शिक्षयन्तमसदुष्टं च आचार्यं परित्यजेत् । यत्नाद्वासयितव्यं स्याद्वधवन्धी  
 च सोऽर्हति ॥ शिक्षितोऽपि वृत्त कालमन्तेवामी समाप्नुयात् । तत्र कर्म च  
 यत्कुर्यादाचार्यस्यैव तत्फलम् ॥ गृहीतशिक्षणं समये कृत्वाचार्यं प्रदक्षिणम् ।  
 शिक्षितश्चानुमान्यैनमन्तेवामा भिवर्तने ॥' (ता० ५।१६-२८) इति । 'वस'श-  
 ब्दोऽत्र ताडनार्थः, दापयित्वात् ॥ १८४ ॥

भाषा—पहले निवास की अवधि निश्चित करके गुरु के घर रहने  
 वाला प्रत्याचारी उसके पुर्य विद्या समाप्त कर लेने पर भा जपनी जीविना का  
 शिक्षण सीखकर उसका फल गुरु का देत हुए और गुरु द्वारा दिना गया भजन  
 प्रहण करता हुआ उन्ही क निकट निव स करे ॥ १८४ ॥

इत्यभ्युपेभ्याशुभ्रपाद्य विवादप्रकरणम् ।

### अथ संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १५

मप्रति संविद्व्यतिक्रम कथ्यते, तस्य च लक्षणं नारदेन स्थनिरैकमुत्पेन  
 दर्शितम्—'पाठापिठनैगमादीना स्थिति समय उच्यते । समप्रस्थानपरकर्म तद्वि-  
 यादपद स्मृतम् ॥' इति पारिभाषिकधर्मेण व्यवस्थान समय, तस्मान्नपाकर्मव्य-  
 तिक्रम परिपाठन तद्व्यतिक्रममाग विरोदपद भवतीत्यर्थः ॥

तदुपक्रमार्थं किंचिदाह—

राजा कृत्वा पुरे स्थानं ब्राह्मणान्यस्य तत्र तु ।

त्रैविद्यं वृत्तिमग्रूयारस्यधर्मं पालयतामिति ॥ १८५ ॥

राजा स्वपुरे दुर्गादी स्थान धवलगृहादिकं कृत्वा तत्र ब्राह्मणान्यस्य  
 स्थापयित्वा तद्व्यतिक्रममात्र त्रैविद्य वेदान्तमप-न वृत्तिमद्भूद्विषयदादिसप-त च  
 कृत्वा स्वधर्मो वर्णाश्रमनिसिक्त श्रुतिस्मृतिविहितो भवतिस्वमुष्टीयतामिति  
 तान्ब्राह्मणान्मुवात् ॥ १८५ ॥

भाषा—राजा अपने दुर्ग में स्थान बनाकर उसमें तीनों वेदों के अध्ययन  
 से सम्बन्ध, ब्राह्मणों को गुलाकर उ-हे हुए वृत्ति देकर उनसे वृष्टि कि भाप  
 लोग अपने धर्म का पालन करें ॥ १८५ ॥

एवं नियुक्तैस्तैर्धर्मैर्भक्तैः तदाह—

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।

सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजतनयः ॥ १८६ ॥

श्रीतस्मात्तदधर्माधुनमर्द्धेन समयाधिप्यसौ यो धर्मो यथासौदृक्कथय-  
देवगृहपालनादिरूप मोऽपि यत्नेन चालनीयः । तथा राजा च निजधर्मा-  
विरोधेनैव यः सामयिको धर्मो 'साययिषि' भोजने देवमहामहातिमोक्ष-  
सुखादयो न प्रमादनीया' इत्येवमयः कृपाः सोऽपि रक्षणीयः ॥ १८६ ॥

भाषा—अने धर्म के अनुष्ठाता धर्म सामयिक हो तथा राजा द्वारा  
निर्दिष्ट धर्म का यत्नपूर्वक रक्षा करें ॥ १८६ ॥

एव यत्नधर्मः परिपालनीय इत्युक्त्वा तद्विजयादी दृष्टमाह—

यत्नद्वयं हरेद्यस्तु संविद्धं लक्ष्येत्तच्च यः ।

सर्वस्यदहनं कृत्वा तं संप्रोक्षित्वात्मयेत् ॥ १८७ ॥

यः पुनर्गन्धय कामादिजनममृदस्य सवधि स्वाधारण द्रव्यमदहन-  
सवित् समपत्नी समूहृता रौतृहृता वा यो लक्ष्यद्विदमेत्, सर्वस्य दहनं  
धनमदहनं स्वसंप्रोक्षित्वात्मयेत् ॥ अर्थं च दृष्टोऽनुष्ठाप-  
निधाय दृष्टयः ॥ अनुष्ठापयित्वा ( मनु २।२१९-२२० )—'या सामयिक  
समाप्तौ कृत्वा सायन सविद्धम् । विषयदेवता लोभात् संप्रोक्षित्वात्मयेत् ॥  
विष्णुस्य वाचनेदेन समयाधिमिषादिनाम् । अतु सुवर्णं यत्किञ्चिदुत्तमं च राज-  
सम् ॥ इति मनुप्रतिपादितदृष्टान्तो निष्ठापनस्य सुवर्णं यत्किञ्चिदुत्तमं, कामो  
अनुष्ठापयित्वात्मयेत् ॥ अतिरिक्तवाचनेयथा कथमापः ॥ १८७ ॥

भाषा—जो राजा के धर्मों को यत्न से समयाधिक्य धर्म का अधर्मपूर्वक अदहन  
करे अथवा राजा द्वारा या समूह द्वारा श्री गार्ह्ये रवदस्या का  
उपवास करे अथवा सायन धर्म सुनकर उभय भाग में निर्वाणित कर  
देना चाहे ॥ १८७ ॥

इदं च तं सर्वस्यविधाह—



वस्तु गणिनां मध्ये समूहद्वितयादिप्रचनप्रतिबन्धकारी स राज्ञा प्रथम-  
माहर्षं दण्डनीयः ॥ १८८ ॥

भाषा—( गण के व्यक्तियों में ) समूह का दिन कहे उनका अनुमरण  
सभी को करना चाहिए । जो उसके ( समूह के दिन के ) विपरीत घंटे  
उसे प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ १८८ ॥

राज्ञा चैष्यं गणितु वर्तनीयमिषाह—

समूहकार्यं आयातान्वृतकार्यान्विसर्जयेत् ।

स दानमानसरकारैः पूजयित्वा महीपतिः ॥ १८९ ॥

समूहकार्यनिवृत्त्यर्थं स्वपार्श्वं प्राष्ठान् गणितो निर्दन्तितारमीषप्रयोजनान्  
दानमानसरकारैः स राजा परितोष्य विमर्जयेत् ॥ १८९ ॥

भाषा—समूह के कार्य के लिये आये हुए व्यक्तियों का कार्य करके  
राजा उन्हें दान, मान और सरकार द्वारा सम्पुष्ट करके विदा करे ॥ १८९ ॥

समूहदत्तापहारिणं प्रयाह—

समूहकार्यप्रद्वितो यल्लभेत तदर्थयेत् ।

एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत्स्वयम् ॥ १९० ॥

समूहकार्यं महाजनैः प्रेरितो राजपार्श्वे ययमदिरण्वादिर्कं एतत्ते तद्-  
प्रापित एव महाजनेभ्यो निदेदयेत् । अन्यथा एव्वाद्वादशगुण दण्डं  
दापनीयः ॥ १९० ॥

भाषा—समूह के कार्य से भेजा गया व्यक्ति जो कुछ पाये उसे समूह  
के श्रेष्ठ जनों के समक्ष अर्पित करे । यदि वह ऐसा धन नहीं अर्पित करता  
है तो उससे उसका शारद गुना दण्ड लेना चाहिए ॥ १९० ॥

एवंप्रकारात् कार्यविस्ताराः कार्या इवाह—

धर्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्यचिन्तकाः ।

कर्तव्यं चचनं तेषां समूहद्वितयादिनाम् ॥ १९१ ॥

धीतरमातंभर्मज्ञा वाद्याभ्यन्तरनीचयुक्ता अप्येऽलुब्धाः कार्यविचारकाः  
कर्तव्याः । तेषां चचनमिहैः कार्यमित्येतद्दार्थं पुनर्यचनम् ॥ १९१ ॥

भाषा—धीन और हमाने धर्म जानने वाले, परिश्र, लोभहीन कार्य-  
विचारक बनाने चाहिए । उन समूह का दिन कहेने वालों के चचनों का चालन  
करना चाहिए ॥ १९१ ॥

इदानीं वैदिकानां प्रतिपादितं धर्मं श्रेण्यादिसंतिदिशसाह—

श्रेणिनैगम<sup>१</sup>पाण्डिगणानामप्ययं विधिः ।

भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत् ॥ १९२ ॥

एकपण्यशिल्पांशजीविनः श्रेणयः, नैगमाः ये वेदस्यास्रणीतत्वेन प्रामाण्य-  
मिच्छन्ति पाण्डुपदादयः, पाण्डित्तो ये वेदस्य प्रामाण्यमेव वेच्छन्ति नगनाटक-  
सौमनादयः, गणो शातः आयुर्ध्यादीनामेककर्मोपनाविना, एषा चतुर्विधाना-  
मप्ययमेव विधिः—यो 'निजधर्माधिरुधेन' ( ४५० १८६ ) इत्यादिना प्रतिपा-  
दित । एतेषां श्रेण्यादीना भेद धर्मव्यवस्थानं नृपो रक्षेत् । पूर्वोपात्ता वृत्ति च  
पालयेत् ॥ १९२ ॥

भाषा—श्रेणी ( एक व्यापार या शिल्प करने वाले ), नैगम ( एक ही  
वेद को पढ़ने वाले ), पाण्डि ( वेद को प्रमाण न मानने वाले ) और गण  
( शत्रादि विपयक एक ही कार्य द्वारा जीविका चलाने वालों ) के विषय  
में भी गही नियम है । राजा इन सबके भेद की रक्षा करे और उनकी  
पूर्ववृत्ति का पालन करे ॥ १९२ ॥

इति संविद्वधनिक्रमप्रकरणम् ।

### अथ वेतनादानप्रकरणम् १६

संप्रति वेतनस्थानपाकमाह्वय व्यवहारपदं प्रस्तुयते । तत्स्वरूपं च नारदे-  
नोक्तम् ( ६११ )—भृत्यानां<sup>१</sup> वेतनस्वोक्तो दानादानविधिक्रमः । वेतनस्थान-  
पाकम् तद्विवादपदं स्मृतम् ॥ इति । अर्थार्थः—भृत्यानां वेतनस्य रक्षयमाण-  
श्लोकेणो दानादानविधिप्रमो यत्र विवादपदे तद्वेतनस्थानपाकमनुष्ठेयते; तत्र  
निर्णयमाह—

गृहीतवेतनः कर्म त्यजन्निगुणमाचक्षेत् ।

अगृहीते<sup>२</sup> सप्तं दाप्यो भृत्यै रक्ष्य उपस्करः ॥ १९३ ॥

गृहीतं वेतनं घेनामौ द्यादीकृतं कर्म त्यजन् अकुर्वन् द्विगुणं भृति  
स्वामिने दद्यात् । यदा पुनरभ्युपगतं कर्म अगृहीते एव घतते त्यजन्ति तदा  
सप्तं दाप्ये तन्मभ्युपगतं तावदाप्यो न द्विगुणम् । यद्वाऽगृहीतं भृति दद्या  
यथाऽशयितस्य ; 'कर्मोत्पूर्वप्रनिष्ठुय कर्तव्यं दद्या भृतिं यत्नाम्' ( ६१५ ) इति  
नारदप्रधानम् । भृतिरिति तेनैवैवा—<sup>३</sup>भृत्याप वेतनं दद्यात्सप्तं स्वामी यथा-

१. पाण्डि । २. भृत्यानां । ३. यथाऽशयितस्य ।

४. भृत्याप ।

अमम १ आदौ मध्येऽपस्ताने वा कर्मणो यद्विनिश्चिनम् ॥<sup>१</sup> ( ११० ६१२ ) इति ।  
तैश्च भृत्यैरपस्वर उपकरण लाहलादीना प्रमहयोत्रादिर यथाशक्त्या रक्षणी-  
यम्, इतरथा कृष्यादिनिष्पत्त्यनुपपत्ते ॥ १९३ ॥

भाषा—वेतन लेकर काम छोड़ देने वाले से दूना वेतन स्वामी को  
दिलावे । विना वेतन लिये हा कार्य करना स्वीकार करके न करे तो वेतन क  
बराबर धन दिलावे । वे भृत्य भी उपकरण ( हल आदि औजार की ) धान  
पूर्वक रखा कर ॥ १९३ ॥

मृत्तिसपरिच्छिद्य य कर्म कारयति त प्रयाह—

दाप्यस्तु दशम भागं धाणिज्यपशुसस्यत ।

अनिश्चित्य भृति यस्तु कारयेत्स महीक्षिता ॥ १९४ ॥

यस्तु स्वामी वणिक गोमी क्षेत्रिकी वा अपरिच्छिद्यवेनऽमेव<sup>३</sup> भृत्य कर्म  
कारयति स तस्माद्धानिज्यपशुसस्यलक्षणात् कर्मणो यद्विच्छेद तस्य दशम भागं  
भृत्याय महीक्षिता राज्ञा दापनीय ॥ १९४ ॥

भाषा—जो भृति ठहराय विना भृत्यों से कार्य लेता है बराबर,  
पशुप लन या खेती का काम लेता है उससे राजा तत्तत् कार्यों से होने  
वाले लाभ का दसवाँ भाग भृत्यों को दिलावे ॥ १९४ ॥

अनाशुसकारिण प्रयाह—

देशं कालं च योऽनीयाह्याभं कुर्याच्च योऽन्वथा ।

तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दोऽविकं देयं हृत्नेऽधिके ॥ १९५ ॥

यस्तु भृत्य पण्यविक्रयाद्युचित देश काल च पण्यत्रिक्रयाद्युर्व-देर्वादि  
नोच्छ्रयसस्मिन्नेव वा देशे काले च लाभमन्वथा इदयाद्यनिशयसाध्यतया हानि  
करोति तस्मिन्भृत्ये भृतिदान प्रति स्वामिनश्छन्द इच्छा भवेत् यावदि  
च्छति तावद्दद्यात् पुन सर्वमेव भृतिमित्यर्थ । यद्वा पुनदेशकालाभिज्ञतयाऽ  
धियो लाभ कृतस्तदा पूर्वपरिच्छिदाय<sup>४</sup> भृतेरधिकमपि धन स्वामिना भृत्याय  
दानव्यम् ॥ १९५ ॥

भाषा—जो भृत्य ( बराबर योग्य ) स्थान और समय या उचितधन  
करके लाभ क स्थान पर हानि करता है तो उसके वेतन क त्रिपय में स्वामी  
भपने इच्छानुसार करे, किन्तु जय देश और समय क ज्ञान से वह अधिक  
लाभ करता है तो उसे वेतन से अधिक धन देना चाहिये ॥ १९५ ॥

१ उपकरण । २ दाप्यस्तुदशम । ३ भृत्यकर्म । ४ यो यावत्कर्म  
कुर्यात् । ५ दर्शितमुल्लेखयेत् । ६ भृतेरपि किमपि धनमधिक ।

अनेकभूयसाध्यकर्मणि श्रुतिदानप्रकारमाह—

या यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम् ।

उभयोरप्यसाध्यं चेत्साध्ये कुर्याद्यथाधृतम् ॥ १९६ ॥

यदा पुनरेकमेव कर्म नियतवेतनमुभाभ्यां क्रियमाणं उभयोरप्यसाध्यं चेद्दवाप्याद्यभिभवाद्दुभाभ्यामपि शब्दाद्बहुभिरपि यदि न परिसमापित तदा यो श्रयो वाचकर्म करोति, तावत्तर्म् तावत्कर्मानुसारेण सप्यस्य कृत्विगतं वेतनं देयं, न पुनः समम् । न पापयज्ञः कर्मणि वेतनस्योपरि नापि तस्याद्दान-मिति मन्तव्यम् । साध्ये तूभाभ्यां कर्मणि निर्बन्दिने यथाश्रुतं यावत्परिभाषितं तावद्दुभाभ्यां देयं, न पुनः प्रत्येकं कृतानं वेतनं, नापि कर्मानुरूपं परिकल्प्य देयम् ॥ १९६ ॥

भाषा—यदि एक ही कार्य को दो भूय करे और ( क्वाधि एवं आधि के कारण ) वह समाप्त न हो सके तो जो जितना वाप्य किये हो उतना अनुसार उतना वेतन होता है और कार्य पूरा हो जाने पर जितना यनाया जाय उतना उन दानों को देना चाहे ॥ १९६ ॥

आयुधीयभारवाहकी प्रत्याह—

अराजद्वैविकं नष्टं भाण्डं दाप्यस्तु वाहकः ।

प्रस्थानविष्णुकृच्चैव प्रदाप्यो द्विगुणं श्रुतिम् ॥ १९७ ॥

न विद्यते राजद्वैविकं यस्य भाण्डस्य तत्तद्योक्तम् । तद्यदि प्रज्ञाहीनतया वाहकेन नाशितं तदा नाशानुसारेणायौ नद्भाण्डं दापनीयः । तदाह नारदः ( ६।९ )—'भाण्डं व्यसनमागच्छेद्यदि वाहकदोषतः । दाप्यो यत्तत्र नश्येत्तु वैधराजकृताहते ॥' इति । यः पुनर्विवाहाद्यर्थं मद्गन्वति चागरे प्रतिष्ठमानस्य तत्प्रस्थानौषधिकं कर्म प्रागद्वीष्टस्य तदानौ 'न करिष्यामि' इति प्रस्थानविष्णु-परति तदासौ द्विगुणं श्रुतिं दाप्यः । अथन्तोत्तरपदेतुकर्मनिरोधत् ॥ १९७ ॥

भाषा—राजा और दैव के उत्सव के विना ले जाने वाले श्रय से भाण्ड का नाश हो जाय तो उससे भाण्ड दिलावे, जो ( विवाहादि मंगलकार्य के ) प्रस्थान के समय विष्णु करे ( जाने को कहकर न जाने ) उससे वेतन का दूना घन द्रिष्टाये ॥ १९७ ॥

प्रक्रान्ते सप्तमं भागं चतुर्थं पथि संप्रत्यजन् ।

भृतिमर्धपथे सर्वो प्रदाप्यस्तयाजकोऽपि च ॥ १९८ ॥

१. च । २. उभयोरप्यसाध्यं चेत्साध्ये कुर्याद्यथाधृतम् ।  
३. अराजद्वैविकाद्यत् । ४. विष्णुकर्ता च । ५. सत्यज्ञेत् ।

किंच—प्रक्रान्ते अभ्यवसिते प्रस्थाने स्वाङ्गीकृत कर्म यस्त्वजति, अस्मि भूते सप्तम भाग दाप्य । नन्वत्रैव विषये 'प्रस्थानविभक्तम्' (व्य० १९७) इत्यादिना द्विगुणभृतिदानमुक्त इदानीं सप्तमो भाग इति विरोध । उच्यते,—भृग्यन्तरोपादानावसरसमये स्वाङ्गीकृत कर्म यस्त्वजति तस्य सप्तमो विभाग । यस्तु प्रस्थानलप्रसमय एव त्यजति, तस्य द्विगुणभृतिदानमिष्यविरोध । य पुन पथि प्रक्रान्ते गमने वर्तमाने सति कर्म त्यजति, स भूनेश्वर्युर्ध्वं भाग दाप्य । अर्धपथे पुन सर्वा भृति दाप्य । यस्तु त्याजक कर्मात्यजतः स्माक्यति स्वामी पूर्वोक्तप्रदेशेष्वसावपि पूर्वोक्तसप्तमभागादिक भृग्याय दापनीय, पुनश्चास्याधितादिविषयम् । 'भार्योऽनार्ता न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोचितम् । स दण्डय कृष्णला-यष्टी न देय तस्य वेतनम् ॥' (८।२।५)—इति मनुवचनात् । यदा 'पुनर्ध्याधावपगतोऽन्तरितदिवसान्परिगणय्य पूरयति, तदा लभत एव वेतनम् । 'भार्तस्तु कुर्यात्स्वस्थ स-यथाभाषितमादित । स दीर्घस्यापि कालस्य स्व लभेतैव वतनम् ॥' (८।२।६) इति मनुस्मरणात् ॥ यस्त्वपगतोऽप्याधि स्वस्थ एवालस्यादिना स्वारब्ध कर्मात्पुन न करोति, परेण वा न समापयति, तस्मै वेतन न देयमिति । यथाह मनु (८।२।७)— यथोक्तमार्तं स्वस्थो वा यस्त र्कर्म न कारयत् । न तस्य वेतन देयमवपुनस्यापि कर्मण ॥' इति ॥ १९८ ॥

भाषा—प्रस्थान के समय कार्य करके जो मार्ग में छोड़ दे तो उस भृग्य से वेतन का सातवां भाग ले और आधे मार्ग में कार्य छोड़ दे तो उससे सम्पूर्ण भूति दिलानी चाहिए और जो उससे काम छोड़वाता है उससे भी सारी भृति दिलावे ॥ १९८ ॥

इति वेतनादानप्रकरणम् ।

### अथ द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् १७

अधुना द्यूतसमाह्वयाख्य विवादापदमधिक्रियते, तत्स्वरूपं नारदेनाभिहितम् (१६।१)— अक्षयधनशलाकासौदेवनं जिह्वकारितम् । पणव्रीडावयोभिश्च पद द्यूतसमाह्वयम् ॥ इति । अक्षय पाशका, धनधर्मपट्टिका, शलाका दन्तादि मय्यो दीर्घचतुरस्रा, आद्य प्रहणाच्च तुरङ्गादिश्रीडासाधन करितुरङ्गरथादिक गृह्यते । तैस्त्राणिभिर्घट्टेवन व्रीडा पणपूर्विका क्रियते । तथा ययोभि पक्षिभि कुक्कुटपारावतादिभि च' शब्दात्मल्लमेपमहिषादिभिश्च प्राणिभिर्या पणपूर्विका व्रीडा क्रियते तद्बुभय यथाक्रमेण द्यूतसमाह्वयाख्य विवादापदम् । द्यूत च समाह्वयश्च द्यूतसमाह्वयम् । तदुक्तं मनुना (९।२२३)— अप्राणिभिर्यत्क्रियत सल्लोकं द्यूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियमाणस्तु स विज्ञय समाह्वय ॥ इति ॥

१ व्याख्यापदमे । २ व्यवहारपदमधि । ३ अक्षयध ।

तत्र द्यूतसभाधिकारिणो वृत्तिमाह—

गलहे शतिकवृद्धेस्तु सभिक पञ्चरुं शतम् ।

गृहीयाद् धूर्तकिनवादिनराद्दशकं शतम् ॥ १९९ ॥

परस्परसभतिपरया कितवपरिकल्पित पणो गलह इत्युच्यते । तत्र गलहे तदाश्रया शक्तिका शतपरिमिता तदधिकपरिमाणा वा वृद्धिर्यस्यासौ शतिकवृद्धिः, तस्माद् धूर्तकितवास्पन्नक शतमारमवृत्त्यर्थं सभिको गृहीयात् । पञ्च पणा आयो यस्मिन् शते तत् पञ्चक शतम् । 'तदस्मि-वृद्धयागलाभ—' ( पा० ५।१-४७ ) इत्यादिना कन् । जितगलहस्य विंशतितम भाग गृहीयादित्यर्थः । सभा कितवनिवासार्था यस्यास्पसौ सभिकः । कल्पिताद्यादिनिखिलक्रीडोपकरणस्तदुपचितद्रव्योपजीवी सभापतिरुच्यते । इतरस्मात्पुनरपि पूर्णशतिकवृद्धे त्रितया दशक शत जितद्रव्यस्य दशम भाग गृह्याद्यादिति यावत् ॥ १९९ ॥

भाषा—घुभा क खेल में धूर्त जुआरी ( जीतने वाले ) के धन में पाँच प्रतिशत सभिक ( जुवा चलाने वाला ) लेव और दूसरों से दस प्रतिशत वसूल करे ॥ १९९ ॥

एव वल्लसवृत्तिना सभिकेन किं कर्तव्यमिष्याह—

स सम्यक्पालितो 'दद्याद्राज्ञे भागं यथाश्रुतम् ।

जितमुद्ग्राह्यजेने दद्यात्सत्यं वचः क्षमी ॥ २०० ॥

य एव वल्लसवृत्तिर्नृणाधिकारी स राजा धूर्तकितवेभ्यो रक्षितस्तस्मै राज्ञे यथा सप्रतिपन्नमश दद्यात्, तथा जित यद् द्रव्य तदुद्ग्राहयेत् पन्थकप्रदनेना सेधादिना च पराजितसकाशादुद्धरेत् । उद्गृह्य च तद्धन जेने जयिने सभिको दद्यात् । तथा क्षमी भूत्वा सत्य वचो विश्वासार्थं द्यूतकारिणा दद्यात् । तदुक्त नारदेन ( १६।२ )—'सभिक कारयेद् द्यूत देय दशाच्च तस्कृतम्' इति ॥ २०० ॥

भाषा—वह सभिक राजा द्वारा रक्षित होने पर उसे यथोचित अश प्रदान करे और जीतने वाले को जीता हुआ धन दिलावे तथा समाशील होकर दूसरे द्यूतकारों के विश्वास के लिये सत्य वचन देवे ॥ २०० ॥

यदा पुन सभिको दापयितु न शक्नोति, तदा राजा दापयदित्याह—

प्राप्ते नृपतिना भागे प्रसिद्धे धूर्तमण्डले ।

जितं ससभिके स्थाने दापयेदन्यथा नै तु ॥ २०१ ॥

१. भाग राज्ञे दद्याद्यथाश्रुतम् । २. जितमुद्ग्राहयेजेने दद्यात्सत्यवचनं च क्षमी । ३. जित द्रव्यमुद्ग्राहयेत् । ४. प्राप्ते भागे च नृपति । ५. तु न ।

प्रसिद्धे अपरदृग्ने राजाध्यक्षसमन्विते ससभिके सभिकसहिते कितवस  
भाजे सभिकेन च राजभागे दत्ते राजा धूर्तकितवमविप्रतिपन्न जित पण दाप-  
येत् । अन्यथा प्रदृग्ने सभिकरहिते अदत्तराजभागे 'घूने जितपण जेत्रे न  
दापयेत् ॥ २०१ ॥

भाषा—राजा ( सभिक से ) अपना भद्र प्राप्त करने पर ज्ञात ( गुप्त  
नहीं अपितु राजा द्वारा सरचित ) घूतकरों के मण्डल में सभिक के निरीक्षण  
में जीता हुआ धन जोतने वाले को दिलावे अन्यथा ( सरचित घूतकरमण्डल  
न होने पर ) न दिलावे ॥ २०१ ॥

जयपराजयविप्रतिपत्तौ निर्णयोपायमाह—

द्रष्टारो व्यवहाराणां साक्षिणश्च त एव हि ।

घूतव्यवहाराणां द्रष्टार सभ्यास्त एव कितवा एव राज्ञा नियोक्तव्याः  
न तत्र 'श्रुताध्ययनसपत्ना' ( व्य० २ ) इत्यादिनिर्णयमोऽस्ति । साक्षिणश्च घूते  
घूतकारा एव कार्या न तत्र 'स्त्रीषालवृद्धकितव-' ( व्य० ७० ) इत्यादि-  
निषेधोऽस्ति ॥—

कश्चिद्घूत निषेद्भु दण्डमाह—

राज्ञा सचिह्नं निर्वासया कूटाक्षोपधिदेविन ॥ २०२ ॥

कूटैश्चादिभिरुपधिना च मतिवञ्जनहेतुना मणिमन्त्रौषधादिना ये दीयन्ति  
ताम् शपदादिनाऽङ्कयित्वा राजा स्वराष्ट्रात्निर्वासयेत् । नारदेन तु निर्वासने  
विशेष उक्त ( १६।६ )—'कूटाक्षदेविन पापान् राजा राष्ट्राद्धिवासयेत् ।  
कण्ठेऽक्षमालामासय्य स ह्येषां विनय स्मृत ॥' इति । यानि च मनुवचनानि  
घूतनिषेधपराणि ( मनु ९।२२४ )—'घूत समाह्वय चैव य कुर्यात् कारयेत्  
वा । तान्सर्वा-न्घातयेद्राजा शूद्राश्च द्विजलिङ्गिन ॥' इत्यादीनि, तान्यपि कूटा  
क्षदेवनविषयतया राजाध्यक्षसभिकरहितघूतविषयतया च योग्यानि ॥ २०२ ॥

भाषा—जुष्ट के व्यवहार को देखने वाले एव सार्ची वे ही ( घूतकर हीं )  
होते हैं । कपटपूर्वक ( मणि, मन्त्र, औषध आदि से ) जुआ खेलने वाले को  
कुत्ते के पजे आदि चिह्न से दागकर राज्य से निर्वासित कर देवे ॥ २०२ ॥

घूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात् ।

किंच, यरपूर्वकं घूत तदेकमुख एक मुख प्रधान यस्य घूतरय तत्तथोक्त  
कार्यम्, राजाध्यक्षाधिष्ठित राजा कारविनव्यनित्यर्थ, तस्करज्ञानकारणात् ।

तस्करज्ञानरूप प्रयोजन पर्यालोच्य प्रायश्चर्यायोजितधना एव कित्वा भवन्ति,  
अतश्चौरविज्ञानार्थमेकमुल्लंकार्यम् ॥—

घृतधर्मं समाह्वयेऽतिदिशद्वाह—

एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिघृते समाह्वये ॥ २०३ ॥

‘गृहे शक्तिकृद्देः’ ( ०५० १९९ ) इत्यादिना यो घृतधर्म उक्त, स एव  
प्राणिघृते महलमेपमहिपादिनिर्दर्थं समाह्वयसङ्के ज्ञातव्य ॥ २०३ ॥

भाषा—चोरों के पहिचान के लिये एक व्यक्ति को घृत का प्रधान  
( अध्यक्ष ) नियुक्त कर देना चाहिए । प्राणिघृत ( पहलवान, भेंडा, भैंसा  
आदि को लड़ाकर खेले जाने वाले जुप ) में भी यो नियम समझने चाहिए ॥

इति घृतसमाह्वयाख्य प्रकरणम् ।

### अथ वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८

इदानीं वाक्पारुष्यं प्रस्तुयते तल्लक्षणं चोक्तं नारदेन ( १५१ )— दश-  
जातिकुलादीनामाक्रोशं न्यङ्गसयुतम् । यद्ब्रूयति प्रतिघृताथं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥  
इति । देशादीनामाक्रोशं न्यङ्गसयुतम् । उच्चैर्भाषणमाक्रोशं, न्यङ्गमवयव तदु-  
च्यते यत्प्रतिघृताथंमुद्गेगजननार्थं वाक्यं तद्वाक्पारुष्यं वक्ष्यते । तत्र ‘कलह-  
प्रिया खलु गौडा’ इति देशाक्रोशः । ‘नितान्तं लोलुपा खलु विमा’ इति  
जात्याक्रोशः । ‘मूर्धरिता ननु वैश्वामित्रा’ इति कुलाक्षेपः । आदिग्रहणात्स्व-  
विद्याशिखादिनिन्दया विद्वन्निन्द्यादिपुरुषाक्षेपो गृह्यते । तस्य च दण्डतारत-  
न्यार्थं निष्टुरादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तन्वैवोक्तम् ( १५२ )—  
‘निष्टुरारलीलतीव्रं वादपि तत्रिविधं स्मृतम् । गौरवानुक्तमात्तर्यं दण्डोऽपि  
स्यात्क्रमाद् गुरु ॥ साक्षेपं निष्टुरं ज्ञेयमरलीलं न्यङ्गसयुतम् । पतनीयैरुपाक्रोशै-  
स्तीव्रमाहुर्मनीषिणः ॥ इति । तत्र ‘धिद्मूर्खं जाह्नमित्यादि साक्षेपम् । अत्र  
न्यङ्गमित्यमभ्यम् । अवयव भगि यादिगमनं तद्युक्तमरलीलम् । सुरापोऽमीत्या-  
दिमहापातकाद्याक्रोशैर्युक्तं वचस्तीव्रम् ॥

तत्र निष्टुराक्रोशे सवर्णधिपये दण्डमाह—

सत्यासत्या-यथास्तोत्रैर्म्यूनाहोन्द्रियरोगिणाम् ।

क्षेपं करोति चेदण्ड्य एणानर्धं त्रयोदशान् ॥ २०४ ॥

न्यूनाद्वा करचरणादिविकला, न्यूनन्द्रिया नत्रध्राशादिरहिता, रोगिणो  
दुश्चर्मप्रभृतय, तेषां सत्यमासत्याना-यथास्तोत्रेण च निन्दार्थं वा स्तुत्या ।

१ खलु लोलुपा । २ शिल्पादि । ३ धिद्मूर्खं जाह्नमस्वमि यादि ।

४ त्रयोदश ।



यत्र नेत्रयुगलहीन एषोऽन्ध इत्युच्यते तस्मिन् । यत्र पुनश्चक्षुष्मानेर्धौ-  
 इत्युच्यते तदस्यम् । यत्र विकृताकृतिरेव दर्शनीयस्त्वमसीत्युच्यते तदन्य  
 धास्तोत्रम् । एवविधर्म्यं चैप निर्भर्त्सन्तं करोत्यसौ अर्धाधिकत्रयोदशपणान्दण्ड-  
 नीय । ( मनु ८।२७४ )—'काण वाऽप्यथवा खञ्जमन्य वाऽपि तथाविधम् ।  
 तद्धेनापि द्रुवन्दायो दण्ड कार्थापणावरम् ॥' इति य-मनुवचन, तदतिदुर्वृत्तव-  
 र्णविषयम् । यदा पुन पुत्रादयो मात्रादीन् शपन्ति तदा शत दण्डनीया इति  
 तेनैवोक्तम् । ( मनु ८।२७५ )—'मातरं पितरं जायां आतरं श्वशुरं गुरुम् ।  
 आचारयन्शत दास्य पन्थानं चाददद् गुरो ॥' इति । एतच्च सापराधेषु मात्रादिषु  
 गुरुषु निरपराधाया च जायायां द्रष्टव्यम् ॥ २०४ ॥

भाषा—जो किसी विकलेन्द्रिय और रोगी आदि को सच्चे या झूठ ही  
 निन्दापरक वचनों से आक्षेप करता है तो उससे साढ़े तेरह पण दण्ड लेना  
 चाहिये ॥ २०४ ॥

अधोलाक्षेपे दण्डमाह—

अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति ह्ये ।  
 शपन्तं दापयेद्राजा पञ्चविंशतिकं दमम् ॥ २०५ ॥

'एवदीयां भगिनीं मातरं वा अभिगन्तास्मि' इति शपन्त अर्थां वा 'एव  
 ज्यायामभिगन्ताऽस्मि' इत्येव शपन्त राजा पञ्चविंशतिकं पणानां पञ्चाधिका  
 विंशतिर्यस्मिन्दण्डे स तथोक्तस्त दमं दापयेत् ॥ २०५ ॥

भाषा—'तुम्हारी बहन या माँ का मैं अभिगन्ता ( जाँ ) हूँ' इस प्रकार  
 का वचन बहकर गाली देने वाले से राजा पच्चीस पण दण्ड ले ॥ २०५ ॥

एव समानगुणेषु वणिषु दण्डमभिधाय विषमगुणेषु दण्डं प्रतिपादयि  
 शुमाह—

अर्धोऽधमेषु द्विगुण परस्त्रीपूत्तमेषु च ।

अधमेष्वाक्षेप्रपेक्षया न्यूनवृत्तादिगुणेष्वर्धो दण्ड । पूर्ववाक्ये पञ्चविं  
 शते प्रकृतत्वात्तदपेक्षयार्धं सार्धद्विदशपणान्मको द्रष्टव्य । परभार्यासु पुनर-  
 विधापेण द्विगुण पञ्चविंशत्यपेक्षयैव पञ्चादशपणान्मको वेदितव्य । तथोक्त  
 मेषु च स्वापेक्षयाधिकश्रुतवृत्तेषु दण्ड एव चादशपणान्मको एव ॥

चर्णानां मूर्धावसिकादीनां च परस्परालक्षेपे दण्डकथनमाह—

दण्डप्रणयनं कार्यं चर्णजात्युत्तराधरे ॥ २०६ ॥

वर्णां ब्राह्मणादयः, जातयो मूर्धावसिक्ताः । वर्णाश्च जातयश्च वर्णजातयः । उत्तराश्च अधराश्च उत्तराधराः, वर्णजातयश्च ते उत्तराधराश्च वर्णजात्युत्तराधराः, ते वर्णजात्युत्तराधरैः परस्परमाक्षेपे क्रियमाणे दण्डस्य प्रणयनं प्रकल्पेण नयनमूहनं वदितव्यम् । तच्च दण्डकल्पनमुत्तराधरैरिति 'विशेषोपादानादुत्तराधरभाषावेत्यैव कर्तव्यमित्यवगम्यते । यथा मूर्धावसिक्तब्राह्मणाद्धीनश्चत्रियादुत्कृष्टचाक्रुरयः ब्राह्मणः चत्रियाक्षेपनिमित्तात्पञ्चाशत्पणदण्डार्कचिद्दधिकं पञ्चसप्तत्यात्मकं दण्डमर्हति, चत्रियोऽपि तमाक्रुरयः ब्राह्मणाक्षेपनिमित्तात्सप्तदण्डोदूनं पञ्चमसतिमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्ताऽपि तावाक्रुरयः तमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्ताऽप्यष्टयोः परस्पराक्षेपे ब्राह्मणचत्रिययोः परस्पराक्रोशनिमित्तकौ यथाक्रमेण दण्डी वेदितव्यौ । एवमन्यत्राप्युहनीयम् ॥ २०६ ॥

भाषा—हीन वर्ण की स्त्रियों के विषय में ऐसी गाली देने पर उपरोक्त दण्ड थापा होता है और उत्तम वर्ण की परस्त्री के लिये कहने पर दूना होता है । इसी प्रकार वर्ण और जाति की उच्चता एवं निम्नता का विचार करके दण्ड देना चाहिए ॥ २०६ ॥

एव सर्ववर्णविषये दण्डमभिधाय वर्णानामेव प्रतिलोमानुलोमाक्षेपे दण्डमाह—

प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा द्वा ।

वर्णानामानुलोम्येन तस्माद्वार्धहानित ॥ २०७ ॥

अपवादा अधिक्षेपाः । प्रातिलोम्येनापवादाः प्रातिलोम्यापवादाः, तेषु ब्राह्मणाक्रोशकारिणो चत्रियवैश्ययोर्वधाक्रमेण पूर्ववाक्याद् द्विगुणपदोपात्तपञ्चाशत्पणापेक्षया द्विगुणा शतपणा, त्रिगुणा सार्धशतपणा दण्डा वदितव्याः । शूद्रस्य ब्राह्मणाक्रोशे ताडनं जिह्वाच्छेदनं वा भवति यथाह मनु ( ८।२६७ ) —'शत ब्राह्मणमाक्रुरयः चत्रियो दण्डमर्हति । वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥' इति, विदुःशूद्रयोरपि चत्रियादन-तरैका-तरयोस्तुल्यन्यायतया शतमप्यर्धशतं च यथाक्रमेण चत्रियाक्रोशे वदितव्यम् । शूद्रस्य वैश्याक्रोशे शतम् । आनुलोम्येन तु वर्णानां चत्रियविदुःशूद्राणां ब्राह्मणेनाक्रोशे कृते तस्माद्ब्राह्मणाक्रोशनिमित्तात्सप्तपरिमितान्चत्रियदण्डाःप्रतियर्णमधर्यार्धस्य हानिं कृत्वावशिष्टपञ्चाशत्पञ्चविंशतिसार्धद्वादशपणात्मकं यथाक्रमं ब्राह्मणो दण्डनीयः । तदुक्तं मनुना ( ८।२६८ )—'पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्डयः चत्रियस्याभिज्ञानेन । वैश्ये

१ विशेषोपादानात् । २ दण्डाद्धीनः । ३ सर्ववर्णः । ४ प्रतिलोमापवादेषु । ५ वर्णान्यासानुलोम्येन तस्माद्वार्धहानितः । ६ पञ्चविंशत्यर्धद्वादशः । ७ वैश्यस्य चार्धपञ्चाशत् ।

स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दम ॥' इति ॥ चत्रियेण वैश्ये शूद्रे वासुष्टे यथा क्रम पञ्च शतपञ्चविंशतिकी दमौ । वैश्यस्य च शूद्राक्रोशे पञ्चाशदित्यूहनीयम्, 'ब्राह्मणराजन्यवर्षत्रियवैश्ययो' ( १२।२४ ) इति गौतमस्मरणात् ।— विटशूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वत' इति ( ८।२७७ ) मनुस्मरणाच्च ॥ २०७ ॥

भाषा—वर्णों की प्रतिलोमता से दोष लगाने पर ( अर्थात् जब छोटी जाति वाला बड़ी जाति वाले को दाय्य लगावे तो ) दूना, तिगुना दण्ड होता है और वर्णों की अनुलोमता से ( बड़ी जाति वाले पर मिथ्या आरोप लगावे तो ) वर्णानुसार दण्ड आधा कम होता जाता है ॥ २०७ ॥

पुनर्निष्ठुराक्षेपमधिकृत्याह—

बाहुग्रीयानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दम ।

शत्यस्तदधिक्य पादनासाकर्णकरादिषु ॥ २०८ ॥

बाह्यादीनां प्रत्येक विनाशे वाचिक वाचा प्रतिपादिते 'तत्र बाहु द्विनमि' इत्येषरूपे शतय शतपरिमितो दण्डो वेदितव्य । पादनासाकर्णकरादिषु 'आदि'ग्रहणारिफगादिषु वाचिके विनाशे तदधिक्य तस्य शतस्यार्धं तदर्धं तद्यस्यास्यसौ तदधिक्य पञ्चाशत्पणिको दण्डो वेदितव्य ॥ २०८ ॥

भाषा—बाहु, गर्दन अँल, हडडी तोड़ने की धमकी देने पर सौ पण और पैर नाक कान और हाथ आदि तोड़ने की धमकी देने पर उसका आधा अर्थात् पचास पण दण्ड होता है ॥ २०८ ॥

अशक्तस्तु यदन्नेयं दण्डनीय पणान्दश ।

तथा शक्त प्रतिभुयं दाप्य क्षेमाय तस्य तु ॥ २०९ ॥

किञ्च, य पुनर्ज्वरादिना क्षीणशक्ति स्वडाह्याद्यद्गमन्न करोमि' इत्येष शतस्यसौ दश पणा दण्डनीय । य पुन समर्थ क्षीणशक्ति पूर्ववदादिप्रायसौ पूर्वोक्तशतादिदण्डोत्तरकाल तस्याशक्तस्य क्षेमार्थं प्रतिभुव दापनीय ॥ २०९ ॥

भाषा—यदि अशक्त ( ज्वरादि से क्षीण शक्ति वाला ) इस प्रकार का वचन बोले तो उसे दस पण का दण्ड देना चाहिए और यदि शक्तिशाली व्यक्ति दुर्बल व्यक्ति से ऐसा वचन कहे तो उससे सौ पण दण्ड लेवे और उस ( दुर्बल व्यक्ति ) की रक्षा के लिये उससे प्रतिभू ( जामिन ) उपस्थित करावे ॥ २०९ ॥

तीयाक्रोशे दण्डमाह—

पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहस ।

उपपातकयुक्ते तु दाप्य प्रथमसाहसम् ॥ २१० ॥

पातिर्यद्देतुभिर्ब्रह्महत्यादिभिर्वणिनांमाक्षेपे कृते मध्यमसाहस दण्ड ।  
उपपातकस्युक्ते पुन 'गोप्नस्त्वमसि' इत्येवमादिरूपे क्षेपे प्रथमसाहस  
दण्डनीय ॥ २१० ॥

भाषा—धो ऐसा ( ब्रह्महत्यादि ) मिथ्या आरोप लगावे जिससे पतित  
होने की सम्भावना हो तो मध्यम साहस का दण्ड और उपपातक ( गोवध  
आदि का दोष ) लगाने पर प्रथम ( अधम ) साहस का दण्ड देना चाहिए ॥

त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहस ।

मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयो ॥ २११ ॥

किंच, त्रैविद्या वेदत्रयसपञ्चास्तेषा राज्ञा देवाना च क्षेपे उत्तमसाहसो  
दण्ड । ये पुनर्ब्राह्मणमूर्धावसिक्तादिजातीना पूगा सघास्तेषामाक्षेपे मध्यम-  
साहसो दण्ड । ग्रामदेशयो प्रत्यकमाक्षेपे प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्य ॥ २११ ॥

भाषा—तीनों वेदों के विद्वानों राजा और देवताओं पर आक्षेप करने  
से उत्तम साहस का दण्ड होता है । जाति, पूग ( सघ ) के आक्षेप में  
मध्यम साहस का और ग्राम तथा देश क आक्षेप में प्रथम साहस का  
दण्ड होता है ॥ २११ ॥

इति वाक्पाठस्य नाम त्रिवाक्पदप्रकरणम् ।

अथ दण्डपारुष्यप्रकरणम् १९

सप्रति दण्डपारुष्य प्रस्तुपते तस्त्वरूप च नारदेनोक्तम् ( १५४ )—'परगा  
त्रेणभिद्रोहे हस्तपादायुधादिभि । भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते ॥'  
इति । परगात्रेषु स्थायरज्जनात्मकद्रव्येषु हस्तपादायुधैरादिप्रहणाद् प्रायादिभिर्घो-  
ऽभिद्रोहो हिंसन दु खोत्पादन तथा भस्मना आदिप्रहणाद्गज पङ्कपुरीषाद्यैश्च य  
उपघात सस्पर्शनरूप मनोदु खोत्पादन तदुभय दण्डशरूपम् । दण्ड्यतेऽनननि  
दण्डो वेद्य, तेन पारुष्य विरुद्धाचरण जन्मादेर्दण्डव्य तद्दण्डपार यम् । तस्य  
चावगोरणादिकारणभेदेन त्रैविध्यमभिधाय हीनमध्यमोत्तमद्रव्यरूपकर्मत्रैविध्या  
एतन्त्रैविध्य तेनैवोक्तम् ( १५५ ६ )—'तेत्यापि दष्ट त्रैविध्य हीनमध्योत्तमक-  
मात् । अत्रगोरणनि सङ्गपातनउतदर्शने ॥ हानमध्योत्तमाना च द्रव्याणा समति  
क्रमात् । त्राण्यव साहसा-याहुस्तत्र दण्डकशोधनम् ॥' इति । नि सङ्गपातन  
नि दण्डप्रहरणम् । त्रैव्येव साहसानि त्रिप्रकारण्येव । सहसा कृतानि दण्ड

१ घण्टानामाक्षेपे । २ रूपेण तु । ३ जातिरूपाणा । ४ परण-  
भेदेन । ५ तस्योपदष्ट । ६ नि दण्डपातन ।

पारुष्याणीत्यर्थ । तथा वादण्डपारुष्ययोर्द्वयोरपि द्वयोः प्रवृत्तकलहयोर्मध्ये यत्नमते न केवलं तस्य दण्डाभावः, किंतु पूज्य एव । तथा पूर्वं कलहे प्रवृत्तस्य दण्डगुरुत्वम् । कलहे च बद्धवैरानुसन्धानुरेव दण्डभावत्वम् । तथा तयोर्द्वयोरपराधविशेषापरिज्ञाने दण्डः समः । तथा श्वपचादिभिरार्याणामपराधे कृते सज्जना एव दण्डदापनेऽधिकारिणः तेषामशक्त्यत्वे तान् राज्ञा घातयेदेव नार्थं गृहीत्वा द्रिष्येव पञ्च प्रकाराः त्रिधयस्तेनैवोक्ता ( ना० १५१७ )—'विधिः पञ्चविधस्तूक्तः पुनयोर्द्वयोरपि । पारुष्ये सति सरम्भादुरपने क्रुद्धयोर्द्वयोः ॥ सम-पते यत्नमते दण्डभाभयोऽतिवर्तते । पूर्वमाचारयेद्यस्तु नियतस्यासत् दोषभाक् ॥ पश्चात् सोऽप्यमरकारी पूर्वं तु विनयो गुरुः । द्वयोरापन्नयोस्तुल्यमनुबध्नाति यत्नः ॥ स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वं वा यदि वैतरः । पारुष्यदोषावृत्तयोर्युत्पत्सप्रवृत्तयोः ॥ विशेषश्चेन्न लक्ष्येत विनयः स्यात्समस्तयोः । श्वपाकपण्डचण्डाल-व्यङ्गेषु वधवृत्तिषु ॥ हस्तिपद्माशयदासेषु गुर्वाचार्यमृपेषु च । मर्यादातिक्रमे सद्यो घातः प्रवानुशासनम् ॥ यमेव ह्यतिवर्तेरनेते सन्तः जननृपः । स एव विनयः कुर्यान्न विनयभाह्वनृपः ॥ मला ह्यते मनुष्याणां धनमेवां मलात्मकम् । अतस्ता घातयेद्वाजा नार्थदण्डेन दण्डयत् ॥' ( १५१९, १०, ११-१४ ) इति ॥

एवमभूत्तदण्डपारुष्यनिर्णयपूर्वकस्यादण्डप्रणयनस्य तत्स्वरूपसदेहे निर्णय-हेतुमाह—

असाक्षिकदृते चिह्नैर्युक्तिभिश्चागमेन च ।

द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृतो<sup>१</sup> भयात् ॥ २१२ ॥

यदा कश्चित् रहस्यहरनेन हतः<sup>२</sup> इति राज्ञे निवेदयति, तदा चिह्नैर्वर्णादिस्वरूपगतैर्लिङ्गैर्युक्त्या कारणप्रयोजनपर्यालोचनात्मिकया आगमेन जनप्रवादेन च शब्दाद्विशेषेन वा कूटचिह्नकृतसंभावनाभयापरीक्षा कार्या ॥ २१२ ॥

भाषा—जो बिना साक्षी उपस्थित किये हुए किसी पर एकान्त में मारने पीटने का अभियोग लगाता है तो चिह्नों, युक्ति ( कारण, प्रयोजन और पर्यालोचन ) और आगम द्वारा उसकी परीक्षा करे कारण झूठे ( चोट के ) चिह्न बना लेने की भी शका रहती है ॥ २१२ ॥

एव निश्चिने साधनविशेषेण दण्डविशेषमाह—

भस्मपङ्कजस्पर्शे दण्डो दशपणः स्मृतः ।

अमेव्यपाटिगनिष्ठशूतस्पर्शने द्विगुणस्ततः ॥ २१३ ॥

१ कुर्यान्न तद्विनयभाक् । २ असाक्षिके दृते । ३ कृतादृते ।  
इत्याहवात् । ४ चिह्नैर्मणादि । ५ द्विगुण स्मृतः ।

समेष्वेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च ।

हीनेष्वर्धदमो<sup>१</sup> मोहमदादिभिरदण्डनम् ॥ २१४ ॥

भस्मना पङ्केन रेणुना वा यः परं स्पर्शयत्यसौ दशपणं दण्डं दाप्यः ।  
अमेध्यमिति अशुश्लेष्मनखकेशकर्णविट्पिकाभुक्तोच्छिष्टादिकं च गृह्यते । पार्थिवः  
पादस्य पश्चिमो भागः, निष्ठयूतं मुपनिःसारित जलम्, तैः स्पर्शने ततः पूर्वाहश-  
पणाद् द्विगुणो द्विगुणो द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः ॥ पुरीषादिस्पर्शने पुनः कात्यायनेन  
विशेष उक्तः—‘उर्दिमूत्रपुरीषाद्यैरापाद्यः स चतुर्गुणः । पङ्गुणः कायमध्ये  
स्यान्मूर्ध्नि स्वष्टगुणः स्मृतः ॥’ इति । ‘आद्य’ग्रहणाद्ब्रह्मसाशुकासृज्यामानो गृह्यन्ते ।  
एवंभूतः पूर्वोक्तो दण्डः सवर्णविषये द्रष्टव्यः । परभार्यासु चाविशेषेण । तथोत्तमेषु  
स्वापेक्षयाऽधिकश्रुतवृत्तेषु पूर्वोक्ताहशपणाद्विगुणोत्तमेषु दण्डाद् द्विगुणो दण्डो  
वेदितव्यः । हीनेषु स्वापेक्षया न्यूनश्रुतधृतादिषु पूर्वोक्तस्यार्धदमः पञ्चपणो  
दशपणश्च वेदितव्यः । मोहश्चित्तवैकल्यम्, मदो मद्यपानजन्योऽवस्थाविशेषः ।  
‘आदि’ग्रहणाद् ग्रहावेशादिकम् । एतैर्युक्तेन भस्मादिस्पर्शने कृतेऽपि दण्डो न  
कर्तव्यः ॥ २१३-२१४ ॥

भाषा—भस्म, कीचद् और धूल फेंकने पर दस पण का दण्ड होता है अमेध्य ( शरीर के विकार और जूठा भोजन ) फेंकने पर पक्षी से मारने पर और धूक फकने पर उससे दूना अर्थात् बीस पण दण्ड होता है । ये दण्ड समान वर्ण के व्यक्ति पर भस्म आदि फेंकने पर ही होते हैं । परस्त्री और उत्तम जाति के व्यक्ति को भस्मादि फेंककर पीड़ित करने पर दूना दण्ड होता है और अपनी अपेक्षा निम्नतर वर्ण एवं वृत्ति वाले को इस प्रकार पीड़ित करने पर आधा दण्ड होता है । मोह ( भूल ) और मदपान के कारण ऐसा अपराध करे तो दण्ड का भागी नहीं होता ॥ २१३-२१४ ॥

पातिलोभ्यापराधे दण्डमाह—

विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमग्राहणस्य तु ।

उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धिकः ॥ २१५ ॥

याज्ञाणानां पीडाकरमग्राहणस्य चत्रियादेर्यदङ्गं करचरणादिकं तच्छेद्यम् ।  
चत्रियवैश्वयोरपि पीडां कुर्वतः शूद्रस्याङ्गच्छेदनमेव । ( मनुः ८।२७० )—  
‘येन केनचिदङ्गेन हिंस्र्याच्छ्रेयांसमन्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनु-  
ष्णासनम् ॥’ इति । द्विजातिगात्रस्यापराधे शूद्रस्याङ्गच्छेदविधानाद्द्वैश्वस्यापि

१ दमः प्रोक्तो मदादिभिः । २ न्यूनश्रुतादिषु । ३. स्वैच्छेद्य-  
मन्यजः—मनुः ।

क्षत्रियापकारिणोऽयमेव दण्डः ; तुर्यन्यायात् । उद्गूर्णे वधार्थमुद्यते शस्त्रादिके प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः । शूद्रस्य पुनरुद्गूर्णेऽपि हस्तादिच्छेदनमेव, ( ८।२८० )—‘पाणिमुद्यम्य दण्ड वा पाणिच्छेदनमर्हति’ इति मनुस्मरणात् ॥ उद्गूरणार्थं शस्त्रादिस्पर्शने तु तदर्धिकं प्रथमसाहसादर्धदण्डो वेदितव्यः ॥ भस्मादिसर्पशं पुन क्षत्रियवैश्ययो ‘प्रातिलोभ्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमा’ ( व्य० २०७ ) इति वाक्पाठस्योक्त-यायेन कल्प्यम् । शूद्रस्य तत्रापि हस्तच्छेद एव । ( ८।२८२ )—‘भवनिच्छीवतो दर्पाद् द्वावोष्टौ छेदयेन्नृप । भवमूर्त्रयतो मेढूमवशर्षयतो गुदम् ॥’ इति मनुस्मरणात् ॥ २१५ ॥

भाषा—जाह्नग को पीड़ा देने वाला यदि भद्राह्नग ( क्षत्रिय भादि ) हो तो उस अंग को ( जिससे उसने पीड़ा पहुँचाई हो ) काट डालना चाहिए । मारने के लिये शस्त्र उठाने पर प्रथम साहस का दण्ड होता है और शस्त्र छूकर छोड़ देने वाले को उसका ( प्रथम साहस का ) भाधा दण्ड मिलता है ॥ २१५ ॥

एव प्रातिलोभ्यापराधे दण्डमभिधाय पुनः सजातिमधिकृत्याह—

उद्गूर्णे हस्तपादे तु दशत्रिंशतिकौ दमौ ।

परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसः ॥ २१६ ॥

हस्ते पादे वा ताडनार्थमुद्गूर्णे वधाक्रम दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । परस्परवधार्थं शस्त्रे उद्गूर्णे सर्वेषां वर्णिना मध्यमसाहसो दण्डः ॥

( परस्पर अपने समान जाति वाले को ) मारने के लिए हाथ और पैर उठाने पर दश पण और बीस पण और शस्त्र उठाने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २१६ ॥

पादकेशांशुकर्षोरुल्लुञ्जनेषु पणान्दश ।

पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासे शतं दमः ॥ २१७ ॥

किंच, पादकेशवस्त्रकराणामन्यतम गृहीत्वा य उल्लुञ्चति शस्त्रियाकर्षयति अस्ती दशपणान्दण्डव्यः । पीडा च कर्षांशुकावेष्टश्च पादाध्यासश्च पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यास तस्मिन्समुच्चिते शत दण्डव्यः । एतदुक्तं भवति—शशुकं नावेष्टय गाढमापीड्याहृष्य च य पादेन घट्टयति, त शत पणान्दोषयेदिति ॥

भाषा—पैर, केश, बछ और हाथ पकड़कर घलपूर्वक खींचने में दश पण दण्ड होता है और जो पीड़ा पहुँचाते हुए, बछ में बाँधकर, पैर से मारे उस पर सौ पण का दण्ड लगता है ॥ २१७ ॥

१ वर्णानां । २ करालुञ्जनेषु । ३ पीडाकर्षांशुकावेष्टय । ४ दम येदिति ।

शोणितेन विना दुःखं कुर्वन्माप्तादिभिर्नरः ।

द्वात्रिंशत् पणान्दण्डयो द्विगुणं दर्शनेऽसृजः ॥ २१८ ॥

किंच । यः पुनः शोणितं यथा न दृश्यते तथा मृदुतादनं पाण्डुलोटादिभिः करोत्यसौ द्वात्रिंशत् पणान्दण्डयः ॥ यदा पुनर्गाढतादनेन लोहितं दृश्यते तदा द्वात्रिंशतो द्विगुणं चतुःपष्टिपणान्दण्डनीयः । ३त्वद्व्यांसास्थिभेदे पुनर्विशेषो मनुना दर्शितः ( ८।२८४ )—'स्वभेदकः दत्तं दण्डयो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेत्ता च पग्निष्कान्प्रवारस्वस्थिभेदकः ॥' इति ॥ २१८ ॥

भाषा—यदि कोई व्यक्ति लकड़ी आदि से मार कर विना रुधिर निकाले दुःख पहुँचाता है तो बत्तीस पण दण्ड होता है और रुधिर दिखाई पड़ने पर उसके दूना दण्ड होता है ॥ २१८ ॥

करपावर्द्धतो भङ्गे छेदने कर्णनासयोः ।

मध्यो दण्डो ब्रणोज्जेदे मृतकल्पहते तथा ॥ २१९ ॥

किंच, करपावर्द्धतस्य प्रत्येकं भङ्गे कर्णनासस्य च प्रत्येकं छेदने मृतकग-स्योज्जेदने मृतकल्पो यथा भवति तथा हते ताडिते मध्यमसाहसो वेदितव्यः । अनुबन्धादिना विषयस्य साम्यमत्रापादनीयम् ॥ २१९ ॥

भाषा—टाप, पैर, और दाँत तोड़ने पर, कान और नाक काटने पर, फोड़ा कुचल देने पर तथा मारते-मारते अधमरा कर देने पर मध्यमसाहस का दण्ड होता है ॥ २१९ ॥

चेष्टाभोजनयाग्रांघे नेत्रादिप्रतिभेदने ।

कन्धरायाहुसैक्यनां च भङ्गे मध्यमसाहसः ॥ २२० ॥

किंच, गमनभोजनभाषणनिरोधे नेत्रस्य 'आदि' ग्रहणाजिह्वापाश्व प्रतिभेदने । कन्धरा ग्रीवा, याहुः प्रसिद्धः, सन्धि ऊरुस्तेषां प्रत्येकं भङ्गने मध्यमसाहसो दण्डः ॥ २२० ॥

भाषा—चलना, भोजन और बोलना रोक देनेपर, आँस आदि ( जिह्वा भी ) फोड़ने या काटने पर, ग्रीवा, याँह और जंघा तोड़ने पर मध्यमसाहस का दण्ड होता है ॥ २२० ॥

एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्ताद् द्विगुणो दमः ।

अपि च, यदा पुनर्वहयो मिलिता एकरपाद्भङ्गादिकं कुर्वन्ति, तदा यस्मिन्त्यस्मिन् अपराधे यो यो दण्ड उक्तस्तत्र तस्माद् द्विगुणो दण्डः प्रत्येकं

१. पीडां । २. पणान्दाप्यो । ३. मांसास्थिविभेदे । ४. दन्तभङ्गे । ५. सक्चपद्भिर्भङ्गे । ६. उक्तमसाहसः ।



वेदिनस्य । अतिक्रूरत्वात्तेषां प्रातिलोभ्यानुलोभ्यापराधीश्वोरप्येतस्यैव सर्वर्णविप  
येऽभिहितस्य दण्डजातस्य चावपारुष्योक्तक्रमेण हानिं वृद्धिं च कल्पयेत् ।  
'वावपारुष्ये यं पृथोक्तं प्रातिलोभ्यानुलोमत । स एव दण्डपारुष्ये दाप्यो राज्ञा  
यथाक्रमम् ॥' इति स्मरणात् ॥—

कलहापहतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्तत ॥ २२२ ॥

किंच, कलहे वर्तमाने यद्येनापहतं तत्तेन प्रत्यर्पणीयम् । अपहतद्रव्याद् द्वि-  
गुणश्चापहारनिमित्तो दण्डो देयः ॥ २२१ ॥

भाषा—बहुत से व्यक्ति मिलकर यदि एक व्यक्ति को मारे पाट तो  
जिस जिस अपराध का जो जो दण्ड कहा गया है उसका दुगुना दण्ड देना  
चाहिए । कलह में ली हुई वस्तु लौटवानी चाहिए और उसका दूना  
दण्ड देना चाहिए ॥ २२१ ॥

दुःसमुत्पादयेद्यस्तु स समुत्थानजं व्ययम् ।

दाप्यो दण्डं च या यस्मिन्कलहे समुदाहृत ॥ २२२ ॥

किंच, यो यस्य ताडनाद्दुःसमुत्पादयेत्स तस्य मगरोपणादौ भौषणार्थं  
पथवार्थं च यो व्ययं क्रियते तं दद्यात् । समुत्थानं मगरोपणम् । यस्मिन्क-  
लहे यो दण्डस्तं च दद्यात्, न पुनः समुत्थानजं व्ययमात्रम् ॥ २२२ ॥

भाषा—जो किसी को मारपीट कर चोट पहुँचाने वह उसकी दवा और  
पथ्य में लगे हुए व्यय को भी चुकता करे । और जिस कलह में जो दण्ड कहा  
गया है वह दण्ड उस व्यक्ति को देना चाहिए ॥ २२२ ॥

परगात्राभिद्रोहे दण्डमुक्त्वानन्तरं चद्विरद्गार्पणाने दण्डमाह—

अभिघाते तथा येदे भेदे कुडव्यावपातने ।

पणान्दाप्य पञ्च दश विशतिं तद्द्वयं तथा ॥ २२३ ॥

मुद्ररादिना कुडवस्याभिघाते विदारणे द्विधाकरणे च यथाक्रमं पञ्चपणो  
दण्डपणो विंशतिपणश्च दण्डो वदितव्यः । अवपातने पुनः कुडवस्यैते  
प्रथो दण्डा संमुचिता प्राप्या पुनः कुडवस्यवादनार्थं च धनं स्वामिने  
दद्यत् ॥ २२३ ॥

भाषा—मुद्रर आदि से दीवळ को फेंकन, छेद करने और गिराने  
पर क्रमण पंच, दस और बीस पण दण्ड तथा उसको बनवाने का व्यय  
( हानि पहुँचाने वाला से ) दिलाया चाहिए ॥ २२३ ॥

१ पराधेऽप्येतस्यैव । २ यं पृथोक्तं प्रातिलोभ्यानुलोमत । स एव  
दण्डपारुष्ये राज्ञा कार्ष्णीं यथाक्रमम् । ३ तथा । ४ त्वागचमपथम् ।  
५ दण्डश्च । ६ द्वैधीकरणे । ७ समविना ।

दु खोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन्प्राणहरं तथा ।

पोटशाद्यं पणान्दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम् ॥ २२४ ॥

अपि च, परगृहे दु सजनक कण्टकादि द्रव्यं प्रक्षिपन्पोटशापणा-दण्डय ।  
प्राणहर पुनर्विपभुजङ्गादिकं प्रक्षिपन्मध्यमसाहस दण्डय ॥ २२४ ॥

भाषा—दूसरे के घर में दु स उरपन्न करने वाले ( कण्टक आदि )  
और ( विप, सर्प आदि ) प्राण लेने वाले द्रव्य या जीव फेंकने वाले में पहले  
सोलह पण ॥ २२४ ॥

पशुभिर्गृहे दण्डमाह—

दु ये च शोणितोत्पादे शाखाङ्गच्छेदने तथा ।

दण्डं क्षुद्रपशूनां तु द्विपणप्रभृतिं क्रमात् ॥ २२५ ॥

क्षुद्राणां पशूनां अजाविकहरिणप्रायणां ताडनेन दु खोत्पादने असुखसा-  
चने शाखाङ्गच्छेदने । 'शाखा' शब्देन चात्र प्राणसचाररहित शृङ्गादिक  
लक्ष्यते । अङ्गानि करचरणप्रभृतीनि, शाखा चाङ्ग च शाखाङ्ग तस्य छेदने  
द्विपणप्रभृतिर्दण्ड । द्वौ पणौ यस्य दण्डस्य स द्विपण । द्विपण प्रभृतिरा  
द्विर्यस्य दण्डगणस्यासौ द्विपणप्रभृति । स च दण्डगणा द्विपणश्चतुष्पण पट्प-  
णोऽष्टपण दशपणरूपो न पुनर्द्विपणस्त्रिपणश्चतुष्पण पञ्चपण इति । कथमिति  
चेदुच्यते ? अपराधगुरुत्वात्तावत्प्रथमदण्डाद् गुरुतरमुपरितन दण्डत्रिगणमवगच्छते ।  
तत्र चाश्रुतत्रिश्वादिसव्याश्रयणाद्द्वर श्रुतिद्विसव्याया एवाभ्यासाश्रयणेन गुरु  
त्वसंपादनमिति निरवयम् ॥ २२५ ॥

भाषा—बकरी, भेंड़, हरिण जैसे क्षुद्र पशुओं को मारकर हथिर  
निकालने, और सींग आदि निर्जाव अंग काटने पर क्रमश दो, चार, छ और  
आठ पण दण्ड होता है ॥ २२५ ॥

लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ मध्यमो मूल्यमेव च ।

महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणो दम ॥ २२६ ॥

किंच, तेषां क्षुद्रपशूनां लिङ्गच्छेदने मरणे च मध्यमसाहसो दण्ड ।  
स्वामिने च मूल्यं दद्यात् । महापशूनां पुनर्गोमज्जाजिपभृतीनामेतेषु स्था-  
नेषु ताडनलोहितस्त्रावणादिषु निमित्तेषु पूर्वोक्ताहण्डाद् द्विगुणो दण्डो वेदि  
तस्य ॥ २२६ ॥

भाषा—उन क्षुद्र पशुओं का लिङ्ग काटने और उ हें मार डालने पर  
मध्यम साहस का दण्ड होता है और पशु का मूल्य भी देना होता है यदि

नाथ, हाथी, घोड़ा जैसे बड़े पशु हों तो इन स्थानों पर चोट पहुँचाने पर पूर्वोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड समझना चाहिए ॥ २२६ ॥

स्थावराभिद्रोहे दण्डमाह—

प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्पविदारणे ।

उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दम ॥ २२७ ॥

प्ररोहा अङ्कुरास्तद्वक्ष्य शाखा प्ररोहिण्य, यारिद्ध्या पुनस्तथा प्रतिकण्ड प्ररोहन्ति ता शाखा येषां वटादीनां ते प्ररोहिशाखिन, तेषां शाखाच्छेदने, यतो मूलशरणा निर्गच्छन्ति स स्कन्ध, तस्य छेदने, समूलवृक्षच्छेदने च यथाक्रम विंशतिपणदण्डादारम्य पूर्वस्मात्पूर्वस्माद्गतोत्तरो दण्डो द्विगुण । एतदुक्तं भवति—विंशतिपणश्चवारिंशत्पणोऽशीतिपण इत्येव प्रथो दण्डा यथाक्रम शाखाच्छेदनादित्थपरार्थेषु भवन्तीति । अप्ररोहिशाखिनामप्युपजीव्य-वृक्षाणामाम्रादीनां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु पूर्वोक्ता एव दण्डा, अनुपजीव्याप्ररोहि-शाखिषु पुनर्वृक्षेषु कल्प्या ॥ २२७ ॥

भाषा—कीपलों से युक्त ढालों वाले वृक्षों की शाखा भीर तथा या सम्पूर्ण वृक्ष काटने पर यदि [बृह वृक्ष मनुष्य के जीविका निर्वाह का साधन (आम आदि का) हो तो कमश धीस, चालीस और अस्सी पण दण्ड लगता है ॥ २२७ ॥

वृक्षविशेषान्प्रत्याह—

चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये ।

जातद्रुमाणा द्विगुणो दमो वृक्षे च विश्रुते ॥ २२८ ॥

चैत्यादियु जातानां वृक्षाणां शाखाच्छेदनादियु पूर्वोक्तादण्डाद् द्विगुण । विश्रुते च विष्णुपलाशादिके द्विगुणो दण्ड ॥ २२८ ॥

भाषा—धार्मिक स्थान, श्मशान, सीमा पवित्र स्थान और देवता के मन्दिर में उत्पन्न हुए वृक्ष और पीपल, पलाश आदि के वृक्ष की शाखा आदि काटने पर उपरोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड होता है ॥ २२८ ॥

गुश्मादी-प्रत्याह—

गुरुमगुच्छश्लुपलताप्रतानौपधियीरुधाम् ।

पूर्वस्मृतादर्घ्यदण्ड स्थानेषूक्तेषु कर्तने ॥ २२९ ॥

गुश्मा अनतिदीर्घनिविटलता मालत्यादय, गुच्छा अवहरीरुवा अमरल प्राया कुरण्टकादय, श्लुपा करवीरादय सरलप्राया लता दर्घ्यादि-यो

द्राक्षातिमुक्ताप्रभृतय, प्रताना काण्डप्ररोहरहिता सरैलयादिन्य सारिवाप्रभृ-  
तय, भोष्य फलपाकावसाना शालिप्रभृतय, वीरुध क्षिप्ता भवि या  
विविध प्ररोहन्ति ता गुहूचीप्रभृतय, एतेषां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु विकर्तने छेदने  
पूर्वोक्तादण्डादर्धदण्डो वेदितव्य ॥ २२९ ॥

भाषा—गुदम मालती जैसी ( छोटी और घनी लताएँ ), गुच्छ ( कुण्डक  
जैसी लपटाने वाली लता ), क्षुप ( करवीर जैसी साधी लता ), द्राक्षा  
जैसी घड़ी लता, सीधी चलने वाली सारिवा आदि लताएँ, शालि आदि  
ओषधियों और गुहूची आदि विरवों को पूर्वोक्त स्थानों पर काटने का दण्ड  
उपरोक्त दण्ड से आधा होता है ॥ २२९ ॥

इति दण्डपाठ्यप्रकरणम् ।

### अथ साहसप्रकरणम् २०

सप्रति साहस नाम विषादपद व्याचिष्यासुस्तल्लक्षण तावदाह—

सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं स्मृतम् ।

सामान्यस्य साधारणस्य १ यथेष्टविनियोगानर्हत्वाविशेषेण परकीयस्य द्रव्य-  
स्यापहरण साहसम् । कुत ? प्रसभहरणात् प्रसन्न हरणात्, यलावष्टभेन  
हरणादिति यावत् ॥ एतदुक्तं भवति—राजदण्ड जनाक्रोश चोल्लहय राजपुरवे-  
तरजनसमस्तं यत्किञ्चिन्माराणहरणपरदारप्रधर्षणादिक कियते तस्मै साहसमिति  
साहसलक्षणम् । अतः साधारणधनपरधनयोर्हरणस्यापि यलावष्टभेन क्रियमाण-  
स्यात्साहसमिति । नारदेनापि साहसस्य स्वरूपं विवृतम् ( १।१४ )—‘सहसा  
क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्ददपितै । तत्साहसमिति प्रोक्ष सहो यलमिदोष्यते ॥’  
इति । तदिदं साहस चौर्यपारदण्डपाठ्यस्त्रीसप्रहणेषु व्यासक्तमपि यलदर्पा-  
वष्टभोपौधितो भिद्यते इति दण्डातिरेकार्थं गृह्यभिक्षानम् । तस्य च दण्डवे-  
चित्प्रमतिपादनाथं प्रथमादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय लक्षणं तैव विवृतम्  
( १।१९ )—‘तद्युगलिविध ज्ञेय प्रथम मध्यम तथा । उत्तम चेति दाक्षेपु  
तस्योक्त लक्षणं गृह्यम् ॥ पलमूलोदकादीनां त्रैशोपकरणस्य च । भद्राक्षेपोप  
मर्दायै प्रथम साहसं स्मृतम् ॥ घाम पञ्चसपानागां गृहापकरणस्य च । एतनैव  
प्रकारेण मध्यम साहसं स्मृतम् ॥ व्यापादो विपशच्छार्ध परदारभिमर्शनम् ।  
प्राणोपरोधि यथान्यदुष्टमुत्तमसाहसम् ॥ तस्य दण्ड क्रियायेव प्रथमस्य

१ सित्पादादिन्य । २ हरण साहसम् । ३ यथेष्टविनियोग ।  
४ व्याचिष्येण । ५ पाधिना भिद्यते ।

ज्ञातावरः । मध्यमस्य तु साम्प्रतैर्दण्डे पञ्चसतावरः ॥ उत्तमै साहसे दण्डः  
सहस्रावर इत्यते । वधः सर्वस्वहरणं पुरास्त्रिर्वासनाङ्गने । तद्वद्दण्डे इत्युक्तो  
दण्ड उत्तमसाहसे ॥' इति ॥ वधादयश्चापराधतारतम्यादुत्तमसाहसे समस्ता  
व्यस्ता वा योऽया ॥

तत्र परद्रव्यापहरणरूपे साहसे दण्डमाह—

तन्मूल्याद् द्विगुणो दण्डो निहये तु चतुर्गुणः ॥ २३० ॥

तस्यापहतद्रव्यस्य मूल्यात् द्विगुणो दण्ड । यः पुनः साहसं कृत्वा  
'नाहमकार्यम्' इति निहृते तस्य मूल्याच्चतुर्गुणो दण्डो भवति । एतस्मा-  
देव विशेषदण्डविधानात्प्रथमसाहसादिसामान्यदण्डविधानमपहारस्यतिरिक्तविषयं  
गम्यते ॥ २३० ॥

भाषा—सामान्य वस्तु के बलपूर्वक अपहरण को साहस कहते हैं ।  
उसके लिए उस वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड होता है और अपराध  
अस्वीकार करने पर उसका चौगुना दण्ड होता है ॥ २३० ॥

साहसिकस्य प्रयोजयितारं प्रायाह—

यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम् ।

यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम् ॥ २३१ ॥

यस्तु 'साहसं कुरु' इत्येवमुक्त्वा कारयत्यसौ साहसिकादण्डाद् द्विगुण दण्डं  
दाप्यः । यः पुनः 'अहं तुभ्य धनं दास्यामि, त्वं कुरु' इत्येवमुक्त्वा साहसं  
कारयति स चतुर्गुण दण्ड दाप्योऽनुबन्धातिशयात् ॥ २३१ ॥

भाषा—जो व्यक्ति साहस करता है ( करने के लिए उकसाता है )  
उससे साहसिक के दण्ड से दुगुना दण्ड लेना चाहिए और जो ऐसा कहे  
कि तुम करो जो तुमोगा वह मैं दूँगा, उससे उसके चौगुना दण्ड लेवे ॥ २३१ ॥

साहसिकविशेष प्रायाह—

\*अर्घ्याशेषातिक्रमकृद् भ्रातृभार्याप्रहारकः ।

संदिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकृत् ॥ २३२ ॥

सामन्तकुलिकादीनामपकारस्य कारकः ।

पञ्चादारपणिको दण्डं एवामिति विनिश्चयः ॥ २३३ ॥

अर्घ्यस्वार्थादृश्याचार्यादेशेषमाज्ञातिव्रमं च यः करोति, पश्च भ्रातृभार्या  
साहस्यति तथा संदिष्टस्य प्रतिशुनस्वार्थस्याप्रदाता पश्च मुद्रितं गृहमुद्राटपति  
तथा स्वगृहे श्रेत्रादिमत्तगृहश्रेत्रादिसवामिनी कुलिकानी स्वकुलोद्भवानि

१. कुद्रित्येवं वाच्यं कारयति ।

२. अर्घ्याशेषाति ।

'आदि' ग्रहणात् स्वग्राम्यस्वदेशीयानां च योऽपकर्ता, ते सर्वे पञ्चाशत्पणपरि-  
मितेन दण्डेन दण्डनीया ॥ २३२-२३३ ॥

भाषा—जाचार्य आदि अर्धयं व्यक्तियों को आक्षेप करने वाले, भाई की पत्नी को मारने वाले, सन्देश न कहने वाले, बन्द घर का द्वार तोड़ने वाले, सामन्त ( जिसका खेत या घर सग हुआ हो ऐसे ) और अपने कुल में उत्पन्न व्यक्तियों का अपकार करने वाले से पचास पण का दण्ड लिया जाता है, यह निश्चय है ॥ २३२-२३३ ॥

स्वच्छन्दविधवागामी विरुष्टेऽनभिधावक ।

व्यकारणे च विक्रोष्टा चण्डालश्चोत्तमांस्प्रृशेत् ॥ २३४ ॥

'शूद्रप्रजितानां च देवे पित्र्ये च भोजक ।

अयुक्तं शपथं कुर्वन्नयोग्यो योग्यकर्मकृत् ॥ २३५ ॥

वृषभुद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत् ।

साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकृत् ॥ २३६ ॥

पितृपुत्रस्वसृभ्रातृदम्पत्याचार्यशिष्यका ।

एवामपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डमाक् ॥ २३७ ॥

किंच, नियोग विना य श्वेच्छया विधवा गच्छति, चौरादिभयाकुले विरुष्टे च य शक्तोऽपि नाभिधावति, यश्च वृथाक्रोश करोति, यश्च चण्डालो ग्राह्यणादीन्प्रृशति, यश्च शूद्रं प्रजितान्दिगम्परादीन्दैवे पित्र्ये च कर्मणि भोजयति, यथायुक्तं 'मातरं गमिष्यामि' इत्येव शपथं करोति, तथा यश्च अयोग्य एव शूद्रादियोग्यकर्मोपपन्नादि करोति, वृषो बलीवर्द्ध, वृषपशवोऽजादयस्तेषां पुंस्त्वस्य प्रजननशक्तेर्विनाशक, 'वृषभुद्रपशूनाम्' इति पाठे हिंसाशौचप्रयोगेण वृषादेः फलप्रसूनानां पातयिता, साधारणमपलपति साधारणद्रव्यस्य च यज्ञक, दासीगर्भस्य च पातयिता, ये च पित्रादयोऽपतितान् एव सन्तोऽन्योन्यं त्यजन्ति, ते सर्वे प्रत्येकं पणशतं दण्डार्हा भवन्ति ॥ २३४-२३७ ॥

भाषा—विना नियोग के अपनी इच्छा से विधवा स्त्री के साथ सम्भोग करने वाला, भयातुर व्यक्ति की पुकार सुनकर शक्तिशाली होते हुए भी न दौड़ने वाला, विना कारण क आर्त्तनाद करने वाला, और ग्राह्य आदि उच्च वर्णों को छूने वाला चाण्डाल, शूद्र और सन्ध्यावियों को देवपशु एवं श्राद्ध में भोजन देने वाला, झूठी शपथ लेने वाला, और अपने वर्ण क अयोग्य कर्म करने वाला, पैल और यक्रा आदि छूटे पशुओं को धरिषा करने वाला,

सामा य धरतु को दवा लेने वाला दामी का गर्भपात कराने वाला और  
पिता पुत्र, बहन, भाइ पति परती आचार्य और सिष्य के निर्दोष होने पर  
भी उनका ( एक दूसरे का ) त्याग करने वाला—ये सभी सौ पग दण्ड के  
भागी होते हैं ॥ २३४ २३७ ॥

इति साहसमकरणम् ॥

याहसप्रवद्रात्सदृगावराधेनु निर्णजकादीनां दण्डमाह—

घसानखीन्पणा-दण्डया नेजकस्तु पराशुकम् ।

विद्रंथाधक्याधानयाचितेषु पणान्दश ॥ २३८ ॥

नेजरो वस्त्रस्य धावक म यदि निजजनार्थं समर्पितानि वामासि स्वय  
माश्रयादयति तदाऽर्था पणत्रय दण्ड्य । य पुनरतानि विक्रीणते भवक्य  
या 'प्रायाःकालमुपभोगार्थं धरतु दायते मष्टमेनावद्धन देवम्' इत्येष भाट  
कन यो ददाति आधिव वा नयति, स्वसुहृद्भ्यो वाचितं वा ददात्यसौ प्रत्यप  
राध दशपणा दण्डनीय । तानि च वस्त्राणि श्लक्ष्णदावर्मैः<sup>१</sup> पणक चालनी  
यानि न पापाणे न च स्वयमनीयानि; न च स्वगृहे धामयितव्यानि इतरथा  
दण्ड्य । ( ८ ३९१ )— शावमण्यफणक श्लक्ष्णे निजयाद्दामासि नजक । न च  
वामासि वामोभिर्निर्हरेत् च यासयत् ॥ इति मनुस्मरणात् ॥ यदा पुन प्रमा  
दानानि नादायति तदा नारदेनोक्त दण्ड्यम्— मूषयाष्टमागो द्वीपन सहृशीतस्य  
वासम । द्वि पाद्विस्त्रितीयांशमनुधीतिऽधमेव च ॥ अर्धंशपाप्तु परत पादा  
दापचय क्रमात् । यावच्छीणदण्डं जर्णं जीणस्यानियम चय ॥ इति । अष्ट  
पगशीतस्य सहृशीतस्य वस्त्रस्य नाजितस्याष्टमभागपणान् मूष्य देवम् ।  
द्विर्धितस्य तु पादान् त्रिर्धितस्य पुनस्तृतीयांशं द्युतम् । अनुधीतस्यार्धं पण  
अनुष्टय देवम् । तत्र पर प्रतिनिर्णेतनमवगिष्ट मूष्य पादुपादापचयन देवम् ।  
यावच्छीणं जर्णं पुनर्नाजितस्यष्टमागो मूष्यदानवचयनम् ॥ २३८ ॥

भाषा—यदि धावो धाने क लिप् द्विदे मय दूसरो क चट्टों को स्वय  
पहनता है तो उसे तीग पग दण्ड लगना है; यदि बड़ उसे घेचना है भाइ दता  
है पणक रखना है वा मंगना देना है ता दश पग दण्ड लगना है ॥२३८॥

पितापुत्रविराध तु साक्षिणां त्रिपणा दम ।

अन्तरे च तदार्यं स्यात्तस्याप्यष्टमुणा दम ॥ २३९ ॥

१ विद्रंथाधक्य धानयाचितेषु ( = भरतकनार्पणमण्डलम्, भाष्यमनमा  
धानम् ) २ शावमणे कण्डके । ३ अष्टमभागोन पण मूष्य । ४ पादप  
चयनेन । ५ त्रिगतो दम । ६ तु । ७ स्वपणतो दम ।

पितापुत्रयोः कलहे यः साधनमहीकरोति, न पुनः कलहं निवारयति  
असौ पणत्रयं दण्डयः । यश्च तयोः सपणे विवादे पणदाने प्रतिभूर्भवत्यसौ,  
चकारात्तयोर्गः कलहं वर्धयति, सोऽपि त्रिपणादष्टगुणं चतुर्विंशतिपणान्दण्ड-  
नीयः । दम्परयाद्विष्वग्मेव दण्डोऽनुसरणीयः ॥ २३९ ॥

भाषा—पिता और पुत्र के कलह में जो साक्षी घनता है ( और कलह  
का निवारण नहीं करता ) उसे तीन पण दण्ड देना चाहिए; जो उन दोनों  
में मध्यस्थ बने ( अर्थात् पण का विवाद हो तो प्रतिभू बने और क्षणदे को  
बढ़ावे ) उससे उसका भी भाठ गुना दण्ड लेना चाहिए ॥ २३९ ॥

तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च ।

पभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४० ॥

तुला तोलनदण्डः, शासनं पूर्वोक्तम्, मानं प्रथमदोणादि, नाणकं मुदा-  
दिबिहितं द्रमनिष्कादि, पतेपां यः कूटकृन् देशप्रसिद्धपरिमाणादन्यथा न्यून-  
त्वमाधिक्यं वा द्रममादेरभ्यवहारिकमुदास्वं ताम्रादिगर्भावं वा करोति, यश्च तैः  
कूटैर्जानघपि व्यवहरति, तादुभौ प्रत्येकमुत्तमसाहसं दण्डनीयौ ॥ २४० ॥

भाषा—जो तराजू से तौलने, राजा की आज्ञा, तौल के मानों (घटपरो)  
और नाणक ( सिक्कों ) में धूर्तता करे तो उसे उत्तम साहस का दण्ड देना  
चाहिए ॥ २४० ॥

नाणकपरीक्षणं प्रथाह—

अकूटं कूटकं धूते कूटं यश्चाप्यकूटकम् ।

स नाणकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम् ॥ २४१ ॥

यः पुनर्नाणकपरीक्षी ताम्रादिगर्भमेव द्रममादिकं सम्यगिति धूते, सम्यक्  
च कूटकमिति अमावुत्तमसाहसं दण्डयः ॥ २४१ ॥

भाषा—जो नाणक की परीक्षा करने वाला छूटे सिक्के को गुरा  
कहता है और छूटे को खोटा कहता है उसे उत्तम साहस का दण्ड देना  
चाहिए ॥ २४१ ॥

चिकित्सकं प्रथाह—

मिपिद्मिष्याचरन्वृण्डव्यस्तिर्यङ्क्षु प्रथमं दमम् ।

मानुषे मध्यमे राजपुरुषेषूत्तमं दमम् ॥ २४२ ॥

यः पुनर्मिषक् मिष्या आयुर्धदानभिज्ञ एव जीवनाय 'चिकित्सितज्ञोऽहम्'  
इति स्तिर्यङ्मनुष्यराजपुरुषेषु चिकित्सामाचरत्यसौ यथाक्रमेण प्रथममप्यमोत्तम-



साहस-दण्डनीय । तत्रापि तिर्थगादिषु मूल्यविशेषेण वर्णविशेषेण राजप्रथा  
सत्तिविशेषेण दण्डस्थ लघुगुहभाव कल्पनीय ॥ २४२ ॥

भाषा—जो भक्षपशुना वैद्य ( नीम हकीम ) पशु पक्षियों की झटो  
चिकित्सा करता हो उसे प्रथम साहस का दण्ड होता है, मनुष्य की चिकित्सा  
करे तो मध्यम साहस का और राजपुरव की चिकित्सा करने पर उत्तम साहस  
का दण्ड होता है ॥ २४२ ॥

अथर्ध्वं यश्च बध्नाति यद्धं यश्च प्रमुञ्चति ।

अप्राप्तव्यवहार च स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४३ ॥

य पुनर्धनानर्हमनपराधिन राजाज्ञया विना बध्नाति, यश्च यद्धं यव  
हारार्थमाहूत अनिर्बृत्तव्यवहार घोसृजति, असौ उत्तमसाहस दाप्य ॥ २४३ ॥

भाषा—जो धन के अयोग्य व्यक्ति को राजा की आज्ञा के विना  
बध्नाता है और जो यद्ध ( व्यवहार के लिये पकड़कर लाये गए घोरे आदि )  
को व्यवहार की निवृत्ति के पूर्व ही छोड़ देता है वह उत्तम साहस के दण्ड का  
भागी होता है ॥ २४३ ॥

मानेन तुलया वापि योऽशमष्टमफं हरेत् ।

दण्डं स दाप्यो द्विशतं वृद्धौ दानी च क्वचित्तम् ॥ २४४ ॥

य पुनर्धनिक् प्रीहिवार्त्तासादे पण्यस्याष्टमश कूटमानेन कूटतुलया  
वा भ-वथा वा परिहरति असौ पणानो द्विशत दण्डनीय । अपहृतस्य द्रव्यस्य  
पुनर्वृद्धौ दानी च दण्डस्यापि वृद्धिदानी कल्प्ये ॥ २४४ ॥

भाषा—नापने या लौलने में जा पूर्तता करके किसी वस्तु का आठवाँ  
भाग ले ले तो उससे दो सौ पण दण्ड लेना चाहिये । अपहृत धन के अधिक  
या कम होने के अनुसार दण्ड भी कम या अधिक होता है ॥ २४४ ॥

भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु ।

षण्येषु प्रक्षिपन्हीनं पणान्दाप्यस्तु षोडश ॥ २४५ ॥

भेषजमौषधद्रव्यम्, स्नेहो घृतादि, लवण प्रभिद्धम्, गन्धद्रव्यमुशीरादि,  
धान्यगुडौ प्रसिद्धौ, 'आदि' श-रादिहृमरिचादि, एतेष्वसार द्रव्य विक्रयार्थं  
मिश्रयत् षोडशवणो दण्ड ॥ २४५ ॥

भाषा—औषध, घृत आदि द्रवपदार्थ, ममक, गन्ध, धान्य और गुड  
आदि में विक्रय द्वारा अधिक लाभ पाने के लिये असार द्रव्य डालने पर  
( मिश्रावट करने पर ) सोलह पण दण्ड लेवे ॥ २४५ ॥

मृच्चर्ममणिसूत्राय काष्ठवल्कलवाससाम् ।

अजातौ जातिकरणे विक्रेयांघुणो दमः ॥ २४६ ॥

किंच, न विद्यते बहुमूलया जातिर्यस्मिन्मृच्चर्मादिके तदजाति, तस्मिन् जातिकरणे विक्रयार्थं चन्धवर्णरसान्तरसचारणेन बहुमूलयजातीयसादृश्यसंपादने यथा—मलिकामोदसचारेण मृत्तिकाया सुगन्धामलकमिति, मार्जारचर्मणि वर्णोत्कर्षापादनेन श्यामचर्ममिति, स्फटिकमणौ वर्णान्तरकरणेन पञ्चराग इति, कार्पासिके सूत्रे गुणोत्कर्षाधानेन पट्टसूत्रमिति, कौलायसे वर्णोत्कर्षाधानेन रजतमिति, शिल्पकाष्ठे चन्दनामोदसचारेण चन्दनमिति, कङ्कोले स्वगारय एवङ्गमिति, कार्पासिके वासनि गुणोत्कर्षाधानेन कौशेयमिति, विप्रेयस्यापादितसादृश्यमृच्चर्मादि पण्यस्याष्टगुणो दण्डो वेदितव्य ॥ २४६ ॥

भाषा—निष्टी, चमड़ा, मणि, सूत, लोहा, लकड़ी, और चरकल के वस्त्र को घटिया होने पर भी अच्छा बनाकर बेचने वाले से जितने मूल्य पर बिक्री हो उसके आठ गुना दण्ड लेते ॥ २४६ ॥

समुद्गपरिवर्तं च सारभाण्डं च कृत्रिमम् ।

आधानं विक्रयं चापि नयतो दण्डकल्पना ॥ २४७ ॥

भिन्ने पणे च पञ्चाशत्पणे तु शतमुच्यते ।

द्विपणे द्विशतो दण्डो मूल्यवृद्धौ च वृद्धिमान् ॥ २४८ ॥

सुद्ध विधान, मुद्गो गन्ध वर्तत इति समुद्ग करण्डकम्, परिवर्तन प्यस्यास, योऽन्यदेव मुक्तानां पूर्णं करण्डक दर्शयित्वा हस्तलाघवेनान्यदेव स्फटिकानां पूर्णं करण्डक समर्पयति, यत्र सारभाण्ड करतूरिकादिक कृत्रिम कृत्वा विक्रयमाधि वा नयति तस्य दण्डकल्पना वक्ष्यमाणा वेदितव्या । कृत्रिम करतूरिकादर्मुहयभूते पणे भिन्ने<sup>१</sup> न्यून, न्यूनपणमूल्य इति यावत्, तस्मिन् कृत्रिमे विक्रात पञ्चाशत्पणो दण्डः । पणमूहये पुन शतम् । द्विपणमूल्ये द्विशतो दण्ड इत्यय मूल्यवृद्धौ दण्डवृद्धिस्त्वेया ॥ २४७-२४८ ॥

भाषा—सूकर रसी हुई वस्तु को अपन हस्तलाघव से (हाथ की लपाइ द्वारा) कुछ और हा बनाकर लोगों को बगता है और जो पनापटा करतूरी य-यक रगता है या बेचना है तो उसको हम प्रकार दण्ड लगना है—कृत्रिम करतूरी आदि का मूल्य दण्ड म कम में हो तो पचाम पण और एक पण मूल्य हो तो सी पण दो पण मूल्य होने पर दो सी पण दण्ड होता है और मूल्य की वृद्धि के अनुसार दण्ड बढ़ता जाता है ॥ २४७-२४८ ॥

१ विक्रेयांघुणो । २ कार्पासिके च । ३ समुद्ग । ४-५ गु ।

६. भिन्ने भिद्यमूल्ये ।

वणिज प्रत्याह—

संभूय कुर्वतामर्घ्यं संबाधं कारुशिल्पिनाम् ।

अर्घ्यस्य हासं वृद्धिं वा जानतो दम उत्तम ॥ २४९ ॥

राजनिरूपितार्घ्यस्य हास वृद्धि वा जानन्तोऽपि वणिज सभूय मिलित्वा कारुणा रजकादीनां शिल्पिना धिप्रकारादीना सबाध पीडाकरमर्घान्तर लाभ लोभास्तुर्ध्वन्त पणसहस्र दण्डनीया ॥ २४९ ॥

भाषा—यदि राजा द्वारा निर्धारित मूल्य की वृद्धि और हास को जानते हुए भी व्यापारी लोग आपस में मिलकर रजक आदि को और शिल्पियों को पांडित करें तो उन्हें उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २४९ ॥

संभूय वणिजां पण्यमनर्घेणोपहन्वनाम् ।

विक्रीणता वा विहितो दण्ड उत्तमसाहस ॥ २५० ॥

किंच, ये पुनर्वणिजो मिलित्वा देशान्तरादागत पण्यमनर्घेण हीनमूल्येन प्रार्थयमाना उपहन्वन्ति, महार्घेण वा विक्रीणते तेषामुत्तमसाहसो दण्डो विहितो मन्वादिभि ॥ २५० ॥

भाषा—जो व्यापारी आपस में मिलकर दूसरे देश से लाई गयी वस्तु को कम मूल्य पर विक्राने से रोक देते हैं अथवा अधिक मूल्य पर बेचते हैं उनके लिये उत्तम साहस का दण्ड विहित है ॥ २५० ॥

इत पुनर्घेण पणितव्यमिरपत आह—

राजनि स्थाप्यते योऽर्घ्यं प्रत्यहं तेन विनय ।

क्रयो वा नि स्रवस्तस्माद्वणिजां लाभट्टस्मृत ॥ २५१ ॥

राजनि सनिहिते सति वस्तेनार्घ्यं स्थप्यते निरूप्यते तनाघण प्रतिदिन क्रयो विक्रयो वा कार्यं । निर्गत स्रोत्रे नि स्रवोऽवशेषैस्तरमाद्वाजनिरूपिनार्घ्याद्यो नि स्रव स एव वणिजां लाभकारी, न पुन स्वच्छ दपरिकरिष तात् । मनुना चार्घ्यकरणे विशेषो दर्शित ( ८।४०२ )—‘पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे मासे तथा गते । कुर्वन् चैषां प्रत्यहमर्घ्यसंस्थापनं नृप ॥’ इति ॥ २५१ ॥

भाषा—राजा द्वारा जो मूल्य निर्धारित किया गया हो उसी मूल्य पर प्रतिदिन क्रय वा विक्रय करना चाहिए । उससे जो कुछ शाय पक्षे वही वनियों का लाभ होता है ॥ २५१ ॥

१ हासे वृद्धी वा साहसो दण्ड उच्यते । २ जानतां । ३. ममिहितान् ।  
४ लाभक । ५ शेष ।

स्वदेशपण्ये तु शतं घणिमृद्धीत पञ्चकम् ।

दशकं पारदेश्ये तु यः सद्यःक्रयधिकयी ॥ २५२ ॥

किंच, स्वदेशप्राप्तं पण्यं गृहीत्वा यो विक्रीणीते असौ पञ्चकं शतं पणशते पणपञ्चकं लाभं गृह्णीयात् । पारदेशप्राप्ते पुनः पण्ये शतपणमूहये दशपणाह्वारं गृह्णीयात् । यस्य पणस्य महणदिवस एव विक्रयः संगद्यते । यः पुनः कालान्तरे विक्रीणीते तस्य कालोत्कर्षवशात्कालोत्कर्षः कल्प्यः । एवं च यद्यार्थं निरूपिते पणशते पञ्चपणो लाभो भवति तद्यैवार्थो राज्ञः स्वदेशपण्यपरिपये स्थापनीयः ॥

भाषा—अपने देश की वस्तु लेकर तत्काल बेचने वाला घनियों पाँच प्रतिशत लाभ लेवे; दूसरे देश से लाकर बेचने वाले को दस प्रतिशत लाभ लेना चाहिए ॥ २५२ ॥

पारदेश्यपण्येऽर्घ्यनिरूपणप्रकारमाह—

पण्यस्योपरि संस्थाप्य द्वयं पण्यसमुद्गमम् ।

अर्घोऽनुमददृक्कार्यः केतुर्विकेतुरेष च ॥ २५३ ॥

देशान्तरादागते पण्ये देशान्तरगमनप्रत्यागमनभेदमहणशुष्कादिस्थानेषु यावानपयकोऽर्घ्यस्तावन्तमर्थं परिगणय पण्यमूहयेन सह सेलविशया यथा

कनककरतुरीकुङ्कुमादि मेघ शाक्यादि, क्रियया वाहदोहादिरूपयोपलक्षितमघ-  
सहिष्यादि । रूपत पण्यवाङ्मनादि धिया दीप्या मरकतपद्मरागादीति ॥

पतत्पत्रप्रकारकमपि पण्य विक्रीयाऽसप्रयच्छतो दण्डमाह—

गृहीतमूल्यं य पण्यं क्रेतुर्नैव प्रयच्छति ।

सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्ग्लामं वा दिगागते ॥ २५४ ॥

गृहीत मूल्य यस्य पण्यस्य विक्रेता तद्गृहीतमूल्य, तद्यदि विक्रेता प्रार्थय-  
मानाय स्वदेशयणिजे क्षेत्रे न समर्पयति, तद्य पण्य यदि क्रयकाले बहुमूल्य  
सकालान्तरेऽप्यमूल्येनैव लभ्यते तदाग्लामकृतो य उदयो वृद्धि पण्यस्य  
स्थावरजङ्गमात्मकस्य तेन सहित पण्य विक्रेता क्षेत्रे दापनीय । यदा  
मूल्यद्वारासकृत पण्यस्योदयो नास्ति, किं तु क्रयकाले यावदेवेद्यतो मूल्यस्ये-  
थरपण्यमिति प्रतिपद्य तावदेव तदा तत्पण्यमादाय तस्मिन्देशे विक्रीणानस्य यो  
लाभस्तेनोदयेन सहित द्विक त्रिकमित्यादिप्रतिपादितवृद्धिरूपोदयेन वा सहित  
क्षेत्रेषामण्ड्यावशाद्दापनीय, यथाह नारद ( ८१५ )—‘अर्घ्यश्चेद्वहीयेत सोदय  
पण्यमावहेत् । स्थानिनामेव नियमो दिग्ग्लाम दिग्विचारिणाम् ॥’ इति । यदा  
स्वर्धर्मह्रासेन पण्यस्य -यूनभावस्तदा तस्मिन्पण्य वस्त्रगृहादिकस्य उपभोगस्तदा  
पञ्चादनमुखनिवासादिरूपो विक्रेतुस्तामहित पण्यमसौ दाप्य, यथाह नारद  
( ८१४ )— विक्रीय पण्य मूल्यम य क्रेतुर्न प्रयच्छति । स्थावरस्य चय दाप्यो  
जङ्गमस्य क्रियाफलम् ॥’ इति । विक्रेतुरुपभोग चय उच्यते, क्षेत्रसवधिस्थेन  
‘श्रीयमाणत्वात् न पुन कुड्यपातस्यघातादिरूप । तस्य तु—‘उपहन्येत वा  
पण्य दह्येतापह्रियेत वा । विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासप्रयच्छत ॥’ ( ना० ८१६ )  
इत्यशोक्तत्वात् ॥ यदा स्वामी क्षेत्रा देशान्तरात्पण्यग्रहणार्थमागतस्तदा तत्पण्य-  
मादाय देशान्तरे विक्रीणानस्य यो लाभस्तेन सहित पण्य विक्रेता क्षेत्रे दाप-  
यितव्य । अथ च क्रीतपण्यसमर्पणनियमोऽनुशयाभावे द्रष्टव्य ॥ सति स्वमुशये  
‘क्षीया विक्रीय वा किञ्चिदित्यादि ( ८१२२२ ) मनुक वेदितव्यम् ॥ २५४ ॥

भाषा—जो विक्रेता सौदे का मूल्य लेकर सौदा करीदने वाले को नहीं  
देता उसस राजा क्याज क साथ सौदा ( खरीदने वाले को ) दिलावे, और  
यदि क्षेत्र दूसरे देश में भाकर सौदा करीद रहा हो तो उसे ले जाकर  
अपने देश में बेचने पर जितना लाभ उसे मिलता वह भी दिलावे ॥ २५४ ॥

विक्रीतमपि विक्रेयं पूर्वक्रेतर्यगृह्णाति ।

ह्यानिश्चेत्क्रेतुर्दोषेण क्रेतुरेव हि सा भवेत् ॥ २५५ ॥

किंच, यदा पुनर्जातानुशयः क्रेता पण्य न त्रिष्टुति तदा विक्रीतमपि पण्यमन्यत्र विक्रेणम्, यदा पुनर्विक्रेत्रा दोषमान क्रेता न गृह्णाति, तच्च पण्य राजद्वैविकेनोपहत, तदा श्रेतुरेवासी हानिर्भवेत्; पण्याग्रहणरूपेण श्रेतुदोषेण नाशितत्वात् ॥ २५५ ॥

भाषा—यदि पहले वाला क्रेता पण्य ( सीदा ) न ले तो विक्रे हुए पण्य को भी दूसरे के हाथ बेच दे । यदि इसी बीच ( जब विक्रेता दे रहा हो और क्रेता न लेता हो ) उस वस्तु में क्रेता के दोष से हानि हो जाय तो उसे क्रेता को ही सहन करना होता है ॥ २५५ ॥

राजद्वैवोपघातेन पण्ये दोषमुपागते ।

हानिर्विक्रेतुरेवासी याचितस्याग्रयच्छतः ॥ २५६ ॥

अपि च, यदा पुनः क्रेत्रा प्रार्थ्यमानमपि पण्य विक्रेता न समर्पयति, अजानानुशयोऽपि, तच्च राजद्वैविकेनोपहत, भवति, तदासौ हानिर्विश्रेतुरेव । अतोऽन्यद्द्रुए पण्य विनष्टमहंश क्रेत्रे देयम् ॥ २५६ ॥

भाषा—यदि क्रेता पण्य माग रहा हो और विक्रेता उसे वह पण्य न देता हो, तथा इसी बीच राजकृत या दैवहन उत्पात से उस वस्तु में दोष आ जावे तो यह हानि विक्रेता की ही होती है ॥ २५६ ॥

अन्यहस्ते च विक्रीय दुष्टं वाऽदुष्टव्यद्यदि ।

विक्रीणीते दमस्तत्र मूल्यात्तु द्विगुणो भवेत् ॥ २५७ ॥

किंच, य पुनर्विनैवानुशयमेकस्य हस्ते विक्रीत पुनरग्रस्य हस्ते विक्रीणीते सदोष वा पण्य प्रच्छादितशेष विक्रीणीते, तदा तदण्यमूल्याद् द्विगुणो दमो वेदितव्य । नारदेनाप्यत्र विशेषो दर्शित ( ८१८ )—'अन्यहस्ते च विक्रीय योऽन्यस्मै तदाग्रयच्छति । इत्य तद्द्विगुण दाप्यो विनयस्तावदेव तु ॥ निर्दोष दर्शयित्वा तु सदोष य प्रयच्छति । स मूल्याद् द्विगुण दाप्यो विनय तावदेव तु ॥' इति ॥ सर्वथाय विधिर्दत्तमूल्ये पण्य द्रष्टव्यः । अदत्तमूल्ये पुनः पण्ये याष्ट्याग्रकृपे श्रेतुविक्रेत्रे नियमकारिणः समयाहने प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा न कश्चिद्दोषः । यथाह नारद ( ८१७ )—'दत्तमूल्यस्य पण्यस्य विधिरेव प्रकीर्तितः । अदत्तोऽन्यत्र समयाहने विक्रेतुराविक्रय ॥' इति ॥ २५७ ॥

भाषा—जो एक के हाथ बेचा गइं वस्तु को पुन दूसरे व्यक्ति के हाथ बेचना है अथवा दापपूर्ण वस्तु को निर्दोष वस्तु बनाकर बेचना है तो उससे राजा वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड लेवे ॥ २५७ ॥

विक्रयानुशयोऽभिहित । क्रीतानुशयस्वरूप तु प्राक् प्रपञ्चितम् । अधुना तदुभयसाधारण धर्ममाह—

क्षयं वृद्धिं च वणिजा पण्यानामविजानता ।

क्रीत्वा नानुशय कार्यः कुर्वन्पट्टभागदण्डभाक् ॥ २५८ ॥

परीक्षितक्रीतपण्याना ऋयोत्तरकाल ऋयकालपरिमाणतोऽर्घ्यकृतां वृद्धिम परयता क्रेत्रा अनुशयो न कार्यम् । विक्रेत्रा च महार्घनिष्पन्न पण्यस्यमपरयता नानुनयितव्यम् । वृद्धिचयपरिज्ञाने पुनः क्रेतृविक्रेत्रोरनुशयो भवतीति व्यतिरेकादुक्तं भवति । अनुशयकालावधिस्तु नारदेनोक्त ( ८।१ )—‘क्रीत्वा मूष्येन यं पण्यं तु क्रीतं मन्वते ऋषी । विक्रेतुं प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्वयं विद्यतम् ॥ द्वितीयेऽह्नि दद्यात्क्रेता मूष्यार्तिं त्रिंशत्समावहेत् । द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतं त्रेतुरेव तत् ॥’ इति । अपरीक्षितक्रयविक्रयं पुनः पण्यवैगुण्यनिवन्धनानुशयवधि‘दंशैकपत्रमसाहे’त्यादिना दर्शितं एव । तदनया वाघोयुक्ताया वृद्धिचय-परिज्ञानस्यानुशयकरणस्यमवगम्यते । यथा गण्यपरासाविधिवलाःपण्यदोषाणां मनुशयकारणत्वे अतः पण्यदोषतद्बृद्धिचयकारणमित्याभावेऽनुशयकालाभ्यन्तरेऽपि यद्यनुशयं करोति तदा पण्यपट्टभागं दण्डनीयम् । अनुशयकारणसद्भावेऽप्यनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतोऽप्ययमेव दण्डः । उपभोगेनाविनाशरेषु स्थिरार्घ्येष्वनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतो मनुक्तो दण्डो दृष्टव्यः ( ८।२२३ )—‘परेण तु दशाहस्य न दद्यात्तपि दापयत् । आदद्यामो ददत्त्वेव राज्ञा दण्ड्यं शतानि पट्टं ॥’ इति ॥ २५८ ॥

भाषा—पण्य ( सौदे ) की हानि और लाभ को न जानने वाले वणिक् को सौदा खरीद कर उसका अनुशय ( फेराफेरी ) नहीं करना चाहिए । यदि वह ऐसा करता है तो सौदे को पट्टाश दण्ड के रूप में सुकावे ॥ २५८ ॥

इति विक्रीयासप्रदानं नाम प्रकरणम् ।

अथ संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२

संभूयसमुत्थानं नाम विवादपदमिदानीमभिधीयते—

समवायेन वणिजा लाभार्थं कर्म कुर्वताम् ।

लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ ॥ २५९ ॥

‘सर्वे वयमिदं कर्म मिलिता कुर्म’ इत्येवरूपा समप्रतिपत्ति समवायः, तेन ये वणिङ्गनटनर्तकप्रभृतयो लाभलिप्सवः प्रातिस्विकं कर्म कुर्वन्ते, तेषां

लाभालाभायुपचयापचयौ यथाद्रव्यं येन चावद्धनं पण्यप्रहणाग्रथं वृत्तं तदनुसारेणावसेयौ; यद्वा,—प्रधानगुणभावपर्यालोचनयास्य भागद्वयमस्यैको भाग इत्येवंरूपया संविदा समयेन यथा संप्रतिपन्नौ तथा वेदितव्यौ ॥ २५९ ॥

भाषा—यदि अनेक व्यापारी लाभ की इच्छा से इकट्ठे मिलकर ( साझे पर ) कार्य करें तो उन्हें अपने-अपनी लगाई पूंजी के अनुसार लाभ और हानि होती है अन्यथा उनमें परस्पर जैसी संविदा हुई हो उसके अनुसार लाभ या हानि का अंश मिलता है ॥ २५९ ॥

प्रतिपिद्धमनादिष्टं प्रमादाद्यच्च नाशितम् ।

स तद्द्याद्विप्लवाच्च रक्षिताद्दशमांशभाक् ॥ २६० ॥

किंच । तेषां संभूय प्रचरतां मध्ये 'पण्यमिदमित्थं न व्यवहर्तव्यम्' इति प्रतिपिद्धमाचरता यज्ञाशितमनादिष्टमनुज्ञातं वा कुर्वाणिन तथा प्रमादा-रप्रज्ञाहीनतया वा येन यज्ञाशितं स तरपण्यं चणिस्रयो दद्यात् । यः पुनस्तेषां मध्ये चौरराजादिजनितत्वाद्व्यसनारपण्यं पात्रयति स तस्मादक्षितारपण्याद्दशम-मंशं लभते ॥ २६० ॥

भाषा—एक साथ मिलकर व्यापार करने वालों में जो व्यक्ति निपिद्ध विक्रय से, न कष्टा हुआ कार्य करके अथवा प्रमादवश कोई वस्तु नष्ट कर दे तो वह उस वस्तु को दे ( या हानि को पूरा करे ) । उनमें जो पण्य को राजा और चोर के उत्पात से सुरक्षित रखता है उसे दसवां अंश प्राप्त होता है ॥ २६० ॥

अर्घप्रक्षेपणाद्विशं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ।

व्यासिद्धं राजयोग्यं च विक्रीतं राजगामि तत् ॥ २६१ ॥

'इयत्तः पण्यस्येयममूह्यम्' इत्यर्घः, तस्य प्रक्षेपणात् राजसो निरूपणा-द्धेतोरसी मूह्याद्विशतितममंशं शुल्कार्घं शृणुयात् । यत्पुनर्यासिद्धं 'अन्यत्र न विक्रेयम्' इति राज्ञा प्रतिपिद्धं, यच्च<sup>२</sup> राजयोग्यं मणिमणिषयाद्यप्रतिपिद्धमपि तद्वाशेऽनियेष लाभलोभेन विक्रीतं चेद्वाजगामि मूह्यदाननिरपेक्षं तत्सर्वं पण्यं राजाऽपहरेदित्यर्थः ॥ २६१ ॥

भाषा—विक्रय वस्तु का मूह्य निर्धारित करने के कारण उस वस्तु के मूह्य का बीसवां भाग शुल्क के रूप में वसूल करे । राजा द्वारा विक्रयार्थ निपिद्ध और राजा के योग्य वस्तु बेची जाने पर भी राजा की ही जाती है ( उसका राजा अपहरण कर लेता है ) ॥ २६१ ॥



मिथ्यावदम्परीमाणं शुल्कस्थानादपासरन् ।

दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च सव्याजक्रयविक्रयी ॥ २६२ ॥

य शुनर्वणिक् शुल्कवञ्चनाथं पण्यपरिमाणं निह्नुते शुल्कग्रहणस्थाना-  
द्वाऽपसरति यश्च 'अस्येदमस्येद वा' इत्येव विवादास्पदीभूत पण्यं ऋणीति  
विक्रीणीते वा ते सर्वे पण्यादष्टगुणं दण्डनीया ॥ २६२ ॥

भाषा—शुल्क से बचने के लिये सौदे का तौल कम बताने वाले, शुल्क  
स्थान से भागने वाले और विवादास्पद पण्य को खरीदने वाले से पण्य का  
आठ गुना दण्ड लेवे ॥ २६२ ॥

तरिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन्दाप्य पणान्दश ।

ब्राह्मणप्रातिवेश्यानामेतदेवानिमन्त्रणे ॥ २६३ ॥

अपि च, शुल्क द्वि, द्विविध—स्थलज जलज च । तत्र स्थलजम् 'अर्घ्यप्रक्षेप-  
णाद्विंश भाग शुल्कं नृपे हरेत्' ( व्य० २६१ ) इत्यत्रोक्तम् । जलजं तु मानवेऽ-  
भिहितम् ( ८।४०४ ५, ७ )—पण यान तरे दाप्य पुरुषोऽर्घ्यपण तरे । पाद  
पशुश्च योपिच्च पादाथं रिक्तकं पुमान् ॥ भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि  
सारतः । रिक्तभाण्डानि यरिकचिष्पुमासश्चापरिच्छदा ॥ गर्भिणी तु द्विमासादि-  
स्थया प्रयजितो मुनि । ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं नरा ॥ इति ॥  
शुल्कद्वयेऽप्ययमपरो विशेष—'न भिन्नकार्पापणमस्ति शुल्कं न शिववृत्तौ न  
शिशौ न दूते । न भैरवस्थे न हतावशेषे न श्रोत्रिये प्रयजिते न यज्ञे ॥'  
इति ॥ तीर्थतेऽनेनेति तैरि नावादि, तज्जन्यशुल्केऽधिकृतस्तरिक, स यदा  
स्थलोद्भव शुल्कं गृह्णाति तदा दशपणान्दण्डनीय । वेशो वेशम, प्रतिवेश इति  
स्ववेशमाभिमुखं स्ववेशमपार्श्वस्थं चोच्यते, तत्र भवा प्रातिवेश्या, ब्राह्मणाश्च  
ते प्रातिवेश्याश्च ब्राह्मणप्रातिवेश्या, तेषां श्रुतवृत्तसंपन्नानां धादादिषु विभवे  
सत्यनिमन्त्रणे एतदेव दशपणामकं दण्डनं वेदितव्यम् ॥ २६३ ॥

भाषा—नौका द्वारा नदी पार कराने के लिए शुल्क लेने वाला यदि  
स्थल का शुल्क ग्रहण करता है तो उससे दश पण्य दण्ड देना चाहिए । प्रति  
वेशी ब्राह्मणों को ( उनके योग्य होने पर भी ) धाद्व आदि में निमन्त्रित  
न करे तो उससे इतना ही ( दश पण ) दण्ड लेना चाहिए ॥ २६३ ॥

१. सव्याजक्रयविक्रयी ( = सव्याजौ शौचिकप्रतारणायतौ ) ।

२. ब्राह्मण प्रतिवेशानां । ३. तरे—मनुस्मृति । ४. तरो नावादि ।

५. संपूर्णाना ।

देशान्तरमृतवणिप्रियं प्रत्याह—

देशान्तरगते प्रेते द्रव्यं दायादवन्धया ।

ज्ञातयो वा हरेगुस्तदागतास्तैर्विना नृप. ॥ २६४ ॥

यदा समूयकारिणा मध्ये य कश्चिद्देशान्तरगतो मृतस्तदा तदीयमदा दायादा पुत्राद्यपत्यवर्गा, बान्धवा मातृपत्न्या मातुलाद्या, ज्ञातयोऽपत्यवर्ग-  
स्वतिरिक्ताः सपिण्डा ना, आगता समूय द्यवहारिणो ये देशान्तरादागतास्ते  
वा गृहीयुः । तैर्विना दायादाद्यभावे राजा गृहीयात् । 'वा'शब्देन च दायादा  
दीना वैकल्पिकमधिकार दर्शयति । पौर्वापर्यनियमस्तु 'पानी हुदितर'  
( द्य० १३५ ) इत्यादिना प्रतिपादित एवात्रापि वेदितव्य । शिष्यमग्रह  
धारिणाह्यनियेधो यजिवप्रासिध्व वचनप्रयोजनम् । वणिजामपि मध्ये य विण्ड  
दानर्णदानादिसमर्थं स गृहीयात् । सामर्थ्यविशेषे पुन सर्वे वणिज ससृष्टिनो  
विमज्य गृहीयुः । तेषामप्यभाव दशवर्षं दायादाद्यागमन प्रताच्यानाततेषु  
स्वयमेव राजा गृहीयात् । तदिदं नारदेन स्पष्टीकृतम् 'एकस्य चेश्वरान्तरण  
दायादोऽस्य तदाप्नुयात् । अन्यो वाऽमति दायादे शक्षाश्चेत्सर्व एव ते ॥ तद-  
भावे तु गुप्त संस्कारदेहशवसरान् । अस्वामिकमदायाद दशवर्षस्थित तत ॥  
राजा तदारमसाकुर्षादेव धर्मो न हीयते ॥' इति ॥ २६४ ॥

भाषा—एक साथ मिलकर श्वापार करने वालों में यदि कोई साशेदार  
निदेश चला जाय या मर जाय तो उसका धनभूत द्रव्य उसका पुत्रादि  
दायाद, बान्धव या जातिवाले प्राप्त करें, अथवा देशान्तर से लौटकर ये  
सभी श्वापारी हे हैं या उनका न होने पर राजा ( उसका धन ) ग्रहण  
करे ॥ २६४ ॥

जित्तं त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोऽन्धेन कारयेत् ।

किं च, जित्तो वञ्चक त निर्लाभ निर्गतलाभ लाभमाच्छिद्य त्यजेयुर्बहि  
ष्कुर्युः । यद्य समूयकारिणा मध्ये भाण्डप्रत्यवेक्षणादिक कर्तुंमममर्थोऽपावन्धेन  
स्वक कर्म भाण्डभारवाहनतदावश्यपराक्षणादिक कारयेत् ॥—

प्रागुपदिष्ट वणिग्धर्मं गृहिणादिप्रतिदिशति—

अनेन विधिप्रत्यक्षं प्रतियुक्तार्थं कर्मिणात् ॥ २६५ ॥

अनेन 'लाभालाभौ यथाद्रव्यम् इत्यादिवणिग्धर्मकथनेन श्रुतिज्ञां होप्राचीनां  
श्रुतीयलानां नटनसंकेतज्ञातानां च शिवरकर्मोपमाविना विधिवर्तनमकार  
भाषयाम । तत्र च श्रुतिज्ञां धनविभागो विशेषो मनुना दत्तित (८।२।१०)—

१ विशेष । २ तद्व्यापेत् ।

‘सर्वेषामर्धिनो मुरयारस्तदर्धेनार्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयाशाशतुर्थांशाश्च पादिन ॥’ इति । अस्यायमर्थ — उयोतिष्टोमेन ‘त शतेन दीक्ष्यन्ती’ति वचनेन गवा शतमृशिवानतिरूपे दक्षिणाकार्ये विनियुक्तम् । ऋत्विजश्च होत्रादय पोडश । तत्र कस्य क्रियानश ह्यपेक्षायामिदमुच्यते । सर्वेषा होत्रादीना पोडशर्त्विजां मध्ये ये मुक्याश्चत्वारो होत्रध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातार ते गोशतस्यार्धिन सर्वेषा भागपूरणोपपत्तिवशादष्टाचत्वारिंशद्गुपाधेनार्धभाज । अपरे मैत्रावरुण प्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छसिप्रस्तोतारस्तदर्धेन तस्य मुखशाशस्याधेन चतुर्विंशति रूपेणार्धभाज । ये पुनस्तृतीयिन अच्छावाकनेष्ट्राग्नीध्रप्रतिहर्तारस्ते तृतीयिनो मुख्यांशस्य पोडशगोरूपतृतीयाशेन तृतीयांशभाज । ये तु पादिन प्रावस्तहु-  
न्नेतृपोतृसुब्रह्मण्यास्ते मुख्यभागस्य यश्चतुर्थांशो द्वादशगोरूपस्तज्जाज ॥ ननु कथमयमशनियमो घटते ? न तावदत्र समय, नापि द्रव्यसमवाय, नापि वचनम्, यद्वशादीदृशभागनियम स्यात्, अत ‘सम स्यादश्रुतत्वादिति स्यायेन सर्वेषां समाशभावरव कर्मानुरूपेण चांशभावरत्वमिति युक्तम् । अत्रोच्यते,—उयोतिष्टोमप्रकृतिके द्वादशाहेऽर्धिनस्तृतीयिन पादिन इति सिद्धव दनुचादो न घटते, यदि तत्प्रकृतिभूते उयोतिष्टोमे अर्धतृतीयचतुर्थांशभावरव मैत्रावरगादीना न स्यात्, अतो वैदिकर्द्धिप्रकृतिसमाशवावलाभप्रागुक्तोऽशनिय-  
मोऽवकल्प्यत इति निरवयम् ॥ २६५ ॥

भाषा—इन एक साथ मिलकर काम करने वाली में जो जिद्द ( धूर्त या बेहमान ) हो उसे लाभ न देकर बाहर कर दें और जो कोई कार्य स्वयं करने में असमर्थ हो वह ( अपनी ओर से ) किसी दूसरे व्यक्ति से करावे । इसी के आधार पर ऋत्विजों कृषकों और कारीगरों के विषय में भी विधि समझ लेनी चाहिए ॥ २६५ ॥

इति सभूयसमुत्थानप्रकरणम् ।

अथ स्तेयप्रकरणम् ॥ २३ ॥

इदानीं स्तेय प्रवृत्तये, तल्लक्षण च मनुनाभिहितम् ( ८।३३२ )—  
‘स्यात्साहस स्वन्वयवप्रसभ कर्म यत्कृतम् । निरन्वय भवेत्स्तेय कृत्वोपह्वयते च यत् ॥’ इति । अन्वयवत् द्रव्यरक्षिराजाध्यक्षादिसमसम्, प्रसभ यत्वावष्ट-भेन यत्परधनहरणादिक क्रियते तत्साहसम्, स्तेय तु-तद्विलक्षण निरन्वय द्रव्य स्वाभ्याससमस्र वज्रयिस्वा यत्परधनेहरण तदुच्यते । यच्च सा-न्वयमपि कृत्वा

१ वचने गवा । २ नियमो । ३ पद्वते च यत् । कृत्वापश्यते-मनु ।  
४ ग्रहण ।

न मयेदं कृतमिति भयाच्छिह्नुते तदपि स्तेयम् ॥ नारदेनाप्युक्तम् ( १४१७ )—  
'अपार्यैर्विधिरेषां ह्यलसिखाऽपकर्षणम् । सुप्तमत्तपमत्तेभ्य स्तेयमाहुर्म  
नीपिण ॥' इति ॥

तत्र तस्करग्रहणपूर्वकस्वाह्णनस्य, ग्रहणस्य च ज्ञानपूर्वकत्वात्,  
ज्ञानोपाय तावदाह—

ग्राहकैर्गृह्यते चौरौ लोप्त्रेणाथ पदेन वा ।

पूर्वकर्मापराधी च तथा चाशुद्धवासक ॥ २६६ ॥

य 'चौरौऽयम्' इति जनैर्विख्याप्यते असौ ग्राहकै राजप्ररूपस्थानपालप्रभृ-  
तिभिर्प्रहीतव्य । लोप्त्रेणापहृतभाजनादिना वा चौर्यचिह्नेन नाशदेशादारभ्य  
चौर्यपदानुमरणेन वा ग्राह्य । यश्च पूर्वकर्मापराधी प्राक्प्रख्यातचौर्य, अशुद्धोऽ  
प्रज्ञातो वास स्थान यस्यासावशुद्धवासक, सोऽपि ग्राह्य ॥ २६६ ॥

भाषा—जिसे लोग चोर कहे उस व्यक्ति को ग्राहक ( स्थानपाल  
आदि राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी ) पकड़े सुराई गई वस्तु क मिलने, चोरी  
का चिह्न मिलने, चौर्य पद क अनुसरण से, पहले अपराधी होने ( नामजद चोर  
होने ) और निवासस्थान सही न ज्ञात होने से किसी को चोरी क अभिमोग  
में पकड़ना चाहिए ॥ २६६ ॥

अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्या जातिनामादिनिहवै ।

शूनस्त्रीपानसक्ताश्च शुक्रभिन्नमुक्षस्वरा ॥ २६७ ॥

परद्रव्यगृहाणा च पृच्छका गूढचारिण ।

निराया व्ययवन्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रया ॥ २६८ ॥

किंच, न केवल पूर्वोक्ता ग्राह्या, किंत्व येऽपि वयमणैलिङ्गै शङ्कया  
ग्राह्या । जातिनिह्वेन 'नाह शूद्र ह्येवेषरूपेण, नामनिह्वेन 'नाह द्विर्त्य'  
ह्येवेषरूपेण, 'आदि' 'ग्रहणास्वदेशग्रामकुलाद्यपलापेन च लक्षिता ग्राह्या ।  
शूनपण्यारुनामद्यपानादिभ्यस्तेष्वतिप्रमत्तास्तथा कुतस्योऽमि स्वम् ?' इति  
चौरग्राहिभि पृष्टो यदि शुक्रमुखा भिन्नस्वरो वा भवति तर्ह्येवापि ग्राह्य ।  
यहुवचनस्त्विच्छललाटादीनां ग्रहणम् । तथा ये निष्कारण 'किंपदस्य धन किं  
वाऽस्य गृहम्' इति पृच्छन्ति, य च वपा-तरधारणेनामान गूढसिखा चरन्ति,  
य चायाभावेऽपि बहुवयकारिण, ये वा विनष्टद्रव्याणां जीर्णवस्त्रभिन्नभाजना  
दीनामविज्ञातस्वामिकाना विक्रयकास्ते सर्व चौरसभावनया ग्राह्या । एष

१ नाशदिपमा । २ नामजात्यादि । ३ गूढवासिन । ४ लपित्य  
ह्येष । ५ गृहमित्येवविध पृच्छन्ति ।

नानात्रिषधौरलिङ्गान्पुत्रान्गृहीत्या एते चौरा किं वा माधव इति सम्यक्  
परीक्षेत, न पुनर्लिङ्गदर्शनमात्रेण चौर्यनिर्णयं कुर्यात् । अचौर्यस्यापि लोप्यादि-  
लिङ्गमवग्रहणमवात् । यथाह नारद — 'अन्यहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुच्छ्रित भुवि ।  
चौरेण वा परिचितं लोप्यं यथापरीक्षयत् ॥' तथा— 'अस्वत्याः सत्यसकाशा-  
सत्याद्यासत्यसनिमा । दृश्यन्ते विविधा भावास्तरमादुक्त परीक्षणम् ॥'  
इति ॥ २६७-२६८ ॥

भाषा—अपनी जाति और नाम दिखाने वाले, जुआ, घेरवा गमन और  
मद्यपान आदि स्वयंनों में लिप्त रहने वाले, ( तुम कहाँ से आये हो ऐसा  
पूछने पर) जिनका मुख जाता हो और चोली बदल जाती हो उन व्यक्तिप  
को, दूररे के धन और घर के त्रिषय में यतों पूछने वाले को, ( येव आदि  
बदलकर ) गुप्त निवास करने वाले, भाव न होने पर भी अधिक शय्य करने  
वाले और कोई हुई वस्तु को बेचने वाले व्यक्तियों को भी सम्यक् से परकना  
चाहिए ॥ २६७-२६८ ॥

पुत्र चौर्यशङ्कया गृहीतेनात्मा सशोधनीय इत्याह—

गृहीतः शङ्कया चौर्ये नारमानं चेद्विशोचयेत् ।

दापयित्वा हृतं द्रव्यं चौरदण्डेन दण्डयेत् ॥ २६९ ॥

यदि चौर्यशङ्कया गृहीतरतस्त्रिस्तरणार्थमात्मानं न शोधयति रुद्धिं यत्प्रमा-  
णधनदापनयधाविदण्डभारमवेत् । अतो मानुषेण तदभावे दिश्येन वा आत्मा  
शोधनीय ॥ ननु 'नाहं चौर' इति मिथोत्तरे कथं प्रमाणं समरति ? तस्या-  
भावरूपत्वात् । उच्यते,—दिश्यस्य तावज्जावाभावगोचरस्य 'दृष्ट्या वाऽन्यतर-  
कुर्यात्' इत्यत्र प्रतिपादितम् । मानुष पुनर्यद्यपि स्वाच्छाब्दमिथोत्तरे न  
समरति, तथापि कारणेन ससृष्टे भावरूपमिथ्याकारणसाधनमुखेनाभावमपि  
गोचरावयेत् । यथा 'नाज्ञापद्वारकाले भद्र देनास्तरस्य' इत्यभिपुत्रैर्भाविते  
चौर्यभावस्याप्यर्थासिद्धेः शुद्धिर्भवयेत् ॥ २६९ ॥

भाषा—जो चोरी की दाका से परकना गया हो और अपनी निर्दोषता न  
प्रमाणित करे उससे चोरी गया हुआ धन दिलाकर चोर के लिये विद्विन दण्ड  
भी देना चाहिए ॥ २६९ ॥

चौरदण्डमाह—

चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विषैर्षपैः ।

यस्तु प्रागुक्तपरीक्षया यश्चिरयेत् वा त्रिभिनचौर्यं रक्षामिने अपहृतं घन  
स्वरूपेण मूषपककनया वा दापयित्वा विशिषैर्वैषैर्घातयेत् । एतस्यै कर्मणा-

हसदण्डप्राप्तियोग्योत्तमद्रव्यविषयम्, न पुन पुष्पवखादिस्तुद्रमध्यमद्रव्यापहारविषयम् । 'साऽमेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः' । स एव दण्ड स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिव्यनुक्रमत् ॥' (१४३१) इति नारदवचनं यद्यत्पश्योत्तमसाहसस्योत्तमद्रव्यविषयं स्ववस्थावित्त्वात् ॥ यत्पुनर्वृद्धमनुवचनम्— अन्ययोपास वित्त्वाद्धनमेवां मलात्मकम् । अतरेताऽन्घातपद्माया नार्धदण्डेन दण्डयत् ॥' इति,—तदपि महापराधविषयम् ॥—

चौरविशेषेऽपवादमाह—

सचिह्नं ग्राहणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रधासयेत् ॥ २७० ॥

ग्राहणं पुनश्चौर महस्यप्यपराधेऽपि न घातयेत्, अपि तु ललाटेऽङ्गुलिवास्वदेनाङ्गिष्वासयेत् । अङ्गुलं च श्वपदाकार कार्यम्, तथा च मनु (९।२३७)—'गुह्यरूपे भग कार्यं सुरापानं सुराध्वजं । स्तेये च श्वपदं कार्यं मल्लह्वयशिरां पुमान् ॥' इति । एतच्च दण्डोत्तरकालं प्रायश्चित्तमधिकीर्षतां द्रष्टव्यम् यथाह मनु (९।२४०)—'प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणः सर्वं वर्णां यथोदितम् । चाङ्गुला राज्ञा ललाटे तु दाप्यात्तुत्तममाहसम् ॥' इति ॥ २७० ॥

भाषा—चौर से चोरी गई हुई वस्तु हिलाकर अनेक प्रकार के बंध ( शारीरिक दण्ड ) द्वारा दण्डित करे । यदि ग्राहण ने चोरी की हो तो उसको ललाट पर चिह्न बनाकर उसे अपने राज्य से निकाल देये ॥ २७० ॥

चौरादर्शने अपहृतद्रव्यप्राप्त्युपायमाह—

घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते ।

विधीतभर्तुस्तु पथि चौरोद्धर्तुरपीनके ॥ २७१ ॥

यदि ग्राममध्ये मनुष्यादिप्राणिवधो धनापहरणं वा जायते तदा ग्रामपतिरेव चौरोपेक्षादोषः, तत्परिहारार्थं स एव चौरं गृहीत्वा राजेऽर्पयेत् । तदशक्ती कृतं धनं धनिने दद्याद्यदि चौरपदं स्वग्रामाभिर्गतं न दर्शयति । दर्शिते पुनस्तत्पदं यत्र भविष्यति तद्विषयाधिपतिरेव चौरं धनं वापयेत् । तथा च नारद ( १६।७ )—'गोचरे पश्य मुच्यते तेन चौरं प्रयत्नतः । ग्राह्यो दाप्योऽथवा दोषपदं यदि न निर्गतम् ॥ निर्गते पुनरेतस्माच्च चदयत्र पातितम् । सामन्तान्नागपालींश्च दिक्पालींश्चैव दापयत् ॥' इति ॥ त्रिविधं स्वपहारे विधीतस्वामिन एव दोषः । यदा स्वध्व-येव तदुपेत भवत्यपीनके वा विधाता द-यत्र क्षेत्रे तदा चौरोद्धर्तुर्नागपालस्य दिक्पालस्य वा दोषः ॥ २७१ ॥

१ स्ता वर्तयन् । २ चौरस्य पदः । ३ लुप्येत मुच्यते । ४ वापराधः ।

भाषा—गाव के भीतर किसी का वध होने या किसी की चोरी होने पर यदि हाथारे या चोर के गाव से बाहर न जाने का संकेत मिले तो ग्रामपाल का ही दोष रहता है । विनीत ( सराय ) में चोरी आदि हो तो उसके स्वामी का और उससे अन्यत्र मार्ग आदि में चोरी या वध होने पर मार्गपाल का दोष होता है ॥ २७१ ॥

म्हसीग्नि दद्याद् ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति ।

पञ्चग्रामी यहि क्रोशाद्दशग्राम्यथवा पुनः ॥ २७२ ॥

किञ्च, यदा पुनर्ग्रामाद्बहिः सीमापर्यन्ते क्षेत्रे मोषादिकं भवति तदा तद्ग्राम-  
चापिन एव दद्युः,—यदि सीम्नो बहिःक्षीरपदं न निर्गतम् । निर्गते पुनर्यत्र  
ग्रामादिकं क्षीरपदं प्रविशति स एव क्षीरार्पणादिकं कुर्यात् । यदा स्वनेकग्राम  
मध्ये क्रोशमात्राद् बहिः प्रदेशे घातितो मुषितो वा क्षीरपदं च जनसमर्थादिना  
भग्न, तदा पञ्चानां ग्रामाणां समाहारं पञ्चग्रामी दशग्रामममाहारो<sup>१</sup> दशग्रामी वा  
दद्यात् । त्रिकल्पवचनं तु यथा तत्प्रत्यासत्पदहतधनप्रत्यर्पणादिकं कुर्यादित्येव  
मर्थम् । यदा स्वम्यतोऽपहतं द्रव्यं दापयितुं न शक्नोति तदा स्वक्रोशादेव राजा  
दद्यात् । 'क्षीरहतमवजित्य यथास्थानं गमयेत्स्वक्रोशाद्वा दद्यात्' ( २०।४६ ४७ )  
इति गौतमस्मरणात् ॥ मुषितामुषितमन्द्देहे मानुषेण दिग्भेन वा निर्णयः कार्यः ।  
'यदि तस्मिन्दाप्यमाने भयेन्मोषे तु सशयः । मुषितं शपय दाप्यो बन्धुभिर्वापि  
साधयेत् ॥' इति वृद्धमनुस्मरणात् ॥ २७२ ॥

भाषा—अपने गांव की सीमा के भीतर चोरी आदि हुई हो तो उसका  
दण्ड गांव के निवासी देवें अथवा जिस गांव में चोरों के जाने के पदचिह्न  
दिखाई पड़े उम्य गांव के लोग देवें । यदि कई गांवों के बीच एक क्रोश की  
दूरी पर चोरी आदि की घटना हुई हो तो पांच गांव या दश गांव मिलकर  
दण्ड देवे ( चोरी आदि की क्षति पूरी करें ) ॥ २७२ ॥

अपराधविशेषेण दण्डविशेषमाह—

बन्दिग्रामाद्वास्तथा घाजिकुञ्जराणां च ह्यारिणः ।

प्रसह्यघातिमश्चैत्र शूलानारोपयेन्नरान् ॥ २७३ ॥

बन्दिग्रामाद्वास्त्रीन्बलावष्टम्भेन घातकांश्च नरांश्शूलानारोपयेत् । अथ च वध  
प्रकारविशेषोपदेशः । ( १।२८० )—'बोछागारायुधगारादेवतागारभेदकान् ।  
हस्त्यश्वरथइत्<sup>२</sup>श्च हन्यादेवाविचारयन् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ २७३ ॥

१ क्षीरार्पणादिकं । २ ममाहारोपये दशग्रामी वा । ३ शूल-  
मारोपये । ४ अग्नागारा

भाषा—यलपूर्वक घन्दी को हुड़ाने वाले, घोड़ा और हाथी चुराने वाले और किसी का यलपूर्वक घात करने वाले पुरवों को शूली पर चढ़ावे ॥२७१॥

उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसन्दंशहीनकौ ।

कार्यौ द्वितीयापराधे करपादैकहीनकौ ॥ २७४ ॥

किंच, वस्त्राद्युत्क्षेपस्यपहरतीत्युत्क्षेपकः, वस्त्रादियदं स्वर्णादिकं विस्त्रयोत्क्षेप्य वा योऽपहरस्यसौ ग्रन्थिभेदकः, तौ यथाक्रमं करेण सन्दंशमहणेन तर्जन्याहुत्सेन च हीनौ कार्यौ । द्वितीयापराधे पुनः वस्त्र पादस्य करपादं, तस्य तदेकं च करपादैकं, तर्जनं ययोस्तां करपादैकहीनकौ कार्यौ । उत्क्षेपकग्रन्थिभेदकयोरेकमेकं करं पादं च द्विष्ठादित्यर्थः । एतद्व्युत्तमसाहसप्राप्तियोग्यद्रव्यत्रियम् । 'तद्व्युत्तमसाहसः' ( १४८ ) इति नारदवचनम् ॥ तृतीयापराधे तु वध एव । तथा च मनुः ( १२७७ )—'अहुलीग्रन्थिभेदस्य द्वेद्वयेऽप्रथमे प्रहे । द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये घघमर्हति ॥' इति । जातिद्रव्यपरिमाणतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीय इति ॥ २७४ ॥

भाषा—उत्क्षेपक ( वस्त्र आदि चुराने वाले उचक्का ) और ग्रन्थिभेद ( गिरहकट के क्रमशः हाथ और संदंश ( तर्जनी एवं अंगूठा ) काट लेना चाहिए । हुंघारा अपराध में उसका एक हाथ और एक पैर भी काट देना चाहिए ॥ २७४ ॥

जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहविनियोगवयःशक्तिगुणदेशकालादीनां दण्डगुणलघुभावकारणानामानन्याप्रतिद्रव्यं वक्तुमशक्तेः सामान्येन दण्डकल्पनोपायमाह—

क्षुद्रमध्यमहृद्रव्यहरणे सारतो दमः ।

देशकालवयःशक्ति संचिन्त्यं दण्डकर्मणि ॥ २७५ ॥

क्षुद्राणां मध्यमानामुत्तमानां च द्रव्याणां हरणे सारतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीयः । क्षुद्रादिद्रव्यस्वरूपं च नारदेनोक्तम् । ( १४१४-१६ ) 'सृज्जाण्डासनस्र्वास्त्रिधवारुचर्मवृगादि यत् । शमीधान्यं कृतासं च क्षुद्रं द्रव्यमुदाहृतम् ॥ वासः कौशेयवर्ज्यं च गोवर्ज्यं पशवस्तथा । हिरण्यवर्ज्यं लोहं च मध्यं व्रीहियथा अपि ॥ हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुत्रो गजवाजिनः । देवमाक्षगराज्ञां च द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम् ॥' त्रिप्रकारेष्वपि द्रव्येष्वौत्सर्गिकः प्रथममध्यमोत्तमसाहसरूपो दण्डनियमस्तेनैव दर्शितः ( १४२१ )—'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुकमात् ॥' इति ॥ मृन्मथेषु मणिकमल्लिकादिषु गोवर्ज्यव्यतिरिक्तेषु च महिषमेपादिपशुषु ब्राह्मणसंचिन्धिषु च कनकधान्यादिषु तैरतमभावोऽस्तीति उच्चावचदण्डविशेषाकाङ्क्षायां

१. हस्तपादौ तु । २. गोव्यतिरिक्तेषु । ३. तारतम्यभावोऽस्तीति ।



मूल्याद्यनुसारेण दण्ड कथनीय । एष च दण्डरमंगि दण्डकवचनायां तद्वैतभूत  
 देशकालवय शक्तीति सम्यक् चिन्तनीयम् । एतच्च जानिद्रव्यपरिमाणपरिमहा-  
 दीनामुपलक्षणम् । तथा द्वि-<sup>१</sup>अष्टापाद्य स्तेयक्रियवय शूद्रस्य द्विगुणोत्तरागीतरेषां  
 प्रतिषर्णं विदुषोऽतिममे दण्डभूषणम्<sup>२</sup> इति । अथमर्थं—'क्रियवय' इत्येनाप्र  
 दण्डो लक्ष्यते । यस्मिन्प्रहारे यो दण्ड उक्त स विद्वत्पुत्रकृतं दण्डहारेऽष्टगुण  
 भाषादनीय । इतरेषां पुनर्विद्वत्प्रमाणादीनां विदुषां स्तेयं द्विगुणोत्तराणि  
 क्रियवयाणि षोडशद्विंशत्यनु षष्टिगुणा दण्डा भाषादनीया । यस्माद्विद्वत्पु-  
 त्रादिकृत्कृतं दण्डहारेषु दण्डभूषणम् । मनुनामथयमेवार्थो दक्षित ( ८१३३७  
 ३३८ )—'अष्टापाद्य तु शूद्रस्य स्तेय भवति क्रियवयम् । षोडशैव तु वैश्यस्य  
 द्विंशत्यनु षष्टिगुणस्य चतु षष्टि पूर्णं दायि क्षत मयेत् । द्विगुणा  
 वा चतु षष्टिस्तदाप्युगुणवेदिन ॥' इति ॥ तथा परिमाणकृतमपि दण्डगुरव्य  
 दरपते । यथाह मनु ( ८१३२० )—'धान्य दण्डस्य कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं  
 वध । शेषेष्वेकादशगुण दायवस्तस्य च तदनम् ॥' इति ॥ विज्ञानिद्रोणक  
 कुम्भ । हस्तद्विगुणमाणावामिगुणावेषु वा सुभिक्षुभिश्चकालापवया वा साहना-  
 क्रायेदनवधरूपा दण्डा योऽया ॥ तथा सवधाविदोषादपि दण्डविशेषो रथादिषु ।  
 ( मनु ८१३२१।३२२ )—'सुवर्णरत्नमादीनामुत्तमानां च कामसाम् । रत्नानां  
 चैव सर्वेषां क्षतादभ्यधिकं वध ॥ पञ्चाशतस्यभ्यधिके हरतश्चुद्रमप्यते ।  
 दायेष्वेकादशगुण मूल्यादण्ड प्रकल्पयेत् ॥' इति ॥ तथा द्रव्यविदोषादपि  
 ( ८१३२३ )—'पुराणा कुलानानां नारीणां वा विदोषत । रत्नानां चैव  
 सर्वेषां हरणे वधमहंति ॥ अकुलीनानां तु दण्डन्तरम्—'पुरा हरतो दण्ड  
 शोण उत्तममाहम् । मयपराधे तु सर्वैव कर्ष्यं तु हरतो वध ॥' इति ॥  
 शूद्रद्रव्याणां तु मापतो म्यूनमूल्यानां दम्, 'काष्ठभाषणानादीनां म्यूनमदानां  
 तर्ध्व च ॥ वणुवैगवभाण्डानां तथा द्वात्यहियवर्मणाम् ॥ द्वाकानामाद्रंमूलानां  
 हरणे पलमूलयो । शोरेसेषुविकाराणां तथा लवणतैलयो ॥ पलानानां  
 क्षताक्षानां मयथागामिपस्य च । सर्वेषामश्वमूल्यानां मूल्यापरशगुणो दम् ॥'  
 ( २२१४ ) इति नाश्रमरणात् ॥ य पुन प्रथमवाहम् शूद्रद्रव्येषु क्षताक्षरा  
 पञ्चाशत्पर्यन्तोऽमी मापमूल्या तदधिकमूल्या वा यथापेक्ष्य स्ववश्यावनीय ॥  
 यत् पुनर्मनीय शूद्रद्रव्याणां चावचन-तन्मूल्याद् द्विगुणो दम्' इति, तद्व्याप्तयो  
 जनक्षानादिविषयम् । तथा राशगुरुराशदपि दण्डगुरवम् । यथा 'सधि मिश्र  
 तु स चाये शरी कुशेन तस्वरा १ तयो दिव्या शूरो हनी तं चानु-  
 निवेशयेत् ॥' ( ८१३०६ ) इत्येव सर्वेषामानव्याप्तिस्य वक्तव्येऽपि

, १ मयथागामिपस्य च । सर्वेषामश्वमूल्यानां ।

परिमाणुदिभिः कारणैर्दण्डगुणलघुभावः कल्पनीयः । पथिकादीनां पुनरुत्पा-  
पहारे न दण्डः । यथाह मनुः ( ८।३४। )—‘द्विजोऽप्यगः क्षीणवृत्तिर्द्विविद्ध-  
द्वेष मूलके । आददानः परस्त्रोत्रात्त दण्डं दातुमर्हति ॥’ तथा—‘चणकप्रोहि-  
गोधूमयवानां मुद्गमापयोः । अनिपिद्धैर्ग्रहीतव्यो मुष्टिरिकः पथि स्थितैः ॥  
तथैव सप्तमे भक्तं भक्तानि पटनक्षता । अधरतनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥’  
इति ॥ २७५ ॥

भाषा—छोटी, मध्यम आकार या मूल्य की और बड़ी वस्तु की चोरी  
में देव, काल, आयु और शक्ति को ध्यान में रखते हुए चोरी की वस्तु के  
मूल्य के अनुसार दण्ड निर्धारित करे ॥ २७५ ॥

अचौरस्यापि चौरोपकारिणो दण्डमाह—

भक्तायकाशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान् ।

दत्त्वा चौरस्य वा हस्तुर्जानतो दम उत्तमः ॥ २७६ ॥

भक्तमशनम्, भवकाशो निवासस्थानम्, अग्निश्चौरस्य शोतापनोदाद्यर्थः,  
उदकं तृपितस्य, मन्त्रशौर्यप्रकारोपदेशः, उपकरणं शौर्यसाधनम्, व्ययः अपहा-  
रार्थम् देशान्तरं गच्छतः पाथेयम्, एतानि चौरस्य, हस्तुर्वा दुष्टार्थं जानन्नपि  
यः प्रयच्छति तस्योत्तमसाहसो दण्डः । चौरोपेक्षिणामपि दोषः—‘क्षप्ताश्च य  
उपेक्षन्ते तैऽपि तद्दोषभागिनः ।’ ( १४।१९ ) इति नारदस्मरणात् ॥ २७६ ॥

भाषा—जो व्यक्ति चोर या हत्यारे को उसका पापकर्म जानते हुए भी  
भोजन, निवासस्थान, अग्नि, पीने के लिए जल, ( चोरी की विधि की )  
सलाह, चोरी के साधनभूत उपकरण और चोरी के लिये कही जाते समय  
मार्ग-व्यय देता है उसे उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २७६ ॥

शस्त्रायपाते गर्भस्य पातने चोत्तमो दमः ।

उत्तमो चाऽधमो वापि पुरुषस्त्रीप्रमापणे ॥ २७७ ॥

क्षिप्र परगानेषु शस्त्रस्यावपातने दासीप्राहणगर्भस्यतिरेकेण गर्भस्य  
पातने चोत्तमो दमो दण्डः । दासीगर्भनिपातने तु ‘दासीगर्भविनाशकृत्’  
( श्व. २३६ ) इत्यादिना दण्डदण्डोऽभिहितः । प्राहणगर्भविनाशे तु ‘हत्या  
गर्भमविनाशम्’ इत्यत्र दण्डदण्डपातिदेशं वैचपति । पुरुषस्य प्रमापणे त्रिपदाश्च  
शीलवृत्ताद्यप्येवोत्तमो वाऽधमो वा दण्डो व्यवस्थितो वैदितव्यः ॥ २७७ ॥

भाषा—किसी के शरीर पर शस्त्र चलाने और गर्भपात करने में उत्तम  
दण्ड होता है । पुरुष और स्त्री को मारने पर ( शील एवं वृत्ति के अनुसार )  
उत्तम अथवा अधम दण्ड देना चाहिये ॥ २७७ ॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं चैव पुरुषधनीमगर्भिणीम् ।

सेतुभेदकरीं चाप्सु शिलां यध्वा प्रवेशयेत् ॥ २७८ ॥

अपि च, जिसेपेग प्रदुष्टा विप्रदुष्टा, भ्रूगप्त्री स्वगर्भपातिनी च । या च पुरुषस्य हन्त्री सेतूनां भेल्री च,—यता गर्भरहिताः स्त्रीगले शिलां यध्वा अप्सु प्रवेशयेत् यथा न प्लवन्ते ॥ २७८ ॥

भाषा—( गर्भपात करमे आदि के कारण ) जो स्त्री अत्यन्त दुष्टा हो, और पुरुष की हत्या करने वाली हो, जिसने सेतु ( पुल या बांध ) तोड़ा हो उसके गर्भवती न होने पर उसके गले में शिला बांधकर पानी में डाल देवे ॥ २७८ ॥

विपाग्निदां पतिगुरुनिजापत्यप्रमापणीम् ।

विकर्णकरनासौष्टीं कृत्वा गोभिः प्रमापयेत् ॥ २७९ ॥

किंच, 'अगर्भिणीम्' इत्यनुवर्तते । या च परवधार्थमन्नपानादिषु विषं ददानि क्षिपति । या च दाहार्थं ग्रामादिष्वग्निं ददानि, तथा या च निजपति-गुरुपश्यानि मारयति तां विच्छिद्यकर्णकरनासौष्टीं कृत्वा भदान्तैर्दुष्टबलीवर्द्ध-प्रवाह्य मारयेत् । इत्येवप्रकरणे यदेतत्साहसिकस्य दण्डविधानं तत्प्रासङ्गिकमिति मन्तव्यम् ॥ २७९ ॥

भाषा—जिस स्त्री ने दूसरे को मारने के लिये अन्न में विष दिया हो, घर जलाने के लिए अग्नि दिया हो, जिसने पति, गुरु या अपनी सम्पत्ति का बध किया हो ( यदि वह गर्भिणी न हो तो ) उसके कान, हाथ, नाक और भोट काटकर उसे बैलों से मरवा डाले ॥ २७९ ॥

अविज्ञानकर्तृके हनने हन्तृज्ञानोपायमाह—

अविज्ञातहतस्याशु कलहं सुतयान्धवाः ।

प्रष्टव्या योपितध्यास्य परपुंसि रताः पृथक् ॥ २८० ॥

अविज्ञातहतस्याविज्ञातपुरेण घातितस्य संबन्धिनः, सुनाः प्रायासस्रधान्ध-याश्च 'केनास्य कलहो जात ' इति कलहमाशु प्रष्टव्याः । तथा मृतस्य संबन्धिन्यो योपितो याश्च परपुंसि रता इयमिचारिण्यस्ता अपि प्रष्टव्याः ॥ २८० ॥

भाषा—जिस व्यक्ति के हत्यारे का पता न हो उसके पुत्रों और बान्धवों से उसके कलह के विषय में पूछना चाहिए ( अर्थात् इस प्रकार पूछना चाहिए कि इस मृत व्यक्ति का किसके साथ वैर था ), उसकी इयमिचारिणी स्त्रियों से भी अलग अलग पूछना चाहिए ॥ २८० ॥

कथं प्रष्टव्या इत्यत आह—

स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा केन याऽयं गतः सह ।

मृत्युदेशसमासन्नं पृच्छेद्वापि जनं शनै ॥ २८२ ॥

‘किमय स्त्रीकामो द्रव्यकामो वृत्तिकामो वा ?’ तथा ‘कस्या किंसवन्धिन्वा वा स्त्रियामस्य रतिरासीत् ?’, ‘कस्मिन् वा द्रव्ये प्रीति ?’, ‘दुतो वा वृत्तिकाम ?’, ‘केन वा सह देशान्तरं गत ?’ इति नानाप्रकारं व्यभिचारिण्यो योषितं पृथक् पृथक् विश्वास्य प्रष्टव्या । तथा मरणदेशनिवृत्तिर्नो गोपाऽटविकाद्या ये जनास्तेऽपि विधासपूर्वकं प्रष्टव्या । एव नानाकारैः प्रश्नैर्हन्तारं निश्चित्य सदुचितो दण्डो विधातव्यः ॥ २८१ ॥

भाषा—यह स्त्री, धन, या ‘वृत्ति किस की अभिलाषा रखता था कथवा किस क साथ गया था, इस प्रकार मृत्यु स्थान के निजद्वर्ती मनुष्यों से विश्वास दिलाकर पूछना चाहिये ॥ २८१ ॥

क्षेत्रवेश्मचनग्रामविधीतघलदाहका ।

राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना ॥ २८२ ॥

रिचि, क्षेत्र पक्षफलस्योपेतम्, वेश्म गृहम्, वनमर्तवीं प्रादायन वा, ग्रामम्, विधीतमुच्छलक्षणम्, खल वा ये दहन्ति, ये च राजपत्नीमभिगच्छन्ति तान्सर्वा-कटैर्वीणरमयैर्वैद्यैश्वा दहेत् । क्षेत्रादेर्दाहकानां मारणदण्डप्रसङ्गाद्दण्डविधानम् ॥ २८२ ॥

भाषा—किसी दूसरे क खेत, ( पकी फसल ), घर, वन, ( बाटिका ) गाँव, बाड़ा और खलिहान को जलाने वाले तथा राजपत्नी के साथ व्यभिचार करने वाले को कट ( सरहरी ) में लपेटवाकर जला देना चाहिये ॥ २८२ ॥

इति स्तेयप्रकरणम् ।

### अथ स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४

स्त्रीसंग्रहणाख्य विवादपदं व्याख्यायते । प्रथमसाहस्यद्विदण्डप्राप्त्यर्थं त्रेधा तत्पररूपं व्याप्तेन विवृतम्—‘त्रिविधं तत्समाख्यत्वात् प्रथमं मध्यमोत्तमम् । अदे-  
शैकाल्भाषाभिर्निर्जने च परस्त्रिया ॥ कटाक्षपक्षणे हारस्य प्रथमं साहस्य स्मृतम् ॥  
त्रेपणं गन्धमाणयानां धूपभूयणयामस्यम् ॥ प्रलोभनं चाज्ञानैर्मध्यमं साहस्य स्मृतम् ॥  
सहायनं विविक्ते तु परस्परसुपाश्रयं केशाच्छेदिप्रहस्यैव सम्पक्-  
संग्रहणं स्मृतम् ॥ स्त्रीपुंसयामिधुनीभाय संग्रहणम् ॥

सप्रहणज्ञानपूर्वकरवात्तत्कर्तुर्दण्डविधानस्य तज्ज्ञानोपाय तावदाह—

पुमान्संप्रहणे प्राह्य केशाकेशि परस्त्रिया ।

सद्यो वा कामजैश्चिह्नै प्रतिपत्तो द्वयोस्तथा ॥ २८३ ॥

सप्रहणे प्रवृत्त पुमान् केशाकरवादिभिर्लिङ्गैर्ज्ञात्वा ग्रहीतव्य । परस्पर केशग्रहणपूर्विका क्रीडा कशाकेशि । 'तत्र तेनेदम्' ( पा २।२।२७ ) इति सरूपे' इति बहुमीही सति— इच् कर्मव्यतिहारे ( पा ५।४।१२७ ) इति समासान्त इच् प्रथम्य । अन्वयत्वाच्च लुप्तगृहीतविभक्ति । ततश्चायमर्थ — परभार्यया सह केशाकेशिक्रीडननाभिनवै कररुहदशनादिवृत्तगै शगकूनैर्लिङ्गैर्द्वयो सप्रतिपत्तया वा ज्ञात्वा सप्रहणे प्रवृत्तो ग्रहीतव्य । 'परस्त्री'ग्रहण नियुक्ताघरदादिशुदा सार्थम् ॥ २८३ ॥

भाषा—परायी स्त्री का कश पकड़ कर क्रीडा करने से, तत्काल काम क्रीडा द्वारा घनाये गये ( नखसत आदि ) चिह्नों से अथवा दोनों की परस्पर प्रकट प्रीति दृष्टकर ( व्यवभिचार मं ) प्रवृत्त पुरुष को पकड़े ॥ २८३ ॥

नीवीस्तनप्रावरणसङ्घिकेशाधमर्शनम् ।

अदेशकालसभापं सदैकस्तनमेव च ॥ २८४ ॥

किञ्च, य पुन परदारपरिधानप्रन्थिप्रदेशकुचप्रावरणजघनमूर्धरहादिस्पर्शन साभिलाप इवाचरति । तथा अदशे निर्जने जनताकीर्णे वाऽन्वकाराकुले अकाले सलापन करोति । परभार्यया वा सहैकमञ्चक्रीडौ रिरसयवापतिष्ठते य, सोऽपि स्वग्रहणे प्रवृत्तो प्राह्य । एतच्छान्दयमानदोषपुरुषविवषयम्, इतरस्य तु न दोष । यथाऽऽह मनु ( ८।३।५५ )—'यस्त्वनाचारित पूर्वमभिभाषेन कारणात् । न दोष प्राप्नुयात्किञ्चिन्नहि तस्य व्यतिक्रम ॥' इति । य परस्त्रिया स्तृष्ट समतेऽभावपि प्राह्य इति तेनैवोक्तम् ( ८।३।५८ )—'स्त्रिय स्तृष्टेददशे य स्तृष्टो वा मर्षयत्तथा । परस्परस्यानुमते सर्वे सप्रहण स्तृतम् ॥' इति । यत्र मथय विदग्धाऽपकृद्मिसचरीति श्लाघया भुनक्तन्नसमञ्च क्वापयत्यसावपि प्राह्य इति तेनैवोक्तम् । दर्पाद्वा यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वय वदत् । पूर्व मथय भुञ्जेति तच्च सप्रहण स्तृतम् ॥' ( मा० १।२।६९ ) इति ॥ २८४ ॥

भाषा—( परायी स्त्री का ) नीवा, खोली या आँसल, जाँव और कत कामुकता पूर्वक छूने, अनुचित स्थान ( एकान्त, भेद या अँधेरे ) में और अयुक्त समय पर ( जैसे रात्रि को ) भाषण करने और एक साथ एक भाषण पर धैर्यने वाले पुरुष को पकड़े ॥ २८४ ॥

प्रतिपिद्धयो. स्त्रीपुंसयो. पुन. सँहापाविकरणे दण्डमाह—

स्त्री निषेधे शतं दद्याद् द्विशतं तु दर्मं पुमान् ।

प्रतिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा ॥ २८५ ॥

प्रतिपिध्यत इति प्रतिषेध. पतिपित्रादिभिर्येन सह सभाषणादिक निपिद्ध सत्र प्रवर्तमाना स्त्री शतपणं दण्डं दद्यात् । पुंस्य पुनरेव निपिद्धे प्रवर्तमानो द्विशत दद्यात् । द्वयोस्तु स्त्रीपुंसयो प्रतिपिद्धे प्रवर्तमानयो संग्रहणे सभोगे वर्णानुसारेण यो दण्डो वचयते स एव विज्ञेय । एतच्च चारणादिभार्याश्रयतिरेकेण । 'नैप चारणदारेषु विधिर्नामोपजीविषु । सञ्जयन्ति हि ते नारीं निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ( ८३६२ )—इति मनुस्मरणात् ॥ २८५ ॥

भाषा—पति, पिता भाई आदि ने जिस गुरूप के साथ बोलने के लिये मना क्रिया हो उससे बोलने पर स्त्री सौ पण और इसी प्रकार का निषेध किये जाने पर भी किसी स्त्री से बोलने या सवन्ध रखने वाले पुरुष से दो सौ दण्ड दे । दोनों को वर्जित किया गया हो तो उन्हें वही दण्ड होता है जो उपर्युक्त संग्रहण आदि में होता है ॥ २८५ ॥

नभिदानीं संग्रहणे दण्डमाह—

सजाताबुद्धमो दण्ड आनुलोभ्ये तु मध्यमः ।

प्रातिलोभ्ये चध. पुंसो नार्या कर्णादिकर्तनम् ॥ २८६ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां बलात्कारेण सजातीयगुहपरदारभियमने साक्षीतिपण-सहस्र दण्डनीय । यदा रथानुलोभ्येन हीनवर्णां स्त्रियमगुहामभियच्छति, तदा मध्यमसाहस्र दण्डनीय । यदा पुन. सवर्णान्गुहामानुलोभ्येन गुहा वा मज्जति तदा मान्ये विशेष उक्त ( ८३७८-३८३ )—'सहस्रं प्रहणो दण्ड्यो गुहा विमा यथाद् मज्जन् । दानानि पञ्च दण्डय रथादिच्छन्त्या सह सगत ॥' तथा—'सहस्रं प्राहणो दण्ड दायो गुहे तु ते मज्जन् । शूद्राया चत्रियविशोः सहस्रं तु भवेद्दम् ॥' इति ॥ एतच्च गुहमस्त्रिभार्यादिश्रयतिरेकेण द्रष्टव्यम् ।—'माता मातृश्रवसा श्वभूमतुलाणी पितृश्रवसा । पितृश्रवसिनिश्रयस्त्री भगिनी तत्सप्री स्तुया ॥ दुहिताचार्याभार्या च सगोत्रा दारणागता । राज्ञी प्रव्रजिता धात्री स्यात्प्रदोत्तमा ॥ ५५ ॥ आत्मानन्वयतमां शत्रुघ्नमुहयन्त्या उच्यते । शिशुरस्यो-कर्तनान्तरं नार्यो दण्डो विधीयते ॥' ( १२१७३—७५ ) इति नारदस्मरणात् । प्रातिलोभ्ये उत्कृष्टवर्णस्त्रीगमने चत्रियादे पुरपरय चध । एतच्च गुहा विषयम्, अन्यत्र तु धनदण्ड । 'उभावपि हि तावेव प्राहणया गुहया सह । शिशुनी शूद्रवर्णद्वी श्रवस्यी वा कटाग्निना ॥ प्राहर्णां यद्यगुहां तु सेवेनां वैश्यपार्ष्णिनी । वैश्य पञ्चशतं कुर्वाश्चत्रियं तु सहस्रिणम् ॥' ( ८३७६१३७७ )

उच्च जाति का कन्या का अपहरण करने वाले पुरुष का वध कर देना चाहिए ॥ २८० ॥

अनुलोम्यापहरणे दण्डमाह—

सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्यन्यथा दमः ।

यदि सानुरागां हीनवर्णां कन्यामपहरति तदा दोषाभावात् दण्डः । अन्यथा स्वनिल्द्वन्तीमपहरतः प्रथमसाहस्यो दण्डः ॥

कन्यादूपणे दण्डमाह—

दूपणे तु करच्छेद उत्तमायां व्यवस्तथा ॥ २८८ ॥

‘अनुलोमासु’ इत्यनुवर्तते । यद्यकामां कन्यां बलात्कारेण नखचतादिना दूपयति तदा तस्य करच्छेदश्चः । यदा पुनरनामेवाङ्गुलिप्रसौपेण योनिच्छतं कुर्वद्दूपयति तदा मन्तृत्पट्टसतसहितोऽङ्गुलिच्छेदः । ‘अभिपद्य तु यः कन्यां कुर्यादपेण मानवः । तस्याशु कर्षे लङ्गुण्यौ दण्डं चार्हति पट्टानम् ॥’ ( मनुः ८।३६७ )—इति । यदा पुनः सानुरागां पूर्वपद्दूपयति तदाऽपि तेनैव विशेष उक्तः ( मनुः ८।३६८ )—‘सकामां दूपयन्त्यां नाङ्गुलिच्छेदमर्हति । द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ।’ इति । यदा तु कन्यैव कन्यां दूपयति, विदाया वा, तत्रापि विशेषस्तेनैवोक्तः । ‘कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्यासु द्विशतो दमः । या तु कन्यां प्रकुर्यात्सौ सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ॥ लङ्गुण्योरेव वा च्छेदं ररेणोद्दहनं तथा ॥’ ( मनुः ८।३६९ )—इति । ‘कन्यां कुर्यात्’ इति कन्यां योनिच्छतवर्ती कुर्यादित्यर्थः ॥ तदा पुनरङ्गुलिच्छेदजातीयां कन्यामविदोषात्सकामामकामां चाऽभिगच्छति तदा हीनस्य अत्रियादेर्वध एव; ‘उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति’ ( ८।३६९ )—इति मनुस्मरणात् ॥ यदा सवर्णां सकामाभिगच्छति तदा गोमिथुनं शुक्लं तस्यै दद्यात्, पदीच्छति; पितरि तु शुक्लमनिच्छति दण्डरूपेण तदेव राज्ञे दद्यात् । सवर्णानकामां तु गच्छतो वध एव; यथाह मनुः ( ८।३६९ )—‘शुक्लं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि’ ( ८।३६९ )—‘योऽकामां दूपयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति । सकामां दूपयेत्तुष्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥’ इति ॥ २८८ ॥

भाषा—कन्या का भी प्रेम होने पर और उसके ( पुरुष से ) निम्न जाति का होने पर दोष नहीं होता, अन्यथा ( कन्या का प्रेम न होने पर ) प्रथम साहस्य का दण्ड होता है, यदि ऐसा ( अर्थात् अपने से हीन जाति की

१. सत्यन्यासाहस्य. (= प्रथमसाहस्य) । २. दूपयन्तुष्यो । ३. विशेषा-  
रसानुरागामकामां ।

और न चाहने वाली) कन्या को बलपूर्वक नखचन भादि से दूषित करने पर हाथ काटने और अपने से उच्च वर्ण की अनचाहती कन्या को दूषित करने पर दण्ड का दण्ड होता है ॥ २८८ ॥

शतं स्त्रीदूषणे दद्याद् द्वे तु मिथ्याभिशांसने ।

पशून्मच्छुशत दाप्यो हीनां स्त्रीं गा च मध्यमम् ॥ २८९ ॥

किंच, 'स्त्री शब्देनात्र प्रकृतवाक्यस्याऽवमृश्यते । तस्या यदि कश्चिद्विद्यमानानेवापरमारराज्यचमादिदीर्घकुसितरोगससृष्टमैथुनत्वादिदोषा-प्रकाश्य 'इय मर-या' इति दूषयति, अस्ती शत दाप्य । मिथ्याऽभिशांसने तु पुनरविद्यमान-दोषाविकारेण दूषणे द्वे शते दापनीय । गोव्यतिरिक्तपशुगमने तु शत दाप्य । य पुनर्हीनां स्त्रियमन्त्यावसायिनीमविशेषासकामामकामा वा गां च निगच्छत्यस्ती मध्यमसाहस दण्डनीय ॥ २८९ ॥

भाष्य—किसी कन्या का वास्तविक दोष भी प्रकाशित करने पर सौ पण और उस पर झूठा दोष लगाने पर दो सौ पण दण्ड दे । पशु मैथुन करने वाले से सौ पण दण्ड ले और हीन स्त्री एवं गाय में मैथुन करने वाले को मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २८९ ॥

साधारणस्त्रीगमने दण्डमाह—

अथरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च ।

गम्यास्वपि पुमान्दाप्य पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥ २९० ॥

'गच्छन्' इत्यनुवर्तते । उक्तलक्षणा वर्णस्त्रियो दास्य ता एव स्वामिना शुश्रूषाहानिर्भ्युदासार्थं गृह एव स्यात्तन्मिथ्येव पुरुषान्तरोपभोगतो निरुद्धा अथरुद्धा, पुरुषनियतपरिग्रहा भुजिष्या, यदा दास्योऽवहृदा भुजिष्या वा भवेयुस्तदा तासु तथा । च'शब्दाद्देश्यास्वैरिणीनामपि साधारणस्त्रीणा भुजिष्याणां च ग्रहणम् । तासु च सर्वपुरुषसाधारणतया गम्यास्वपि गच्छन् पञ्चाशत्पण दण्डनीय, परपरिगृहीतत्वेन तासां परदारतुल्यत्वात् । एतच्च स्पष्टमुक्त नारदेन ( १२।७।७९ )—'स्वैरिण्यामाहणी वेरया दासी निष्कासिनी च या । गम्या स्युरानुलोभ्येन स्त्रियो न प्रतिभोगत ॥ आरवेव तु भुजिष्यासु दोष स्यात्परदारवत् । गम्यास्वपि हि नोपेयैद्यत्तरता सपरिग्रहा ॥' इति ॥ निष्कासिनी स्वाभ्यनयरुद्धा दासी । ननु च स्वैरिण्यादीनां साधारणतया गम्यत्वाभिधानमुक्तम् । नहि जातित शास्त्रतो वा काश्चन लोक साधारणा

१ मिथ्याभिशांसने, । मिथ्याभिशांसिता । २ पशु गच्छुशत दाप्यो हीनस्त्रीं गा । ३ यत्तरता परपरिग्रहा ।



स्त्रिय उपलभ्यन्ते । तथा द्वि-स्वैरिण्यो दास्यश्च तावद्द्वर्णस्त्रिय एव; 'स्वैरिणी या पतिं हिरवा सवर्णं कामतः श्रयेत् । वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ नच वर्णस्त्रीणां पर्यौ जीवति भृते वा पुरुषान्तरोपभोगो घटते; 'दुःशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः । परिचार्यः स्त्रिया साध्यता सततं देवव्यपतिः ॥ कामं तु चरयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । न तु नामापि गृह्णीयादपर्यौ प्रेते परस्य तु ॥' ( मनुः ५।१५४-१५७ )—इति निषेधस्मरणात् ॥ नापि कन्यावस्थायाः साधारणत्वम् । पित्रादिपरिरक्षितायाः कन्याया एव दानोपदेशात् । द्वात्रिभावेऽपि तथाविधाया एव स्वयंवरोपदेशात् । न च दासी भावास्वधर्माधिकारव्युत्तिः । पारतन्त्र्यं हि दास्यम्, न स्वधर्मपरिधागः । नापि वैरया साधारणी; वर्णानुलोमजन्यतिरेकेण गन्धर्वायन्तरासंभवात् । तदन्तःपातिर्ये च पूर्ववदेवागम्यत्वम्; प्रतिलोमजन्थे तु तासां नितरामगम्यत्वम् । अतः पुरुषान्तरोपभोगे तासां निन्दितकर्माभ्यासेन पातितयात्, पतितसंसर्गस्य निषिद्धत्वाच्च न सत्कल्पपुरुषोपभोगयोग्यत्वम् । सत्यमेवम् । किं त्वत्र स्वैरिण्याद्युपभोगे पित्रादिराजदण्डभयादिदृष्टदोषाभावाद्गम्यत्वंवाचोयुक्तिः । दण्डाभावश्चावहृदासु दासीष्विति नियतपुरुषपरिग्रहोपाधितो दण्डविधानात्तदुपाधिरहितास्वर्धादवगम्यते । स्वैरिण्यादीनां पुनर्दण्डाभावो विधानाभावात् ॥ 'कन्यां भक्तन्तीमुत्कृष्टां न किञ्चिदपि दापयेत् ॥' इति लिङ्गनिदर्शनाच्चावगम्यते । प्रायश्चित्तं तु स्वधर्मस्वजनमित्तं गम्यानां गन्तृणां चाविशेषाद्भवत्येव । यस्तुनर्वेश्यानां जात्यन्तरासंभवेन वर्णान्तःपातिरवगुणानाद्युक्तम्—'वैरया वर्णानुलोमाद्यन्तःपातिर्यः; मनुष्यजात्याश्चरयात्, प्राज्ञादिपत्' इति । तत्र; कुण्डगोलकादिभिरनैकान्तिकत्वात् । अतो वैरयाख्या काचिज्जातिरनादिर्वेश्यायामुत्कृष्टजातेः समानजातेर्वा पुरुषादुत्पन्नापुरुषसंभोगवृत्तिर्वैश्येति प्राज्ञण्यादिबह्लोकप्रतिद्विषडाप्रभ्युपगमनीयम् । नच निर्मूलेय प्रतिद्विः । रमयते हि स्कन्दपुराणे—'पञ्चचूडा नाम काश्चनाप्सरसा, तस्मन्ततिर्वेश्याख्या पञ्चमी जातिः' इति । अतस्तासां नियतपुरुषपरिणयनविधिविधुरतया समानोत्कृष्टजानिपुरुषाभिगमने नादृष्टदोषो नापि दण्डः । तासु चानवरद्धामु गच्छन्तां पुरुषाणां यद्यपि न दण्डस्तथाऽप्यदृष्टदोषोऽस्त्येव । 'स्वदारनिरतः मदा' ( ३।४५ ) इति नियमात् ।—'वशुर्वेश्याभिगमने प्राप्तापर्यं विधीयते' इति प्रायश्चित्तस्मरणाच्चेति निरवयवम् ॥ २९० ॥

भाषा—यदि कोई पुरुष दूसरे की अपरद्धा ( केलत स्वामी की सेवा के लिए रत्नी गई, जिसे घर से बाहर निकलना मना हो ) दासी और मुक्तिप्रा

( अर्थात् किसी विशेष पुरुष को सौंपी गई ) दासी से सम्भोग करे तो उस दासी के गन्ध होने पर भी पुरुष को पचाम पण दण्ड लेवे ॥ २९० ॥

'अवरद्धासु दासीषु' ( व्य० २९० ) इत्यनेन दासीस्वैरिष्यादिभुजिष्याभिगमने दण्ड विदधतस्तास्वभुजिष्यासु दण्डो नास्तीत्यर्थादुक्त तस्यापवादमाह—

प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः ।

यहनां यद्यकामाऽसौ चतुर्विंशतिकः पृथक् ॥ २९१ ॥'

पुरुषसम्भोगजीविकासु दासीषु स्वैरिष्यादिषु शुल्कदानविरहेण प्रसह्य बलाकारेणाभिगच्छतो दशपणो दण्डः । यदि यद्वयं पुमान्निच्छन्तीमपि बलाकारेणाभिगच्छन्ति तर्हि प्रत्येकं चतुर्विंशतिपणपरिमितं दण्डं दण्डनीयाः । यदा पुनस्तदिच्छया मादित्वा पश्चादनिच्छन्तीमपि बलाद्गमन्ति तदा तेषामपि दोषः, यदि व्याप्याद्यभिभवस्तस्या न स्यात् 'व्यधिता सश्रमा स्वप्ना राज्ञर्मपरायणा । आमन्त्रिता चेज्जातव्येददण्डव्या वदथा स्मृता ॥' इति नारदवचनात् ॥ २९१ ॥

भाषा—( पुरुष सम्भोग से जीविका चलाने वाली स्वैरिणी ) दासियों से बलपूर्वक ( बिना धन दिये ही ) सम्भोग करने का दण्ड दस पण कहा गया है । यदि अनेक पुरुष मिलकर न चाहने वाली स्वैरिणी दासी के साथ बलाकार करें तो उनमें से प्रत्येक से चौबीस पण दण्ड लेवे ॥ २९१ ॥

गृहीतचेतना वेश्या नेच्छन्ती द्विगुणं घटेत् ।

अगृहीते समं दाप्य. पुमानप्येवमेव हि ॥ २९२ ॥

यदा तु शुल्कं गृहीत्वा स्वस्थापि अर्धवति नेच्छति तदा द्विगुणं शुल्कं दद्यात् तथा शुल्कं दत्त्वा स्वयमनिच्छत्. स्वस्थस्य पुंसः शुल्कहानिरेव । —'शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विगुणं घटेत् । अनिच्छन्तशुल्कोऽपि शुल्कहानिमवाप्नुयात् ॥' इति तन्वैवोक्तम् । तथाऽग्न्योऽपि विशेषस्तेनैव दर्शितः—'अप्रयच्छस्तथा शुल्कमनुभूय पुमान्निच्छयम् । अन्नमेण च सगच्छन् पौद्वन्तनखादिभिः ॥ अयोनी वाऽभिगच्छेद्यो बहुभिर्वाऽपि वासवेत् । शुल्कमष्टगुणं दाप्यो विनयं तापदेव तु ॥ वेश्याप्रधाना यास्तत्र कामुकास्तद्गमोपिता । तस्मिन्मध्येषु कार्येषु निर्णय सप्तये विदुः ॥' इति ॥ २९२ ॥

भाषा—शुल्क लेकर ( और स्वस्थ होने पर भी ) शुल्क देने वाली पुरुष से सम्भोग की इच्छा न रखने वाली वेश्या शुल्क का दूना धन देवे ।

१. अयोनी गच्छतो...चाधिमेहत ॥ २९२ ॥ २. मत्तभिलषन्ती ।

३. घातदन्तनला ।

बिना शुक्क लिये ही संभोग की स्वीकृति देने के बाद नष्ट जाने वाली वेश्या शुक्क के बराबर धन दे। इसी प्रकार का दण्ड वेश्या के समीप गये हुए पुरुष के विषय में भी होता है। ( यदि शुक्क देने के बाद स्वस्थ होने पर भी संभोग न करे तो फिर शुक्क वापस लेने का अधिकारी नहीं होता ) ॥२९२॥

अथोनौ गच्छतो योषां पुरुषं चाऽभिमेहतः ।

चतुर्विंशतिको दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ॥ २९३ ॥

किंच, यैरतु स्त्रियोषां मुख्यादावभिगच्छति पुरुषं चाऽभिमुखो मेहति तथा प्रव्रजितां वा तच्छ्रुत्सौ चतुर्विंशतिपणान्दण्डनीयः ॥ २९३ ॥

भाषा—स्त्री की योनि को छोड़ कर उसके मुख आदि किसी अन्य अंग में मैथुन करने वाले, पुरुष के समझ रति करने वाले और प्रव्रजिता (सन्ध्यासिनी) का संभोग करने वाले पुरुष को चौबीस पण दण्ड द्यगता है ॥ २९३ ॥

अन्त्याभिगमने <sup>१</sup>त्यङ्कयः कुम्बन्धेन प्रयासयेत् ।

शूद्रस्तर्याऽन्त्य एव स्यादन्त्यस्यार्यागमे वधः ॥ २९४ ॥

किंच, अन्त्या चाण्डाली तद्गमने त्रैवर्णिकान्प्रायश्चित्तानभिमुखान् 'सहस्रं त्वन्वजन्त्रियम्' ( ८।३।८५ ) इति अनुवचनात्पणसहस्रं दण्डयित्वा कुम्बन्धेन कुम्भितबन्धेन भगाकारेणाङ्कयित्वा स्वराष्ट्राजिर्वातयेत् । प्रायश्चित्ताभिमुखस्य पुनर्दण्डनमेव । शूद्रः पुनश्चाण्डाल्यभिगमेऽन्त्य एव चाण्डाल एव भवति । अन्त्यज्ञस्य पुनश्चाण्डालादेरदृष्टजातिरूप्यभिगमे वध एव ॥ २९४ ॥

भाषा—चाण्डाली से संभोग करने वाले पुरुष को, उसके तरीर पर भग की आकृति दागकर अपने राज्य से निर्वासित कर दे। शूद्र पुरुष ( चाण्डाली संभोग से ) चाण्डाल ही हो जाता है और उत्तम जाति की स्त्री से रति करने पर चाण्डाल का वध होता है ॥ २९४ ॥

इति श्रीमंमहणप्रकरणम् ।

अथ प्रकीर्णप्रकरणम् २५

व्यवहारप्रकरणमध्ये स्त्रीपुंसयोगाण्यमप्यपरं विधादपदं मनुनारदाभ्यां विदू-  
तम् । तत्र नारदः ( १२।१ )—'विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्यते ।  
स्त्रीपुंसयोगसञ्ज्ञ तद्विधादपदमुच्यते ॥' इति ॥ मनुस्मृत्याह ( १।२ )—'अस्वतन्त्र्याः  
स्त्रियः स्त्रियाः पुत्रैः स्वैर्दिवानिदम् । विपयेषु च सज्जन्याः संस्थाप्या स्थासन्तो

१. अन्त्याभिगमने... ॥२९३॥ २ चाभिमेहतः । विद्वान्दत्तपणो दण्डः ।

३. स्वेच्छया योषां । ४. एवाङ्कय । ५ कुम्बन्धेन । ६. स्तथाऽङ्कय ।

यस्ये ॥'ह्यादि ॥ यद्यपि स्त्रीपुंसयो परस्परमधिप्रत्यर्थितया नृपसमस्य व्यवहारो निषिद्धः, तथापि प्रायश्चण कर्णपरस्परया वा विहिते तयो परस्परानिचारे दण्डादिना दम्यतीति निजधर्ममार्यं राज्ञा स्थापनीयं । इतरथा दोषभाभवतीति व्यवहारप्रकरणे राजधर्ममध्येऽस्य स्त्रीपुंसधर्मजातरयोपदेशः । पृथक् विवाहप्रकरण एव समपञ्च प्रतिपादितमिति योगीश्वरेण न पुनरत्रोक्तम् ॥

सोऽप्रत प्रकीर्णकाख्य व्यवहारवद प्रस्तूयते । तद्वद्वृण च कथित नारदेन (१७ १-४) - 'प्रकीर्णकं पुं विज्या व्यवहारा नृपाश्रया । राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तन्-रकर्मकरण तथा ॥ पुर प्रदान समेदं प्रकृतीनां सथैव च । पापविद्वनैगमश्रेणि-गणधर्मविपर्यया ॥ विप्रापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यसक्तम् । प्रतिग्रहविहोपश्च कोपश्चाश्रमिणामपि ॥ वर्गस करदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा । न दृष्ट यश्च पूर्वेषु सर्वं तस्वपारप्रकीर्णक ॥' इति ॥ प्रकीर्णकं विवादपदे य विवादा राजाज्ञेऽज्ञान-स्तदाज्ञाकरणादिविषयास्ते नृपसमवायिनः । नृप एव एव स्मृत्याचारव्यपनमार्गे वर्तमानानां प्रतिबृल्लतामारथाय व्यवहारनिर्णयं कुर्वात् ॥ एव च वदता यो नृपाश्रयो व्यवहारस्तप्रकीर्णकमित्यर्थाह्वित भवति ॥

सप्रापराधविशेषेण दण्डविशेषमाह—

'ऊनं घाऽभ्यधिकं घाऽपि लिप्तेघो राजशासनम् ।

पारदारिकचौरं घा मुञ्चतो दण्ड उत्तम ॥ २९५ ॥

राजदत्तभूमेर्निबन्धस्य वा परिमाणाभ्यूनवमाधिक्य वा प्रकाशयन् राजशासनोऽभिलिप्तनि, यश्च पारदारिक चौर वा गृहीत्वा रागेऽनर्पविरथा मुञ्चति तादुमायुक्तमसाहस दण्डनीयौ ॥ २९५ ॥

भाषा—जो राजा की आज्ञा को घटा बढ़ाकर लिखता है और जो पराधीन से स्वभिवार करने वाले या चोर को पकड़ करके भी छोड़ देता है उसे उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २९५ ॥

प्रसङ्गात्प्रापराधव्यतिरिक्तव्यवहारविषयमपि दण्डमाह—

अमक्ष्येण द्विजं दूष्यो क्षण्य उत्तमसाहसम् ।

मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं प्रथमं शूद्रमधिकम् ॥ २९६ ॥

१ नृपसमीप । २ जंक पुनर्जवा । ३ भेद । ४ न्यून वा । ५ घाऽपि यो लिख्यताम् । ६ वाऽप्यधि । ७ चोरी । ८ द्विज प्रदूष्याद्यवदण दण्डव उत्तमसाहसम् । ९ क्षत्रिय मध्यम वैश्य प्रथम शूद्रमधिक-कम् । अमक्ष्येद्वैदूषयन् विष दण्ड उत्तमसाहसम् ।

मूत्रपुरीषादिना अमशयेन अशयानर्हेण दूष्याज्जपानादिभिध्रणेन रक्षेत्पेग  
वा ग्राह्येण दूषयित्वा खादयित्वात्तमसाहस दण्ड्यो भवति । अत्रिय पुनरेव  
दूषयित्वा मध्यमम् , वैश्य दूषयित्वा प्रथमम् , शूद्र दूषयित्वा प्रथममाहस  
स्वार्थम् , 'दण्ड्यो भवति' इति सवन्ध । लशुनाद्यमशयदूषणे तु दोषतारत  
म्यादण्डतारतम्यमूहनीयम् ॥ २९६ ॥

भाषा—मूत्र, पुरीष आदि अपवित्र या अमशय पदार्थ द्वारा ग्राह्य के  
अन्न और जल को दूषित करने वाला उत्तम साहस के दण्ड का भागी  
होता है । अत्रिय को इस प्रकार दूषित करने वाला मध्यम साहस के,  
वैश्य को दूषित करने वाला प्रथम साहस के और शूद्र को इस प्रकार  
दूषित करने वाला प्रथम साहस के आधा दण्ड के योग्य होता है ॥ २९६ ॥

कूटस्वर्णव्यवहारी विमांसस्य च विक्रयी ।

न्यङ्गहीनस्तु कर्तव्यो दाप्यथोत्तमसाहसम् ॥ २९७ ॥

किञ्च, रसवेधाद्यापादितयर्णोत्कर्षे कूटे स्वर्णव्यवहारशीलो य स्वर्णकार-  
ादि । यश्च विमांसस्य कुरिततमांसस्य आदिरुषदस्य विक्रयशाल सौनिकादि,  
'च'दाद्व्याकृटरजतादिस्ववहारी च, ते सर्वे प्रत्येक नामाकर्णकरैश्चिभिरङ्गैर्हिना  
कार्या । 'च'दाद्व्याकृटरजतादिस्ववहारेण समुचितमुत्तमसाहस दण्ड दाप्या । यःपुनर्मनु  
नोक्तम् ( ९ २९२ )—'सर्वकण्टकपापिष्ठ हेमकार तु पापित्त । प्रवर्तमान-  
मन्वापे द्वेदवेहवशा चुरै ॥' इति,—तदेतद् देवमाह्यगराजरघर्णवियपम् ॥ २९७ ॥

भाषा—कूट स्वर्ण ( सोने का पानी चढ़ाकर बनाये गये गोटे सोने ) का  
व्यवहार करने वाले और निषिद्ध अर्थात् कुले आदि का मांस बेचने वाले  
के तीन अंग ( नाक, कान और हाथ ) काट कर उन्हें उत्तम साहस का  
दण्ड देना चादिप ॥ २९७ ॥

विषयविशेषे दण्डाभाषमाह—

चतुष्पादवृत्तो दोषो नापेहीति प्रजल्पत ।

काष्ठलोष्टेषुपावर्णयाहुयुग्यकृतस्तथा ॥ २९८ ॥

चतुष्पादवृत्तगजादिभिः कृतो यो दोषो मनुष्यमारणादिरूपोऽस्मी गवादि-  
व्यभिक्तो न भक्षति, अपमरेति प्रकृष्टंकोवैर्भाषमाणस्य । तथा कूटलोष्टपापक-  
पावर्णयोश्चेषणेन चाहना युग्येन च युग्यवहताधादिना कृतो य पूर्वोक्तो दोष  
सोऽपि काष्ठादीन्प्रारयतो न भक्षयममरेति प्रकथयत । काष्ठाद्युशेषणेन द्विसार्धा  
दोषाभाषकथन दण्डाभाषयनिपादनार्थम् । पावर्णयत्त पुनरपुद्विपूर्वकरणनिमित्त  
माशय । काष्ठादिपहण च दान्तिनोमादेवपलक्षणार्थम् ॥ २९८ ॥

भाषा—'हटो हटा' इस प्रकार चिपडाकर स्वामी के सावधान करने पर भी यदि चौपाय (गाय, बैल, हाथी आदि) कोई दोष करें अर्थात् किसी को मार दें तो स्वामी का दोष नहीं होता इसी प्रकार हटने के लिये आवाज देने हुए काट, दहा, याग, पथर पेंकने से, हाथ खटाने से और रथ में जुते हुए घोड़ों से किसी की चोट लगाने पर भी पेंकने, खटाने या हॉकने वाले का दोष नहीं होता ॥ २९८ ॥

द्विघ्ननभ्येन यानेन तथा मङ्गयुगादिना ।

पश्चात्तच्चैवापसरता द्विसने स्वाभ्यदोषभाव ॥ २९९ ॥

किंच, नमि भवा रज्जुर्नस्या द्विघ्ना शकटादियुक्तवलीवर्द्धनया रज्जुर्न-  
स्मिन्पाने तत् द्विघ्ननस्य शकटादि तन, तथा मङ्गयुगेन 'आदि'प्रदणान्ना  
खण्डादिना च यानेन पश्चात्पृष्ठनाऽपसरता 'च'शब्दातिरिक्तपगण्यता प्रतिभुग्य  
यागण्यता च मनुष्यादिद्विसने स्वामी प्राज्ञको वा दोषभाक् न भवति । अत्रप्र  
पशजनितस्वाद्धिमनस्य । तथा च मनु ( ८।२९१।२९२ )—'द्विघ्ननस्य  
भागयुगे निर्यकप्रतिमुवागते । अथभङ्गे च यानस्य अक्रभङ्गे तथैव च ॥ दैवने  
चैव यन्त्राणां योक्त्वरश्मोस्तथैव च । आक रे सायपैहीति न दग्ध मनु  
मवीत् ॥' इति ॥ २९९ ॥

भाषा—गाड़ी में बैलों को नपाने के लिए लगी हुई रस्मी ( जोता ) के  
टूटने पर और जुए आदि के टूटने से तथा यान ( गाड़ी ) के परिवे खलने से  
किसी मनुष्य आदि की हिसा हो जाय तो यान का स्वामी दोषा नहीं  
होता ॥ २९९ ॥

उपेचार्या स्वामिनो दण्डमाह—

शक्तोऽप्यमोक्षयस्वामी दंष्टिणां गृह्णिणां तथा ।

प्रथमं साहसं दद्याद्विदुष्टे द्विगुणं तथा ॥ ३०० ॥

अप्रवीणप्राज्ञकप्रेरितैर्दंष्ट्रिभिर्गण्डादिभि गृह्णिभिर्गवादिभिर्बन्धमान मम  
र्थादि तास्वामी पद्यमोक्षयन्तुपद्यते, तदा अनुकूलप्राज्ञकनिवाजननितित  
प्रथमसाहस दण्ड दद्यात् । यदा तु 'मारिनोऽहम्' इति विकुष्टेऽपि न म उच्यति  
तदा द्विगुणम् । यदा पुन प्रवीणमेव प्राज्ञक मरयति तदा प्राज्ञक एव दण्डया  
न स्वामी । यथाह मनु ( ८।२९४ )—प्राज्ञकरयेत्तद्वदास प्राज्ञको दण्डमर्दति'  
इति ॥ प्राज्ञको यन्ता । आसऽमिदुक्तः । प्राज्ञिणिगवाद्य दण्डदिदण्ड ककरमीप ।  
यथाह मनु ( ८।२९१-२८ )—मनुष्यमाहने चित्र चीरवकिदिवयो धपम् ।

प्राणभृत्सु महस्वधं गोगजोधूहयादिषु ॥ सुदौणा च पशूना तु हिंसाया द्विशतो  
दम । पञ्चाशत्तु भवेद्दण्ड शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्ड'  
स्यात्पञ्चमापक । मापकस्तु भवेद्दण्ड शशूकरनिपातने ॥' इति ॥ ३०० ॥

भाषा—दौत वाले ( हाथी आदि ) और सींग वाले ( बैल आदि )  
पशुओं का स्वामी यदि समर्थ होते हुए भी इनके आक्रमण से किसी को न  
सुझावे तो उसे प्रथम साहस का दण्ड होता है और यदि उस व्यक्ति क  
( जिसे पशु मार रहा हो ) रक्षा के लिये चिढ़ाने पर भी नहीं बचाता तो  
वह प्रथम साहस के दण्ड से दूना दण्ड का भागी होता है ॥ ३०० ॥

जारं चौरेत्यभिवदन्दाप्यः पञ्चशतं दमम् ।

उपजीव्य धनं मुञ्च्यंतदेवाष्टगुणीकृतम् ॥ ३०१ ॥

किंच, स्ववशकलङ्कभयाज्जार पारदारिक 'चौर' निर्गच्छे त्यभिवदन् पञ्च-  
शत पणाना पञ्च शतानि यस्मिन्दमे स तथोक्तस्त दम दाप्य । य पुनर्जर्ह-  
स्तादनमुपजीव्य उरकोचरूपेण गृह्णावा जार मुञ्च्यसौ यावद् गृहीत तावदष्ट-  
गुणीकृत दण्ड दाप्य ॥ ३०१ ॥

भाषा—यदि कोई अपने कुल की प्रतिष्ठा बचाने के लिए जार ( अर्थात्  
व्यभिचारी ) को चोर चोर कहकर भाग जाने दे तो उससे पाँच सौ पण  
दण्ड लेना चाहिए और यदि उस जार से उरकोच क रूप में धन लेकर उसे  
छोड़ दे तो उसके अठगुना दण्ड होता है ॥ ३०१ ॥

राज्ञोऽनिष्टप्रयत्नारं तस्यैवाक्रोशकारिणम् ।

तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्वा जिहां प्रयासयेत् ॥ ३०२ ॥

किंच, राज्ञोऽनिष्टस्यानभिमतस्यामित्रैस्तोत्रादे प्रकषेण भूवो धूवो यत्तार  
तस्यैव राज्ञ आक्रोशकारिण निन्दाकरणशील तदीयस्य च मन्त्रस्य  
स्वराष्ट्रविवृद्धिहेतो परराष्ट्रापस्यकरणस्य वा भेत्तार अमित्रकर्णेषु जपन्त तस्य  
जिह्वामुच्छ्रेय स्वराष्ट्रासिंकासयेत् । क्रोशापहरणाद्गौ पुनर्वध एव ।  
( मनु १।२७५ )—'राज्ञ क्रोशापहतृक्ष प्रतिवृत्तेषु च रिधतान् । घातपेद्वि-  
धैर्दण्डैरीणां चोपकारकान् ॥' इति मनुस्मरणात् । विविधै सर्वस्वापहाराद्दण्डे  
द्वयधरूपैरित्यर्थे । सर्वस्वापहारेऽपि यद्यस्य जीवलोपकरण तन्नापहतोऽप्यम् चौबो-  
पकरण विना । यथाह नारद —(१७।१०,११) 'आयुधान्-यायुधीयानां याद्यादी-  
न्याद्यज्रीयिनाम् । धेरपात्रीणामलकारान्वाघातोघादि तद्विदाम् ॥ यद्य यस्योप-  
करण येन जीवन्ति कारुका । सर्वस्वहरणेऽप्येतन्न राजा हर्तुमर्हति ॥' इति ।

ब्राह्मणस्य पुन न शारीरो ब्राह्मणे दण्ड १ ( गौ० १२।४६ ) इति निषेधाद्ध्य  
स्थाने शिरोमुण्डनाधिक क्तव्यम्—'ब्राह्मणस्य वधो मौण्ड्य पुराजिर्वासनाङ्गने ।  
ललाटे चाभिशास्ताङ्क प्रयाण गदभेन तु ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—पुन पुन राजा का अहित कहने वाले, उसकी निंदा करने  
वाले और उसकी ( राजनाति की ) गुप्त बातों को खोलने वाले की जीभ  
काटकर अपने राज्य से निकाल देना चाहिए ॥ ३०२ ॥

मृताङ्गलशक्केतुर्गुरोस्ताडयितुस्तथा ।

राजयानासनारोदुर्दण्ड उत्तमसाहस ॥ ३०३ ॥

किंच मृतशरीरस्यन्धिनो वस्त्रपुष्पादेर्विक्रेतु गुरो पिशाचार्यादेस्ताडयितु  
स्तथा राजानुमतिं विना तद्यान गजाश्वादि भासन सिंहासनादि आरोहतश्रोत्तम  
साहसो दण्ड ॥ ३०३ ॥

भाषा—शव क ऊपर की वस्तु ( वस्त्र आदि ) बेचने वाले, पिता एवं  
आचार्य आदि को ताड़ना देने वाले और राजा की सवारी या सिंहासन पर  
चढ़ने वाले को उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ ३०३ ॥

द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा ।

विप्रत्येन च शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दम ॥ ३०४ ॥

किंच य पुन क्रोधादिना परस्य भेद्रह्य भिनत्ति । यश्च ज्योति शस्त्रवित्  
गुर्वादिहितेषुभ्यतिरिक्तो राज्ञो द्विष्टमनिष्ट सवत्सरा ते तव राज्य  
व्युतिर्भविष्यति' इत्येवमादिरूपमादेश करोति । तथा च य शूद्रो भोजनार्थं  
यज्ञोपवीतादीनि ब्राह्मणलिङ्गानि धारयति तेषामष्टशतो दम । अष्टौ पणशतानि  
यस्मिन्-दमे स तथोक्त । 'भ्रातृभोजनार्थं पुन शूद्रस्य विप्रवेपधारिणस्तप्त  
शलाकया यज्ञोपवीतवद्गुण्यालियेत् इति स्मृत्यन्तरोक्ष द्रष्टव्यम् । वृथार्थं तु  
यज्ञोपवीतादिब्राह्मणलिङ्गधारिणो वध एव।—'द्विजातिलिङ्गिन शूद्रा-पातयेत्'  
इति स्मरणात् ॥ ३०४ ॥

भाषा—किसी की दोनों आँखें फोड़ने वाले राजा क अनिष्ट ( राज्यनाश  
आदि ) की बात फैलाने वाले और शूद्र होकर ब्राह्मण का वध करनाकर  
ज विका निर्वाह करने वाले को आठ सौ पण दण्ड होता है ॥ ३०४ ॥

रागलोभादिनाऽ-वधा व्यवहारदशने दण्डमाह—

'दुर्दृष्टास्तु पुनर्दृष्टा व्यवहारान्नुपेण तु ।

सभ्या सजयिनो दण्डव्या विधादाद् द्विगुण दमम् ॥३०५॥

१ न शारीरो दण्ड । २ मध्यमसाहस । ३ हितेषु । ४ सत्य-  
गष्टा तु दुर्दृष्टान्वय । ५ द्विगुण पृथक् ।



दुर्यष्टास्युपाचारमासधर्मोत्सहनेन राजलोभादिभिरसम्पत्तिश्चारितायेनास-  
द्वयमानान् स्वयदारान्पुनः स्वयं राजा सम्पत्तिश्चार्यं निमित्तक्षोपाः पूर्वमग्धाः  
संज्ञयितः प्रायेकं विवाद्यदे वो द्वाः पराजितस्य तद्विगुणं द्वाप्याः । अमासत्रे-  
द्वद्विधिपर्याप्तचनस्य रागाहोभादिवादिना शोकेनापीनदशावम् । यद्  
पुनः सापिक्षोपेण स्वयदारस्य दुर्यष्टावं ज्ञातं तदा सापिणस्य दण्डवाः, न  
जयी नापि सम्पाः । यदा तु राजानुमाया स्वयदारस्य दुर्यष्टावं ज्ञातं तदा  
सर्वं तुव राजमहिताः सम्पादयो दण्डनीयाः ।—'वादे' नपदति कर्तारं पादः  
सापिणस्यदति । पादः सभासदः सर्वाभ्याश्च राजानमृदति ॥' (८।१०) इति  
वचनात् । एतच्च प्रायेकं राजाक्षीना द्वेषदतिपादनपर, न पुनरेकैस्वैव पावा-  
पूर्वस्य विभागाय । यथोक्तम्—'कर्तुमगवायिकणजनमस्वभावात्पूर्वस्य' इति ॥

भाषा—पहले सभासदों द्वारा अधर्मपूर्वक दंडे गये स्वयदार पर किए गये  
न्याय के साथ विचार करके राजा पहले दितबी घोषित किये गये व्यक्ति  
भीर सभासदों से विवाद में दारने वाले पर जितना दण्ड होता हो उसका  
दुना घन पृथक् पृथक् ले ॥ ३०५ ॥

न्यायतो निर्णतस्वयदारस्य प्रायावर्तवितुर्दण्डमाह—

यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनावि पराजितः ।

तमायान्तं पुनर्जित्या द्वापयेद् द्विगुणं दमम् ॥ ३०६ ॥

यः पुनर्यावमांतोऽपि पराजितोऽपि औद्धावान् 'माह पराजितोऽस्मि' इति  
मन्यते तमायान्तं पृथलेकपाद्युपवासेन पुनर्धर्मोपिकारिमन्त्रिपुत्रा धर्मो  
पुनः पराजयं नीत्वा द्विगुणं दण्डं द्वापयेत् ॥ नारदेनाप्युक्तम्—'तीरितं चानुसि-  
ष्टं च मन्येत विधर्मतः । द्विगुणं दण्डमास्याय नरकार्यं पुनरुद्धरेत् ॥' इति ।  
तीरितं सापिखेपवादिनिर्णतमनुद्वेष्टनदण्डम् । अनुसिष्टमुद्वेष्टनदण्डम् । दण्ड-  
यान्तं नीतमिति यावत् । यत्पुनर्मनुष्यचनम् ( १.२३२ )—'तीरितं चानुसिष्ट  
च यत्र यत्र विद्यते । कृतं तद्वर्तते जेवं न तत्प्राप्तो नियतंवेत् ॥' इति,  
तदर्थिप्रत्ययिनोरन्यतरवचनाद्भव्यदारस्याधर्मतो पृत्तायासद्वायां पुनर्द्विगुणदण्ड-  
प्रतिशार्यकं स्वयदारं प्रवर्तयेत्, न पुनर्धर्मतो पृत्तायनिश्चयेऽपि राजा लोभा-  
दिना प्रवर्तयितव्यं द्वापयेत्पाम् । यत्पुनर्ज्ञानतरेणापि न्यायापेत् कार्यं निर्वर्तितं  
तदपि सम्भवपरीक्षणेन धर्म्येवथि स्थापनीयम् । 'न्यायापेत्तं यद-देन राजा ज्ञान-  
कृतं भवेत् । तदप्यन्यायविहितं पुनर्याये निवेद्ययेत् ॥' इति स्मरणात् ॥३०६॥

भाषा—जो न्यायतः पराजित होने पर भी स्वयं को पराजित नहीं मानता  
उसे पुनः धर्मपूर्वक पराजित करके राजा उससे दुगुना दण्ड वसूल करे ॥३०६॥

१. जयिमहिताः । २. दुर्यष्टता तदा । ३. रेकैकस्वैव ।

अन्यायगृहीतदण्डधनस्य गतिमाह—

राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो गृहीतो धरुणाय तम् ।

निधेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः स्वयं त्रिशद्वगुणीकृतम् ॥ ३०७ ॥<sup>२</sup>

अन्यायेन यो दण्डो राज्ञा लोभादिना गृहीतस्त त्रिशद्वगुणीकृत वरुणा-  
येदमिति सक्लृप्य ब्राह्मणेभ्य स्वय दद्यात् । यस्माद्दण्डरूपेण यावद् गृहीतम  
न्यायेन तावत्तस्मै प्रतिदेयम्, इतरथापहारदोषप्रसङ्गात् । अन्यायदण्डग्रहणे  
पूर्वस्वामिन स्वयंविच्छेदाभावाच्चेति ॥ ३०७ ॥

इति धीमत्पदानाभभट्टोपाध्यायाश्वमेजस्य श्रीमत्परमहंसपरिभाषाज्ञाचार्य-

विज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतो ऋजुमिताश्वराश्वयायां याज्ञवल्क्यधर्म-

शास्त्रविवृतौ द्वितीयोऽध्यायो व्यवहाराद्य सपूर्ण ॥

अधारिम्बन्धपाये प्रकरणानुक्रमणिका कथ्यते । आद्य साधारणव्यवहारमा-  
तृकाप्रकरणम् १ । असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ । शणादानम् ३ ।  
उपनिधिप्रकरणम् ४ । साधिप्रकरणम् ५ । लेख्यप्रकरणम् ६ । दिव्यप्रकरणम्  
७ । दायविभाग ८ । सीमाविवाद ९ । स्वामिपालविवाद १० । अस्वामिवि-  
षय ११ । दत्ताप्रदानिकम् १२ । क्रीतानुशय १३ । अग्न्युपेयाशुश्रूषा १४ ।  
सविद्वेषतिक्रम १५ । वेतनादानम् १६ । द्यूतसमाह्वयालयम् १७ । धारपाठ-  
व्यम् १८ । दण्डपारुष्यम् १९ । साहसम् २० । विक्रियासप्रदानम् २१ । सम्भूय-  
समुत्थानम् २२ । रतेयप्रकरणम् २३ । स्त्रीसग्रहणम् २४ । प्रकीर्णकम् २५ ।

इति पञ्चविंशतिप्रकरणानि ॥

उत्तमोपपदस्यैव निम्नस्य कृतिरामनः ।

धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिन ॥ १ ॥

भाषा— यदि राजा ने अन्याय से कोई दण्ड लिया हो तो स्वयं उसका  
सीमा पुना करके उसे वरुण देवता के लिये सक्लृप्य करके ब्राह्मणों को देवे,  
(और जिससे जितना धन अन्यायपूर्वक लिया हो उसे उतना धन लौटा  
देव) ॥ ३०७ ॥

आचाराध्याय समाप्त



१ अन्यायन तु यो दण्डो । २ राजभिर्दत्तदण्डास्तु दृष्ट्वा पापानि  
मानवा । निर्मला स्वर्गमावाप्ति सन्त मुहृतिभो यथा ॥ पृथमुद्धतदण्डानां  
विशुद्धि पापकर्मिणाम् । स्वधर्मस्थापनाद्वाजा प्रजाभ्यो धर्ममश्नुते ॥ यत्र  
दण्डत्रिभिर्नोक्त सर्वैरेव महात्मभि । देशकालादि सन्निध्य तत्र दण्डा  
विधीयते ॥

## प्रापश्चित्ताध्यायः

### अथाशौचप्रकरणम्

गृहस्थाश्रमिणा निशचनैमित्तिका धर्मा उक्ता । अग्निपेक्षादिगुणयुक्तस्य गृहस्थविशेषस्य गुणधर्माश्च प्रदर्शिता । अधुना तदधिकारसकोचहतुभूताशौच प्रतिपादनमुखेन तेषामपवादो प्रतिपाद्यते । आशौच'शब्दश्च कालस्नानाद्यपनोद्य विण्डीदकदानादिविधः अध्ययनादिपर्युदासस्य च निमित्तभूत पुरुषगत कक्षनातिशय कथ्यते, न पुन कर्मानधिकारमाश्रम् । 'अशुद्धा घान्धवा सर्वे' ( मनु ५।५८ ) इत्यादावशुद्धस्वामिधानात् । 'अशुद्ध'शब्दस्य च शुद्ध-व्यवहारेऽनाहिताग्निदीप्तितादावनधिकारिमात्रे प्रयोगाभावात् शुद्धव्यवहार-व्युत्पत्तिनिवन्धनत्वाच्च शब्दार्थावगते । किञ्च यथाशौचिनां दानादिनिषेध दर्शनात्तद्योग्यत्वात् आशौचशब्दाभिधेय कथ्यते तर्हि उदकदानादिविधिदर्शनात् तद्योग्यत्वमप्याशौचशब्दाभिधेय स्यात् तत्रानेकार्थकत्वनादोषप्रसङ्ग इत्युपेक्षणी-योऽयं पक्षः ॥

तत्राशौचिभिः सविण्डीदीप्यैकैकैस्तैस्तत्तावदाह—

ऊनद्विवर्षं निजनेन कुर्यादुदकं तत ।

आश्मशानादनुमज्ज्य इतरो शान्तिर्भिवृत् ॥ १ ॥

यमसूक्तं तथा गाथा जपञ्जितौकिवाग्निना ।

स दग्धव्य उपेतश्चेदाहिताग्नायावृत्तार्थवत् ॥ २ ॥

ऊने अपरिपूर्णं द्वे वर्षे यस्यास्तावूनद्विवर्षस्त प्रेत निजनेत् भूमाववट कृत्वा निदध्यान्न पुनर्दहेदित्यर्थः । न च 'सकृत्प्रसिञ्चत्युदकम्' ( प्रा ४ ) इत्यादिभिः प्रेतोद्देशेन विहितमुदकदानाशौचवन्देहिक कुर्यात् । अयं च गन्धमाद्यानुप-श्लेषनादिभिरलकृत्य शुची भूमौ श्मशानात् यत्रास्थिनिचयरहिताया चहिर्प्राणा-न्नित्वननीय । यथाऽऽह मनु ( ५।६८ ६९ )—ऊनद्विवापिञ्च प्रेत निदध्यु-र्वा-धवा वटि । अलकृत्य शुची भूमावस्थिससचयनादने ॥ नास्य कार्योऽग्नि-सस्कारो नैपि कार्योदकक्रिया । अरण्ये काष्ठवस्त्ववत्वा क्षिपेयुश्चयहमेव तु ॥' इति । 'अरण्ये काष्ठवस्त्ववत्वा' इत्यस्यायमर्थः यथाऽरण्ये काष्ठ वस्त्ववो दासीनास्तद्विषये भवन्ति तथोनद्विवापिञ्चमपि स्नाताया भूमौ परित्यज्य तद्विषये भ्राद्वासीप्वर्देहिकेषु उदासनैर्नीयितव्यमित्यापारादिप्राप्तश्राद्धाद्यभावोऽ-नेन दृष्टान्तेन सूच्यते । से च घृतेनाभ्यज्य यमगाथा र्विञ्जितौनिधातव्य ।

१ अत्राशुद्धशब्दस्य च व्यवहारेणाहिताग्निः । २ आश्मशानमनु-  
भाष्यः । ३ मृतं । ४ नास्य । ५ शवश्च । ६ गायञ्जि ।

‘ऊनद्विवापिकं प्रेतं घृतावतं निखनेद्दहिः । यमगाथा गायमानो यमसूक्त-  
मनुस्मरन् ॥’ इति यमस्मरणात् ॥ तत्रस्मरमादूनद्विवापिकादिनरपूर्णद्विवर्षो  
यो मृतोऽमी रमशानपर्यन्तं ज्ञातिभिः सपिण्डैः समानोदकैश्च उपेष्टः पुरः-  
सरैरनुग्रहोऽनुगतश्चः । अस्मादेव वचनादूनद्विवर्षस्यानुगतमननियतमिति  
गम्यते । अनुग्रहश्च ‘परेयिवांसम्’ ( ऋ० ७, अ० १, । १४, ५, ६ )  
इत्यादि यमसूक्तं यमद्वैवत्या गाथाश्च अपञ्जिर्लौकिकेनासंस्कृतेनाग्निना  
दग्धस्यो यदि जातारणिर्नास्ति । तस्मिन्नाद्ये तु तस्मयितेन दग्धस्यो न  
लौकिकेन । तस्याग्निर्वाद्यकार्यमाप्रार्थयेदनेत्यसैः । लौकिकाग्निश्च चण्डालादि-  
व्यतिरिक्तो ब्राह्मणः ‘चण्डालाग्निरमेध्याग्निः सृष्टिकाग्निश्च कर्हिचित् । पतिता-  
ग्निश्चिताग्निश्च न शिष्टग्रहणोचिताः ॥’ इति देवलस्मरणात् ॥ लौगादिना चात्र  
विशेष उक्तः—‘तूष्णीमेवोदकं कुर्यात्तूष्णीं संस्कारमेव च । सर्वेषां कृतचूदानाम-  
न्यप्रापीच्छया द्वयम् ॥’ इति अयमर्थः—‘बीलकर्मानन्तरकाले नियमेनाभ्युद-  
कदानं कार्यम् । अन्यप्रापि नामकरणादूर्ध्वं अकृतचूडेऽपीच्छया प्रेताभ्युदयकाम-  
नया द्वयं अभ्युदकदानात्मकं तूष्णीं कार्यं, न नियमेनेति विकल्पः । मनुनाप्यत्र  
विशेषो दर्शितः ( ५।७० )—‘नाग्निवर्षस्य कर्त्तव्या यान्धवैरुदकक्रिया । जातद्-  
न्तरस्य वा कुर्यात्ताग्निं वाऽपि कृते सति ॥’ इति । ‘उदकग्रहणं’ साहचर्यादिसं-  
स्कारस्याप्युपलक्षणार्थम् । ‘नाग्निवर्षस्य’ इति वचनात् । कुलधर्मविद्यया सूरो-  
रकपेऽपि वर्षप्रवाद्ूर्ध्वमभ्युदकदानादिनियमोऽवगम्यते । लौगादिवचनाद्ूर्ध्वप्रवा-  
त्प्रागपि कृतचूडस्य तयोर्नियम इति विवेचनीयम् । उपेतश्चेद्यद्युपनीतस्तर्हि  
आहिताग्न्यावृता आहिताग्नेर्दानप्रक्रियया स्वगृहादिप्रमिद्धया लौकिकाग्निर्नैव  
दग्धस्यः । अर्धवर्षप्रयोजनवत् । अयमर्थः—‘यस्य वत्स दाहद्वारं कार्यरूपं  
प्रयोजनं समभवति । भूमिशोषणप्रोक्षणादि तदुपादेयम् । यत्पुनर्दुस्तप्रयोजनं  
पाप्रयोजनादि तस्मिन्वर्तते । तथा लौकिकाग्निविधानेनोपनीतरस्य अनादिताग्ने-  
र्युष्माग्निना दाहविधानेन च अपट्टनप्रयोजनत्वादाहवनीयादेरपि तिष्ठतिरिति ॥  
अभ्यन्तरविधानं च वृद्धयाज्ञवल्क्येनोक्तम्—‘आहिताग्निर्ध्याग्यायं दग्धस्यग्नि-  
भिरग्निभिः । अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनावरो जनः ॥’ इति । न च शूद्रेण  
रमशानं प्रति अग्निकाष्ठादिनयनं कार्यम् ; ‘परवानयति शूद्रोऽग्निं नृगं काष्ठं  
हवीषि च । प्रेतत्वं हि सदा तस्य स चाधर्मोऽलिप्यते ॥’ इति यमस्मरणात् ॥  
तथा दाहश्च रनपनाद्यनगर कार्यः—‘प्रेतं दहेत्पुमैर्गन्धैः स्नाविनं स्मरिभू-  
तम्’ इति स्मरणात् । प्रचेनसाऽप्युक्तम्—‘स्नानं प्रेतस्य पुत्र-द्वैवत्याद्यैः पूजन

१. उदकदानात्मकं । २. आहिताग्नेर्दानप्रक्रियया । ३. आहि-  
ताग्नेः स्वगृहाग्निना ।

तथा । नानवेदं दद्वेनैव किञ्चिद्देयं परिशयजेत् ॥' इति; किञ्चिद्देयमिति दातव्यैश्च-  
 देतां रमज्ञानवास्यर्थं देयं परिशयजेदित्यर्थः ॥ तथा प्रेतनिर्हरणेऽपि मनुना विनोपो  
 दर्शितः ( ५।१०४ ) — 'न विप्र स्वेषु तिष्ठन्तु मृतं मृद्देगं दारयेत् । अरवस्यो  
 द्याहुनिः सा इयात्पृथ्वीपकं दूषिता ॥' अथ च स्वेषु तिष्ठन्तु इत्यविवक्षितम् ।  
 अरवस्येतिवादिदोषध्वगत् ॥ — 'द्विजेन मृतं मृद्दें परद्वारेण निर्हरेत् । दक्षिणे-  
 स्तरपूर्थेणु यथासंघं द्विजातवः ॥' तथा दारीतोऽपि — 'न प्रामाग्निसुप्तं प्रेणं  
 हरेत् ॥' इति ॥ यथा तु मोपितमारणे दारीरं न लभ्यते तदाग्निभिः प्रतिकृतिं कृत्वा  
 तेषामप्यलाम्भे वर्णशरीः दौनकादिगृह्यो जमाग्रेण प्रतिकृतिं कृत्वा संस्कारः कार्यः ।  
 आशीचं पाप ददाद्वादिकमेव । 'आहितानिभोऽप्रवसन्निप्रयेन पुनः संस्कारं कृत्वा  
 दावपदाशौचम्' ( ४।३७ ) इति यमिष्टस्मरणम् । अनाहितानिस्तु त्रिाग्रम् ;  
 'मुपिष्टैर्जलसंमिश्रैर्द्वेष्यवस्य तथाग्निना । असी स्वर्गाय लोकाय स्वाहेत्युपरा स  
 वाचधैः ॥ एवं वर्णशरीं दग्न्ता त्रिाग्रमशुचिर्भवेत् ॥' इति तजनात् ॥ ततश्चा-  
 यमर्थं — 'नामरणात्पूर्वादिनत्पनमेव, न चोदकदानादि । तत्र उर्ध्वं पात्रप्रपथं  
 पैकयिकमभ्युदकदानम् । ततः परं पावदुपनयनं सृष्णीमेधाभ्युदकदानं निघ-  
 तम् । वर्णप्रयाग्रागवि कृतचूडस्य । उपनयनादूर्ध्वं पुनराहितान्प्याश्रुतः दाहं  
 कृत्वा स्वर्गमौर्ध्वदेहिकं कार्यम् । अथं तु विनोपः—उपनीतस्य लौकिकाग्निना दाहः  
 कार्यः । अनाहितान्नेर्गृह्याग्निना दाहो यथासंभवं पात्रवोजनं च कार्यम् ॥१-२॥

भाषा—दो वर्ण से कम आयु वाले बालक के मरने पर उसे भूमि में  
 गाढ़ देना चाहिए और उसके लिए उदकदान ( प्रेत को उद्दिष्ट कर दी जाने  
 वाली उदकांशलि ) नहीं करना चाहिए । उससे अधिक आयु वाले के मरने  
 पर जाति वाली ( सपिण्णों ) के साथ रमज्ञान तक ( शय के पीछे-पीछे )  
 जावें । यममूक और गाथा का पाठ करते हुए ( यदि मृत व्यक्ति अग्निहोत्री  
 न रहा हो तो ) लौकिक अग्नि से उसका दाह करे, यदि उसका पत्नीपतीत  
 हुआ हो तो अपने गृह्य में बनाई गई लौकिक अग्नि से प्रयोजन के अनुसार  
 दाह करे ॥ १-२ ॥

संस्कारानन्तरं किं कर्तव्यमित्यन आह—

सप्तमादशमाद्वापि क्षातयोऽभ्युपयन्त्यपः ।

अथ न. शोशुचदधमनेन पितृदिङ्मुष्णाः ॥ ३ ॥

सप्तमादिवसादशमदिवसाद्वा ज्ञानयः समानगोत्राः सपिण्ण्डाः समा-  
 नोदकाश्च 'अथ नः शोशुचदधम' ( अथ स १।७।५ ) इत्यनेन मन्त्रेण इक्षिगा-  
 मुत्वा' अपः अभ्युपयन्ति । अभ्युपयमनेन तत्प्रयोजनभूतोदकदानवित्तिष्टमभ्युप-  
 यमन लक्ष्यते, 'एव मातामहाचार्य—' ( पा० ४ ) इत्यनन्तरमुदकदानस्यानिर्देश-

दर्शनात् । एतद्यायुग्मासु तिथिषु कार्यम् । 'प्रथमवृत्तीयपञ्चमसप्तमनवमेषु द्वादश्या' ( १४।४० ) इति गौतमस्मरणात् ॥ एतच्च स्नानान्तरं कार्यम् , 'शरीरमन्त्री सयोऽवानवेद्यमाणा भयोऽभ्युपवसति' इति दानातपरमरणात् ॥ तथा प्रचेतसाप्यथ विधीयो दक्षित — 'प्रैतस्य याग्यवा यथाशुद्धमुदकमवतीर्य मोक्षर्य-  
 येपुष्टकान्त प्रसिद्धेयुरपसथ्यचञ्जीपधीतवाससा दक्षिणाभिमुग्ना मात्तगस्याद्-  
 द्मुग्ना प्रैथद्मुग्नाश्च राज-ववैश्वया ' इति । स्मृत्यन्तरे तु यावत्तयाज्ञीषदिनाति  
 नायद्दुदकदानस्याशुत्तरता । यथाऽ विष्णु ( १९।१३ )—'वावदाशीच नाय  
 प्रैतस्योदक विष्णु च द्दुयु ' इति ॥ तथा च प्रचेतसाप्युक्तम्—'द्विने दिनऽभ्र  
 एोन्पूर्गान्प्रदद्यात्प्रैतकारणात् । नायद्दुदक्षि चर्तव्या याऽविष्णुः समाप्येन ॥'  
 इति । प्रतिदिनमङ्गलीनां शुद्धि कार्या, यावद्दशम विष्णुः समाप्येन ह्यपथं ॥  
 यद्यप्यनयोर्गुरुषु क्वचनोरस्यांशानुष्ठानेनावि द्वाप्राथ सिद्धस्तथापि षड्वत्शत  
 दानेन गुरतरकल्प प्रवृत्त्यनुपपत्ते प्रैतस्योपकारात्तद्यो भविष्यतीति कश्चमी-  
 यम् । अन्यथा गुरतरकल्पेऽनापस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् ॥ चण्डिकायि विगोऽभि  
 दिग १ ( ४।१९ )—'सप्तोत्तराभ्यां पानिभ्यामुदकक्रियां कुर्वीत' इति ॥ ३ ॥  
 भाषा—सातथे या द्दमे दिने से पहले समान गोत्रवाले या सविष्णु  
 पुत्र्य जल क समीप जाकर 'अप न दोष्टचदधम्' इत्य म्प्र न वितरो की दिना  
 दक्षिण की ओर मुख करके उदकदान करें ॥ ३ ॥

वक्ष्यमाणसकृत्प्रवेक्ष्य नामनाश्रादिभिर्गुणैर्विहितैर्योदकदानैर्यामास-  
 ग प्रपु मातामहादिष्वतिदशमाह—

एयं मातामहाचार्यप्रैतानामुदक क्रिया ।  
 कामोदकं सविप्रैस्तारयस्त्रीषध्वनुरतिवजाम् ॥ ४ ॥

यथा सप्तोत्तरादिदानीं प्रैतानामुदक दाने तथा मातामहाःनामाचार्याणां  
 च प्रैतानां तिस्रमुदकक्रिया कार्या । सप्तान्निप्र प्रसाः परिणीताः सुदिदुप्रति-  
 श्यादृष्ट, रवर्षयो भातिनया, अष्टार प्रभिद्ध, श्रवितो पाजहा, एतया  
 सनवादानां प्रैतानां काम उदक कार्यम् । काम इत्युक्ता, कामेनादकदानं काम उदक,  
 प्रैतानुदककामनायां सायामुदक देवम् । अमायां न देवमिति अकरणे,  
 सायवायो नारनीयथ ॥ ४ ॥

भाषा—इसी विधि से मातामह ( नामा ) और आचार्य क णिप भी  
 उदकदान क्रिया जाना है । इत्यानुसार निप्र, विवादिना पुत्रो या बहन,  
 भातिनय, रवणु और श्रवितु क णिप भी उदकदान करें ॥ ४ ॥

१ स द्दमुग्नाश्च । २ कश्चमीयया । ३ एव समाप । ४ प्रैतानां  
 योदकक्रिया । ५ सप्तारवर्षीय ।

उदकदाने गुणविधिमाह—

सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं नामगोत्रेण यावयताः ।

तत्रचोदकदानमित्थं कर्तव्यम्—सपिण्डाः समानोदकाद्य मीनिनो भूत्वा प्रेतस्य नामगोत्रे उच्यार्थं 'अमुकनामा प्रेतोऽमुकगोत्रस्तृप्यतु' इति महदेवोदकं प्रसिञ्चेयुः त्रिर्धा; 'त्रिः' प्रत्येकं कुर्युः प्रेतस्तृप्यतु' इति प्रचेतःस्मरणात् ॥ प्रतिदि-  
नमज्जलिशृद्धिस्तु प्रतिपादितैव । तथा अपमपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'नदीदूर्णं सतो गत्वा सौचं कृत्वा यथार्थं वत् । वस्त्रं संशोधयेद्वादी ततः स्नानं समाचरेत् ॥ सचैलस्तु ततः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः । पापाण तत आधाय विप्रे दद्याद्-  
शाखलां ॥ द्वादश अग्निरे दद्याद्द्वैश्वरे पञ्चदश स्मृताः । त्रिंशत्पृथग्य द्वातश्वार-  
रततः संप्रविशेद् गृहम् । ततः स्नानं पुनः कार्यं गृहगौचं च कारयेत् ॥' इति ॥

सपिण्डानां मध्ये केषांचिदुदकदानप्रतिषेधमाह—

न ब्रह्मचारिणः कुर्युः उदकं पतितास्तथा ॥ ५ ॥

ज्ञातिष्वे सत्यपि ब्रह्मचारिणः समावर्तनपर्यन्तं, पतिताश्च प्रत्युनद्विजातिक-  
भाधिकाराः, उदकादिदानं न कुर्युः ॥ ब्रह्मचर्यान्तरकालं पूर्वमृत्तानां सपिण्डा-  
दीनां उदकदानमादौ च कुर्यादिव । यथाह मनुः (५।८८)—'आदिष्टो नोदकं  
कुर्यादाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रमष्टुचिर्भवेत् ॥' इति ।  
आदिष्टो 'ब्रह्मचार्यसि भवो ज्ञानं कर्म कुरु दिवा मा स्वात्सीः' ( आश्व० १।२२।-  
२ ) इत्यादिप्रतादेशयोगाद् ब्रह्मचार्युच्यते । एतच्च पित्रादिस्पतिरेकेणेति  
वक्ष्यति । 'आचार्यपितृपाध्यायान्' ( प्रा० १५ ) इति । अप्राचार्यः पुनरेवं  
मन्यते—आदिष्टेति प्रकान्तप्रायश्चित्तः कथ्यते, तस्यैवापमुदकदानादिप्रतिषेधः  
प्रायश्चित्तरूपमस्य समाप्त्युत्तरकालमुदकदानादौ च विधिरिति । तथा स्त्रीयादीनां  
चोदकदापित्वं निषिद्धम् ; 'स्त्रीयाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना माया विधर्मिणः ।  
गर्भमर्तुद्वहरश्चैव सुराप्यश्चैव योयितः ॥' इति श्रद्धमनुस्मरणात् ॥ ५ ॥

भाषा—( सपिण्ड लोग ) मौन होकर गोत्रसहित प्रेत ( मृत व्यक्ति )  
का नाम लेकर एक बार ( या तीन बार ) उदकाजलि दें । ब्रह्मचारी और  
पतित व्यक्ति उदकदान न करें ॥ ५ ॥

एवमुदकदाने कर्तृविशेषप्रतिषेधमुक्त्वा संप्रदानविशेषेण प्रतिषेधमाह—

पौषण्ड्यनाश्रिताः स्तेना भर्तृभ्यः कामगादिकाः ।

सुराप्य औत्मत्यागिन्यो नाशौचोदकभाजनाः ॥ ६ ॥

१. प्रत्येकं कुर्युः । २. आदाय । ३. त्रिरात्रेणैव शुद्धयति । ४. पाप-  
घटाना । ५. आश्रमवातिन्यो ।

नरशिर कपालादिश्रुतिवाह्यलिङ्गधारण पाखण्डम्, तद्विद्यते येषां ते  
 पाखण्डिन, अनाश्रिताः अधिकारे सत्यप्यकृताश्रमविशेषपरिमहा । स्तेना-  
 सुवर्णाद्युत्तमद्रव्यहारिणः, भर्तृभ्यः प्रतिघातिभ्यः, कामगा कुलाः, 'आदि'प्रहणात्  
 स्वगर्भप्राहणघातिभ्यो गृह्यन्ते । सुराप्यो यासा या सुरा प्रतिपिद्धा तत्पानरता ।  
 आत्मत्यागिभ्य विचारान्युदकोद्धन्नाद्यौरामान यास्यन्नग्नि । एते पाखण्ड्यादयः  
 'त्रिरात्र दशरात्र वा' ( प्रा० १८ ) वक्ष्यमाणस्याशौचस्योदकदानाद्यौर्ध्वदे  
 हिकस्य च भाजना न भवन्ति । भाजयन्तीति भाजना, सपिण्डादीनामाशौ  
 चादिनिमित्तभूता न भवन्ति, अतस्तम्भरणे सपिण्डैरुदकदानादि न कार्यमित्ये-  
 तत्प्रतिपादनपर वचनम् । अत्र 'सुराप्य' इत्यादिषु लिङ्गमविवक्षितम् ।—'लिङ्ग  
 च वचन देश कालोऽय कर्मण फलम् । मीमांसाकुशला. प्राहुरनुपादेय-  
 पञ्चकम् ॥' इत्यनुपादेयमत्रत्वात् । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम्, यथाह गौतम-  
 ( १४।१२ )—'प्रायोऽनाशकशास्त्राग्निविपोदकोद्धन्धनप्रपतनैरचेच्छ्रुताम्' इति ।  
 प्रायो महाप्रस्थानम्, अनाशकमनशनम्, गिरिशिखरादवपात. प्रपतनम् ।  
 अत्र चेच्छ्रुतामिति विशेषणोपादानात्प्रमादकृते दोषो नास्तीत्यवगन्तव्यम्, 'अथ  
 कश्चित्प्रमादेन श्रियेताभ्युदकादिभि । तस्याशौच विधानस्य कर्तव्या चोदक-  
 क्रिया' इति अङ्गिरस्मरणात् ॥ तथा मृत्युविशेषादपि आशौचादिनिषेधः—  
 'चाण्डालाहुदकारसर्पाद् ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि । दष्टिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरण पापकर्मि-  
 णाम् ॥ उदक पिण्डदान च प्रेतेभ्यो यत्प्रदीयते । नोपतिष्ठति तत्पर्वमन्तरिक्षे विन-  
 रयति ॥' इति । एतदपीच्छापूर्वमात्महननविषयम् । गौतमवचनेनेच्छापूर्वकमेवो-  
 दकेन हतस्याशौचादिनिषेधस्योक्तत्वात् । अत्रापि 'चाण्डालाहुदकारसर्पात्' इति  
 सत्प्राह्वर्षदर्शनाद् बुद्धिपूर्वविषयत्वनिश्चय । अतो दर्षादिना चाण्डालादान्दहन्तु  
 यानो यस्तैर्मारितस्तस्याय 'सर्वत एवामान गोपायेत्' इति विध्यतिक्रमनिमित्त-  
 पिण्डदानादिनिषेध । एव दुष्टदष्ट्यादिप्रहणार्थमाभिमुख्येन दर्षात्कृत्वा  
 मरणेऽप्यय निषेध इत्यनुसंधेयम् । अय चाशौचप्रतिषेधो दशाहादिकाला-  
 वधिद्वयस्य, 'हतानां नृपगोविप्रैरन्वय चात्मघातिनाम्' ( प्रा० २१ ) इति  
 सद्य शौचस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तथा दाहादिक्रमयेषा न कार्यम्, 'नाशौच  
 नोदक नाशु न दाहाद्यन्यकर्म च । मलदण्डहतानां च न बुर्वाःकटधा-  
 रणम् ॥' इति यमस्मरणात् । मलदण्डहता ब्राह्मणदण्डहता । प्रेतवहनसाधने  
 कट्वादि 'कट'शब्देनोच्यते । न चाहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञराशैःपेतत्  
 श्रुतिविहितान्नियज्ञपात्रादिप्रतिपत्तिलीपप्रसङ्गात् । अय स्मार्तो दाहादिनिषेधो  
 विप्रादिहताहिताग्निविषय नाहकन्दतीर्याशङ्कनीयम् । यत्क्षण्डालादिह-



साहिताशिसधन्विनामन्निपज्ञपात्राणां स्मृत्यन्तरे प्रतिपत्यन्तरं विधीयते-  
 'वैतान प्रक्षिपेदस्सु भावसप्य चतुष्पथे । पात्राणि तु दहेदग्नौ यजमाने घृथा  
 मृते ॥' (जमदग्नि) इति । तथा तच्छरीरस्यापि प्रतिपत्यन्तरमुक्तम्, 'आत्मन-  
 रथागिनां नास्ति पतितानां तथा क्रिया । तेषामपि तथा गह्वानोये मर्यापन  
 हितम् ॥' इति स्मरणात् । तस्माद्विशेषेण सर्वेषां दहनादिनिषेध । अतः  
 स्नेहादिना निषेधातिक्रमे प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्, 'हृत्पादमिमुदक स्नान स्पर्शन  
 वहन कथाम् । रजश्छेदाधुपात च तसकृच्छ्रेण शुद्धयति ॥' इति स्मरणात् ।  
 एतच्च प्रायेकं पुद्गिपूर्वकं वेदितव्यम् । अनुदिपूर्वकस्मरणे तु 'एवामन्यतमं प्रेतं  
 यो चहेत दहेत वा । कटोदकक्रियां कृत्वा कृच्छ्रं मान्तपन चरेत् ॥' इति सव-  
 नोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यं पुन 'तच्छ्रवणं केवलं शृष्टमथु वा पातितं यदि । पूर्वोक्ता  
 नामकारी वेदेकराग्रममोजनम् ॥' इति स्पर्शाधुपातयोदपवासा उक्तः ॥ अस्मै  
 कृच्छ्रेष्वशक्तश्च तथा बन्धनच्छेदने दहने वा मास भंडाहारस्त्रिपञ्चन च' इति  
 सुमन्तुना भैष्ठाशिवमुक्तं, -तदध्यक्षात्स्यैव । एवमन्यतमपि तद्विषयाणि स्मृति-  
 चावधानि व्यवस्थापनीयानि । अथ च दाहादिप्रतिषेधो निश्चयकर्मनुष्ठानासमर्थ-  
 जीर्णवानप्रस्थादिष्वतिरिक्तविषयः ; तेषामभ्यनुज्ञादर्शनात् । 'शुद्धं शीघ्रमृतेर्लुप्तं  
 प्रयाह्यातभिषिक्तम् । आत्मानं घातयेद्यत्तु भृशमन्यतमनाम्बुभिः ॥ तस्य  
 त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसप्तयः । तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे भ्रातृमाचरेत् ॥'  
 इति स्मरणात् ॥

एवं येन येनोपाधिना आत्महननं शास्त्रतोऽभ्यनुज्ञायते तत्तद्व्यतिरिक्तमार्गे-  
 णात्महनने भ्रातृदोषैर्देहिकेषु निषिद्धेषु किं पुनस्तेषां कार्यनिश्चयेषां शुद्धवा-  
 ज्ञवत्त्वपद्मागलेयाभ्यामुक्तम्—'नारायणकलिं कार्यो लोकगर्हामयाक्षरैः ।  
 तथा तेषां मवेच्छीच नान्यथेत्थप्रसीदमः । तस्मात्तेभ्योऽपि दातव्यमद्यमेव  
 मदधिणम् ॥' इति । स्वासेनाप्युक्तम्—'नारायणं समुद्दिश्य शिवं वा  
 याप्रदीयते । तस्याशुद्धिकरं कर्म तद्भवेच्छैतदन्यथा ॥' एवं इति । एव नारायणवलिः  
 प्रेतस्य शुद्धयापादनद्वारेण भ्रातृदिसप्रदानवयोग्यतां जनयतीति और्ध्वदेहिकम-  
 पि सर्वं कार्यमेव । अत एव पट्टत्रिंशन्मतेऽपि और्ध्वदेहिकस्याभ्यनुज्ञा दृश्यते-  
 'शोभाह्वणहस्तानां च पतितानां तथैव च । ऊर्ध्वं सवत्सराकुर्व्यात्सर्वमेवौर्ध्वदेहि-  
 कम् ॥' इति । एव सवत्सरादूर्ध्वमेव नारायणवलिं कुर्यादूर्ध्वदेहिकं कार्यम् ॥

नारायणवलिश्चेत्थं कार्यं—कस्यानिच्छुक्लैकादश्या विष्णु वैश्रवत यमं च  
 यथावदभ्यर्च्यं तस्मिन्निपे मधुघृतप्लुतांस्तिलमिश्रान्दश विष्णान्विष्णुरूपिणं प्रेत-  
 मनुस्मरन् प्रेतनामगोत्रे उच्चार्यं दक्षिणामेघे दग्धेषु दक्षिणाभिमुखो दत्त्वा गन्धा-

दिभिरभ्यर्च्य विण्डप्रवाहणान्त कृत्वा नद्यां चिपेत् , न पर्यादादिभ्यो दद्यात् ॥ ततस्तस्यामेव राश्यामयुग्मा-ब्राह्मणानाम-भ्योपोषित श्वोभूने मध्याह्ने विष्णवाराधनं कृत्वा एकोद्दिष्टविधिना ब्राह्मणपादप्रणालनादितृप्तिप्रशान्त कृत्वा विण्डपितृ-यज्ञावृत्तोदलेखनाद्यवनेशान्त तूर्णो कृत्वा विष्णव मङ्गले शिवाय यमाय च परिवारसहिताय चतुर विण्डा दत्त्वा नामगोत्रमहितं तं प्रेत सस्मृत्य विष्णोर्नाम सकीर्यं पञ्चम विण्ड दद्यात् । ततो विप्रानाचान्तान्दृष्टिणाभिस्तोषयित्वा तन्म-ध्ये चैक गुणवत्तम प्रेतबुद्ध्या सस्मरन् गोभूद्विरण्यादिभिरतिशयेन सतोष्य तत-पवित्रपाणिभिर्विप्रै प्रेताय तिलादिमहितमुदकं दापयित्वा स्वजनैः, सार्धं भुञ्जीत ॥

सर्वहते त्वय विशेष-संवासर यावत्पुराणोक्तविधिना पञ्चम्यां नामपूर्णां विधाय पूर्णं सवासरे नारायणबलिं कृत्वा सौवर्णं नागं दद्यात् गां च प्रत्यक्षाम् । तत सर्वभौष्वदेहिकं कुर्यात् ॥

नारायणमलिरपरूपं च वैष्णवेऽभिहितं यथा—'एकादशीं समासाद्य शुक्ल-पक्षस्य चै निश्विम् । 'विष्णु समर्चयेत्तदेव यम वैश्वस्य तथ ॥ दश विण्डान् घृताभ्यक्तान्दग्धेषु मधुसमुत्तान् । तिलमिश्रः प्रदद्याद्दे सयतो दक्षिणामुत्त ॥ त्रिष्णु बुद्धौ समासाद्य नद्यभिसि तत चिपेत् । नामगोत्रप्रहं तत्र पुष्पैरभ्यर्चनं तथा ॥ धूपदीपप्रदानं च भक्ष्य भोज्यं तथा परम् । निमग्नेत विप्रा-वै पञ्च-सस नवापि वा ॥ विद्यातप समृद्धा-वै कुलोत्पन्नासमाहितान् । अपरेऽहनि स-प्राप्ते मध्याह्ने समुपोषित ॥ विष्णोरभ्यर्चनं कृत्वा विप्रैस्तानुपवेशयेत् । उदङ्मुखान्पथाउपेष्ट पितृरूपमनुस्मरन् ॥ मनो निवेश्य विष्णौ चै सर्वं कुर्याद्-तद्भित्त । आवाहनादि मन्त्रोक्तं देवपूर्वं तद्वाचरेत् ॥ तृह्नाञ्जात्वा ततो विप्रारतृप्तिं पृष्ट्वा यथाविधि । हविष्यभ्यङ्गनेनैव तिलादिमहितेन च ॥ पञ्च विण्डान्-प्रदद्याद्य देवै र्देवमनुस्मरन् । प्रथमं विष्णव दद्याद् मङ्गले च शिवाय च ॥ यमाय सौवर्णाय चतुर्थं विण्डमुरचरेत् । मृत सकीर्यं मनसा गोप्रपूर्वमग परम् ॥ विष्णोर्नाम गृहीत्वैव पञ्चमं पूर्ववत्चिपेत् । 'विप्रानाचम्य विधिवदक्षिणाभि-समर्चयेत् ॥ एकं "विद्वत्तम विप्रं द्विरभ्येन समर्चयेत् । गवा वस्येण भूयवा च प्रेत-त मनसा स्मरन् ॥ ततस्सितलाभो विप्रारतु हरतेर्दग्धसमन्वितैः । चिपेत्तूर्णोत्पूर्वं तु नाम बुद्धौ निवेश्य च ॥ हविर्गन्धतिलाभस्तु तस्मै दक्षु समाहितान् । मित्रभ्रातृ-जनैः सार्धं पञ्चानुञ्जीत वासयत् ॥ एव किष्णुमते रिधवा यो दद्यादात्मपात्रिन । समुदरति त विप्रं नात्र कार्वा विचारणा ॥' सर्वदशनिमित्तं सौवर्णनागदानं प्रतिवृत्तिरूपेण भविष्यपुराणे सुमन्तुनाभिहितम्—'सुवर्णभारनिष्पद्य नाग-कृत्वा तथैव गाम् । श्यामाप दत्त्वा विधिवत्पितृशान्तिदमाप्नुयात् ॥' इति ॥१॥

१. अर्चयेद् देवेत । २ देवरूप । ३ सानुवाराय । ४ विदेगाचम्य ।

५ बुद्धगम ।

भाषा—पातण्डी, अनाक्षित ( जो किसी आघम में न हों ), खोर, पति की हत्यादि और व्यभिचारिणी आदि द्विर्षा सुरा पीने वाले और आमहत्या करने वाले आशौचकाल में दिये जाने वाले उदकदान के पात्र नहीं होते । ( अर्थात् इन्हें आशौच में उदकदान नहीं दिया जाता ) ॥ ६ ॥

एउमुदकदान सापवादप्रभिघायान-तरं किं कार्यमिष्यत आह—

कृतोदकान्समुत्तीर्णान्मृदुशाह्वलसंस्थितान् ।

स्नानानपवदेयुस्तानितिहासै पुरातनै ॥ ७ ॥

कृतमुदकदान यैस्तान्कृतोदकान् छाता-सम्यगुदकाहुत्तीर्णान्मृदुशाह्वले नवोद्गतवृणप्रचपावृते भूभागे सम्यक्स्थितान् पुत्रादीन्कूलवृद्धा पुरातनैरिति हासैर्बचपमाणैरपवदेयु शोकनिरसनममर्थैर्वचोभिर्बोधयेयु ॥ ७ ॥

भाषा—उदकदान के बाद स्वयं जल में स्नान करके जल से निकल कर ( किनारे की ) दूरी घास पर बैठे हुए पुत्रादि जनों को पुरानी कथाएँ सुनाकर कुल के वृद्ध व्यक्ति उनके शोक को दूर करें ॥ ७ ॥

शोकनिरसनसमर्थैरितिहासरूपमाह—

मानुष्ये कदलीस्तम्भनि सारे सारमार्गणम् ।

करोति य स समूढो जलबुद्बुदसंनिभे ॥ ८ ॥

'मनुष्य'शब्देन जरायुजाण्डजादिचतुर्विधभूतजात लक्ष्यते, तस्य भाव मानुष्य, तत्र मसरणधर्मित्वेन कदलीस्तम्भवदन्त साररहिते जलबुद्बुदवदधिर विनश्वरे ससारे सारस्य शिवरस्य मार्गणम-वेपण य करोति स समूढ अरथ-त-विनष्टचित्त तस्मात्सारस्वरूपत्रेदिभिर्भवद्भिरित्य न कार्यम् ॥ ८ ॥

भाषा—जो व्यक्ति एक कले के स्तम्भ के समान नि सार और जल के बुलबुले के समान नरवर इस मनुष्यलोक में स्थिरता की इच्छा करता है वह मूढ है ॥ ८ ॥

पञ्चधा संभृत-कायो यदि पञ्चत्वमागत ।

कर्मभि स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

किंच, ज-मा-तरारमीयशरीरजनितै कर्मबीजै स्वफलोपभोगार्थं पञ्चधा पृथि-पादिपञ्चभूतात्मकतया पञ्चप्रकार संभृतो निर्मित काय स यदि फलोपभोगनिवृत्तौ पञ्चत्वमागत पुन पृथि-पादिरूपता प्राप्तस्तत्र भवता किमर्था परिदेवना ? निष्प्रयोजनस्वाह्वानुशोचन कर्तव्यम्, घस्तुस्थितेस्तथा-स्वात् । नहि केनचिद्द्वस्तुस्थितिरतिक्रमिह शक्यते ॥ ९ ॥

भाषा—पूर्वजन्म के शरीर द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगने के लिए ( पृथ्वी आदि ) पाँच तत्वों के संघात से निर्मित शरीर यदि पुन पञ्चतत्वों के रूप में आ गया तो इसमें शोक करने की क्या बात है ? ॥ ९ ॥

गन्त्री वसुमती नाशमुदधिर्देवानानि च ।

फेनप्रत्य. कथं नाश मर्त्यलाको न यास्यति ॥ १० ॥

अपि च नेदमाश्रयं मरण नाम यत् पृथिव्यादीनि महान्त्यपि भूतानि नाश गच्छन्ति, तथा समुद्रा अपि जलमरणविरहिण अमरा अपि प्रलयममये अग्रमान गच्छन्ति, कथमिवास्थिरतया फेनसनिभो मरणधर्मा भूतसद्यो विनाश न यास्यति ? उचितमेव हि मरणधर्मिण प्रायणम् । अतो निष्प्रयोजन शोकसमावेश ॥ १० ॥

भाषा—पृथ्वी, समुद्र और देवता भी नाश को प्राप्त होते हैं तो फेन के समान मृत्युलोक क्यों नहीं नष्ट होगा ? ॥ १० ॥

अनिष्टापादकत्वादप्यनुशोचन न कार्यमित्याह—

श्लेष्माशु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवश ।

अतो न रोदितव्यं हि क्रिया कार्या 'म्वशक्ति ॥ ११ ॥

यस्मादनुशोचद्भिर्शा-धवैर्वदननयननिर्गमित श्लेष्माशु वा यस्मादवशोऽ-कामोऽपि प्रेतो भुङ्क्ते, तस्मात्त रोदितव्य, किंतु प्रेरहितस्तुभि स्वभावस्य नुसारेण ध्यादादिक्रिया कार्या ॥ ११ ॥

भाषा—बान्धवों द्वारा शोक में गिराये गये श्लेष्मा ( खतार ) और अशु प्रेत को बाध्य होकर ( न चाहते हुए भी ) खाना पकता है, अतएव रोना नहीं चाहिये, अपितु ( प्रेत के हित के लिए ) अपनी शक्ति के अनुसार ( ध्याद ) क्रिया करनी चाहिए ॥ ११ ॥

इति संधुस्य गच्छेयुर्गृहं यालपुर सर ।

विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मन ॥ १२ ॥

<sup>१</sup>आचम्याग्न्यादि सलितं गोमय गौरसर्पपान् ।

प्रविशेयु समास्तभ्य कृत्वाऽश्मन्ति पदं शनै ॥ १३ ॥

एष बृहवृद्धवर्चासि सयगाकर्ण्यं त्यक्तशोदा स तो यालानग्रत हत्वा गृह गच्छेयु । गत्वा च वेश्मनो द्वारि स्थित्वा नियता सयत मनसरा निम्बपत्राणि विदश्य दशनै स्तण्डयित्वा आचमन च कृत्वाऽ-सुदकगोमयगौरसर्पपानालभ्य, 'आदि' मण्डणात् 'दूर्वाप्रवालमग्निपृषी

च' इति शब्दोक्तौ दूर्वाह्वरपृथग्भाषयि रृष्ट्वा अश्मनि च पदं निधाय शनै-  
रद्रुतं घेशमनि प्रविशेयुः ॥ १२-१३ ॥

भाषा—( कुल घृष्टों के ) इस प्रकार के वचन सुनकर ( शोक त्याग कर ) घालकों को भागे करके घर जायें । घर के द्वार पर पड़े होकर नीम की पत्तियों फूँसकर, आधमन करके, अग्नि, जल, गोबर और पीले सरसों का स्पर्श करें और पत्थर पर पैर रखकर धीरे से घर में प्रवेश करें ॥ १२-१३ ॥

अतिदेशमाह—

प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शनामपि ।

दृच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमान् ॥ १४ ॥

यदेतत्पूर्वोक्तं निम्बपत्रदशनादि घेशमप्रवेशनान्तं कर्म, तत्र केवलं ज्ञाती-  
नामपि तु परेषामपि धर्मार्थं प्रेतालंकारनिर्हरणादिकं कुर्वतां भवति । 'प्रवे-  
शनादिकं' इत्यत्र 'आदि' शब्दोऽप्राह्लिकस्वाप्रतिलोमकमाभिप्रायः । तेषां  
च धर्मार्थनिर्हरणादौ प्रवृत्तानां तत्क्षणाच्छुद्धिमिच्छतां असविण्ढानां स्नानप्राणा-  
यामाभ्यामेव शुद्धिः । यथाह पराशरः—'अनाथं प्राह्णं प्रेतं ये वहन्ति द्विजा-  
तयः । पदे पदे यज्ञफलमात्रपूर्या लभन्ति ते ॥ न तेषामशुभं किंचित्पापं चा-  
शुभकर्मणि । जलावगाहनात्तेषां सद्यः शौचं विधीयते ॥' इति ॥ स्नेहादिना  
निर्हरणे तु मनुकी विशेषः ( ५।१०११०२ )—'असविण्ढं द्विजं प्रेतं विप्रो  
निर्हरय यन्धुवत् । विशुष्यति त्रिरात्रेण मातुराक्षांश्च बान्धवान् । यद्यत्रमत्ति  
तेषां तु दशाहेनैव शुष्यति । अनदन्नमह्वैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥' इति ।  
अत्रेयं व्यवस्था—यः स्नेहादिना शवनिर्हरणं कृत्वा तदीयमेवाह्नमश्नाति, तद्गृहे  
च वसति, तस्य दशाहेनैव शुद्धिः । यस्तु केवलं तद्गृहे वसति, न पुनरतद-  
न्नमश्नाति, तस्य त्रिरात्रम् ; यः पुनर्निर्हरणमात्रं करोति, न तद्गृहे वसति,  
न च तदन्नमश्नाति, तस्यैकाह इति—एतत्सजातीयविषयम् ; विजातीयविषये  
पुनर्यज्ञार्थं प्रेतं निर्हरति तज्जातिप्रयुक्तमाशौचं कार्यम्, यथाह गौतमः  
( १४।१९ )—'अवश्येद्वर्णः पूर्वं वर्णमुपसृशेत्पूर्वं वाऽवरं तत्र तच्छुषोक्तमा-  
शौचम्' इति । उपस्पर्शनं निर्हरणम् । विप्रस्य शुद्धनिर्हरणे मासाशौचम् ;  
शूद्रस्य तु त्रिप्रनिर्हरणे वृशाराश्रमिषेव शववदाशौचं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भाषा—शव को छूने वाले दूसरे ( सगोत्र बान्धवों से भिन्न ) व्यक्तियों  
को घर में प्रवेश करने तक की पूर्वोक्त क्रियाएँ करनी होती हैं, यदि वे तरकाल  
शुद्ध होने का विचार करें तो स्नान और प्राणायाम से ही उनकी शुद्धि हो  
जाती है ॥ १४ ॥

ब्रह्मचारिण प्रत्याह—

आचार्यपिष्टुपाध्यायास्त्रिहृत्यापि व्रती व्रती ।

सकटाक्षं च नाशनीयान्न च तैः सह संवसेत् ॥ १५ ॥

आचार्य उक्तलक्षण, माता च पिता च पितरौ, उपाध्याय पूर्वोक्त, एता-  
स्त्रिहृत्यापि व्रती ब्रह्मचारी ब्रह्मेव, न पुनरस्य व्रतभ्रश । 'कट'शब्देनाशौच  
रूपपते, तत्सहचरितमन्न सकटाक्षं तद्ब्रह्मचारी नाशनीयात्, न चाशौचिभि  
सह संवसेत् । एव वदता आचार्यादिव्यतिरिक्तप्रेतनिर्हरणे ब्रह्मचारिणो व्रतलोप  
द्वयर्थादुक्तं भवति । अत एव वसिष्ठेनोक्तम्—'ब्रह्मचारिण शक्वमिणो व्रतादि  
चृत्तिरग्यन्न मातापित्रो' इति ॥ १५ ॥

भाषा—आचार्य, मातापिता और उपाध्याय के शव श्मशान तक ले  
जाने पर भी ब्रह्मचारी व्रती ही रहता है ( उसका व्रत खण्डित नहीं होता ),  
किन्तु उसे आशौची का भक्षण नहीं ग्रहण करना चाहिए और न उनके साथ  
निवास करना चाहिए ॥ १५ ॥

आशौचिनां नियमविशेषमाह—

क्रीतलब्धाशाना भूमौ स्वपेयुस्ते पृथक् क्षितौ ।

विण्डयज्ञावृता देयं प्रेतायात्रं दिनत्रयम् ॥ १६ ॥

क्रीतमयाचितलब्ध वा अशन येषां ते क्रीतलब्धाशाना, भवेयुरिति  
शेष । क्रीतलब्धाशननियमात्तदलाभेऽनशनमर्थारिसिद्धं भवति । अत एव  
वसिष्ठ —'गृहा मजिस्था भघप्रस्तरे ष्वहमनरन-न आमीरन् क्रीतोत्प-नेन  
वा वतैरन्' इति । भघप्रस्तर आशौचिनां शयनासनार्थरतृणमय, प्रस्तर । ते  
च सविण्डा भूमायेव पृथक्पृथक् शयीरन्, न खट्वादी ॥ मनुनाऽप्यत्र विशेषो  
दर्शितः ( ५।७३ )—'अक्षारलवणाक्षा स्युर्निमज्जेयुश्च ते ष्वहम् । मांसाशन  
च नाशनीयु शयीरश्च पृथक् क्षितौ ॥' इति । तथा शीतमेनापि विशेष उक्त  
( १४।३० )—'अथ शयनासनानो ब्रह्मचारिणं शक्वमिण' इति । तथा  
विण्डवितृयज्ञप्रक्रियया प्राचीनाधानिस्वादिरूपया प्रेताय दिनत्रय विण्डरूपम-न  
तूर्णीं क्षितौ देयम् । यथाह मरीचि — प्रतविण्ड बहिर्दद्याद्दभंमन्प्रविवर्जितम् ।  
प्रागुदीच्यां चरु कृत्वा स्नात प्रयतमानस ॥' इति । दभंम-प्रविवर्जितत्वमनु-  
पनीतविषयम् । 'अस्मत्कृतानां भूमौ विण्ड दद्यात्सकृत्कृतानां कुशेषु' इति प्रचेत-  
स्मरणात् । तथा कर्तृनियमश्च गृह्यपरिशिष्टाद्विज्ञेय—'असगोत्र सगोत्रो वा  
यदि स्त्री यदि वा पुमान् । प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दद्याद् समापयेत् ॥' इति ।  
तथा द्रव्यविनियमश्च शुन पुच्छेन दर्शित— शालिना सफुभिर्वापि शाकैर्वाऽ

एव निर्वपेत् । प्रथमेऽहनि यद् द्रव्यं तदेव स्याद्दशाहिकम् ॥ तूर्णं प्रसेकं पुष्पं च द्वीपं धूपं तथैव च ॥' इति । पिण्डश्च पापाणे देव । 'भूमौ माव्यं पिण्डं पानीयं सुपले वा दधु' इति दशरुस्मरणात् । न च 'दधु' इति बहुवचनेनोदकदान-वत्सर्वं पिण्डदानं कार्यमित्याशङ्कनीयं, किंतु पुत्रैर्गैव कार्यम् । तदभावे प्रत्या-सन्नेन सपिण्डानामन्यतमेन, तदभावे मातृसपिण्डादिना कार्यम् ; 'पुत्राभावे सपिण्डाः मातृसपिण्डा निष्याश्च दधुस्तदभावे ऋषिगाश्चार्वा' इति गौतम-स्मरणात् । पुत्रवद्दधु पुनर्यथेनैव कार्यम् । सर्वैरनुमतिं कृत्वा जपेष्टेनैव तु पशुतम् । द्रव्येण चाविभक्तेन सर्वैरेव कृतं भवत् ॥' इति मरीचिस्मरणात् । पिण्डसख्यानियमश्च—प्राज्ञानस्य दश पिण्डाः, चरियस्य द्वादशैरिति । एवमा-शौचदिवससख्यया विष्णुनाऽभिहितम्—'यात्राशौचं प्रेतस्योदकं पिण्डमेकं च दधु' इति । तथा स्मृत्यन्तरेऽपि—'नवमिदिवसैर्दशाहकं पिण्डान्समाहितं । दशमं पिण्डमुत्सृज्य रात्रिज्ञेये शुचिर्भवेत् ॥' इति शुचिरवचनमपरैषु क्रियमा-णश्राद्धार्थप्राज्ञाननिम्नप्रणाभिप्रायण । योगीश्वरेण तु पिण्डग्रहदानमभिहितम् । अनयोश्च गुरुलघुकल्पयोर्दशदानविषयोः तदा व्याख्या विज्ञेया । छात्रा-परं शातातपीयो विशेष—'आशौचस्य तु हासेऽपि पिण्डान्दद्यादशौचं तु' इति ॥ त्रिरात्राशौचिणां पुनः पारस्करेण त्रिदशो दर्शितः—प्रथमे दिवसे देवाख्यं पिण्डं समाहितं द्वितीये चतुस्रो दद्यात् त्रिंशत्सचयनं तथा ॥ त्रींस्तु दद्यात्तृतीयेऽहं चत्वारि चालयत्तथा ॥' इति ॥ १६ ॥

भाषा—आशौची व्यक्ति खरीद कर या दिना मीने ही मिले हुए अन्न का भोजन करें और भूमि पर पृथक पृथक् सोवें तथा पृथ्वी पिण्ड विलुप्य ही विधि से ( द्वाहने कंधे पर पञ्चोपवीत करके ) तीन दिन प्रेत के लिए पिण्डदान के रूप में अन्न दें ॥ १६ ॥

जलमेकाहमाकाशे स्थाप्यं क्षीरं च मृन्मये ।

किञ्च, जलं क्षीरं च मृन्मये पात्रद्वये पृथक् पृथक् आकाशे तिवयादावेकाह-स्थावनीयम् । अत्र विशेषानुपादानप्रथमेऽहनि कार्यम् । तथा पारस्करव-चनात् । 'प्रेतात्र साहि' इत्युदकं स्थाप्यं 'पित्रं चेदम्' इति क्षीरम् ॥ तथास्थि-सचयनं च प्रथमादिदिनेषु कार्यम्, तथाह सर्वतः—प्रथमेऽहनि तृतीये वा सप्तमे-नवमे तथा । अस्थिसचयनं कार्यं दिने तद्गोत्रजे सह ॥' इति । क्वचिद् द्वितीये-अस्थिसचयनं इत्युक्तम् । वैष्णवे तु 'चतुर्थं दिवसेऽस्थिसचयनं कुर्यात् तेषां च गङ्गाभसि प्रक्षेप' इति । अतोऽन्यतमस्मिन्दिने स्वगृहोक्तविधिनाऽस्थिसचयन-कार्यम् अङ्गिरसा चात्र विशेषो दर्शितः—'अस्थिसचयने यागो देवानां परिकीर्तितः । प्रेतीभूतं तमुद्दिश्य यः शुचिर्न करोति चेत् ॥ देवतानां तु यजनं तं शपन्मयं

देवता ॥' देवताश्च त्र श्मशानवासिन्य तत्र पूर्वदग्ना 'श्मशानवासिनो देवा  
 शवानां परिकीर्तिता' इति तेनैवोक्तम् । अतस्ता-देवानचिरमृत च प्रेतमुद्दिश्य  
 धूपदीपादिभि विण्ढरूपेण चानेन तत्र पूजा कार्येत्युक्त भवति ॥ तथा वपन  
 च दशमेऽहनि कार्यम् 'दशमेऽहनि रुद्रास स्नान ग्रामाद्द्विभंवेत् । तत्र  
 स्याज्यानि वासासि केशशप्रशुनस्नानि च ॥' इति देवलस्मरणात् ॥ तथा  
 स्मृत्य-तरेऽपि—'द्वितीयेऽहनि कर्तव्यं चुरकर्म प्रथमतः । तृतीये पञ्चमे  
 चाऽपि सप्तमे चाऽप्रदानत ॥' इति ध्राद्धप्रदानादर्वागनियम इति यावत् ।  
 वपन च केपामित्याकाङ्क्षायामापस्तम्बेनोक्तम्— अनुभाविनां च परिवापनम्'  
 इति । अयमर्थ—शात्र दु खमनुभव-तीत्यनुभाविन सपिण्डा, तेषां चापि  
 दोषेण वपनमुत्तारवदसामि यपेद्यायामिदमेवोपतिष्ठते— अनुभाविनां च परि  
 वापनम्' इति । अनु पश्चाद्भवन्तीत्यनुभाविनोऽश्नवयसस्तेषां वपनमिति ।  
 अनुभाविन पुत्रा इति केचिन्म य ते, गङ्गायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरो-  
 र्मृती । आधानकाले सोमे च वपन सप्तसु स्मृतम् ॥' इति नियमदर्शनात् ॥

अद्युचिस्त्वेन सकलश्रौतस्मार्तकर्मधिकारनिवृत्तौ प्रसक्त्यां केषुचिदभ्यनुज्ञा  
 तार्थमाह—

**वैतानौपासना कार्या क्रियाश्च धृतिचोदनात् ॥ १७ ॥**

वितानोऽग्नीनां विस्तारस्तत्र भवा वैताना श्रेताग्निसाध्या अग्निहोत्रदशं  
 पूर्णमासाद्या क्रिया उच्यन्ते । प्रतिदिनमुपास्यत इत्युपासना गृह्याग्निस्तत्र  
 भवा औपासना सायप्रातर्होमक्रिया उच्य ते । सा वैतानौपासना वैदिश्य क्रिया  
 कार्या । कथं वैदिश्यत्वमिति चेत् —धृतिचोदनात् । तथा हि— यावज्जीव  
 मग्निहोत्र जुहुयात्' इत्यादिधृतिभिरग्निहोत्रादीनां चोदना स्पष्टैव । तथा  
 'अहरह स्वाहा कुर्यादद्याभावे कनचिदाकांक्षात्' इति धृत्यौपासनहोमोऽपि  
 चोद्यते । अत्र च श्रौतस्वविशेषणोपादानास्मार्तक्रियाणां दानादीनामनुष्ठान  
 शक्यते । अत एव वैपाद्यवादेनोक्तम् — 'स्मार्तकर्मपरित्यागा राहोर-यत्र सूतके ।  
 श्रौते कर्मणि तस्काए स्नात शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति श्रौताना च कार्यत्वा  
 मिधान नित्यनैमित्तिकाभिप्रायेण, यथाह पैठीनसि — नित्यानि विनिवर्तेरन्वै  
 तानवर्जं शालाग्नी चैके' इति । नित्यानि विनिवर्तेरन्' इत्यविशेषेण आवश्य  
 कानां नित्यनैमित्तिकानां निवृत्तौ प्रसक्त्यां 'वैतानवर्जम्' इत्यग्निप्रयसाध्या  
 वश्यकानां पर्युदास शालाग्नी चैक' इति गृह्याग्नी भवतानामप्यवश्यकानां  
 पापिक पर्युदास उक्त । अतस्तेष्वशीच नास्त्यव । काम्यानां पुन शौचा

१ भूतपूर्वदग्ना । २ गुरौ मृते । ३ वैतानो । ४ चोदना ।  
 ५ वपन्ते ।



भावादतनुष्ठानम् । मनुनाप्यनेनैवाभिप्रायेणोक्तम् ( ५८४ )—‘प्रयूहेग्ना-  
ग्निषु क्रिया’ इति । अग्निषु क्रिया न प्रयूहेदिति अनग्निताभ्यानां पञ्चमहा-  
यज्ञादीनां निवृत्तिः । अत एव सर्वतः—‘होम तत्र प्रकुर्वीत शुष्कान्नेन फलेन  
वा । पञ्चयज्ञविधानं तु न कुर्वान्मृत्युजन्मनो ॥’ इति वैश्वदेवस्याग्निताभ्य-  
त्येऽपि वचनाग्निवृत्तिः । ‘विप्रो दशाहमासीत् वैश्वदेवविवर्जित’ इति तेनैवो-  
क्तत्वात् ॥ ‘सूतके कर्मणा श्यागः सध्यादीना विधीयते’ इति यद्यपि सध्याया  
विनिवृत्तिं श्रूयते, तथाप्यञ्जलिप्रक्षेपादिकं कुर्यात् । ‘सूतके सावित्र्या चाञ्जलिं  
प्रक्षिप्य प्रदक्षिणं कृत्वा सूर्यं ध्यायन्तमस्कुर्यात्’ इति पैठीनसिस्मरणात् ।  
यद्यपि ‘वैतानौपासना कार्या’ इति सामान्येणोक्तं, तथाप्यन्येन कारयितव्यम् ।  
‘अन्यं पूतानि कुर्युः’ इति पैठीनसिस्मरणात् । गृहस्पतिनाप्युक्तम्—‘सूतके  
मृतके चैव अशक्तीं श्राद्धभोजने । प्रवासादिनिमित्तेषु हावदक्ष तु हावयेत् ॥’  
इति । तथा स्मार्तश्लेषेऽपि विण्ढवितृयश्रयणाकर्माश्रयुत्पादिकश्च नित्यहोम  
कार्यं एव, ‘सूतके तु समुत्पन्ने स्मार्तं कर्म कथं भवेत् । विण्ढयञ्च चरु होम-  
मसशोत्रेण कारयेत् ॥’ इति जातूकर्ण्यस्मरणात् । यद्यपि साग्ने कर्मण्यन्य-  
कर्तृत्व, तथापि स्वद्वयस्यागात्मकं प्रधानं स्वयं कुर्यात्, तस्यानन्यनिष्पा-  
द्यात् । अत एवोक्तम्—‘श्रौते कर्मणि तत्कालं स्नात् शुद्धिमवाप्नुयात्’  
इति, यत्पुनः—‘दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते’ इति होमपतिषेधः,  
स कार्याभिप्रायो वैश्वदेवाभिप्रायो वा स्वपरथापनीयः । तथा सूतकाग्निभोजन-  
मपि न कार्यम् ; ‘उभयत्र दत्ताहानि कुलस्यान्म न भुज्यते’ इति वमस्मरणात्  
उभयत्र जननमरणयोः । ‘दशाहानि’ इत्याशौचकालोपलक्षणम् । कुलस्य सूतक-  
युक्तस्य सञ्चन्यन्म असकुर्वैर्न भोक्तव्यं, सञ्चयानां पुनर्न दोषः, ‘सूतकं तु  
कुलस्यान्नमदोषं मनुरग्रवीत्’ इति तेनैवोक्तत्वात् । अथ च निषेधो दातृभोग्योर-  
न्यतरेण जनने मरणे वा ज्ञाते सति वेदितव्यः, ‘उभाभ्यामपरिज्ञाते सूतकं  
नैव दोषकृत् । एकेनापि परिज्ञाते भोक्तृदोषमुपावहेत् ॥ इति पट्टिश-मते  
दर्शनात् । तथा विवाहादिषु सूतकोत्पत्तेः प्राक् ब्राह्मणार्थं पृथक्कृतमन्नं भोक्तव्य-  
मेव, ‘विवाहोत्सवयज्ञेषु स्वन्तरा मृतसूतके । पूर्वसकल्पितार्थेषु न दोषः परि-  
कीर्तितः’ ॥ इति गृहस्पतिस्मरणात् । तथापरोऽपि विशेषः पट्टिश-मते  
वर्तितः—‘विवाहोत्सवयज्ञेषु स्वन्तरा मृतसूतके । परैर-न प्रदातव्यं भोक्तव्यं च  
द्विजोक्तम् ॥ भुज्यानेषु तु विप्रेषु स्वन्तरा मृतसूतके । अन्यगोहोदकाचान्ता  
सर्वे ते शुचयः स्मृता ॥’ इति । तथाशौचपरिग्रहश्लेषेऽपि केषुचिद्द्रव्येषु दोषा  
भावः । यथाह मरीचि—‘लवणे मधुमासे च पुष्पमूलफलेषु च । द्राकं  
काष्ठवृणेष्वस्तु क्षिपिर्षि पयस्तु च ॥ तिलौषधाग्निने चैव पक्षापके स्वयंग्रहः ।  
पण्येषु चैव सर्वेषु नाशौचं मृतसूतके ॥’ इति । एकं मद्यपमात मोदकादि-

अपक्ष तण्डुलादि 'स्वयंप्रह' इति स्वयमेव स्वाभ्यनुज्ञातो गृह्णीयादित्यर्थः ।  
 पकारकाम्यनुज्ञानमक्षसत्रप्रवृत्तविषयम्, 'अक्षसत्रप्रवृत्तानामाममक्षसगर्हितम् ।  
 सुवत्सा पक्षान्नमेतेषां त्रिरात्र तु पय विधेत् ॥' इत्यत्रिरस्मरणात् । अप्र  
 'पक्ष' शब्दो भष्यन्त्यतिरिक्तौदनादिविषयः ॥ शवससर्गनिमित्ताशीचे स्वन्निरसा  
 विशेष उक्त — 'आशीच यस्य ससर्गादापतेद्रूहमेधिनः । क्रियारतस्य न लुप्यन्ते  
 गृह्याणा च न तद्भवेत् ॥' इति — तदाशीच कवल गृहमेधिन एव, न पुनस्तद्रूहे  
 भवाना भार्यादीना तद्द्रव्याणां च भवेदित्यर्थः । अतिक्रान्ताशीचेऽप्ययमेवार्थ  
 स्मृत्यन्तरे दर्शित — अतिक्रान्ते दशाहे तु पश्चाज्जानाति चेद्रूही । त्रिरात्रं  
 सूतक तस्य न तद्द्रव्यस्य कर्हिचित् ॥' ( मनु ५।७६ ) इति ॥ १७ ॥

भाषा—एक दिन मिट्टी क ( दो ) पात्रों में पृथक् पृथक् जल और दूध  
 आकाश में ( शिक्पा सिकहर-पर ) रखना चाहिए । धुतिक के आदेश से  
 अग्निहोत्र आदि वैतानिक और पय गृह्याग्नि से किये जाने वाला उपासन  
 कर्म पय साथ प्रात होम क्रिया करनी चाहिए ॥ १७ ॥

पुत्रमाशीचिनो विधिप्रतिषेधरूपा-धर्मानभिधायाधुना आशीचनिमित्त  
 कालनियम चाह—

त्रिरात्रं दशरात्रं वा शवमाशीचमिष्यते ।

ऊनद्विवर्षं उभयो सूतकं मातुरेव हि ॥ १८ ॥

शवनिमित्त शावम् । 'सूतक'शब्देन च जननवाचिना तस्मिन्निमित्तमाशीच  
 लक्ष्यते । पृथ च वेदता जननमरणयोराशीचनिमित्तमुक्त भवति । तच्च जनन  
 मरणमुत्पन्नज्ञातमेष निमित्तम् । 'निर्देश ज्ञातिमरण श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च'  
 ( मनु ५।७७ ) इत्यादिलिङ्गदर्शनात् । तथा ( मनु ५।७५ )— विगत तु विदे-  
 दास्य ऋणुवाचो हनिर्देशम् । यच्छेषे दशरात्रस्य साधदेवाशुचिर्भवेत् ॥' इत्यादि  
 वाक्यारम्भसामर्थ्याच्च । उत्पत्तिमात्रावेष्टावे द्वाशीचस्य दशाहायाशीचकालनिय  
 मास्तत्प्रभृतिका एवेति अनिर्देशज्ञातिमरणध्रवणे दशरात्रशेषमेवाशीचमर्घारिम  
 द्धयतीति 'यच्छेषे दशरात्रस्य' इत्यनारम्भणीय स्यात् । तस्माज्ज्ञातमेव जनन  
 मरण च निमित्तम् । तद्योभवनिमित्तमप्याशीच त्रिरात्र दशरात्र चे यते  
 मन्वादिभिः ॥ अप्राशीचप्रकरणे अहर्ग्रहण रात्रिग्रहण चाहोरात्रोपलक्षणार्थम् ।  
 मन्वादिभिः 'इष्यते'इति वचन तदुक्तवपिण्डसमानोदकरूपविषयभेदप्रदर्शनार्थम् ॥  
 तथा हि ( मनु ५।५९ )— 'दशाह शवमाशीच सविष्टेषु विधीयते ।', 'जनन  
 उप्येकमेव श्वादिषुनो शुद्धिमिष्टताम् ॥' ( मनु ५।६१ ) 'जन्म-पेकोदकानां तु  
 त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते' । ( मनु ५।७१ ) 'तवपृथो विष्टदन्ति स्पृहात्पृथदा-

विग ॥' ( मनु ५।१४ ) इत्यतैर्वावर्दन्निराश्रदन्नाश्रयो समानोदकसपिण्ड-  
 विपयत्वेन व्यवस्था कृता । अतः सपिण्डानां रसमपुहुरावधिकानामविशयेन  
 दशराश्रम्, समानोदकानां त्रिराश्रमिति ॥ यापुा स्मृत्यन्तरेवचनम्—'चतुर्थे  
 दशराश्र स्मात्पिण्डना पुंसि पञ्चमे । पष्ठे चतुरहात्पुट्टिः सप्तमे स्वहरेव तु ॥'  
 इति, सद्भिगीतावाद्यादशीयम् । यद्यप्यविगीत तथापि मनुपुर्काङ्क्षपालम्भनव  
 स्ताकविद्विष्टत्वात्तापुष्टेयम् । 'अस्वार्थं लाकविद्विष्ट धर्म्यं मन्वाचरेत्तु, (भा० १।५६)  
 इति मनुस्मरणात् । नच सप्तमे प्रयासहे सपिण्ड एवाहा विमृष्टाष्टमादिपु  
 समानोदकपु व्यवहिति युक्तम् । एवमविशयेन सपिण्डाणामाशीचे प्राप्ते क्वचि-  
 क्षिपमार्थमाह । उनद्विवप सस्थित उभवारव मातापित्रर्दशराश्रमाशीच न  
 सर्वेषां सपिण्डानाम् । तेषां तु वक्ष्यति 'आ दन्तजन्म सद्य' ( प्रा० २३ )  
 इति । तथा च वैद्वय — गर्भस्थे प्रेते मातुर्दशाह, जात उभयो, कृत नागि  
 सोदशानां च' इति । अथवा अयमर्थ — उनद्विवप सस्थिते उभयोर्मातापि-  
 त्तरेव अस्पृश्यत्वलक्षणमाशीच न सपिण्डानाम् । तथा स्मृत्यन्तरे—'उनद्विवपे  
 प्रेते मातापित्रोरेव नतरेवाम्' इति अस्पृश्यत्वलक्षणमभिप्रेतम् । इतरस्य पुन  
 कर्मण्यनधिकारत्वलक्षणस्य सपिण्डेष्वपि 'आ दन्तजन्म सद्य' ( प्रा० २३ )  
 इत्यादिभिर्विहितत्वात् । अत्र दृष्टान्त — सूतक मातुरेव हीति । यथा सूतक  
 जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशीच मातुरेव केवल तथोनद्विवपेपरमे मातापि  
 त्तरेव अस्पृश्यत्वमिति । उनद्विवपे सपिण्डानामस्पृश्यत्व प्रतिषेधताऽ-यत्रास्पृश्य  
 त्वमभ्यनुज्ञात भवति । तथा च देवल — 'स्वाशीचकालाद्विलेव स्पर्शनं च  
 त्रिमागत । शूद्रवित्पुत्रविवाणा यथाशास्त्र पचोदितम् ॥' इति । एतन्नानुपनीत-  
 प्रयाणनिसिद्धे अभिष्ठा-ताशीचे च त्रिराश्रादौ यदित्यर्थम् । उपनीतविषयऽपि  
 त्तैवोक्तम्—'दशाहादित्रिमागेन कृते सचयने कृतात् । अहस्वर्शनमिच्छन्ति  
 वर्णानां तत्त्वदर्शिन ॥ त्रिचतु पञ्चदशभि स्मृत्या वर्णां प्रमण तु । भो याज्ञो  
 दशभिर्विप्र शेषा द्वित्रिपञ्चत्तरै ॥' इति । द्व्युत्तरैर्दशभि ष्युत्तरैर्द्वादशभि पञ्च-  
 त्तरे पञ्चदशभिरिति दृष्टव्यम् ॥ १८ ॥

भाषा—शच तत्र-धी (स्मृत्यु के कारण) आशीच तीन दिन या दस दिन  
 का होता है जो वर्ष से कम आयु के बालक का अशीच माता पिता को होता  
 है और सूतक ( जन्म के समय का आशीच ) केवल माता को ही  
 होता है ॥ १८ ॥

जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशीचमाह—

पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदस्मृदर्शनाद् ध्रुवम् ।  
 तदहर्नं प्रदुष्येत पूर्वेषां जन्मकारणात् ॥ १९ ॥

सूतकं जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणाशौचं पित्रोर्मातापित्रोरेव, न सर्वेषां सपिण्डानाम् । तच्चास्पृश्यत्वं मातुर्भुवं दशाहपर्यन्तं स्थिरमित्यर्थः । कुत ? तदस्यदर्शनात् तस्याः सबन्धित्वेनासृजो दर्शनात् । अत एव वसिष्ठ (४।२३) — 'नाशौचं विद्यते पुंसः ससर्गं चेन्न गच्छति । इज्जतग्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यते ॥' इति । पितुस्तु ध्रुव न भवति स्नानमात्रेणास्पृश्यत्वं निवर्तते, यथाऽऽह सर्वतः — 'जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते । माता शुद्धवेदशाहेन स्नानान्तु स्पर्शनं पितुः ॥' इति । 'माता शुद्धवेदशाहेन' इत्येतच्च सभ्य-वहारयोग्यतामात्रम् । अदृष्टार्थेषु पुनः कर्मसु पैठीनसिना विशेष उक्तः — 'सूतिका पुत्रवर्ती विशतिरात्रेण कर्माणि कारयेत् । मासेन स्त्रीजननीम्' इति । अङ्गिरसा च सपिण्डानामस्पृश्यत्वाभावः स्पष्टीकृतः — 'सूतके सूतिकावर्षं संस्पर्शो न निषिद्धयते । संस्पर्शं सूतिकायास्तु स्नानमेव विधीयते ॥' इति । यस्मिन् दिवसे कुमारजननं तदहर्नं प्रदुष्येत । तन्निमित्तदानाद्यधिकारापहारकृत्न भवतीत्यर्थः । यस्मात्सस्मिन्नहनि पूर्वेषां पित्रादीनां पुत्ररूपेण जन्म उत्पत्तिस्तस्मात्तदहर्नं प्रदुष्येत । तथा च बृहस्पत्याश्वहृष्येणोक्तम् — 'कुमारजन्मदिवसे विप्रैः कार्यं, प्रति-ग्रहः । हिरण्यभूगवाधाजवात्स शय्यासनादिषु ॥ तत्र सर्वं प्रतिग्राह्यं कृतान्नं न तु भक्षयेत् । भक्षयित्वा तु तन्मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति ॥ श्यासेनाप्यत्र विशेष उक्तः — 'सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः । तासां यागनिमित्तं तु शुचिर्जन्मनि कीर्तिता ॥ प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा । त्रिष्वेतेषु न कुर्वीत सूतकं पुत्रजन्मनि ॥' मार्कण्डेयेनाप्युक्तम् — 'रक्षणीया तथा षष्ठी निशा तत्र विशेषतः । रात्रौ जागरणं कार्यं जन्मदानं तथा बलि ॥ पुरुषाः शस्त्रहरताश्च नृस्यगीतैश्च योषिनः । रात्रौ जागरणं कुर्युर्दंशग्वां चैव सूतके ॥' इति ॥ १९ ॥

भाषा—जन्म का सूतक (अस्पृश्यत्व) माता पिता को ही होता है (सभी सपिण्डों को नहीं), उसमें भी माता का रुधिर दिखाई पड़ने से उसे निश्चित रूप से (दस दिन तक) सूतक होता है । जिस दिन बालक का जन्म होता है वह दिन दान आदि के लिए अष्टव नहीं होता, क्योंकि पूर्वपुरुष (पितर) ही पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं ॥ १९ ॥

नाशौचमध्ये पुनर्जनने मरणे वा जाते 'प्रतिनिमित्त नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायेन पुनर्दंशाहाद्याशौचमाशौ तदपवादमाह—

अन्तरा जन्ममरणे शेषाहोभिर्विशुद्ध्यति ।

वर्णदिवस्य वयोवस्थापेक्षया वा यस्य यावानाशौचकालस्तदन्तरा तस्मिन्स्य ततो न्यूनस्य वाऽऽशौचस्य निमित्तभूते जनने मरणे वा जाते पूर्वाशौचा वशिष्टैरेवाहोभिर्विशुद्ध्यति । न पुनः पश्चादुत्पन्नजननादिनिमित्तं पृथ-

वपृथगाशौचं कार्यम् । यदा पुनरक्षयद्गर्तमानाशौचाद्दीर्घकालमाशौचमन्तरं पतति तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः । यथाऽऽहोशनाः—‘स्वक्षयाशौचस्य मध्ये तु दीर्घाशौचं भवेद्यदि । न पूर्वेण विशुद्धिः स्यात्स्वकालेनैव शुद्ध्यति ॥’ इति । यमोऽप्याह—‘अर्घवृद्धिमदाशौचं पश्चिमेन समापयेत्’ इति । अत्र ‘चान्तरा जन्ममरणे’ इति यद्यप्यविशेषेणाभिहितं, तथापि न सूतकान्तर्वर्तिनः शावस्य पूर्वाशौचशेषेण शुद्धिः । यथाहाह्निराः—‘सूतके मृतकं चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूतकम् । तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं कुर्यात् सूतकम् ॥’ इति । तथा पट्टिशजन्मतेऽपि—‘शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकं तु यदा भवेत् । शावेन शुद्ध्यते सतिर्न सूतिः शावदोषिणी ॥’ इति । तस्मान्न सूतकान्तःपातिनः शावाशौचस्य पूर्वशेषेण शुद्धिः, किंतु शावान्तःपातिन एव सूतकस्य । तथा सजातीयान्तःपातिष्वेऽपि शावस्य कृच्छ्रापूर्वशेषेण शुद्धेरपवादः स्मृत्यन्तरे दर्शितः—‘मातर्यमे प्रमीतायामशुद्धौ त्रिपते पित्त । पितुः क्षेपेण शुद्धिः स्यान्मातुः कुर्यात्तु पश्चिमीम् ॥’ इति । अयमर्थः—मातरि ६३ मृतायां तस्मिन्निम्नाशौचमध्ये चाद् पितुरपरमः स्यात्तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः, किंतु पितुः प्रायणनिमित्ताशौचकालेनैव शुद्धिः कार्या । तथा पितुः प्रायणनिमित्ताशौचमध्ये मातरि स्वर्थायामपि न पूर्वशेषमात्राच्छुद्धिः किंतु पूर्वाशौचं समाप्योपरि पश्चिमीं क्षिपेत् इति ॥ यथाऽऽशौचसत्रिपातकाल-विशेषकृतोऽप्यपवादो गौतमेनोक्तः ( १४।७,८ )—‘रात्रिशेषे सति द्वाभ्यां प्रभाते तिसृभिः’ इति । अयमर्थः—रात्रिमात्रावशिष्टे पूर्वाशौचे यथाशौचान्तरं सक्षिपतेत्तर्हि पूर्वाशौचं समाप्यानन्तरं द्वाभ्यां रात्रिभ्यां शुद्धिः । प्रभाते पुनस्तस्या रात्रेः पश्चिमे यामे जननाद्याशौचान्तरसत्रिपाते सति तिसृभी रात्रिभिः शुद्धिः, न पुनस्तप्लेपमात्रेण । शातातपेनाप्युक्तम्—‘रात्रिशेषे द्वयहाच्छुद्धिर्धामतेषु शुचिर्यहात्’ इति । प्रेतक्रिया पुनः—‘सूतकसत्रिपातेऽपि न निघर्तत’ इति तेनैवोक्तम्—‘अन्तर्दशादे जननापश्चात्स्वामरणं यदि । प्रेतमुद्दिश्य कर्तव्यं पिण्डदानं स्वयम्भुभिः ॥ प्रारब्धे प्रेतपिण्डे तु मध्ये चेज्जननं भवेत् । तथैवाशौचपिण्डांस्तु शेषान्दद्यात्तथाविधि ॥’ इति । तथा शावाशौचयोः सत्रिपातेऽपि प्रेतकृत्यं कार्यम्; तुल्यव्याख्यात् । तथा जातकर्मादिकमपि पुत्रजन्मनिमित्तकमाशौचान्तरसत्रिपातेऽपि कार्यमेव । यथाह प्रजापतिः—‘आशौचे तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत् । कर्तुस्तारकालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुद्ध्यति ॥’ इति ॥

पूर्णमसत्रकालजननाशौचमभिधायापुना अप्राप्तकालगर्भानःसर्गानिमित्तमाशौचमाह—

गर्भत्राये मासतुल्या निशाः शुद्धेस्तु कारणम् ॥ २० ॥

स्वतिर्यद्यपि लोके द्रवद्रव्यकर्तृके परिस्वप्ने प्रयुज्यते तथाऽप्यत्र द्रवाद्वद्रव्यसाधारणरूपेऽथ पतने वर्तते । कुत ? द्रवावरय प्रथममास एव सम्भवात्तत्र च 'मास इत्या निशा' इति बहुवचनानुपपत्ते । गर्भस्त्रावे यावन्तो गर्भग्रहणमासास्तस्मत्सप्तयाका निशा शुद्धे कारणम् । एतच्च स्त्रिया एव, 'गर्भस्त्रावे मासतुल्या रात्रय स्त्रीणां, स्नानमात्रमेव पुरुषस्य' इति बृहवसिष्ठस्मरणात् । यत्पुनर्गौतमेन 'इयहं च' (१४।१८) इति त्रिरात्रमुक्तं,—तस्मात्प्रयादर्वाग्वेदितव्यम्, 'गर्भसु या यथामासमचिरे सूक्ष्मे त्रय । राजन्ये तु चतुरात्र वैश्ये पञ्चाहमेव तु ॥ अष्टाहेन तु शूद्रस्य शुद्धिरेषा प्रकातिता ॥' इति मरीचिस्मरणात् । अचिरे मासत्रयादर्वाक् गर्भस्त्रावे उक्तमे ग्राह्यणजाती त्रिरात्रमित्यर्थ । एतच्च पण्मासपर्यन्ते द्रष्टव्यम् । सप्तमादिषु पुन परिपूर्णमेव प्रसवाशौच कार्यम्, तत्र परिपूर्णाङ्गगर्भस्य जीवता निर्गमदर्शनात् । तत्र च लोके 'प्रसव'शब्दप्रयोगात्, 'पण्मासाभ्यन्तरे यावद्गर्भस्त्रावो भवेद्यदा । तदा माससमैस्तासं दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अत ऊर्ध्वं स्वज्ञात्युक्त तासामाशौचमिष्यते । सद्य शौच सपिण्डाना गर्भस्य पतने सति ॥' इति स्मरणात् ॥ एतच्च सपिण्डाना सद्य शौचविधानं द्रवभूतगर्भपतने वेदितव्यम् । यापुनर्बसिष्ठवचनम् ( ४।३४ )—'ऊनद्विवायिकं प्रेते गर्भस्य पतने च सपिण्डानां त्रिरात्रम्' इति,—तत्पञ्चमपष्ठयो कठिनगर्भपतनविषयम्, 'आचतुर्थाद्भवेःस्त्राव पात पञ्चमपष्ठयो । अत ऊर्ध्वं प्रसूति स्याद्दशाह सूतक भवेत् ॥ स्त्रावे मातुस्त्रिरात्र स्यात्सपिण्डाशौचवर्जनम् । पाते मातुर्यथामास वित्रादीनां दिनत्रयम् ॥' इति मरीचिस्मरणात् ॥ सप्तममासप्रभृति मृतजनने जातमृते वा सपिण्डानां जनननिमित्त परिपूर्णमाशौचम्, 'जातमृते मृतजाते वा सपिण्डानां दशाहम्' इति हारीतस्मरणात्, 'अत सूतके चेदोत्थानादाशौच सूतकवत्' इति पारस्करवचनाच्च । आ उत्थानादासूतिकाया उत्था नाद्दशाहमिति यावत् । सूतकवदिति शिशूपरमनिमित्तोदकदानरहितमित्यर्थ । बृहन्मनुरपि—दशाहाभ्यन्तरे चाले प्रमीते तस्य वा धवै । शावाशौच न कर्तव्य सूत्याशौच विधीयते ॥' इति । तथा च स्मृत्यन्तरोऽपि—'अतर्दशाहोपरतस्य सूतिकाहोमिरेवाशौचम्' इति । एवमादिवचननिषेधपर्यालोचनया सपिण्डानां जनननिमित्ताशौचसक्तोचो नारतीति गम्यते । यत्पुनर्बृहद्विष्णुवचनम्—'जाते मृते मृतजाते वा कुलस्य सद्य शौचम्' इति,—तच्छिशूपरमनिमित्तस्याशौचस्य स्नानाच्छुद्धिप्रतिपादनपर न प्रसवनिमित्तस्य । तथा च पारस्करः—'गर्भे यदि विपत्ति स्याद्दशाह सूतक भवेत् ।' सपिण्डानां प्रसवनिमित्तस्य विद्यमानत्वात् ।—'जीवज्ञातो यदि प्रेयास्तद्य एव विशुद्ध्यति' इति प्रेताशौचाभिप्रायम् । तथा च

इदं चाशौचमाहिताग्नेरुपरमे संस्कारदिवसप्रभृति कर्तव्यम् । अनाहि-  
त्ताग्नेस्तु मरणदिवसप्रभृति संचयनं तूभयोरिति संस्कारदिवसप्रभृतीति विवेच-  
नीयम् । यथाहाद्विराः—'अनग्निमत उक्त्वाग्नेः साग्नेः संस्कारकर्मणः । शुद्धिः  
संचयनं दाहाभृताहस्तु यथाविधि ॥' इति । 'साग्नेः संस्कारकर्मणः' इति  
श्रवणादाहिताग्नी पितरि देशान्तरमृते तत्पुत्रादीनामासंस्कारासंब्यादिकर्मलोपो  
नारतीत्यनुसंधेयम् । तथा च पैडीनसिः—'अनग्निमत उक्त्वाग्नेराशौचं हि  
द्विजानिषु । दाहादग्निमतो विद्याद्विदेशश्चे मृते सति ॥' इति ॥ २० ॥

भाषा—एक आशौच के भीतर ही जन्म या मरण आ जावे तो उसके  
बाद प्रथम आशौच के जितने दिन शेष हों उतने ही दिनों में शुद्धि होती है ।  
गर्भस्त्राव होने पर जितने मास का गर्भ रहा हो उतने ही दिन में शुद्धि  
होती है ॥ २० ॥

सपिण्डरवादिना दशाहादिमासौ क्वचिन्मृत्युविशेषेणापवादमाह—

'हतानां नृपगोविप्रैरन्वक्षं चारमघातिनाम् ।

नृपोऽभिषिक्तः क्षत्रियादिः 'गो'ग्रहणं ऋद्धिद्वंद्व्यादितिरश्वासुपलक्षणार्थम् ,  
'विप्र'ग्रहणमन्वजोपलक्षणम् ; एतैर्हतानां संबन्धिनो ये सपिण्डारतेषाम् ,  
विपोद्गन्धनादिभिः बुद्धिपूर्वनामानं ये व्यापादयन्ति ते आरमघातिनः ; 'आरम-  
घाति'ग्रहणं 'यास्यपुत्र्यनाश्रिता' ( मा० ९-११ ) इत्येकयोगोपात्तपतितपा-  
श्रोपलक्षणार्थम् । तत्संबन्धिनो चान्वक्षमनुगतमधमन्वक्षं सद्यः शौचमित्यर्थः ।  
तत्संबन्धिनो च सान्वक्ष यावद्दर्शनमाशौचं न पुनर्दशाहादिकम् । तथा च  
गीतमः ( १४।९—१२ )—'गोमाहाणहतानामन्वक्षं राजक्रीडाच्छासुद्धे प्रायोऽ-  
नाशकस्याग्निविपोदकोद्गन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्' इति । 'क्लोध'ग्रहणं प्रमादव्या-  
पादितनिराचारार्थम् । 'अयुद्ध'ग्रहणं युद्धहतरथैकाहमाशौचमस्तीति ज्ञापनार्थम् ;  
'प्राज्ञगार्थं विप्लानां घोषितां गोप्रहेऽपि च । आहवेऽपि हतानां च एकरात्रम-  
शौचकम् ॥' इति स्मरणात् । एतच्च युद्धकालक्षतेनैव कालान्तरविपत्तरथ ।  
समरमूर्धनि हतरथ पुनः सद्यः शौचम् । यथाह मनुः ( ५।९८ )—  
'उद्यतैराहवे शस्यैः चप्रपमंहतरथ च । सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति  
स्थितिः ॥' इति ॥—

ज्ञातस्यैव जननादेशशौचनिमित्तत्वाज्जन्मदिनादुत्तरकालेऽपि शाते दशाहा-  
दिप्राज्ञावपवादमाह—

प्रोपिते कालशेषः स्यात्पूर्णे दर्शोदकं शुचिः ॥ २१ ॥

१. घातिनीति । २ विप्रगोनृपहतानामन्वक्षं । ३. शौचमित्यर्थः  
न पुनः । ४. स्यादशेषे इत्यहमेव च ।

प्रोपिते देशान्तरस्य यत्रस्थेन प्रथमदिवस एव सपिण्डजननादिव न ज्ञापते  
 तस्मिन्सपिण्डे कालस्य दशाहाद्यवच्छिन्नस्य य दोषोऽवशिष्टकाल स एव शुद्धि  
 हेतुर्भवति । पूर्णे पुनराशीचकाले दशाहादिके प्रेताद्योदक दद्यात् शुद्धिर्भवति ।  
 उदकदानस्य भ्रानपूर्वकरास्त्रारोदक दद्यात् शुद्धिर्भवति । तदुक्त शुद्धिर्भवति ।  
 तदुक्त मनुना ( ५।७७ )—‘निर्दशं ज्ञातिमरणं ध्रुवा पुत्रस्य जन्म च ।  
 सवामा जलमाप्नुव्य शुद्धो भवति मानवः ॥’ इति । ‘पूर्णे दशोदक शुचि’  
 इति प्रेतोदकदानसहचरितस्याशीचकालस्य शुद्धिहेतुत्वविधानात् । जन्म-भवति  
 ज्ञा-ताशीच सपिण्डानां नास्तीति गम्यते । पितुस्तु निर्दशोऽपि जनने स्नान-  
 मस्येव, ‘ध्रुवा पुत्रस्य जन्म च’ इति वचनात् । एतच्च ‘पुत्रं ग्रहणं जन्मनि  
 सपिण्डानामतिक्रान्ताशीच नास्तीति ज्ञापकम् । अन्यथा ‘निर्दशं ज्ञातिमरणं  
 ध्रुवा जन्म च निर्दशम्’ इत्येवावश्यम् । न चाकम् । तथा च देवल —‘नाशुद्धि  
 प्रसवाशौचे स्थतीतेषु दिनेष्वपि’ इति । तस्मादिपत्तायेवातिक्रान्ताशीचमिति  
 स्थितम् ॥ केचिद्-वधेम श्लोक पठन्ति—‘प्रोपिते कालशेष इत्यादौ शेषे इहमव-  
 शु । सर्वेषां वासरे पूर्णे प्रेते दशोदक शुचि ॥’ इति । ‘प्रोपिते प्रेते सर्वेषां  
 ब्राह्मणत्रियादीनामविशेषेण कालशेष शुद्धिरेतुः । अग्रे पुनरतिक्रान्ते  
 दशाहादौ सर्वेषां इहमेवाशीचम् । सवासरे पूर्णे यद्दि प्रोपितप्रायणमवगत  
 स्यात्तदा सर्वो ब्राह्मणादि स्नातोदक दद्यात् शुचि स्यात् । तथा च मनु  
 ( ५।७६ )—‘सवासरे स्थतीते तु स्पृष्टवैवापो विदुदयति’ इति । अथ च इहो  
 दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादूर्ध्वं द्रष्टव्यम् । पूर्वोक्तं तु सद्यः शौचं नवममासादूर्ध्वंमर्वा  
 षसवासराद् द्रष्टव्यम् । यापुनर्वासिष्ठ वचनम्—‘ऊर्ध्वं दशाहादूर्ध्वैकराश्रम’  
 इति,—तदूर्ध्वं पणमासेभ्यो यावन्नवमम् । यद्यपि गौतमवचनम् ( १।१।९ )—  
 ‘ध्रुवा चोर्ध्वं दशम्या पक्षिणी’ इति, तस्मात्त्रयादूर्ध्वंमर्वाद्रष्टव्यम् । तथा च  
 पृथगपिष्ठ—‘मासत्रये त्रिरात्र इत्यापणमासे पक्षिणी तथा । अहस्तु नवमाद्  
 वागूर्ध्वं स्नानेन शुद्धयति ॥’ इति । एतच्च मातापितृभ्यो निरिक्तविषयम् ।  
 ‘पितरौ च-मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः । ध्रुवा तद्दिनमारभ्य दशाह  
 सूतकी भवेत् ॥’ इति पैटोनसिस्मरणात् । तथा च स्मृत्यन्तरेऽपि—‘महागुण  
 निपाते तु भार्गवस्योपवासिना । अतीतऽन्तरेऽपि कर्तव्यं प्रेतकार्यं यथाविधि ॥’  
 इति । सवासरादूर्ध्वमपि प्रेतकार्यमाशीचोदकदानादियं कार्यं, न पुन स्नानमा  
 प्राप्नुदिति विषयः । पितृवत्त्वामपि मातृवत्तिरिक्तार्थां स्मृत्यन्तरे विनापो  
 दक्षितम् — विनुपश्यामयेनारवां मातृवत् द्विप्रोक्षतम् । सवासरे स्थतीतऽपि त्रिरात्र  
 मनुभिर्भवेत् ॥’ इति । यस्तु नद्यादिभ्यवहिते देशान्तरे मृतस्य सपिण्डानां





चाशीचकल्पा दर्शिता। तेषां लोके समाचाराभावाज्जातीय व्यवस्थाप्रदर्शनमुपयो-  
गीति नात्र व्यवस्था प्रदर्शयते। यदा पुनर्माह्वणादीनां चत्रियादयः सपिण्डा भव-  
न्ति तदा हारीताशुक्लाशौचकल्पोऽनुसरणीयः।—‘दशाहाच्छुद्धयते विप्रो जन्म-  
हानौ स्वयोनियु। पद्भित्तिभिरथैकेन चत्रविट्शूद्रयोनियु ॥’ इति। विष्णुरप्याह  
( २२।२३, २४ )—‘चत्रियस्य विट्शूद्रेषु सपिण्डेषु पद्भ्यात्रिरात्रान्भ्यां वैश्यस्य  
शूद्रे सपिण्डे पद्भ्यान्नेण शुद्धिर्हीनवर्णानां तूहृदेषु सपिण्डेषु जातेषु मृतेषु वा तदाऽऽ-  
शौचव्यपगमे शुद्धिः’ ( २२।२१ ) इति बौधायनेन स्वविशेषेण दशाह इत्युक्तम्—  
‘चत्रविट्शूद्रजातीया ये स्युर्विप्रस्य यान्धवा । तेषामाशौचे विप्रस्य दशाहाच्छु-  
द्धिरप्यते ॥’ इति। अनयोश्च पशयोरापदानापद्विषयत्वेन व्यवस्था। दास्यादीनां  
तु स्वामिशौचेन दृश्यत्वं, कर्मानधिकारत्वं तु मासावधिरेव। तदाहाद्विरा—  
‘दासी दासश्च सर्वो वै यस्य वर्णस्य यो भवेत् । तद्वर्णस्य भवेच्छौचदश्या मास-  
स्तु सूतकम् ॥’ इति प्रतिलोभानां त्वाशौचाभाव एव, ‘प्रतिलोभा धर्महीना’  
इति मनुस्मरणात्। केवल मृती प्रसवे च मलापकर्षणार्थं मूत्रपुरीषोत्सर्गवत्  
शौच भवत्येव ॥ २२ ॥

भाषा—( सपिण्ड व्यक्ति के जन्म पृथ मृत्यु पर ) चत्रिय को बारह दिन  
का, वैश्य को पन्द्रह दिन का और शूद्र को तीस दिन का आशौच होता है,  
किन्तु न्यायवर्ती ( द्विज की सेवा में रहने वाले ) शूद्र को पन्द्रह दिन का ही  
आशौच होता है ॥ २२ ॥

व्यवस्थाविशेषादपि दशाहाद्याशौचस्यापवादमाह—

आ दन्तजन्मन सद्य आ चूडाग्नैशिकी स्मृता ।

त्रिरात्रमा व्रतादेशाहशरात्रमत परम् ॥ २३ ॥

यावता कालेन दन्तानामुत्पत्तिरस्मिन्काले अतीतस्य बालस्य तस्य च  
न्धिनां सद्य शौच चूडाकरणादर्वाहमृत्तस्य सवन्धिना ग्नेशिकी निशाया भवा  
अहोरात्रव्यापि-यशुद्धिः । व्रतादेश उपनयन ततोऽर्वाक् चूडापाक्षोर्षमती-  
त्तस्य अहमशुद्धिः । अत्र च ‘आ दन्तजन्मन सद्य’ इति वक्ष्यविशेषेण  
भिधान तथाप्यग्निस्वरकाराभावे द्रष्टव्यम्, ‘अदन्तजाते बाले प्रेते सद्य एव  
शुद्धिर्नास्याग्निस्वरकारो नोदनक्रिया’ इति वैष्णवे अग्निस्वरकाररहितस्य सद्य  
शौचविधानात् । सति स्वग्निस्वरकारे ‘अहश्यदत्तक-वासु बालेषु च’ ( प्रा० २४ )  
इति वक्ष्यमाण एकाह । तथा च यम—‘अदन्तजाते तनये शिशौ गर्भशुते  
तथा । सपिण्डानां तु सर्वेषामहोरात्रमशौचकम् ॥’ इति । नामकरणाप्राक्सद्य  
शौचमेव नियतम् । ‘माह्वनामकरणासद्यशुद्धिः’ इति शतुस्मरणात् । ‘चूडाकर्म

च प्रथमे तृतीये वा वर्षे रगर्थे—'चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं धुतिषोदनात् ॥' इति स्मरणात् । ततश्च दन्तजननादूर्ध्वं प्रथमवार्षिकचूडाकर्मपर्यन्तमेकाहः । तत्र स्वकृतचूडस्य दन्तजनने सत्यपि त्रिवर्षं यावदेकाह एव । तथा च विष्णुः ( २२।१९ )—'दन्तजातेऽप्यकृतचूडेऽहोरात्रेण शुद्धिः' इति । तत ऊर्ध्वं प्रागुपनायात् स्वहः । यस्तु मनुवचनम् ( ५।१७ )—'नृणामकृतचूडानामशुद्धिर्नैशिकी रमृता । निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिराश्राप्तुदिरिष्यते ॥' इति । तस्याप्ययमेव त्रिवर्षः । यस्तु त्रिवर्षमधिकृत्य तेनैषोक्तम् ( ५।१९ )—'अरण्ये काष्ठवपरावाः त्रिवेषुस्वहमेव तु' इति । यच्च यतिष्ठवचनम् ( ४।७५ )—'ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने वा सपिण्डानां त्रिराश्रम' इति,—तत्संबन्धस्वरचूडाभिप्रायेण । यस्तु अद्भिर्यवचनम्—'षष्ठ्यकृतचूडो वै जातदन्तश्च संस्थितः । तथापि द्वादशित्वेनमाशौचं स्वहमाचरेत् ॥' इति,—तद्द्वैपत्रयादूर्ध्वं कुलधर्मापेक्षया चूडोक्तं येदित्ययम् ; 'विप्रे न्यूनत्रिवर्षे तु मृते शुद्धिस्तु नैशिकी' इति तेनैवाभिहितत्वात् । नचापमेकाहो दन्तजननाभाय इति चाङ्गीयम् । नहि न्यूनत्रिवर्षस्य दन्तानुपपत्तिः संभवति । तथा सत्यपि दन्तजनने अकृतचूडस्यैकाहं यदा विष्णुवचनेन विरोधश्च दुष्परिहरः स्यात् । तस्मात्प्राचीनैव व्याख्या उवाचसी । यस्तु कश्यपवचनम्—'षालानामदन्तजातानां त्रिरात्रेण शुद्धिः' इति,—तस्मात्तापि नृविषयम् ; 'निरस्य तु पुमाश्चक्रमुपैस्पर्शाद्भिश्च शुद्धयति । वैजिकादभिसंबन्धादनुकृत्यादथं स्वहम् ॥' इति अथजनकसंबन्धोपाधिकतया त्रिराश्रस्मरणात् । ततश्चायमर्थः—'प्राह्णनामकरणाक्षयः शौचं तदूर्ध्वं दन्तजननाद्वाग्निनसंस्कारक्रियायां एकाहः । इतरथा सद्यः शौचम् । जातदन्तस्य च प्रथमवार्षिकाचीलाद्वागैकाहः । प्रथमवर्षादूर्ध्वं त्रिवर्षपर्यन्तं कृतचूडस्य स्वहम् । इतरस्य श्लेकाहः । वर्षत्रयादूर्ध्वमकृतचूडस्यापि स्वहम् । उपनयनादूर्ध्वं सर्वेषां माहृणादीनां दशरात्रादिकमिति ॥ २३ ॥

भाषा—द्वौत निकलने से पहले ही ( बालक की ) मृत्यु होने पर तत्काल शुद्धि होती है; चूडाकरणसंस्कार होने से पहले मृत्यु होने पर एक दिनरात आशौच रहता है; उसके उपरान्त वतवन्ध होने के पहले ( मृत्यु होने पर ) तीन दिन रात और उसके बाद ( वतवन्ध हो चुकने के बाद ) मृत्यु हो तो दश दिन आशौच रहता है ॥ २३ ॥

इदानीं स्त्रीषु च वयोवस्थाविशेषेणापवादमाह—

अद्वस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशेषनम् ।

१. त्रिवेत् तत् स्वहमेव । २. कुलवर्णधर्मापेक्षया । ३. सुपरस्तरय इति ।

अदत्ता अपरिणीता या कन्यास्तासु कृतचूडासु वाग्दानात्प्राग्दोरात् विशेषेण शुद्धिकारण सपिण्डानाम्, सापिण्डव्य च कन्याना त्रिपुरपर्यन्तमेव । 'अप्रक्षानां तु स्त्रीणां त्रिपुरपी विशायते' ( ४१८ ) इति वसिष्ठस्मरणात् । चालेषु चानुत्पन्नदन्तेषु अग्निस्कारे सत्येकाहो विशेषनम् । अकृतचूडायाम् तु कन्याया मद्य शौचम् । 'अचूडाया तु कन्यार्या सद्य शौच विधीयते' इत्या पक्षस्मरणात् । वाग्दानाद्पूर्वं तु सस्कारा प्रावपतिपक्षे पितृपक्षे च त्रिरात्रमेव । यथाऽऽह मनु ( ५।७२ ) 'स्त्रीणामसकृताना तु ष्यहाच्छुद्धयन्ति वान्धवा । यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्धयन्ति तु सनाभय ॥' इति । या-धवा पतिपक्ष्यास्त्रिरा-त्रेण शुद्धयन्ति । सनाभयस्तु पितृपक्ष्या सपिण्डा यथोक्तेनैव कल्पेन 'निर्वृत्तचूड-कानाम्' इत्यादिनोक्तेन त्रिरात्ररूपेण, न पुनर्दशरात्ररूपेण, विवाहात्प्राक् तस्या युक्तत्वात् । अत एव मरीचि—'वारिपूर्वं प्रदत्ता तु या नैव प्रतिपादिता । असकृतास्तु सा ज्ञेया त्रिरात्रमुभयो स्मृतम् ॥' इति । उभयो पतिपितृपक्षयो । विवाहाद्पूर्वं तु विष्णुना विशेषो दर्शित ( २१।३३, ३४ )—'सकृतास्तु स्त्रीषु नाशौच पितृपक्षे, सप्तसवमरणे चेतिपितृगृहे स्थार्ता तदैकरात्र त्रिरात्र च' इति । तत्र प्रसवे एकाहः प्राथमे त्रिरात्रमिति व्यवस्था । इदं च वयोवस्थाशौच सर्ववर्णसाधारणम् । 'चत्रस्य द्वादशाहानि' ( प्रा० २२ ) इति तद्वर्णविशेषोपादा-नेनाभिधानात् । अत एव मनुना अनुपात्तवर्णविशेषाशौचविधे साधारण्यप्रति-पादनार्थं चानुवर्णार्थिकारे सत्यपि पुन 'चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वश' इत्युक्तम् । तथाङ्गिरसाप्युक्तम्—'अविशेषेण वर्णानामर्वावस्कारकर्मणः । त्रिरा-त्रास्तु भवेच्छुद्धि क-यास्वहा विधीयते ॥' इति व्याघ्रपादवचनं च 'तुष्य वयमि सर्वेषाम्' इति प्राक् प्रदर्शितम् । अतो यथा 'विण्डयशावृता देवम्' ( प्रा० १६ ) इत्यादिः पिण्डोदकदानविधि सर्ववर्णसाधारणः । यथा वा समानोदकाशौचविधि 'अन्तरा जन्ममरणे' ( प्रा० २० ) इति सनिपात्ताशौचविधिश्च यद्भव 'गर्भस्त्रावे मासतुष्या निशा' ( प्रा० २० ) इति स्त्रावाशौचविधि, 'प्रोषिते कालक्षेप स्यादक्षेपे ष्यहमेव तु ( प्रा० २१ ) इति विदेशस्याशौचविधिश्च, यथा वा गुर्वाद्या शौचविधि सर्ववर्णसाधारण तथा वयोवस्थानिमित्तमस्याशौच सर्ववर्णसाधा-रणमेव अविमुमर्हन्ति । अत एव 'यत्रे दह्मि कृते शौके वैश्ये नवमिहस्पते । ऊर्ध्वं त्रिवर्षास्तूद्रे तु द्वादशाहो विधीयते ॥' तथा 'यत्र त्रिरात्र विप्रानामाशौच सप्रहरयते । तत्र गृहे द्वादशाहं यन्नय चत्रवैश्ययो ॥' इत्यादीनि ऋष्यश्रद्धादि-वचनानि विगीतावबुद्ध्याऽनाद्रियमाणैर्धरिभारविधिरूपमेधातिथिप्रश्रुतिमिराचार्य-व्यमेव साधारण. पक्षोऽङ्गीकृत । अविगीतानि चार्तानातं च त्रिवादिविषयतया व्याख्येयानि ॥

गुर्वादित्वतिदेशमाह—

गुर्घन्तेवास्यनूचानमातुलधोत्रियेषु च ॥ २४ ॥

गुरुरुपाध्याय, अन्तेवासी शिष्य, अनूचानोऽङ्गानां प्रवक्ता, मातुल'ग्रहणे  
नात्मबन्धवो मातृबन्धव पितृबन्धवश्च योनिस्वयंदा उपलभ्यन्ते । ते च 'पत्नी-  
दुहितर' ( ४५० १३५ ) इत्यत्र दर्शिता । धोत्रिय एकदासाध्यायी, 'पूर्वा  
दासाध्यायीश्च धोत्रिय' इति षीघ्रायनरमरणात् । पशुपरतेष्वहोरात्रमाशौचम् ।  
यस्तु मुष्यो गुरुं पिता तदुपरमे सपिण्डत्वाद्दाहादेव । यस्तु पिता  
पुत्रानुत्पाद्य सस्कृत्य वेदानध्याप्य वेदार्थं ब्राह्मयित्वा वृत्तिं च विदधाति, तस्य  
महागुरुत्वात्तदुपरमे द्वादशरात्र वा । 'महागुरुषु दानाभ्यपने वर्जयेरन्' इति  
आश्रलायनेनोक्त द्रष्टव्यम् । आचार्योपरमे तु त्रिरात्रमेव । यथाह मनु  
( ५।८० )— 'त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति । तस्य पुत्रे च पत्न्यां  
च दिवारात्रमिति स्थिति ॥' इति । यदा त्वाचार्यादेर स्वर्गं करोति तदा  
दशरात्रमाशौचम् ( ५।६५ )— 'गुरो म्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेध समाचरेत् ।  
म्रेताहारै सम तत्र दशाहेन विशुद्ध्यति ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् । धोत्रि-  
यस्य तु समानग्रामीणस्यैतदाशौचम्, 'एवाह समग्रचारिणि समानग्रामीणे  
च धोत्रिये' ( ४।२६, २७ ) इत्याश्रलायनरमरणात् । एकाचार्योपनीत समग्र-  
चारी । एतच्चासनिधाने द्रष्टव्यम् । सनिहिते तु शिष्यादी त्रिरात्रादि ।  
यथाह मनु ( ५।८१ )— 'धोत्रिये त्वपसपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।  
मातुले पत्निर्णी रात्रिं शिष्यैर्विद्वान्धवेषु च ॥' इति । उपसपन्ने मैत्री  
प्रातिवेशरथादिना<sup>१</sup> सवद्धे शील्युक्ते वा । 'मातुल ग्रहण मातृबन्धवादेरुपल-  
क्षणार्थम् । बन्धवा इत्यात्मबन्धवो मातृबन्धव पितृबन्धवश्चोच्यन्ते । तथा च  
बृहस्पति — 'यह मातामहाचार्यधोत्रियेष्वशुचिर्भवेत्' इति । तथा प्रचेता —  
'मृते चर्त्विजि याज्ये च त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति' इति । तथा च घृद्धवसिष्ठ —  
'संस्थिते पत्निर्णी रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते । सस्कृते तु त्रिरात्र स्यादिति धर्मो  
भ्यवस्थित ॥ पित्रोरुपरमे स्त्रीणामूढानां तु कथं भवेत् । त्रिरात्रेणैव शुद्धि-  
स्यादित्याह भगवान्यम ॥ श्वशुरयोर्भगिन्या च मातुला-यां च मातुले । पित्रो  
स्वसरि तद्वच्च पत्निर्णी उपवेक्षिशाम् ॥' तथा— 'मातुले श्वशुरे मित्रे गुरौ गुर्वङ्ग-  
नाम् च । शशौच पत्निर्णी रात्रिं मृता मातामही यदि ॥' तथा च शैलम्  
( १।१२० )— 'पत्निर्णीमसपिण्डे योनिस्वयंदे सहाभ्यायिनि च इति । योनिस्वयंदा  
मातुलमातृबन्धुपितृबन्धुस्त्रीयादय । तथा जाबाल — 'दुकोदकानां तु स्वहो-  
योत्रजानामह स्मृतम् । मातृबन्धो गुरौ मित्रे मण्डलाधिपतौ तथा ॥' इति ।

विष्णु (२२।४६)—‘असपिण्डे स्ववेश्मनि मृत एकरात्रम्’ इति, तथा बृह—  
 ‘भगिन्यां सस्कृतायां तु भानर्यापि च सस्कृते । मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे  
 भगिनीमुते ॥ शालके तस्मुते चैव सद्य स्नानेन शुद्ध्यति । ग्रामेश्वरे कुलपती  
 श्रोत्रिये च तपस्विनि । शिष्ये पञ्चत्वमापन्ने शुचिर्नक्षत्रदर्शनात् ॥ ग्राममध्यगतो  
 यावद्भ्रवस्तिष्ठति कस्यचित् । ग्रामस्य तावदाशौच निर्गते शुचितामियात् ॥’  
 इत्यादीन्वाशौचविशेषप्रतिपादकानि स्मृतिवचनान्यन्वेषणीयानि । ग्रन्थगौरव-  
 भयादत्र न लिख्यन्ते । एषु चैकविषयगुणलक्षाशौचप्रतिपादकतया परस्परविह-  
 र्देषु सनिधिविदेशस्थापेक्षया व्यग्रस्थाऽनुसंधातव्या ॥ २४ ॥

भाषा—अपरिणीता कन्या के वाग्दान के पहले मरने पर एक दिन रात  
 में ही आशौच की शुद्धि होती है । इसी प्रकार गुरु, शिष्य, वेदाङ्ग के प्रवक्ता,  
 मामा और श्रोत्रिय के मरने पर भी एक दिन रात में शुद्धि होती है ॥ २४ ॥

अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च ।

निवासराजनि प्रेते तद्दह शुद्धिकारणम् ॥ २५ ॥

किंच । अहरित्यनुवर्तते । अनौरसा क्षेत्रज्ञदत्तकादयः, तेषु जातेषूपरतेषु  
 चाहोरात्रमाशौचम् । तथा स्वभार्यास्वन्यगतास्वन्य प्रतिलोमभृतिरिक्त आश्रि-  
 तासु भतीतरसु चाहोरात्रमेश न पुन सत्यपि सापिण्ड्ये दशरात्रम् । प्रतिलोमा  
 श्रितासु चाशौचाभाव एव, ‘पाखण्ड्यनाश्रिता स्तेना’ (प्रा० ६) इत्यनेन प्रतिपे-  
 धात् । एतच्च ‘भार्या पुत्रत्व’शब्दयोः सवन्विशब्दत्वात् यस्मात्तिसौगिक भार्यात्व  
 पुत्रत्व च तस्यैवेदमाशौचम् । सपिण्डानां स्वाशौचाभाव एव । अत एव प्रजा-  
 पति—‘अन्याश्रितेषु दासेषु परपरनीमुतेषु च । गोमिण स्नानशुद्धा स्युद्धिरात्रेणैव  
 तपिता ॥’ इति । स्वैरिष्याद्यास्तु यमाश्रितास्तस्य तु त्रिरात्रमेव । यथाह विष्णु-  
 (२२।४३)—अनौरसेषु पुत्रेषु जातेषु च मृतेषु च । परपूर्वासु भार्यासु प्रसूतासु  
 मृतासु च ॥’ इति त्रिरात्रमत्र प्रकृतम् । अनयोश्च त्रिरात्रैकरात्रयोः सनिधिविदे-  
 शस्थापेक्षया व्यवस्था । यदा तु पितृछिरात्र तदा सपिण्डानामेकरात्रम् , यथाह  
 मरीचि—‘मृतके मृतके षैव त्रिरात्र परपूर्वयो । एकाहस्तु सपिण्डानां त्रिरात्र यत्र  
 चै पितु ॥’ इति । किंच, निवसत्यस्मिन्निति निवास स्वदेश उच्यते, तस्य यो  
 राजा स्वामी विषयाधिपति स यस्मिन्नहनि भतीतस्तद्दहमात्र शुद्धिकारणम् ।  
 रात्रौ चेदतीतस्तदा रात्रिमात्रम् । अत एव मनु ( ५।८२ )—‘प्रेते राजनि  
 सज्योतिर्यस्य स्पर्शपिपये स्थित’ इति । उयोतिषा सह वर्तते इति सज्योतिरा-  
 शौचम् । अद्भि चेद्यावत्सूर्यदर्शनं रात्रौ चेद्यावत्क्षत्रदर्शनमित्यर्थं ॥ २५ ॥

भाषा—भौरस के अतिरिक्त अन्य ( सेग्रज, दत्तक आदि ) पुत्रों के जन्म पक्ष मृत्यु पर, और दूसरे पुरुष पर आश्रित रहने वाली पत्नियों की तथा स्वदेश के राजा की मृत्यु पर एक दिन रात आशौच होता है ॥ २५ ॥

अनुगमनाशौचमाह—

ग्राहणेनानुगन्तव्यो न शूद्रो न द्विजः क्वचित् ।

अनुगम्याम्भसि स्नात्वा स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतभुक्शुचिः ॥ २६ ॥

ग्राहणेन असपिण्डेन द्विजो विप्रादि शूद्रो वा प्रेतो नानुगन्तव्यः । यदि स्नेहादिनानुगच्छति तदाऽम्भसि तडागादिस्थे स्नात्वाग्निं स्पृष्ट्वा घृतप्राश्य शुचिर्भवेत् । अस्य च घृतप्राशनस्य भोजनकार्यविधाने प्रमाणाभावान्न भोजन-प्रतिषेधः । इदं समानोऽकृष्टजातिविषयम् । यथाह मनु ( ५।१०३ )—'अनु-गम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च । स्नात्वा सचैल स्पृष्ट्वाग्निं घृतप्राश्य विशुद्धयति ॥' इति । ज्ञातयो मातृसपिण्डाः । इतरेषां तु विहितत्वान्न दोषः । निकृष्टजात्यनुगमने तु स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तत्र शूद्रानुगमने—'प्रेतोभूतं तु यः शूद्रं ग्राह्यं ज्ञानदुर्बलः । अनुगच्छेन्नीयमानं स त्रिरात्रेण शुद्धयति ॥ त्रिरात्रेण तु ततस्तीर्णं नदीं गत्वा समुद्रगाम् । प्राणायामशतं कृत्वा घृतप्राश्य विशुद्धयति ॥' इति पराशरोक्तम् । चत्रियानुगमने स्वहोरात्रम्, 'मानुषास्थिं स्निग्धं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचं भरिन्मध्ये स्वहोरात्रं शवानुगमने चैकम्' इति वसिष्ठोक्तम् । वैश्यानुगमने पुनः पक्षिणी । तथा चत्रियस्यानन्तरवैश्यानुगमने अक्षोरात्रं एकान्तरशूद्रानुगमने पक्षिणी वैश्यस्य शूद्रानुगमने एकाहं शूद्रनीयम् ॥ तथा शूद्रेऽपि पारस्करेणोक्तम्—'मृतरयं पान्धवै सार्धं कृत्वा तु परिदेवनम् । वर्जयेत्तद्द्वारात् दानं धाद्यादिकर्म च ॥' इति । तथा लक्षणमपि न कार्यम्, 'कृच्छ्रपादोसपिण्डस्य प्रेतालकरणे कृते । अज्ञानादुपवासं रवादशक्तीं स्नान-मिष्यते ॥' इति शङ्केन प्रायश्चित्तस्याम्नात्तरवात् ॥ २६ ॥

भाषा—ग्राहण को निम्नगोत्र के द्विज या क्षत्रिय वर्ण के मृतक के साथ नहीं जाना चाहिए । यदि ( स्नेहवश ) जावे तो जल में स्नान करके अग्नि का स्पर्श करके तथा घृत खाकर शुद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

सपिण्डाशौचे क्वचिदपवादमाह—

महीपतीनां नाशौचं हतानां विद्युता तथा ।

गोब्राह्मणार्थं संग्रामे यस्य चेच्छति भूमिपः ॥ २७ ॥

यद्यपि 'मही'शब्देन कृत्स्न भूगोलकमभिधीयते तथाप्यत्र सकलाया चित्ते-रेकभर्तृकरानुपपत्ते 'महीपतीनां' इति बहुवचनानुरोधेन तदैकदेशभूतानि

मण्डलानि लक्ष्यन्ते । तत्पालनाधिकृतानो चश्रियादोनामभिविक्तानां नाशौचम् । तैराशौचं न कार्यमित्यर्थं । तथा विद्युद्धताना गोम्राह्मणरक्षणार्थं विपन्नानां च सवन्धिनो ये सपिण्डास्तैरप्याशौचं न कार्यम् । परस्य च मन्त्रपुरोहितादे-  
भूमिपोऽनन्यसाध्यमन्त्राभिचारादिकर्मविद्वयर्थमाशौचाभावमिच्छति तेनापि न कार्यम् । अत्र च महीपतीना यदसाधारणत्वेन विहितं प्रजापरिरक्षणं तद्येन दानमानसस्कारव्यवहारदर्शनादिना विना न सम्भवति तत्रैवाशौचाभावो न पुन-  
पञ्चमहायज्ञादिष्वपि । तथा च मनु ( ५।१५ )—‘राज्ञो महारिमके स्थाने सद्यशौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षणार्थमासनं चात्र कारणम् ॥’ इति ।  
गौतमेनाप्युक्तम् ( १४।४५ )—‘राज्ञां च कार्याविघातार्थम्’ इति राजभृत्या-  
देरप्याशौचं न भवति । तथाह प्रचेता—‘कारव शिविपसो वैद्या दासीदासस्त-  
थैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्यशौचा प्रकीर्तिता ॥’ इति । कारव सुप-  
कारादयः । शिविपनम्रिकारचैरनिर्णेजवाद्यः । अथ चाशौचाभावः क्विविषय  
इत्यवेष्टाया कर्मनिमित्तैः शब्दैस्तत्तदसाधारणस्य कर्मणो बुद्धिस्थत्वात्तत्रैव दृष्ट-  
व्यम् । अत एव विष्णु ( २२।४८-५१ )—‘न राज्ञां राजकर्मणि न मतिनां मते न  
सत्रिणां सत्रे न कारुणां कारकर्मणि इति प्रतिनियतत्रिषयमेवाशौचाभावः दर्शयति ।  
शातातपीयेऽप्युक्तम्—‘मूल्यकर्मकरा शूद्रा दासीदासस्तथैव च । स्नाने शरीर-  
सस्कारे गृहकर्मण्यद्वयिता ॥’ इति । इयं च दासादिशुद्धिपरिहरणीयतया प्राप्त-  
स्पर्शविषयैः शून्यसर्घेयम् । अत एव स्मृत्यन्तरम्—‘सद्यः स्पृश्यो गर्भदासो भक्त-  
दासश्च्यवाच्छुचिः ।’ तथा—‘चिक्रिसको यत्कुरुते तद्-येन न शक्यते ॥ तस्मा-  
त्चिक्रिसकः स्पर्शं शुद्धो भवति नित्यतः ॥’ इति ॥ २७ ॥

भाषा—राजाओं का, विजली गिरने से मारे हुए व्यक्तियों का, गो और  
ब्राह्मण की रक्षा के लिए युद्ध में मारे गये पुरुषों का आशौच नहीं होता ।  
जिस व्यक्ति का आशौच राजा न होने देना चाहे उसका भी आशौच  
नहीं होता ॥ २७ ॥

अस्त्रिजं दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम् ।

सत्रिप्रतिग्रहचारिदातृग्रहविदां तथा ॥ २८ ॥

दाने विवाहे यज्ञे च संप्रामे देशयिष्यथे ।

आपद्यपि हि कष्टायां सद्यः शौचं विधीयते ॥ २९ ॥

किंच, अस्त्रिजो वरणमभृता वैतानोपासनाकर्तृविशेषा । दीक्षया सस्कृता  
दीक्षितारतेश्च यज्ञियं यज्ञे भवत्येव कर्म कुर्वतां ‘सद्यः शौचं विधीयते’ इति

१. रक्षार्थं शायनम् । २. भृत्या वैद्या दासस्तथैव । ३. वरणकरण-  
सगता । वरणाभरणमभृता ।



सर्वशत्रुपक्षः; दीक्षितस्य 'वैतानोपासनाः कार्या' ( प्रा. १७ ) इत्यनेन सिद्धे-  
 ऽप्यधिकारे पुनर्यचनं यज्ञमाने स्वयंकर्तृत्वविधानार्थं सद्यःरत्नानेन विशुद्धार्थं च;  
 'सत्रि' ग्रहणेन संततानुष्ठानतुल्यवतयाद्यप्रप्रवृत्ता लक्ष्यन्ते; मुख्यानां तु सत्रिणां  
 'दीक्षित'ग्रहणेनैव सिद्धेः । 'प्रति'शब्देन कृष्णचान्द्रायणादिप्रवृत्ताः रत्नानक-  
 म्रतप्रायश्चित्तप्रवृत्ताश्चोच्यन्ते; तथा 'ग्रहचारि' ग्रहणेन ग्रहचर्चादिप्रतयोगितः  
 ध्यादकर्तुर्भोक्तुश्च ग्रहणम् , तथा 'स्मृत्यन्तरम्'—'निधमस्रप्रदस्यापि कृष्णचान्द्रा-  
 यणादिषु । निर्घृत्ते कृष्णहोमादीं ग्राहणादिषु भोजने ॥ गृहीतनियमस्यापि न  
 स्यादभ्यस्य कस्यचित् । निमन्त्रितेषु विघ्नेषु प्रोच्ये ध्यादकर्मणि ॥ निमन्त्रितस्य  
 विप्रस्य स्वाध्यायादिरतस्य च । देहे पितृषु तिष्ठसु माशीचं विद्यते ऋचित् ॥ प्राय-  
 श्चित्तप्रवृत्तानां दानुग्रहविद्वां तथा ॥' इति । सत्रिणां प्रतिनां सत्रे प्रते च शुद्धिर्न  
 कर्ममात्रे संप्रपहारे वा । तथा च विष्णुः (२२।४९,५०)—'न प्रतिनां प्रते, न  
 सत्रिणां सत्रे' इति ॥ ग्रहचार्युपकुर्वाणको नैष्टिकश्च । यस्तु नियं दातैव, न  
 प्रतिग्रहीता स वैश्वानसो 'दानु'शब्देनोच्यते । ग्रहविद्यतिः । एतेषां च प्रयाणा-  
 माधमिणां सर्वत्र शुद्धिः; विशेषे प्रमाणाभावात् । दाने च पूर्वसंकल्पितद्रव्यस्य  
 नाशीचम् ; 'पूर्वसंकल्पितं द्रव्यं दीयमानं न दुष्यति' इति ऋतुरभरणात् ।  
 स्मृत्यन्तरे चात्र विशेष उक्तः—'विवाहोत्सवयज्ञादिवन्तरा नृननूतके । दोषमर्घं  
 परैर्देयं दातुंभोक्तृश्च न स्पृशेत् ॥' इति । यज्ञे वृषोत्सर्गादीं विवाहे च पूर्व-  
 संभृतसंभारे । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'यज्ञे संभृतसंभारे विवाहे ध्यादकर्मणि'  
 इति । सद्यःशीचमत्र प्रकृतम् । 'विवाह'ग्रहणं पूर्वप्रवृत्तधौलोपनयनादिसंस्कार-  
 कर्मोपलक्षणम् । 'यज्ञ'ग्रहणं च पूर्वप्रवृत्तदेवप्रतिष्ठारामाद्युत्सवमात्रोपलक्षणम् ।—  
 'न देवप्रतिष्ठोत्सर्गविवाहेषु न देशविभ्रमे नापद्यपि च कष्टायामाशीचम्'  
 ( २२।५३-५५ ) इति विष्णुस्मरणात् संप्रामे युद्धे ।—'संप्रामे समुपोलहे  
 राजानं संनाहयेत्' ( गृ. सू. ३।१२।१ ) इत्याश्रयापनापुक्तसंनहनविधौ  
 प्रारथानिकशान्तिहोमादी च सद्यःशुद्धिः । देशस्य विस्फोटादिभिरुपसर्गैः, राज-  
 भयाद्वा विप्लवे तदुपशमनार्थं शान्तिकर्मणि सद्यःशीचम् । विप्लवाभावेऽपि  
 ऋचिद्देशविशेषेण पैठीनसिना शुद्धिरुक्ता—'विवाहदुर्गयज्ञेषु यात्रायां तीर्थकर्मणि ।  
 न तत्र सूतकं तद्भ्रकर्म यज्ञादि कारयेत् ॥' इति । तथा कष्टायामप्यापदि ध्या-  
 प्याद्यभिभवनेन मुमुर्षावस्थायां दुरितशमनार्थं दाने । तथा संकुचितवृत्तेश्च क्षुत्परि-  
 श्रान्तमातापित्रादिवहुकुटुम्बस्य तद्भरणोपयोगिनि प्रतिग्रहे सद्यःशुद्धिः । इयं च  
 शुद्धिर्यस्य सद्यःशीचं विनाऽऽस्त्युपशमो न भवति अथरतनिकस्य तद्विषया ।

१. याज्ञमानेषु । २. रत्नानविषयं । रत्नानविशुध्यर्थं । ३. तस्माद्भ्यस्य ।

४. प्रवृत्ते । ५. उपलक्षणम् ।

कृतक्रियः ॥' इति । अयमर्थः—'कृतक्रियः' इति प्रथमेकमभिसंबध्यते । विप्रोऽनु-  
भूताशौचकालः कृतक्रियः कृतज्ञानो हस्तेनापः स्पृष्ट्वा शुद्धयति । स्पृष्ट्वेति  
स्पर्शनक्रियैवोच्यते, न स्नानमाचमनं वा; वाहनादिषु तस्यैवानुपह्नात् । अथवा  
कृतक्रियो यावदाशौचं कृतोदकादिक्रियः तदनन्तरं विप्रःदिरुदकादि स्पृष्ट्वा  
शुद्धयेत् इत्याशौचकालानन्तरभाविस्नानप्रतिनिधित्वेनोच्यत इति । अत्रियादि-  
वाहनाविकं स्पृष्ट्वा शुद्धयेदिति ॥ २८-२९ ॥

भाषा—ऋषिज, दीक्षित ( जिसने यज्ञ में दीक्षा प्राप्त की हो ), यज्ञ  
का काम करने वाले, यज्ञ करने वाले, मती, ब्रह्मचारी तथा दाता की दान,  
विवाह, यज्ञ, युद्ध देश में व्याप्त उरपात के उपशमन कर्म में और आपत्ति  
( रोग-व्याधि ) में ( अक्षय्याण नाश के लिये दान देने में ) तत्काल शुद्धि  
होती है ॥ २८-२९ ॥

कुलव्यापिनीं शुद्धिमभिधायेदानीं प्रसङ्गात्प्रतिपुरुषव्यापिनीं शुद्धिमाह—

उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तेरुपस्पृशेत् ।

अभिल्लानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥ ३० ॥

उदक्या रजस्वला, अशुचयः शबन्धालपतितसूतिकाद्याः श्वाशौचिनम  
पुतैः संस्पृष्टः स्नायात् । तैः पुनरुदक्याशुचितंस्पृष्टादिभिः संस्पृष्ट उपस्पृशेत्  
आचामेत् । आचम्यादिल्लानि 'भाषोद्विष्टा' ( ऋ० ७।६।५ ) हृद्येवमादीनि त्रीणि  
मन्त्रवाक्यानि जपेत् । त्रिभेव बहुवचनस्य चरितार्थत्वात् । तथा गायत्रीं च  
सकृन्मनसा जपेत् । ननु उदक्या संस्पृष्टः स्नायादित्येकवचननिर्दिष्टस्य कथं  
तैरिति बहुवचनपरामर्शः ? सरथमेवम्, किंवात्र उदक्यादिसंस्पृष्टवतिरिक्तस्नाना-  
हंमात्रस्पर्शोवाचमनविधानार्थं 'तैः' इति बहुवचननिर्देश इत्यविरोधः । ते च  
स्नानार्हाः स्मृत्यन्तरेवतन्तव्याः । यथाह पराशरः—'दुःस्वप्ने मैथुने वान्ते  
विरिष्के क्षुरकमणि । बितियूपैश्मशानास्नानं स्वर्शने स्नानमाचरेत्' इति । तथा  
च मनुः ( ५।१४४ )—'वातो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतमाशनमाचरेत् । आचा-  
मेदेव भुञ्जस्वाम्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥' इति । मैथुनिनः स्नानमृतकाल-  
विषयम् ; 'अनृतौ तु पदा गच्छेच्छीच मूत्रपुरीषवत्' इति बृहस्पतिस्मरणात् ।  
अनृतावपि कालविशेषे स्मृत्यन्तरे स्नानमुक्तम्—'अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा  
पर्वणि मैथुनम् । कृत्वा सचैलं स्नात्वा च बाल्गीभिश्च साजयेत् ॥' इति ।  
तथा च यमः—'अजीर्णोऽभ्युदिते वान्ते तथाप्यस्तमिते रवी । दुःस्वप्ने दुर्जन-  
स्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥' इति । तथा च बृहस्पतिः—'मैथुने कटपूमे च

१. शुद्धयतीति । इत्या ।

२. उदक्याशौचिभिः ।

३. बहुवचनादरः ।

४. पुपरमशाना ।

सद्य स्नान विधीयते' इत्येतदसचैलरपशविषयम् । सचैलेन तु चिर्यादिस्पर्शे सचैलमेव स्नानम् । यथाह ष्यवन — 'श्चान श्रपाक प्रेतधूम देवद्रव्योपजीवि नम् । ग्रामयाजिन सोमविक्रयिण यूँप चिति चितिकाष्ट च मद्य मद्यभाण्ड सस्नेह मानुषास्थि शवस्पर्श रजस्वला महापातकिन शव स्पृष्टवा सचैलमभ्योऽ वगाहोत्तीर्षाग्निमुपस्पृश्य गौयश्यष्टगत जपेत् । घृत प्रारथ पुन स्नात्वा त्रिरा- चामेत्' इति । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम् । अन्यत्र स्नानमाश्रम् । 'शवस्पर्श दिवाकीर्ति चिति यूँप रजस्वलाम् । स्पृष्ट्वा त्वकामतो विप्र स्नान कृत्वा विशुद्भवति ॥' इति बृहस्पतिस्मरणत् । एवमन्यत्रापि वक्ष्यमाणेषु विषय- समीकरणमूहनीयम् ॥ यथाह करयप — 'उदयास्तमययो स्कन्दपित्वा भसि स्पन्दने कर्णाक्रोशने चिरपारोहणे यूर्पसस्पर्शने च सचैल स्नात्वा पुनर्मम इति जपेन्महाभ्याहृतिभि सप्ताज्याहुतीञ्जुंघ्यात्' इति । तथा च स्मृत्यन्तरे— 'स्पृष्ट्वा देवलक चैव सवासा जलमाविशेत् । देवाचनपरो विप्रो वित्तार्थ वस्तरत्रयम् ॥ असौ देवलको नाम हव्यकण्ठेषु गहित' ॥ तथा ब्रह्माण्डपुराणे— 'शैवान्पशुपतान्स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् । विकर्मस्थाग्निजा-शूदान्तवासा जलमाविशेत् ॥' इति । तथा— 'अस्वर्षा ह्याहुति सा स्याच्छुद्धसर्वकृदिता' इति लिङ्गाच्च शूद्रस्पर्शने निषेध ॥ तथाङ्गिरा — 'यस्तु छायां श्रपाकरय प्राह्मणो ह्यधिरोहति । तत्र स्नान प्रकुर्वीत घृत प्रारथ विशुद्भवति ॥' तथा श्याम्रपाद — 'चण्डाल पतित चैव दूरत परिवर्जयत् । गोवाल-यजनादर्शकस वासा जलमाविशेत् ॥' इति । एतदतिसकटस्थलविषयम् । अन्यत्र तु बृहस्पतिनोक्तम्— 'युग च द्वियुग चैव त्रियुग च चतुर्युगम् । चाण्डाल सूतिकोदक्यापतितानामथ क्रमात् ॥' इति । तथा पैठीनसि — 'काकोलूकरपर्शने सचैलस्नानम्, अनुदकमूत्रपुरीषकरणे सचैलस्नान महाभ्याहृतिहोमश्च । अनुदकमूत्रपुरीषकरणे इत्येतच्चिरकालमूत्रपुरीषाशौ- चाकरणपरम् ।' तथाङ्गिरा — 'मासवायसमार्जारखरोष्ट्र च शशूकरान् । अमे- ध्यानि च सस्पृश्य सचैली जलमाविशेत् ॥' इति । मार्जारस्पर्शनिमित्त स्नान मुच्छिद्यसमयेऽनुष्ठानसमये च वेदितव्य समाचारात् । अन्यदा तु— 'मार्जार श्वैव दर्शे च भारुदश्च सदा शुचि' इति स्नानाभाव । शस्पर्शे तु स्नान नाभे रूर्ध्व वेदितव्यम् । अधस्तात्तु चालनमेव, 'नाभेरूर्ध्वं करो मुखवा शुना यद्युपहन्यते । तत्र स्नानमथस्ताञ्चेप्रज्ञात्वाद्यथय शुद्भवति ॥' इति तेनैवोक्त-त्वात् ॥ तथा पक्षिस्पर्शे विशेषो जातूकण्ठेनोक्त — 'ऊर्ध्वं नाभे करो मुखवा यदङ्ग सस्पृशेत्खरा । स्नान तत्र प्रकुर्वीत शेष प्रज्ञात्वाय शुद्भवति ॥' इति ।

अभेद्यस्पर्शोऽपि विष्णुना विनोपो दर्शित ( २१।७७-८० ) 'नाभेरधस्ताधयाहुषु  
 च कायिकैर्मलैः सुराभिर्मतैर्वोपहतो मृतोयैस्तदङ्ग प्रक्षालयचान्त शुद्धयेत् । अभ्य-  
 श्रोपहतो मृतोयैस्तदङ्ग प्रक्षालय स्नायात् । तैरिन्द्रियेषूपहतस्तूपोष्य स्नात्वा पञ्चग-  
 व्येन दशनच्छदोपदतश्च' इति । एतच्च परकीयामोष्यस्पर्शविषयम् । आग्नीषमन्-  
 स्पर्शं तु ऊर्ध्वमपि नाभे क्षालनमेव । यथाह देवल — 'मानुषास्थि वस्रां विष्टा  
 मार्तव भूश्रेतसी । मज्जान शोणित वापि परस्य यदि सस्पृशेत् ॥ स्नात्वा  
 प्रमृज्य लेपादीनाचम्य स शुचिर्भवेत् । तान्येव खानि सस्पृश्य पूत स्यात्परि-  
 मार्जनात् ॥' इति । तथा च शङ्ख — 'स्थ्याकर्दमतोयेन ष्ठीवनाद्येन वा तथा ।  
 नाभेरूर्ध्वं नर स्पृष्ट सद्यस्नानेन शुद्धयति ॥' इति । यमेनाऽपत्र विशेष  
 उक्त — 'सकर्दम तु वर्षासु प्रविश्य ग्रामसकरम् । जङ्घोर्ध्वंत्तिकारित्तर पादयो  
 द्विगुणास्तत ॥' इति ग्रामसकर ग्रामसलिलप्रवाहप्रदेश सकर्दम प्रविश्येत्सर्वम् ।  
 मारुतक्षोपिते तु कर्दमादी न क्षेप । 'स्थ्याकर्दमतोयानि स्पृष्टान्य-त्यश्वयावसै ।  
 मारुतेनैव शुद्धयन्ति पक्षेष्टकृतानि च ॥' ( आ० १९७ ) इति प्रागुक्तत्वात् ।  
 अस्थनि मनुना विशेष उक्त ( ५।८७ ) — 'नार स्पृष्ट्वास्थि सस्नेह स्नात्वा विप्रो  
 विशुद्धयति । आचम्यैव तु नि स्नेह गा स्पृष्ट्वा वीच्य वा रविम् ॥' इति । इद द्वै-  
 जातास्थिविषयम् । अ-यत्र वसिष्ठोक्तम् — 'मानुषास्थि स्निग्धे स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौ-  
 चम् अस्निग्धे ध्वहोरात्रम् ।' इति । अमानुषे तु विष्णुक्तम् ( २१।७० ) — 'मद्य  
 चतुर्थं पञ्चमखशवसदस्थि च सस्नेह स्पृष्ट्वा स्नात् पूर्ववत् प्रक्षालित विभृयात्'  
 इति ॥ एवम-येऽपि स्नानार्हा स्मृत्य-नरतोऽवबोद्धव्या ॥ एव स्नानार्हाणा बहु  
 स्वात्तदभिप्राय तैरिति बहुवचनमविरुद्धम् । 'उदक्माशुचिभि स्नायात्' इत्ये-  
 तैश्च दण्डापचेतनव्यवधानस्पर्शं वेदितव्यम् । चेतनव्यवधाने तु मानवम् ( मनु  
 ५।८५ ) — 'दिवाकीर्तिमुदववा च पतित सूतिकां तथा । शव तस्स्पृष्टिन चैव  
 स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धयति ॥' इति । तृतीयस्य स्वात्तमनमेव । 'तस्स्पृष्टिन  
 स्पृशेद्यस्तु स्नान तस्य विधीयते । ऊर्ध्वमाचमन प्रोक्त द्रव्याणा प्रोक्षण तथा ॥'  
 इति सवर्तस्मरणात् । एतच्चाबुद्धिपूर्वकविषयम् मतिपूर्वं तु तृतीयस्यापि स्नान-  
 मेव । यथाह गौतम ( १४।३० ) — 'पतितचण्डालसूतिकोदकयाशवस्पृष्टित-  
 रस्पृष्ट्युपस्पर्शने सचैलमुदकोपस्पर्शनाच्छुद्धयेत्' । इति । चतुर्थस्य स्वात्तमनम्,  
 'उपस्पृश्याशुचिस्पृष्ट तृतीय वापि मानव । हस्ती पादौ च तोयेन प्रक्षालयचम्य  
 शुद्धयति ॥' इति देवलस्मरणात् । अशुचीनां पुनरुदक्यादिस्पर्शं देवलेन विशेष  
 उक्त — 'श्वपाक पतित व्यङ्गमुन्मत्त शवहारकम् । सूतिकां साविकां नारीं

रजसा च परिप्लुताम् ॥ श्वकुक्कुटवराहांश्च प्राग्भास्वस्पृश्य मानव । सचैलः  
सशिरा रनात्वा तदानीमेव शुद्धयति ॥' इति । 'अशुद्धास्वयमप्येतानशुद्धस्तु  
यदि स्पृशेत् । विशुद्धयत्युपवासेन तथा कृच्छ्रेण वा पुन ॥' इति । साविका प्रस-  
वस्य कारयित्री । कृच्छ्र श्वाकादिविषय श्वादिषु तूपवास इति ध्यवस्था ॥३०॥

भाषा—रजस्वला स्त्री और अशुचि ध्यक्ति ( श्व, चण्डाल, पतित,  
सूतिका, मृत्यु के कारण भाशौची ) द्वारा छू जाने पर रनान करे, इन रजस्वला  
स्त्री आदि द्वारा स्पृष्ट ध्यक्ति से छू जाने पर आचमन करे और 'आपो द्विष्टा'  
आदि तीन मन्त्रवाक्यों का जाप करके एक बार गायत्री का जप करे ॥३०॥

अधुना कालशुद्धौ दृष्टान्तत्वेन द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तंस्तथैवात्र प्रकरणे वक्ष्य  
माणांश्च शुद्धिहेतून्नुक्तामति—

कालोऽग्निः कर्म मृद्वायुर्मनो ज्ञानं तपो जलम् ।

पश्चात्तापो निराहारः सर्वेऽमी शुद्धिहेतवः ॥ ३१ ॥

यथाऽन्यादयोऽमी सर्वे स्वविषये शुद्धिहेतवस्तथा कालोऽपि दशरात्रादिक ।  
शास्त्रागम्यावाच्छुद्धिहेतुस्वस्य । अग्निस्तावच्छुद्धिहेतु । यथाभ्यधावि ( भा०  
१८७ ) 'पुन पाकान्महीमथम्' इति । कर्म च शुद्धिनिमित्त, यथा वक्ष्यति  
( प्रा० २४४ ) 'अश्वमेधावमृथस्नानात्' इति । तथा मृदपि शुद्धिकारणं, यथा  
कथितम् ( भा० १८९ )—'सलिल भस्म मृदापि प्रचेष्टव्यं विशुद्धये' इति ।  
वायुरपि शुद्धिहेतु, यथोदीरित ( भा० १९७ ) 'मारुतेनैव शुद्धयन्ति' इति ।  
मनोऽपि वाच शुद्धिधसाधन, यथाऽनायि 'मनसा वा इपिता वाग्बदति' इत्यादि ।  
ज्ञान चाध्यात्मिक शुद्धिशुद्धौ निदान, यथाभिधास्यति ( प्रा० ३४ ) 'त्रै-  
शस्येश्वरज्ञानात्' इति । तपश्च कृच्छ्रादि, यथा वदिस्यति ( प्रा० २६० ) 'प्राजा  
पत्य चरेत्कृच्छ्र समो वा गुरुतल्पग' इत्यादि । तथा जलमपि शरीरादे, यथा  
जल्पिष्यति ( प्रा० ३३ ) 'वर्षमंजो जलम्' इति । पश्चात्तापोऽपि शुद्धिजनक,  
यथा गदित श्वापनेनानुतापेन' इति । निराहारोऽपि शुद्धयुपादान, यथा  
व्याहरिष्यति ( प्रा० ३०१ ) 'त्रिरात्रोपोपितो जंत्वा' इत्यादि ॥ ३१ ॥

भाषा—काल, अग्नि, कर्म, मिट्टी, वायु, मन, ज्ञान, तपस्या, जल,  
पश्चात्ताप और उपवास—ये सभी शुद्धि के कारण होते हैं ॥ ३१ ॥

अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्याश्च शुद्धिकृत् ।

शोध्यस्य मृथ तोयं च संन्यासो वै द्विजन्मनाम् ॥ ३२ ॥

तपो वेदविदां क्षान्तिर्विदुषा षर्मणो जलम् ।

जपः प्रच्छन्नपापानां मनस सत्यमुच्यते ॥ ३३ ॥

भूतात्मनस्तपोविद्ये बुद्धेर्ज्ञानं विशोधनम् ।

क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ॥ ३४ ॥

किंच, अकार्यकारिणां निषिद्धतेविनां दानमेव मुख्यं शुद्धिकारणं, यथा  
 व्याख्यास्यति 'पात्रे धनं वा पर्याप्तं दद्या' इति । नद्याः निदाघादावक्षरतोया-  
 या अनेध्वोपहततीरायाः फूलकपवपांगुप्रवाहवेगः शुद्धिकृत् । 'शोधनीयस्य  
 द्रव्यस्य मृच्च तोयं च शुद्धिकृत्', यथेह मणितम् (भा० १११)—'अमेध्यात्स्य  
 मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धापकर्षणात्' इति । संन्यासः प्रवज्या द्विजन्मनां मानसाप-  
 चारे शुद्धिकृत् । तपो वेदाभ्यासो वेदविदां शुद्धिकारणम् । वृष्ट्यादि तु  
 सर्वसाधारणं न वेदविद्यामेव । ज्ञानिरूपज्ञानो विदुषां वेदार्थविद्याम् ।  
 चर्मणः शरीरस्य जलम् । प्रच्छन्नपापानामविषयातदोषाणां अयमर्षणा-  
 दिमूक्तजपः शुद्धिकारणं शुद्धिसाधनम् । मनः सदसत्संस्पर्शात्मकं तस्यासत्सं-  
 स्पर्शपरावृत्तस्य सत्यं साधुसंकल्पः शोधकम् । 'भूत'शब्देन तद्विकारभूतो  
 देहेन्द्रियैसधो लक्ष्यते । तत्र 'स्थूलोऽहं कृशोऽहं काणोऽहं यधिरोऽहम्' इत्येवं  
 तदभिमानिराधेन योऽयमारामा वर्तते स भूतात्मा, तस्य तपोविद्ये शुद्धिनि-  
 मिक्ते । 'तपः'शब्देनानेकजन्मस्येकस्मिन्नपि वा जन्मनि जागरस्वप्नसुषुप्पथवस्था-  
 श्चात्मनो योऽयमन्वया, शरीरादेश्च स्थितिरिकः सोऽभिधीयते । यथा (तै० उ०  
 ३।२।१) 'तपसा ब्रह्म विमिञ्जासत्य' इति पञ्चकोशस्यतिरेकप्रतिपादनपरे यावदे।  
 'विद्या'शब्देन चौपनिषद् 'अधूलमनण्यहरस्यम्' ( मृ० उ० ३।१।२६ ) 'असन्नो  
 हि' ( मृ० उ० २।५।१४ ) 'अयमारामा' ( मृ० उ० ३।८।८ ) इत्यादि  
 त्वंपदार्थनिरूपणविषया वाक्यजन्यं ज्ञानमुच्यते । एताभ्यामस्य शुद्धिः । शरीरादि-  
 स्थितिरिकपुद्गेः संशयविषयंरूपत्वेनाशुद्धायाः प्रमाणरूपं ज्ञानं विशोधनम् ।  
 क्षेत्रस्य तपोविद्याविशुद्धस्य त्वंपदार्थभूतस्य "तत्त्वमसि" ( छा० उ० ३।८।७ )  
 इत्यादिवाक्यजन्यामात्राकाररूपादीश्वरज्ञानात् "परमा विशुद्धिर्मुक्तिर्लक्षणा ।  
 यथेताः शुद्धयः परमपुरुषार्थास्तद्गुणवरा कालशुद्धिरपीत्येवं प्रशस्तार्थं भूतात्मादि-  
 विशुद्धयमिधानम् ॥ ३२-३४ ॥

भाषा—निषिद्ध कार्य करने वालों की शुद्धि का कारण दान होता है, नदियों की शुद्धि करने वाला उनका प्रवाह वेग होता है; अशुद्ध वस्तु की मिट्टी और जल से, द्विजानियों की संन्यास से, वेद जानने वालों की तप ( वेदाभ्यास ) से, विद्वानों की जप से, शरीर की जल से, गुप्त पापों

१. शोधनम् । २. त्रिदशसंबन्धो । ३. जागरस्वप्न । ४. तत्त्वमसी-  
 यादि । ५. परमारामशुद्धिः ।

की शुद्धि जप से होती है और मन की शुद्धि का कारण तप्य घताया गया है। भूतारमा की शुद्धि का कारण तप और विद्या है तथा बुद्धि को शुद्ध करने वाला ज्ञान है। चेत्रज्ञ ( अर्थात् तप और विद्या द्वारा विशुद्ध ) की शुद्धि ईश्वर के ज्ञान से यताई गई है ॥ ३२-३४ ॥

इत्याशौचप्रकरणम् ।

### अथापद्रुर्मप्रकरणम् २

‘आपद्यपि च कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते’ ( प्रा० १९ ) इत्यापदि मुष्याशौचकक्षानुष्ठानासंभवेन सद्यःशौचाद्यनुकल्पमुक्त्वात्वेदानीं तत्प्रमद्वादापदि ‘प्रतिप्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा’ ( भा० ११८ ) इत्याद्युक्तयाजनादिमुक्त्यवृत्त्यसंभवेन वृत्त्यन्तरमाह—

क्षेत्रेण कर्मणा जीवेद्विशां चाप्यापदि द्विजः

निस्तीर्य तामथारमानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ॥ ३५ ॥

द्विजो विप्रो बहुकुटुम्बतया स्ववृत्त्या जीवितुमसमर्थः स्रष्टसंबन्धिना कर्मणा शस्त्रप्रहणादिना आपदि जीवेत् । तेनापि जीवितुमशक्नुवन् वैश्यसंबन्धिना कर्मणा घागिज्यादिना जीवेत्, न तु शूद्रवृत्त्या । तथा च मनुः ( १०।८९ )—‘उभाभ्यामप्याजीवस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृपिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥’ इति । तथा आपद्यपि न हीनवर्णेन ग्राह्यी वृत्तिराश्रयणीया किंतु ग्राह्येण स्रात्री, स्रष्ट्रियेण वैश्यसंबन्धिनी, वैश्येन च शौत्री, इत्येवं स्वानन्तरहीनवर्णवृत्तिरेव । ‘अजीवन्तः स्वधर्मेणानन्तरां पापीयसीं वृत्तिमातिष्ठेरन्नतु कदाचिज्जयायसीम्’ इति षसिष्ठस्मरणात् । ज्यायसी च ग्राह्यी वृत्तिः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—‘उत्कृष्ट वाऽपकृष्ट वा सयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हिरवा सर्वसाधारणे हि ते ॥’ इति । शूद्रस्योत्कृष्ट ग्राह्य कर्म न विद्यते । यथा ग्राह्यणस्यापकृष्ट शौद्र कर्म । मध्यमे स्रष्ट्रवैश्यकर्मणी पुनरापद्रुतसर्ववर्णसाधारणे’ इति । शूद्रश्चापद्रुतो वैश्यवृत्त्या शिरपैर्वा जीवेत् । ‘शूद्रस्य द्विजशुभ्रूपा तथा जीवन्वनिर्भवेत् । शिरपैर्वा विविधैर्जावेद् द्विजातिहितमाचरन् ॥’ ( भा० १२९ ) इति प्रागुक्तत्वात् ॥ मनुना चात्र विशेषो दर्शितः । ( १०।१०० )—‘यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुभ्रूप्यन्ते द्विजातयः । साभिः कारुण्यकर्मणि शिरपानि विविधानि च ॥’ इति । अनेनैव न्यायेनानुलोमोपज्ञानामपि स्वानन्तरा वृत्तिरुहनीया । एव स्वानन्तरहीनवर्णवृत्त्या आपद् निस्तीर्य प्रायश्चित्ताचरणेनास्मानं पावयित्वा पथि न्यसेत् । स्ववृत्तावात्मानं स्थापयेद्वैश्यं । यद्वाऽपमर्थः—गर्हित-

वृत्त्याजित धन पयि न्यसेदुत्सृजेदिति । तथा च मनु ( १०।१११ )—'जपहो  
मैरपैपेनो वाजनाप्यापनै कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्त तु त्यागेन तपसैव तु ॥'  
इति ॥ ३५ ॥

भाषा—आपकाल में ( अपने वर्ण की वृत्ति द्वारा जीविका चलाने में  
असमर्थ होने पर ) ब्राह्मण ऋत्रिय के कर्म द्वारा अथवा वैश्य के कर्म द्वारा  
जीवननिर्वाह करे आपकाल पार कर लेने पर ( प्रायश्चित्त द्वारा ) अपने को  
पवित्र करके पुन अपने वर्ण की वृत्ति अपनावे ॥ ३५ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवतो ब्राह्मणस्य यदपणनीयं तदाह—

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीरुध ।

तिलौदनरसक्षारान्दधि क्षीरं घृतं जलम् ॥ ३६ ॥

शुद्धासयमधूच्छिष्टं मधु लाक्षा च बर्हिष ।

मृच्चर्मपुष्पकुंतपकेशतक्रविपक्षिति ॥ ३७ ॥

कौशेयनीललवणमांसैकशफसीसकान् ।

शाकाद्र्वापधिपिण्याकपशुगन्धांस्तथैव च ॥ ३८ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवन्नो विक्रीणीत कदाचन ।

'नो विक्रीणीत' इति श्रयेकमभिसवद्वयते । फलानि कदलीफलादीनि  
वदरेहुदम्यतिरिक्तानि, यथाह नारद —'स्वयशीर्णानि पर्णानि फलानां वदरेहुदे ।  
२०३ कार्पासिक सूत्र तच्चेदविकृत भवेत् ॥' इति । उपैल मणिमाणिक्याद्यश्म  
माग्रम् । सौममतसौसूत्रमय षष्ठम्, 'सौम'ग्रहण तान्तवादेहपलक्षणम् । यथाह  
मनु ( १०।८७ )—'सर्वं च तान्तव रक्त दाणसौमाविकानि च । अपि चेत्स्यु  
ररक्तानि फलमूले तथौषधी ॥' इति, सोमो लताविशेष, 'मनुष्य'पदेना  
विशेषास्त्रीपुंनपुंसकानां ग्रहणम्, अपूप मण्डकादि भक्ष्यमात्रम्, वीरुधो  
वेद्यामृतादिलता, तिला प्रसिद्धा, 'ओदन'ग्रहण भोज्यमात्रोपलक्षणम्,  
रसा गुहेष्टुरसशर्करादय, तथा च मनु ( १०।८८ )—'क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं  
सैलं मधु गुदं कुशान्' इति । चारा यवचारादय । 'दधिक्षीरयो'ग्रहण  
भरगुण्डकिल्लाट्कूर्चिकादीनां तद्विकारानामुपलक्षणम् । 'क्षीरं सविकारम्' ( ७-  
११ ) इति गीतमस्मरणात् । 'घृत'ग्रहण तैलादिस्नेहमात्रोपलक्षणम्, जल  
प्रसिद्धम्, दस्यं चट्वादि, 'आम्ल'ग्रहण मद्यमात्रोपलक्षणम्, 'अधूच्छिष्ट'  
सिक्थकम्, मधु क्षौद्रम्, लाक्षा जतु, बर्हिष कुरा, मृत् प्रसिद्धा, चर्मा  
मिनम्, पुष्प प्रसिद्धम्, अजलीमृत् कम्बल कुतप, केशाश्रमयादि-

१. रसचारदधि क्षीरघृत जलम् । २. अधूच्छिष्टमधुलाक्षा सचर्हिष ।

३. कुतपकेत । ४. नीली । ५. उपल माणिक्यादि । ६. अजीर्णलोमकृत ।



सषट्पा, तक्रमुदधित्, विप शृङ्गायादि, चित्तिभूमि, 'नित्य भूमिवीहियवा-  
जाप्यश्वर्षभधेन्वनहुदृशैके' इति सुमन्तुस्मरणात् । कौशेय कोशप्रभव वसनम्,  
नील नीलोरसम्, 'लवण'ग्रहणेनैव विडसौवर्चलसैन्धवसामुद्रसोमकृत्रिमाण्य  
विशेषेण गृह्यन्ते । मांस प्रसिद्धम् एकशका हवाद्य, 'सीस'ग्रहण  
लोहमात्रोपलक्षणम्, शाक सवम्, अवशिषात्, ओषधय फलपाकान्ता,  
'आद्रौषधय' इति विशेषोपादाना-लुप्येषु न दोष, पिण्याक प्रसिद्ध, पशव  
भारण्या, 'भारण्याश्च पशून्सर्वा-दष्टिणश्च वर्णासि च' ( १०।८९ )—इति मनु-  
स्मरणात् । गन्धाश्चन्दनागुरुप्रभृतय, सर्वानेता-वैश्यवृत्त्या जीव-ब्राह्मण ।  
कदाचिदपि न विक्रीणीत, चत्रियादेस्तु न दोष । अत एव नारदेन  
'वैश्यवृत्तावविश्रेय ब्राह्मणस्य पयो दधि' इति ब्राह्मणग्रहण कृतम् ॥ ३६-३८ ॥

भाषा—फल, उपल (मणि, माणिक्य आदि), अतसी के सूत से निर्मित  
वस्त्र सोमलता, मनुष्य, पुभा, बेंत आदि लता तिल, ओदन ( भोज्य पदार्थ,  
रस ( घृत, तेल आदि ), चार, दही, दूध, घी, जल, शह, भासव, जूठा मद्य,  
मधु लाख, कुश, मिट्टी, चमड़ा, पुष्प, कुतप ( बकरे के रोएँ से निर्मित  
कम्बल ), कश ( चँवर आदि ) तक्र ( मटठा ), विप, भूमि, कौशेयवस्त्र, नील,  
नमक, मांस, एक खुर वाल पशु ( जैसे घोड़ा ) सासा ( और लोहा ), शाक,  
आर्द्र औषधि, पिण्याक, जगली पशु और ग ध—इन सब वस्तुओं को वैश्य  
की वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करते रहने पर भी कभी न बेंचे ॥ ३६-३८ ॥

प्रतिप्रसवमाह—

धर्मार्थं विक्रयं नेयास्तिला धान्येन तत्समा ॥ ३९ ॥

यद्यवश्यकं पाकयज्ञादिधर्मा स्वसाधनवीक्षादिधान्याभावेन न निष्पद्य  
न्ने तर्हि धान्येन तिला विक्रयं नेया । तत्समा द्रोणपरिमिता द्रोणपरिमिते-  
नेत्येव तेन धान्येन समा । तथा च मनु ( १०।९० )—'काममुत्पाद्य कृष्यात्तु  
स्वयमेव कृषीवत् । विक्रीणीत तिलाञ्जुद्धान्-धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥' इति ।  
'धर्म'ग्रहणमावश्यकभेदजाद्युपलक्षणम् । अत एव नारद —'अशक्ती भेदनस्यार्थं  
यज्ञहेतोस्तथैव च । यद्यवश्यं तु विक्रेयास्तिला धान्येन तत्समा ॥' इति यद्य  
न्यथा विक्रीणीते तर्हि दोष । ( १०।९१ )—'भोजनान्यजनाहानाद्यदभ्यङ्कुरुते  
तिलैः । कृमिभूरवा श्वविष्टायां पितृभि सह मज्जति ॥' इति मनुस्मरणात् ।  
सजातीयै पुनर्विनिमयो भवत्येव । 'रसा रसैर्निमातभ्या नैवेव लवण रसै ।  
कृताञ्च च कृताञ्चनेन तिला धान्येन तत्समा ॥' ( मनु १०।९४ )—इति ।  
कृताञ्च सिद्धाञ्चम्, तद्य कृताञ्चनेन परिवर्तनीयम् । 'कृताञ्च चाकृतान्नेन'

१ गौतमस्मरणात् । २ कृष्यां तु । ३ नश्वेव लवण । ४ नीचमिति  
यावत् ।

इति पाठे तु सिद्धमन्नमकृतान्मेन तन्शुलादिना परिवर्तनीयमिति ॥ ३९ ॥  
भाषा—किन्तु धर्मार्थं ( औषधादिकार्यार्थं ) तिल के परापर घान्प छेकर  
तिल येचना उचित है ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्तनिषिद्धानिष्ठमे दोषमाह—

लाक्षालवणमांसानि पतनीयानि विक्रये ।

पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि तु ॥ ४० ॥

लाक्षालवणमांसानि विक्रीयमाणानि सद्यःपतनीयानि द्विजातिक्रमे-  
दानिकराणि । पयःप्रभृतीनि तु हीनवर्णकराणि सूक्ष्मशुष्यत्वापादकानि ।  
एतद्द्वयतिरिक्तापण्यविक्रये वैरयत्तुयता । यथाह मनुः ( १०।१९-१३ )—  
'सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च । स्पष्टेण शुद्धो भवति ब्राह्मणः शीर-  
विक्रयात् ॥ इतरेषामपण्यवानां विश्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैरपभाषं  
च गच्छति ॥' इति ॥ ४० ॥

भाषा—लाक्षा ( लाख ), नमक और मांस येचने पर पतित हो जाता  
है और दूध, दही तथा घुरा येचने पर वह निम्नवर्ण का हो जाता है ( अर्थात्  
शुद्ध के समान बन जाता है ) ॥ ४० ॥

आपद्रुतः संप्रगृह्णन्भुञ्जानो वा यतस्ततः ।

न लिप्येतैस्ता विप्रो उबलनार्कसमो हि सः ॥ ४१ ॥

किञ्च, परस्वधनोऽथसन्नदुःख्यतया भावद्रुतोऽपि चतुष्टुति वैरयत्तुति वा  
न प्रविविचति स यतरततो 'हीनहीनतरहीनतमेभ्यः प्रतिगृह्णंस्तदन्तं  
भुञ्जानोऽपि यो एतस्मात्पापेन न लिप्यते । यतरतस्यामापद्रवस्यापामत-  
प्रतिग्रहादावधिकारित्वेन उबलनार्कसमः, यथा उबलनोऽर्कश्च हीनसंकरेऽपि  
न दुष्यति 'तथाऽप्यमापद्रुतोऽपि न दुष्यतीत्येतावता तस्मात्प्रयत् । एवं च वदता  
आपद्रुतस्य परधर्माश्रयणाद् द्विगुणमपि स्वधर्मानुष्ठानमेव सुख्यमिति दर्शितं  
भवति । तथा च मनुः ( १०।१७ )—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्व-  
नुष्ठितः । परधर्माश्रयाद्विप्रः सद्यः पतति जातितः ॥' इति ॥ ४१ ॥

भाषा—आपद्रुकाल में जिस किसी का दान पूर्ण अन्न ग्रहण करने वाले  
ब्राह्मण को पाप नहीं लगता, क्योंकि वह अग्नि और सूर्य के समान  
होता है ॥ ४१ ॥

कृपिः शिल्पं श्रुतिविद्यां कुसीदं शकटं गिरिः ।

सेधानूपं नृपो भैक्ष्यमापत्तौ जीवनानि तु ॥ ४२ ॥

१. निगच्छति । २. भुञ्जानोऽपि यत । ३. हीनतरस्ततो । ४. वा  
नैवेनता । ५. सेधाऽनूपो । ६. भैक्ष्यमापत्तौ ।

किंच, 'आपत्तौ जीवनानि' इति विशेषणशुद्ध्यादीनां मध्ये अनापद्धव  
रथायां यस्य या वृत्ति प्रतिपिद्धा तस्य सा वृत्तिरनेनाभ्यनुज्ञायते । तथाऽऽपि  
वैश्यवृत्ति स्वय कृता कृपिर्विप्रकृत्रियथोरभ्यनुज्ञायते एवं शिल्पादी<sup>१</sup>न्यप्यस्या-  
भ्यनुज्ञायन्ते । शिल्प रूपकरणदि भृति प्रेष्यत्वम्, विद्या भृतकाध्याप  
कस्वाद्या, कुसीद वृद्धयर्थं द्रव्यप्रयोग, नत् स्वयकृतमभ्यनुज्ञायते, शकट भाट  
केन धान्यादिवहनद्वारेण जीवनहेतु गिरिस्तद्वनतृणैर्धनद्वारेण जीवनम्, सेवा  
पराचित्तानुवर्तनम्, अनूप प्रचुरतृणवृत्तजलप्राय प्रदेश, तथा नृपो नृपथासनम्,  
भैक्ष स्नातकस्यापि, एनान्यापत्तौ जीवनानि । तथा च मनु ( १०।१।६ )—  
'विद्या शिल्प भृति सेवा गोरक्षा विपणि कृपि । गिरिर्भैक्ष कुसीदं च दश  
जीवनहेतवः ॥' इति ॥ ४२ ॥

भाषा—कृपि, शिल्प ( कारीगरी ), भृति ( मजदूरी ), वेतन लेकर  
विद्याध्यापन, व्याज के लिये धनप्रयोग, भाड़े पर गाड़ी चलाना, पर्वत ( उप्त  
पर प्राप्त होने वाले तृण एवं ईंधन ), सेवा, अनूप ( प्रचुर तृण, वृत्त और  
जल स व्याप्त प्रदेश ), राजा ( राजा से याचना ) तथा भिक्षावृत्ति—य  
भाषित्काल में जीवन क साधन होते हैं ॥ ४२ ॥

यदा कृष्यादीनामपि जीवनहेतूनामसम्भवस्तदा कथं जीवनमित्यत आह—  
बुभुक्षितरूपं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत् ।

प्रतिगृह्य तदाख्येयमभियुक्तेन धर्मत ॥ ४३ ॥

धान्याभावेन त्रिरात्र बुभुक्षितोऽनरनन् स्थित्वा अब्राह्मणाच्छूद्रात्तद  
भावे वैश्यात् तदभावे क्षत्रियाद्वा हीनकर्मण एकाहपर्याप्त धान्य हरेत् । यथाह  
मनु ( ६।१।७ )—'तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि पडनरनता । अश्वस्तन-  
विधानेन हर्तव्य हीनकर्मण ॥' इति । तथा च प्रतिग्रहोत्तरकाल यदपहृत  
तद्धर्मनो यथावृत्तमाख्येयम् । यदि नौरितकन स्वाभिना ख्येद् किं नानामपह  
तमित्यभियुज्यते । यथाह मनु ( १।१।७ )—'बलात्प्रेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युप  
लभ्यते । आख्यातव्य तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥' इति ॥ ४३ ॥

भाषा—तीन दिन भूखा रहकर अब्राह्मण ( शूद्र या शूद्र के अभाव में  
वैश्य और उसके अभाव में क्षत्रिय ) के घर से अन्न सुरावे । पकड़े जाने पर  
जो कुछ सुरावा हो उसे धर्मपूर्वक यथा देना चाहिए ॥ ४३ ॥

इदमपरमापत्प्रसङ्गाद्वाज्ञो विधीयते—

तस्य वृत्तं कुलं शीलं श्रुतमध्ययनं तप ।

ज्ञात्या राजा कुटुम्बं च धर्म्या वृत्तिं प्रकुरूपयेत् ॥ ४४ ॥

१ न्यप्यनुज्ञायन्ते । २ रूपकरणादि । ३ तथाऽऽख्ये । ४ धान्य-  
माहरेत् । ५ नाटिकेन । ६ ममापहतमिति ।

योऽर्शनायापरीतोऽयसीदति तस्य घृतमाचार, कुलमाभिजाय, शीलमा-  
त्मगुण, श्रुत शास्त्रध्वज, अभ्ययन वेदाध्ययन, तपः कृच्छ्रादि च परीक्ष्य  
राजा धर्मादिगतेतां वृत्तिं प्रकरषयेत्, अन्यथा तस्य दोषः, तथा च मनु  
( ७।१३४ )—'यस्य राजस्यु विपये श्रोत्रिय सीदति पुष्या । तस्य सीदति  
तद्राष्ट्र दुर्मिष्याधिपीडितम् ॥' इति ॥ ४४ ॥

भाषा—उसके आचार, कुल, शील, शास्त्रज्ञान, वेदाध्ययन, तप और  
कुटुम्ब का ज्ञान प्राप्त करके राजा उसके लिए धर्मसम्मत वृत्ति निर्धारित  
करे ॥ ४४ ॥

इत्यापद्धर्मप्रकरणम् ।

### अथ धानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ३

चतुर्णांमाश्रमिणां मन्वे ब्रह्मचारिगृहस्थयोर्धर्माः प्रतिपादिता । सांप्रतमजप  
प्रस्ताम्बानप्रस्थधर्मान्प्रतिपादयितुमाह—

सुतविन्ध्यस्तपस्नीश्रुस्तया याऽनुगतो घनम् ।

धानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥ ४५ ॥

वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति घनप्रस्थ, घनप्रस्थ एव धान-  
प्रस्थ । सज्ञायां दैर्घ्यम् । भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य घन प्रतिष्ठासुरिति यावत् ।  
असौ सुतविन्ध्यस्तपस्नीक 'स्वयेय वरणीया' इत्येव मुने विन्ध्यस्ता निश्चिता  
पस्नी येन स तथोक्त । यदि सा पतिपरिचर्याभिलाषेण स्वयमपि वन जिगमि  
पति तदा तयाऽनुगतो वा सहित । तथा ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता साग्निवैतानाग्नि  
सहित तथा सोपासनो गृह्याग्निसहितश्च घन व्रजेत् । 'सुतविन्ध्यस्तपस्नीक'  
इति वदता कुनगाहर्षस्थो वनवासोऽधिक्रियत इति दर्शितम् । पृतरचाश्रम-  
समुच्चयपञ्चमश्रीकृतयोक्तम् । इतरथा 'अविप्लुतब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तु तमावसत्'  
इत्यकृतगाहर्षस्थोऽपि वनवासोऽधिक्रियत एव । अयं च वनप्रवेशो जरानर्जरक  
खेवरस्य ज्ञातपीत्रस्य वा । यथाऽह मनुः ( ६।२ )—'गृहस्थस्तु यदा परये-  
द्वलीपलितमात्मन । अपरपरस्यैव वाऽपश्य तदारण्य समाश्रयेत् ॥' इति ।  
अयं च पुत्रेषु पस्नीनिष्ठेषु विद्यमानभार्यस्य । मृतभार्यस्याप्यापस्तम्बादिभि  
वनवासस्मरणात् । अतो यत् ( आ० ८९ ) 'दाहयिस्वाग्निहोत्रेण' इति पुन-  
राधानविधान,—तदपरिपक्वपायविषयम् । 'साग्नि सोपासन' इत्यत्रापि  
यदार्धाधानं कृतं तदा श्रौताग्निभिर्गृह्येण च सहितो वन व्रजेत् । सर्वाधाने तु

श्रीतैरेव केवलम् । यदि कथञ्चिज्जपेष्टभ्रातुरनाहिताग्निस्वादिना श्रीतानयोऽ  
नाहितास्तर्हि केवल सोपासनो वज्रेदित्येष विवेचनीयम् । अग्नितनयन च  
तन्निर्वर्त्याग्निहोत्रादिकर्मसिद्धयर्थम् । अत एव मनु ( ६।९ )—'वैतानिक च  
ब्रह्मयादग्निहोत्र यथाविधि । दर्शनमस्क्रन्दयन्वर्वं पौर्णमास च शक्तिन ॥' इति ॥  
मनु च पुत्रनिश्चितपत्नीकस्य तद्विरहिण कथमग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठान घटते ?  
पत्न्य सह यष्टव्यम्' इति सहाधिकारनियमात्, सत्यमेव, किंत्वत्र पत्नीनिर्लेपविधि  
बलादेव तन्नैरपेक्षेणाधिकार कल्प्यते । यथा हि रजस्वलायां 'यस्य प्रत्येऽहनि  
पत्न्यनालंभुका रयाःसामपरुद्धयं यजेते'त्यपरोधविधिबलात्तन्निरपेक्षता । यद्वा  
वन प्रतिष्ठमानमेव पतिं पत्न्यनुमन्यत इति न विरोध । नच यथा ब्रह्मचारिणो  
विधुरस्य वा वन प्रस्थितस्याग्निहोत्रादिपरिलोपस्तथा निश्चितपत्नीकस्याप्य-  
ग्निहोत्राद्यभाव इति शङ्कनीयम्, अपाधिकारत्वेन श्रवणात् । नच ब्रह्मचारिविधुर-  
योरप्यग्निसाध्यकर्मस्वनधिकार । पञ्चममासादूर्ध्वमाहितश्रावणिकारनेस्तद-  
धिकारदर्शनात्, 'वानप्रस्थो जम्बिलक्षीराजिनवासा न फालकृष्टमधितिष्ठेत्,  
अकृष्ट मूलफल सचिन्वीत ऊर्ध्वरेता समाशयो दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयादूर्ध्वं  
पञ्चम्यो मासेभ्य श्रावणिकेर्नारीनाघायाहिताग्निर्हृत्तमूलको दद्याद् देवपितृ-  
मनुष्येभ्य स गच्छेत्स्वर्गमानन्त्यम्' इति वसिष्ठस्मरणात् । चीर वस्त्रखण्डो  
वदफल वा । न फालकृष्टमधितिष्ठेत्कृष्टक्षेत्रस्योपरि न निवसेत् । श्रावणिकेन  
वैदिकेन मार्गेण न लौकिकेनत्यर्थं ॥ ४५ ॥

भाषा—अपत्नी पत्नी को पुत्रीं क सरक्षण में छोड़कर अथवा उसे साथ  
लेकर, ( वैतानिक ) अग्नि और उपासना ( गृह्याग्नि ) सहित वन में जाकर  
ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वानप्रस्थ होये ॥ ४५ ॥

'साग्नि सोपासनो वनेत्' ( प्रा० ४५ ) इत्येतदग्निसाध्यश्रीतस्मार्तकर्म-  
नुष्ठानार्थनिरयुक्त, तत्र गुणविधिमाह—

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितृन्देवातिथीनपि ।  
भृत्यांश्च तर्पयेत् श्रमश्रुजटात्तोमभृदात्मवान् ॥ ४६ ॥

'फाल'ग्रहण कर्पणसाधनोपलक्षणम् । अकृष्टक्षेत्रोद्धवेन नीवारवेशुरयामा-  
कादिना अग्नींस्तर्पयेदग्निसाध्यानि कर्माण्यनुनिष्ठेत् । 'च'शब्दाद्भिषादानमपि  
तेनैव कुर्यात् । तथा पितृन्देवानतिथीन् 'अपि श दाद् भूता-पपि तेनैव तर्पयेत् ।  
तथा भृत्यान् 'च शब्दादाश्रमप्राप्तानपि । तथा च मनु ( ६।७ )—'यज्ञस्य  
स्थासतो दृष्टाद्दलिं भिक्षां च शक्तिन । अमूलफलभिषाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥'

१ दर्शनमास्क्रन्दयत् । २ तन्निरपेक्षेणाधिकार । ३ प्रात्येऽहनि ।  
४ लम्बिका । ५ अवरुध्य यजेतेत्यवरोध । ६ नाग्निमाधाय ।

इति । एवं पञ्चमहायज्ञान्कृत्वा स्वयमपि तद्व्येपमेव भुञ्जीत । ( ६।१२ )—  
 'देवताभ्यश्च तद्भुत्वा वन्य मेध्यतर इवि । दीपमात्मनि युञ्जीत लवण च  
 स्वयकृतम् ॥' इति मनुस्मरणात् । स्वयं कृतमूपरलवणम् । एव भोजनार्थं यागा-  
 र्थं च मुन्यन्नमियमाद् प्राग्वाहारपरित्यागोऽर्थसिद्ध । अत एव मनु ( ६।३ )—  
 'रुग्ण्य प्राग्वाहार सयं चैव परिच्छदम्' इति । ननु च दर्शपूर्णमासादेर्माहा-  
 दिप्राग्वाह्यसाध्यत्वात्कथं तत्परित्याग ? नच वचनीयम् 'अकालकृष्टेनाग्नींश्च'  
 ( वसि० १।३ ) इति विशेषवचनसामर्थ्याद् मीह्यादिषाध इति । विशेषविषयि-  
 ष्यापि स्मृत्या धृतिषाधस्यान्याटपत्वात्, अकालकृष्टविषेशे स्मार्ताग्निसाध्यकर्म-  
 विषयत्वेनाप्युपपत्ते । सत्यमेवम्, किंत्वत्र ग्रीह्यादेरप्यकालकृष्टत्वंसम्भवान्न  
 विरोध । अत एवोक्तं मनुना ( ६।११ )—'वासन्तदारदेमेष्यैमुं-यन्नै स्वयमा-  
 हतै । पुरोडाशाश्चरुश्चैव विधिमसिर्नपृथक् ॥' इति ॥ नीवारादीनां मुन्यन्नानां  
 स्वयमुत्पन्नानां स्वतो मेध्यत्वे सिद्धेऽपि पुन 'मेध्य'ग्रहणं यज्ञार्हमीह्यादिप्राग्वाह्य-  
 कृतम् । मेधो यज्ञस्तदहं मेध्यमिति । तथा शमश्रुणि मुखजानि रोमाणि जटारु-  
 पांश्च शिरोरुहाङ्कणादीनि च रोमाणि विभृयात् । 'रोम'ग्रहणं नत्वानामप्युपलक्ष-  
 णम् । तथा च मनु ( ६।६ )—'जटाश्च विभृयाजित्य शमश्रुलोमनखारतथा' इति ।  
 तथात्मवापारमोपासनाभिरत स्यात् ॥ ४६ ॥

भाषा—बिना जुती हुई भूमि पर स्वयं उत्पन्न ( नीवार, वेणु, श्याम, क  
 आदि ) अन्न से अग्नियों, पितरों, देवों, अतिथियों एवं सेवकों को तृप्त करे  
 ( पञ्च महायज्ञ करे ) दाढ़ी-मूँछ, जटा और शरीर के रोम बर्दाये रखे तथा  
 आत्मवान् ( उपासना में रत ) रहे ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्तद्रव्यसंचयनियममाह—

अहो मासस्य पण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा ।

अर्थस्य संचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत् ॥ ४७ ॥

एकमाह सचन्धि भोजनयज्ञादिदृष्टादृष्टकर्मण पर्याप्तस्वार्थस्य सचय  
 कुर्यात् । मासस्य वा पण्णां मासानां वा सवत्सरस्य वा सचन्धि कर्मपर्याप्त  
 सचय कुर्यात्, नाधिकम् । यद्येव क्रियमाणमपि कथंचिदतिरिच्यते तर्हि  
 तदतिरिक्तमाश्वयुजे मासि त्यजेत् ॥ ४७ ॥

भाषा—एक दिन, एक मास, छ मास या वर्षभर के लिये धन का  
 संचय करे और जो कुछ शेष सच जाय उसका आश्विन महीने में त्याग  
 कर डाले ॥ ४७ ॥

दान्तस्त्रिपवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ।

स्वाध्यायवान्दानशील सर्वसत्त्वरहिते रत ॥ ४८ ॥

किंच, दान्तो दर्परहित, त्रिपु सवनेपु प्राणमभ्यदिनापराह्णेषु स्नानशील । तथा प्रतिग्रहे पण्डितमुख । 'व श्वाघाजनादिनिवृत्तश्च । स्वाध्यायवान् वेदाभ्यासरत । तथा फलमूलभिषादिदानशील सर्वप्राणिहिताचरणनिरतरश्च भवेत् ॥ ४८ ॥

भाषा—दान्त ( दर्परहित ) हो, तीनों सवनों में ( प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न ) स्नान करे, दान न लेवे, स्वाध्याय ( वेदाभ्यास ) में लगा रहे, दान करे और सभी प्राणियों के हित में रत रहे ॥ ४८ ॥

दन्तोलूखलिक कालपकाशी धारमकुट्टरु ।

'श्रीत्रं स्मार्तं फलस्नेहै कर्म 'कुर्यात्तथा क्रिया ॥ ४९ ॥

किंच, दन्ता एवोलूखल निस्तुषीकरणसाधन दन्तोलूखल, तद्यत्पारित स दन्तोलूखलिक । कालेनैव पक्व कालपक्व नीवारवेणुरथामाकादि घदरेहुदादि फल च तदशनशील कालपकाशी । वा'शब्द 'अग्निपकाशनो वा स्वात्काल पक्वभुगोव वा' ( मनु ६।१७ ) इति मनुकाग्निपकाशित्वाभिप्राय । अरमकुट्टको वा भवेत् । अरमना कुट्टनमवहनन यस्य स तपोक्त । तथा श्रीत्र स्मार्तं च कर्म इष्टार्थाश्च भोजनाभ्यङ्गनादिक्रिया लकुचमधूकादिमेष्यतरुफलोद्भवै स्नेहद्वयै कुर्यात्, न तु घृनादिकै । तथा च मनु ( ६।१३ )—'मेष्यवृष्टो जवानघास्नेहाश्च फलसभवान् इति ॥ ४९ ॥

भाषा—दंतों से ही छीलकर खावे, समय से अपने आप पक्व हुए फल आदि का भोजन करे, अथवा पत्थर पर घूट कर खावे । श्रीत एव स्मार्तं कर्म तथा भोजन, अभ्यङ्गन आदि क्रिया फलों से निकले हुए चिकने तेल से करे ( घृत से नहीं ) ॥ ४९ ॥

पुरुषार्थतया विहितद्विर्भोजननिवृत्त्यर्थमाह—

चान्द्रायणैर्नयेत्कालं कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत्सदा ।

पक्षे गते वाप्यशनीयान्मासे वाऽहनि वा गते ॥ ५० ॥

चान्द्रायणैर्वक्ष्यमाणलक्षणै काल नयेत् । कृच्छ्रैर्वा प्राजापत्यादिभि काल वर्तयेत् । यद्वा, -पक्षे पञ्चदशदिनात्मनेऽतीतेऽशनीयात् । मासे वाऽहनि गते वा नक्तमशनीयात् । 'अपि'शब्दाच्चतुर्थकालिकत्वादिनापि । यथाह मनु ( ६।१९ )

१ श्रीतस्मार्तं । २ कुर्यात्क्रियास्तथा । ३ सदा कृच्छ्रैश्च वर्तयेत् ।

४ यातेऽञ्जमरनी ।

‘नक्षं वाऽप्त समक्षोषाद्दिवा पाद्व्यप दक्षिणः । चतुर्थं कालिको वा स्वाद्यद्वाप्यष्ट-  
मकालिकः ॥’ इति । एतेषां च कालनियमानां स्वयन्व्यपदेशना विस्तर ॥५०॥

भाषा—चान्द्रायण मन से समय विताये भयवा सदैव कृष्ट प्रस करे ।  
एक पक्ष या एक मास चीतने पर भोजन परे भयवा दिन चीतने पर ( रात  
को ) भोजन करे ॥ ५० ॥

स्वंप्याद्भूमौ शुची रात्री दिवा संप्रदैनयेत् ।

स्थानासनेविहारैर्यो योगाभ्यासेन वा तथा ॥ ५१ ॥

किंच, आहारविहारवसरपर्यं रात्री शुचिः प्रयतः स्वप्यात् गोपविरो-  
द्यापि तिष्ठेत् । शिवास्वप्नस्य पुरपम प्रार्थतया प्रतिपिद्यावात् तद्विरुत्तिपरम् ।  
तथाभूमायेव स्वप्यात् । तस्य भूमायेत्र, न शय्या-तरितापी मद्रकादी वा ।  
दिन तु संप्रदैनैर्नयेत् । स्थानासनरूपैर्षो विहारैः सचारै कंधिकाकालं  
स्थानं कश्चिच्छोपवेशनसिद्धये वा दिन नयेत् । योगाभ्यासेन वा । तथा च  
मनुः ( ६।२९ ) ‘वित्रिधाक्षीपनिपदांशाराप्रमंसिश्ये शुची।’ इति । आसनः ससि-  
द्धये मद्रास्वप्राप्तये । ‘तथा’ शय्यातरितापरिलोचनाद्वा नयेत् । ‘भूमौ विपरिवर्तेत  
तिष्ठेद्वा संप्रदैनम्’ ( ६।२९ )—इति मनुस्मरणात् । संप्रदे पादप्रेः ॥ ५१ ॥

भाषा—रात्रि को पवित्र टोकर ( नगी ) भूमि पर सोये और दिन  
भूमि पर विताये, भयवा स्थान ( यदे होने ) और आसन ( बैठने ) के विहार  
से या योगाभ्यास करते हुए दिन विताये ॥ ५१ ॥

ग्रीष्मे पञ्चाग्निमभ्यस्यो वर्षासु स्थण्डिलेशयः ।

आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्या यापि तपश्चरेत् ॥ ५२ ॥

किंच, ‘उत्तुं सवस्मरो ग्रीष्मे वर्षा हेमन्त’ इति दर्शनात् ग्रीष्मे चैत्रादि  
मासचतुष्टये चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽग्नयः उपरिष्ठादां दस्य दस्य पञ्चानामग्नीना  
मध्ये तिष्ठेत् । तथा वर्षासु धावणादिमासचतुष्टये स्थण्डिलेशय वर्षाधारा  
विनिवारणविरहिणि भूतले निवसेत् । हेमन्ते मार्गशीर्षादिमासचतुष्टये क्लिन्न  
वासो वसीत । पूर्वविधतपश्चरणे असमर्थः स्वशक्ययनुरूप वा तपश्चरेत् ।  
यथा शरीरशोषस्तथा यतेत—‘तपश्चरन्मोक्षतर शोषयेद्देहमात्मनः’ ( ६।२४ )  
इति मनुस्मरणात् ॥ ५२ ॥

भाषा—ग्रीष्म ऋतु में पचाग्नि के बीच बैठे, वर्षा ऋतु में भीगी हुई  
भूमि पर सोये, हेमन्त ऋतु में भीले चन्द्र पहन कर रहे भयवा अपनी शक्ति  
के अनुसार तपस्या करे ॥ ५२ ॥

यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति ।

अनुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च ॥ ५३ ॥

दुचिर्भूमौ स्वपेद्रात्री दिवस प्र । २. चन्दनैर्यो विधि ।



किंच, य कश्चित्कण्टकादिभिर्विबिधमङ्गानि तुदति स्वययति तस्मै न  
 क्रुष्येत् । यश्चन्दनादिभिरुपलिम्पति सुखयति तस्य न परितुष्येत् । किंतु  
 तयोरुभयोरपि सम स्यादुदासीनो भवेत् ॥ ५३ ॥

भाषा—जो काटा चुभाता हो और जो चन्दन का लेप करता हो उन  
 पर क्रमशः न क्रुद्ध होवे और न प्रसन्न होवे । इन दोनों पर ही समान दृष्टि  
 कोण रख ( अर्थात् उदासीन होकर रहे ) ॥ ५३ ॥

अग्निपरिचर्यासुम प्रत्याह—

अग्नीन्वाप्यारमसात्कृत्वा वृक्षावासो मितान्नन ।

घानप्रस्थगृहेष्वेव यानार्थं भैक्षमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अग्नानात्मनि समारोप्य वृक्षावासो वृक्ष एव आवास कुटी यस्य स  
 तथोक्त । मितान्नन स्वल्पपाहार । 'अपि'शब्दात्फलमूलाशनश्च भवत् ।  
 यथाह मनु ( ६।२५ )—अग्नीनात्मनि यैतानान्समारोप्य यथाविधि । अग्निर्-  
 निकेतं स्यान्मुनिर्मूलफलाशन ॥ इति । मुनिर्गौतमव्रतयुक्त । फलमूलासभवे च  
 यावत्प्राणधारण भवति तावन्मात्र भैक्षं घानप्रस्थगृहेष्वचरेत् ॥ ५४ ॥

भाषा—अग्निपौ का अपनी आत्मा में ही समारोप करके, वृक्ष को ही  
 आवास बनाकर ( अर्थात् वृक्ष के नीचे ही निवास करते हुए ) अन्न  
 दारी होकर और जीवन यात्रा भर के लिये ही अन्न घानप्रस्थों के घर से  
 मागे ॥ ५४ ॥

यदा तु तदसमवो स्याभ्यभिभवो वा तदा किं कार्यमित्यत आह—

ग्रामादाहृत्य वा प्रासान्णो भुञ्जीत वाग्यत ।

ग्रामाद्वा भैक्षमाहृत्य वाग्यतो मौना भूत्वा अष्टौ प्रासा भुञ्जीत । प्राग्य-  
 भैक्षविधाना-मु-यज्ञनियमोऽर्धलुप्त । यदा पुनरष्टभिर्ग्रासैः प्राणधारण न सम्भवति  
 तदा 'अष्टौ प्रासा मुनेर्भैक्षं वाग्यप्रस्थस्य पौडशे'ति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥—

भाषा—अथवा गाँव से अन्न लाकर मौन होकर केवल आठ प्रास  
 ( कौर ) खावे ।

सकलानुष्ठानासमर्थं प्रत्याह—

वायुभक्षः प्रागुदीचीं गच्छेद्वाऽऽवर्त्मसंक्षयात् ॥ ५५ ॥

अथवा, -वायुरेव भक्षो यस्यासी वायुभक्षः प्रागुदीचीमैशानीं दिश  
 गच्छेत् । आ वर्त्मपक्षपात् वर्त्मं चपुस्तस्य निपातपर्यन्तमकुण्डिलगतिर्ग-  
 च्छेत् । यथाह मनु ( ६।३१ )—'अपराजिता वास्वाय गच्छेद्दिशमजिह्वाम'  
 इति । महाप्रस्थानेऽप्यशक्ती भृगुपतनादिक वा कुर्वात् 'वाग्यप्रस्थो वीराधान

उपलनाम्बुप्रवेशनं ऋगुपतनं धानुतिष्ठेत्' इति स्मरणात् । घानाचमनादिधर्मा  
 ब्रह्मचारिप्रकरणाद्यभिहिताश्चारिरोधिनोऽस्यापि भवन्ति; 'उत्तरोपां चैतद्विरोधि'  
 इति गीतमस्मरणात् । एवं प्रागुदितैन्दवादिदीक्षामहाप्रस्थानपर्यन्तं तनुरवागा-  
 न्तमनुतिष्ठन्ब्रह्मलोके पूर्ववत्तां प्राप्नोति । यथाह मनुः ( ६।३२ )—'आस्तां मह-  
 र्पिचर्याणां स्वस्वस्वान्वतमथा तनुम् । द्योतनोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महोयते ॥'  
 इति । ब्रह्मलोकः स्थानविरोपो ननु निरयं ब्रह्म । तत्र 'लोक'शब्दस्याप्रयोगात् ।  
 तुरीयाधर्ममन्तरेण मुक्यनङ्कोकारात् । नच 'योगाभ्यासेन वा पुनः' (प्रा० ५३)  
 इति ब्रह्मोपासनविषयानुपपत्त्या तद्भावापत्तिः परिशङ्कनीया । सालोक्यादिप्राप्त्यर्थ-  
 स्वेनापि तदुपपत्तेः । अत एव श्रुतौ 'प्रथो धर्मस्त्वधा' इत्युपक्रम्य 'यज्ञोऽव्ययनं  
 दानमिति प्रथमः, नप एवेति द्वितीयः, ब्रह्मचर्याचार्यकुलप्राप्ती तृतीयः । अत्यन्त-  
 भाचार्यकुल एवभामानमवसाद्ययत्ति गार्हस्थ्यवानप्रथमैष्ठिकस्वस्वरूपमभि-  
 धाय सर्वं एते पुण्यलोका भवन्तीति घ्रायाणामाश्रमिणां पुण्यलोकप्राप्तिमभिधाय  
 ब्रह्मसंस्थोऽमृतस्यमेति' इति पारिदोष्याःपरिवाजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य मुक्तिलक्षणा-  
 मृतत्वप्राप्तिरभिहिता । यदपि 'आद्ब्रह्मस्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते' इति  
 गृहस्थस्यापि मोक्षप्रतिपादनं तद्भवान्तरानुभूतपारिदोष्यस्येत्येवगन्तव्यम् ॥५५॥

भाषा—अथवा वायु का भक्षण करने हुए ( उपवास करते हुए )  
 ईशान दिक्षा की ओर तब तक चलता जाये जब तक शरीर पात नहीं  
 हो जाता ॥ ५५ ॥

इति धानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ।

### अथ यतिधर्मप्रकरणम् ४

वैश्वानरमकर्मनिनुकस्य क्रमगार्हान्परिवाजकधर्मास्तोप्रतं प्रस्तौति—

चनाद् गृह्णाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम् ।

प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि ॥ ५६ ॥

अधीतवेदो जपकृत्पुत्रवानन्नदोऽग्निमान् ।

शक्त्या च यत्कृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ ५७ ॥

यावता कालेन सान्नप शोषितवपुषो विषयक्यावपरिपाको भवति  
 पुनश्च मदीन्द्रपाशङ्का भोऽन्नाभ्यते तावत्कालं वनवासं कृत्वा त समनन्तरं मोक्षे  
 मनः कुर्यात् । 'वन गृह शब्दान्यां तस्वन्ध्याश्रमो लक्ष्यते । 'मोक्ष'शब्देन च  
 भोक्तैकफलवक्ष्यतुर्धाश्रमः ॥ अथवा, गृहाद् गार्हस्थ्यदानन्तरं मोक्षे मनः कुर्यात् ।  
 अनेन च पूर्वोक्तश्रुत्याधर्मसमुच्चयपक्ष पात्रिक इति द्योतयति । तथा

१. धानप्रस्थधर्मान् । २ सर्वे ।

च विक्रवो जाबालश्रुतौ ध्रुवते—'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रमज्जेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रमज्जेत् गृहाद्वा वनाद्वा' इति । तथा 'गार्हस्थ्योत्तराश्रमवाधश्च गौतमेन दर्शितः ( ३।३६ )—'पेकाश्रम्यं स्वाचार्याः प्रत्यक्षविधःनाद्गार्हस्थ्यस्य' इति । एतेषां च समुच्चयविकल्पवाधवशात् सवेषां श्रुतिमूलवादिच्छ्रया विकल्पः । अतो यत्कैश्चिद्विहितं मन्यैरुक्तम्—'स्मार्तैस्वाननैष्टिकत्वादीनां गार्हस्थ्येन श्रौतेन वाधः गार्हस्थ्यानधिष्ठान्ध्वज्जीवादिविषयता वा' इति तत्संवाध्यायाप्ययनधैर्धुर्धनि-  
 यन्धनमित्युपेक्षणीयम् । किंच,—यथा विष्णुकर्मणाऽयावेक्षणशक्तमतया पंखादीनां श्रौतेष्वनधिकारस्तथा स्मार्तैस्त्वप्युदकुम्भाहरणभिच्छास्त्रादीन्वचमत्वारकथं पंखादि-  
 विषयतया नैष्टिकत्वाद्याश्रमनिर्वाहः अस्मिन्नाश्रमे ब्राह्मणस्यैवाधिकारः । मनुः ( ६।१५ )—'भारमन्यमोन्ममारोप्य ब्राह्मणः प्रमज्जेद् गृहात् ।' तथा ( ६।१७ )—  
 'एष घोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः' इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां मनुना ब्राह्मणस्याधिकारप्रतिपादनात् । 'ब्राह्मणाः प्रमज्जन्ति' इति श्रुतेः श्रममन एवा-  
 धिकारः, न द्विजातिमात्रस्य । अन्ये तु श्रैवर्णिकानां प्रकृतत्वात् 'प्रयाणो वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनाच्च द्विजातिमात्रस्याधि-  
 कारमाहुः ॥ यदा च वनाद् गृहाद्वा प्रमज्जति तदा सार्ववेदसदृशिगो सार्ववेदस्य सर्ववेदसंबन्धिनी दक्षिणा यस्याः सा तथोक्ता तौ प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा सद्गते तान्वैतानानग्नीनामग्निं श्रुत्युक्तविधानेन समारोप्य 'च' सत्त्वात् 'उदगयने षोणंमारस्यो पुरश्चरणमादौ कृत्वा शुद्धेन कायेनाष्टौ धाद्धानि निर्वपेन् द्वादश वा' इति बौधायनाद्युक्त पुरश्चरणादिकं च कृत्या तथाऽधीतवेदो जप-  
 रायणो जातपुत्रा दोनान्धकृपणापितार्थो यथाशक्त्यासदृश भूत्वाऽनाहिता-  
 मिर्ष्येष्टवादिना प्रतिबन्धाभावे कृताधानो नित्यनैमित्तिकान्यज्ञानकृत्वा मोक्षे मनः कुर्यात्—चतुर्धाश्रमं प्रविशेत्तान्यथा । अनेनानपाकृतनष्टस्य गृहस्यस्य प्रमज्ज्यायामधिकारं दर्शयति ॥ यथाह मनुः ( ६।३५ )—'शृणानि श्रीष्य-  
 पाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो ब्रह्मचरः ॥' इति ॥ यदा तु ब्रह्मचर्याश्रममज्जति तदा न प्रजोत्पादनादिनियमः, अकृतदाराप-  
 रिग्रहस्य तत्रानधिकारात् शानप्रयुक्तत्वाच्च विवाहस्य । नच आगप्रवावाकरण-  
 विधिरेव दारानास्तिपतीति दाहनीयम् । विद्याधनार्जननियमवद्भ्यप्रयुक्तदर-  
 संभवे तस्यानासेवकत्वात् । ननु 'जायमानो वै ब्रह्मणस्त्रिभिर्शतं गवाऽप्यपते ब्रह्मचर्येण पित्र्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रज्जवा पितृभ्यः' इति जातमात्रस्यैव प्रजोत्पाद-  
 नादीन्यावरणकानीति दर्शयति । मैवम् ; यदि जातमात्रः अकृतदारापरिग्रहो

यज्ञाद्विष्वधिक्रियते सरमाधिकारी जायमानो ब्राह्मणादिर्षशादीननुतिष्ठेदिति  
सस्यार्थं । अतश्चोपनीतस्य वेदाभ्ययनमेवावश्यम् । कृत्नदारान्निपरिमहस्य  
प्रजोत्पादनमपीति निरवधम् ॥ ५६-५७ ॥

भाषा— वानप्रस्थ अथवा गृहस्थाधम के उपरान्तसम्पूर्ण वेद से सबद  
दक्षिणा वाली प्रजापति देवता की इष्टि करके और उसके अन्त में उर्ध्वी  
अग्निथो का अपने आत्मा में समारोप करके, वेदों का अध्ययन करके, उप  
परायण होकर, पुत्रवान् होने पर, ( दीन दु रियों को ) यथाशक्ति अन्न  
देकर, अग्नि में होम और दानिके अनुसार यज्ञ करके मोक्षप्राप्ति की  
( रुक्त्वपूर्वक ) इच्छा करे, अन्यथा ( ऐसा न होने पर ) मोक्ष की इच्छा  
न करे ॥ ५६-५७ ॥

एवमधिकारिण निरूप्य तद्धर्मानाह—

सर्वभूतहितः शान्तरिद्रण्डी सकमण्डलु ।

एकाराम परिव्रज्य मिश्रार्थी ग्राममाधयेत् ॥ ५८ ॥

सर्वभूतेभ्य प्रियाप्रियकारिभ्यो हित उदासीनो, न पुनर्हिताचरण । 'हितं  
नुप्रहयोरनारम्भी' ( ३।२४, २५ ) इति गौतमस्मरणात् । 'शान्तो याह्यान्त-  
करणोपरत, त्रयो दण्डा अस्य सन्तीति त्रिदण्डी । ते च दण्डा यैणवा ग्राह्या ।  
'प्रान्नापत्येष्टयनन्तर त्रीन्वैणवान्दण्डान्मूर्धपरमाणा दक्षिणेन पाणिना धारयेत्सस्येन  
सोदक कमण्डलुम्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । एक वा दण्ड धारयेत् 'एकदण्डी  
त्रिदण्डी वा' ( ३।१०।४० ) इति बौधायनस्मरणात् । 'चतुर्थमाधम गच्छेद् म  
ह्यविद्यापरायण । एकदण्डी त्रिदण्डी वा सर्वसगविवर्जित ॥' इति चतुर्वि-  
ंशतिमते दर्शनाच्च । तथा शिखाधारणमपि वैकल्पिकम् । 'मुण्ड शिखी वा'  
( ३।२२ ) इति गौतमस्मरणात् । 'मुण्डोऽममोऽधोऽपरिमह' ( १०।६ )  
इति वसिष्ठस्मरणात् । तथा यज्ञोपवीतधारणमपि वैकल्पिकमेव । 'सशिखा-के-  
दासिहृन्त्य विसृज्य यज्ञोपवीतम्' इति काठकश्रुतिदर्शनात्—'कुटुम्ब पुत्रदाराश्च  
वेदाङ्गानि च सर्वशः । वेशा-यज्ञोपवीत च स्वपरा गूढश्चरे-मुनि ॥' इति  
वाल्किलस्मरणाच्च । अथ यज्ञोपवीतमण्डु जुहोति भू स्वाहति अथ दण्डमाधत्ते  
सस्ये मा गोपाय' इति परिशिष्टदर्शनाच्च । यथाशक्तिस्तदा कन्यापि ग्राह्या ।  
'कापायी मुण्डसिदण्डी सकमण्डलुपवित्रपादुकासनकन्धामात्र' इति देवल-  
स्मरणात् । शौचाद्यर्थं कमण्डलुमद्वितश्च भवेत् । एकाराम प्रव्रजितान्तरेणा  
सहाय सन्वासिनीभि स्त्रीभिश्च । 'स्त्रीणां चैकं' इति बौधायनेन स्त्रीणामपि  
प्रव्रज्यास्मरणात् । तथा च दृष्ट — 'एको भिक्षुर्यथोक्तश्च द्वावेव मिथुन स्मृतम् ।

१ शान्त करणोपरत । २. मनोपरिमह ।

अथो ग्राम समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥ राजवार्तादि तेषां तु भिद्यावार्ता  
परस्परम् । अवि पैशुन्यमारस्य सन्निकर्षाच्च सशप ॥' इति । 'परिव्रज्य  
परिपूर्वो व्रततिरयानो वर्तते । अतश्चाहममाभिमान साकृत च लौकिक कर्म  
निघय वैदिक च निश्चयाभ्यासक सायजेत् । तदुक्त मनुना ( १२।८८, ८९,  
९२ ) 'सुखाम्युदयिक चैव नैश्रेयसिकमेव च । प्रवृत्त च निवृत्त च द्विविध  
कर्म वैदिकम् ॥ इह वामुत्र वा काम्य प्रवृत्त कर्म कीर्त्यते । निष्काम ज्ञानपूर्वं  
तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तम । आत्मज्ञाने  
शमे च स्याद्देवाभ्यासे च यानवान् ॥' इति । अत्र वेदाभ्यास प्रणवाभ्यासरतत्र  
यानवान् । भिद्याप्रयोजनार्थं ग्राममाध्वयत् प्रविशेत्, न पुन सुखनिवासार्थम् ।  
वर्षाकाले तु न दोष, 'ऊर्ध्वं वार्षिकाभ्यां मासाभ्यां नैकस्थानवासी' इति  
शङ्खस्मरणात् । अशक्नो पुनर्मासचतुष्टयपर्यन्तमपि स्थातभ्य न चिरमेवत्र  
वसेदन्यत्र वर्षाकालात्, 'धावणादवश्चवारो मासा वर्षाकाल' इति देवल  
स्मरणात् ।—'एकरात्र वसेद् ग्रामे नगरे रात्रिपञ्चकम् । वर्षाभ्योऽ यत्र वर्षासु  
मासांस्तु चतुरो वसेत् ॥' इति काण्वस्मरणात् ॥ ५८ ॥

भाषा—प्रिय और अप्रिय सनी जीवों के प्रति उदासीन होकर शान्त  
( बाह्य एव अन्त करण के शोभ से रहित ) होकर, तीन दण्ड और कमण्डलु  
धारण करके, सबसे अलग अकेले रहकर, सबका ( अहंकार आदि  
दोष एव लौकिककर्म का ) त्याग करके केवल भिद्या के लिये गाँव में निवास  
करे ॥ ५८ ॥

कथं भिद्याटन कार्यमिष्यत आह—

अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्नेऽनभिलक्षित ।

रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रमलोलुप ॥ ५९ ॥

अप्रमत्तो वाक्चक्षुरादिचापलरहितो भैक्ष चरेत् । वसिष्ठेनात्र विशेषो दर्शित  
( १०।७ ) 'ससागाराण्यसकल्पितानि चरेद्भैक्षम्' इति । सायाह्ने अह्न पञ्चमे  
भाग्ये । तथा च मनु ( ६।५६ )—'विधूमे स-नमुसले व्यहारे भुक्तवज्जने ।  
वृत्ते शरावसपाते निश्च भिक्षां यतिश्चरेत् ॥' इति । तथा—'एककाल चरेद्भिक्षा  
प्रसङ्गे-न तु विस्तरे । भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयैस्वपि सज्जति ॥ ( ६।५५ )  
इति । अनभिलक्षित इत्येतिर्विज्ञानोपदेशादिना अचिह्नित । मनु ( ६।५० )—  
'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राद्भविष्या । नानुशासनवादाभ्या भिक्षां लिप्सेत्  
कहिचिद् ॥' इति तेनोक्तत्वादिति ॥ य-पुनर्वसिष्ठवचनम्—'ब्राह्मणकुले वा

यज्ञभेत्तजुञ्जीत सायंप्रातर्मानवउयम्' इति,—तदनाक्तविषयम् । भिक्षुकैर्भिक्षण-  
दीलैः पाण्डुवादिभिर्वर्जिते प्राप्ते । मनुनात्र विशेष उक्तः (६।५१)—'न ताप-  
सैर्ब्राह्मणैर्वा उयोभिरपि वा श्रमिः । आकीर्णं भिक्षुकैरन्यैरगारमुपसंभ्रजेत् ॥'  
इति । याचना प्राणयात्रा वर्तते तावन्मात्र भैर्षं चरेत् । तथा च संवर्त—'अष्टौ  
भिक्षा' ममादाय मुनिः सप्त च पञ्च वा । अत्रि प्रचाण्य ताः सर्वास्ततोऽ-  
श्नीयाद्य चाप्यतः ॥' इति । अलोलुपो मिष्टान्नवज्रनादिव्यप्रसक्तः ॥ ५९ ॥

भाषा—प्रमादरहित होकर ( वाणी, नेत्र आदि इन्द्रियों की चपलता छोड़कर ), उयीतिप शास्त्र आदि द्वारा विचार न करके, सायंकालमें, जिस गांव में धन्य भिक्षुक न हो' उस गांव में लोभरहित होकर केवल जीवन चलाये भर के लिए पर्याप्त भिक्षा ग्रहण करे ॥ ५९ ॥

भिक्षाचरणार्थं पात्रमाह—

यतिपात्राणि मृद्वेणुदार्वलावुमयानि च ।

सलिलं शुद्धिरेतेषां गोवालैश्चावघर्षणम् ॥ ६० ॥

मृदादिप्रकृतिकानि यतीनां पात्राणि भवेयुः । तेषां सलिलं गोवालावघर्षणं च शुद्धिपापनम् । इयं च शुद्धिर्भिक्षाचरणादियोगाद्भूता, नामेध्यास्तुपइति-  
विषया । तदुपघाते द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्ता द्रव्या अत एव मनुना (६।५३)—  
'अतैजसानि पात्राणि तरप रजुर्निर्भ्रगानि च । तेषामग्निं स्मृत शौचं चमत्ताना-  
मिवाप्सरे ॥' इति । चमत्तरणान्तोपादानेन प्रायोगिकी शुद्धिर्दर्शिता । पात्रान्त-  
राभावे भोजनमपि तत्रैव कार्यम् ; 'तत्रैष्य गृहीत्यैकान्ते तेन पात्रेणान्वेन वा  
तूर्णी प्राणमात्र मुञ्जीते'ति देवलस्मरणात् ॥ ६० ॥

भाषा—मिट्टी, घाँस, काठ और अलावु ( लौकी ) के घने हुए सन्या-  
सियों के पात्रों की शुद्धि जल से और गोवाल द्वारा मलने से होती है ॥ ६० ॥

एवभूतस्य यतेरामोपासनाङ्गं नियमविशेषमाह—

संनिरुद्धयेन्द्रियप्रामं रागद्वेषौ प्रहाय च ।

मयं हित्वा च भूतानाममृतीभवति द्विजः ॥ ६१ ॥

चक्षुरादीन्द्रियसमूह रूपादिविषयेभ्यः सम्यङ्निरुध्य विनिवर्त्यं रागद्वेषौ  
प्रियाप्रियविषयौ प्रहाय त्यक्त्वा 'च' शब्दाद्येष्यादीनपि, तथा भूतानामपकारेण  
भयमकुर्वन् शुद्धान्तःकरणः मन्त्रद्वैतासाक्षात्कारेणामृतीभवति मुक्तो भवति ॥

भाषा—इन्द्रियों को सम्यक् रूप से अपने मन में करके ( विषयों से मोड़कर ), तथा राग और द्वेष का त्याग करके, प्राणियों को अपकार द्वारा

१. भिक्षाहरणप्रयोग । २ विहाय । ३. अपकारणेन ।

अथ न उत्पन्न करते हुए ( अद्वैत के साक्षात्कार से ) मुक्त हो जाता है ॥ ६१ ॥

कर्तव्याशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः ।

ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्स्यात्स्वयंकरणाय च ॥ ६२ ॥

किं च, विषयाभिलाषद्वयनितदोषरूपवित्तस्याशयस्यान्त करणस्य शुद्धि फलमपत्तय. प्राणायामै कर्तव्या तस्या शुद्धेरारमाद्वैतसाक्षात्काररूपज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात् । एवं च सति विषयासक्तितज्जनितदोषात्मकप्रतियन्धत्तये सत्यात्मभ्यानधारणादी स्वतन्त्रो भवति । तस्मान्निष्ठुकेण त्वेषा शुद्धिर्विशेषतोऽनुष्ठेया, तस्य मोक्षप्रधानत्वात् । मोक्षस्य च शुद्धान्त करणतामन्तरेण दुर्लभत्वात् । यथाह मनु ( ६।७।१ )—‘दृष्टान्ते ध्यायमानानां धातुर्ना हि यथा मला । तथेन्द्रियाणां दृष्टान्ते दोष प्राणस्य निग्रहात् ॥’ इति ॥ ६२ ॥

भाषा—सग्यासी को विशेषतया अन्त करण की शुद्धि ( प्राणायाम द्वारा ) करनी चाहिए, क्योंकि वह ज्ञान उत्पन्न करने वाली और ( आत्मभ्यान एवं धारणा आदि में ) स्वतन्त्र बनाने वाली होती है ॥ ६२ ॥

इन्द्रियनिरोधोपायतया सत्तारस्वरूपनिरूपणमाह—

अवेक्ष्या गर्भवासाश्च कर्मजा गतयस्तथा ।

आधयो व्याधय फलेशा जरा रूपविपर्यय ॥ ६३ ॥

भवो जातिसदृशेषु प्रियाप्रियविपर्यय ।

वैराग्यसिद्धयर्थं मूत्रपुरीषादिपूर्णानां विषगर्भवासा अवेक्षणीया पर्यालोचनीया । ‘व’शब्दाज्जनोपरमावपि तथा निषिद्धाचरणादिक्रियाजन्या महारौरवादिभिरपतनरूपा गतयः । तथा आधयो मत्र पोषा, व्याधयश्च उत्रातीता राणा शारीरा, फलेशा अविद्यादिमतारागद्वेषाभिनिवेशा पक्ष, जरा वलीपलिताद्यभिभव रूपविपर्यय स्रज्जुवज्रवादिना प्राक्तनस्य रूपस्यान्यथाभाव तथा श्वसूकररौरोगाद्यनेकजातिषु भव उत्पत्तिः । तथा ‘इष्टस्याप्राप्ति अनिष्टस्य प्राप्ति’ ( योगसू० १-२ ) इत्यादिवहुतरवलेशावह सत्तारस्वरूप पर्यालोच्य तत्परिहारार्थमात्मज्ञानोपायभूतेन्द्रियजये प्रयतेत ॥ ६३ ॥

भाषा—गर्भवाम ( के कष्टों ) एवं ( निषिद्ध ) कर्म के करने से उत्पन्न होने वाली गतियों ( महारौरव नरक आदि ), मानसिक कष्टों, शारीरिक रोगों, पृदावस्था, रूप के ( लगदा, कुददा आदि होने से ) विगदने, सुद एवं गन्दे जीवों की जानि में जन्म, इष्ट की अप्राप्ति एवं अनिष्ट की प्राप्ति का विचार करना चाहिए ॥ ६३ ॥

पुत्रमवेक्ष्यानन्तरं किं कार्यमिष्यत आह—

ध्यानयोगेन 'संपश्येत्सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितिः ॥ ६४ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, आत्मैकाग्रता ध्यानं, तस्या एव बाह्यविषयस्योपरमः ध्यानयोगेन निदिध्यासतापरपर्यायेण सूक्ष्मशरीरप्राणादिव्यतिरिक्तः क्षेत्रज्ञ आत्मा आत्मनि ब्रह्मण्यवस्थितः इत्येवं तत्त्वं पदार्थयोरभेदं सम्यक् पश्येदपरोक्षीकुर्वान् । अत एव श्रुतौ ( वृ० उ० ५।४।५ ) 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इति साक्षात्काररूपं दर्शनमनुच्य तस्मात्प्रधानत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ( वृ० ५।४।५ ) इति श्रवणमनननिदिध्यासनानि विहितानि ॥ ६४ ॥

भाषा—और ध्यान ( चित्त की एकाग्रता ) और ध्यान ( चित्तवृत्ति के निरोध ) से आत्मा को ब्रह्म में स्थित देखे ॥ ६४ ॥

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः ।

अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥ ६५ ॥

किंच, प्राक्तनश्लोकोक्तात्मोपासन इत्ये धर्मे नाश्रमो दण्डकगण्डत्वादिधारणं कारणम् । यस्मात्सौ क्रियमाणो भवेदेव नातिबुद्धरः । तस्माद्यदात्मनोऽपथ्य-सुद्वेगकरं परुषभाषणादि तत्परेषां न समाचरेत् । अनेन ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतान्तःकरणशुद्ध्यापादनत्वेनान्तरङ्गत्वाद्भागद्वेषप्रहाणस्य प्रधानत्वेन प्रशंसार्थमाश्रम-निराकरणं न पुनस्तत्परिहाराय तस्यापि विहितमात् । तदुक्तं मनुना ( ६।६६ )—'दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे वसन् । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥' इति ॥ ६५ ॥

भाषा—किसी धर्म के आचरण में कोई विशेष आश्रम कारण नहीं है; वह तो करने से होता है । इसलिये अपने को जो न रुचे ( उद्वेग कर लगे ) वह दूसरों के लिये नहीं करना चाहिये ॥ ६५ ॥

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्यी शौचं धीर्धृतिर्दमः ।

संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्वं उदाहृतः ॥ ६६ ॥

किंच, सत्यं यथार्थमिष्यवचनम्, अस्तेयं परद्रव्यानपहारः, अक्रोधोऽप-कारिण्यपि क्रोधस्यानुत्पादनम्, होलंजा शौचमाहारादिशुद्धिः, धीर्हिताहित-विवेकः, चन्द्रिरिष्टविभोगेऽनिष्टप्राप्तौ प्रघटितचित्तस्य यथापूर्वमवस्थापनम्, दमो मदस्यागः, संयतेन्द्रियता अप्रतिषिद्धैष्वपि विषयेष्वनतिसङ्गः, विद्या आत्मज्ञानम्, एतैः सत्यादिभिर्गुणैः सर्वो धर्मोऽनुष्ठितो भवति । अनेन दण्डकगण्डत्वादि-धारणवादात्तत्वात् ( वृ० उ० ४।५।६ ) सत्यादीनामारमगुणानामन्तरङ्गतां द्योतयति ॥ ६६ ॥



भाषा—सत्य, अस्तेय, अक्रोध, अज्जा, विवेक, धैर्य ( दुःख में विचलित न होना ), दम ( मदश्याग ) इन्द्रियो' का समय, और विद्या—ये सभी धर्म कहे गये हैं ॥ ६६ ॥

ननु ध्यानयोगेनात्मनि स्थितमात्मान पर्येदित्युक्तम्, जीवपरमारमनोर्भेदा भावादिभ्यत आह—

नि सरन्ति यथा लोहपिण्डात्तत्तास्फुलिङ्गकाः ।

सकाशादात्मनस्तद्वदात्मान प्रभवन्ति हि ॥ ६७ ॥

यद्यपि जीवपरमारमनो. पारमार्थिको भेदो नास्ति तथाप्यात्मन सकाशाद् विद्योपाधिभेदमिन्नतया जीवात्मान प्रभवन्ति हि यस्मात् तस्माद्युक्त एव जीवपरमारमनोर्भेदव्यपदेश । यथा हि तस्माद्धोहपिण्डाद्योगोलकाद्विस्फुलिङ्गका स्तेजोवयवा नि सरन्ति नि सृताश्च स्फुलिङ्गव्यपदेश लभन्ते तद्वत् अत उपपन्न आत्मात्मनि स्थितो द्रष्टव्य इति । यद्वाऽयमर्थ—ननु सुषुप्तिसमये प्रलये च सकलज्ञेयज्ञाना ब्रह्मणि प्रलीनत्वात्कस्यायमात्मोपासनाविधिरित्यत आह—नि . सरन्तीत्यादि । यद्यपि सूक्ष्मरूपेण प्रलयवेलाया प्रलीनारतथाप्यात्मन सकाशाद्विद्योपाधिभेदमिन्नतया जीवात्मान प्रभवन्ति, पुन कर्मवशात्स्थूलशरीराभिमानिनो जायन्ते, तस्माद्युपासनाविधिविरोध , तैजसस्य पृथग्भावसाग्याहोहपिण्डदृष्टान्त ॥ ६७ ॥

भाषा—जिस प्रकार तपाये गये लोहे के पिण्ड से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार आत्मा (ब्रह्म) से अनेक आत्मा (जीवात्मा) उत्पन्न होते हैं ॥ ६७ ॥

ननु चानुपात्त-पुष्पां चेत्रज्ञाना निष्परिस्पन्दतया कथ तन्निबन्धनो जरायु जाण्डजादिषुविधदेहपरिमह इत्यत आह—

तत्रारमा हि स्थयं किञ्चित्कर्म किञ्चित्स्वभावतः ।

करोति किञ्चिद्भ्यासाद्धर्माधर्मोर्भयारमकम् ॥ ६८ ॥

यद्यपि तस्यामवस्थायां परिस्पन्दारमकक्रियाभावस्तथापि धर्माधर्माभिव्य साधारणक कर्म मानसं भवत्येव । तस्य च विशिष्टशरीरग्रहणहेतुत्वमस्त्येव, 'वाचित्त्रै पक्षिमृगतां मानसैरन्यजातितः' ( १२।९ ) इति मनुस्मरणात् । एव गृहीतवपु स्वयमेवाव्यपश्यतिरेकनिर्पेक्ष, स्तन्यपानादिके कृते सृष्टिर्भवत्यकृते न भवतीत्येवरूपी यावन्व्यपश्यतिरेकौ तत्र निरपेक्ष प्रारम्भवीयानुभवभावितभाव नानुभावोद्भूतकार्यावबोध किञ्चित्स्तन्यपानादिक करोति, किञ्चित्स्वभावतो यद् दृष्ट्या प्रयोजनाभिसधिनिरपेक्ष विपीलिकादिभक्षणकरोति किञ्चिद्भवान्तराभ्यास-

वशाद्धर्माधर्मोभयरूपं कराति । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'प्रतिजन्म यदभ्यस्त  
दानमभ्ययनं तप । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यसते पुन ॥' इति ॥ एव  
जीवानां कर्मवैचित्र्यात्तस्मिन् जरायुजादिदेहवैचित्र्यं युज्यते एव ॥ ६८ ॥

भाषा—इस दशा में आत्मा धर्म और अधर्म दोनों प्रकार के कर्म कुछ  
तो स्वयं करता है, कुछ स्वभाव के कारण करता है और कुछ अभ्यास के  
कारण ॥ ६८ ॥

न-वेव सति प्राहणं एव कथञ्चिज्जीवन्मृत्युपदेश्यत्वात्तस्य च निस्त्रयावादिधर्मं  
स्वात्मैव विष्णुमिन्द्रो जात इति स्ववहार इत्यानङ्गवाह—

निमित्तमक्षरं कर्ता योज्ञा ब्रह्म गुणी वशी ।

अजं शरीरमहणमात्स जात इति कीर्त्यते ॥ ६९ ॥

सत्यमात्मा सकलजगत्प्रपञ्चाविभाषेऽविद्यासमावेशवशात्प्रमत्वात्पसमयापि  
निमित्तमित्येव स्वयमेव त्रिप्रथमपि कारणं, न पुन कार्यकाटिनिविष्ट । यस्मा-  
दक्षराऽविनश्वरः । ननु सत्त्वादिगुणविकारस्य सुखदुःखमोहात्मकस्य कार्यभूते  
जगत्प्रपञ्चे दर्शनात्तद्गुणवश्या प्रकृतेरेव जगत्कर्तृत्वोचिता, न पुन निर्गुणस्य ब्रह्मण ।  
सैव मस्या,—आत्मैव कर्ता । यस्मादसौ जीवोपमोग्यसुखदुःखैर्दृष्टभूतादृष्टादे-  
र्षोद्धा । न ह्यचेतनाया प्रकृतिर्नामरूपव्याकृतविचित्रमात्तृवर्गमोगानुकूलभावे  
भोगायतनादिभोगिजगत्प्रपञ्चरचनां घटते । तस्मादात्मैव कर्ता । तथा न एव  
ब्रह्म ब्रह्मको विस्तारक । न घासौ निर्गुण । अतस्तस्य त्रिगुणशक्तिविद्या  
प्रकृतिप्रधानाद्यपरपर्याया विद्यते । अत एव नो निर्गुणस्यऽपि शक्तिमुत्पेन सत्त्वा  
दिगुणयोगी कथ्यते । नचेतावना प्रकृते कारणता, यस्मादात्मैव वशी स्वतः  
न प्रकृतिर्नाम स्वतः-न तस्वा-तर, तादृश्विधत्वे प्रमाणाभावात् । न च वचनाय  
शक्तिरूपापि सैव कर्तृभूतेति । यत शक्तिमत्कारकं न शक्तिः, तस्मादात्मैव  
जगत्त्रिविधमपि कारणम् । तथा अजं उत्पत्तिरहित । अतस्तस्य यद्यपि  
साक्षाज्जननं नोपपद्यते तथापि शरीरमहणमात्रेण जात इत्युच्यते अवस्था-तर  
योगितयोत्पत्तेर्मुहस्थो जात इतिवत् ॥ ६९ ॥

भाषा—यद्यपि आत्मा ( सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च का ) निमित्त है अविनाशी  
है कर्ता है, जानने वाला ( सुख दुःखादि का अनुभव करने वाला ), ब्रह्म,  
गुणी, वशी ( स्वतन्त्र ) और अज-मा है तथापि शरीर महण करने पर कहा  
जाता है कि आत्मा का ज-म हुआ है ॥ ६९ ॥

शरीरमहणप्रकारमाह—

सर्गादौ स यथाकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम् ।

सृजत्येकोत्तरगुणास्तथादत्ते भक्षत्रपि ॥ ७० ॥

सृष्टिसमये स परमात्मा यथाकाशादीन् शब्दैकगुण गगन शब्दस्पर्शगुण पवन, शब्दस्पर्शरूपगुण तेज, शब्दस्पर्शरूपपरसगुणबहुदकम्, शब्दस्पर्शरूपपरसगन्धगुणा जगतीयेवमेकोत्तरगुणान् सृजति । तथात्मा जीवमावमापन्नो भवन्नुत्पत्तयानोऽपि स्वशरीरस्वारात्मकत्वेनावि गृह्णाति ॥ ७० ॥

भाषा—जिम प्रकार सृष्टि क आरम्भ में वह परमात्मा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी की क्रमशः एक एक अधिक गुण से युक्त बनाकर रचना करता है उसी प्रकार जीवन बन कर इन सबको धारण भी करता है ॥

कथं शरीरारम्भकस्य पृथिव्यादीनामित्यत्र आह—

आहुत्याप्यायते सूर्यं सूर्याद् वृष्टिरथौषधि ।  
तदन्नं रसरूपेण शुनत्वमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

यजमानैः प्रसिप्तया आहुत्या पुरोडाशादिरसेनाप्यायते सूर्यं । सूर्याच्च काश्वशेन परिपक्वाऽयादिहमारसाद्गृह्णाति । ततो व ह्याद्यौषधिरूपमक्षम् । तच्छानं सपितं सत् रसरुधिरादिप्रमेण शुश्रूषोणितभावमापद्यते ॥ ७१ ॥

भाषा—( यजमान की ) आहुतियों से सूर्य पुष्ट होते हैं, सूर्य से वृष्टि होती है और उससे औषधियाँ ( मीढ़ि आदि ) उत्पन्न होती हैं उनका अन्न ( रसाने पर ) रस बनकर अन्न में वीर्य बन जाता है ॥ ७१ ॥

तत्र किमित्यत्र आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे विशुद्धे शुक्रशोणिते ।  
पञ्चधात्स्वयं पृष्ट आदत्ते युगपत्प्रभु ॥ ७२ ॥

ऋतुवेलाया स्त्रीपुंसयोगेनो शुक्र च शोणित च शुक्रशोणित तस्मिन्परस्पर रसयुक्ते विशुद्धे 'वातपित्तश्लेष्मदुष्टप्रतिपक्षघ्नीणमूत्रपुरीषगन्धरेतरैस्त्वकीजानि' इति स्मृत्यन्तरोक्तदापरहिते स्थित्वा पञ्चधात्स्व पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि शरीरारम्भकतया स्वयं पृष्टश्चिद्वातुरात्मा प्रभु शरीरारम्भकारणादृष्टकर्मयोगितया समर्थो युगपदादत्ते योगायतनावनं रवीकरोति' । तथा च शारीरकं ( सुश्रुत ३।३ )—'स्त्रीपुंसयोः संयोगे योनौ रजसाभिससृष्ट शुक्र तन्गुणमेव सह भूतात्मना गुणैश्च सत्वरजस्तमोभिः सह वायुना प्रैर्वमाण गर्भाशये तिष्ठति' इति ॥

भाषा—स्त्री और पुरुष के संयोग से वीर्य और रज के मिलकर शुद्ध होने पर इन पाँच तत्वों को छटा प्रभु ( आत्मा ) स्वयं ही एक साथ ग्रहण करता है ॥ ७२ ॥

१ रसबहुदकम् । २ सूर्यस्तरमाद् वृ । ३ सुपगच्छति ।

४ रम्भकरणे दुष्ट ।

इन्द्रियाणि मन प्राणो ज्ञानमायुः सुप्तं धृतिः ।  
 धारणा प्रेरणं तु ग्रामिच्छाहंकार पच च ॥ ७३ ॥  
 प्रयत्न आकृतिर्घर्णः स्वरद्वेषो भवभयौ ।  
 तस्यैतदात्मजं सर्वमनादेरादिमिच्छत ॥ ७४ ॥

किंच, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि, मनस्योभयसाधारणम्, प्राणोऽपानो स्थान उदान. समान इत्येष पञ्चयुक्तिभेदमिह शारीरो वायु प्राण, ज्ञानमवगमः, आयुः कालविशेषाच्छिष्य जीवनम्, सुप्तं निवृत्ति, धृतिश्चि त्तस्यैर्यम्, धारणा प्रज्ञा मेधा च, प्रेरण ज्ञानकर्मेन्द्रियाणामधिष्ठातृत्वम्, तु लमुद्देश, इच्छा स्पृहा, अहकारोऽहकृति, प्रयत्न उद्यमः, आहृतिराकार, घर्णो गौरिमादि, स्वर पङ्कज्यान्धारादि, द्वेषो वैरम्, भव पुत्रपञ्चादिविभव, भ्रमवस्तद्विपर्ययः, तस्यानादेरात्मनो नित्यस्यादिमिच्छत शरीर जिपृच्छमाणस्य सर्वमेतदिन्द्रियादिकमारामजनितं प्रारम्भवीपकर्मशीजतन्वमित्यर्थं ॥ ७३-७४ ॥

भाषा—इन्द्रियो, मन, प्राणादि वायु, ज्ञान, आयु, सुप्त, धैर्य, धारणा ( प्रज्ञा, मेधा ) प्रेरण ( ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो का अधिष्ठातृत्व ) दुःख, इच्छा, अहकार, प्रयत्न, आकार, घर्ण, स्वर, द्वेष, भव ( पुत्र, पशु आदि की सम्पत्ति ), भ्रमव ( निर्धनता ) ये सब उस अनादि आत्मा के शरीर धारण की इच्छा करने पर प्राप्त होते हैं ॥ ७३-७४ ॥

सयुक्तशुक्लशोणितस्य कार्यरूपपरिणती क्रममाह—

प्रथमे मासि संक्षेदभूतो धातुविमूर्च्छितः ।  
 मास्यर्धुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युत ॥ ७५ ॥

असौ चेतन पद्यो धातुविमूर्च्छितो धातुषु पृथिव्यादिषु विमूर्च्छितो लोली-  
 भूत । शीरनीरवदेकीभूत इति यावत् । प्रथमे गर्भमासे सक्लेदभूतो द्रवरूपतां  
 प्राप्त एवावतिष्ठते न कठिनतया परिणमते । द्वितीये मास्यर्धुदमीपरकठिनमां-  
 सपिण्डरूप भवति । अयमभिप्राय—कौट्टेपवनजटरदहनान्म्या प्रतिदिनमीप  
 दीपच्छोध्यमाण शुक्लसर्पकंसपादितद्रवीभाव भूज्जात त्रिंशद्दिनै वाटिभ्य  
 मापद्यत इति । तथा च मुद्युते (शा ३।१७)—द्विनाये शीतोष्णानिलैरभिप-  
 च्यमानो भूतसघातो घनो जायत' इति । तृतीये तु मास्यर्धैरिन्द्रियैश्च सयुक्तो  
 भवति ॥ ७५ ॥

भाषा—यह ( सयुक्त वीर्य और रज अथवा पचभूतो में पद्य धातु क  
 रूप में पदा हुआ आत्मा ) गर्भ के पहले मास में द्रव के रूप में रहता

है, दूसरे मास में अर्जुद ( कुछ फटिन मांसपिण्ड ) घनता है, और तीसरे मास में अर्द्धो एव द्विद्वयो से युक्त हो जाता है ॥ ७५ ॥

आकाशाह्लाद्यद्यं सौक्ष्म्यं शब्दं धोत्रं यत्नादिकम् ।  
वायोश्च स्पर्शनं चेष्टां व्यूहनं रौक्ष्यमेव च ॥ ७६ ॥  
पित्तात्तु दर्शनं पक्तिमौष्ण्यं रूपं प्रकाशिताम् ।  
रसात्तु रसनं शैत्यं स्नेहं बलेदं समार्दवम् । ७७ ॥  
भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं गौरवं मूर्तिमेव च ।  
आत्मा गृह्णात्यज सर्वं तृतीये स्पन्दते ततः ॥ ७८ ॥

किंच, 'आत्मा गृह्णाति' इति सर्वत्र सङ्गद्यते । गगनाह्वयिमान लङ्घनक्रियोपयोगिताम्, सौक्ष्म्यं सूक्ष्मेष्टित्वम् शब्द विषयम्, धोत्रं ध्रुवणेन्द्रियम्, बल दाहवंम्, 'आदि' ग्रहणारमुपिस्त्व विविक्ततां च, 'आकाशाच्छब्दं धोत्रं विविक्ततां सर्वान्द्रिद्रसमूहांश्च' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात्, पवनारस्पर्शेन्द्रियम्, चेष्टां गमना गमनादिकाम्, व्यूहनमङ्गानां विविध प्रसारणम्, रौक्ष्यं कर्कशत्व, 'च' शब्दास्पर्शं च, पित्तात्तेजसो दर्शनं चक्षुरिन्द्रियम्, पक्तिं भुक्तस्यास्य पचनम्, औष्ण्यमुष्णस्पर्शस्वरुद्धानाम्, रूपं रयामिकादि, प्रकाशितां भ्राजिष्णुताम्, तथा सतापामर्षादि च, 'शौर्षामर्षतैष्ण्यपवर्षौष्ण्यञ्च जिष्णुतासतापवर्णरूपेन्द्रियाणि तैजसानि' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात्, एव रसादुदकाद्रसनेन्द्रियम्, शैत्यमङ्गानाम्, स्निग्धता गृह्णस्वमहित, बलेदमार्द्रताम्, तथा भूमेर्गन्धं घ्राणेन्द्रिय गरिमाण मूर्तिं च । सर्वमेतत्परमार्थतो जन्मरहितोऽप्यात्मा तृतीये मासि गृह्णाति । ततश्चतुर्थे मासि स्पन्दते चलति । तथा च शारिरेके—'तरमाच्चतुर्थे मासि चलनादावभिप्राय करोति' इति ॥ ७६ ७८ ॥

भाषा—आकाश से लाघव ( जो लौघने की क्रिया के लिये उपयोगी होता है ), सूक्ष्मता, शब्द, ध्रुवणेन्द्रिय और बल आदि ग्रहण करता है, वायु से स्पर्शेन्द्रिय, चेष्टा (गमनागमन) भागों का फैलाना, कर्कशता, पित्त (तेज) से दृष्टि, पाचनशक्ति, उष्णता, रूप और प्रकाशित करने की शक्ति, रस अर्थात् जल से रसनेन्द्रिय, अर्द्धों की शीतलता, स्निग्धता, गीलापन और कोमलता, पृथिवी से गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, गुरुता ( भारीपन ) और आकार—इन सबका जन्मरहित होते हुए भी आत्मा ( गर्भ क ) तीसरे मास में ग्रहण कर लेता है ॥ ७६—७८ ॥

दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।

वैरूप्य मरणं चापि तस्मात्कार्यं म्रियं स्त्रिया ॥ ७९ ॥

किंच, गर्भस्यैकं हृदय गर्भिण्याष्ठापरमित्येवं द्विहृदया तस्याः स्त्रिया पदमि-  
लपितं तत् 'द्वौहृदं, तस्याप्रदानेन गर्भो विरूपता मरणरूपं वा दोषं  
प्राप्नोति । तस्मात्सहोपपरिहारार्थं गर्भपुष्टयर्थं च गर्भिण्या स्त्रियाः यत्प्रियममि-  
लपितं तत्संपादनीयम् । तथा च सुश्रुते—द्विहृदयां नारीं दौहृदिनीमाचक्षते,  
तदभिलपितं दद्यात्, यीर्यवन्तं चिरायुषं पुत्रं जनयति' इति । तथा च व्याया  
मादिकमपि गर्भग्रहणप्रभृति तथा परिहरणीयम् । 'ततः प्रभृति व्यायामप्यवाया-  
तितर्पणदियास्वप्नरात्रिजागरणशोकभययानारोहणवेगधारणकुष्ठुतासनशोषितमो-  
क्षणानि परिहरेत्' इति तत्रैवाभिधानात् । 'गर्भग्रहणं च श्रमादिभिर्छिन्नैरवगन्त-  
व्यम् । 'सद्यो गृहीतगर्भाया श्रमो रजानि विवासा 'सविधमदन शुक्रशोणित-  
योर्वैषम्यं स्फुरणं च घोने' इत्यादि तत्रैवोक्तम् ॥ ७९ ॥

भाषा—दोहद ( गर्भिणी द्वारा खाड़ी हुई वस्तु ) न देने पर गर्भ में  
कुरूपता या मरण का दोष भा जाता है, अतएव गर्भिणी खो को जो प्रिय  
लगे उसे अवश्य करना चाहिए ॥ ७९ ॥

स्थैर्यं चतुर्थं त्वङ्गानां पञ्चमे शोणितोद्भव ।

षष्ठे बलस्य घर्णस्य नद्यरोम्णां च संभवः ॥ ८० ॥

किंच, तृतीये मासि प्रादुर्भूतस्याङ्गसदृश्यं चतुर्थं मासि स्थैर्यं स्थेमा भवति ।  
पञ्चमे लोहितस्योद्भव उत्पत्तिः । तथा षष्ठे बलस्य घर्णस्य नद्यरोम्णां  
च संभवः ॥ ८० ॥

भाषा—तीथे महीने में अङ्गों में स्थिरता आती है, पाँचवे मास में रुधिर  
की उत्पत्ति होती है और छठे महीने में बल, रग, नाखून एवं रोम भा  
जाते हैं ॥ ८० ॥

मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ नाडीस्त्रायुशिरायुतः ।

सप्तमे चाष्टमे चैवं त्वद्व्यांसंभृतिमानपि ॥ ८१ ॥

किंच, असौ पूर्वोक्तो गर्भः सप्तमे मासि मनसा चेतसा चेतनया च  
युक्तो नाडीभिर्वाहिनीभि स्त्रायुभिरस्थिवन्धनै शिराभिर्वातवित्तरहेऽमवाहिनी-  
भिश्च सयुतः । तथाष्टमे मासि त्वचा मासेन स्त्रयाया च युक्तो भवति ॥ ८१ ॥

भाषा—षट् ( पूर्वोक्त गर्भ ) सातवें मास में मन, चैतन्य, (वायुवाहिनी)  
नाडियों ( अस्थि को बाँधने वाली ) रनायुओं पृथ ( वात पित्त रतेऽमवाहिनी )  
सिराओं से युक्त होता है, तथा आठवें मास में त्वचा, मांस और स्मरणशक्ति  
से युक्त होता है ॥ ८१ ॥

१. द्विहृदयाया स्त्रिया । २. दोहदम् । ३. सविधमदन । ४. रजु  
बन्ध । ५. वाडपि ।

'पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति ।

अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ ८२ ॥

किंच, तस्याष्टमासिकस्य गर्भस्यौजः कश्चन गुणविशेषो धात्रीं गर्भं च प्रति पुन पुनरतितरां चञ्चलनया दास्य गच्छति । अतोऽष्टमे मासि जातो गर्भो प्राणैर्वियुज्यते । अनेनौज स्थितिरिव जीवनहेतुरिति दर्शयति ॥ ओज स्वरूपं च स्मृत्यन्तरे दर्शितम्—'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धमीपदुर्गं सपीतकम् । ओजः शरीरे सख्यात तद्याशाशाशमृच्छति ॥' इति ॥ ८२ ॥

भार्या—भाट महीने क गर्भ का ओज पुन पुनः कमी गर्भ की ओर तो कभी जाता की ओर दास्यना से जाता है । इसलिये भाटमें महीने में उलझ होने पर गर्भ से प्राण निकल जाता है ॥ ८२ ॥

नवमे दशमे चापि प्रथमै सूतिमास्यते ।

निःसार्यते याण इय यन्त्रच्छिद्रेण सज्जरः ॥ ८३ ॥

किंच, एष करचरणचक्षुरादिवरिपूर्णाद्रेन्द्रियो नवमे दशमे चापि मासे 'अपि सन्त्याग्राक् सप्तमेऽष्टमे वा अस्यायामादिशेषवत्प्रथममूतिहेतुवमजनप्रेरित-रनादश्रिधचर्मादिनिर्मितवपुर्दमस्य द्विद्रेण सूक्ष्मसुविरेण सज्जरो दु सहदु सा-मिभूयमानो नि सार्यते धनुर्धन्त्रेण सुधन्प्रेरितो याग इवातिथेगेन निर्गमस-मनन्तर च बाह्यवत्तद्वृष्टो नष्टशाचीनरमृतिर्भवति । 'ज्ञानः स वायुना एष्टो न स्मरति पूर्वं जन्म मरण कर्म च शुभाशुभम्' इति निरुक्तस्याष्टादशोऽ-भिधानात् ॥ ८३ ॥

भार्या—नवें वा दसवें मास में प्रथम प्रमूति वायु ( प्रसव को प्रेरित करने वाली वायु ) द्वारा गर्भ कुछ उरर के साथ द्विद्र मे उस प्रकार बाहर कर दिव जाता है जैव किसी धनुषरुगी यन्त्र से प्रेरित होकर बाग बाहर निकलता है ॥ ८३ ॥

कायस्वरूप विवृण्वथाह —

तस्य पौटा शरीराणि षट् स्थंचो धारयन्ति च ।

पञ्चङ्गानि तथाऽऽर्चनां च सह पष्टया शनप्रथम् ॥ ८४ ॥

तस्यात्मनो यानि जरापुत्रावृजशरीराणि तानि प्रायेकं पष्टपदाराणि रक्षादिवृष्पातुपरिवाकहेतुभूतपट्टशाशानयोगिभेन, तथा द्वि—भक्त्यासो जाट-शासिना पष्टमासो रक्षते प्रतिपद्यते । रक्त च स्वकोशरथेराग्निना पष्टमानं

१. पुनर्गर्भं पुनर्धात्री । २. तवाष्टम । ३. मासि । ४. एष्य ।

५. तवाश्वीनि सह ।

मासस्यम् । मास च स्वकोशानलपरिपक्व मेदस्यम् , मेदोऽपि स्वकोशान्द्विना  
पक्रमस्थिताम् , अस्थयपि स्वकोशान्द्विरपरिपक्व मज्जास्यम् , मज्जापि स्वकोशपा-  
वकपरिपक्वमानशरमधातुतया परिणमते । चरमधातोस्तु परिणतिर्नास्तीति स  
एवात्मनः प्रथम कोश । इत्येव पट्कोशाग्नियोगिवात् पट्प्रकारश्च शरीरा-  
णाम् । अन्नरसरूपस्य तु प्रथमधातोरनियतश्राद्धेन प्रकारान्तरत्वम् । तानि च  
शरीराणि पट् स्वचो धारयन्ति रश्ममासमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यया पट्  
धातव एव रश्मास्तमभ्यग्निव आद्याभ्यन्तररूपेण स्थिता रग्निवाच्छादकत्वा  
स्वचस्ता पट् स्वचो धारयन्ति । तद्विदमायुर्वेदमसिद्धम् । तथाहानि च पहेव  
करयुग्म चरणयुगलमुत्तमाङ्ग नात्रमिति । अस्थना तु पटिसद्वित शतप्रपमुपरित-  
नपट्श्लोक्या वक्ष्यमाणमवगन्तव्यम् ॥ ८४ ॥

भाषा—उस आमा के ( रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र  
इन छ कोशों की अग्नि के योग से ) छ प्रकार के शरीर होते हैं, जो छ  
स्वचाश्रों, छः अङ्गों ( दो हाथ, दो पैर, मुख और शरीर ) तथा तीन सौ  
साठ अस्थियों को धारण करते हैं ॥ ८४ ॥

स्थालैः सह चतु पटिर्दन्ता वै विंशतिर्नखाः ।

पाणिपादशलाकाश्च तेषां स्थानचतुष्टयम् ॥ ८५ ॥

किञ्च, स्थालानि दन्तमूलप्रदेशस्थान्पस्थीनि द्वाविंशत् , तै सह द्वाविंश  
ए-ताश्चतु पटिर्भवन्ति । नखा करचरणरुहा विंशति , इस्तपादस्थानि शलाका-  
काराण्यस्थीनि मणिवन्धरयोपरिवर्तीनि अङ्गुलिमूलस्थानि विंशतिरेव । तेषा  
नखानां शलाकास्थना च स्थानचतुष्टय द्वौ चरणी करी चेत्यधमस्थना चतुर्नरं  
शतम् ॥ ८५ ॥

भाषा—दोँत के मूल प्रदेश की अस्थियों को लेकर चौंसठ अस्थियाँ  
दोँतों की, बीस नाखून, बीस हाथ और पैर की शलाका जैसी बीस अस्थियाँ  
और उनके चार स्थान ( दो हाथ और दो पैर )—॥ ८५ ॥

पष्ट्यङ्गुलीनां द्वे पाण्योर्गुल्फेषु च चतुष्टयम् ।

चत्वार्यरत्निकास्थीनि जह्वयोस्तावदेव तु ॥ ८६ ॥

दिञ्च, शिथलितरङ्गुल्यस्तास्तं एकैकस्थालानि त्रीणाल्येवमङ्गुलिसवदान्य-  
स्थीनि पटिर्भवन्ति । प द्यो पश्चिमी भागी पाण्यो तयोरस्थीनि द्वे एकैक  
श्मि-पादे गुल्फौ द्वावित्येव चतुर्षु गुल्फेषु चत्वार्यस्थीनि, बाह्योररत्निकामाणानि  
चत्वार्यस्थीनि, जह्वयोस्तावदेव चत्वार्येवेत्येव चतु सप्तति ॥ ८६ ॥



भाषा—अंगुलियों की साठ, पद्मी की दो, गुहकों की चार ( प्रत्येक पैर में दो दो ), भरतिका की चार और दोनों जंघों की भी उतनी ही अर्थात् चार अस्थियाँ होती हैं—॥ ८६ ॥

द्वे द्वे जानुकपोलोरुफलकांससमुद्भवे ।

अक्षतालूपके ध्रोणीफलके च विनिर्दिशेत् ॥ ८७ ॥

किंच, जहोरुपन्धिर्जानुः, कपोलो रुहलः, ऊरुः सविध तरफलक, अंसो मुजगिरः, अघः कर्णनेत्रयोर्मध्ये शङ्खादधोभागः, तालूपकं काकुद्, ध्रोणी ककु-  
हनी तरफलक, तेषामेकैकत्रास्थीनि द्वे द्वे विनिर्दिशेत्; इत्येवं षतुर्दशास्थीनि भवन्ति ॥ ८७ ॥

भाषा—घुटने, कपोलों, ऊरुफलक ( पट्टे ), कंधा, अघ ( कान और आँखों के मध्य का स्थान ), तालूपक और ध्रोणी के फलक में प्रत्येक की दो-दो अस्थियाँ—॥ ८७ ॥

भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च ।

प्रीया पञ्चदशास्थिः स्याज्जञ्जेकैकं तथा हनुः ॥ ८८ ॥

किंच, गुह्यारस्थेकं पृष्ठे पश्चिमभागे पञ्चचत्वारिंशदस्थीनि भवन्ति । प्रीया कंधरा, सा पञ्चदशास्थिः स्यात् भवेत् । षष्ठोत्तयोः सन्धिर्जनुः, प्रतिष्ठावस्थि एकैकम्, हनुश्चिबुकम्, तत्राप्येकमस्थीरथेय षतु पष्टिः ॥ ८८ ॥

भाषा—भग की एक अस्थि, पीठ में पश्चीस और गर्दन में पन्द्रह होती हैं, प्रत्येक जनु ( छाती और कंधे के जोड़ ) में एक एक तथा चिबुक में एक अस्थि होता है ॥ ८८ ॥

तन्मूले द्वे ललाटाक्षिगण्डे नासा घनास्थिका ।

पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धमर्बुदैश्च द्विस्तततिः ॥ ८९ ॥

किंच, तस्य हनोर्मूलेऽस्थिनी द्वे ललाट भालं अस्थि चतुः, गण्डः कपोला-  
चयोर्मध्यप्रदेशः, तेषां समाहारो ललाटाक्षिगण्डं, तत्र प्रत्येकमस्थियुगलम् । नासा घनमंजुकारिधमनी । पार्श्वका कक्षाध-प्रदेशमंबद्धान्यस्थीनि तदाचार-  
भूयानि स्थालकानि, तैः स्थालकैः अर्बुदैश्चास्थिविशेषैः सह पार्श्वका द्विस्त-  
ततिः । पूर्वोक्तैश्च ऋषिभिः सार्धमेकाशीनि भवन्ति ॥ ८९ ॥

भाषा—चिबुक के मूल में दो अस्थियाँ, ललाट, भाल और गण्ड ( कपोल एवं आँख के बीच का भाग ) में भी प्रत्येक में दो दो, नाक में घन नास की

मासत्वम् । मांस च स्वकोशानलपरिपक्व मेदस्त्वम् , मेदोऽपि स्वकोशवह्निना पक्वमस्थिताम् , अस्थयपि स्वकोशनिद्रिपरिपक्व मज्जात्वम् , मज्जापि स्वकोशपाचनपरिपक्वमानक्षरमधातुतया परिणमते । चरमधातोस्तु परिणतिर्नास्तीति स एवात्मन् मधम कोश । इत्येव पट्कोशाग्नियोगित्वात् पट्प्रकारत्वं शरीराणाम् । अक्षरस्वरूपस्य तु प्रथमधातोर्नियतत्वात् तेन प्रकारान्तरत्वम् । तानि च शरीराणि पट् स्वचो धारयन्ति रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रास्या पट् धातव एव रश्मास्तम्भत्वगिव याद्याभ्यन्तररूपेण स्थिता रगिवाच्छादकत्वात् स्वचस्ता पट् स्वचो धारयन्ति । तदिदमायुर्वेदपमिद्धम् । तथाऽऽनि च पट्वेव करयुग्म चरणयुगलमुत्तमाङ्ग यात्रमिति । अस्थनां तु पटिसहितं शतत्रयमुपरितनपट्रलोक्या वक्ष्यमाणमत्रगन्तव्यम् ॥ ८४ ॥

भाषा—उस आत्मा के ( रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन छ कोषों की अग्नि के योग से ) छ प्रकार के शरीर होते हैं, जो छ स्वचात्रों, छ अङ्गों ( दो हाथ, दो पैर, मुख और शरीर ) तथा तीन सौ साठ अस्थियों को धारण करते हैं ॥ ८४ ॥

स्थालैः सह चतु पट्टिर्दन्ता वै विंशतिर्नखाः ।

पाणिपादशलाकाश्च तेषां स्थानचतुष्टयम् ॥ ८५ ॥

किंच, स्थालानि दन्तमूलप्रदेशस्थान्स्थानि द्वात्रिंशत् , सै सह द्वात्रिंशद्दन्ताश्चतु पट्टिर्भवन्ति । नखा करचरणरुहा विंशतिः , हस्तपादस्थानि शलाकाकाराण्यस्थानि मणिबन्धस्योपरिवर्तिनि अङ्गुलिमूलस्थानि विंशतिरेव । तेषां नखानां शलाकास्थाना च स्थानचतुष्टय द्वौ चरणी करौ चेत्येवमस्थाना चतुरुत्तरशतम् ॥ ८५ ॥

भाषा—दोँत के मूल प्रदेश की अस्थियों को लेकर चौंसठ अस्थियों दोँतों की, बीस नाखून, बीस हाथ और पैर की शलाका जैसी बीस अस्थियों और उनके चार स्थान ( दो हाथ और दो पैर )—॥ ८५ ॥

पष्टयद्गुलीनां द्वे पाण्योर्गुल्फेषु च चतुष्टयम् ।

चत्वार्यरत्निकास्थीनि जह्वयोस्तावदेव तु ॥ ८६ ॥

किंच, विंशतिरङ्गुल्यस्तासां एकैकस्यास्तीनि त्राणीत्येवमङ्गुलिसबद्धान्यस्थानि पट्टिर्भवन्ति । पदयो पश्चिमी मागौ पाण्यौ तयोस्थीनि द्वे एकैकस्मिन्पादे गुल्फौ द्वावित्येव चतुर्षु गुल्फेषु चत्वार्यस्थीनि, बाह्योरत्निकप्रमाणानि चत्वार्यस्थीनि, जह्वयोस्तावदेव चत्वार्येवेत्येवं चतु सप्तति ॥ ८६ ॥

भाषा—अगुलियों की साठ, पद्मी की दो, गुहकों की चार ( प्रत्येक पैर में दो दो ), अरुनिका की चार और दोनों जघों की भी उतनी ही अर्थात् चार अस्थियाँ होती हैं—॥ ८६ ॥

द्वे द्वे जानुकपोलोरुफलकांससमुद्भवे ।

अक्षतालूपके ध्रोणीफलके च विनिर्दिशेत् ॥ ८७ ॥

किंच जहोरुपन्धिर्जानु, कपोलो रुहल, ऊरु सन्धि तालुक, असौ भुजगिर, अक्ष कर्णनन्धोर्मध्ये शङ्खादधोभाग, तालूपक काकुद, ध्रोणी ककुलती तालुक, तेषामेकैकप्रस्थीनि द्वे द्वे विनिर्दिशेत्; इत्येव चतुर्दशास्थीनि भवति ॥ ८७ ॥

भाषा—घुटने, कपोलों, ऊरुकटक ( पट्टे ), कंधा, अक्ष ( कान और आँखों के मध्य का स्थान ), तालूपक और ध्रोणी के फलक में प्रत्येक की दो-दो अस्थियाँ—॥ ८७ ॥

भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च ।

प्रीया पञ्चदशास्थि स्याज्जत्र्येकैकं तथा हनु ॥ ८८ ॥

किंच, गुह्यारथ्येक पृष्ठे पश्चिमभागे पञ्चचत्वारिंशदस्थीनि भवन्ति । प्रीया पञ्चदशास्थि रथात् भवत् । वशीसयो सन्धिर्जनु, प्रतिजत्र्यस्थि एकैकम्, हनुत्रियुकम्, तत्राप्येकमस्थारथ्य चतुःषष्टि ॥ ८८ ॥

भाषा—भग की एक अस्थि, पीठ में पञ्चीस और गर्दन में पन्द्रह होती हैं, प्रत्येक जनु ( हड्डी की और कंधे के जोड़ ) में एक एक तथा त्रियुक में एक अस्थि होता है ॥ ८८ ॥

तन्मूल द्वे ललाटाक्षिगण्डे नासा घनास्थिका ।

पार्श्वका स्थालकै सार्धमर्बुदैश्च द्विसप्तति ॥ ८९ ॥

किंच, तस्य हनोमूलेऽस्थिनी द्वे ललाट भाल अक्षि चतुः, गण्ड कपोला चयोर्न्यप्यदश तेषां समाहारो ललाटाक्षिगण्ड, तत्र प्रत्येकमस्थियुगलम् । नासा घनमज्जकास्थिमती । पार्श्वका कक्षाद्य प्रदेशमवबद्धान्परस्थीनि तदाधार-मूलाणि स्थालकानि, तै स्थालकै अयुदैश्चास्थिविनोपै सह पार्श्वका द्विसप्तति । पूर्वोक्तैश्च -वभि सार्धमेकाशानि भवन्ति ॥ ८९ ॥

भाषा—त्रियुक के मूल में दो अस्थियाँ, ललाट और गण्ड ( कपोल एवं आँख के बीच का भाग ) में भी प्रत्येक में दो दो नाक में घन नाम की

एक अस्थि, पाथों ( पसलियों में ) और उनके आधार स्थानों वाली अर्जुद नाम की अस्थियों को मिलाकर यह उत्तर अस्थियाँ होती हैं ॥ ८९ ॥

द्वौ शङ्खौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा ।

उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ॥ ९० ॥

किंच, भ्रूणयोर्मध्यप्रदेशावस्थितिशोणी शङ्खौ, शिरसः संघन्धीनि चत्वारि कपालानि । उरो वच, तसप्तदशस्थिकमिषेव प्रथोऽंशतिः । पूर्वोक्तेश्च सह पृथ्वधिकं शतत्रयमित्येवं पुरुषस्यास्थिसंग्रहः कथितः ॥ ९० ॥

भाषा—मौड़ और कान के बीच की दो अस्थियाँ, शिर के कपाल की चार, वच प्रदेश की सप्तदश अस्थियाँ होती हैं—इस प्रकार इन तीन मी साठ अस्थियों का मनुष्य शरीर में संग्रह रहता है ॥ ९० ॥

सन्निपयाणि ज्ञानेन्द्रियाण्याह—

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दाश्च विषयाः स्मृताः ।

नासिका लोचने जिह्वा त्वक् श्रोत्रं चेन्द्रियाणि च ॥ ९१ ॥

एते गन्धादयो विषयाः पुरुषस्य बन्धनहेतवः, 'विषय'शब्दस्य 'विष्वन्धने' इत्यस्य घातोऽभ्युत्पन्नत्वात् । एतैश्च गन्धादिभिर्षोऽप्यत्वेन व्यवस्थितैः स्वस्वगोचरसन्निपयाधनतयानुमेयानि घ्राणादीनि पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति ॥ ९१ ॥

भाषा—गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियों के विषय हैं; और नाक, आँख, जिह्वा, त्वचा एवं कान ये पाँच इन्द्रियाँ हैं ॥ ९१ ॥

कर्मेन्द्रियाणि दर्शयितुमाह—

हस्तौ पायुरुपस्थं च जिह्वा पादौ च पञ्च वै<sup>१</sup> ।

कर्मेन्द्रियाणि जानीयाभ्यनष्टौवोभयारमकम् ॥ ९२ ॥

हस्तौ प्रसिद्धौ, पायुर्गुद, उपस्थं रतिसंवाप्यसुप्तसाधन, जिह्वा प्रसिद्धा, पादौ च, एतानि हस्तादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि आदाननिर्हारानन्दव्याहारविहारोदिकर्मेपाधनानि जानीयात् । मनोऽन्तःकरण युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिमग्न तच्च बुद्धिकर्मेन्द्रियसहकारितयोभयारमकम् ॥ ९२ ॥

भाषा—दोनों हाथ, गुदा, उपस्थ ( संभोगेन्द्रिय ), जिह्वा और दोनों पैर इन्हें कर्मेन्द्रियों समझना चाहिए; मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है ॥९२॥

प्राणायतनानि दर्शयितुमाह—

नाभिरोजो गुदं शुकं शोणितं शङ्खौ तथा ।

मूर्धासकण्ठहृदयं प्राणस्यायतनानि तु ॥ ९३ ॥

नाभिप्रभृतीनि दश प्राणस्य स्थानानि । समाननाम्न पवनस्य सरलाङ्ग-  
सघारिष्वेऽपि नाभ्यादिस्थानविशेषवाचोक्तिं प्राचुर्याभिप्राया<sup>१</sup> ॥ ९३ ॥

भाषा—नाभि, भोज, गुदा, शुक्र, रुधिर, दोनों शङ्खक, मूर्धा, कण्ठ और  
हृदय ये ( दस ) प्राण के निवास स्थान हैं ॥ ९३ ॥

प्राणायतनानि प्रपञ्चयितुमाह—

वषा वसावहनम् नाभिं क्लोमं यकृत्प्लिहा ।

ध्रुद्रान्त्रं वृक्ककौ यस्ति पुरीपाधानमेव च ॥ ९४ ॥

आमाशयोऽथ हृदयं स्थूलान्त्रं गुद एव च ।

उदरं च गुदौ कोष्ठयौ विस्तारोऽयमुदाहृत ॥ ९५ ॥

वषा प्रसिद्धा, वसा मांसरुह, अवहनन पुष्पुस, नाभि प्रसिद्धा,  
प्लीहा आयुर्वेदप्रसिद्धा, तौ च मांसपिण्डाकारौ स्त सभ्यकुक्षिगतौ ॥ यकृत्  
कालिका, क्लोम मांसपिण्डरतौ च दक्षिणकुक्षिगतौ, ध्रुद्रान्त्र हृदयाग्रम्,  
वृक्ककौ हृदयसमीपस्थौ मांसपिण्डौ, यस्ति मूत्राशय, पुरीपाधान पुरीपाशय,  
आमाशयोऽपक्वान्नस्थानम्, हृदय हृत्पुण्डरीकम्, स्थूलान्त्रगुदोदराणि प्रसि-  
द्धानि, बाह्याद् गुदवलयान्तर्गुदवलये द्वे तौ च गुदौ कोष्ठयौ कोष्ठे नामेरध-  
प्रदेशे भवौ । अथ च प्राणायतनस्य विस्तार उक्तः । पूर्वश्लोके तु सधेव ।  
अत एव पूर्वश्लोकोक्तानां केषांचिदिदं पाठः ॥ ९४-९५ ॥

भाषा—वषा, वसा, पुष्पुस, नाभि क्लोम ( दाहिनी कोख के मांस  
पिण्ड ), यकृत्, प्लीहा, ध्रुद्रान्त्र ( हृदय की भाँती ), दो वृक्कक ( हृदय क  
समीप स्थित मांसपिण्ड ), मूत्राशय, मलाशय, आमाशय, हृदय मोठी भाँत,  
गुदा उदर, गुदा का भातरी भाग, ( नाभि के नीचे क ) दो कोष्ठ—ये प्राण-  
स्थानों के विस्तार हैं ॥ ९४ ९५ ॥

पुनः प्राणायतनप्रपञ्चार्थमाह—

कनीनिके चाक्षिकृटे शङ्कुली कर्णपत्रकौ ।

कर्णौ शङ्खौ भ्रुयौ दन्तवेष्टागोष्ठी ककुन्दरे ॥ ९६ ॥

घङ्क्षणी वृषणी वृक्को श्लेष्मसंघातजौ स्तनी ।

उपजिह्वास्फिजौ याह जङ्घोरुषु च पिण्डिका ॥ ९७ ॥

तात्पदं यस्तिशीर्षे चिबुकं गलशुण्डिके ।

अवटश्चैवमेतानि स्थानान्यत्र शरीरक ॥ ९८ ॥

१ भिप्रायेण । २ क्लोमा । ३ वृक्कको । ४ कोष्ठी विस्तारोऽयम् ।

५ दन्तवेष्टावेष्टौ ककुन्दरे । ६ सघातकौ । ७ पिण्डिका । ८ चिबुक ।

९ अवटु ।

अक्षिकर्णचतुष्कं च पञ्चस्तद्वदयानि च ।

नच छिद्राणि तान्येव प्राणस्थापनानि तु ॥ ९९ ॥

कनीनिके अक्षितारके, अक्षिपूटे अक्षिनासिकयोः मन्धी, शकुली कर्णशकुली, कर्णपत्रकौ कर्णपादयो, कर्णौ प्रसिद्धौ, दन्तवेष्टौ दन्तपादयो, ओष्ठौ प्रसिद्धौ, मकुन्दरे जघनकूपकौ, बह्चणौ जघनोरुसंधी, वृक्षौ पूर्वोक्तौ, स्तनौ च श्लेष्मसंघातभौ, उपजिह्वा घण्टिका, रिफणौ कटिप्रोथौ, बाहु प्रसिद्धौ, जहोरुषु च विण्डिका जह्वयोरुर्वांश्च विण्डिका मांसप्रदेशः, गल-शुण्डिके दन्तमूलकयोः सन्धी, शीर्षं शिरः, अवटः शरीरे यः कक्षन निम्नो देशः कण्ठमूलक्यादिः 'अवटुः' इति पाठे कृत्वाटिका; तथास्योः कनीनिकयोः प्रसिद्धं भेत्तं पार्श्वद्वयमिति कर्णचतुष्टयम् । यद्वा अक्षिपुटचतुष्टयम् । दोषं प्रसिद्धम् । एवमेतानि कुण्डिते शरीरे स्थानानि । तथाक्षियुगलं कर्णसुग्मं—नासाविव-रद्वयमास्यं पायुरुपरधमिषेतानि पूर्वोक्तानि नच छिद्राणि च प्राणस्थाप-नान्येव ॥ ९९-१०० ॥

भाषा—भ्रौं की पुतलियाँ, अक्षिपूट ( भ्रौं एवं नाक की सन्धि ), शकुली ( कानों का भीतरी खण्ड ), दोनों कर्णपत्रक ( बाहर से दिखाई पड़ने वाले कान ), दोनों कान, दोनों शङ्कु, दोनों भ्रौं, दोनों दन्तवेष्ट ( मसूढ़े ), दोनों ओठ, मकुन्दर ( जघन के दो गड्ढे ), दोनों बह्चण ( जंघा और ऊरु के जोड़ ), वृषण ( अण्डकोश ), दोनों वृक्क, श्लेष्मा से बने हुए दोनों स्तन, उपजिह्वा ( घण्टिका ), दो रिफण ( कटिप्रोथ ), बाहें, जाँघों और ऊरुओं की विण्डिका, तालु उदर, पेहू, बितुक टुह्ठी ), गलशुण्डिका, ( टुह्ठी और गले का जोड़ ), शिर, शरीर में निम्न प्रदेश ( जैसे कण्ठमूल, कंठ आदि ), दो आँखों के चार वर्ण, पैर, हाथ और हृदय तथा नौ छिद्र ( दो आँखें, दो कान, नाक के दो छिद्र, मुख, पायु, उपरध )—ये सभी प्राण के निवासस्थान हैं ॥ ९९-१०० ॥

शिराः शतानि ससैव नव र्नायुशतानि च ।

धमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशीशतानि च ॥ १०० ॥

शिरः, शिरा नाभिसंबद्धाश्च शिरसंध्या चातपित्तश्लेष्मवाहिन्यः सक्ल-कलेवरस्यापिन्यो नानाशाखाः सस्यः सप्तशतसंध्या भवन्ति । तथाङ्गप्रत्यङ्ग-संधिबन्धनाः र्नायवो नवशतानि । धमन्यो नाम नाभेरुद्भूताश्चतुर्विंशति-संध्याः प्राणादिवायुवाहिन्यः शाखाभेदेन द्विशतं भवन्ति । पेश्यः पुनर्मांस-लाकारा ऊरुपिण्डकाद्यङ्गसंधिन्यः पञ्चशतानि भवन्ति ॥ १०० ॥

भाषा—( वात वित्त श्लेष्मवाहिनी ) शिरासुं सात सौ हैं, अस्थियों की बांधने वाली रनायुष धमनिया ( प्राणवाहिनी नाडियां ) दो सौ और पेशियां पांच सौ होती हैं ॥ १०० ॥

पुनश्चासामेव शिरादीनां शाखाप्राचुर्येण सवधान्तरमाह—

एकोनत्रिंशल्लक्ष्णाणि तथा नव शतानि च ।

षट्पञ्चाशच्च जानीत शिरा धमनिसंज्ञिता ॥ १०१ ॥

शिराधमन्यो मिलिता शाखोपशाखाभेदेन एकोनत्रिंशल्लक्ष्णाणि तथा नवशतानि षट्पञ्चाशच्च भवन्तीत्येष हे सामग्र्य प्रभृतय मुनय ! जानीत ॥ १०१ ॥

भाषा—( हे मुनियो ) शिरा और धमनियां मिलकर ( अपनी शाखाओं एवं उपशाखाओं के भेद से ) उन्नीस लाख नौ सौ छप्पन होनी हैं इसे जानिये ॥ १०१ ॥

अथोत्तमस्तु विज्ञेया श्मश्रुकेशा शरीरिणाम् ।

सप्तोत्तरं मर्मशतं द्वे च संधिशते तथा ॥ १०२ ॥

किंच, शरीरिणा श्मश्रूणि केशाश्च मिलिता सन्तस्तयो लक्षा विज्ञेया । मर्माणि मरणकराणि क्लेशकराणि च स्थानानि तेषां सप्तोत्तर शत विज्ञेयम् । अस्या तु द्वे सन्धिशते रनायुशिरादिमन्धय पुनरन्ता ॥ १०२ ॥

भाषा—मनुष्यों के दाढी-भूँछ और शिर के केश कुल मिलाकर बालों की संख्या तीन लाख सप्तशती बाह्रिष्ट । एक सौ सात मर्मरथल होते हैं और दो सौ अस्थियों के जोड़ होते हैं ॥ १०२ ॥

सकलशरीरमुषिरादिसंख्यामाह—

रोग्णां कोट्यस्तु पञ्चाशच्चतस्र कोट्य एव च ।

सप्तषष्टिस्तथा लक्षा सार्धा स्वेदायनै सह ॥ १०३ ॥

वायवीयैर्विगण्यन्ते विभक्ता परमाणवः ।

यद्यप्येकोऽनुवेत्त्रेपा<sup>१</sup> भावनां चैव संस्थितिम् ॥ १०४ ॥

पूर्वोदितशिराकेशादिसंज्ञितानां रोग्णां परमाणव सूक्ष्मसूक्ष्मतररूपा भागा स्वेदस्रवणमुषिरै सह चतुःपञ्चाशत्कोट्य तथा सप्तोत्तरषष्टिलक्षा सार्धा पञ्चाशत्सहस्रपदिता वायवीयैर्विभक्ता एव परमाणुभि पृथक्कृता विगण्य ते । एतच्च शास्त्रदृष्ट्याभिहितम् । चक्षुरादिकरणपथगोचरत्वाभावाद्दरवार्थस्य । इममतिगहनमर्थं शिरादिभावस्थानरूप हे मुनय ! भवतां मध्ये य कश्चिदनुवेत्ति सोऽपि महान् अग्रयो बुद्धिमताम् । अतो यत्नो बुद्धिमता बोद्धव्या भावसंस्थिति ॥ १०३-१०४ ॥

१ लक्षाश्च । २ केशश्मश्रु शरीरिणाम् । ३ एकोऽनु वेदेषां । ४ वेदेषां ।

भाषा—स्वेदापनों (श्वा पर पत्नीना निकालने वाले सूक्ष्म छिद्रों) के रोओं को मिलाकर चौवन करोड़, सबसठ लाख, पचास हजार रोएँ हैं। इनकी गिनती वायु के परमाणुओं द्वारा पृथक्-पृथक् किये जाने पर ही होती है। यदि भाव लोगों (मुनियों) में कोई व्यक्ति इसे जानता है तो वह महान् है, क्योंकि इन्हें बुद्धिमान् व्यक्ति ही यत्नपूर्वक जान सकता है ॥१०३-१०४॥

शरीररसादिपरिमाणमाह—

रसस्य नव विज्ञेया जलस्याञ्जलयो दश ।

सप्तैव तु पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ १०५ ॥

पट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं तु चत्वारो मूत्रमेव च ।

वसा त्रयो द्वौ तु मेदो मञ्जीकोर्ध्वं तु मस्तके ॥ १०६ ॥

श्लेष्मैजसस्तावदेव रेतसस्तावदेव तु ।

इत्येतदस्थिरं चर्म यस्य मोक्षाय कृत्यसौ ॥ १०७ ॥

सम्बन्धपरिणताहारस्य सारो रसस्तस्य परिमाणं नवाञ्जलयः । पार्थिवपर-  
माणुसश्लेषनिमित्तस्य जलस्याञ्जलयो दश विज्ञेयाः । पुरीषस्य वचस्करस्य  
सप्तैव । रक्तस्य जाटरानलपरिपाकापादितलौहित्यस्याधरसस्याष्टावञ्जलयः प्रकी-  
र्तिताः । श्लेष्मणः कफस्य पटञ्जलयः । पित्तस्य तेजसः पञ्च । मूत्रस्योच्चारणस्य  
चत्वारः । वसाया मांसस्नेहस्य त्रयः । मेदसो मांसरसस्य द्वावञ्जली । मज्जा  
स्वस्थिगामुपिरगतस्नेहस्यैकोऽञ्जलिः । मस्तके पुनरर्धाञ्जलिः मज्जा श्लेष्मैजसः  
श्लेष्मसारस्य । तथा रेतसश्चरमघातोस्तावदेवार्धाञ्जलिरेव । एतच्च समयात्पुरु-  
षाभिप्रायेणोक्तम् । विषमघातोस्तु न नियमः; 'द्वैलक्षण्याद्युरीरागामस्थापित्वा-  
त्तथैव च । दोषघातुमलानां च परिमाणं न विद्यते ॥' इत्यायुर्वेदस्मरणात् । इती-  
दशमस्थिरनाद्याद्यारन्ध्रमेतदशुचिनिधानं वर्मास्थिमिति यस्य बुद्धिरसौ कृती  
पण्डितो मोक्षाय समर्थो भवति । वैराग्यनिरयानित्यविवेकयोर्मोक्षोपायत्वात्,  
अरिधमूत्रपुरीषादिमाचुर्यज्ञानस्य वैराग्यहेतुत्वात् । अत एव व्यासः—  
'सर्वाशुचिनिधानस्य कृतमस्य विनाशिनः । शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि  
बुर्धते ॥ यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्विर्भवेत् । दण्डमादाय लोकोऽर्थं  
शूनः कार्काशं वारयेत् ॥' इति । तस्मादीदृशकुरिसतशरीरस्यात्यन्तिकविनि-  
च्युत्पर्यन्तामोषामने प्रवर्तितस्यम् ॥ १०५-१०७ ॥

भाषा—(शरीर में आहार का सारभूत) रस नौ अञ्जलि समझनी  
चाहिए, जल दस अञ्जलि, पुरीष सात अञ्जलि और रक्त आठ अञ्जलि यथाया  
गया है। कफ छः, पित्त पाँच, मूत्र चार, वसा तीन, मेदस् दो और मज्जा



( अस्थि की ) एक अङ्गलि होती है तथा मस्तक में आधी अङ्गलि मज्जा होती है । श्लेष्म का सार भी उतना ही ( आधी अङ्गलि ) होता है और चीर्य भी उतना ही ( आधी अङ्गलि ) होता है । इसप्रकार निमित्त चतुर्दश शरीर अस्थिर है ऐसी मति वाला व्यक्ति ही मोक्ष प्राप्ति में समर्थ होता है ॥ १०५-१०७ ॥

उपासनीयामस्वरूपमाह—

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयाद्भिनि सृता ।

‘हिताहिता नाम नाख्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥ १०८ ॥

मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः ।

स ह्येयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु ॥ १०९ ॥

हृदयप्रदेशाद्भिनि सृता कदम्बकुसुमकेसरवत्सर्वतो निर्गता हिताहित-  
करत्वेन हिताहिततिसहस्राणि नाख्यो भवन्ति । अपरस्तिक्तो  
नाख्यस्तासामिडापिङ्गलाख्ये द्वे नाड्यौ सम्यक्षिणपार्श्वगते हृदि विपर्यस्ते नासा-  
विवरसबद्धे प्राणापानायतने । सुषुम्नाख्या पुनस्तृतीया दण्डवन्मध्ये प्रहर-  
विनिर्गता । तासां नाड्यानां मध्ये मण्डल चन्द्रप्रभ तस्मिन्नात्मा निर्वातस्थदीप  
द्वारात् प्रकाशमान आस्ते स एवभूतो ज्ञानव्य । यतस्तस्याच्चारण-  
विद्व सभारे न पुनः ससरति अमृतत्व प्राप्नोति ॥ १०८-१०९ ॥

भाषा—हृदयप्रदेश से निकली हुई हित और अहित नामकी बहुरास  
सहस्र नाडियाँ होती हैं और इडा, विङ्गला और सुषुम्ना नाम की तीन नाडियाँ  
हैं, इन सभी नाडियाँ क बीच चन्द्रमा के प्रकाश के समान ज्योति से प्रकाशित  
मण्डल है, उसके बीच में आत्मा दीपक के समान अचल होकर स्थित रहता  
है । उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । उसे जानने पर मनुष्य पुनः  
इस ससार में जन्म नहीं लेता ॥ १०८-१०९ ॥

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादयात्तद्यान् ।

योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ ११० ॥

किंच, चित्तवृत्तेर्विषयान्तरतिरस्कारेणामनि स्वैर्यं योगस्तरप्राप्त्यर्थं बृहदार-  
ण्यकाख्यमादित्याद्यन्मया प्राप्त तच्च ज्ञातव्यम् । तथा यन्मयोक्त योगशास्त्र  
तदपि ज्ञातव्यम् ॥ ११० ॥

भाषा—( चित्तवृत्ति के निरोध के लिए ) ‘बृहदारण्यक’ का ज्ञान प्राप्त  
करना चाहिए, जो मैंने सूर्य देवता से पाया है, और योग की इच्छा रखने वाले  
को मेरा रचा हुआ योगशास्त्र जानना चाहिए ॥ ११० ॥

कथं पुनरसाधारमा ध्यातव्य इत्यत आह—

अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।

ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपकप्रभुः ॥ १११ ॥

आत्मव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियाणि प्रत्याहृत्य आत्मैकविषयाणि कृत्वा आत्मा ध्येयः । योऽसौ प्रभुर्निर्वातस्थप्रदीपं वहीष्यमानो दिव्यरूपो हृदि तिष्ठति । एतदेव तस्य ध्येयत्वं यच्चित्तपृथेर्वह्निर्विषयावभासतिरक्षारेणारमप्रवणता नाम शरावसंपुटनिरुद्धप्रभाप्रतानप्रसरत्येव प्रदीपस्यैकतिष्ठत्वम् ॥ १११ ॥

भाषा—मन, बुद्धि और स्मृति इन्द्रियो को विषयों से मोक्षकर एकाग्रचित्त हो आत्मा का ध्यान करना चाहिए, जो हृदय में दीपक के समान स्थित है ॥ १११ ॥

एवमपुनश्चित्तवृत्तिर्निराकारालम्बनतया समाधी नाभिरमते तेन शब्दप्रज्ञोपासनं कार्यमित्याह—

यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम् ।

सावधानस्तदभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ११२ ॥

स्वाध्यायावगतमार्गानतिक्रमेण सामगायं सामगानम् । साम्नो गानात्मकावेऽपि गायमिति विशेषणं प्रगीतमन्त्रयुदासार्थम् । अविच्युतमखलितं सावधानः सामध्वन्यनुस्यूतात्मैकप्रचित्तवृत्तिः पठन्स्तदभ्यासवशात् तत्र निष्णातः शब्दाकारशून्योपासनेन परं ब्रह्माधिगच्छति । तदुक्तम्—‘शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति’ इति ॥ ११२ ॥

भाषा—( समाधि करने में असमर्थ होने पर ) विधिपूर्वक नियमित रूप से एवं सावधान होकर सामगान का पाठ करने वाला एवं उसके अभ्यास में तत्पर रहने वाला ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ११२ ॥

एवमपुनर्वैदिक्यां गीतां चित्तनाभिरमते तेन लौकिकगीतानुस्मृतान्नोपासनं कार्यमित्याह—

अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं मकरीं तथा ।

श्रौवेणकं सरोविन्दुमुत्तरं गीतकानि च ॥ ११३ ॥

ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।

गेयमेतत्तदभ्यासकरणान्मोक्षसंशितम् ॥ ११४ ॥

१ यथाविधानेन पठन्साम गायविस्वरम् । २. स्तथाभ्यासात्परं ।  
३. अनुस्मृतान्मैक । ४. अपरान्तक । ५. मकरीं । ६. श्रौवेणुकं  
सुराविन्दुम् । ७. ऋग्गाथाः । ८. ब्रह्मगीतिकाः । ९. गायमनेतत् ।

अपरान्तकोल्लोप्यमद्रकप्रकर्षविवेकानि सरोविन्दुसहितं चोत्तरमित्येतानि-  
प्रकरणाख्यानि सप्त गीतकानि । 'व' शब्दादासारितवर्धमानकादिमहागीतानि-  
गृह्यन्ते । ऋग्गाथाःशतसो गीतिका इत्येतदपरान्तवादिगीतजातमध्यारोपिता-  
त्मभावं मोक्षमाधनत्वान्मोक्षसंज्ञितं मन्तव्यम् । तदभ्यासस्यैकाग्रतापादनद्वारे-  
णात्मैकतापत्तिकारणत्वात् ॥ ११३-११४ ॥

भाषा—( सामगान में भी मन न लगने पर ) अपरान्तक, उल्लोप्य,  
मद्रक, प्रकरी, औवेणक तथा सरोविन्दु सहित उत्तर गीतों का, ऋग्गाथा,  
पाणिका, दक्षविहिता और ब्रह्मगीतिका का गान करे । इनके अभ्यास से मोक्ष  
का माधन ( चित्त की एकाग्रता ) की प्राप्ति बतलाई गयी है ॥ ११३-११४ ॥

वीणावादनतत्त्वश्च श्रुतिजातिविशारदः ।

तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥ ११५ ॥

ऋषि, भरतादिमुनिप्रतिपादितवीणावादनतत्त्ववेदी । श्रूयत इति श्रुतिः  
द्वाविंशतिविधा सप्तस्वरेषु । तथा द्वि—पङ्कजमध्यमपञ्चमाः प्रत्येकं चतुःश्रुतयः  
ऋषभैरतौ प्रत्येकं त्रिश्रुती गान्धारनिषादी प्रत्येकं द्विश्रुती इति । जातयस्तु  
पङ्कजादयः सप्त शुद्धाः सुकरजातयस्यैकादशोत्पेवमष्टादशविधास्तासु विशारद-  
प्रवीणः । ताल इति गीतपरिमाणं कल्पते । तस्वरूपज्ञश्च तदनुविद्धग्रहोपासन  
तया तालादिभङ्गभयाच्चित्तवृत्तेरात्मैकाग्रतायाः सुकरत्वादव्यासेनैव मुक्तिपथ  
नियच्छति प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

भाषा—( भरत आदि मुनियों द्वारा प्रतिपादित विधि से ) वीणा-  
वादन का मर्मज्ञ, श्रुति ( जो सात स्वरों में बाहस प्रकार की होती है ),  
तथा जाति ( पङ्कज आदि सात शुद्ध और ब्यारह सुकर जातियाँ कुल मिलाकर  
अठारह ) में प्रवीण, और ताल का ज्ञान रखने वाला ( चित्त की एकाग्रता के  
सुकर होने से ) अल्प प्रयत्न से ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर लेता है ॥ ११५ ॥

चित्तविक्षेपाद्यन्तरायहतस्य गीतज्ञस्य फलान्तरमाह—

गीतज्ञो यदि योगेन<sup>१</sup> नाप्नोति परमं पदम् ।

रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ ११६ ॥

गीतज्ञो यदि कर्षाच्चक्षोगेन परमं पदं नाप्नोति तर्हि रुद्रस्य सचिवो भूत्वा  
तेनैव सह मोदते कीदृति ॥ ११६ ॥

भाषा—गीत जानने वाला यदि किसी प्रकार योग द्वारा परम पद नहीं  
प्राप्त कर पाता तो रुद्र का अनुचर होकर उन्हीं के साथ क्रीडा करता है ॥ ११६ ॥

१. प्रयत्नेन । २. गीतप्रमाणं कल्पयते । ३. गीतेन । ४. भूत्वा सह  
तेनैव ।

पूर्वोक्तमुपमंहरति—

अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शरीरकम् ।

१ आत्मनस्तु जगत्सर्वं जगत्तद्वात्मसंभवः ॥ ११७ ॥

मातृशरीरया अनादिरात्मा ज्ञेयज्ञस्तस्य च शरीरग्रहणमेवादरूपः कथितः 'अजः शरीरग्रहणाद्' (प्रा० ६९) इत्यत्र । परमात्मनश्च सकाशात्पृथिव्यादिमङ्गलभुवनोद्भवः तस्मादुक्तं 'एव पृथिव्यादिभूतसंघाताऽजीवानां स्थूलशरीरतया संभवश्च कथितः 'सर्गादौ स यथाकाशं' (प्रा० ७०) इत्यादिना ॥ ११७ ॥

भाषा—( उपरोक्त रीति से ) आत्मा अनादि है; उसका शरीर से युक्त होना ही उद्भव कहा गया है । आत्मा ( अर्थात् परमात्मा ) से ही पृथिवी आदि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है और पृथिवी आदि जगत्प्रपञ्च से आत्मा स्थूल शरीर में उत्पन्न होता है ॥ ११७ ॥

एतदेव प्रश्नपूर्वकं विवृणोति—

कथमेतद्विमुह्यामः सदेवासुरमानवम् ।

जगद्भूतमात्मा च कथं तस्मिन्वदस्व नः ॥ ११८ ॥

यदेतत्सकलसुरासुरमनुजादिमहितं जगदात्मनः सकाशात्प्रपञ्चं, आत्मा च तस्मिन् जगति कथं निर्यद्वन्तरसरीसृणादिशरीरभागभवतीत्येतस्मिन्नर्थे विमुह्यामः । अतो मोहापनुत्तरभंगस्माकं विस्तारश्चो वदस्व ॥ ११८ ॥

भाषा—( मुनियों ने प्रश्न किया ) देवता, असुर और मनुष्य आदि से युक्त यह संसार आत्मा से कैसे उत्पन्न हुआ और उस जगत्प्रपञ्च में आत्मा किस प्रकार शरीर ग्रहण कर लेता है, इसे हम समझ नहीं पा रहे हैं, कृपया विस्तारपूर्वक बतावें ॥ ११८ ॥

एवं मुनिभिः पृष्टः प्रत्युत्तरमाह—

मोहजालमपास्येह पुरुषो दृश्यते हि यः ।

सहस्रकरपद्मेभ्रः सूर्यवर्चाः सहस्रकः ॥ ११९ ॥

स आत्मा चैव यज्ञश्च विश्वरूपः प्रजापतिः ।

विराजः सोऽन्नरूपेण यश्चत्वमुपगच्छति ॥ १२० ॥

इह जगति यदिदं स्थूलकलेवरादावनात्मन्यात्माभिमानरूपं मोहजालं तदपास्य तद्दृष्टानिग्नो यः पुरोऽनेककरचरणलोचनः सूर्यवर्चाः अनन्तरश्चिः सहस्रक बहुशिरा दृश्यते । एतच्च तत्तद्गोचरशक्त्याधारतयोप्यते; तस्य साक्षात्कारादियद्वन्धाभावात् । स एवात्मा यज्ञः प्रजापतिश्च । यतोऽसौ

विश्वरूप सर्वात्मकः । वैश्वरूप्यमेव कथमिति चेत् । यस्मात्सौ विराज-  
पुरोडाशाद्यष्टरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति । यज्ञाच्च वृष्ट्यादिद्वारेण प्रजासृष्टि-  
रिण्डेः वैश्वरूप्यम् ॥ ११९-१२० ॥

भाषा—( याज्ञवल्क्य मुनि ने उत्तर दिया— ) इस ससार में ( स्थूल  
कलेवर आदि में, जो आत्मा नहीं है, आत्मा का भान करने के ) मोहजाल  
को छोड़कर जो अनेक हाथ, पैर नेत्र वाला, सूर्य के समान अगस्त किरणों  
वाला तथा अनेक शिरवाला दियाई पड़ता है वही आत्मा है, यज्ञ और  
प्रजापति है, वह विश्वरूप है जिससे विराज ( पुरोडाश आदि ) अन्न के  
रूप में यज्ञ होता है । ( यज्ञ से वृष्टि होती है और उससे प्रजा की सृष्टि  
होती है ) ॥ ११९-१२० ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

यो द्रव्यदेवतात्यागसंभूतो रस उत्तमः ।

देवान्संतर्प्य स रसो यजमानं फलेन च ॥ १२१ ॥

संयोज्य वायुना सोमं नीयते रश्मिभिस्ततः ।

ऋग्यजु सामविहितं सौरं धामोपनीयते ॥ १२२ ॥

संमण्डलादसौ सूर्यः सृजत्यमृतमुत्तमम् ।

यज्जन्म सर्षभूतानामशनानशनात्मनाम् ॥ १२३ ॥

तस्माद्घ्रातपुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुन क्रतुः ।

एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं संपरिवर्तते ॥ १२४ ॥

द्रव्यस्य चरुपुरोडाशादेर्देवतोद्देशेन स्वागाद्यो रसः अदृष्टरूपमात्मन  
परिणत्यन्तरमुत्तम सकलजगज्जन्मबीजतथोत्कृष्टतम सभूत स देवा-सप्रदा  
नकारकभूतान्सम्पक्कीणयिष्वा यजमान चाभिलषितफलेन संयोज्य एवनेन  
प्रेर्यमाणश्चन्द्रमण्डलं प्रति नीयते । ततः शशिमण्डलाद्रश्मिभिर्मानुमण्डलम् ।  
सैषा प्रथमेव विद्या तपतीत्यभेदाभिधानात् ऋग्यजु साममय प्रत्युपनीयते ।  
ततश्च खमण्डलादसौ सूर्योऽमृतरस वृष्टिरूपमुत्तम यस्सकलभूतानामशनान-  
शनारमना चराचराणां जनननिमित्तं तत्सृजति । तस्माद् वृष्टिसंपादितौषधिम  
यात्प्रजोत्पत्तिहेतोरन्नापुनर्यज्ञः, यज्ञाच्च पूर्वाभिहितं भद्रया पुनरन्नं, अ-नाच्च  
पुन क्रतुरित्येवमेतदखिलं ससारचक्रं प्रग्रहरूपेणोत्पत्तिविनाशविरहितं सम्प-  
क्परिवर्तत इत्यनेन क्रमेणात्मन सकाशादखिलजगदुत्पत्तिः । तत्र चामन  
स्वकर्मानुरूपविग्रहपरिग्रह ॥ १२१-१२४ ॥

१ स्वागारसभूतो ।

२ तन्मण्डलमसौ ।

३ प्रत्युपनीयते ।

४ विहितसशात्पुनरन्नम् ।

भाषा—जो वह पुरोडाश आदि द्रव्य को देवताओं के निमित्त अर्पित करने पर उत्तम ( सम्पूर्ण जगत् के जन्म का योज होने से उत्कृष्टतम ) उत्पन्न होता है वह रम देवताओं को तृप्त करके और अभिलषित फल से यजमान को युक्त करके, वायु द्वारा प्रेरित हो कर चन्द्रमण्डल में पहुँचता है, वहाँ से वह सूर्य के मण्डल में पहुँचता है, जो, ऋक्, यजुम् और साम तीव्र वेदों का ही रूप होता है । यह सूर्य अपने मण्डल से उत्तम अमृत ( वृष्टि ) छोड़ता है, जो सम्पूर्ण पृथ्वी और अथवा भूतों के जन्म का कारण होता है । उस वृष्टि से उत्पन्न अन्न द्वारा पुनः यज्ञ होता है, पुनः अन्न होता है और तब फिर यज्ञ होता है, इस प्रकार यह अनादि और अनन्त चक्र घूमता रहता है ॥ १२१-१२४ ॥

ननु यथात्मन मसरणमनारात्त तद्वानिर्मुक्तिप्रसङ्ग इत्यत आह—

अनादिरात्मा संभूतिर्विद्यते नान्तरात्मन ।

समवायी तु पुरुषो मोहेच्छाद्वेषकर्मज ॥ १२५ ॥

यद्यप्यात्मनोऽनादिरात्मात्संभूतिर्न विद्यते अन्तरात्मन शरीरव्यापिन तथापि पुरुष शरीरेण समवायी भवति भोगायतने सुखदुःखामक भोग्यजात-मुपभुङ्क्ते इत्येवभूतेन सवन्धेन सम्बन्धी भवत्येव । स च समवायी मोहेच्छाद्वेषजनितकर्मनिर्भेयो ननु निसर्गजात । तस्य कार्यत्वेन विनाशोपपत्तेर्न निर्मुक्ति ॥ १२५ ॥

भाषा—यद्यपि आत्मा के अनादि होने से शरीरव्यापी अन्तरात्मा की उत्पत्ति नहीं होती, तथापि पुरुष ( आत्मा ) शरीर से समवायी होता है ( सुख दुःख आदि का भोग करता है ) और यह समवाय मोह, इच्छा और द्वेष जनित कर्मों से उत्पन्न होता है ( नैसर्गिक नहीं होता ) ॥ १२५ ॥

आत्मनो जगज्जन्मेत्युक्त तत्प्रपञ्चयितुमाह—

सदस्रात्मा मया यो च आदिदेव उदाहृत ।

मुखबाहुरूपजा स्युस्तस्य वर्णा यथाक्रमम् ॥ १२६ ॥

पृथिवी पादतस्तस्य शिरस्तो द्यौरजायत ।

नस्तः पाणा दिशः श्रोत्रात्प्रशाद्वायुर्मुखाच्छिखी ॥ १२७ ॥

मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकर ।

जघनादन्तरिक्षं च जगच्च सचराचरम् ॥ १२८ ॥

योऽसौ सकलजीवामकतया प्रपञ्चात्मकतया च सदस्रात्मा बहुरूपस्तथा सकलजगद्देवतया आदिदेवो मया युष्माकमुदाहृत तस्य वदनभुजसवियचरण-

जाता यथाक्रममप्रजन्मादयश्चत्वारो वर्णा । तथा तस्य पादाद् भूमि, मस्तका-  
स्सुरसप्त, घ्राणाघ्राणाः, कर्णाककुभ, स्पर्शापवन, घटनाद्भुतवह, मनस-  
शाशाङ्कः, नेत्राद् भानुः, जघनाद्गगन, जद्रमाजद्रमात्मक जगच्च ॥१२६-१२८॥

भाषा—जिस (सकलजीवात्मक) अनेक रूप वाले आदिदेव का मैंने  
वर्णन किया है, उसके मुख, बाहु, ऊरु और पैर से क्रमशः चारों वर्ण हुए।  
उसके पैरों से पृथिवी और शिर से एलोक उत्पन्न हुआ। नासिका से  
प्राण, श्रोत्र से दिशाएँ, स्पर्श से वायु और मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ।  
उसके मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और नेत्रों से सूर्य, उसके जघन से  
अन्तरिक्ष पृथ्वी और अचर सत्ता की उत्पत्ति हुई ॥ १२६-१२८ ॥

अत्र चोदयन्ति—

यद्येवं स कथं ब्रह्मन्पापयोनिषु जायते ।

ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते ॥ १२९ ॥

हे ब्रह्मन् योगीश्वर ! यद्यथा जीवादिभाव भजते तर्हि कथमसौ पापयो-  
निषु मृगपक्ष्यादिषु जायते ? अथ मोहरागद्वेषादिदोषदुष्टैवात्तत्र जन्मेत्युच्यते ।  
तच्च न,—यस्माद्देश्वरः स्वतन्त्र कथमनिष्टैर्मोहरागादिभावे सयुज्यते ? ॥१२९॥

भाषा—हे ब्रह्मन् (योगीश्वर-याज्ञवल्क्य) । यदि ऐसी बात है  
तो वह आत्मा (मृग, पक्षी आदि) पाप योनियों में क्यों जन्म लेता है ?  
वह ईश्वर होकर किस प्रकार (मोह, राग आदि) दुर्भावनाओं से युक्त  
होता है ? ॥ १२९ ॥

कारणैरन्वितस्यापि पूर्वं ज्ञानं कथं च न ।

वेत्ति सर्वगतं कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम् ॥ १३० ॥

किंच, तथेदमप्यत्र दूषणम् । मन प्रभृतिज्ञानोपायैः सहितस्यापि तस्या-  
त्मन पूर्वज्ञान जन्मान्तरानुभूतविषय कस्मात्तोत्पद्यते ? तथा सर्वप्राणिगतं  
वेदनां सुखदुःखादिरूपां स्वय सर्वगोऽपि सर्वदेहगतोऽपि कस्मात्त वेत्ति ?  
तस्माद्देश्वरैश्चरो जीवादिभाव भजत हस्ययुक्तम् ॥ १३० ॥

भाषा—मन, आदि ज्ञान-प्राप्ति के साधनों से युक्त होने पर भी  
उस आत्मा का पूर्वज्ञान (विद्युले जन्म का अनुभव) क्यों नहीं होता ?  
स्वयं सभी शरीरों में विद्यमान होने पर भी वह सभी प्राणियों की (सुख-  
दुःख आदि) वेदना को क्यों नहीं जान पाता ॥ १३० ॥

१. तत्तत्प्रन्मेत्युच्यते । २. कारणैरन्वितस्य । ३. पूर्वज्ञान कथं च न ।

४. सर्वज्ञोपि ।

तत्र पूर्वोक्तयोत्तरमाह—

अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाङ्मायकर्मजैः ।

दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवं योनिशतेषु च ॥ १३१ ॥

यद्यपीश्वरः स्वरूपेण सत्यज्ञानानन्दलक्षणः तथाप्यविद्यासमावेद्यज्ञानमोह-  
रागादिभावैरभिभूयमानो नानाहीनयोनिजनसमाधनं मानतादित्रिविधं कर्मनिचय-  
माचरति । तेन चान्तरपादिहीनयोनितामापद्यते । अन्त्याश्रण्डालादयः, पक्षिणः  
काकादयः, स्थावरा वृक्षादयः तेषां भावोऽन्त्यपक्षिस्थावरता तां यथाक्रमेण  
मनोवाङ्मायारब्धकर्मदोषैर्जन्मसहस्रेष्वयं जीवः प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

भाषा—(याज्ञवल्क्य प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं) यह जीव (अत्य, ज्ञान  
और आनन्द स्वरूप ईश्वर होते हुए भी ) मन, वाणी और शरीर द्वारा किये  
गये कर्म से उत्पन्न दोषों के कारण चण्डाल, पर्दा और पृष्ठ आदि स्थावर  
पदार्थों का रूप सैकड़ों योनियों में प्राप्त करता है ॥ १३१ ॥

अनन्ताश्च यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम् ।

रूपाण्यपि तथैवेह सर्वयोनिषु देहिनाम् ॥ १३२ ॥

किंच, शरीरिणां जीवानां शरीरेषु भावा अभिप्रायविशेषाः सत्याद्युक्ते-  
त्तारतम्याद्यथाऽनन्तारतथा तत्कार्याण्यपि रूपाणि कुञ्जवामनस्वादीनि देहिनां  
सर्वयोनिषु भवन्ति ॥ १३२ ॥

भाषा—जीवों के अपने अपने शरीरों में जिस प्रकार के अनन्त भाव  
होते हैं उसी प्रकार के रूप भी सभी योनियों में देहियों को प्राप्त होते हैं ॥

ननु यदि कर्मजन्तानि कुञ्जस्वादीनि तर्हि कर्मानन्तरमेव तैर्भवितव्यमिष्टा-  
शास्त्रमाह—

त्रिपाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते ।

इह वाऽमुत्र चैकेपां भावस्तत्र प्रयोजनम् ॥ १३३ ॥

केपांचिउपोतिष्टोमादिकर्मणां त्रिपाकः फल प्रेत्य देहान्तरे भवति । केषां-  
चिरकारीयादिकर्मणां वृष्ट्यादिफलमिदं भवति । केषांचिचित्रादीनां फलं पश्चा-  
दिकमिह देहान्तरे वेत्तनियतम् । नह्यनन्तरमेव कर्मफलेन भवितव्यमिति  
शास्त्रार्थः । अत्र च कर्मणां शुभाशुभफलजनकरवे सत्त्वादिभाव एव प्रयोजक-  
भूतस्तदायत्तत्त्वात्फलतारतम्यस्य ॥ १३३ ॥

भाषा—कुछ ( उपोतिष्टोम आदि ) कर्मों के फल मृत्यु के उपरान्त  
दूसरा शरीर मिलने पर प्राप्त होते हैं और कुछ कर्मों के फल इसी लोक में



मिल जाते हैं। कुछ कर्मों का फल इस लोक में या देहान्तर में निश्चित रूप से प्राप्त होता है। कर्मों के शुभाशुभ फल के विषय में सत्त्वादि भाव ही प्रयोजन हैं ॥ १३३ ॥

मनोवाक्यायकर्मजैरन्यादिद्योनी प्राप्नोतीत्युक्त तत्प्रपञ्चयितुमाह—

परद्रव्याण्यभिधायंस्तथानिष्ठानि चिन्तयन् ।

वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्यासु योनिषु ॥ १३४ ॥

परधनानि कथमहमपहरेयमित्याभिमुख्येन ध्यायस्तथाऽनिष्ठानि ब्रह्महत्यादीनि हिंसात्मकानि करिष्यामानि चिन्तयन् वितथ असत्यभूत वस्तुनि अभिनिवेश पुन पुन सकल्पस्तद्वाश्च चण्डालाद्यन्ययोनिषु जायते ॥ १३४ ॥

भाषा—दूमरे के धन के अपहरण का भवसर दूढ़न रहने वाला, ( ब्रह्महत्यादि ) पापों का ही चिन्तन करने वाला, तथा असत्य वस्तुओं में पुन पुन सकल्प करने वाला कुत्ता, चण्डाल आदि अन्ययोनिषों में जन्म लेता है ॥ १३४ ॥

पुरुषोऽनृतवादी च पिशुन परुषस्तथा ।

अनिबद्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते ॥ १३५ ॥

किंच, यस्त्वनृतवदनशील पुरुष पिशुन कर्णोज्ज्वल पक्ष परोद्देगजरभापी अनिबद्धप्रलापी प्रकृतासङ्गतार्थवादी च बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वादिभारतभ्यार्क्षानोरूपेषु मृगपक्षिषु जायते ॥ १३५ ॥

भाषा—असत्यवादी पिशुन ( जुगुलखोर ), कठोर वचन कहने वाला और अनिबद्ध भाषण करने वाला मृग और पक्षी की योनि में जन्म लेता है ॥

अदत्तादाननिरत परदारोपसेवकः ।

द्विसकश्चाविधानेन स्थावरेष्वभिजायते ॥ १३६ ॥

किंच, अदत्तादाननिरत अदत्तपरधनापहारपसक्त परदारपसक्तश्च अविहित मार्गेण प्राणिना घातकश्च दोषगुरुलघुभावतारतम्यात्तरुलनाप्रतानादिस्थावरेषु जायते ॥ १३६ ॥

भाषा—बिना दिए हुए ही दूमरे की वस्तु का अपहरण करने में रत, परस्त्र में आमक और ( अविहित विधि से यज्ञ प्रयोजन के बिना ही ) प्राणियों की हिंसा करने वाला स्थावर ( वृक्ष, लता आदि ) की योनियों में उत्पन्न होता है ॥ १३६ ॥

१ योनितां प्राप्नोतीति । २ पुरुषस्तथा । ३ पूर्वावृत्त्यादि ।

४ स्थावरेषु जायते ।

सखादिगुणपरिपाकमाह—

ध्यात्प्रमथः शौचघान्दान्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ।

धर्मकृद्वेदविद्यावित्सात्त्विको देवयोनिताम् ॥ १३७ ॥

आत्मज्ञो विद्याधनाभिजनाद्यभिमानरहितः, शौचवान् वाद्याभ्यन्तरशौच-  
युक्त, दान्त उपशमान्वित, तपस्वी कृत्वादिनपोयुक्त, तथेन्द्रियार्थेभ्यःप्रसक्त,  
नियमैमित्तिकधर्मानुष्ठाननिरतः, वेदार्थवेदी च यः, सात्त्विक । स च मत्बोदके  
ताःतम्यैवशाहुःकृष्टाःकृष्टतरसुरयोनिता प्राप्नोति ॥ १३७ ॥

भाषा—आत्मज्ञानी, पवित्र, दान्त चित्त वाला, तपस्वी, इन्द्रियों को  
वश में रखने वाला, धर्मनिष्ठ और वेद विद्या का ज्ञान रखने वाला, मन्वगुण  
संपन्न व्यक्ति देव की योनि में जन्म पाता है ॥ १३७ ॥

असत्कार्यरतोऽधीर आत्मभी विपयी च य ।

स राजसो मनुष्येषु मृतो जन्माधिगच्छति ॥ १३८ ॥

किंच, असत्कार्येषु तूषवादिप्रनृत्यादिव्यभिरतो य तथा अधीरो व्यप्रचित्त  
आत्मभी सदा कार्याकुलो विषयेष्वतिप्रसक्तश्च, स रजोगुणयुक्त । नदगुणतार-  
तम्याद्धीनोऽमनुष्यजातिषु मरणानन्तरमुत्पत्तिं प्राप्नोति ॥ १३८ ॥

भाषा—जो असत्कार्य ( नृश्य, गीत आदि ) में रत, अधीर, सदा  
कार्याकुल और निषेधों में लिस रहता है वह रजोगुणी मनुषु के उपरान्त मनुष्य  
योनि में जन्म पाता है ॥ १३८ ॥

निद्रालुः क्रूरकल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा ।

प्रमादवान्भिष्वक्षुत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः ॥ १३९ ॥

तथा च, य पुनर्निद्राशील, प्राणिपीडाकरो, लोभयुक्तश्च, तथा नास्तिको  
धर्मादिनिन्दक, याचनशील, प्रमादवान् कार्याकार्यविवेकशून्य, विरुद्धाचारश्च,  
असौ तमोगुणयुक्तस्तत्तारतम्याद्धीनहीनतरपश्चादियानिषु जायते ॥ १३९ ॥

भाषा—निद्रालु ( अधिक सोने वाला ), प्राणियों को पीड़ित करने  
वाला, लोभी, नास्तिक, याचक, प्रमादी ( विवेकहीन ) और विरुद्ध आचरण  
वाला तमोगुणी पशु पक्षियों की योनि में उत्पन्न होता है ॥ १३९ ॥

पूर्वोक्तमुपनहरति—

रजसा तमसा चैवं समाविष्टो भ्रमन्निह ।

भाषैरनिष्टै संयुक्त संसारं प्रतिपद्यते ॥ १४० ॥

१ धर्मकृद्वेदविद्यावित्सात्त्विको । २ तारतम्याहुःकृष्ट । ३ पुनर्जन्मा-  
धिगच्छति ।

एवमविद्याविद्वोऽयमात्मा रजस्तमोभ्या मय्यगाविष्ट इह मसारे पर्यटन्  
नानाविधदुःखप्रदैर्भावैरभिभूत पुन पुन ससार देहप्रहणं प्राप्नोतीति । ईश्वर'  
म कथं भावैरनिष्टे सप्रयुज्यत इत्यस्य चोद्यस्यानवकाशः ॥ १४० ॥

भाषा—( इस प्रकार अविद्या से युक्त ) यह आत्मा रजोगुण एव तमो-  
गुण से पूर्णतः आविष्ट होकर इस लोक में भटकता हुआ, अनेक दुःखप्रद  
भावों से युक्त होकर पुन पुन ससार में जाता है अर्थात् शरीर धारण  
करता है ॥ १४० ॥

यदपि 'करणैरन्वितस्यापि' ( प्रा० १३० ) इति द्वितीय चोद्य तस्योत्तर  
माह—

मलिनो हि यथाऽऽदर्शो रूपालोकस्य न क्षमः ।

तथाऽविपक्वकरणे आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥ १४१ ॥

यद्यप्यात्मा अन्तःकरणोदिज्ञानसाधनमप्यस्तथापि जन्मान्तरानुभूतार्था-  
बोधे न समर्थः अविपक्वकरणो रागादिमलाक्रान्तचित्तो यस्मात्, यथा दर्पणो  
मलच्छद्मनो रूपज्ञानोत्पादनसमर्थो न भवति ॥ १४१ ॥

भाषा—( दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं— ) जिस प्रकार मलिन दर्पण  
रूप का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा राग आदि  
दोष से युक्त होने के कारण दूसरे जन्म के अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने में  
असमर्थ रहता है ॥ १४१ ॥

ननु प्राग्भवीयज्ञानस्याप्यात्मप्रकाशत्वात् तस्य च स्वतः सिद्धस्वात्मानुपलभ्यो  
युक्त इत्याशङ्क्याह—

कट्वेर्वारौ यथाऽपक्वे मधुरः सन्नसोऽपि न ।

प्राप्यते ह्यात्मनि तथा नापक्वकरणे ज्ञता ॥ १४२ ॥

अपक्वे कट्वेर्वारौ तिक्तकर्कटिकायां विद्यमानोऽपि मधुरो रसो यथा नोप-  
लभ्यते तथात्मन्यपक्वकरणे विद्यमानापि ज्ञता ज्ञातुना प्राग्भवीयवस्तुगोचरा न  
प्राप्यते ॥ १४२ ॥

भाषा—जिस प्रकार कटुई ककड़ों में रस होने पर भी वह बिना पके  
प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान रहते हुए भी अपक्वकरण  
की अवस्था में ( रागादि विकारों से चित्त के मलिन रहने पर ) उसे पूर्व-  
जन्म के अनुभव का ज्ञान नहीं हो पाता ॥ १४२ ॥

'वेत्ति सर्वगतं कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम्' ( पा० १३० ) इति यदुक्तं, तत्रोत्तरमाह—

सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम् ।

योगी मुक्तश्च सर्वासां यो न चाप्नोति वेदनाम् ॥ १४३ ॥

यः पुनर्देही देहाभिमानयुक्तः, स सर्वाश्रयामाभ्यात्मिकादिरूपां वेदनां स्वकर्मापाजित एव देहे प्राप्नोति, न देहान्तरगतां भोगापतनाम्भाटवैलक्ष-  
ण्यादेव; यस्तु योगी मुक्तो मुक्ताहंकारादिः सकलक्षेत्रज्ञगतानां सुखदुःखादि-  
संविदां वेदित्वा भवति परिष्ककरणत्वात् ॥ १४३ ॥

भाषा—जो शरीरधारी अपने शरीर के अभिमान से युक्त होता है वह सब प्रकार की ( आध्यात्मिक आदि ) वेदनाएँ उस शरीर से ही प्राप्त करता है ; योगी और मुक्त ( अहंकारहीन ) सभी प्राणियों की सुख-दुःखादि वेदना का ज्ञाता होता है । ( क्योंकि उसका चित्त रागादि मल से आच्छन्न नहीं रहता ) ॥ १४३ ॥

अन्वेकस्मिन्नारमणि सुरनरादिदेहेषु भेदप्रत्ययो न घटत इत्याशङ्कबाह—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् ।

तथारमैको ह्यनेकश्च जलाघारेऽपि यथाशुभान् ॥ १४४ ॥

यद्यैवमेव गगनं कृपकुम्भाद्युपाधिभेदभिन्न नानेवानुभूयते, यथा वा भानु-  
रेकोऽपि मिन्नेषु जलभाजनेषु करकमणिकमल्लिकादिषु नानेवानुभूयते, तथै-  
कोऽप्यात्मा अन्तःकरणोपाधिभेदेन नाना प्रतीयते । द्वितीयदृष्टान्तोपादान-  
नारमभेदस्वापारमार्थिकत्वघातार्थम् ॥ १४४ ॥

भाषा—जिस प्रकार आकाश एक ही है किन्तु घट आदि पात्रों में पृथक्-  
पृथक् अनेक प्रतीत होता है एवं जिस प्रकार सूर्य एक होता हुआ भी  
भिन्न-भिन्न जलपात्रों में अनेक प्रतीत होता है; उसी प्रकार आत्मा भी  
( समष्टि और व्यष्टि भेद से ) एक और अनेक है ॥ १४४ ॥

'पञ्चधातून्स्वयं पञ्च आदत्ते युगपत्प्रभुः' ( पा० ७२ ) इत्याद्युक्तमर्थगुणसदस्याह—

ब्रह्मस्थानिलतेजांसि जलं भूश्चेति धातवः ।

इमे लोका एव च्छात्मा तस्मात्स्व सञ्चराच्चरम् ॥ १४५ ॥

ब्रह्म आत्मा, स्वं गगनं, अनिलो वायुः, तेजोऽग्निः, जलं प्रसिद्ध, भूधे-  
स्यंते वातादिधातव एव शरीरं व्याप्य धारयन्तीति धातवोऽभिधीयन्ते । तत्र  
खाद्यं पञ्च धातवः लोक्यन्ते हरयन्ते इति लोकाः । जडा इति यावत् । एव  
चिद्वातुरात्मा एतस्माज्जडाजडसमुदायस्यावरजङ्गमारमकं जगदुत्पद्यते ॥ १४५ ॥

१. ज्ञाता चाप्नोति वेदनाम् । २. रिमकादिषुर्हा । ३. रु

भाषा—ब्रह्म ( आत्मा ), आकाश वायु तेज, अग्नि, जल और पृथिवी ये ( शरीर को व्याप्त कर धारण करने के कारण ) धातु कहे जाते हैं । ये ही ( आकाश आदि अवलोकित होने के कारण ) लोक ( वा जड़ ) हैं और यह ज्ञानमय आत्मा होता है इन्हीं के समुदाय से चर और अचर ससार की उत्पत्ति होती है ॥ १४५ ॥

वयमसावात्मा जगत्सृजतीत्याह—

मृदुण्डचक्रसंयोगात्कुम्भकारो यथा घटम् ।

करोति तृणमृत्काष्ठैर्गृह वा गृहकारकः ॥ १४६ ॥

हेममात्रमुपादाय रूपं वा हेमकारक ।

निजलालासमायोगात्कोशं वा कोशकारक ॥ १४७ ॥

कारणान्येवमादाय तामु तास्विद् योनिषु ।

सृजत्यात्मानमात्मा च संभूय करणानि च ॥ १४८ ॥

यथा हि कुलालो मृच्चक्रचीवरादिक कारणभातमुपादाय करकशरावादिक नानाविधकार्यभात रचयति, यथा वा वधकिस्तृणमृत्काष्ठै परस्परसापेक्षै एकं गृहकार्य कार्यं करोति, यथा वा हेमकार कवट हेमोपादाय हेमानुगतमेव वटक मुकुटकुण्डलादिकार्यमुपादयति यथा वा कोशकारक कीटविशेषो निजलाल-यारब्धमात्रमध-धन कोशारयमारभते, तथास्मावि पृथिव्यादानि साधनानि परस्परसापेक्षाणि, तथा करणान्यपि श्रोत्रादीनुपादाय अस्मिन्ससारे तामु तामु सुरादियोनिषु स्वयमेवात्मानं निजकर्मध-धयद् शरारितया सृजति ॥ १४६-१४८ ॥

भाषा—जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी, डटे और चाक के संयोग से घटा बनाता है, घर बनाने वाला तिनकों, मिट्टी और लकड़ी से घर बना देता है अथवा जिस प्रकार स्वर्णकार कवल सोना लेकर उससे अनेक प्रकार के रूप ( आभूषण आदि ) बना डालता है अथवा जिस प्रकार अपनी ही लार से मक्खी अपना जाला बना लेता है उसी प्रकार आत्मा भी पृथिवी आदि साधनों और श्रोत्र आदि इन्द्रियों को लेकर स्वय ही इस ससार में भिन्न भिन्न योनियों में शरीरों के रूप में अपना रचना करता है ॥ १४६-१४८ ॥

किं पुनर्वैषविकज्ञानेन्द्रियव्यतिरिक्ता मसद्भावे प्रमाणमित्याह—

महाभूतानि सत्यानि यथात्मापि तथैव हि ।

कोऽन्यथैकन नेत्रेण दृष्टमन्येन पश्यति ॥ १४९ ॥

धाचं धर को विजानाति पुन संश्रुत्य संश्रुताम् ।

यथा हि पृथिव्यादिमहाभूतानि सत्यानि प्रमाणागम्यत्वात् तथाऽऽत्मापि सत्यः । अन्यथा यदि बुद्धीन्द्रियतिरिक्तो ज्ञाता भ्रुवो न स्यात्तर्हि एकेन चक्षुरिन्द्रियेण दृष्टं वस्तु अन्येन स्पर्शनेन्द्रियेण को विजानाति 'यमहम-  
द्राघ तमहं स्पृशामि' इति ॥ तथा कस्यचित्पुरषस्य याचं पूर्वं श्रुत्वा 'पुनः श्रूयमाणां याचं तस्य यागिषमिति कः प्रत्यभिजानाति । तस्मात्  
ज्ञानेन्द्रियातिरिक्तो ज्ञाता भ्रुव इति सिद्धम् ॥ १४९३ ॥

भाषा—जिस प्रकार पृथिवी आदि महाभूत सत्य हैं उसी प्रकार ( विना प्रमाण के भी ) आत्मा सत्य है; अन्यथा ( यदि बुद्धि, इन्द्रिय से अलग ज्ञाता नहीं होता तो ) एक चक्षु इन्द्रिय द्वारा देखी गई वस्तु दूसरी ( स्पर्श की ) इन्द्रिय से कौन जानता ? अथवा किसी व्यक्ति की पहले सुनी हुई वाणी को पुनः सुनने पर कौन पहचान पाता, ? ॥ १४९३ ॥

'अतीतार्थस्मृतिः कस्य को वा स्वप्नस्य कारकः ॥१५०॥

जातिरूपवयोवृत्तविद्यादिभिरदंश्रुतः ।

शब्दादिविषयोद्योगं कर्मणा मनसा गिरा ॥ १५१ ॥

किंच, यद्यात्मा भ्रुवो न स्यात् तर्ह्यनुभूतार्थगोचरा स्मृतिः पूर्वानुभव-  
भावितसस्कारोद्बोधनिबन्धना कस्य भवेत् ? नह्यन्येन दृष्टे वस्तुव्यवस्य स्मृति-  
रूपपद्यते । तथा कः स्वप्नज्ञानस्य कारकः । नहीन्द्रियाणामुपरतत्त्वापाराणां  
तस्कारकरवम् । तथाहमेवाभिजनत्वादिमंपन्न इत्येवंविधोऽनुसंधानप्रत्ययः  
करय भवति स्थिरात्मव्यतिरिक्तस्य ? तथा शब्दस्पर्शादिविषयोपभोगसिद्धय-  
र्थमुद्योगं मनोवाक्यायैः कः कुर्यात् ? तस्मादपि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्त आत्मा  
स्थितः ॥ १५०-१५१ ॥

भाषा—( यदि आत्मा सत्य न होता तो ) अतीत काल के अनुभव की याद कैसे रह पाती ? ( एक व्यक्ति द्वारा देखी गई वस्तु दूसरे व्यक्ति की स्मृति में नहीं रहती है ), स्वप्न का ज्ञान कौन कराता है ? जाति, रूप, आयु, वृत्त, विद्या आदि का अहंकार करने वाला कौन है ? तथा शब्द स्पर्श आदि विषयों के भोग के लिये कर्म, मन और वाणी से उद्योग कौन करता ? [ अतएव बुद्धि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व निश्चित है । ] ॥१५०-१५१॥

उपासनाविशेषविष्यर्थं संसारस्य रूपं विवृण्वन्नाह—

स संदिग्धमतिः कर्मफलमस्ति न चेति धा ।

'विप्लुतः सिद्धमात्मानमसिद्धोऽपि हि मन्यते ॥ १५२ ॥

१. अतीतार्थस्मृतिः । अतीतार्था । २. विषय सक्तः । ३. सिद्धयर्थं ।

४. संप्लुतः ।

योऽसौ पूर्वोक्त आत्मा विप्लुतोऽहकारदूषितः स सकलकर्मसु फलमरित  
न वेति संदिग्धमतिर्भवति । तथाऽसिद्धोऽप्यकृतार्थोऽपि सिद्धमेव कृतार्थमात्मान  
मन्यते ॥ १५२ ॥

भाषा—यह आत्मा अहकार से दूषित होकर दण्डा करने लगता है कि  
सभी कर्मों का फल होता है या नहीं, और अकृतार्थ होते हुए भी अपने को  
कृतार्थ मानने लगता है ॥ १५२ ॥

मम दारा सुनामात्या अदमोपमिति स्थितिः ।

हिताहितेषु भावेषु विपरीतमतिः सदा ॥ १५३ ॥

किंच, तस्य विप्लुतमतेर्मम फलप्रयुक्तप्रेष्यादयोऽहमेवामित्यतीव मम-  
ताकुलस्थितिर्भवति । तथा हिताहितकरे कार्यप्रकरे स विप्लुतमतिर्विप  
रीतमतिः सदा भवेत् ॥ १५३ ॥

भाषा—उसकी ( अहकार से दूषित आत्मा की ) 'ये मेरी पत्नी हैं'  
'ये मेरे पुत्र हैं' 'ये मेरे सेवक हैं' 'मैं इनका हूँ' ऐसी ममताकुल दृष्टि  
है, तथा हित एव अहित क कार्यों में उसकी सदैव विपरीत मुद्रि  
होती है ॥ १५३ ॥

श्रेयसे प्रवृत्ती चैव विकारे चाविशेषयान् ।

अनाशकानलाघातजलप्रपतनोद्यमी ॥ १५४ ॥

पथंयुक्तोऽधिनीतात्मा यितयाभिनिवेशयान् ।

कर्मणा द्वेषमोहाभ्यामिच्छया चैव वन्यते ॥ १५५ ॥

किंच, श्रेय जानातीति श्रेयज्ञानस्मिन्न्यामनि प्रवृत्ती चात्मनो गुणमात्राव-  
स्थाया विकारे चाहकारादावविशेषयान् विवेका अभिज्ञो भवति । तथानश-  
कानलाघातजलप्रपतनोद्यमी ॥ १५४ ॥ एष मानाप्रहा-  
राकार्यप्रवृत्तोऽधिनीतात्माऽम्यवतात्मा अस्वकार्याभिनिवेशयुक्तः सन् तादृशकर्म-  
जानेन रागद्वेषाभ्यां मोहेन च वन्यते ॥ १५४-१५५ ॥

भाषा—श्रेयज्ञ ( श्रेय विषयों को जानने वाला ) आत्मा प्रवृत्ति में  
( अपने गुणों की साध्यावस्था में ) अहंकारादि विकार से विवेकशून्य  
हो जाता है और भोजन त्याग, अग्नि, जल में प्रवेग अथवा गिरकर मरने  
के कार्य में दान करता है । इस प्रकार अनेक कार्यों में प्रवृत्त अवगत  
आत्मा सुखकर्म में लगकर ( उन कर्मों से उपमन ) राग, द्वेष और मोह से  
पंडित होता है ॥ १५४-१५५ ॥

शरीरग्रहणद्वारेण बन्धं पुनस्तस्य विस्त्रम्भो भवतीत्यत आह—

आचार्योपासनं वेदशास्त्रार्थेषु विवेकिता ।

तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥ १५६ ॥

ऋयालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम् ।

त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकापायधारणम् ॥ १५७ ॥

विषयेन्द्रियसंरोधस्तद्भ्राक्षस्यविवर्जनम् ।

शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम् ॥ १५८ ॥

नीरजस्तमसा सत्त्वशुद्धिर्निस्पृहता शमः ।

एतैरुपायैः संशुद्धः सत्त्वयोग्यमृती भवेत् ॥ १५९ ॥

विद्यार्थमाचार्यसेवा, वेदान्तार्थेषु पातञ्जलदियोगशास्त्रार्थेषु च विवेकि-  
त्वम्, तत्प्रतिपादितध्यानकर्मणामनुष्ठानम्, मशुस्यसङ्गः प्रियहितवचनत्वम्,  
ललनालोकनालम्भयोः परित्याग, सर्वभूतेष्वारम्भदर्शनं समत्वदर्शनम्, परि-  
ग्रहाणां च पुत्रपौत्रकलत्रादीनां त्याग, जीर्णकापायधारणम्, शब्दस्पर्शादि-  
विषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिरोधः, तद्भ्रा निद्रानुकारिणो, आलस्य-  
मनुत्साहः तयोर्विशेषेण त्यागः, शरीरस्य परिसंख्यानमस्थिराशुचित्वादिदोषा-  
नुसंधानम्, तथा सकलगमनादिषु प्रवृत्तिषु सूक्ष्मप्राणिबन्धादिदोषपरामर्शः, तथा  
रजस्तमोविधुरता, प्राणायामादिभिर्भावशुद्धिः, निस्पृहता विषयेष्वनभिलाषः,  
शमो बाह्य-त करणसयम, एतैरुपायैः संशुद्धः सत्त्वयोग्यमृती भवेत् इत्युक्तं  
केवलसत्त्वयुक्तो ब्रह्मोपासनैनामृती भवेत् मुक्तो भवति ॥ १५६-१५९ ॥

भाषा—विद्याप्राप्ति के लिये आचार्य की सेवा, वेदशास्त्रों में (वेदान्त  
के अर्थ और पातञ्जल आदि योगशास्त्रों में) विवेक, उनमें प्रतिपादित  
ध्यान कर्म का अनुष्ठान, सत्सङ्ग, प्रिय एवं हितकर वचन, स्त्रियों के दर्शन  
एवं स्पर्श का परित्याग, सभी प्राणियों पर अपने समान दृष्टि (समदर्शिता),  
परिग्रह (पुत्र, पत्नी आदि) का त्याग, जीर्ण कापाय वस्त्र का प्रयोग,  
शब्द, स्पर्श आदि विषयों से इन्द्रियों की प्रवृत्ति का निरोध, तद्भ्रा (नींद  
के बाद की स्थिति) और आलस्य (उत्साहहीनता) का त्याग, शरीर की  
अपवित्रता आदि दोषों का अनुसंधान, सभी (यत्न, आदि) प्रवृत्तियों में  
(सूक्ष्म प्राणियों का बन्ध होने से) पाप देखना रजोगुण एवं तमोगुण का  
परित्याग, (प्राणायाम आदि द्वारा) भाव की शुद्धि, निस्पृहता (विषयों  
में अभिलाषा का अभाव) और शम (बाह्य और अन्तःकरण का सयम)



इन उपायों द्वारा सम्यक् रूप से शुद्ध और केवल सत्त्वगुण सम्पन्न व्यक्ति ही मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १५६-१५९ ॥

कथममृतत्वप्राप्तिरिष्यत आह—

तस्यस्मृतेरुपस्थानात्सत्त्वयोगात्परिक्षयात् ।

कर्मणा सनिकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

आत्मारयतस्वरमृतेरात्मनि निश्चलतयोपस्थानात् सत्त्वशुद्धियोगात्केवलसत्त्वगुणयोगात्कर्मबंधीजाना परिक्षयात् सत्पुरुषाणा च सत्त्वधात् आत्मयोग प्रवर्तते ॥ १६० ॥

भाषा—आत्मा नाम के तत्त्व का सदा स्मरण करने, आत्मा में निश्चल होकर ध्यान लगाने, केवल सत्त्वगुण के योग से, कर्मरूपी बीज क नष्ट होने से और सत्पुरुषों के सयोग से आत्मयोग प्राप्त होता है ॥ १६० ॥

शरीरसंक्षये यस्य मन सत्त्वस्यमीश्वरम् ।

अविप्लुतमति सम्यक्सं जातिम्भरतामियात् ॥ १६१ ॥

किंच, यस्य पुनर्धोतिभोऽविप्लुतमते शरीरमक्षयसमय मन सत्त्वयुक्तं सम्यगेकाग्रतयेश्वर प्रति व्याप्रियते स यद्युपामनाप्रयोगाप्रवीणतयात्मान नाधि गच्छति तर्हि विनिष्टमस्कारपाठववशेन जात्यन्तरानुभूतकृमिकीटादिनागर्भ वासादिसमुद्भूतदु खस्मरस्य प्राप्नुयात् । तस्मरणेन च जातोद्वेगतस्तद्विन्द्रेद कारिणि भोक्षे प्रवर्तते ॥ १६१ ॥

भाषा—शरीर त्याग क समय जिन अविप्लुतमति ( अहंकार आदि से जिनकी बुद्धि मलिन नहीं है उस ) योगी का मन सत्त्वगुण से युक्त होकर सम्यक् रूप से केवल ईश्वर में लगा होता है वह यदि आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता तो भी उसे विप्लुके जन्म में अनुभूत दु खों की स्मृति रहता है ( जिससे वह मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्न होता है ) ॥ १६१ ॥

यत्सर्वपटुसस्कारतया पूर्वा ज्ञानि न स्मरति तस्य का गतिरित्यप्राह—

यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम् ।

नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा धर्मजास्तनू ॥ १६२ ॥

भरतो नट, स यथा रामरावणादिनानारूपाणि कुर्वाण मितामितपीता दिभिर्वर्णैरात्मनस्तनु वर्णयति रक्षयति तथैवतथा तत्सत्कर्मफलोपभोगार्थं बुद्धत वामनादिनानारूपाणि कर्मनिमित्तानि फलेऽप्राप्यादत्ते ॥ १६२ ॥

१ अविप्लुतस्मृति सम्यग्ज्ञानि । २ सस्मरतामियात् । ३ यत्सर्व पटु सस्कार ।

भाषा—जिस प्रकार नट ( नाटक खेलने वाला ) अनेक रंगों से अपने शरीर को रंग लेता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने कर्मों का फल भोगने के लिए अनेक रूपों वाले शरीर धारण करता है ॥ १६२ ॥

कालकर्मात्मधीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ।

गर्भस्य चैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मनः ॥ १६३ ॥

किंच, न केवल कर्मैव कुब्जवामनरवादिनिमित्त, किंतु कालकर्मणि स्वकारणस्त्रयित्वाज्ज्ञेयो मातृदोषश्चेति सर्वमेतत्सहकारिकारणम् । एतेन दृष्टादृष्टस्वरूपेण कारणकलापेन गर्भस्थाङ्गहीनरवादिविकारो जन्मन आरभ्यानियतजालो दृष्ट ॥ १६३ ॥

भाषा—( न केवल पूर्वजन्म क कर्मों से अस्तित्व ) काल, कर्म और अपन कारणभूत पिता क वीर्य के दोष से तथा माता के दोष से ( इन सभी सहकारी कारणों से भी ) जन्म स अहङ्गीन होना आदि गर्भ का विकार दृष्टिगोचर होता है ॥ १६३ ॥

ननु प्राकृतिकप्रलयावसरे महदाद्यतिलविकारविनाशे कर्मणो नाशाकथ तन्निबन्धन प्रथमपिण्डपरिग्रह इत्याशङ्क्याह—

अहंकारेण मनसा गत्या कर्मफलैश्च ।

शरीरेण च नात्मार्यं मुक्तपूर्वं कथंचन ॥ १६४ ॥

मनोऽहंकारी प्रसिद्धी, गति समरणहेतुभूतो (दोषराशि, कर्मफल धर्माधर्मरूपम्, शरीर लिङ्गात्मकम्, एतैरहंकारादिभिरवमात्मा कदाचिदपि न मुच्यते यावन्मोक्ष ॥ १६४ ॥

भाषा—अहंकार, मन, गति, धर्म अधर्म रूप कर्मों का फल और शरीर से यह आत्मा ( मोक्ष होने से पूर्व ) कदापि मुक्त नहीं रहता है ॥ १६४ ॥

ननु प्रतिनियतकर्मणां जीयानां प्रतिनियतकालमेषोपरतियुक्ता, न पुनः सप्रामादी युगपदकाले प्राणस्यप इत्याशङ्क्याह—

धर्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः ।

विक्रियापि च दृष्टेयमकाले प्राणसंक्षयः ॥ १६५ ॥

यथा हि यत्तु तैलविलम्बानेकैवर्तिवर्तिनीनां नानाज्जालानां युगपत्संस्थिति तामां च स्थितानां तदुत्तर दोष्यमानवचनादतिरूपविकृतिहेतूनिगततथीगपद्याद्युत्पत्तुपरतियथा भवति तथैव स्थितारधियाजिकुञ्जरादिजावानां युदाद्योपरतितदुत्पत्तुदकालेऽपि प्राणपरिणया नानुवपन्न । एतदुक्तं भवति—प्रतिनियतकालविकृतिहेतुनादृष्टस्य तद्विरुद्धकार्यकरदृष्टेनूनिपातेन प्रतिबन्ध इति ॥ १६५ ॥

१. जन्मन । २. स्वपितृकारणधीन । ३. आरभ्यानियत । ४. देहस्यप । ५. नेकवर्तिनीनां । ६. स्थितानां पटुतरदोष्यमान ।

भाषा—जिन प्रकार एक ही दीपक में तेल से भीषी हुई अनेक बत्तियों से कई लौ एक साथ निकलती हैं और वायु का प्रबल शौका उन सबको एक साथ ही बुझा देता है उसी प्रकार भकाल में भी अनेक मनुष्यों का एक साथ ही प्राण-नाश हो जाता है ॥ १६५ ॥

मोक्षमार्गमाह—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।

सितासिताः क्वचुरुपाः कपिला नीललोहिताः ॥ १६६ ॥

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भिरजा सूर्यमण्डलम् ।

ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ १६७ ॥

योऽसौ हृदि प्रदीपवरिस्थितो जीवस्तस्यानन्ता रश्मयो नाट्य सुखदुःख-हेतुभूता 'द्रामसतिसहस्राणि' ( प्रा० १०८ ) इत्यादिनोक्ता सितासितक्वुरादिरूपाः सर्वतः स्थितास्तेषामेको रश्मिरूर्ध्वं व्यवस्थित योऽसौ मार्तण्डमण्डल निर्भिद्य हिरण्यगर्भनिलय चातिक्रम्य वर्तते तेन जीवः परा गतिमपुनरावृत्ति-लक्षणा प्राप्नोति ॥ १६६-१६७ ॥

भाषा—हृदय में दीपक के रूप में स्थित जीव की अनन्त रश्मियाँ ( सुख दुःख की हेतुभूत नादियों ) श्वेत, कृष्ण, क्वरी, कपिला, नीली और लाल वर्ण की हाती हैं । उनमें एक नाड़ी ऊपर की ओर स्थित है जो सूर्यमण्डल को भेदकर ब्रह्मलोक के भी पार पहुँचती है, इसके द्वारा ही जीव परम गति प्राप्त करता है ॥ १६६-१६७ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

यदस्याभ्यद्रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम् ।

तेन देवशरीराणि सधामानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

यदस्याभ्यतो मुक्तिमार्गभूताद्रश्मेरभ्यद्रश्मिशतमूर्ध्वाकारमेव व्यवस्थितं तेन सुरशरीराणि तैजसानि सुखैकभोगाधिकरणानि सधामानि कनकरजत-रत्नरचितामरपुरसहितानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

भाषा—इस आत्मा के मुक्ति का मार्गभूत नादियों से भिन्न ऊपर की ओर जाने वाली सौ नादियाँ हैं, उनके द्वारा ही देवताओं के लोक और शरीर प्राप्त होते हैं ॥ १६८ ॥

संसारमार्गमाह—

येऽनेकरूपाश्चाघस्ताद्रश्मयोऽस्य मृदुप्रभा ।

इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽघशः ॥ १६९ ॥

१ कर्तुनीला कपिला. पीतलोहिता । बभ्रुनीला । २. रश्मयश्च ।  
३. मितप्रभा ।

यस्मादेतानि लिङ्गानि भूतेष्वनुपपन्नानि साक्षात्परम्परया वा परमात्मनो द्योत-  
कानि दृश्यन्ते, तस्मादस्ति देहातिरिक्त आत्मा सर्वत्र ईश्वर इति सिद्धम् ॥

भाषा—अहंकार, स्मृति, मेधा, द्वेष, बुद्धि, सुख, धैर्य, इन्द्रियान्तर  
संचार ( एक इन्द्रिय द्वारा दृष्ट अर्थ का दूसरी इन्द्रिय को ज्ञान ) इच्छा,  
शरीरधारण, प्राणधारण, स्वर्ग, स्वप्न, भावना, इन्द्रियों की प्रेरणा, मन की  
गति, निमेष ( पलक गिराना ), चेतना, यत्न, और पृथिवी आदि पञ्चभूतों  
को धारण करना,—ये प्राणियों में पाये जाने वाले चिह्न परमात्मा के द्योतक  
दिये हैं पद्यते हैं अतएव देह से परे आत्मा का अतिरिक्त सिद्ध होता है जो  
सर्वगामो और ईश्वर है ॥ १७४-१७६ ॥

क्षेत्रज्ञस्वरूपमाह—

बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मन कर्मेन्द्रियाणि च ।

अहंकारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि ॥ १७७ ॥

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञ क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ।

ईश्वर सर्वभूतस्य सन्नसन्सदसच्च य ॥ १७८ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि सार्थानि शब्दादिविषयसहितानि मन कर्मे  
न्द्रियाणि वागादीनि तथाऽहंकारो बुद्धिश्च निश्चयात्मिका पृथिव्यादीनि पञ्च-  
भूतानि अव्यक्त प्रकृतिरित्येतत् क्षेत्रमस्य योऽसाधीश्वर सर्वगत अत एव  
सद्रूप प्रमाणान्तराप्रामाण्यत्वात् । असन् अस्पष्टप्रतीतिकत्वात् । सदसद्रूपोऽसा-  
धारमा क्षेत्रज्ञ इति निगद्यते ॥ १७७-१७८ ॥

भाषा—बुद्धि, अपने शब्द आदि विषयों सहित श्रोत्र आदि इन्द्रियों,  
मन, कर्मेन्द्रियों अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पञ्चभूत, अव्यक्त ( प्रकृति ),  
ये सब जिस के क्षेत्र हैं वह ईश्वर, सभी प्राणियों में स्थित, सद, असद्  
और सदसद् रूप आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ १७७-१७८ ॥

बुद्ध्यादेरुत्पत्तिमाह—

बुद्धेरुत्पत्तिरन्यत्तत्ततोऽहंकारसंभवाः ।

तन्मात्रादीन्यहंकारादेकोत्तरगुणानि च ॥ १७९ ॥

सत्त्वादिगुणसाग्यमव्यक्तम् । तत्रस्त्रिमकाराया सत्त्वरश्मरतमोमय्या बुद्धेरु-  
त्पत्ति, तस्याश्च वैकारिकरतैजसो भूतादिरिति त्रिविधोऽहंकार उत्पद्यते । तत्र  
तामसाज्ञतादिसत्त्वाहंकारात्तन्मात्राणि, 'आदि'प्रहणाद्व्रणनादीनि तानि चैको  
त्तरगुणान्युत्पद्यन्ते । 'व'शब्दाद्वैकारिकतैजसाभ्यां बुद्धिकर्मेन्द्रियाणामुत्पत्ति ॥

भाषा—अव्यक्त ( सत्व, रज और तमस् इन तीन गुणों की साम्या वस्था ) से त्रिगुणात्मकबुद्धि की उत्पत्ति होती है, उस बुद्धि से ( त्रिविध ) अहंकार की उत्पत्ति होती है, अहंकार से आकाश आदि एक एक गुण की वृद्धि द्वारा उत्पन्न होते हैं ॥ १७९ ॥

गुणस्वरूपमाह—

शब्द स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणा ।

यो यस्मान्नि सृजश्चैषा स तस्मिन्नेव लीयते ॥ १८० ॥

तेषां गगनादिपञ्चभूतानां एकोत्तरवृद्ध्या पञ्च शब्दादयो गुणा वेदिन्याः ।  
एषां च कुड्वादिविकाराणां मध्ये यो यस्मात्प्रकृत्यादेरुपपन्न स तस्मिन्नेव  
सूक्ष्मरूपेण प्रलयसमये प्रलीयते ॥ १८० ॥

भाषा—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध ( उन आकाश आदि पञ्च-  
भूतों के ) गुण हैं । इन ( बुद्धि आदि ) में जो जिससे उत्पन्न होता है वह  
प्रलय के समय उसी में विलीन हो जाता है ॥ १८० ॥

प्रकरणार्थमुपसहरसाह—

यथात्मानं सृजत्यात्मा तथा च कथितो मया ।

विषाकात्त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपि सन् ॥ १८१ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्यैव कीर्तिता ।

रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद् भ्राम्यते ह्यसौ ॥ १८२ ॥

अनादिरादिमाश्चैव स एव पुरुरूप पर ।

लिङ्गेन्द्रियग्राह्यरूप सविकार उदाहृत ॥ १८३ ॥

मानसादित्रिप्रकारकर्मणा विषाकादीश्वरोऽपि सन्न्यात्मा यथात्मानं सृजति  
तथा युष्माकं कथितः । सत्त्वाद्याश्च गुणास्तस्यैवाविद्याविशिष्टस्य कीर्तिताः ।  
तथा स एव रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद्वत् ससारे भ्राम्यतीत्यपि कथितम् । स  
एवानादि परमपुरुरूप शरीरग्रहणेनादिमान् कुड्जवामनादिविकारसहितस्तथा  
स्थूलाकारतया परिणतो लिङ्गेन्द्रियैश्च ग्राह्यस्वरूप उदाहृत ॥ १८१-१८३ ॥

भाषा—जिस प्रकार ईश्वर होते हुए भी मानस आदि तीन प्रकार के कर्मों  
के फल से आत्मा स्वयं को उपजाता है वह मैंने कह दिया । सत्व, रज और  
तमस् गुण उसी ( अविद्या से युक्त आत्मा ) के हैं । रजोगुण और तमोगुण  
से युक्त होकर यह ( आत्मा ) चक्र के समान दूम समार में घूमता रहता  
है । उसी को अनादि, ( शरीर ग्रहण करने से ) आदिमान्, परमपुरुरूप,

शरीर के विकार से युक्त होने तथा स्थूल आकार का होने से इन्द्रियों द्वारा प्राण्य दत्ताया गया है ॥ १८१-१८३ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।

तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

अजवीथ्यमरमार्गः तस्यागस्त्यस्य च यदन्तरमसौ पितृयानस्तेनाग्निहोत्रिणः स्वर्गकामाः दिवं यान्ति स्वर्गं प्राप्नुवन्ति ॥ १८४ ॥

भाषा—अजवीथी ( देवताओं के मार्ग ) और अगस्त्य के बीच पितृयान ( पितरों का मार्ग ) है, इस मार्ग की इच्छा लेकर अग्निहोत्र करने वाले स्वर्ग में पहुँचते हैं ॥ १८४ ॥

ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः ।

तेऽपि तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः ॥ १८५ ॥

किंच, ये च दानादिस्मार्तकर्मपराः सम्यग्दम्भरहिताः तथाऽष्टाभिरात्मगुणैः 'दयादान्तिरनसूयाशीचमनायासो महलमकार्पण्यमस्पृहा' ( ८।२३ ) इति गौतमादिप्रतिपादितैर्युक्ताः । तथा ये च सत्यवचननिरतास्तेऽपि तेनैव पितृयानेनैव सुरसदनमाप्नुवन्ति ॥ १८५ ॥

भाषा—जो दान ( स्मार्त कर्म ) में तत्पर रहते हैं, सम्यक् ( अहंकाररहित होकर ) आत्मा के आठ गुणों से युक्त और सत्यवादी होते हैं के उसी पितृयान से देवलोक को जाते हैं ॥ १८५ ॥

ननु नैमित्तिकादिप्रतिसंचरेऽखिलाभ्यापकप्रलयवाद्बिदितवेदास्तस्योपरितना जनाः कथमग्निहोत्रादिकं कर्म करिष्यन्ति कथंतरा चाकृतकर्माणः स्वर्गमार्गमधिरोपयन्तीत्यत आह—

तत्राष्टाशीतिसाहस्रमुनयो गृहमेधिनः ।

पुनरावृत्तिनो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

तत्र पितृयानेऽष्टाशीतिसाहस्रसंख्या मुनयो गृहस्थाश्रमिणः पुनरावृत्तिधर्माणः सर्गादौ वेदस्योपदेशकतया धर्मतरुमाहुर्भावे बीजभूताः सन्तोऽग्निहोत्रादिधर्मप्रवर्तकाः, अतो न प्रागुदितदोषसंमामङ्गः ॥ १८६ ॥

भाषा—उस पितृयान में अष्टाशी हजार गृहस्थ मुनि निवास करते हैं ; जो ( सृष्टि के आरम्भ में ) पुनः पुनः वेद का उपदेश करने से धर्मरूपी वृक्ष की उत्पत्ति के निमित्त बीज के समान होते हैं ॥ १८६ ॥

१. सत्यवदन । २. अष्टाशीतिसहस्राणि । ३. पुनरावृत्तिनो ।

४. समागमः ।

संसर्पिणागवीध्यन्तर्देवलोकं समाधिता ।

तावन्त एव मुनय सर्वाः रम्भविवर्जिता ॥ १८७ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ।

तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूतसंश्लवम् ॥ १८८ ॥

किंच, संसर्पण प्रसिद्धा नागवीधी ऐरावतपन्थाः, तदन्तराले तावन्त एव अष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनय सर्वाः रम्भविवर्जिता क्वलज्जाननिष्ठा तपो ब्रह्मचर्ययुक्ता तथा सङ्गत्यागिना देवलोक समाधिताः आभूतसंश्लव प्राकृत प्रत्यपर्यन्तमवतिष्ठन्ते । तत्र च स्थिता सृष्ट्यादावाध्यात्मिकधर्माणां प्रवर्तका ॥ १८७ १८८ ॥

भाषा—संसर्पिणों और नागवीधी ( ऐरावतपथ ) के बीच उतने ही मुनि सभी क्रियाओं से विरत होकर ( केवल ज्ञाननिष्ठ होकर ) तपस्या और ब्रह्मचर्य से युक्त होकर, सग त्याग कर, मेधा से युक्त होकर, देवलोक का आश्रय लेकर महाप्रलय तक स्थित रहते हैं ॥ १८७ १८८ ॥

कथभूतास्ते मुनय इत्यत आह—

यतो वेदा पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ।

श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यंश्च किञ्चन वाङ्मयम् ॥ १८९ ॥

यतो द्विविधादपि मुनिसमूहाच्चत्वारो वेदा पुराणाद्भविष्योपनिषदश्च नि य मूता एवाध्येत्परम्परायता प्रवृत्तारतया श्लोका इतिहासात्मका सूत्राणि च शब्दानुशासनमीमासागोचराणि भाष्याणि च सूत्रधारपर्यायानि षड्-षड्-सुविद्यादिक वाङ्मय तदपि यत्सकाशात्प्रवृत्त तथाविधास्ते मुनयो धर्मप्रवर्तका । एव सति वेदस्यापि नानित्यतादोषप्रसङ्ग ॥ १८९ ॥

भाषा—जिन मुनियों से वेद, पुराण, अङ्गविद्याएँ, उपनिषद्, इतिहासात्मक श्लोक, सूत्र, भाष्य और सभी दूसरे ( भाष्यवेद आदि ) वाङ्मय प्रचलित हुए हैं ॥ १८९ ॥

तत किमित्यत आह—

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दम ।

अस्योपवास स्यात्तद्व्यपारम्भो ज्ञानहेतव ॥ १९० ॥

वदरय नित्यं च सति तत्प्रामाण्यबलाद्देवानुवचनार्थं सत्त्वशुद्ध्यावादान्द्वारेणारम्भज्ञानस्य हेतव इत्युपपन्नं भवति ॥ १९० ॥

शरीर के विकार से युक्त होने तथा स्थूल आकार का होने से इन्द्रियों द्वारा  
ग्राह्य यत्नाया गया है ॥ १८१-१८३ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

पितृयानोऽजघ्नीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।

तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

अजघ्नीथ्यमरमार्गं तस्यागराथस्य च यदन्तरमसौ पितृयानस्तेनाग्निहोत्रिणः  
स्वर्गकामा दिवं यान्ति स्वर्गं प्राप्नुवन्ति ॥ १८४ ॥

भाषा—अजघ्नीथी ( देवताओं के मार्ग ) और अगस्त्य के बीच पितृयान  
( पितरों का मार्ग ) है, इस मार्ग की इच्छा लेकर अग्निहोत्र करने वाले  
स्वर्ग में पहुँचते हैं ॥ १८४ ॥

ये च दानपरा सम्यगष्टभिश्च गुणैर्युताः ।

तेऽपि तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः ॥ १८५ ॥

किंच, ये च दानादिस्मार्तकर्मपरा. सम्यग्दम्भरहिताः तथाऽष्टाभिरामगुणैः  
'दयाज्ञान्तिरनसूयाशीचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमशृष्टा' ( ८।२३ ) इति  
गौतमादिप्रतिपादितैर्युक्ताः । तथा ये च संशयवचननिरतास्तेऽपि तेनैव पितृ  
यानेनैव सुरसदनमाप्नुवन्ति ॥ १८५ ॥

भाषा—जो दान ( स्मार्त कर्म ) में तत्पर रहते हैं, सम्यक् ( अह-  
काररहित होकर ) आत्मा के जाठ गुणों से युक्त और सत्यवादी होते हैं  
के उसी पितृयान से देवलोक को जाते हैं ॥ १८५ ॥

ननु नैमित्तिकादिप्रतिसंचरेऽखिलाध्यापकप्रलयाद्विदितवेदारस्तस्योपरितना  
जना. कथमग्निहोत्रादिक कर्म करिष्यन्ति कथतरां चावृत्तकर्माणः स्वर्गमार्गस-  
धिरोपयन्तीत्यत आह—

तत्राष्टाशीतिसाहस्रमुनयो गृहमेधिनः ।

पुनरायतिनो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

तत्र पितृयानेऽष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयो गृहस्थाथमिणः पुनरावृत्तिध-  
र्माणः सर्गादौ वेदस्योपदेशकतया धर्मतरुप्रादुर्भावे बीजभूताः सन्तोऽग्निहोत्रा-  
दिधर्मप्रवर्तकाः, अतो न प्रागुदितदोषसंमाणः ॥ १८६ ॥

भाषा—उस पितृयान में अष्टासी हजार गृहस्थ मुनि निवास करते हैं ;  
जो ( सृष्टि के आरम्भ में ) पुन पुनः वेद का उपदेश करने से धर्मरूपी वृक्ष  
की उत्पत्ति के निमित्त बीज के समान होते हैं ॥ १८६ ॥

१ सत्यव्रत । २ अष्टाशीतिसहस्राणि । ३ पुनरावृत्तिनो ।

४ समागमः ।



संसर्पिणागवीध्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः ।

तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥ १८७ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ।

तत्र गत्यायतिष्ठन्ते यावदाभूतसंश्लेषम् ॥ १८८ ॥

किंच, सप्तर्षयः प्रसिद्धाः, नागवीथी ऐरावतपन्था, तदन्तराले तावन्त एव अपाशीतिसहस्रसख्या मुनयः सवारम्भविवर्जिताः क्वलज्ञाननिष्ठाः तपो-ब्रह्मचर्ययुक्ताः तथा सङ्गत्यागिनो देवलोक समाश्रिताः आभूतसंश्लेष प्राकृत-प्रलयपर्यन्तमवतिष्ठन्ते । तत्र च स्थिताः सृष्ट्यादावाध्यात्मिकधर्माणं प्रवर्तकाः ॥ १८७-१८८ ॥

भाषा—सप्तर्षियों और नागवीथी ( ऐरावतपथ ) के बीच उतने ही मुनि सभी क्रियाओं से विरत होकर ( क्वल ज्ञाननिष्ठ होकर ), तपस्या और ब्रह्मचर्य से युक्त होकर, सग रथाग कर, मेधा से युक्त होकर, देवलोक का आश्रय लेकर महाप्रलय तक स्थित रहते हैं ॥ १८७-१८८ ॥

कथभूतास्ते मुनय इत्यत आह—

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ।

श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्च किञ्चन वाङ्मयम् ॥ १८९ ॥

यतो द्विविधावपि मुनिसमूहाश्चत्वारो वेदाः पुराणाश्च विद्योपनिषदश्च नित्य-भूता एवाभ्येतृपरम्परायाताः प्रवृत्तास्तथा श्लोका इतिहासात्मकाः सूत्राणि च शब्दानुशासनमीमासागोचराणि भाष्याणि च सूत्रव्याख्यारूपाणि षडन्यदायुर्वि-द्यादिक वाङ्मय, तदपि यासकाशात्प्रवृत्त तथाविधास्ते मुनयो धर्मप्रवर्तकाः । एव सति वेदस्यापि नानिश्चितादोषपसद्मः ॥ १८९ ॥

भाषा—जिन मुनियों से वेद, पुराण, अङ्गविद्याएँ, उपनिषद्, इति-हासात्मक श्लोक, सूत्र, भाष्य और सभी दूसरे ( आयुर्वेद आदि ) वाङ्मय प्रचलित हुए हैं ॥ १८९ ॥

तत किमिष्यत आह—

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः ।

धृद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतव ॥ १९० ॥

वेदस्य नित्यत्वे सति तत्प्रामाण्यबलाद्देवानुवचनादयः सर्वशुद्धवापादानद्वा-रेणामनुसन्त्य हेतव इत्युपपन्नं भवति ॥ १९० ॥

भाषा—वेद समेत घचन, यज्ञ, ब्रह्मपर्य, तप, दम ( इन्द्रियों के दमन ), श्रद्धा, उपास और ( विषयामक्ति के दोष का नाश होने पर ध्यान और धारणा में ) आत्मा की स्वतन्त्रता—ये ज्ञान के हेतु हैं ॥ १९० ॥

स ह्याधमैर्विजिह्वाभ्यः संमस्तैरेवमेव तु ।

द्रष्टव्यस्तव्य मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥ १९१ ॥

यं एनमेवं विन्दन्ति ये धारण्यकमाश्रिताः ।

उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥ १९२ ॥

किंच, परमादित्यतयात्मप्रमाणभूतो वेदस्तस्मादसायुक्तमार्गेण सकलाधमि-  
भिर्नानाप्रकार जिज्ञासितव्यः । तमेव प्रकार दर्शयति—द्विजातिभिर्द्रष्टव्योऽपरो-  
क्षीकर्तव्यः । तत्रोपाय दर्शयति—श्रावण्यो मन्तव्य इति । प्रथमतो वेदान्मध्व-  
णेन निर्णेतव्यः, तदनन्तर मन्तव्य युक्तिभिर्विचारयितव्य, ततोऽसौ स्थानेनाप-  
रोक्षी भवति । ये द्विजातयोऽतिशयश्रद्धायुक्ताः मन्तो निर्जनप्रदेशमाश्रिता मन्त  
पृथगुक्तेन मार्गेण एवमात्मान सत्यं परमार्थभूतमुपासते ते आत्मान विन्दन्ति  
लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ १९१-१९२ ॥

भाषा—द्विजाति सभी आश्रमों में उस आत्मा के विषय में जिज्ञासा  
करें, ( वेदान्त ) ध्वण द्वारा उसका निर्णय करें, पुनः उस पर मनन  
अर्थात् युक्तियों द्वारा विचार करें और तब ध्यान द्वारा उसका साक्षात्कार  
करें । जो द्विज अत्यन्त श्रद्धा से युक्त होकर निर्जन प्रदेश में निवास करते  
हुए उपरोक्त विधि से इस परमार्थभूत आत्मा की उपासना करते हैं वे ही  
इसे प्राप्त करते हैं ॥ १९१-१९२ ॥

शक्तिमार्गं देवगानगाह—

क्रमात्ते संभ्रमन्त्यचिरहं शुक्लं तथोत्तरम् ।

अयनं देवलोकां च सवितारं सवैद्युतम् ॥ १९३ ॥

ततस्ताम्बुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्मलौकिकान् ।

करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ॥ १९४ ॥

ते विदितरमान क्रमादन्याद्यभिमानिदेवतास्थानेषु मुक्तिमार्गभूतेषु विश्रम्य  
तैः प्रस्थापिता परमपद प्राप्नुवन्ति । अर्चिर्ब्रह्मि, अहर्दिन, शुक्लपद्, तथोत्तरा-  
यण, सुरसम्रा, सविता सूर्य, वैद्युतं च तेजः, तान् एव क्रमादर्चिरादिस्थानगता-  
न्मानस. पुरुषो ब्रह्मलोकभाजः करोति । तेषामिह सवारे पुनरावृत्तिर्न विद्यते,  
किन्तु प्राकृतप्रतिसंचारावसरे तेषु ललिङ्गशरीरा परमात्मन्येकीभवन्ति ॥ १९३-१९४ ॥

१ समस्तैरेवमेव । २ य एवमेव ।

भाषा—वे आत्मज्ञानी क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देव लोक, सवितृ और तेज के लोक में जाते हैं। तब उन्हें मानस पुरुष ब्रह्मलोक में पहुँचाता है और उनका इस ससार में पुनर्जन्म नहीं होता (अर्थात् वे परमात्मा में विलीन हो जाते हैं) ॥ १९३-१९४ ॥

पूर्वोक्तपितृयानमाह—

यज्ञेन तपसा दानैर्ये द्वि स्वर्गजितो नराः ।  
धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च ॥ १९५ ॥  
पितृलोकं चन्द्रमसं वायुं वृष्टिं जलं महीम् ।  
क्रमात्ते संभवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च ॥ १९६ ॥  
पतथो न विजानाति मार्गद्वितयमात्मवान् ।  
दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कीटोऽथवा कृमि ॥ १९७ ॥

ये पुनर्विहितमार्गैर्दक्षिणायनतपोभिः स्वर्गफलभोक्तारस्ते क्रमाद्धूमाद्विचन्द्रपर्यन्तपदार्थाभिमानिर्वादेवता प्राप्य पुनरेव वायुवृष्टिजलभूमी प्राप्य व्रीह्याद्यन्नरूपेण शुक्रत्वमवाप्य ससारिणो योनिं व्रजन्ति । एतन्मार्गद्वयमत्तो यो न विजानाति मार्गद्वयमत्तो यो न विजानाति मार्गद्वयोपायभूतधर्मानुष्ठानं न करोति अस्मीदन्दशूको भुजङ्ग, पतङ्ग शलभ कृमि कीटो वा भवेत् ॥ १९५-१९७ ॥

भाषा—यज्ञ, तपस्या और दान से जो मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे धूम, निशा, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक और चन्द्रलोक के देवताओं में जा पहुँचते हैं और फिर वायु, वृष्टि, जल और पृथिवी को प्राप्त कर (वाहि-भादि अन्न से शुक बनकर) क्रमशः इस ससार में पुनर्जन्म लेते हैं। जो प्रमत्त व्यक्ति इन दोनों मार्गों को नहीं जानता है (इन दोनों मार्गों के उपायभूत धर्म का अनुष्ठान नहीं करता है) वह दन्दशूक सर्प, पतंग, कीड़ा अथवा कृमि का जन्म पाता है ॥ १९५-१९७ ॥

उपासनाप्रकारमाह—

ऊरुस्थोत्तानचरणं सद्ये न्यस्योत्तरं करम् ।  
उत्तानं किञ्चिदुन्नाभ्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ १९८ ॥  
निमीलिताक्ष सखस्थो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ।  
तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्य सुनिश्चल ॥ १९९ ॥  
संनिहृद्येन्द्रियग्रामं नातिनीचोच्छ्रितासनः ।  
द्विगुणं त्रिगुणं वापि प्राणायाममुपक्रमेत् ॥ २०० ॥

ततो ष्येयः स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ।

धारयेत्तत्र चारमानं धारणां धारयन्बुधः ॥ २०१ ॥

ऊरुस्थायुत्तानौ चरणौ यस्य स तथोक्तः बद्धपद्माननः, तथोक्ताने सश्यकरे दक्षिणमुत्तान न्यस्य मुगं किंचिदुष्णाम्बोरमा च विष्टम्प स्तम्भपिरया तथा निमीलिताद्यः, सश्वरथः कामक्रोधादिरहितः, दन्तैर्दन्तानसंस्पर्शयन् तथा तालुनि स्थिता भक्षला जिह्वा यस्य स तथोक्तः, तथा सवृ-  
त्तास्यः पिहिताननः, सुनिश्चलो निष्पक्वम्पः, तथा सम्पनिन्द्रियसमूहं विषये-  
भ्यः प्रत्याहरत्य नातिनीचामनो नात्युच्छ्रितामनो यथा शित्तविशेषो न भवति तथोपविष्टः सन्, द्विगुणं त्रिगुणं वा प्राणायामाभ्यासमुपक्रमेत् । ततो वशीकृत-  
पवनेन योगिना योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः प्रभुः स्थितोऽसौ, ध्यातव्यः ।  
तत्र च हृदि आरमानं मनोगोचरतया धारयेत् । तथा धारणां च धारयेत् ।  
धारणास्वरूपं च जान्वप्रभ्रमणेनच्छोटिकादानकालो मात्रा, तामिः—पञ्चदशमा-  
त्राभिरधमः प्राणायामः, त्रिंशद्भिर्मध्यमः, पञ्चचत्वारिंशद्भिर्दशम इति । प्राणा-  
यामप्रयारिभक्तैका धारणा, तारिस्तत्रो 'योग'शब्दवाच्यारताश्च धारयेत् । यथो-  
क्तमन्यत्र—'सभ्रम्य च्छोटिकां दद्यात्कराम जानुमण्डले । मात्राभिः पञ्चदशभिः  
प्राणायामोऽधमः स्मृतः ॥ मध्यमो द्विगुणः श्रेष्ठस्त्रिगुणो धारणा तथा । त्रिभि-  
स्त्रिभिः स्मृतैकैका तामिर्योगस्तथैव च ॥' इति ॥ १९८-२०१ ॥

भाषा—पद्मासन लगाकर ( जंघों के ऊपर चरणों को उल्टा रखकर )  
दायें हाथ में दाहिने हाथ को उत्तान रखकर, मुख को कुछ ऊपर जटाकर  
और वक्षस्थल से रोक कर, श्रोत्रों को बन्दकर, काम, क्रोध आदि का त्याग  
करके, दाँतों को बिना मिलाये हुए, तालु स्थान में जिह्वा को निश्चल रखकर,  
मुह बन्द करके, अश्वन्त निश्चल होकर ( बिना हिले हुले ), इन्द्रियों को  
विषयों से पूर्णतः मोड़कर तथा न अधिक नीचे और न अधिक ऊँचे आसन  
पर बैठकर दुगुना या त्रिगुना प्राणायाम करने का अभ्यास करे । तदुपरान्त  
हृदय में निश्चल दीप के समान स्थित प्रभु का ध्यान करना चाहिए और  
तब धारणा ( जो तीन प्राणायामों की होती है ) करते हुए उस हृदय में  
आत्मा को धारण करे ॥ १९८-२०१ ॥

धारणात्मकयोगाभ्यासे प्रयोजनमाह—

अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रघृता तथा ।

निर्जं शरीरमृत्सृज्य परकायपवेशनम् ॥ २०२ ॥

१. धारणामवधारयन् । २. सिद्धेश्च; सिद्धिर्हि ।

अर्थानां छन्दतः सृष्टियोंगसिद्धेर्हि लक्षणम् ।

सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय वरूपते ॥ २०३ ॥

अग्निमैत्राण्यया परैरहश्यत्वमन्नधानम् , स्मृतिरतीन्द्रियेष्वर्धेषु मन्वादेरिव स्मरणम्, कान्तिः कमनीयता, इष्टिरतीतानागतैस्वर्धेषु, तथा श्रोत्रजता अति-  
द्वीषसि देशेऽभिव्यज्यमानतया श्रोत्रपथमनासेदुषामपि शब्दानां ज्ञातृता,  
निजशरीरत्यागेन परशरीरप्रवेशनम् , स्वदाब्ध्यावशेनार्थानां करणनिरपेक्षतया  
सृष्टि , इत्येतद्योगस्य सिद्धेर्लक्षणं लिङ्गम् । नचैतावदेव प्रयोजन, किंतु सिद्धे  
योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कस्यपते ब्रह्मत्वप्राप्तये च प्रभवति ॥ २०२-२०३ ॥

भाषा—अन्तर्धानं होना ( दूसरों द्वारा न देखा जाना ), स्मृतं ( अती-  
न्द्रिय विषयों का स्मरण ), शोभा, इष्टि ( भूत और भविष्यत् का ज्ञान ),  
अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश, अपनी इच्छा के अनुसार  
वस्तुओं की सृष्टि—ये सभी योग की सिद्धि के लक्षण हैं । योग की सिद्धि  
हो जाने पर शरीर का परित्याग करके योगी ब्रह्मत्व-प्राप्ति में समर्थ  
होता है ॥ २०२-२०३ ॥

यज्ञदानाद्यसंभवे सत्त्वशुदायुपायान्तरमाह—

अथवाप्यभ्यसन्वेदं न्यस्तकर्मा वने वसन् ।

अयाचिताशी मितभुक्परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २०४ ॥

अथवा एककाम्यनिषिद्धकर्मा अन्यतमं वेदमभ्यसन् , एकान्तशीलो-  
ऽयाचितमिताशनापादितसत्त्वशुद्धिरात्मोपासनेन परां मुक्तिं लक्षणां सिद्धिं  
प्राप्नोति ॥ २०४ ॥

भाषा—अथवा ( यज्ञ, दान आदि न कर सकने पर ) सभी काम्य  
निषिद्ध कर्मों का त्याग करके, किसी वेद का अभ्यास करते हुए, वन में  
रहकर ( वानप्रस्थाधर्म में ), बिना माँगे ही मिले हुए भोजन का भोजन करने  
वाला, अन्धापाहारी व्यक्ति परम सिद्धि ( मुक्ति ) प्राप्त करता है ॥ २०४ ॥

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठाऽतिथिम्रियः ।

धाद्वृत्तस्त्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥ २०५ ॥

किंच, सत्यप्रतिग्रहादिभ्यावेनोपाजितधनं अतिथिपूजातत्परः निश्चनैमि-  
त्तिकभ्रान्तानुष्ठाननिरत, साधवदनशील सञ्चारमतस्वभ्याननिरतो गृहस्थोऽपि  
हि यस्मान्-मुक्तिमवाप्नोति तस्मात् केवलमैहिकपौरुषाज्यपरिग्रह एव मुक्ति-  
साधनम् ॥ २०५ ॥

भाषा—धर्मपूर्वक धर्मोपासना करने वाला, भतिथिसंस्कार में तत्पर (नित्यनैमित्तिक) श्राद्ध अनुष्ठान में रत, सत्यवादी और आत्मतत्त्व के ध्यान में लीन रहने वाला गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २०५ ॥

दृश्यध्वारमपकरणम् ।

## अथ प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५

( १ ) कर्मविपाक

'वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मान्नोपत' ( भा० १ ) इत्यत्र प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञातपद्विषयधर्ममध्ये पञ्चपकार धर्ममभिधायाधुनाऽऽशिष्ट नैमित्तिक धर्मजात प्रायश्चित्तपदाभिलष्य प्रारिप्सु प्रथमतस्तत्प्रतोचनार्थमधिकारिविशेष-प्रदर्शनार्थं आर्यवादारूप कर्मविपाक तावदाह—

महापातकजाग्धोराघ्नरकान्प्राप्य दारुणान् ।

कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्रिदह ॥ २०६ ॥

ब्रह्महत्यादिपञ्चकस्य महापातकसज्ञा 'ब्रह्महा मघव' ( प्रा० २२७ ) इत्यत्र वक्ष्यते तद्योगिनो महापातकिनस्ते महापातकजनितास्तामिन्द्रादिनरकान्स्वजनितदुष्कृतानुरूपान् धारानतितीव्रवेदनापादकत्वेनातिभयकरान्दारुणान्दु रैक-भोगनिलयान् प्राप्य कर्मक्षयात् कर्मज-यत्नरकदु खोपभोगक्षयादनन्तर कर्मशेषात्पुनरिह सप्तारे दु खबहुलशस्त्रगालादितिर्यग्द्योनिषु प्रक्षेपेण भूयो भूयो जायन्ते । 'महापातकि'म्रहणमितरेषामप्युपपातक्यादानामुपलक्षणम् । तेषा च तिर्यगाद्योनिप्राप्तेर्बन्धपमाणत्वात् ॥ २०६ ॥

भाषा—( ब्रह्महत्या आदि ) महापातकों से उत्पन्न तामिस्र आदि घोर नरकों को ( अपने कर्म क अनुसार ) भोगकर कर्मों का क्षय होने पर महा पातकी पुन-पुन इस सप्तार में ( दु ख से व्याप्त योनिषों में, जो जगो उल्लिखित हैं ) जन्म लेते हैं ॥ २०६ ॥

महापातकिना सप्तारप्राप्तिमुक्त्वा तद्विशेषकथनायाह—

मृग(गा)श्वसूकरोष्ट्राणां ब्रह्महा योनिमृच्छति ।

स्त्रपुस्कसचेनाना सुरापो नात्र संशय ॥ २०७ ॥

कृमिकीटपतङ्गत्वं स्वर्णहारी समाप्नुयात् ।

तृणगुल्मलतार्वं च क्रमशो गुरुतल्पग ॥ २०८ ॥

मृगा हरिणादय , श्वसूकरोष्ट्रा प्रसिद्धा , तेषां योनिं ब्रह्महा स्वकर्मशेषेण प्राप्नोति । खरो रासभ , पुरकस प्रतिलोमनिपादेन शूद्रया जात वैदेहकेना भ्रष्टया जातो वेन , तेषा योनिं सुराप प्राप्नोति । कृमय सजातीयसभोगनि-  
 ग्नेर्षां मांसविष्टागोमयादिज-या , तत किंचिदस्थूलतरा पञ्चास्थिरहिता सजातीयसभोगनिरपेक्षा विपीलिकादय कीटा , पतङ्ग शलभ , तेषा योनिं ब्राह्मणस्वर्णहारी प्राप्नुयात् । वृण काशादि गुरुमलत प्रागुक्ते, तज्जातीयतां क्रमेण गुरुतल्पग प्राप्नोति । एतच्चाकामकृतविषयम्, कामकारकृते स्वभ्यास्वपि दु खबहुलयोनिषु ससरन्ति, यथाह मनु ( १२।५५-५८ )—श्वसूकरखरो  
 प्लाणा गोऽजोविमृगपक्षिणाम् । चाण्डालपुरकैसाना च ब्रह्महा योनिमृदनि ॥  
 इमिकीटपतङ्गानां विड्भुजा चैव पक्षिणाम् । द्विष्वाणां चैव सत्त्वाना सुरापो  
 ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ लूनाऽद्विसरठानां च तिरश्चा चाभ्युचारिणाम् । द्विष्वाणां च  
 पिशाचाना स्तेनो विप्र सहस्रश ॥ लूना उर्णनाभ । सरठ वृक्लास ।—  
 वृणगुरुमलताना च क्रव्यादां दष्टिणामपि । मूरकर्मकृतां च व शतशो गुरुत  
 लपग ॥ इति ॥ २०७ २०८ ॥

भाषा—ब्रह्महत्या करने वाला हरिण कुत्ता, सूअर और ऊँट का जन्म पाता है, सुरा पीने वाला गधा पुरकस ( निपाद द्वारा शूद्रा से उत्पन्न पुरुष ) और वेण ( वैदेहक द्वारा भ्रष्टया से उत्पन्न ) की योनि पाता है इसमें स-देह नहीं । ( ब्राह्मण का ) सोना सुराने वाला कृमि ( रास, विष्टा आदि में उत्पन्न होने वाले काड़े ) कीट ( चींटी आदि ) और पक्षियों की योनि प्राप्त करता है । गुरुपत्नी से व्यभिचार करने वाला क्रमशः वृण, गुरुम ( छोटी लना ) और लता का जन्म पाता है ॥ २०७-२०८ ॥

एव च तिर्यक्त्वादुत्तीर्णाना मानुष्ये रोगादि लक्षणानि भवन्तीत्याह—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुराप श्यावदन्तक ।

ह्रेमहारी तु कुन्खी दुश्चर्मा गुरुतल्पग ॥ २०९ ॥

यो येन सवसत्येषा स तद्विद्भोऽभिजायते ।

किंच, एव रौरवादिनरकपु श्वसूकरखरादिषानिषु च दारुण दु खमनुभूयान्तर दुरितशेषेण जननसमय एव क्षयरोगादिलक्षण्युष्मा । प्रचुरेषु मानव शरारेषु ससरन्ति । तत्र ब्रह्महा क्षयरोगी राजयक्ष्मी भवेत् । निषिद्धसुरापी स्वभावतः कृष्णदशन , ब्राह्मणहेम्नो हर्षा कुसितनक्षत्रम् , गुरुदारगामी दुश्चर्माश्च कुष्ठिताम् । एतेषां ब्रह्महादीनां मध्ये वेन पतितेन य पुरुष सवसात् सवसति स तद्विद्भोऽभिजायते ॥ २०९ ॥

भाषा—( मनुष्य का जन्म पाने पर ) ब्राह्मण की दृष्टा करने वाले राजपक्षमा का रोगी होते हैं; सुरा पीने वाले के दौंत स्वभावतः काले होते हैं; ( ब्राह्मण का ) सोना चुराने वाले के नख भटे होते हैं और गुरपानी का भोग करने वाला कोढ़ी होता है । इन ब्रह्महा आदि महापातकियों में जिसके साथ कोई निवास करता है वह भी उसी के समान महापातकी होता है ॥ २०९३ ॥

अन्नद्वर्ताऽऽमयाधो स्यान्मूको घागपहारकः ॥ २१० ॥

धान्यमिधोऽतिरिक्ताङ्ग. पिशुनः पूतिनासिकः ।

तैलहृत्तैलपायी स्यात्पूतिवक्षस्तु सूचकः ॥ २११ ॥

किंच, अन्नस्यापद्वर्ता आमयाधी अजीर्णाङ्गः । घागपहारकोऽनुज्ञाताभ्याधी पुस्तकापहारी च मूको घागिन्द्रियविकलो भवेत् । धान्यमिधोऽतिरिक्ताङ्गः पङ्कजवादिः पिशुनो विद्यमानपरद्वेषप्रख्यापनशीलः । पूतिनासिकः दुर्गन्धनासिकः, तैलस्य द्वर्ता तैलपायी कीटविशेषो भवति । सूचकोऽसहोपसंकीर्तनो दुर्गन्धवद्वनो जायते । एतच्च तिर्यक्त्वप्राप्त्युत्तरकालं मानुषशरीरप्राप्तौ द्रष्टव्यम् ( १२।६८ )—‘यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य यलाघरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जन्वा चैवाहुतं हविः ॥’ इति मनुस्मरणात् ॥ २१०—२११ ॥

भाषा—अन्न चुराने वाले को अजीर्ण का रोग होता है और वागी ( अर्थात् पुस्तक ) चुराने वाला रूँगा होता है । धान्य में मिलावट करने वाले का कोई भग ( अंगुली आदि ) बटा होता है और पिशुन ( बूसरों का दोष कहने वाले जुगलखोर ) की नाक दुर्गन्धयुक्त रहती है ॥ २१०—२११ ॥

परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्थमपहृत्य च ।

अरण्ये निर्जले देशे भयति ब्रह्मराक्षसः ॥ २१२ ॥

किंच, यः परदारानपहरति, ब्रह्मस्थं च सुवर्णव्यतिरिक्तमपहरति, असावरण्ये निर्जले देशे ब्रह्मराक्षसो भूतविशेषो जायते ॥ २१२ ॥

भाषा—पराधी स्त्री का और ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वाला -धन में निर्जल स्थान पर ब्रह्मराक्षस होकर जन्म लेता है ॥ २१२ ॥

हीना जातौ प्रजायेत पररत्नापहारकः ।

पप्रशाकं शिखी हृत्वा गन्धाञ्छुच्छुन्दरी शुभान् ॥ २१३ ॥

किंच, हीनजातौ हेमकाराख्यायां पञ्चिजातौ पररत्नापहारको जायते । तथा च मनुः ( १२।६९ )—‘मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन भागवः । विवि-  
ानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥’ इति । पत्रात्मकं शाकं हृत्वा मयूरः ।  
।मान्गन्धानपहृत्य छुच्छुन्दरी राजदुहिताख्या मृषिका जायते ॥ २१३ ॥



भाषा—दूध के रस को चुराने वाला हेमकार नाम के निम्न कोटि के पक्षियों की योनि में ज म लेता है पत्तों वाला शाक चुराने पर मयूर और सुगन्धद्रव्यों को चुराने पर छुछु दर का ज म मिलता है ॥ २१३ ॥

मूषको धान्यहारी स्याद्यानमुष्टू कपि फलम् ।

जल प्लव पय काको गृहकारी ह्युपस्करम् ॥ २१४ ॥

मधु दश पलं गृध्रो गा गोघान्नि यकस्तथा ।

श्वित्री वस्त्र श्वा रसं तु चीरी लवणहारक ॥ २१५ ॥

किंच, धान्यहारा अस्तु यान ह्यवोष्टू फल घानर जल प्लव, शकटविलास्य पक्षी पय चीर काको ध्वङ्ग गृध्रोपस्कर सुमलादि ह्यवा गृहकारी चटकास्य कीटविशेष मधु हत्वा दशास्य कीट पल मांस तद्दध्वा गृध्रास्य पक्षी गा ह वा गोघास्य प्राणिविशेष अग्नि हरवा यकास्य पक्षी वस्त्र हत्वा श्वित्री श्चवादिरस हत्वा वारमेय लवणहारी श्वीर्यास्य उच्चैस्वर कीट ॥ २१४-२१५ ॥

भाषा—धान्य चुराने वाला चूहा होता है और यान ( सवारी ) चुराने वाला ऊँट तथा फल चुराने वाला बन्दर होता है । जल चुराने वाला शकटविल पक्षी का दूध चुराने वाला कौए का और मूषल आदि जैसे गृहस्थी का उपकरण चुराने पर गृहकारी ( चटक ) पक्षी का ज म मिलता है । मधु चुराने वाला दश ( मच्छर ) माप चुराने वाले गृध्र गाय चुराने वाला गोह अग्नि चुराने वाला यक पक्षी वस्त्र चुराने वाला कृष्ट ईश्व आदि का रस चुराने वाला कुत्ता और नमक चुराने वाला चीरी कीड़ा होकर ज म लेता है ॥ २१४-२१५ ॥

एव प्रदशनार्थं किञ्चिदुक्त्वा प्रतिद्वयं पृष्ठाकोट यावेन वक्तुमशक्तेरकोपा धिना कर्मविपाक दर्शयितुमाह—

प्रदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तं म्तेयकर्मणि ।

द्रव्यप्रकारा हि यथा तथैव प्राणिजातय ॥ २१६ ॥

द्रव्यस्यापहिसमाणस्य यादशा प्रकारास्तादृशा एव प्राणिजातय स्तेय कर्मण्यपहर्तारो भवति । यथा कास्यहारी हस इति । अथवा यशकल साधन द्रव्यमपहरति तामाधनविकल -यथा बहुतामधहारक इति ॥ यस्मिन्नेव किञ्चिद्द्रव्योपे- दर्शितम् । "अलङ्कार कुष्टी, तैवलास्यहारी, अन्तली, देवप्र गणा, कौशिक खलनि, गरदाग्निदासु मत्तौ गुरु प्रतिह-तापरमारी गोमशा घ,

धर्मदर्शनी स्थव्रान्वयत्र प्रवृत्त शब्दवेधो प्राणिविशेष, कुण्डाशी भगभक्षो देवज्ञेहस्वापहारी पाण्डुरोगी, न्यासापहारी च काण, स्त्रीपण्योपज्ञोषो पण्ड, कौमारदारस्यागी दुर्भंग, मिष्टैकाशी घातगुल्मी, अभक्ष्यभक्षको गण्डमाली, प्राङ्गोशमी निर्वाजी, कूरकर्मा वामन, ब्रह्मापहारी पतंग, शय्यापहारी चपगक, शङ्खशुक्लपहारी कपाली, स्त्रीपापहारी कौशिक, मित्रद्रुक क्षयी, मातापित्रोराश्रित रजक इति ॥ गौतमोऽपि कचिद्विशेषमाह—अनृतघा-  
 गुद्वल मुहर्मुहु सलज्जवाक्, दारस्यागी जलोदरी, कूटपाक्षी रलीपदी उच्छ्रान  
 ब्रह्माचरण, विवाहविप्रकर्ता क्षिप्रोष्ठ, अँगूरण क्षिप्रहस्त, मातृघ्राण्ड्य,  
 स्त्रियागामो घातवृषण, चतुष्पथे विष्णुवविसर्जने मूत्रकृच्छ्री, कन्याद्रूपक पण्ड,  
 इष्यालुर्भक्षक, पित्रा विवदमानोऽपस्मारी, न्यासापहारी अनपथ्य, रत्नापहारी  
 अथ-तदरिद्र, विद्याविक्रयी पुरुषमृग, वेदविक्रयी द्वीपी, बहुयाजको जलप्लव,  
 अयाज्ययाजको वराह, अनिमित्रतमोक्षी वायस, मृष्टैकभोजी वानर, यतस्त  
 तोऽस्तन्माजार, कक्षत्रनदहनारण्योत्, दारकाचार्यो मुखविगन्धि, पर्युपि-  
 नभाजी कृमि, अदत्तादायी षलीवर्द, मरसरी भ्रमर, अग्न्युत्सादी मण्डलकृष्टी,  
 शूद्राचार्य शपाव, गोहर्ता सर्प, रनेहापहारी क्षयी, अक्षापहारी अजीर्णी,  
 ज्ञानापहारी मूक, चन्डालीपुस्कसीगमने अजगर प्रव्रजितागमने महविनाच,  
 शूद्रो गमने दार्घकीट, सवर्णाभिगामा दरिद्र, जलहारी मरस्य, क्षीरहारी  
 बलाक, वार्युपिकोऽद्रहान, अविक्रियविक्रयी शूभ्र, राजमहिषीगामी नपुंसक,  
 राचाक्रोशको गर्दभ, योगामी मण्डूक, अनप्यावाप्यवने सृगाल, परद्रव्यापहारी  
 परप्रेष्य, मरस्यवधे गभवाप्ती, ह्यवेतेऽनूर्ध्वगमना इति ॥ स्त्रियोऽप्येतेषु निमित्तेषु  
 पूर्वोक्तारवव नातिषु स्त्र्यावमनुभवन्ति । यथाह मनु ( १२।६९ )—'स्त्रियोऽ  
 प्यतः क्वेन क्वेन दोषमयाप्नुयु । एतेषामेव ज नूनां भार्यात्वमुपयान्ति  
 ता ॥' इति । एतच्च स्त्रियादिलक्षणकथनं प्रायश्चित्तोन्मुखीभूतब्रह्महासुद्रेण  
 जनार्धं न पुन स्त्रियादिलक्षणमुत्तानां द्वादशशार्पिकादिप्रतप्राप्यथं समर्गं  
 निवृत्त्यर्थं च । तथा हि—पापक्षयार्थं प्रायश्चित्तम् । नच प्रायश्चित्तनं प्रारब्धफ  
 लपाजापूर्वविनाशे किञ्चन प्रयोजनमस्ति । नहि क मुक्तनिर्मुक्तो याणो लप्यवधे  
 चद्रुस्तद्व्यापारस्य वा संसन्तर पुनरपेक्षते । न च तदारब्धफलनाशार्थं पूर्व  
 नाशाऽ-वपणीय । नहि 'निमित्तकारणीभूतवक्ष्यीवरादिविनाशेन तदारब्धकर-  
 कादिविनाशः । नच नैसर्गिक कौनव्यादिक प्रयानेषु क्षयते । किञ्च नरक  
 तिर्यग्यान्वादिभ्रम्यद्दुःखपरस्परामर्तुभूतस्य हि कौनव्यादिको विकारध्वरम फलम् ।

१ ब्रह्मवहा । २ मृष्टैकाशी ३ गण्डकाः । ४ भरथूलजङ्घ ।  
 ५ अवगूर्णी । ६ मिष्टैकभोजी । ७ हावा दोष । ८ न च प्रारब्ध ।  
 ९ सत्ता पुनरपेक्षते । १० करणभूत । ११ मनुभूय तस्य ।

तेन चोत्पन्नमात्रेण स्वकारणापूर्वनाशो जन्यते मन्थनजनिताशुशुचिग्निनेवार-  
गिञ्जयः । तस्मान्न पापविनाशार्थं प्रतपरिचर्षा, नापि सव्यवहारार्थम् । नहि  
शिष्टाः कुनख्यादिभि सह सवन्ध परिहरन्ति । प्राचीनव्याख्यापनाशेन सव्यव-  
हार्यत्वस्यापि सिद्धेर्नार्थो व्रतचर्षया ॥ यत्तु वसिष्ठेनोक्तम् ( ३०६ )—‘कुनखी  
रयापदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्’ इति तत्तन्नामव्यादिवन्मैमित्तिकमात्रं न  
पुन पापव्यर्थं सव्यवहार्यत्वसिद्धयर्थं वेति मन्तव्यम् ॥ २१६ ॥

भाषा—इतना मैने उदाहरण के लिये कहा है । दूसरे का द्रव्य सुराने  
पर तो जिस प्रकार का द्रव्य होता है उसी प्रकार की योनि ( चोरी करने  
वाला ) प्राप्त करता है ।

यथाकर्म फलं प्राप्य तिर्यक्त्वं कालपर्ययात् ।

जायन्ते लक्षणध्रष्टा दरिद्राः पुष्टपाधमाः ॥ २१७ ॥

किञ्च, यथाकर्म स्वकृतदुःकृतानतिक्रमेण तदनुरूप नरवादि फल तिर्यक्त्वं च  
प्राप्य कालक्रमेण स्त्रीणे कर्मणि दुष्टलक्षणा दरिद्राश्च पुरपेषु निकृष्टा जायन्ते ॥

भाषा—अपने किए हुए कर्म के अनुसार नरक आदि फल और पशु  
पक्षियों की योनि प्राप्त करके ( कालक्रम से कर्म के क्षीण होने पर ) वे कुरूप  
दरिद्र और पुरपों में निकृष्ट होकर जन्म लेते हैं ॥ २१७ ॥

ततो निष्कल्मषीभूताः कुले महति भोगिनः ।

जायन्ते विधयोपेता धनधान्यसमन्विता ॥ २१८ ॥

किञ्च, ततो दुर्लक्षणमनुपपन्न-मानन्तर निष्कल्मषीभूता नरकाद्युपभोगद्वारेण  
स्त्रीणोपाया प्राग्भवीयसुकृतशेषेण महाकुले भोगसपत्न्या विद्याधनधान्यसंपन्ना  
जायन्ते ॥ २१८ ॥

भाषा—तब ( इस प्रकार के मनुष्य ) जन्म ज-मान्तर में नरक आदि  
के भोग द्वारा पापों के क्षीण होने पर भोगसपत्न्य उच्च कुल में धनधान्य से  
युक्त और विद्या से सम्पन्न होकर जन्म लेते हैं ॥ २१८ ॥

एव प्रायश्चित्तेषु प्ररोचनार्थं कर्मविपाकमभिधायाधुना तेष्वेवाधिकारिण  
निरूपयितुमाह—

विदितस्याननुष्ठानाग्निन्दितस्य च सेवनात् ।

अनिप्रहाञ्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ २१९ ॥

तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।

एषमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैष प्रसीदति ॥ २२० ॥

१. प्राचीनतयात् । २ सव्यवहारार्थत्वस्यापि । ३. यथा कर्म ।

विहितमिति यदावश्यकं सधोपासनाग्निहोत्रादिकं नियमशुचिस्पर्शादीं  
 नैमित्तिकत्वेन चोदितं ज्ञानादिकं च तदुभयमुच्यते तस्याकरणात्, निन्दितस्य  
 निषिद्धस्य सुरापानादेः करणात्, इन्द्रियाणामनिग्रहाच्च नरपतनमृच्छति  
 प्राप्नोति । प्रत्यवायी भवतीति यावत् ॥ ननु 'इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत  
 कामत' ( मनु ४।१६ ) इतीन्द्रियप्रसक्तेरपि निषिद्धत्वात् 'निन्दित' ग्रहणे-  
 नैव गतार्थत्वात्किमर्थं 'अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणाम्' इति पृथगुपादानम् ? अत्रो-  
 च्यते,—इन्द्रियप्रसक्तिनिषेधस्य नैकान्ततत्त प्रतिषेधरूपता ज्ञातकमतमध्येऽस्य  
 पाठात्तत्र च 'व्रतानीमानि धारयेत्' ( मनु ४।१३ ) इति 'व्रत'शब्दाधिकारा-  
 न्नाश्रवणाच्चेन्द्रियप्रसक्तिप्रतिषेधकं सकल्पो विधीयते । स 'चोभयरूप इति  
 पृथगुपादानम् ॥ मनु विहिताकरणात् प्रत्यवेतीति कुतोऽवसितम् ? न तावदग्नि  
 होत्रादिचोदना पुरूपप्रवर्तनारिमकाऽननुष्ठानस्य प्रत्यवायहेतुतामाक्षिपति । विप-  
 यानुष्ठानस्य पुरूपार्थत्वावगतिमात्रपर्यवसायिनी हि सा तावन्मात्रेण प्रवृत्त्यु-  
 पपत्तेर्न पुनरकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमपि वक्ति, क्षीणशक्तिवादानुपपत्तेः ।  
 किञ्च, यद्यनुपपत्त्युपपत्तौऽपि प्रवृत्तिसिद्धपर्यवसान्तरं कल्प्यते तर्हि निषिद्धव-  
 नानक्रियाजन्यप्रत्यवायपरिहारार्थतयैव तद्वर्जनस्य पुरूपार्थत्वसिद्धावपि फलान्तर-  
 कल्प्येत । नचैतरकस्यचिदपि समतम् ॥ ननु यथा निषिद्धेऽर्थवादावगतप्रत्य-  
 वायपरिहारार्थतयैव पुरूपार्थत्वं तथा विहितत्वप्यर्थवादावगताकरणजन्यप्रत्यवाय-  
 परिहारार्थता कश्माञ्ज स्यात् ? मैवम्, नहि सर्वत्राग्निहोत्रादिषु तादृशार्थ-  
 वादाः सन्ति । न च 'विहितस्याननुष्ठानाच्चरपतनमृच्छति' इतीयं स्मृतिरेव  
 वाक्यशेषपरधानीयेति चतुरस्रम् । नहि वाक्यान्तरमिति कार्ये वाक्यान्तरे-  
 णार्थवादो सम्भवति । भवतु वा कथंचिदेकपापवत्पार्थवाद्दस्तथापि नैभाव-  
 रूपं विहिताकरणे कार्यान्तरं जनयितुं शक्नोति । ननु 'उबरे चैवातिसारे  
 च लहान परमौपधम्' इत्यायुर्वेदवचनाद्भोजनाभावरूपं लहान उवरशान्ति  
 जनयतीति यथावगम्यते तथाप्रापि भवतु । मैवम्, यतो नाप्रापि लहानाज्जर-  
 शान्तिः, किं तर्हि उवरनाशप्रतिबन्धकभोजनाभावे मति जटरानलपरिपाकजनित-  
 द्धानुसाम्यादिति मन्तव्यम् । तस्मात् 'विहितस्याननुष्ठानाच्चरपतनमृच्छति'  
 इति कथमस्या स्मृत्यन्तरितिरिति वाच्यम् । उच्यते,—अग्निहोत्रादिविषयाधिकार-  
 णानिन्द्रिरूपप्रत्यवायाभिषायेनेति, न होष । ननु ( १२।७।१।७२ )—'वाग्ना  
 रयुष्कामुत्तं प्रेतो विप्रो धर्मास्वकाच्युत । अमेधकुणपाशा च वृत्रिय  
 कटपूतन ॥ मैत्राण्ड्योतिकं प्रेतो वैश्वो भवति पूषभुक् । चैलात्तकस्तु भवति

१ च भावरूप । २ यद्यप्यनुप । ३. नामावरूपविहिताकरण ।

४ परिपाकजननादानु । ५ विप्रो भवति विद्युत् ।

शुद्धो धर्मास्वकाच्चयुत ॥ इत्येतानि विहिताकरणप्रत्यवायपराणि मनुवच-  
नानि कथं घटन्ते ? उच्यते,—यथा वान्तमश्रत उहकया वा दह्यमानमुत्स्य  
दु ख तथास्यापि विहितमनुर्वत पुरुषस्य पुरःपार्श्वमिद्धेरिश्चकरत् निन्दनमनुष्ठान  
प्ररोचनार्थमित्यविरोध । यद्वा,—प्राग्भवीयनिपिद्धाचरणाक्षिप्तविहितानुष्ठान-  
विरोधिरागालस्यादिजन्मवन्तारदुष्कामुत्प्रेतरवादिस्वामिति न कश्चिदनाथस्य  
कारणतेति मन्तव्यम् ॥ ननु पुश्चलीवानरस्तरदष्ट(श्रदष्ट)मिथ्याभिज्ञानादी विहि-  
ताकरणादिनिमित्तानामन्वयतमस्याप्यभावात्कथं प्रत्यवायिता ? कथं च तदभावे  
प्रायश्चित्तविधानम् ? उच्यते,—अस्मादेव पापक्षयार्थंप्रायश्चित्तविधानाज्जन्मान्त-  
राचरितनिपिद्धसेवादिजन्यपापापुर्वं समाक्षिप्तमित्यभिज्ञानापादिकं तद्धिमित्तप्राय-  
श्चित्तापनोपमनेनानुष्ठितमिति कल्प्यते; पुरुषप्रयत्नैरपेक्ष्येण कार्यरूपपापोत्प-  
द्यनुपपत्ते । नच पुश्चल्यादिगतप्रयत्नेन पुरुषान्तरे पापोत्पत्ति, कर्तृत्वमवापिशु-  
नियमाद्दर्माधर्मयो, तस्माद्युक्तैव प्रार्थ्यश्चित्त निमित्तत्रयपरिगणना । तथा च  
मनु ( ११।४४ )—'अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेद्भि-  
यार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नर ॥' इति । 'नर'ग्रहणं प्रतिशोभनात्तानामपि प्रायश्चि-  
त्ताधिकारप्रत्यवर्थम्, तेषामप्यहिसादिसाधारणधर्मस्यतिष्ठममभवात्, यस्मादेव  
निपिद्धाचरणादिना प्रत्यवैति तस्मात्तेन कृतनिपिद्धसेवादिना पुरुषेण प्राय-  
श्चित्तं वर्तम्यमिह लोकं परत्र च विशुद्ध्यर्थम् । प्रायश्चित्तशब्दश्चायं पाप-  
क्षयार्थं नैमित्तिके कर्मविशेषे रूढः । एव प्रायश्चित्ते कृते अस्या-नरात्मा शुद्ध-  
तया प्रसीदति लोकश्च सम्भवेवहतुं प्रसीदति । एव वदतैतद्विशितम्—नैमित्तिकोऽयं  
प्रायश्चित्ताधिकारः, तथा चार्थवादगतदुरितक्षयोऽपि जातदृष्ट्यायन साध्यतया  
स्वीक्रियत । नच दुरितपरिजिहामुनानुष्ठीयत इत्येतावता कामाधिकारोऽज्ञा-  
कार्यः । यस्मात् ( मनु ११।५३ )—'धरितस्य मनो निश्चयं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्यं ।  
निश्चैर्हि लक्ष्णैर्युक्ता ज्ञायन्तेऽनिष्कृतैरनस ॥' इत्यकरणे दोषध्वनेनाश्रयकत्वा-  
द्यमात् ॥ २१९-२२० ॥

भाषा—निश्च, नैमित्तिक आदि विहित कर्मों के न करने से तथा सुरा-  
पान आदि निपिद्ध कर्म करने से और इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्य  
पतित हो जाता है । इस लिये मनुष्य की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करना  
आहिए और इस प्रकार उसकी अन्तरात्मा और लोक सभी प्रसन्न होते हैं ॥

प्रायश्चित्ताकरणे दोषमाह—

प्रायश्चित्तमकुर्षाणा पापेषु निरता नरा ।

अपश्चात्तापिन कष्टात्तरकान्यान्ति दादणान् ॥ २२१ ॥

१. प्रायश्चित्तनिमित्त । २. लोकश्राय सम्भव । ३. धिकाशब्दा ।  
४. अपश्चात्तापिनो यांति नरकानतिदादणान् ।

पापेषु शास्त्रार्थव्यतिक्रमजनितेषु प्रसक्ताः पुरुषाः अपश्चात्तापिनो मया दुष्कृतं  
कृतमायेवमुद्देशरहिताः प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः दुःसहाश्ररकान्प्राप्नुवन्ति ॥ २२१ ॥

भाषा—पापकर्मों में निरत रहने वाले मनुष्य प्रायश्चित्त न करने  
( किये हुए कर्म ) पर पश्चात्ताप न करने पर अत्यन्त भयंकर एवं कष्टमय  
नरकों में जाते हैं ॥ २२१ ॥

नरकरस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

तामिघ्नं लोहशङ्कुं च महानिरयशास्मली ।

रौरवं कुड्मलं पूतिमृत्तिकं कालसूत्रकम् ॥ २२२ ॥

संघातं लोहितोदं च सविषं संप्रपातनम् ।

महानरककाकोलं संजीवनमहापथम् ॥ २२३ ॥

अवीचिमन्धतामिघ्नं कुम्भीपाकं तथैव च ।

असिपत्रवनं चैव तापनं चैकविंशकम् ॥ २२४ ॥

महापातकजैर्घोरैरुपपातकजैस्तथा ।

अन्यिता यान्त्यचरितप्रायश्चित्ता नराधमाः ॥ २२५ ॥

तामिघ्नप्रभृतीस्तापनपर्यन्तानेकविंशतिनरकानन्वर्थसंज्ञाघोतितावान्तरभेदा-  
न्महापातकोपपातकजनितभयंकरदुरितैरन्यिता अनाचरितप्रायश्चित्ताः पुरुषाधमाः  
प्राप्नुवन्ति ॥ २२२-२२५ ॥

भाषा—तामिघ्न, लोहशङ्कु, महानिरय, शास्मली, रौरव, कुड्मल, पूति-  
मृत्तिक, कालसूत्रक, संघात, लोहितोद, सविष, संप्रपातन, महानरक, काकोल,  
संजीवन, महापथ, अवीचि, अन्धतामिघ्न, कुम्भीपाक, असिपत्रवन, तापन ये  
इवहीन नरक हैं । घोर महापातकों एवं उपपातकों से युक्त अधम मनुष्य  
प्रायश्चित्त न करने पर इन नरकों की प्राप्ति करते हैं ॥ २२२-२२५ ॥

उपासदुरितनिरासार्थं प्रायश्चित्तमियुक्तं, तत्र विशेषमाह—

प्रायश्चित्तरैर्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।

कामतोऽप्यघहार्यस्तु घञ्नादिह जायते ॥ २२६ ॥

प्रायश्चित्तरैर्व्यमाणलघुर्णज्ञानाद्यदेवः पापं कृतं तदपैति गच्छति, न  
कामतः कृतम् । किंतु तत्र प्रायश्चित्तविधायकघञ्चनयलादिह लोके व्यवहार्यो  
जायते । अथ च प्रायश्चित्तरैर्येनो यदज्ञानकृतम् इत्युपकमात्तरप्रतिषेति-  
तया 'ज्ञानत' इति वक्तव्ये यत् 'कामतः' इत्युक्तं, तत् ज्ञानकामयोस्तुद्वयव-  
प्रदर्शनार्थम् । तथा हि—'विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं भवेत् ।' तथाऽऽदि-

पु 'क्रियायामर्धं प्रायश्चित्तम् । तथा 'भ्लेच्छेनाधिर्गतं शुद्धस्वज्ञानान्तु कथञ्चन ।  
 कृत्स्नस्य प्रकुर्वीत ज्ञानान्तु द्विगुणं भवत् ॥' इत्यादिभिर्वचनैर्ज्ञानकामनयोस्तुल्य-  
 प्रायश्चित्तदर्शानान्तुल्यफलत्वेन । किञ्च, स्वतःप्रवृत्तिविषयज्ञानकामनार्या  
 नियता, तद्योरन्यतरापायेऽपि' तस्या असमवादान् 'कामत' इत्युक्तम्, 'ज्ञाना-  
 ज्ञानत' इत्युक्तेऽपि काम प्राप्नोत्यविनाभावात् । नच चौरादिभिर्वलात्प्रवर्त्य  
 मानस्य सत्यपि विषयज्ञाने कामनाभावात्तदविनाभाव इति वाच्यम् । यतोऽत्र  
 विद्यमानस्यापि ज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावेनासत्प्रत्ययम् ॥ यत्तु-शुभेऽपि विप-  
 तिपोर्ध्वान्त्वा कर्दमपत्तन, तत्रापि वास्तवज्ञानाभावात्तद्विषयकामनायाश्चाभाव  
 एव । एवमज्ञानाकामनयोरप्यव्यभिचार एव ॥ ननु 'प्रायश्चित्तरूपैश्चेन' इति न  
 युक्तम्, फलविनाशपरत्वात्कर्मणः । मैवम् ; यथा पापोरपत्तिं शास्त्रगम्या तथा  
 तत्परिहयोऽपीति नात्र प्रमाणा-तरं क्रमते । अतएव गौतमेन पूर्वोत्तरपक्षभङ्ग्या  
 भयमर्थो दर्शितः । तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसते । न कुर्यादित्या  
 हुर्न हि कर्म स्वीयते इति । कुर्यादित्यपरे । 'पुनस्तोमेनेष्ट्वा पुनसवनमा-  
 चान्तीति विज्ञायते । प्रायस्तोमेनेष्ट्वा तैरति सर्वं पाप्मानं तरति भ्रूगहस्या  
 योऽश्वमेधेन यजते' इति पुनसवनमायान्ति इति सवनस्याप्यव्यतिष्ठोमादि  
 द्विजातिकर्मणि योग्यो भवतीत्यर्थः । न चेदमर्थवादमात्रम्, अधिकारिविशेषणा  
 काङ्क्षाया रात्रिसन्न्यायेनार्थवादिक्फलस्यैव कल्पनाया -यादयस्वात्, अतो युक्त  
 प्रायश्चित्तरूपैश्चेन' इति ॥ ननु कामकृते प्रायश्चित्ताभावात्कथं व्यवहार्यत्वं तद-  
 भावश्च 'अनभिसधिकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तम्' इति ( २०११ ) वसिष्ठवचनात् ॥  
 'इयं विशुद्धिरदिता प्रमाण्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न  
 विधीयते ॥' इति ( १११८९ ) मनुवचनात्चाद्यगम्यते । नैतत्, 'य कामतो  
 महापापं नरं कुर्यात्कथञ्चन । न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा भृगवसिधननादने ॥' इति ।  
 तथा—'विहितं यदकामानां कामान्तद्विगुणं भवेत्' इति च कामकृतेऽपि प्राय-  
 श्चित्तदर्शनात् । यत्तु वसिष्ठवचनं तस्याप्यकामकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तं शुद्धि-  
 करम्' इत्यभिप्रायो न पुनः कामकृते प्रायश्चित्ताभाव इति ॥ यत्तु मनुवचनं—'इयं  
 विशुद्धिरदिता' इत्यादि तदपीयमिति सर्वनामपराभृष्टद्वादशवापिकादिशत  
 चर्याया एव । 'कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते' इत्यनेन प्रतिषेधो  
 न पुनः प्रायश्चित्तमात्रस्य, मरणान्निकादे प्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् ॥ ननु यदि  
 कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तमस्ति तर्हि पापक्षयोऽपि कस्मान्न स्यादविशेषाच्छदि पाप-

१ धिगता शुद्धा स्वज्ञानान्तु । २ ज्ञानान्तद्विगुणं, ज्ञाने तु द्विगुणः ।

३ इत्याद्यपूर्ववचनैः । ४ अन्यतराभावेऽपि । ५ विद्यमानस्याप्रवृत्तिः ।

६ नेष्ट्वा ब्रह्मचर्यं चोद्दुपनयनत इति सर्वं पाप्मानं ।

क्षयोऽपि नास्ति तर्हि व्यवहार्यतापि कथं भवति ? उच्यते,—उभयत्र प्रायश्चित्त-  
विशेषेऽपि फलविशेषं शास्त्रतोऽवगम्यते । अज्ञानकृते तु सर्वत्र पापक्षयः । यत्र  
तु 'ब्रह्महत्यापराधगुरुनक्षत्रगमात्पितृयोनिमन्थसर्पदावागमस्तेन नास्ति कनिन्दित-  
कर्माभ्यासिपतितारयायपतितत्यागिनः पतिता. पातकसद्योजकाश्च' ( २०।१।२ )  
इति गौतमोक्तमहापातकादौ व्यवहार्यत्वं निषिद्धं, तस्मिन्वतनीये कर्मणि कामत-  
कृते व्यवहार्यत्वमात्रं न पापक्षय इति । नच पापक्षयाभावे व्यवहार्यत्वमनुप-  
पन्नम् । द्वे हि पापस्य शक्ती नरकोत्पादिका व्यवहारनिरोधिका चेति । तत्रैतर-  
शक्यविनाशेऽपि व्यवहारनिरोधिकायाः शक्तेर्विनाशो नानुपपद्यते स्मारापापानप-  
गमेऽपि व्यवहार्यत्वं नानुपपन्नम् । यत्तु मनुवचनम् ( १।१।४५ )—'अकामतः  
कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधा' । कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥'  
इति,—तत्रपि कामकृते प्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थं, न पुनः पार्ष्वयप्रतिपादनपरम् ।  
अपतनीये पुन कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तेन पापक्षयो भवत्येव; 'अकामतः कृतं पार्ष-  
वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तं पृथग्विधै ॥ इति  
( १।१।४६ ) मनुस्मरणात् । पतनीयेऽपि कर्मणि कामकृते मरणान्तिकप्रायश्चित्तेषु  
क्वमपक्षयो भवत्येव । कल्पान्तराभावात् । नैऋत्यान्वर्षिमहोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते  
क्वमप तु निहन्यते' ( १।२४—२६ ) इत्यापस्तम्बरमरणात् ॥ २२६ ॥

भाषा—जो पापकर्म अज्ञानवश किया गया होता है वह प्रायश्चित्त से  
दूर होता है । जानबूझ कर पापकर्म करके प्रायश्चित्त करने पर ( वह पाप  
दूर तो नहीं होता किन्तु ) प्रायश्चित्त के वचन द्वारा लोक में व्यवहार की  
योग्यता प्राप्त होती है ॥ २२६ ॥

निषिद्धाचरणादिक प्रायश्चित्ते निमित्तमित्युक्तं तद्यप्यत्रविनुमाह—

ब्रह्महा मद्यप स्तेनस्तथैव गुरुनक्षत्रगः ।

एते महापातकिनो यद्य तैः सोह संयसेत् ॥ २२७ ॥

हन्तिरयं प्राणवियोर्लक्षरे व्यापारे रुड, यद्व्यापारसमनन्तर बालान्तरे वा  
कारणान्तरनिरपेक्ष प्राणवियोगो भवति स, ब्राह्मण हतत्वानिति ब्रह्महा,  
मद्यपो निषिद्धमुराया पाता, स्तेनः ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता, 'ब्राह्मणसुवर्णाप-  
हरण महापातक' इत्यापस्तम्बरमरणात् । गुरुनक्षत्रगो गुरुभार्यागामी । 'तद्व-  
द्यत्वेन शयनवाचिना साहचर्याद्भार्या एत्यते । एते ब्रह्महादयो महापात-  
किनः । पातयन्तीनि पातकानि ब्राह्मणस्यादीनि । मद्दुष्ट्येन तेषां गुरुत्वं

१ ब्रह्महा सुरापो गुरुनक्षत्रगो मातृपितृ । २ सवन्धावगम । ३. पाप-  
क्षयं प्रति प्रतिपादन । ४. नास्त्यार्षिमहोके । ५. संवियेःसमाम् । ६. विषो-  
गकरणे ।



रयाप्यसे तद्योगिनो महापाकिन इति लाघवार्थं सज्ञाकरणम् । यश्च तैर्महा  
दिभि प्रत्येक सह सवसति 'पुमिस्तु सवसेद्यो वै व सर सोऽपि तस्म'   
( प्रा० २६६ ) इति वक्ष्यमाणन्यायन साऽपि महापातकी । 'तथा'शब्द  
प्रकारवचनोऽनुग्राहकप्रयोजकादिकर्तृसमूहार्थं । अनुग्राहकश्च य पलायमानम-  
मित्र उपरुन्धन् परेभ्यश्च हन्तार परिरक्ष-हन्तुर्द्रविमानमुपजनयन्नुपकरोति स  
उच्यते । अत एव मनुनानुग्राहकरय हिंसाफलसंबन्धो दक्षित — बहूनामेक-  
कार्याणां सर्वेषां शस्त्रधारिणाम् । यद्येको घातयेत्तत्र सर्वे ते घातका स्मृता ॥'  
इति । तथा प्रयोजकादीनामप्यापस्तम्भेन फलसंबन्ध उक्त — 'प्रयोजितानु-  
मन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मिन्फल  
विशेष' इति तत्राप्रवृत्तस्य प्रवर्तक प्रयोजक । स च त्रिप्रकार — आज्ञापयि-  
ताभ्यर्थयमान उपदेष्टेति । तत्राज्ञापयिता नाम स्वयमुच्यते । स्वनीच भूत्वा  
दिर य प्रेरयति मदीयममित्र जहीति स उच्यते । अभ्यर्थयमानस्तु य  
स्वयमसमर्थ सन् प्रार्थनादिना मच्छत्रु व्यापादयेत्युच्यते प्रवर्तयति सोऽमिधीयते ।  
अनयोश्च स्वार्थसिद्धयर्थमेव प्रयोक्तृत्वम् । उपदेष्टा पुनर व शत्रुमिस्थ व्यापादयेति  
मर्मोद्घाटनाद्युपदेशपुत्र सर प्रेरयन्कथ्यते । तत्र च प्रयोऽप्यगतमेव फलमिति  
तेषां भेदः । अनुमन्ता तु प्रवृत्तस्य प्रवर्तकः । स द्विप्रकार — कश्चिस्वार्थसिद्धय-  
र्थमनुजानाति कश्चिस्वार्थमिति ॥ नन्वनुमननस्य कथं हिंसाहेतुत्व, नतात्रमाण-  
वियागोरपादनेन तस्य साक्षात्कर्तृत्वापारम्पर्यात् । नापि प्रयोजकस्येव, साचा-  
त्कर्तृप्रवृत्तुत्वात्पादनद्वारेण प्रवृत्तस्य प्रवर्तकरत्वात् । नच साधु स्वयाप्यवसितमिति  
प्रवृत्तमेवानुमन्यत इति शङ्कनीयम् । तादृशस्थानुमननस्य हिंसां प्रवहेतुत्वाद्भव-  
त्वाच्च । उच्यते,—यत्र हि राजादिपारतन्त्र्यास्वय मनसा प्रवृत्तोऽपि प्रवृत्ति  
विच्छेदभयादागामिदण्डमयाद्वा शिथिलप्रथमो राजाद्यनुमतिमपेक्षते तत्रानुमति-  
हेतु प्रवृत्तिमुपोद्बलयन्तां हिंसाफल प्रति हेतुता प्रतिपद्यते । तथा सोऽपि  
भस्मनताडनघनापहारादिना परान्कोपयति सोऽपि मरणहेतुभूतमन्युत्पादनद्वा-  
रेण हिंसाहेतुर्भवत्येव । अत एव विष्णुनोक्तम्—'आक्रुष्टस्ताडितो वापि धनैर्वा  
विप्रयोजित । यमुद्दिश्य स्वज्जेप्राणांस्तमाहुर्ग्रहघातकम् ॥' इति तथा—'ज्ञाति  
मित्रकलत्रार्थं सुहृत्क्षेत्रार्थमेव च । यमुद्दिश्य स्वज्जेप्राणांस्तमाहुर्ग्रहघातकम् ॥'  
इति । नच कृतेष्वप्याक्रोशनादिषु कस्यचिन्मन्युत्पादनदर्शनादकारणतेति शङ्कनी  
यम्, पुरुषस्वभाववैचित्र्यात् । ये अहपतरेणापि निमित्तेन जातमन्यवो भवन्ति  
तेऽप्यभिचार इति नाकारणता । एतेषां चानुग्राहकप्रयोजकादीनां प्रत्यासत्तिभ्य

वधानापेक्षया व्यापारगतगुरुलाघवापेक्षया च फलं गुरुलाघवात् प्रायश्चित्तगुरुलाघवं शोद्धयम्, 'यो भूय आरभते तस्मिन्-फलविशेष' इति वचनात् । तथा अनुप्रादकस्य तावत्स्वयमेव हिंसायां प्रवृत्तात्वेन स्वतन्त्रकर्तृत्वे सापि साक्षात्प्राण-त्रियोगफलकस्य प्रहारादिव्यापारयोगित्वाभावेन साक्षात्कर्तृत्वद्वयो हिंसारम्भकत्वाभावादस्य फलत्वमप्यप्रायश्चित्तत्व च । प्रयोजकस्य तु स्वतन्त्रस्वतन्त्रप्रवृत्तिजनकत्वेन व्यवहितत्वात्ततोऽस्य फलत्वम् । प्रयोजकानां मध्ये परार्थप्रवृत्तत्वेनोपदेष्टृत्वफलत्वम् ॥ ननु प्रयोजकहस्तस्थानीयत्वाभ्युपगम्य न फलसंबन्धो युक्तः । यदि परमयुक्त्या प्रवर्तमानस्यापि फलसंबन्धस्तर्हि स्थपतिगडागत्यनित्यप्रवृत्तीनामपि मूलत्वेन प्रवर्तमानानां स्वर्गादिकलमाप्तिप्रसङ्गः । उच्यते, साक्षात् फल प्रयोक्तरीति न्यायेनाधिकारिकर्तृगतफलजनका देवकृपतडागनिर्माणादप्य । नच स्थपतिगडागतनिप्रादयो देवकृपतडागकरणादिव्यधिकारिणः, स्वर्गकामिवात् । अत्र पुनः परमयुक्त्या प्रवर्तमानानामप्येव हिंसायामधिकारित्वाद्भवत्येव तद्व्यपतिक्रमनिबन्धनो दोषः । अनुमन्तुस्तु प्रयोजकादप्यस्य फलत्वम् प्रयोजकत्वापारादहिरङ्गावाह्युवाचानुमनस्य । निमित्तकर्तुं पुनराक्रोशकादे प्रवृत्तिहेतुभूतमभ्युपगमनकत्वेन व्यवहितत्वात्प्रमाणानुसंधानं विना प्रवृत्तत्वाच्चानुमन्तुत्वात्साक्षात्फलत्वम् ॥ ननु यदि व्यवहितस्यापि कारणत्वमिह मातापिशोरपि हनृत्पुरुषोत्पादनद्वारेण हननकर्तृत्वप्रसङ्गः । उच्यते,—नहि पूर्वभाविस्वमात्रेण कारणत्वम्, कारणतयापि तथाभाविस्वोपपत्तेः । यत्फलं स्वरूपातिरिक्तकार्योत्पत्त्यनुगुणाव्यापारयोगि भवति तद्धि कारणम् । यदि स्थन्तरमामा सोम स्यादैन्द्रवायवाग्रान् प्रदान् रुमीयादिति स्थन्तरमामतैव प्रतीरैन्द्रवायवाग्रनाथौ कारणम् । नहि तत्र सोमप्राप्तस्वरूपेण कारणं, यमिचारात् । नच पितृशोभाहृद्यकारणलक्षणयोगियमितं नातिप्रसङ्गः । अनेनैव न्यायेन धर्माभिसन्धिना निमित्तकृपयात्पदादौ प्रमादपतित-प्रादगादिगणने स्थानपितृर्षोपामाय । नहि कृपोऽनेन स्थानितं अतोऽहमात्मानं व्यापादयामीत्येष कृपलनननिमित्तं व्यापादनं यथाष्टोनादौ । अतः कृपकर्मुरपि कारणत्वमेव, न पुनर्हिंसाहेतुत्वमिति मातापितृभ्यस्तैव । तथा कश्चित् स्थपि हिंसानिमित्तयोगात् परोपकारार्थप्रवृत्तीं यचनादोपामाय । यथाह संवत् —'वन्धने गोधिकारिणो मूढमभिमोचने । यान् हृमे विपत्तिघ्नो प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ भीषण स्नेहमाहार ददन्नामाह्वयिषुः । क्षयमानं विपत्तं स्यात् न वापेन लिप्यते ॥ दाह्येद्विनाभेदप्रदानैरप्यर्चयताम् । प्राणमश्राग निद्वयर्षं प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति ।—एतच्छादाननिदाननियुक्तभिरविद्वयम् ।

१. फलगुरु । २. देवकृपतडाग । ३. तडागहृत्प्रादयो । ४. स्थ-  
पत्यम् । ५. प्रमा कारणम् । ६. नास्ति प्रमाणम् ।

इतरस्य तु भिषङ्मिथ्याचरन्दाप्य' ( व्य० १४२ ) इत्यत्र दोषो दक्षित । यत्तु मन्थुनिमित्ताक्रोशानादिकमकुर्वतोऽपि नाम गृहीत्वोन्मादादिनास्मान व्यापादयति तत्रापि न दोष, 'अकारण तु य कश्चिद् द्विज प्राणान्परित्यजेत् । तस्यैव तत्र दोष स्यान्न तु य परिकीर्तयेत् ॥ इति स्मरणात् ॥ तथा यथाप्याः क्रोशकादिजनितम-युरास्मान खड्गादिना प्रहस्य मरणादर्शागाक्रोशनादिकर्त्ता धन दानादिना सत पितो यदि जनसमक्षमुर्ध्वं श्रावयति नात्राक्रोशकस्यापराध इति, तत्रापि वचनात्त दोष । यथाह विष्णु — उद्दिश्य कुपितो हत्वा तोपित श्रावयेत्पुन । तस्मिन्मृते न दोषोऽस्ति द्वयोर्दृष्ट्वावने कृते ॥ इति । एतेषां च प्रयोजकादीनां दोषगुरुलघुभावपर्यालोचनया प्रायश्चित्तविशेष वक्ष्याम ॥ २२७ ॥

भाषा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला सुरा पीनेवाला, ( ब्राह्मण का ) स्वर्ण सुराने वाला तथा गुरुपत्नी से भोग करनेवाला—ये महापातकी होते हैं और इनके साथ निवास करने वाले भी महापातकी होते हैं ॥ २२७ ॥

ब्रह्महत्यासमान्याह—

गुरुणामध्यधिक्षेपो वेदनिन्दा सुहृद्वध ।

ब्रह्महत्यासमं श्रेयमधीतस्य च नाशनम् ॥ २२८ ॥

गुरुणामाधिक्येनाधिक्षेप अनृताभिशासनम् । 'गुरोरनृताभिशासनमिति महापातकसमानि' ( २११० ) इति गौतमस्मरणात् । एतच्च लोकाविदितदोषा भिशासनविषयम् । 'दोष बुद्ध्या न पूर्व परेषां समाख्याता स्यात्सव्यवहारे चैन परिहरेत्' ( १२१२० ) इत्यापस्तम्बस्मरणात् । नास्तिक्याभिनिवेशेन वेदकुत्सनम् । सुहृन्मित्र तस्याब्राह्मणस्यापि वध । अधीतस्य वेदस्यासच्छास्त्रविनोदेनालस्यादिना वा नाशन विस्मरणम् । एतानि प्रत्येक ब्रह्महत्याम मानि । यथुन 'श्वाध्यायाग्निमुत्तरयाग' ( प्रा० २७९ ) इत्यधीतस्यागस्थोप पातकमध्ये परिगणन, तत्कथञ्चिद्गुणभरणाकुलतयाऽसच्छास्त्रध्वन्यप्रतया वा विस्मरणे द्रष्टव्यम् ॥ २२८ ॥

भाषा—गुरु पर मिथ्या दोषारोपण, वेद की निन्दा, मित्र की हत्या और पठित वेद एवं शास्त्र का आलस्यवश विस्मरण—इन सबको ब्रह्महत्या के समान ही समझना चाहिये ॥ २२८ ॥

सुरापानसमान्याह—

निषिद्धभक्षणं जैह्वयमुत्कर्षं च वचोऽनृतम् ।

रजस्वलामुस्त्रास्याद सुरापानसमानि तु ॥ २२९ ॥

१ मन्थुनास्मानम् । २ कर्ता धनदाना । ३ तत । ४ सुरकर्षं च ।

निषिद्धं लशुनादिकं, तस्य मतिपूर्वं भक्षणम् । अत एव मनुः (५।१९)—  
 द्वात्रासं विद्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डुं मृज्जनं चैव मर्या जग्ध्वा  
 पतेक्षरः ॥' इति । भ्रमतिपूर्वं तु प्रायश्चित्तान्तरम् ( ५।२० )—'भ्रमथैतानि  
 पद् जग्ध्वा कृच्छ्रं मान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेद्दहः ॥'  
 इति तेनैवोक्तत्वात् । जैह्वयं कौटिल्यं, भ्रम्याभिसंधानेनान्यथाद्विस्वमभ्यर्कृत्स्वं च ।  
 अत्र च जैह्वयमिति यद्यपि सामान्येनोक्तं, तथापि प्रायश्चित्तस्य गुरुवाग्निमित्त-  
 स्यापि गुरुविषयं जैह्वयमिति गौरवं गम्यते । अस्ति च नैमित्तिकपर्यालोचनया  
 निमित्तस्य विशेषावगतिः । यथा 'यस्योभावग्नौ अनुमती स्यातां दुष्टौ सर्वताम-  
 मिनिग्लोचेद्वा पुनराधेयं तत्र प्रायश्चित्ति' इत्यग्नौभाविष्यस्य निमित्तविशेषण-  
 स्त्वेन हविरुभयत्वाद्द्विवृत्तितत्त्वेऽप्यग्निद्वयनिष्पादकपुनराधेयरूपनैमित्तिकविधिव-  
 लादग्निद्वयानुगतिरेव निमित्तमिति कल्प्यते; तथाप्रापीति युक्तं निमित्तगौरवक-  
 ल्पनम् । तथा समुत्कर्षनिमित्तं राजकुलादानचतुर्धेद एव चतुर्वेदोऽहमिरयनृतभा-  
 पणम् । रजस्वलाया (कामवसेन) ववत्रासवमवनम्, एतानि सुरापानसमानि ॥

भाषा—निषिद्ध ( लहसुन आदि ) पदार्थ का जानबूझ कर भक्षण,  
 कुटिलता, उरकर्म प्राप्ति के लिए भ्रमण भाषण और रजस्वला स्त्री के मुस का  
 चुम्बन—ये सुरापान के समान ही होते हैं ॥ २२९ ॥

सुवर्णस्तेयमान्याह—

अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा ।

निक्षेपस्य च सर्वं हि सुवर्णस्तेयसंमितम् ॥ २३० ॥

अधादीनां माह्वगसंविचिता, निक्षेपस्य च सुवर्णस्वतिरिक्तरथापहरण-  
 सेतासर्वं सुवर्णस्तेयसमं वेदितव्यम् ॥ २३० ॥

भाषा—( माह्वग के ) घोड़ा, रत्न, मनुष्य, स्त्री, भूमि और राय तथा  
 निक्षेप का अपहरण—ये सभी सोने की चोरीके समान ही होते हैं ॥ २३० ॥

गुरुतपसमान्याह—

सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिस्यन्त्यजासु च ।

सगोत्रासु मुनस्त्रीषु मुक्तल्पसमं स्मृतम् ॥ २३१ ॥

मया विप्रं, तस्य भार्या; कुमार्त्तमजानीया कन्यका, तासु 'सकामा-  
 स्वनुलोमासु न दीपस्वन्दया दमः । दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा ॥'  
 ( व्य० २८८ ) इति तत्रैव दण्डविशेषवतिपादनाप्रायश्चित्तगुरुत्वं युक्तम् ।

१. द् द्विज । २. विषयं यज्ञैह्यमिति । ३. विशेषत्वेन ।

स्वयोनिर्भगिनी, अन्वया चाण्डाली, सगोत्रा समानगोत्रा, सुतस्त्री स्नुषा, पत्नीसं गमनं प्रत्येक गुरुतद्व्ययम् । एतच्च रेतःसेकादूर्ध्वं वेदितव्यम्; अर्वाह्निघृत्ती तु न गुरुतद्व्ययम्, किंत्वहमेव प्रायश्चित्तम् । 'रेत सेक. स्वयो-  
नोषु कुमारीत्वन्वयासु च । सद्यु पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतद्व्ययम् विदुः ॥'  
( ११५८ ) इति मानवे 'रेत सेक' इति विशेषणोपादानात् । 'सगोत्रा प्रहणेनैव  
सिद्धे पुनः 'सुतस्त्री'ग्रहण प्रायश्चित्तगौरवप्रतिपादनार्थम् । अत्र च प्रह-  
हत्यादिसमवयवचनं गुर्वधिष्ठेवादेस्तत्तद्विषयप्रायश्चित्तोपदेशार्थम् । ननु वेद-  
निन्दादौ दोषस्य लघुत्वाद् गुरुतरं प्रहहत्यादिप्रायश्चित्तं न युज्यते । मैवम् ;  
गुरुप्रायश्चित्तोपदेशशलादेव दोषगुरोवावगतेः । न च प्रहहत्यादिप्राय-  
श्चित्तातिदेशार्थमेवेदं वचनं भवति, किंतु दोषगौरवमात्रप्रतिपादनपरमिवा-  
नाङ्गीयम् । यतस्नातवन्मात्रप्रतिपादनपरये प्रहहत्यामममिद् गुरुतद्व्ययसममि-  
त्यादिभेदेन समजाभिधानं नोपपद्यते । तच्च प्रायश्चित्तं 'सम'शब्देनोपदिश्यमानं  
प्रहहत्यादिप्रायश्चित्तस्य किञ्चिन्न्यूनमेवोपदिश्यते । 'लोकं राजयमो मन्त्री'  
इत्यादिवाक्येषु 'सम'शब्दस्य किञ्चिद्धाने प्रयोगदर्शनात्, महताः पातकार्येतरस्य  
च मुह्यत्वंस्यायुक्तत्वाच्च । एव च सति याज्ञवल्क्येन प्रहहत्यामममयेनोक्तानामपि  
प्रहहत्याव्येदनिन्दासुदृढधानां मनुना यासुरापानमात्रम् ( ११५६ )—  
'प्रहोऽज्ञता वेदनिन्दा कौटमाप्य सुदृढध. । गर्हिताद्याऽप्योर्जग्धि सुरापान-  
समानि पट् ॥' इत्युक्तं, तस्याप्यधिक्यार्थम् । एवमन्येत्वपि वचनेषु विरोध-  
परिहर्तव्यः । यत्तु वमित्तेन—'गुरोरलीकनिर्णये कृष्टं द्वादशरात्रं चरित्वा  
सर्चल. स्नातो गुरुपमादात् पूतो भवति' इति लघुप्रायश्चित्तमुक्तं, तदमतिपूर्वं  
सहृदनुष्ठाने च वेदितव्यम् ॥ २३१ ॥

भाषा—मित्र की पत्नी, ( उत्तम जातिकी ) भविष्याहित कन्या, भगिनी,  
चाण्डाली, समानगोत्रवाली स्त्री और पुत्रवधू ( पतोह )—इनके साथ समं ग  
गुरुपत्नीभोग क समान कहा गया है ॥ २३१ ॥

गुरुतद्व्ययतिदेशमाह—

पितुः म्यस्तरं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि ।

मातुः सपरनीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ २३२ ॥

आचार्यपरनीं म्यस्तुतां गच्छंस्तुं गुरुतद्व्ययः ।

लिङ्गं छिद्या घर्षंस्तस्य सशमायाः स्त्रिया अपि ॥ २३३ ॥

१. गुरुत्वमवगम्यते । २. गर्हिताद्याद्यथो. । ३. गच्छंस्तुं । ४. यथ  
रतत्र । ५. रतया ।

पितृष्वस्रादयः प्रसिद्धाः, ता गच्छन् गुरुतल्पगः, तस्य लिङ्गं द्विधा राज्ञा वधः कर्तव्यो दण्डार्थं, प्रायश्चित्तं च तदेव । 'च' शब्दाद्वाञ्छीप्रव्रजितादीनां ग्रहणम् । यथाह नारदः ( १२।७३-७५ )—'माता मातृष्वसा श्रद्धूर्मातुलानी पितृष्वसा । पितृष्वसस्त्रिभिर्व्यस्त्री भगिनी तरसस्त्री स्नुषा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता । रक्षी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥ आसामन्यतमा गच्छन्गुरुतल्पगः उच्यते । शिरस्योरकर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥' इति । राज्ञी राज्यस्य कर्तुर्भार्या न क्षत्रियस्यैव, तद्रामने प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात् । धात्री मातृव्यतिरिक्ता स्त यदानादिना पोषयित्री, साध्वी व्रतचारिणी, वर्णोत्तमा ब्राह्मणी । अत्र 'मातृ'ग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । अथ च लिङ्गश्लेषद्वयधामको दण्डो ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य, 'न जातु ब्राह्मण ह-यासर्वपापेष्ववस्थितम्' इति तस्य वधनिषेधात् वधस्यैव प्रायश्चित्तरूपत्वात् । अस्य च विषयः गुरुतल्पप्रायश्चित्तप्रकरणे प्रपञ्चयिष्यामः । अत्र स्नुषाभगिन्यो पूर्वश्लोकेन गुरुतल्पसमीकृतयोः पुनर्ग्रहणं प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । यदा पुनरेता स्त्रियः सकामाः सस्य एतानेव पुरुषान्यशीकृत्योपभुञ्जन्ते तदा तासामपि पुरुषवद्बध एव दण्डः प्रायश्चित्तं च । एतानि गुर्वधिरेपादितनयागमपर्यन्तानि महापातकानि त्रैश्विपयाणि सद्यः, पतनहेतुत्वात्पातकान्युच्यन्ते । यथाह यमः—मातृष्वसा मातृसखी दुहिता च पितृष्वसा । मातुलानी स्वसा स्वधूः शंवा सद्यः पतेन्नरः ॥' इति गौतमेन पुनरन्येषामपि पातकत्वमुक्तम् ( २।१।१२ )—'मातृपितृयोनिस्सद्यद्द्विद्विस्तेननास्तिकनिन्दनकर्माभ्यासिपतितारयागपतितस्याग्निपतितः पातकसयोजकाश्च' इति । तेषां च महापातकोपपातकमध्यपाठान्महापातकान्यूनत्वमुपपातकाश्च गुरुत्वमवगम्यते । तदुक्तम्—'महापातकतुष्यानि पापान्युक्तानि यानि तु । तानि पातकसज्ञानि तान्यूनमुपपातकम् ॥' इति । तथा चाङ्गिरा—'पातक्युः सहस्रं स्थान्महसु द्विगुणं तथा उपपापे तुरीयं स्थान्महसु त्रैश्विपया ॥' इति ॥ २३२-२३३ ॥

भाष्या—पिता की बहन ( सुभा ) माता, मामी, स्नुषा ( पत्नी ), सौतेली माता, बहन, आचार्य की पुत्री, आचार्य की पत्नी, या अपनी पुत्री से समोस करने वाला गुरुपत्नीभोगी के समान होता है; उसका लिङ्ग काटकर बध कर देना चाहिए, और यदि ये स्त्रियाँ स्वच्छा से समोस कराती हैं तो उनका लिङ्ग भी बध का दण्ड प्रायश्चित्त होता है ॥ २३२-२३३ ॥

एव महापातकानि तस्मानि च पातकानि परिगणय्योपपातकानि परिगणयितुमाह—

गोचधो मात्पता स्तेयमृणानां चानपाक्रिया ।

अनाहिताग्निताऽपण्यविक्रय परिवेदनम् ॥ २३४ ॥  
 भृतादभ्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा ।  
 पारदार्यं पारिवित्त्यं वार्धुष्यं लवणक्रिया ॥ २३५ ॥  
 स्त्रीशूद्रविद्वक्षत्रवधो निन्दिताथोपजीवनम् ।  
 नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रय ॥ २३६ ॥  
 धान्यकुप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनम् ।  
 पितृमातृसुतत्यागस्तडागारामविक्रय ॥ २३७ ॥  
 कन्यासंदूपणं चैव परिविन्दकयाजनम् ।  
 कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनम् ॥ २३८ ॥  
 आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भो मद्यपस्त्रीनिषेधनम् ।  
 स्वाध्यायाग्निमुतत्यागो बान्धवत्याग एव च ॥ २३९ ॥  
 इन्धनार्थं द्रुमच्छेदं स्त्रीहिंसौषधजीवनम् ।  
 हिंस्रयन्त्रविधानं च व्यसनान्यात्मविक्रय ॥ २४० ॥  
 शूद्रप्रेष्यं ह्रीनसख्यं ह्रीनयोनिनिषेधनम् ।  
 तथैवानाश्रमे वास परान्नपरिपुष्टता ॥ २४१ ॥  
 असत्छास्त्राधिगमनमाकरेणवधिकारिता ।  
 भार्याया विक्रयश्चैषामेकैकमुपपातकम् ॥ २४२ ॥

गोवधो गोपिण्डस्यापादनम्, कालेऽनुपनीताव द्राप्यता, द्राह्मणसुवर्णनरसम  
 धनिरिक्तपरद्रव्यापहरणं स्तेयम्, गृहीतस्य सुवर्णादेरप्रदानमृणानामनपाकर  
 णम्, तथा देवपितृणां सर्वेभ्युणस्यानपाकरणं च । सत्यधिकारेऽनाहिताग्नि  
 त्वम् ॥ ननु ज्योतिष्टोमादिकामधुतय स्वाङ्गभृताग्निमिषावर्धमग्धानं प्रयुञ्जत  
 इति मीमांसकप्रसिद्धिः, अतश्च यस्याग्निभिः प्रयोजनं तस्य तदुपाधभृताधाने प्रवृ  
 त्तिर्वाद्याद्यर्थिन इव धनार्जने । यस्य पुनरग्निभिः प्रयोजनं नारितं तस्याप्रवृत्तिरिति  
 कथमनाहिताग्नितादोषः ? उच्यते,—अस्मादेवाधानस्यावरयकत्ववचनादित्यधुत  
 योऽपि साधिकारित्वाविशेषादाधानस्य प्रयोजिका इति स्मृतिकारणामभिप्रायो  
 लक्ष्यत इत्यदोषः । तथा अपण्यस्य एवणादेर्विक्रयं सहोदरस्य ज्येष्ठस्य  
 निष्ठत कनीयसो भ्रातृदाराग्निसयोग परिवेदनम्, पणपूर्वाप्यापकादभ्ययन  
 ग्रहणम्, पणपूर्वाध्यापनम्, परदारसेवनं गुरुदारतत्समभ्यतिरेक्षणं पारि  
 व्रिय कनीयसि कृत्स्निवाहे ज्येष्ठस्य विवाहाराहित्यम्, वार्धुष्यं प्रतिपिबूद्धपुप-  
 जीवनम्, लवणक्रिया लवणस्वात्पादानम्, स्त्रियावध आग्नेयी सगर्भा ऋतु

१ परिवेदक । २ सद्यः धर्णस्या । ३ साधिकारवाविशेषः ।

४ वृत्तुपजीवित्वम् ।

त्वात् । एतच्च भैक्षं ब्राह्मणादिवर्णेष्वेव कार्यम् ; 'चातुर्वर्ण्ये चरेद्धैश्च स्रष्ट्वाद्भी  
सयज्ञोऽभवान्' इति संवर्तस्मरणात् । तथा 'ब्रह्महाऽस्मि' इति स्वकर्म रथापयन्  
द्वारि स्थितो भिक्षां याचेत् ; 'वेश्मनो द्वारि तिष्ठामि भिक्षार्थं दह्मघातकः'  
इति पराक्षरस्मरणात् । अथ च भैक्षान्निवन्धनमो चण्डैर्जीवनाशकौ द्रष्टव्यः ;  
'भिक्षार्थं प्रविशेद् ग्रामं चण्डैर्यदि न जीवति' इति संवर्तस्मरणात् । तथा  
ब्रह्मचर्यादियुक्तेन च तेन भवितव्यम् । खट्वाह्नकपालपाणिर्द्वादशवत्सराब्द्रह्म-  
चारी भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेत्कर्मचक्षणः । यथोपकामोऽप्य संदर्शनादार्यस्य  
( 'अस्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निश्चिः । एतद्द्वीरासनं नाम सर्वपाप-  
प्रणाशनम् ॥' )—'स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेपूदकोपस्पर्शां शुद्धयेत्'  
( २११६ ) इति गौतमस्मरणात् । 'ब्रह्मचारिग्रहणं 'वर्जयेन्मधुमासगन्ध-  
मास्यदिवास्वप्नाऋजनाभ्यऋजनोपानन्दप्रकामक्रीधलोभमोहहर्षनृत्यगीतपरिवादन-  
भवानि' इति ब्रह्मचारिप्रकरणोक्ताविरुद्धधर्मप्राप्त्यर्थम् । अत एव ब्रह्म—  
'स्थानवीरासनी मौनी मौञ्जी दण्डरुमण्डलुः । भिक्षाचर्याग्निकार्यं च  
कूप्याण्डीभिः सदा जपः ॥' इति, तस्य भवेदिति शेषः । अत्र सवनेपूदक-  
स्पर्शांति स्नानविधानात्तद्भूतमन्त्रादिप्राप्तिरप्यवगम्यते ; तथा 'शुचिना कर्म  
कर्तव्य'मित्यस्य सर्वकर्मसोधारणत्वाद् व्रतधर्याङ्गभूतशीचसंपत्त्यर्थं स्नानवत्संध्यो-  
पासनमपि कार्यम् । तस्यापि शौचापादानद्वारेण सर्वकर्मशेषत्वात् । तथा च  
द्वयः—'संघ्याहीनोऽशुचिर्निश्चमनर्हः सर्वकर्मसु । यत्किञ्चिक्ुरुते कर्म न तस्य  
फलभाग्भवेत् ॥' इति । न च 'द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्' इति वचनात्  
संध्योपासनायाश्च द्विजातिकर्मत्वाद्प्राप्तिरिति शङ्कनीयम् । यस्यापत्तिरस्यैव  
व्रतधर्यापदेशात्तद्भूतयैव संध्योपासनादिप्राप्तिः । अतो 'द्विजातीनामभ्ययनमिग्या  
दान ब्राह्मणस्याधिकाः प्रयत्नयाजनमनिग्रहाः' इत्यादीनामेव द्विजातिकर्मणां  
व्रतधर्याङ्गभूतानां हानिर्न सर्वेषाम् ; तावन्माप्रथाधेन हानियत्नस्य चरितार्थ-  
त्वात् । इयं च मनुयाञ्जवत्सयज्ञीतमादिप्रतिपादिता द्वादशवार्षिकमनचर्यकैव  
न पुनर्भिन्ना । परस्परसापेक्षत्वाद्विरोधाच्च । तथा हि—भिक्षाशी कर्म वेद्य-  
वियुक्ते किं भिक्षापात्र केषां वा गृहेषु कतिपु येषोऽकाङ्क्षा जायेतैव । तत्र  
'ओहितकेन सण्डनाशयेण' ( ११२४१४ ) इत्यावस्तम्भादिउच्यतेः परिपूर्णम-  
विरुद्धम् । अतः सर्वैरेकवचनोपदेशात्कैश्चिदुक्त मनुगौतमाशुक्तेतिकर्तव्यतायाः  
परस्परसापेक्षत्वेऽपि विकल्प इति तद्विरुद्धैवोक्तमिति मन्तव्यम् । इयं द्वादश-  
वर्षाणि व्रतधर्यामावर्षं ब्रह्महाः शुद्धिमाप्नुयात् । इयं चाकामहृतमह्ययधविपया  
( १११८९ )—'इयं विद्युदिरदिता प्रमात्स्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणधधे

१. संघतः पुमान् ।

२. भिक्षां चरेत् ।

३. स्रष्ट्वाद्भ्यानिः ।

४. स्थानासनाभ्याम् ।

५. साधारणस्मरणत्वात् ।



निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति मनुस्मरणात् । अत्रेदं चिन्तनीयम्—किं द्वित्रै-  
 ब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तस्य तन्त्रत्वमुतावृत्तिरिति । तत्र केचिन्मन्यन्ते ब्रह्महा-  
 द्वादशाब्दानोर्यत्र ब्रह्महाब्दस्यैकरिम्-द्वयोर्वहुषु साधारणत्वादेकरिम्ब्राह्मणवधे  
 यत्प्रायश्चित्तं तदेव द्वितीये मृतीदेऽपि । तत्रैकब्राह्मणवधनिमित्तैकप्रायश्चित्तानुष्ठाने  
 सतीदं कृत्वा नैति न शक्यते वक्तुम् । देशकालकर्तृणां प्रयोगानुबन्धभूता-  
 नामभेदेनागृह्यमाणविशेषत्वात्तन्त्रानुष्ठानेनैव पापक्षयलक्षणकार्यनिष्पत्तियुक्ता ।  
 यथा तन्त्रानुष्ठितैः प्रयाजादिभिराग्नेयादिषु तन्त्रेणैवानेकोपकारलक्षणकार्याणां  
 निष्पत्तिः । नचैव वाच्यम् 'द्वित्रैब्राह्मणवधे पापस्य गुरुत्वादेनसि गुरुणि गुरुणि  
 लघुनि लघूनि' (१९।१९) इति, गौतमवचनादावृत्तमेव प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तम्,  
 विलक्षणकार्ययोस्तन्त्रेण निष्पत्त्यनुपपत्तेरिति । यतो नेदं वचनमावृत्तिविधायकं  
 कृत्युपदिष्टानां गुरुलघुकल्पानां व्यवस्थाप्रतिपादनपरम् । नच द्वितीयब्राह्मणवधे  
 पापस्य गुरुत्व, प्रमाणाभावात् । यच्च मनुदेवलाभ्यामुक्तम्—'विधेः प्राथमिकाद्  
 रमाद् द्वितीये द्विगुणं भवेत् । तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥'  
 इति,—तदपि 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकंशास्त्रमावर्तते' इति न्यायेन, द्वित्रब्राह्मणव-  
 धगोचरनैमित्तिकशास्त्रानुष्ठानप्रनुपादेन चतुर्थं तदभावविधिपरम्, न पुनर्द्वितीय-  
 ब्रह्मणवधे प्रायश्चित्तानुष्ठानद्वैगुण्यविधिपरमपि, वाक्यभेदप्रसगात् । तस्माद् द्वित्रब्रा-  
 ह्मणवधेऽपि सकृदेव द्वादशनार्षिकानुष्ठानं युक्तम्, यथा अग्नये चामवते पुरो-  
 दाशमष्टाकपालं निर्वपे'दित्यादिगृहदाहादिनिमित्तेषु चोदितानां चामवत्यादीनां  
 युगपदनक्षत्रपि गृहदाहादिनिमित्तेषु सकृदेवानुष्ठानम् । अत्रोच्यते—'नहि वचन-  
 विराधे न्यायः प्रभवति । वचनं च विधेः प्राथमिकादित्यादिकं द्वित्रब्राह्मणवधे  
 प्रायश्चित्तानुष्ठानावृत्तिविधिपरम् । एव सति न्यायलभ्यतन्त्रानुष्ठानवाधेनावृत्ति-  
 विधाविदं वचनं प्रवृत्तिविशेषकरं स्यात् । इतरथा शास्त्रतः प्राप्यनुवादकत्वेना-  
 नर्थकं स्यात् । नच वाक्यभेदः । चतुर्थादिवह्नवधपर्युदासेनेतरब्राह्मणप्रायश्चित्तं  
 विधानेनैकार्थत्वात् । किंच, 'चतुर्थं नास्ति निष्कृतिरिति लिङ्गदर्शनाद्धन्यमान-  
 ब्राह्मणसंख्योक्तं दोषगौरव गम्यते । तथा देवलादिवचनाच्च 'यस्यादनभि-  
 संधाय पापं कर्मं सकृत्कृतम् । तस्येयं निष्कृतिर्दृष्टा धर्मविद्विर्मनीपिभिः ॥'  
 इति । नच विलक्षणयोगुरुलघुदोषयोः क्षयस्तन्त्रेण निष्पद्यते । अत एवविधेषु  
 दोषगुरुत्वेन कार्यवैलक्षण्यादपि प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकस्यावृत्तियुक्ता । चामव-  
 त्यादिषु पुनः कार्यस्यावैलक्षण्याद्युक्तस्तन्त्रभावे ह्यलक्ष्येन । यच्चेदं 'चतुर्थं  
 नास्ति निष्कृतिरिति, तदपि महापातकविषयम्, पापस्यातिगुरुत्वेन प्रायश्चित्त-  
 भावप्रतिपादनपरत्वात् । अतः शुद्धाजसैवनादीं बहूशोऽप्यभ्यस्यते तदनुगुणमाय

१. किं तत्र द्वित्रब्राह्मणवधे । २. द्वित्रब्राह्मण । ३. द्विगुणं चरेत् ।  
 ४. नैमित्तिकमावर्तते । ५. परममिति । परमेव । ६. वृत्तिप्रायश्चित्तं

शिक्षावृत्ति कल्पनीया, न पुन प्रायश्चित्ताभाव । अत एवोक्तं मनुना ( ११। १४० )—'पूर्णे चानस्यनरथ्ना तु शूद्रदश्यामत चरेत्' इति । इदं च द्वादश-  
वार्षिकं व्रतं साक्षाद्भन्तुरेव, ब्रह्महेति तस्यैवाभिधानात् । अनुग्राहकप्रयोजकादेस्तु  
तत्तद्दोषानुसारेण प्रायश्चित्ततारतम्यं कल्पनीयम् । तत्रानुग्राहको यथाप्रायश्चित्तभाज  
पुरुषमनुगृह्णाति स तत्प्रायश्चित्तं पादो न कुर्यात् । अतस्तस्य द्वादशवार्षिकं पादो न  
नववार्षिकं प्रयोजकसत्त्वो न षड्वार्षिकं कुर्यात् । अनुमन्ता पुन सार्धपादं सार्धं  
चतुर्वार्षिकं निमित्तीत्येकपादं त्रिवार्षिकम् । अत एव सुमन्तु —'निरस्कृतो यदा  
विप्रो दृष्ट्वाऽऽत्मानं मृतो यदि । निर्गुणं साहसात्क्रोधाद् गृह्येन्नदिकारणात् ॥  
त्रैवार्षिकं व्रतं कुर्यात्प्रतिलोमा सरस्वतीम् । गच्छेद्वाऽपि विशुद्धवर्षं तस्यापस्येति  
निश्चितम् ॥ अथयं निर्गुणो विप्रो एवार्थं निर्गुणोपरि । क्रोधाद्द्विं श्रियते यस्तु  
निर्निमित्तं तु मर्त्सित । वस्त्रत्रितयं कुर्यात्तरं कृच्छ्रं विशुद्धये ॥' इति । यदा  
पुनर्निमित्तस्य न्तगुणवान् आरमघाती चारयन्तनिर्गुणस्तद्वैकवर्षमेव ब्रह्मदश्याव्रतं  
कुर्यात्, केनश्मथुनखादीनां कृत्वा तु वपनं वने । ब्रह्मवर्षं चान्विवा व्रतं पणिकेन  
शुद्धयति ॥' इति तेनैवोक्त्वात् ॥ अनयैव दिक्षाऽनुग्राहकप्रयोजकादीनां यऽनु-  
ग्राहकप्रयोजकादयस्तेषामपि प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । अस्यां च कल्पनायां प्रयोचयि-  
ताऽनुमन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मि-  
न्कलविशेषः' (२।२९।१) इत्यापस्तम्बीय उच्यते मूलम् । तथा प्रोत्साहकादीनां  
मपि षण्डप्रायश्चित्ते कल्प्ये । यथाह पैटीनसि —'हन्ता म तोपदेष्टा च तथा सप्रति-  
पादकः । प्रोत्साहकः सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः ॥ आश्रयः गच्छदाता च  
भक्तदाता विकर्मिणाम् । उपेक्षकः शक्तिभाक्षेक्षोपवक्ताऽनुमोदकः ॥ अकार्यकारि-  
णस्तेषां प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् । यथाशक्त्यनुरूपं च षण्डं चैवा प्रकल्पयेत् ॥'  
इति । तथा बालवृद्धादीनां साक्षात्कर्तृवैश्याधर्ममेव 'अशीतिवर्षं वर्षाणि बालो  
घाऽप्यूनषोडश । प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च ॥' इत्यद्विर स्मरणात् ।  
तथा सुमन्तु —'अथोक्तु द्वादशाक्षर्यादशातेरुर्वमेव वा । अर्धमेव भवेत्पुसां  
सुरीय नत्र योषिताम् ॥' इति ॥ तथाऽनुपनीतस्यापि बालकस्य पादमात्रमेव  
प्रायश्चित्तम्, 'स्त्रीणामर्धं ब्रह्मव्रतं वृद्धानां रोगिणां तथा । पादो बालेषु दातव्य  
सर्वपापेष्वप्येव विधिः ॥' इति विष्णुस्मरणात् । अतश्च यस्मिन्नेन—ऊनैकादशव-  
र्षेण षड्वर्षपर्यन्तं च । प्रायश्चित्तं चरेद् भ्राता पिता वाऽप्य सुह-  
जनः ॥' इति प्रतिपाद्योक्तम्,—'अतो बालतरस्यास्य नानुपनीतो न पातकम् ।  
राजदण्डो न सारथास्तं प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति,—तदपिसंपूर्णं प्रायश्चित्त-  
भावप्रतिपादनपरं, न पुन सर्वान्मना तदभावप्रतिपादनपरम् । अत्रमत्रिशेष  
निरपेक्षेण ध्रुवमाणेषु 'प्राज्ञो न हन्तव्यः' तस्माद् प्राज्ञगणान्यौघैरपश्य न सुरां

पिबेत्' इत्येवमादिष्वनपेक्षितवयोविशेषस्यैवाधिकारात् । अतश्च तदीयमपि प्राय-  
श्चित्त पित्रादिभिरेवाचरणायम्, 'पुत्रानुप्राप्य सकृत्वे वेदमध्याप्य वृत्ति विदध्यात्'  
इति तस्यैव पुत्रादिदिनाचरणेऽधिकृतत्वात् । यत्र पुन कस्मिंश्चिद् ब्रह्मवधे प्रयो-  
जकभावमापन्नस्यान्यस्मिन्साक्षात्कर्तृत्वे गुरुलघुप्रायश्चित्तसंपातस्तत्र द्वादशवार्षि-  
कादिगुरुप्रायश्चित्तान्त पातिन प्रयोजकसवन्धिघलघुप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्कार्यसिद्धि ।  
नचैव सरयविशेषाल्लघुकल्पेन महतोऽपि सिद्धि स्यादित्याशङ्कनीयम् । अत्र  
ह्यन्त पातितयाऽनुष्ठान विशेषानवगमात्प्रसङ्गात्कार्यसिद्धिरैवगम्यते । नच लघ्व-  
न्त पाती महाकण्ड इति कुत प्रसङ्गाशङ्का ? नच चैत्रवधजनितकर्मपक्षयार्थ-  
मनुष्ठितन कथ विष्णुमित्रवधोरथाद्यपापनिवृत्तिरिति वाच्यम्, चैत्राशुदेशस्या-  
तन्प्रशत् । अतो यथा काम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थं स्वगार्थं वाऽनुष्ठितैराग्नेयादिभि  
नित्यनियोगनिष्पत्तिस्तद्ब्रह्मघुप्रायश्चित्तस्यापि कार्यसिद्धि । यत्पुनर्मध्यमाद्भिरोव-  
धनम्— गवां सहस्र विधिवशपात्रेभ्य प्रतिपादयेत् । ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपा-  
त्रेभ्य एव च ॥'इति,—तत्सवनस्थगुणवद्ब्राह्मणविषयम् । एतच्च 'द्विगुण सवनस्थे  
तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत्' इत्येतद्वाक्यविहितद्विगुणद्वादशवार्षिकव्रतचर्याशक्तस्य  
वेदितव्यम्, प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात् । न त्वनावृत्तद्वादशवार्षिकविषयम् । तत्र हि  
द्वादशदिनान्पकेकप्राजापर्यमिति गणनायां प्राजापर्यानां षष्ट्यधिकशतत्रय  
भवति । यद्यपि प्राजापर्यस्यान्ते ष्यहमुपवासोऽधिकस्तथाऽप्यत्र वनवासजटाधारण-  
चम्याहारस्वादिरूपेणतपोविशेषयुक्तत्वादुपवासभावेऽप्येकैकरस्य द्वादशाहस्य प्राजा-  
पर्यतुष्ट्याशम् । तत्रैव 'प्राजापर्यक्रियाशक्ती धेनु दद्याद्विचक्षण । गवामभावे  
दातव्य तन्मूख्य वा न सशय ॥' इत्यनेन न्यायेन प्रतिप्राजापर्यमेकैकरस्यां  
धेनवा दीयम नायां धेनूनामपि षष्ट्यधिक शतत्रय भवति, न पुन सहस्रम् ।  
अतो यथाक् एव विषयो युक्त । यदपि शङ्कवचनम्—'पूर्ववदमतिपूर्वं चतुर्षु  
वर्षेषु विप्र प्रमाप्य द्वादशवश्वरान्पट् त्री-सार्धं सवत्सर च व्रतान्यादिशेत्तेषामग्नौ  
गोमहस्र तदर्धं तस्यार्धं तदर्धं च दद्यात्सर्वेषां वर्गानामानुपूर्व्येणे'ति द्वादशवार्षि-  
कगोमहस्रधो समुपवधिधिर्वर, तदाचार्यादिहननविषय द्रष्टव्यम्; तस्यातिगुरु  
त्वात् । तथा च दश —'सममद्राहणे दान द्विगुण ब्राह्मणशुभे । आचार्ये षातसाहस्र  
धोत्रिये दत्तमक्षयम् ॥' इति प्रतिपाद्योक्तवान्—'सम द्विगुणसाहस्रमानस्य च  
यथाक्रमम् । दाने फलविशेष स्याद्विसायां तद्देव हि ॥' इति । तथाऽऽपस्तम्बे  
न (१।२।४।२४) द्वादशवार्षिकमुक्त्वोक्तस्मिन्नेव विषये—'गुरु इत्वा धोत्रिय  
या एवदेव व्रतमोक्तमादु-द्धासाचधरेत्' इति, तत्र यावज्जीवमावर्तमाने व्रते यदा

१ पुत्रदिताचरणे । २ प्रयोजकाभावापत्त । ३ सिद्धिरुच्यते ।

४ मनुष्टेयेन । ५ रूपतया विशेष ६ समुपवधपरम् । ७ योक्तत्वात् ।

त्रैगुण्यं चानुगुण्यं वा संभाव्यते तदा तत्राऽसमर्थस्य बहुधनस्यायं दानतपलोः  
समुच्चयो द्रष्टव्यः । द्वादशवार्षिकव्यतिरिक्तानां तु सुमन्तुपराशाराद्युक्तानां प्राय-  
श्चित्तानामुत्तरत्र व्यवस्थां वक्ष्यामः । ननु द्वादशवार्षिकादिकल्पानां व्यवस्था  
कुतोऽवसिता ? न तावद् द्वादशवार्षिकादिविधायकव्यवैरिति युक्तम्; तत्रापीतिः ।  
नच वाच्यं प्रमाणवगतगुरुलघुकल्पानां बाधो मा प्रसाह्योदिति व्यवस्था कल्प्यत  
इति । विकल्पसमुच्चयाद्वाद्भिभावानामन्वयमाश्रयेतापि यावत् सुपरिहरत्वा-  
त् । अत्रोच्यते—न तावद् द्वादशवार्षिकसेतुदर्शनादीनां विषयकल्पानां विकल्पो-  
ऽवकल्प्यते; विकल्पाश्रयेण गुरुकल्पानामनुष्ठानानभवेनानर्थन्यप्रसङ्गात् । नच  
षोडशप्रहणाग्रहणवद्विषययोरपि विकल्पोपपत्तिरिति वाच्यम् । यतस्तत्रापि  
सति संभवे ग्रहणमेवेति युक्तं कल्पयितुम् । यद्वा षोडशप्रहणानुगृहीतेनाति-  
रात्रेण क्षिप्तं स्वर्गादिसिद्धिरनिश्चितस्य वा स्वर्गस्थेति कल्पनीयम् ।  
इतरथा ग्रहणविधेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । नापि समुच्चयः । उपदेशातिदेशप्राप्ति-  
मन्तरेण समुच्चयो न संभवति; उपदेशाद्यतनैरपेक्ष्यस्य बाधप्रसङ्गात् । तथा-  
द्वाद्भिभावः, ध्रुव्यादिविनियोजकानामभावात् । श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्यान-  
समाख्यानं विनियोजकानि । अतः परस्परपदमर्दपरीहारार्थं विषयव्यवस्थाक-  
ल्पनैवोचिता । सा च जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया कल्पनीया, 'जातिशक्तिगुणाद्येवं  
सहृद् बुद्धिर्जनं तथा । अनुबन्धादिविज्ञाय प्रापञ्चित प्रकल्पयेत् ॥' इति देवल-  
स्मरणेण ॥ २४३ ॥

भाष्य—ग्राहण की हत्या करने वाला महापातकी ( उसी हन ग्राहण  
के ) सिर की छोपड़ी हाथ में लेकर और दूसरी छोपड़ी शाय के हदे के  
ऊपर धोपकर, अपने किये हुए कर्म की सबसे बलाते हुए भक्ष्य भोजन करते  
हुए बारह वर्ष स्वर्गात् करने पर शुद्ध होता है ॥ २४३ ॥

पूर्वोक्तस्य ब्रह्महत्यादिप्रापञ्चितस्य नैमित्तिकसमोत्पद्यधिमाह—

ग्राहणस्य परिश्रानाद्गर्वा द्वादशकस्य च ।

तथाऽश्वमेधाद्यभुक्षस्तानाद्वा शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४४ ॥

यश्चैतन्प्रादिभिर्भ्यावाप्तमानस्य ब्राह्मणस्यैकस्याप्यसप्तप्राणानन्तरे कृत्वा  
प्राणप्राणं करोति गर्वा द्वादशकस्याभावसंपूर्णोऽपि द्वादशवार्षिके शुद्धयेत् ।  
यद्यपि प्राणप्राणे प्रवृत्तस्तददृष्टैव श्रियते तथाऽपि शुद्धयेत्वेव । अत एव मनुना  
( ११।७९ )—'ग्राहणार्थं गयार्थं वा सद्यः प्राणापरिपत्रन् । मुखने ब्रह्म-  
हत्याया गोहा गोमार्दणस्य च ॥' इति । ग्राहणरक्षण तदर्थं मरणं च पृथगुपा-  
त्तम् । तथा परकीयाद्यभेदावमृषाद्येवमार्द्वभूतस्नायसमये स्वयमपि स्नात्वा  
ब्रह्महत्यायाः शुद्धिं प्राप्नुयात् । स्नानं च त्रैलोक्यं विषयाप्य कुर्यात् । तथा

१. समरथाधि । २. कल्प कर्मपूर्णाऽपि । ३. स्नाने च ।

च मनु ( ११।८९ )—‘शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽव-  
भृथे स्नात्वा हयमेधे विमुच्यते ॥’ इति । भूमिदेवा ब्राह्मणा ऋषिजस्तेषां राज्ञा  
नरदेवेन यजमानेन राज्ञा समवाये स्वीयमेन. शिष्ट्वा विष्यात्पारवमेधाव-  
भृथे स्नात्वा शुद्धयति यदि तैरनुज्ञातो भवति, ‘अश्वमेधाभृथ गत्वा तत्रानु-  
ज्ञात स्नात सद्य पूतो भवति’ इति शङ्खस्मरणात् । अश्वमेधावभृथप्रहणम-  
ग्निष्टुम्भ्याना पञ्चदशरात्रादिक्रमन्तराणामग्निष्टुस्समाप्तिकान्ता च सर्वमेधादी-  
नामुपलक्षणम् । ‘अश्वमेधावभृथे वाऽन्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेत्’ ( २३।९, १० )  
इति गौतमस्मरणात् । अथ च प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य कथञ्चिद्ब्राह्मणप्राणत्रा-  
णादिक कुर्वतो व्रतसमाप्त्यवधिरुच्यते । यथा सारस्वते सत्रे प्लास्य प्रखण्डण  
प्राप्तोत्थानभृथभैकशतानां वा गवां ब्रह्मसमावे सर्वस्वदान गृहपतिमरणे  
चेति । न पुन. स्वतन्त्र प्रायश्चित्तान्तरम् । तथाच शङ्ख —‘द्वादशे वर्षे शुद्धि-  
प्राप्तारत्यन्तरं वा ब्राह्मण मोर्चयित्वा, गवां द्वादशानां परित्राणारसद्य एवाश्व-  
मेधावभृथस्नानाद्वा पूतो भवति’ इति । अत एव मनुना ( ११।७८ —‘कृत्वा-  
वापनो वा निवसेत्’ इति द्वादशवार्षिकस्य गुणविधि प्रक्रम्य ( ११।७९ )—  
‘ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्य. प्राणान्परित्यजन् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्वा-  
हणस्य च ॥’ इत्यादिना मध्ये ब्राह्मणप्राणादिकमभिधाय ( ११।८१ )—‘एव  
ददप्रतो नित्य ब्रह्मचारी समाहित । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्या व्यपोदति ॥’  
इति द्वादशवार्षिकमेवोपसद्वतम् । ननु ब्रह्महत्याया शुद्धिमाप्नुयादिति ब्राह्म-  
णप्राणादीना द्वादशवार्षिकेण सदैकफलत्वावगमात्स्वातन्त्र्यमेव युक्तं न पुनर-  
ङ्गत्वम्, किञ्च प्रधानविरोधित्वावपि नाङ्गत्वम् । प्रधानानुमाहक अङ्ग भवति ।  
नच प्रारब्धद्वादशवार्षिकस्येद विधानम् । येन तरकार्ये विधानं गम्यते । यथा  
‘सत्रायावगूर्यं विश्वजिता यजेत’ इति सत्रप्रयोगप्रवृत्तस्य तत्परिसमापनात्तमस्य  
विश्वजिद्विधानमतोऽपि स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । यथाऽग्निप्रवेशलक्ष्यभावादीनाम् ।  
नच तेषामपि द्वादशवार्षिकोपक्रमोपसहारमध्यपठितत्वेन तदङ्गत्वमिति शङ्कनी-  
यम् । यत् सत्यपि मध्यपाठे निज्ञातप्रयोजनत्वेन प्रयोजनाकाङ्क्षाविरहात् पर-  
स्परमङ्गाङ्गत्व युक्तम् । यथा सामिधेनीप्रकरणमध्यवैर्तिनां निर्विषदानामग्नि  
सामिधेनप्रकाशत्वेन सामिधेनीभि सदैककार्याणां न सामिधेन्यङ्गत्वम् । न  
चैकान्ततोऽग्निप्रवेशादीनां द्वादशवार्षिकमध्ये पाठ विधिगौतमादिभिरपि द्वाद-  
शवार्षिकप्रकमात्प्रमेव पठितत्वात् । इदमेव स्वातन्त्र्य प्रकटयितु मनुना ( ११।  
७३ )—‘लक्ष्यं ज्ञेयभृतां वा स्यात्’ ‘प्रास्येदात्मानमग्नौ वा’ इति प्रतिवाक्य

१ विशुद्धयति । २ स्नात्वा शुद्धयेत् । ३ सर्वस्वजान्यां, सर्वस्व-  
याग्याऽयाम् । ४. भोजयित्वा । ५. वर्तिनामग्निविदानग्नि ।

'वा'शब्दः पठितः । तथा प्रतिप्रायश्चित्तमेवोपसंहृतम्—'अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मशुद्धये ॥' ( मनुः ११।८६ ) इति । अतोऽग्निप्रवेशादीनां स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । अतश्च ब्राह्मण-  
त्राणादेश्चैकफलत्वात्प्राणत्वमिति । उच्यते,—परिहृतमेतद् 'अन्तरा ब्राह्मणं मोचयिष्ये'त्यादिना शङ्खवचनेनाह्मत्वावगमात् । अङ्गरस्यैव मृतः प्रधानद्वारेण फलसंबन्धः । न च प्रधानविरोधः पतो ब्राह्मणत्राणावधिकस्यैव प्रतानुष्ठानस्य फलसाधनत्वं विधीयत इति न विरोधः ॥ २४४ ॥

भाषा—( व्याघ्र आदि द्वारा मारे जाते हुए ) किसी ब्राह्मण का प्राण बचाने, अथवा चारह मासों की प्राणरक्षा करने पर तथा अश्वमेधयज्ञ में अवभृथ स्नान करने पर ( चारह वर्ष के पहले भी ) ब्रह्महत्या के दोष से शुद्ध हो जाता है ॥ २४४ ॥

दीर्घतीव्रामयप्रस्तं ब्राह्मणं गामथापि वा ।

दृष्ट्वा पथि निरातङ्गं कृत्वा तुं ब्रह्महा शुचिः ॥ २४५ ॥

किञ्च, दीर्घेण बहुकालव्यापिना तीव्रेण दुःसहेनामयेन कुष्ठादिभ्याधिना प्रस्तं पीडितं ब्राह्मणं वा वा तथाविधां पथि दृष्ट्वा निरातङ्गं नीरङ्गं कृत्वा ब्रह्महा शुचिर्भवति । ननु 'ब्राह्मणस्य परित्राणाद्' ( प्रा० २४४ ) इत्यत्र यदुक्तं ब्राह्मण-  
रक्षणं तदेव विमर्षं पुनरुच्यते—'ब्राह्मणं गामथापि वा' इति ? सत्यमेवम् ; किन्वात्मप्राणपरित्यागेनाधस्तनवाक्ये ब्राह्मणरक्षणमुक्तमनुना पुनरीपधदानादि-  
नेति विशेषः । अमुनेवाभिप्रायेणोक्तं मनुना ( ११।८० )—'विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणलाभे विमुच्यते' इति ॥ २४५ ॥

भाषा—बहुत दिनों से किसी दुःसह रोग से पीड़ित ब्राह्मण को अथवा गौ को मार्ग में देखने पर उसको नीरोग करने पर भी ब्रह्महत्या का पापकी शुद्ध हो जाता है ॥ २४५ ॥

आनीय विप्रसर्वस्वं हृतं घातित एव वा ।

तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैर्जावन्नपि विशुद्ध्यति ॥ २४६ ॥

किञ्च, विप्रस्यापहतसर्वस्वनपावसीदतः संबन्धि द्रव्यं भूहिरण्यादिक चौरै-  
हृतं माकदयेनानीय रक्षणं यः करोति स विशुद्ध्यति । आनयने प्रवृत्तः स्वयं चौरैर्घातितो वा, यदि वा तन्निमित्तं ब्राह्मणस्यैस्वानयनार्थं तत्र सुष्य-  
मानः शस्त्रैः क्षतो मृतकक्षयो जीवन्नपि विशुद्ध्यति । 'शस्त्रैः' इति यदुच्यते तत्तद्व्यवहारप्रसङ्गम् । अत एव मनुना ( ११।८० )—'स्वैवरं प्रतिरोद्धा वा सर्व-  
स्वमवजिाव वा' इति 'स्वैवरं'प्रहणं कृतम् । एतस्य श्लोकेद्वयोक्तकक्षयव्यवहारस्य

ब्राह्मणरक्षणरूपस्थेनान्तरा वा 'ब्राह्मणं मोचयित्वा' इत्यनेन शङ्खवचनेन क्रोडी  
 कृतत्वाद् ब्राह्मणवापिक्समाप्यवधिरवेनेतरग्रहणे विनियोगात् स्वान्त्यम् ॥२४६॥

भाषा—किसी ब्राह्मण का छीना गया सभी धन अपहरणकर्ता से  
 ( युद्ध करके ) चोट ग्राहक भी छुड़ाकर छा देते हैं और उसके निमित्त शस्त्रों  
 से घायल होकर भी जीवित रहता है तो ब्रह्महत्या के पातक में शुद्ध हो  
 जाता है ॥ २४६ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्य स्वाहेत्येवं हि लोमप्रभृति वै तनुम् ।

मंजान्तां जुहुयाद्वाऽपि मन्त्रैरेभिर्यथाक्रमम् ॥ २४७ ॥

'लोमभ्य स्वाहा' इत्येवमादिभिर्मन्त्रैर्लोमप्रभृतिमज्जान्ता तनु जुहुयात् ।  
 'इति'शब्द करणत्वनिर्देशार्थं । 'एव'शब्द प्रकारसूचनार्थं । 'हि'शब्द स्मृत्य-  
 न्तरप्रसिद्धत्वगादीना प्रभृतिशब्देनाक्षिप्यमाणानां द्योतनार्थं । ततश्च लोमा-  
 दीनि होमद्रव्याणि चतुर्थ्यां निर्दिश्यन्ते स्वाहाकार पठित्वा तैर्मन्त्रैर्जुहुयात् ।  
 ते च हृद्यमानद्रव्याणां लोमस्वलोहितमांसमेद आश्वत्थिमज्जानामष्टसप्तत्वा-  
 दष्टौ मन्त्रा भवन्ति । तथा च वसिष्ठ — 'ब्रह्महृत्प्रिमुपसमाधाय जुहुवाहो-  
 मानि सृष्योर्जुहोमि लोमाभिमृत्यु वाशय' इति प्रथमाम् । १ । 'एव च सृष्यो-  
 र्जुहोमि एव च सृष्यु वाशय' इति द्वितीयाम् । २ । 'लोहित सृष्योर्जुहोमि लोहि-  
 तेन सृष्यु वाशय' इति तृतीयाम् । ३ । 'मांसानि सृष्योर्जुहोमि मांसैर्मृत्यु  
 वाशय' इति चतुर्थीम् । ४ । 'मेदो सृष्योर्जुहोमि मेदसा सृष्यु वाशय' इति  
 पञ्चमीम् । ५ । 'आयूनि सृष्योर्जुहोमि आयुभिर्मृत्यु वाशय' इति षष्ठीम् । ६ ।  
 'अश्वीनि सृष्योर्जुहोमि अश्विभिर्मृत्यु वाशय' इति सप्तमीम् । ७ । 'मज्जा  
 सृष्योर्जुहोमि मज्जाभिर्मृत्यु वाशय' इत्यष्टमीम् । ८ ॥' इति । अत्र च लोमप्र-  
 भृति तनु जुहुयादिति लोमादीनां होमद्रव्यस्वावगमाहोमभ्य स्वाहेति सत्यपि  
 चतुर्थीनिर्देशे लोमादीना न देवतात्वं कल्प्यते, द्रव्यप्रकाशनेनैव मन्त्राणां होम-  
 साधनत्वोपपत्तेः । किंतु 'लोमभिर्मृत्यु वाशय' इत्यादिवसिष्ठमन्त्रपर्यालोचनया  
 सृष्योरेव हवि सशब्दावगमाद्देवतात्वं कल्प्यते । अतश्च लोमादीनि सामर्थ्यात्स्व-  
 धितिनावदाय सृष्युहोनाष्टौ होमात्कृत्वाऽन्ते तनु प्रक्षिपेत् । अतो यस्मैश्चिदुक्त  
 मनादिदृष्टव्यत्वादाव्यहविका होमा इति,—तदतिरूप्यैवोक्तमित्युपेक्षणीयम् ।  
 जुहुयादित्यनेनाग्नौ सिद्धे भ्रूणहाग्निमुपसमाधायैति पुनरग्निग्रहण लौकिकाग्नि-  
 प्राप्तर्यम् । युक्त चैतत्, पतितानीनां प्रतिपत्तिविधानात्—'आहितानि रतु

१. स्वाहेति हि । २ मज्जा-तम् । ३ भ्रूणहाग्निम् ४ हविष्कामो होम इति ।

यो विप्रो महापातकभागभवेत् । प्रायश्चित्तैर्न शुद्धयेत् तदग्नीना तु का गति ॥  
 वैतान प्रसिदेत्तोये शालाग्निं शमयेद् वुध ॥ इत्युशन स्मरणात् । तथा—'महा  
 पातकमयुक्तो देवास्त्वाग्निमा-यदि । पुत्रादि पालयेदग्नीभ्युक्तश्चादोपसजयात् ॥  
 प्रायश्चित्तं न कुर्व्याद्य कुर्वन्वा म्रियते यदि । गृह्य निवार्ययेत्पूतमप्स्वस्येत्सपरि  
 च्छेदम् ॥' इति कार्त्त्यायनस्मरणात् । तनुप्रक्षेपश्चोत्थायोत्थाय त्रिरधोमुखेन कर्तं  
 व्य । यथाह मनु ( ११।७३ )—'प्रास्येदास्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्  
 शिरा' इति । गौतमनाप्यत्र विशेषो दर्शित ( २२।१,२ )—'प्रायश्चित्तमग्नी  
 सन्निपद्यन्नस्त्रिरवच्छातस्य' इति । अवच्छातस्य अन्नदानकर्मितकलेवरस्येत्यर्थं ।  
 तथा च काठकश्रुति—'अन्नदानेन कर्तितोऽग्निमारोहेत्' इति । इदं च मरणा  
 न्तिक प्रायश्चित्तं कामकारविषयम् । यथाह मध्यमाङ्गिरा—'प्राणान्तिक च  
 यत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः । तत्कामकारविषयं विशेषेण नात्र सशय ॥' इति ।  
 तथा—'य कामतो महापाप नर कुर्व्याकथञ्चन । न तस्य शुद्धिर्निर्दिष्टा  
 भृशवग्निपतनादतो ॥' इति । एतच्च प्रायश्चित्तं स्वतन्त्रमेव न ब्राह्मणप्राणादिवद्  
 द्वादशवार्षिकान्तर्भूतमित्युक्तं प्राक् ॥ २४७ ॥

भाष्या—अथवा 'लोमश्च स्वाहा' आदि मन्त्र से क्रमश लोम से लेकर  
 मज्जा तक ( लोम स्वचा, रक्त, मांस, मेदस्, रनायु, अस्थि, मज्जा ) अपने  
 नरीर का होम करे ( तो ब्रह्मक्षया के पाप से मुक्त हो जाता है ) ॥ २४७ ॥

संप्रामे वा हतो लक्ष्यभूत शुद्धिमवाप्नुयात् ।

मृतकरूप प्रहाराती जीवन्नपि विशुद्ध्यति ॥ २४८ ॥

किंच अथवा संप्रामे युद्धभूमिभयबलप्रेरितशरसपातस्थाने लक्ष्यभूतो  
 मृत शुद्धिमवाप्नुयात् । शादमर्मप्रहारजनिततीव्रवेदना मृतकस्यो मूर्च्छितो  
 जीवन्नपि विशुद्ध्यति । लक्ष्यभावश्च प्रायश्चित्तो अयमित्ययं विदुषो धनु  
 विद्याविश संप्रामे स्वच्छया कर्तव्यो न तु राज्ञा यत्कारयितव्य । यथाह  
 मनु ( ११।१७ )—'लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मन' इति । इदं  
 च मरणातिक्रमसाधारणं च त्रिपरस्य कामकारविषयम् । 'अपि'शब्दाद्धमे  
 आदिनाऽपि विशुद्ध्यति । यथाह मनुः ( ११।७४ )—'यजेत वाऽथमेधेन स्वर्जिता  
 गोमयन च । आभमिद्धिश्चजिज्ञया वा त्रिवृताऽग्निष्टुताऽपि वा ॥' इति । अथमेधा  
 नुष्ठानं सार्वभौमत्रिपरस्यैव ।—'यजेत वाऽथमधनं च त्रिपरतु महीपति' इति  
 पराशरस्मरणात्, 'नासार्वभौमो यजेत' इत्यसार्वभौमस्य प्रतिषेधदर्शनाच्च । इदं  
 चाथमेधानुष्ठानं सार्वभौमस्य कामकारकृते मरणान्तिकस्थानं द्रष्टव्यम्, 'महा  
 पातककर्तारश्चायारो मतिपूरकम् । अग्निं प्रविश्य शुद्ध्यन्ति स्थिवा वा मृदि



कनौ ॥' इति यमेन मरणकालारिणप्रवेशतुल्यतया महाकतोरथमेधस्य निर्दिष्ट-  
त्वात् । स्वर्जितादयश्च त्रैवर्णिकरयाहिताग्नेरिष्टप्रथमयज्ञस्य द्वादशवार्षिकेण सह  
विकल्पन्ते । नच स्वर्जिताद्यर्थमाधानं प्रथमयज्ञानुष्ठान वा कार्यम्; पतितस्य  
द्विजातिकर्मस्वन्धिकारात् । नच सधोपासनवदविरोध इति युक्तम्; आधा-  
नादेरत्तरक्तनुशेषरवाभावात् । ते च दक्षिणान्यूनाधिक्याध्ववशेन द्वादशवार्षिका-  
घटेषु साक्षाद्गन्त्रादिषु ध्यवस्थापनीयाः ॥ २४८ ॥

भाषा—अथवा युद्ध भूमि में ( दोनों पक्षों से बाण चलते रहने पर  
बीच में गड़ा होकर ) बाणों का लक्ष्य होकर मर जाने पर शुद्ध होता है;  
कठिन प्रहार की वेदना से घायल होकर जीवित रहने पर भी वह ब्रह्महत्या  
के पाप से मुक्त हो जाता है ॥ २४८ ॥

अरण्ये नियतो जप्त्वा त्रिंशं वेदस्य संहिताम् ।

शुद्ध्येत वा मिताशित्वाप्रतिस्त्रोतः सरस्वतीम् ॥ २४९ ॥

किंच, अरण्ये निर्जनप्रदेशे नियतो नियताहारः—'अपेद्वा नियताहारः'  
( ११।७७ ) इति मनुस्मरणात् । शिवार मन्त्रग्राह्यगारमकं वेद जपित्वा  
शुद्ध्यति । 'संहिता'ग्रहण पदक्रमशुदासार्थम् । यद्वा मिताशनो भूत्वा प्लाशात्  
प्रस्रवणादारम्य पश्चिमोदधे, प्रतिस्त्रोत, स्त्रोत स्त्रोत, प्रति सरस्वती इत्वा गत्वा  
विशुद्ध्यति । अशन च हविष्येण कार्यम्—'हविष्यभुक्त्वाऽनुचरेःप्रतिस्त्रोतः सर-  
स्वतीम्' ( ११।७७ ) इति मनुस्मरणात् । अयं च वेदजपो विदुषो ह्यनुर्निर्घं  
नरथायन्तगुणवतो निर्गुणव्यापादने प्रमादकृते द्रष्टव्यः । सरस्वतीगमनं तु तादृश  
पुत्र विषये विद्याविरहिणो द्रष्टव्यम् । निर्मित्तनश्च—'तिरस्कृतो यदा विप्रो  
निर्गुणो अयते यदि' इति सुमन्नुवचनस्य दर्शितत्वात् । यत्पुनर्मनुवचनम्  
( ११।७५ )—'जपित्वाऽन्यतम वेदं योजनाना शत वजेत्' इति तदपि 'अरण्ये  
नियतो जप्त्वा' इत्येतस्यैव विपयेऽशक्तस्य द्रष्टव्यम् ॥ २४९ ॥

भाषा—निर्जन स्थान में परिमित भोजन करता हुआ तीन बार सम्पूर्ण  
वेदों की संहिता का जप करने पर अथवा अज्ञाहार करते हुए सरस्वती  
नदी के किनारे-किनारे पश्चिम समुद्र तक जाने पर शुद्ध होता है ॥ २४९ ॥

पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात् ।

आदातुश्च विशुद्ध्यर्थमिष्टिर्वैश्वानरी स्मृता ॥ २५० ॥

किंच, 'न विद्यया केवलया' ( भा० २०० ) इत्याद्युक्तलक्षणे पात्रे गोभू-  
हिरण्यादिकं जीवनपर्याप्तं समर्थं धनं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात् । तद्धनं यः प्रति-

१. द्वादशवार्षिकपञ्चवार्षिकत्रैवार्षिकादिषु साक्षाद्गन्त्रादिषु । २ शुष्य-  
स्यथ मिताशी वा ।

क्षिगुणाद्येसुया प्रागुक्तवद् व्यवस्था वेदितव्या । एवं गर्भवधादिपि । मरणान्तक  
 तु नातिदिश्यत, व्रतग्रहणात् । अतः कामतो यागस्यसुत्रियादिवधे व्रतस्यैव  
 द्वैगुण्यम् । एतच्च व्रत सपूर्णमेव कर्तव्यम्,—‘पूर्वयोर्घर्णयोर्वेदाध्यायिन हार्या’  
 (धर्म १।२४, ६, ५) इति प्रदग्नापस्तम्बेन द्वादशवार्षिकाभिधानात् । गर्भं च  
 विज्ञामु समूत हार्या यथाघर्णं यद्द्वर्णपुरुषवधे यत्प्रायश्चित्तमुक्त तद्द्वर्णगर्भवधे  
 तच्छरेत् । एतच्चानुपजातस्त्रीपुनपुनकथञ्जनागर्भविषयम्, ‘हार्या गर्भमविज्ञातम्  
 (१।१।८७) इति मानवे विशेषदर्शनात् । अत्र च यद्यपि ब्राह्मणगर्भस्य ब्राह्मणत्वा  
 देव तद्वधनिमित्तव्रतप्राप्तिस्तथाऽपि स्त्रीत्वस्यापि सभवात्—‘स्त्रीशूद्रविट्पत्र  
 वध—’ (प्रा० २३६) इत्युपपातकत्वेन तत्प्रायश्चित्तप्राप्तिरपि स्यात्, अतः स्त्रीपुन-  
 पुनकार्येनाविज्ञातेऽपि ब्राह्मणगर्भत्वमात्रप्रयुक्त ‘ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यात्’ इत्यर्थवद्  
 तिदेशवचनम् । उपजाते स्त्रीपुसादिविशेष्यजने यथावधमेव प्रायश्चित्तम् ।  
 यश्चात्रेय्या निपूदको व्यापादक सोऽपि तथा व्रतं चरेत् । हन्यमानात्रेयीवर्णानु-  
 रूपं व्रतं चरेदित्यर्थः । आत्रेयी शब्देनर्गुमस्युच्यते ‘रजश्वला मृतुञ्जातामात्रेयीमा  
 दुर्यग्र ह्येनदपाय भवति’ इति वसिष्ठस्मरणात् । अत्रिगोत्रजा च ।—‘अत्रिगोत्रा  
 वा नारीम्’ (५०।९) इति विष्णुस्मरणात् । एतदुक्तं भवति ब्राह्मणगर्भवधे  
 ब्राह्मणवात्रेयीवधे च ब्रह्महत्याव्रतम् । अत्रिगर्भवधे अत्रिवात्रेयीवधे च अत्रहत्या-  
 व्रतम्, एवम-यत्रापीति । ‘च’शब्दात्साक्ष्ये अनृतवचनादिपि । तथाह मनु  
 ( १।१।८८ )— उक्त्वा चैवानृत साक्ष्ये प्रतिरूप्य गुरु तथा । अपहृत्य च निक्षेप  
 कृत्वा च स्त्रीमुहद्वयम् ॥’ इति । यत्र व्यवहारे असत्यवचनेन प्राणिनां वधप्रा-  
 प्तिरनद्विषयमेतत्, प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात् । प्रतिरोधं क्रोधावेशः । निक्षेपश्च  
 ब्राह्मणसवधी । स्त्री चाहिताग्निभार्या पतित्यतात्वादिगुणयुक्तोच्यते सवनस्था च ।  
 यथाहाद्विरा—‘आहिताग्नेद्विजाप्रपस्य इत्वा पत्नीमनिन्दिताम् । ब्रह्महत्याव्रत  
 कुर्यादात्रेयीव्रतस्तथैव च ॥’ इति । ‘सवनस्था स्त्रिय हत्वा ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ॥’  
 इति पराशरस्मरणात् । एव च सवनस्याग्निहोत्रिण्यात्रेयीवधे ब्रह्महत्याप्रायश्चि-  
 तातिदेशात्तद्वधतिरिक्तस्त्रीवधस्य ‘स्त्रीशूद्रविट्पत्रवध’ (प्रा० २३६) इत्युपपातक  
 मध्यपाठादुपपातकत्वमेव ॥ ननु ‘ब्राह्मणो न हन्तव्य’ इत्यत्र निषेधेऽनुपादेयगत-  
 त्वेन लिङ्गवचनयोरवि-चित्तत्वाद् ब्राह्मणजातेश्च स्त्रीपुसयोरविशेषात्तदतिश्रमनिमि-  
 त्तप्रायश्चित्तविधे— ब्रह्महा द्वादशाब्दानि’ (प्रा० २४३) इत्यस्योभयत्र प्राहत्वा-  
 रिकमर्थं ‘तथात्रेयीनिपूदक’ इत्यतिदेशवचनम् ? उच्यते,—सत्यपि ब्राह्मणत्वेऽ  
 नात्रेय्या वधस्य च महापातकप्रायश्चित्तनिराकरणार्थमतस्तस्यापि पातकमध्यपा-  
 ठादुपपातकप्रायश्चित्तमेव । आतिदेशिकेषु च प्रायश्चित्तस्यैवातिदेशा न पातित्य-  
 स्य । अतः पतितस्यागादिकार्यमत्र न भवति ॥ २५१ ॥

भाषा—यज्ञ में ( दीक्षणीया और उदयनीया पर्यन्त सोमयाग में वर्तमान ) क्षत्रिय और वैश्य की हत्या करने वाला ब्रह्महत्या वाला मृत करे, गर्भपात कराने वाले और रजस्वला स्त्री की हत्या करने वाला वर्ण के अनुसार ( जिस वर्ण का गर्भ या स्त्री हो ) हत्या का प्रायश्चित्त करे ॥२५१॥

चरेद् व्रतमहत्याऽपि घातार्थं चेत्समागत ।

द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत् ॥ २५२ ॥

किंच, यथावर्णमित्यनुवर्तते, ब्राह्मणादिहनने कृतमिश्रयस्तद्व्यापादनार्थं सम्यगागत्य द्वादशदिग्दारे कृते कथंचित्प्रतिबन्धवशादसौ न मृतस्तदा अहत्याऽपि यथावर्णं ब्रह्महत्यादि व्रत चरेत् । तथा च गौतम (२२।११) - 'सृष्टश्चेद् ब्राह्मणवधे अहत्याऽपि' इति । ननु हनने तदभावे चैकप्रायश्चित्ता न युक्ता-सत्यम् ; अत एवौपदेशिकेभ्यो न्यूनस्वादानिदेशिकानां पादोनान्येव ब्रह्महत्यादिव्रतानि द्वादशवार्षिकादीनि भवन्ति । एवञ्च प्रवृत्त प्राक् । किंच, यस्तु मन्त्रसपाद्य सोमयागमनुतिष्ठन्त ब्राह्मण व्यापादयति तस्मिन्द्वादशवार्षिकादिव्रत द्विगुण समादिशेत् । तेषां च व्रतानां गुरुलघुभूतानां जातिशक्तिगुणायपेक्षया सत्यपि सवनस्थावस्थाविशेषे पूर्ववदेव व्यवस्थाऽवगन्तव्या । ब्रह्महत्यासमाना तु गुरुषिञ्जेपादीनामातिदेशिकेभ्योऽपि न्यूनस्वादर्थेन द्वादशवार्षिकादिप्रायश्चित्तमित्युक्तम् ॥ २५२ ॥

भाषा—वध करने के लिए आकर ( किसी कारणवश ) वध न होने पर भी ( वर्ण के अनुसार ब्रह्महत्या आदि का ) व्रत करे । सोमयाग के अनुष्ठान में लगे हुए ब्राह्मण को मारने पर दूना ( दोहरा चौबीस वर्ष का ) व्रत करे ॥ २५२ ॥

इति ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अथ क्रमप्राप्त सुरापानप्रायश्चित्त प्रक्रमते—

सुराम्बुधृतगोमूत्रपयसामग्निर्निभम् ।

सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमृच्छति ॥ २५३ ॥

सुरादीनां मध्येऽन्यतममग्निर्निभं स्वभावापादितमिस्वपद्माह्नतिकं कृत्वा पीत्वा सुरापो मरणाच्छुद्धिं प्राप्नोति । गोमूत्रमाहचर्यादृश्ये एव घृतपयसो ब्राह्मे । घृतपयसाहचर्याच्च खेजमेव गोमूत्रम् । एतच्चार्यवाससाकार्यम् । 'सुराप आर्द्रवासाश्च अग्निवर्णा सुरा पिबेत्' इति पैठीनसिस्मरणात् । तथा—'लौहेन पात्रेण सुरापोऽग्निवर्णा सुरामायसेन पात्रेण तात्रेण वा पिबेत्'

इति प्रचेत स्मरणात् । एतच्च सकृत्पानमात्रे, 'सुरापान सकृत्स्वाऽप्यग्निवर्णा सुरा पिबेत्' इत्यङ्गिरस्मरणात् । यत्तु नसिष्टवचनम्—'अभ्यासे तु सुरा याश्च अग्निवर्णा पिबेद् द्विज' इति,—तसुराभ्यतिरिक्तमद्यपानविषयम् । एतच्च कामकारविषयम्, 'सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत् । सुखे तथा विनिर्दग्धे मृत शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति बृहस्पतिस्मरणात् । यत्तु सुरा पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णा सुरा पिबेत्' ( ११।९० ) इति मनुना मोहग्रहण कृत, तच्छास्त्रार्थापरिज्ञानाभिप्रायेण । अत्रेदं चिन्तनीयम्—किं 'सुरा'शब्दो मद्यमात्रे रूढ उत तिसृष्वेव गौडीमाध्वीपैष्टीपवाहोस्वित्पैष्टयामेवेति । तत्र केचिन्मद्यमात्रे रूढ इति वर्णयन्ति, 'अभ्यासे तु सुराया' ( २०।२२ ) इति वासिष्ठे पैष्टयाद्भिन्नयस्यतिरिक्तेऽपि मद्यमात्रे सुराशब्दप्रयोगदर्शनात् । न चासौ गौण प्रयोग इति शङ्कनीयम् । मद्यजननशक्तिसम्बन्धोपाधिकत्वया सर्वत्र मुह्यवशोपपत्तौ गौणत्वकल्पनाया अन्यायव्यावृत्तिः,—तदयुक्तम्, 'पानस द्वाच माधूक खार्जूर तालमैद्यम् । मधूथ सैरमारिष्ट मैरेय नालिकेरजम् ॥ समानानि वित्राभीषान्मद्या-वेकादशैव तु । द्वादश तु सुरामद्य सर्वेषामद्यम स्मृतम् ॥' इति पुलस्तयेन मद्यविशेषावेन सुराया निर्दिष्टत्वात् । अतश्च मद्यमात्रे सुराशब्द प्रयोगो गौण । अन्ये पुन पैष्टयादिषु तिसृषु 'सुरा'शब्दस्य रूढिं मन्यन्ते । तथा हि—यद्यप्यनेकत्र सुराशब्दप्रयोगो दृश्यते तथाऽपि कुत्रानादिश्वमिति सदेहे—'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा' ( ११।९४ ) इति मनुवचनाद्गुह्यमधुपिष्टविकारेष्वनादिश्वनिर्धारणात्तत्रैव मुख्यत्व युक्तम् । नचा नेकत्र शक्तिकल्पना दोष, मद्यशक्तेरुपाधिरवाध्रयणेन तस्य सुपरिहरत्वात् । नच तालादिरसेष्वप्युपाधेर्विद्यमानत्वादितिप्रसङ्ग, पङ्कजादिशब्दवचोगरूढत्वा-ध्रयणात् । अतश्च—'यथेवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमै' ( मनु ११।९४ ) इति तिसृणा सुराणा समानदोषावप्रतिपादनपरं न पुनरनयोर्गौ-डीमाध्वी पैष्टीसुरासमत्वप्रतिपादनपरम् । 'द्विजोत्तम ग्रहण द्विजाद्युपलक्ष-णम्,—एतदप्ययुक्तम्, 'द्वादश तु सुरामद्य सर्वेषामद्यम स्मृतम्' इति पुल-स्तयवचने गौडीमाध्वीम्यामपि सुरामद्यस्यातिरेकदर्शनात् । तथा—'सुरा वै मलमज्ञानां पाप्मा च मलमुच्यते' ( मनु ११।९३ ) इति । अष्टविकारस्यैव सुराश्वनिर्देशादज्ञशब्दस्य च 'अज्ञेन भ्यञ्जनम्' इत्यादिषु व्रीह्यादिविकार एव प्रयोगदर्शनाद् गुह्यमधुनोश्च रसरूपात्तथा शौत्रामणिग्रहेषु चाष्टविकारे एव 'सुरा'शब्दस्य श्रुतत्वात् पैष्टयेव सुरा मुख्योच्यते । इतरयोस्तु सुराशब्दो गौण, यत्तुक्तम्—'गौडी माध्वी' इति मनुवचनात्तिसृष्वप्यौपत्तिकस्वनिर्धारणेति,—तदप्ययुक्तम्, यतो नेदं शब्दानुशासनवच्छब्दार्थसम्बन्धानादिश्वप्रतिपादनपरं,

किंतु कार्यप्रतिपादनपरम् । अतो गुरुप्रायश्चित्तनिमित्ततया गौडीमाध्वोगोण  
 'सुरा'शब्दयोग । एव च नानेकशक्तिकल्पनादोषो नाप्युपाध्यायव्यय कृतम् ।  
 न चात्र 'द्विजोत्तमग्रहणस्योपलक्षणार्थम् । अतश्च—'सुरा चै मलमन्नाना पाप्मा  
 च मलमुच्यते । तस्माद् ब्राह्मणराजन्थी वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥' ( मनु  
 १११९३ ) इति पेट्या एव वर्णत्रयसन्धिधत्वेन निषेधः । गौड्यादीना तु  
 मद्यानां ब्राह्मणमवन्धिधत्वेनैव निषेधः, न क्षत्रियवैश्ययो, 'यश्चरत् पिशाचात्  
 मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नास्तस्य देवानामश्नता हविः ॥' ( ११  
 ९५ ) इति मानवे ब्राह्मणेनेति विशेषोपादानात् । वृद्धद्विगुणाऽपि ब्राह्मणस्यैव  
 मद्यप्रतिषेधो दर्शितः—'माधूकमैत्रव सैर ताल स्वार्जूरपानसम् । मधूध चैव  
 माध्वीक मैरैय नालिकेरजम् ॥ असेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य तु ॥'  
 इति ॥ वृद्धपाञ्चवक्त्रयेनापि क्षत्रियवैश्ययोर्दोषाभावो दर्शितः—'कामादपि हि  
 राज्ञो यो वैश्यो वाऽपि कथंचन । मद्यमेव सुरां पीत्वा न दोषं प्रतिपद्यते ॥'  
 इति । व्यासेनापि तयोर्माध्वीपानमनुज्ञातम्—'उभौ मध्वासवशीवाऽुभौ  
 च-दनचचितौ । एकपयंङ्करथिनी दृष्टी मे केशवाऽर्जुनी ॥' इति । एव ब्राह्मण-  
 सन्धिधत्वेन मद्यमात्रनिषेधः सत्यपि—'गौडी माध्वी च पैशी च विशेषा  
 त्रिविधा सुराः । यथैवैका तथा सर्वा न पातध्या द्विजोत्तमै ॥' ( मनु १११  
 ९४ ) इति गौडीमाध्वो पृथङ्निषेधश्च न दोषगुरुत्वेन सुरासमावप्रतिपाद  
 नपरम् । अथ च सुरानिषेधोऽनुपनीतस्यानूढायाश्च कन्याया भव येव, 'तस्माद्  
 ब्राह्मणराजन्थी वैश्यश्च न सुरां पिबेत्' ( मनु १११९३ )—इति जातिमा  
 श्रावच्छेदेन निषेधात् । अतश्च 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहात्' ( १११९० ) इति  
 प्रायश्चित्तविधिवार्ये मनुना यद्द्विजग्रहणं कृतं तद्दर्शनस्योपलक्षणार्थम् ; निमि  
 त्तभूतनिषेधसापेक्षत्वाद्भैमित्तिकविधेर्निषेधं च वर्णमात्रस्यावच्छेदकत्वात् । यथा  
 'यस्य हविर्मिह पुरस्ताच्च-द्रमा अभ्युदेति' इति निमित्तवार्ये हविर्मात्राभ्यु-  
 दयस्य निमित्तत्वावगतौ तत्सापेक्षनैमित्तिकवार्ये धूयमाणमपि त्रेधा तन्दुला  
 निभनेत् इति तन्दुलग्रहणं तन्दुलादिरूपहविर्मात्रोपलक्षणम् । इयास्तु विशेष—  
 पादो बालेषु दातव्य सर्वपापेष्वथ विधि' इति वचनात्कामकारेऽपि न मर  
 णान्तिकं किंतु पादमेव द्विगुणीकृत्य पडवापिकं दैवम्, 'विहितं यदकामाना  
 कामात्तद्द्विगुणं चरेत् इत्यङ्गिरस्मरणात् । एव वृद्धातुरादिष्वपि योऽयम् ।  
 तथा 'तद्ब्राह्मणेन नास्तस्य देवानामश्नता हविः' ( मनु १११९५ )—इति  
 मद्यस्यापि जातिमाश्रावच्छेदेन निषिद्धत्वादन्युपनीतेनापि न वेद्यम् । ननु कथं  
 मनुपनीतस्य दोषः ? 'प्रागुपनयनात्कामचारकामवादाकामभया' ( २११ ) इति

गौतमवचनात्, तथा—'मद्यमूत्रपुरीषाणां भक्षणे नारित कश्चन । दोषस्त्वाऽऽपञ्च  
माहृषांद्दूर्ध्वं पित्रो सुहृद्गुरोः ॥' इति कुमारवचनाच्च दोषाभावात्प्रगते ।  
उच्यते,—सुरामद्योर्निषेधवाक्ये जातिमात्रत्वावच्छेदकरवध्रवणादप्रतिहतैव नि  
षेधप्रवृत्तिः । अत एव स्मृत्यन्तरे निषेधवचनम्—'सुरापाननिषेधस्तु जात्याश्रय  
इति स्थिति' इति । अत 'पादो बालेषु दातव्य सर्वपापेष्वय त्रिषि' इति ।  
'सर्वपापेषु सुरापानादिवि' इति वचनात्पाद एव सुरापाने प्रायश्चित्तम् । तथा  
जातुरूष्येण मद्यपानेऽपि प्रायश्चित्तमुक्तम्—'अनुपेतस्तु यो बालो मद्य मोहा  
रिपवेद्यदि । तस्य वृष्टूत्रय कुर्यान्माता भ्राता तथा पिता ॥' इति । अतो  
गौतमवचनं सुरादिभ्यतिरिक्तशुक्लयुपितादिविषयम् । कुमारवचनं तु स्वल्प  
दोषरथापनपरम् । अत एव प्रागुपनयनात्कृतदोषस्योपनयनमेव प्रायश्चित्तमित्युक्त  
मनुना ( २।२७ )—'गार्भिहोमैर्जातकर्मचूडामौञ्जोनिव-धनैः । वैजिक गार्भिक  
चैनो द्विजानामपसृज्यते ॥' इति । अयमग्रार्थं त्रैवर्णिकानामुत्पत्तिप्रभृति पैष्टी-  
प्रतिषेधः । ब्राह्मणस्य मद्यमात्रनिषेधोऽप्युत्पत्तिप्रभृत्येव । राज-वधैश्ययोस्तु  
न कदाचिदपि गौडवादिमद्यप्रतिषेधः । शूद्रस्य न सुराप्रतिषेधो नापि  
मद्यप्रतिषेधः ॥ २५३ ॥

भाषा—सुरा पीने बाला महापातकी सुरा, जल, घृत, गोमूत्र और  
दूध में किसी एक को खूब खौलाकर पीए और उससे उसकी मृत्यु हो  
जाय तब यह शुद्ध होता है ॥ २५३ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

बालवासा जटी याऽपि ब्रह्महत्यामृतं चरेत् ।

पिण्याकं वा कणाम्वाऽपि भक्षयेत्त्रिसमा निशि ॥ २५४ ॥

गोष्ठ्यागादिलामनिर्मितवस्त्रप्रावृत्तो बालवासा, 'बालवातो'ग्रहणं श्रीरवल्क-  
लयोऽपलङ्गार्थम्; 'सुरापगुरुनक्षत्रगौ श्रीरवल्कलवाससौ ब्रह्महत्यामृतं चरया  
ताम्' इति प्रचेत स्मरणात् । 'जटी ग्रहणं मुण्डित्वनिराकरणार्थम् । ब्रह्म-  
हत्यामृतं चरेत्' इत्यनेनैव सिद्धे ब्रह्मालवसनादिग्रहणं तदन्त्यत्र समंवि स्वयं  
मारितशिर कपालादिनिवृत्त्यर्थम् । इदमकामतो जलबुडया य सुरां पिबति  
तद्विषयम्; 'इयं विद्युद्विरुदिता प्रमाप्याऽकामतो द्विजम्' ( मनु १।१।८९ )—  
इत्यकामोपाधिभेदेन विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात् । अत्र च सुरा  
पानस्य महापातकरत्वात्सत्यप्यातिदेशिकस्ये सपूर्णमेव द्वादशवार्षिकं कुर्यात् पादो  
नम् । अत एव वृद्धशरीरं—'द्वादशमिर्वर्षं महापातकिन एवमेत' इति ।

१ चरेद् ब्रह्महति मृतम् । २ भक्षयेत् सगं निशि । ३ सभवे शूय-  
माणस्यवदन्धि स्वयम् ।

अथवा पिण्याक विण्डित त्रिसमा वर्षत्रयपर्यन्त रात्री भक्षयेत् । कणा-  
रन्-दुल्लेखवास्तान्वा पूर्ववद्भक्षयेत् ।—एतच्च सृष्टदेव कार्यम्, 'कणान्वा भक्ष  
येदद्द विण्याक वा सकृन्निसि' ( १११२ ) इति मनुस्मरणात् । अस्य च पिण्या-  
कादिभक्षणस्य भोजनकार्ये विहितत्वादशनान्तरपरिस्थान । एतद्योदकजुद्धया सुरा  
पाने छुर्दोत्तरकाले वेदितव्यम् 'एतदेव व्रत कुर्यान्मद्यवच्छुर्दने कृते । पत्रगम्य  
च तस्योक्त प्रत्यह कायशोधनम् ॥' इति व्यासवचनात् । नच सुराससृष्टेपदु-  
पलभ्यमानतद्गन्धरसोदकपानविषयमिदमिति सुन्दरम् । ससगऽपि सुरावस्था  
नपायात् । यथाऽऽम्यवस्थे पृषदाऽप्ये । अत एव भाउषपा इति निगमा कार्या  
न पृषदाउषपा' इत्येवमुक्तं न्यायविद्वि । यत्पुनरापरतम्भवचनम् ( ११२५ )—  
'स्तथ कृत्वा सुरा पीत्वा गुरुदारान्नात्वा ब्रह्मदद्या च कृत्वा अतुर्थं काल मित  
भोजनोऽभ्युपेयास्तवनानुकरण स्थानासनाभ्या विहरन्निर्वर्षं पाप व्यपनुदति'  
इति । यत्तद्विरोचनम्—'महापानकमप्युक्ता वर्षे शुद्धयन्ति ते त्रिभि' इति,  
तदुभयमपि 'पिण्याक वा कणान्वा' इत्यनेनैकविषयम् । यदपि यमेन प्रायश्चित्तद्रव्य-  
मुक्तम्—'गृहस्वतिसवेनेष्टवा सुरापो ब्राह्मण पुन । समथ ब्राह्मणैर्गन्धेदिवेषा  
वेदिकी धृति ॥ भूमिप्रदान य कुर्यात्सुरां पीत्वा द्विजोत्तम । पुनर्न च  
पिबेत्ता तु सस्कृत स विशुद्धयति ॥ इति,—तदुभयमपि पूर्वेण सईकविषयम् ।  
यद्वा अतिरिक्तदण्डिणाकस्पाश्रयणाद् द्वादशवापिकेण सह विकल्पते । अत्रापि  
वाल्लुद्धादीनां सार्धैकवर्षोपमनुवनीतानां तु नवमासिकमित्यत्र कल्पना कार्या ।  
यत्तु मनुवचनम् ( १११२ )—'कणान्वा भक्षयेद्द विण्याक वा सकृन्निसि ।  
सुरापानापनुवर्षं वाल्लवासा जटी ध्वजो ॥' इति,—तत्तालुमात्रसयोगे सुराया  
अनुदिपूर्वे द्रष्टव्यम् । ननु च द्रवद्रव्यस्याभ्यवहरण पानमित्युच्यते । अभ्यव  
हरण च कण्टादधोनयन न तादृवादिसधोगमात्र, अत कथं तत्र पाननिमित्त  
प्रायश्चित्तम् ? उच्यते—येन तादृवादिसयोगेन विना पानक्रिया न निर्वर्तत  
सोऽपि पानक्रियाप्रतिषेधेन प्रतिषिद्ध । अतो यद्यपि सुक्षयपानाभावात् महा  
पातकाय तथापि तत्रप्रतिषेधेन तदद्भूतात्प्रतिभारितात्वादिसयोगस्यापि प्रति-  
षिद्धत्वेन दोषस्य विद्यमानत्वाद्भवयेव प्रायश्चित्तम् ।—'शरेद् व्रतमहत्वाऽपि घातार्थं  
चेत्समागत' इति । यथा हननप्रतिषेधेन तदद्भूतात्प्रवसापादेरपि प्रति  
षिद्धत्वात्प्रायश्चित्तविधानम् । यत्तु बौधायनीयम्—'श्रैमासिकममरया सुरापाने  
दृष्ट्वाद्दपाद् चरित्वा पुनरुपनयनम्' इति; यच्च याग्यम्—'सुरां पीत्वा द्विज  
हत्वा स्वम हत्वा द्विजमन । सयोग पतितैर्गदा द्विजभ्रान्द्राद्यण शरेत् ॥'  
इति, यद्यपि बार्हस्पत्यम्—'गौदीं माश्रीं सुरां पीतीं पीत्वा विप्र समाचरेत् ।

तत्कृच्छ्रं पराकं च चान्द्रायणमनुष्ठमात् ॥' इति,—तत्रित्तयमप्यनन्यौषसाध्य-  
व्याध्युपशमार्थं पाने वेदितव्यम्, प्रायश्चित्तस्यावस्थात् । यदा तु सुरासृष्ट  
शुष्करसमेवाह भक्षयति तदा पुनरुपनयनम् । यथाह मनु ( १११५० )—  
'अज्ञानात्प्रायश्चित्तं विष्मूत्रं सुरासृष्टमेव च । पुनरुपनयनमर्हति त्रयो वर्णा  
द्विजातय ॥' इति । यदा च शुष्कसुराभाण्डरथोदकं पिबति तदा ज्ञातातपोक्त  
कुर्यात्—'सुराभाण्डोदकपाने छर्दनं घृतप्राशनमहोरात्रोपवासश्च' इति । यत्तु  
वीधायनीयम् (२११२१)—'सुरापानस्य षोऽभाण्डेष्वपि पर्युषिता विवेत् । शङ्ख-  
पुष्पीविपकं तु क्षीरं सर्वं विवेक्यहम् ॥' इति,—तत्पर्युषितत्वात् अधिकम् । अकाम  
तोऽभ्यासे पुनर्मनुनोक्तम् ( १११४७ )—'अपि सुराभाजनस्था मद्यभाण्ड-  
स्थितास्तथा । पञ्चरात्रं विवेकोवा शङ्खपुष्पीश्रुतं पय ॥' इति यत्तु विष्णूक्तम्  
( ५२१२३ )—'अपि सुराभाजनस्था पीत्वा सप्तरात्रं शङ्खपुष्पीश्रुतं पय विवेत्'  
इति,—तन्मतिपूर्वकपाने । ज्ञानतोऽभ्यासे तु वृद्धयम आह—'सुराभाण्डे स्थित  
तोयं यदि कश्चिदपि वेद् द्विज । स द्वादशाहं क्षीरेण विवेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति ।  
सुरापस्य मुखगन्धघ्राणेषु तु मानवम् ( १११४९ )—'ब्राह्मणस्तु सुरापस्य  
गन्धमाघ्राय सोमप । प्राणान्पुत्रिरायस्य घृतं प्राश्य विशुद्धयति ॥' इति,—  
तत्सोमयाजिन एवामतिपूर्वं, मतिपूर्वं तु द्विगुणम् । अपीतसोमस्य तु कल्प्यम्,  
साक्षात्सुरागन्धघ्राणस्य तु 'घ्रातिरघेयमद्यथो' इति जातिश्रद्धाकरत्वात्—'जाति  
श्रद्धाकरं कर्म कृत्वा-यत्तममिच्छया । शरीरान्तपत्रं कृच्छ्रं प्राजापस्यमनिच्छया ॥'  
( १११२४ ) इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २५४ ॥

भाषा—अथवा चकरा आदि के बाल से बना हुआ पत्र धारण कर  
एक जटा रख के द्वादशरात्र के लिए विहित व्रत करे । अथवा तीन वर्ष तक  
केवल रात्रि को विष्णूक्त ( पिण्डी ) या कण का भोजन करे ॥ २५४ ॥

एवमुत्पसुरापाने प्रायश्चित्तमुक्त्वा मद्यपाने प्रायश्चित्तमाह—

अज्ञानात्तु सुरां पीत्वा रेतो विष्मूत्रमेव च ।

पुनरुपनयनमर्हति त्रयो वर्णा द्विजातय ॥ २५५ ॥

य पुनरज्ञानाद्दुदकबुद्ध्या सुरा मद्यं ब्राह्मणः पिबति, ये च ब्राह्मणादयो  
रेतो विष्मूत्राणि प्राशनन्ति, ते त्रयोऽपि द्विजातयो वर्णास्तत्कृच्छ्रपूर्वकं पुनरुप-  
नयनं प्रायश्चित्तमर्हन्ति । अत्र मद्यपाने योज्यं पुनरुपनयनं सरकारं स ब्राह्मणस्यैव,  
त्रिषु विष्णोरन्तर्दम्पनुज्ञानस्य दर्शितत्वात् । 'सुरा'शब्दश्चात्र मद्यपरं, प्रायश्चित्त  
स्यातिलघुत्वात्, अज्ञानतो मुखसुरापाने द्वादशरात्राधिकस्य विहितत्वाच्च । अतः



एव गौतमेनात्र मद्यशब्द प्रयुक्त ( २३।२ )—‘अमस्या मद्यपाने पयो घृत-  
मुदकं वा ष्यह तप्तानि पिबेत्स तप्तकृच्छ्रस्ततोऽस्य सस्कारो मूत्रपुरीषकुणपरेतसां  
प्राशने च’ इति । यदप्यस्मिन्नेव विषये मनुनोक्तम् ( ११।१४६ )—‘अज्ञानाद्वाहणो  
पीत्वा सस्कारेण विशुद्धयति’ इति,—तदपि तप्तकृच्छ्रपूर्वकमेव गौतमवाक्यापुरो-  
धात् । पुन सस्कारश्च पुनरुपनयनम् । तच्चाश्रयायनाद्युक्तक्रमेण कर्तव्यम् । यथो-  
क्तम्—‘अद्योपेतपूर्वस्य कृताकृत केशवपन मेधाजनन चानिरुक्त परिदान कालश्च  
तस्मिन्निवृत्तौमह इति सावित्रीम्’ इति । मतिपूर्वमद्यपाने वसिष्ठोक्त द्रष्टव्यम्—  
‘मस्या मद्यपाने त्वसुराया सुरायाश्चाज्ञाने कृच्छ्रातिकृच्छ्री घृतप्राशनपुन सस्का-  
रश्च’ इति । चान्द्रायण वा शब्दोक्तम्—‘असुरामद्यपायी चान्द्रायण चरेत्’ इति ।  
सुखमात्रप्रवेशे तु मद्यस्यापस्तम्बीय पद्मत्रम्—‘अभक्ष्याणामपेयानामलेक्ष्याना च  
भक्षणे । रेतोमूत्रपुरीषाणां प्रायश्चित्त कथं भवेत् । पद्मोद्गुम्बरबिह्वानां पलाशस्य  
कुशस्य च । एतेषामुदक पीत्वा पद्मत्रेण विशुद्धयति ॥’ इति ।—एतच्च तालादि-  
मद्यविषयम् । गौडीभाष्यो पुनरज्ञानत पाने ‘असुराया सुरायाश्चाज्ञानत’ इति  
वसिष्ठोक्त कृच्छ्रातिकृच्छ्रसहित पुन सस्कारो घृतप्राशनश्च द्रष्टव्य तयोर्मतिपूर्व  
पाने तु ‘पिण्याकं वा कणान्वा’ ( प्रा० २५४ ) इति त्रैवार्षिकम् । कामतस्तु तप्ताना-  
भ्यासे ‘अभ्यासे तु सुराया अग्निवर्णां सुरा विबेन्मरणात्पूने भवति’ इति वासिष्ठ  
मरणान्तिक द्रष्टव्यम् । नात्र ‘सुरा शब्द पैष्टयभिप्राय , तस्या सङ्कल्पानेऽपि मर-  
णान्तिकस्य दर्शितत्वात् । मद्यवासितशुष्कभाण्डस्थोदकरसाज्ञानत पाने बृहद्यमे  
नोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थित तोय यदि कश्चिद्विषवेद् द्विज । कुशमूलविपक्वेन ष्यह  
चारेण वर्तयेत् ॥’ इति । अज्ञानतोऽभ्यासे तु वसिष्ठेनोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थित  
तोय यदि कश्चिद्विषवेद् द्विज । पद्मोद्गुम्बरबिह्वानां पलाशस्य कुशस्य च ॥ एतेषा-  
मुदक पीत्वा त्रिरात्रेण विशुद्धयति ॥’ इति । ज्ञानत पाने तु विष्णुक्तम्—‘मद्य  
भाण्डस्थित तोय पीत्वा पञ्चरात्र शङ्खपुष्पीश्रुत पय विवेत्’ इति । ज्ञानतोऽभ्यासे  
तु शङ्खेनोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थित तोय पीत्वा सप्तरात्र गोमूत्रपाथक विवेत्’  
इति । अत्यन्ताभ्यासे तु हारीनोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थित तोय यदि कश्चिद्विषवेद्  
द्विज । द्वादशाह तु पयसा विवेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥’ इति । एषु च वाक्येषु  
‘द्विज’म्रहण ब्राह्मणाभिप्रायम् , चत्रिपवैश्ययोरप्रतिषेधादिति दर्शितं प्राक् । इद  
च गौडीभाष्योऽभ्यासेऽध्वजलपानविषय गुरुत्वात्प्रायश्चित्तस्य । तालादिमद्यभाण्डो-  
दकपाने तु कल्प्यम् ॥ २५५ ॥

भ्यासा—अज्ञान से सुरा, शीर्ष, विष्ट या मूत्र पीने पर तीनों द्विजाति  
वर्ण पुन सस्कार करने योग्य हो जाते हैं । ( सुरापान में पुन सस्कार केवल  
ब्राह्मण का ही होता है ) ॥ २५५ ॥

द्विजातिभार्यां प्रत्याह—

पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।  
इद्वैव सा शुर्ना गृध्री सूकरी चोपजायते ॥ २५६ ॥

या द्विजातिभार्या सुरां पिबति सा कृतपुण्याऽपि सती पतिलोकं न याति किंस्विद्वैव लोके श्वगृध्रसूकरलक्षितां तिर्यग्योनिं क्रमेण प्राप्नोति । 'ब्राह्मणी' ग्रहणं चात्र 'तिस्त्रो वर्णानुपूर्व्येण' ( भा० ५७ ) इति न्वायेन यस्य द्विजातेर्पावस्यो भार्यास्नासामुपलक्षणम् । अत एव मनुः—'पतस्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत् । पतिगार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति । धर्मार्थकामेषु सहाधिकाराद्ग्रहणपरिकशरीरत्वमेव, अतो यस्य द्विजातेर्भार्या सुरां पिबति तस्य भार्या-रूपमर्धं शरीरं पतति । पतितस्य च भार्यारूपस्यार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते । तस्माद् द्विजातिभार्याया ब्राह्मण्याद्यया न सुरा पेया । 'तस्माद् ब्राह्मणराजन्तौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्' इति निषेधविधौ लिङ्गस्याविषयितरत्वेन वर्णत्रयभार्याणामपि प्रतिषेधे सिद्धे पुनर्वचनं द्विजातिभार्यायाः शूद्राया अपि सुराप्रतिषेध-प्राप्त्यर्थम् । अतो द्विजातिभार्याभिः सुरापाने प्रायश्चित्तस्यार्धं कार्यम् ; शूद्र-भार्यायास्तु शूद्रायाः शूद्रवदेव न प्रतिषेधः । सुरापानसमेषु तु निषिद्धमण्णादिषु सुरापानप्रायश्चित्तार्थमित्युक्तं प्राक् ॥ २५६ ॥

भाषा—जो ब्राह्मणी स्त्री सुरापान करती है वह पतिलोक नहीं प्राप्त करती है; वह इसी लोक में कृतिया, गिद्धमी और सूकरी होकर जन्म लेती है ॥२५६॥

इति सुरापानप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

दमशातं सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे मुसलमर्पयेत् ।  
स्वकर्म खयापर्यंस्तेन हतो मुक्तोऽपि वा शुचिः ॥ २५७ ॥

ब्राह्मणस्वामिकं सुवर्णं योऽपहरत्यसौ सुवर्णस्तेयं मया कृतमित्येवं स्वकर्म खयापवन् राज्ञे मुसलं समर्पयेत् । मुसलसमर्पणस्य दृष्टाधेत्वात्तेन मुसलेन राजा तं हन्वात् । तेन राजा हतो मुक्तो वा शुद्धो भवति । 'अपहरण'शब्देन च समर्पणं परोक्षं वा बलाच्चौर्येण वा ऋषादिवशज्जैतुं पिना ग्रहणमुच्यते । 'मुसलं समर्पयेत्'इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि तस्य हननार्थत्वात् तत्समर्पणस्योपपत्त्यादेर्ग्रहणम् । अत एव मनुनोक्तम् ( ८।३।५ )—'स्वकर्मनादाय मुसलं लकुटं वापि सादिरम् । भूमिं चोभयतस्तीक्ष्णमायमं दण्डमेव वा ॥' इति । दण्डनेना-प्यत्र विशेष उक्तः ( १।१।०० )—'सुवर्णस्तेनः प्रदीर्घकेश भार्गवासा भावसं

मुसलमादाय राजानमुपतिष्ठेत् 'इदं मया पापं कृतमनेन मुसलेन माघातयस्व'  
 इति स राज्ञा शिष्टं सन्पूतो भवति' इति । हननं चातृत्विधानाभावात्सकृदेव  
 कार्यम् । अत एव मनुनोक्तम् ( ११।१०० )—'ततो मुसलमादाय सहृद्  
 न्यात्तु तं स्वयम्' इति । एवमकृत्ताडनेन राज्ञा हतो मृतं शुद्धयेत्, मुक्तो  
 वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्धयेदिति यावत् । तथा च सत्रेतेनोक्तम्—'ततो मुसल-  
 मादाय सकृद्न्यात्तु तं स्वयम् । यदि जीवति स स्तेनस्तत स्तेषांशुद्धयति ॥'  
 इति ॥ यथोक्तं ब्राह्मणवधे—'मृतकस्य प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्धयति' इति ।  
 नन्वताडित एव राज्ञा मुक्त स्तेन शुद्धयेदित्ययमर्थः कस्मात्तेष्वप्येते ? उच्यते,—  
 'अनघ्नन्नेनस्वी राजा' इति गौतमाये ताडनमकुर्वतो राज्ञो दोषाभिधानात् ।  
 भवतु राज्ञो दोषस्तथाप्यतिक्रान्तनिषेधेन राज्ञा स्नेहादिना मुक्त स्तेन कथं  
 न शुद्धयेदिति चेत्,—उच्यते—एव च सति अकारणिका शुद्धिरापतेत् । अथो-  
 च्यते—मोक्षोत्तरकालं द्वादशवर्षिकाद्यनुष्ठानेन शुद्धयङ्गीकरणान्नाकारणिकेति,—  
 तदप्यसुन्दरम्, मुक्तं 'शुधि' इति मोक्षस्यैव शुद्धिहेतुत्वाभिधानात् । अत-  
 प्राच्येव व्याख्या उपायसी । मुक्तो वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्धयेदिति यावत् ।  
 इदं च मरणान्तिकं सार्ववर्णिकस्यापहर्तुर्न तु ब्राह्मणस्यैव । ब्राह्मणस्वर्णहारीति  
 नैमित्तिकत्वावये विशेषानुपादानात् क्षत्रियादीनां च महापातकिरवाविशेषात्प्राय-  
 श्चित्तान्तरस्यानाम्नानाच्च । यस्पुनर्मानवे ( ११।९९ )—'सुवर्णस्तेयकृद्विप्र'  
 इति 'विप्र'प्रहणं तन्मरमात्रोपलक्षणम् । 'प्रायश्चित्तीयते नर इति तस्यैव प्रकृ-  
 तत्वात्, 'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्यङ्गनागम' ( मनु ११।५४ ) इति  
 निमित्तत्वावये विशेषानुपादानाच्च । तस्मात्तेनैमित्तिकत्वावये 'सुवर्णस्तेयकृ-  
 द्विप्र' ( ११।९९ ) इत्यत्र श्रूयमाणमप्युपलक्षणमेव युक्तम् । यथा 'अभ्युदिते  
 एवा यस्य हवि' इति वाक्यं 'तन्हुल'प्रहणं हविर्मात्रस्य । इदं च राज्ञा हननं  
 ब्राह्मणस्थितिरिक्तस्य, 'न जानु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि भियतम्' ( ८।३८० )  
 इति मानवे ब्राह्मणवधस्य निषिद्धत्वात् । यदि कथंचिदतिक्रान्तनिषेधे राज्ञा  
 हन्यते तथाऽपि शुद्धो भवति, 'वधेन शुद्धयति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा' ( मनु  
 ११।१०० ) इति ब्राह्मणस्यापि वधेन शुद्धयभिधानात् । नच 'तपसैव वा'  
 इत्येवकारेण वधनिषेधः, तस्य केवलतपसाऽपि शुद्धयभिधानपरत्वात् । यदि  
 वधो निषिद्धस्तर्हि 'तपसैव वा' इति विकल्पाभिधानमनुपपन्नम् । नच दण्ड-  
 भिप्राय विकल्पाभिधानम्, तस्यानिर्दिष्टत्वात् । किंच 'पकार्यास्तु विकल्पेन'  
 इति न्यायेनैकार्थानामेव विकल्पो ब्रूहिषवयोरिव । नच दण्डतपसोरेकार्थत्वम्,  
 दण्डस्य दमनार्थत्वात्तपसश्च पापक्षयहेतुत्वात् । नच 'वधेन शुद्धयति स्तेन'  
 इति सामान्याविषयेण वधेन ब्राह्मणस्तपसैव वेति विशिष्टविषयस्य तपसो  
 विकल्पोपपत्तिः । नहि भवति 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय च'

इति विक्वपस्तस्माद् द्वयोरपि सामान्यविषयत्वमेव । यद्वा क्षत्रियस्यापि न निषेध , मनुना—‘सुवर्णस्तेयकृद्दिप्र’ ( ११।१९ ) इत्यभिधाय—‘गृहीत्वा सुसल राजा सकृद्न्यात्तु त स्वयम् ।’ ( ११।१०० ) इति सर्वनाम्ना प्रकृतब्राह्मणपरामर्शेनैव हननविधानात्—‘न जातु ब्राह्मण हन्यात्’ इत्यस्य प्रायश्चित्तव्यतिरिक्तदण्डरूपहननविषयत्वेनाप्युपपत्तेः ।—एतच्च मरणान्तिक मतिपूर्वसुवर्णस्तेयविषयम् । ‘मरणान्तिक हि यत्प्रोक्त प्रायश्चित्त मदीपिभि । यत्तु कामकृते पापे विज्ञेय नात्र सशय ॥’ इति मध्यमाङ्गिरस्मरणात् । अत्र च ‘सुवर्ण’शब्द परिमाणविशिष्टहेमद्वयवचनो न जातिमात्रवचन । ‘जाल-सूर्यमरीचिश्च त्रसरेण रज स्मृतम् । तेषु लिक्षा सु तारितस्त्रो राजसर्पप उच्यते ॥ गौरस्तु ते त्रय पट्टिभर्षको मापस्तु ते त्रय । कृष्णल पञ्च ते मापस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥’ इति षोडशमापपरिमिते हेमनि ‘सुवर्णं शब्दस्य परिभाषितत्वात् । अतो ‘ब्राह्मणसुवर्णापहरण महापातकम्’ इत्यादिप्रयोगेषु कृतपरिमाणस्यैव सुवर्णस्य ग्रहण युक्तम् , परिमाणकरणस्य दृष्टार्थत्वात् । न ह्यट्टार्थपरिमाणस्मरणम् । नापि लोकव्यवहारार्थम् , अतएवत्वास्मृतिकारप्रवृत्तेः । अत एवोक्त न्यायविद्भि—‘कार्यकाले सज्ञापरिभाषावरूपस्थानम्’ इति । तथा नामानि गुणफलोपबन्धेनार्थवदित्युक्त ‘षोडशान्याज्यानि’ इत्यत्र । नच षोडशमात्रोपयोगिपरिमाणस्मरणमित्युक्तमिति युक्तम् , तावन्मात्रार्थत्वे प्रमाणाभावात् । अतोऽविशेषात्सर्वशेषत्वमेव युक्तम् । किंच, दण्डस्य दमनार्थत्वाद्मनस्य च परिमाणविशेषमन्तरेणापि सिद्धेर्नातीव परिमाणस्मरणमुपयुज्यते । अतदैकसमधिगम्ये तु महापातकित्वादावेकान्तत स्मरणमुपयुज्यते । अत षोडशमापात्मकसुवर्णपरिमितहेमहरण एव महापातकित्व तन्निमित्त मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तविधान च । द्वित्रादिमापात्मकहेमहरण तु क्षत्रियादिहेमहरणपदुपपातकमेवेति युक्तम् । किंच सुवर्णान्यूनपरिमाणहेमहरणे प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात्परिमाणस्यैव हेमो हरणे मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तमिति युक्तम् । तथा चोक्त पट्टत्रिंशन्मते—‘वालाप्रमात्रेऽपहृते प्राणायाम समाचरेत् । लिखामात्रेऽपि च तथा प्राणायामत्रय बुध ॥ राजसर्पपमात्रे तु प्राणायामचतुष्टयम् । गायत्र्यष्टमहस्र च जपेत्पापविशुद्धये ॥ गौरसर्पपमात्रे च सावित्री चै दिन जपेत् । ववमात्रे सुवर्णस्य प्रायश्चित्त दिनद्वयम् ॥ सुवर्णकृष्णल ह्येकमपहृत्य द्विजोत्तम । कुर्यात्साम्भवन कृच्छ्र तत्पापस्यापनुत्तये ॥ अपहृत्य सुवर्णस्य मापमात्र द्विजोत्तम । गोमूत्रयावकाहाहास्त्रिभिर्मासैर्विशुद्ध्यति ॥ सुवर्णस्वापहरणे चास्र यावकी भवेत् । ऊर्ध्वं प्राणान्तिक ज्ञेयमथवा षष्टदशतम् ॥’ इदं च चास्र यावकाशन किञ्चिन्मूनसुवर्णापहारविषयम् , सुवर्णापहारे मन्वादिमहा

स्मृतिषु द्वादशवार्षिकविधानात् । 'बलाद्ये कामकारेण गृह्णन्ति स्व नराधमा ।  
तेषां तु बलहतृणौ प्राणान्तिकमिहोच्यते ॥' सुवर्णपरिमाणादवर्गपीत्यभि-  
प्रेतम् । इदं च स्तेयप्रायश्चित्तमपहनधनं तस्वामिने दत्तैव कार्यम् । स्तेये  
ब्रह्मस्वभूतस्य सुवर्णादे कृते पुनः । स्वामिनेऽपहतं देयं हर्त्रा त्वेकादशाधि-  
कम् ॥' इति स्मरणात् । तथा—'चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्वास्यात्मशुद्धये'  
( ११ । १६४ ) इति मनुस्मरणाच्च । दण्डप्रकरणेऽप्युक्तम्—'शेषेऽप्येका-  
दशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ।' इति । यद्वाऽऽयश्वरथा राजा हन्तुमसमर्थस्तदा  
यसिष्ठोक्तं दृष्टव्यम्—'स्तेन प्रकीर्णकेशो राजानमभियाचेत् । ततस्तस्मै राजौ-  
दुम्बर शस्त्रं दद्यात्तेनारामान प्रमापयेत् मरणात्पूतो भवतीति विश्वायते' इति ।  
शौदुम्बर ताम्रमयम् । यदपि द्वितीयं प्रायश्चित्तं तेनोक्तम्—'निष्कालको गोघृ-  
ताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानं प्रमापयेन्मरणात्पूतो भवतीति विश्वा-  
यते' इति,—तदपि गुरुश्रोत्रिययामस्थादिविप्रद्रव्यापहारविषयं श्रित्रियाद्यपहर्तृ-  
विषयं वा । तत्र 'निष्कालक' इति निर्गतकेशश्मश्रुलोमाभिधीयते, तथाश्च  
मेघाद्यनुष्ठानेन वा । तथा प्रचेतसा मरणान्तिकमभिधायोक्तम्—'हृत्वा वाऽथ  
मेघेन गोस्येन वा विशुद्धयेत्' इति ।—एतच्च विटश्रित्रियाद्यपहर्तृविषयम् ॥ २५७ ॥

भाषा—ग्राह्यं का सोना सुराने वाला अपने कर्म को बतलाते हुए  
राजा के हाथ में मूसल दे राजा द्वारा ( मूसल से ) मारे जाने पर अथवा  
मुक्त कर दिये जाने पर भी वह शुद्ध हो जाता है ॥ २५७ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

अनिवेद्यं नृपे शुद्धयेत्सुरापवतमाचरन् ।

आत्मतुल्यं सुवर्णं वा दद्याद्वा विप्रतुष्टिदम् ॥ २५८ ॥

स्वीयं स्तेयं राजन्मयनिवेद्यं सुरापवतं द्वादशवार्षिकमाचरन् शुद्धयेत् ।  
शवशिशोर्ध्वजे तरकपालधारणनिराकरणार्थं सुरापवतमित्युक्तम् ।—एतच्चाकामकार-  
विषयम् ; 'इयं विशुद्धिर्हृदिता प्रमाप्याकामनो द्विजम्' ( मनु ११।८९ )—हर्य-  
कामतो विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात् । नन्वकामनोऽपहार एव न  
संभवतीति कथं तद्विषयत्वम् ? उच्यते,—यदा वसुप्रान्तप्रथितं सुवर्णादिकम्  
ज्ञानादपहरति रजतादिद्रव्यान्तरबुद्ध्या वा हृत्वाऽनन्तरमेवान्यस्मै दत्तं नाशितं  
वा न पुनः स्वामिने प्रत्यर्पितं तदा संभवत्येवाकामनोऽपहारः । यस्तु  
ताम्रादिकस्य रसवेधाद्यापादितसुवर्णरूपस्यापहारो न तत्रेदं प्रायश्चित्तम् ।  
सुक्यजान्तिसमवायाभावात् । नच सुरत्वसादृश्यमात्रेण गौणे सुक्यधर्मा भवन्ति ।  
यद्यपीदंशमेवासुवर्णं सुवर्णंभ्राम्यापहरति, तथाऽपि नेदं प्रायश्चित्तम् । असुवर्णां

१ तन्निर्वास्यात्मशुद्धये । २ द्वै विप्रतुष्टिदम् ।

तथैकत्वावगमादेककक्षयमेव युक्तम् । अथवा वृषगौ सलिङ्गी स्वयमुत्सृज्य  
द्विप्राऽञ्जलिना गृहीत्वा नैर्ऋत्यां दक्षिणप्रतीच्यां त्रिभिः देहपात्रान्तमकुटिलग  
तिर्गत्वा तनुमुत्सृजेत् । यथाह मनुः ( १११०४ )—‘स्वयं वा शिरनवृषणा  
मुत्सृज्याथाप्य ऋञ्जली । नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानीपातादग्निह्वया ॥’ इति ।  
गमनं पृथतोऽनाद्यमाणेन कर्तव्यम्, ‘सुरेण शिरनवृषणायाः कृत्यापानवेद्यमाणो  
यजेत्’ इति शब्दलिखितस्मरणात् । एव गच्छन् यत्र कुट्टपादिना प्रतिवध्यते  
तद्यैव मरणान्तं तिष्ठेत् । ‘सवृषणं शिरनमुत्सृज्यापञ्जलावाधाय दक्षिणाग्निमुत्स्रो  
गच्छेद्यत्रैव प्रतिहतस्तत्रैव तिष्ठेद्दाम्रलयात् ( २०१३ ) इति वसिष्ठस्मरणात् ।  
दण्डोऽप्यग्रापमेव । यथाह नारदः ( १११०५ )—‘आसामन्यतमां गच्छन् गुरु-  
तक्षयं उच्यते । शिरनस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥’ एव  
दण्डार्थमपि लिङ्गाद्युत्कर्तनं पापक्षयार्थमपि भवति । इदमेव मरणान्तकदण्डम  
भिप्रेत्योक्तं मनुना ( ११११८ )—‘राजभिर्घृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।  
निर्मला स्वर्गमापान्ति सन्त सुकृतिनो यथा ॥’ इति । धनदण्डेन पुन  
प्रायश्चित्तं भवत्यथ, प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणा सवर्णा यथोदितम् । नाड्या राज्ञा  
ललाटे ह्युर्दाप्यास्तुत्तमसाहसम् ॥’ ( ११२४० ) इति तेनैवोक्तावात् । अनयोश्च  
मरणान्तकयोरेवतरानुष्ठानेन गुरुतक्षयं शुद्धयेत् । ‘गुरुशब्दश्चात्र मुख्यया  
च्युत्या पितरि वर्तते ‘निपेकादीनि कर्माणि यं करोति यथाविधि । समाधयति  
चान्नेन स विप्रो गुरुकथ्यते ॥’ ( २११४२ ) इति मनुना गुरुत्वप्रतिपादनपरे  
वाक्ये निपेकादिकर्तुर्जनकरस्यैव गुरुत्वाभिधानात् । योगेश्वरेण च निपेकादिक  
र्माभिप्रायेणोक्तम् । ‘स गुरुर्न क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति’ ( भा० ३४ )  
इति । ननु गुरुशब्दस्यान्यत्रापि प्रयोगो दृश्यते । उपनीय गुरु शिष्यम्’ इत्या  
दिनाधाय ( मनु २११४९ )—स्वल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्वोपकरोति य ।  
तमपीह गुरुं विद्यात्’ इत्युपाध्याये । व्यासेनाप्य यत्र प्रयोगो दर्शितः—‘गुरवो  
मातृपितृपत्याचार्यविद्यादातृयैष्ठ्यातरं ऋत्विजो भयघ्राताद्भद्राता च इति । न  
चानेकाधरूपनादौष, ‘गुरुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तभूताया पूजार्हताया सर्वत्रा  
नुत्सृते । दर्शितं च तस्या प्रवृत्तिनिमित्तत्वयोगेश्वरेण ( भा० ३५ )—‘पते  
मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी’ इति ‘मा-या इत्युपकल्पं परोपती’  
इत्युपसंहारं कुर्यात् । न च उपाध्यायाइत्याचार्य आचार्याणां सतः पितरः’  
( मनु २११४५ ) इत्युपाध्यायादधिकाचार्यातिपुरतिशयितस्त्वचचनास एव  
मुत्सृज्य इति वाच्यम् आचार्योऽप्यतिशयितस्त्वस्याविशिष्टत्वात् । उत्पादकब्रह्मदा  
त्रोर्गरीया ब्रह्मदा पितरः’ ( मनु २११४६ )—इति गौतमेनाप्युक्तम् ( २१५० )—  
‘आचार्यं श्रेष्ठो गुरुगाम्’ इति । किंच, यद्यतिशयितत्वमात्रेण मुख्यत्वमुच्यते  
तर्हि ‘सहस्रम्’ इति वचनां मातुरेव गुरुं च स्यात् । तस्मात्सर्वे गुरुवस्तत्पत्नी

गमनं गुर्वङ्गनाममनमिति युक्तम् । उच्यते,—‘निषेकादीनि’ ( २११४२ ) इति मनुवचनं निषेकादिकर्तृजनकस्य गुरुरवप्रतिपादनपरम् , अनन्यपरत्वात् । यद्यु नर्थात्सगीतमवचनं, तत्परिचर्यापूजादिविधिशेषतया स्तुत्यर्थंवेदान्तपरम् । अतो गुरुरवप्रतिपादनपराश्रियेकादाति मनुवचनारिपत्रेव मुख्यं गुरुरवमिति स्थितम् । अत एव वसिष्ठेन ( २०११५ )—‘आचार्यपुत्रशिष्यभार्यासु चैवम्’ इत्याचार्यद्वारेष्वातिदेशिकं गुरुरवप्रमायश्चित्तमुक्तम् । तथा जातृभार्यादिभिरप्युक्तम्—‘आचार्यदिस्तु भार्यासु गुरुरवप्रमतं चरेत्’ इत्यादि । आचार्यादिर्मुख्यगुरुरव तूपदेशत एव अतप्राप्तेरतिदेशोऽनर्थक एव स्यात् । किंच,—सर्वतः स्वप्नमेव विवृदारप्रहणं कृतम्—‘विवृदारान्-समारुह्य मातृभार्या मराधम’ इति । पट्टशिक्ष-मतेऽपि—‘विवृभार्यां तु विज्ञाय सर्वार्णो षोडशित्ति’ इति । अतोऽपि निषेकादिकर्ता रितैव मुख्यो गुरुः । तद्य गुरुरव वर्णचतुष्टयेऽप्यविशिष्टम् , निषेकादिकर्तृत्वस्वाविशेषात् । अत—‘स विप्रो गुरु रव्यते’ इति ‘विप्र’प्रहणमुपलक्षणम् । अत विवृत्तानीगमनमेव महापातकम् । गमनं च अरमधानुविसर्गपर्यन्तं कथ्यते । अतस्ततोऽर्थाङ्गनिवृत्ती न महापात किञ्चम् । अत्र चेद् ‘तस्तेऽप शयने सार्धमावस्था’ सार्धमावस्था’ इत्याद्युक्तं मरणातिप्रयायश्चित्तद्वयम् ।—सत्यं जनन्यामकामकृते, तत्सपत्न्यां तु सर्वार्णायामुत्तमवर्णाय कामकृते द्रष्टव्यम् । ‘विवृभार्यां तु विज्ञाय सर्वार्णो षोडशित्ति । जननीं चाप्यविज्ञाय नाशूनं शुद्धिमाप्नुयात् ॥’ इति पट्टशिक्ष-मतेऽभिधानात् । जनन्यां तु कामकृते वासिष्ठे ‘निष्कालको घृताभ्यक्तो गोमवाग्निना वाश्प्रभृत्पात्मानमवदाहयेत्’ इति द्रष्टव्यम् । अकामतोऽप्यासेऽप्येतदेव । अतु च ‘मातु सपत्नीं मगिनीमाचार्यतनयां तथा । आचार्यपत्नीं स्वमुतां गच्छन्तु गुरुरवप्रग ॥’ ( प्रा० २३२ ) इत्यतिदेशाभिधानात्मातृमरानीगमने त्रौपदेशिकं प्रायश्चित्तम युक्तम् । उच्यते,—‘विवृभार्यामवर्णाम्’ इत्यरमादेव वचनात्सर्वप्रहणादीनवर्णं सवानीविषयमिदमातिदेशिकमिति न विहाय । इद् च मुख्यस्यैव पुत्रस्य । इतरेषां पुन पुत्रकार्यंकरत्वमेव न पुत्रत्वम् । यथाह मनु ( २११८० )—‘येन जात्रींस्तुनानेतानेकादशं यथोचितम् । पुत्रप्रतिनिधीनाद् द्विवालापाम्मनीपिण ॥’ इति । तत्रोभयेऽप्यतः प्रवृत्ती ‘तस्तेऽप शयने’ इति प्रथमं प्रायश्चित्तम् । स्वप्नं प्रोत्साहने तु ‘घृहीतोऽहृत्पृथ्वी’ इति द्वितीयम् । अतु कन्धानिज्ञयेन प्रायश्चित्तगुरुरवैर्योक्तत्वात् । तथा प्रोत्साहितस्य तु मानव तत्तोऽप्यन्यत्तत्सुर्वाङ्गित्तनयोऽन्यतरं द्रष्टव्यम् । यत्तु शब्देन द्वावप्यविविक्तमुक्तम्—‘अथ शापो कटाघाती पर्णमूलफलपानेन । एकवालं संमरनीन वर्षे तु द्वावशयने ॥ एकमरतेषो मुरापन्नं मन्त्रा गुरुरवप्रग । सनेत्रैरेन द्वावप्यति मरान-

पानकिनसिद्धमे ॥' इति,—तत्रसमर्णोत्तमवर्णपितृदारगमने अकामकृते वा द्रष्टव्यम् । तत्रैव कामत प्रवृत्तस्य रेत सेकात् प्राट्निवृत्ती पड्वार्षिकम् ; अकामतस्तु त्रैवार्षिकम् । जनन्यां तु कामत प्रवृत्तस्य रेत मेकात्प्राट्निवृत्ती द्वादशवार्षिकम् । अकामतस्तु पड्वार्षिकमिति वदव्यम् । यत्तु संवत्सेन—'पितृदारागममागच्छ मातृ-वर्षं नराधम' इत्यादिना समारोहणमात्रे तस्य कृच्छ्र उक्त, स हीनवर्णगुरुरारेषु रेत मेकाद्वार्षिकद्रष्टव्यः ॥ २५९ ॥

भाषा—गुरु परनी का भोग करने वाला तब होकर लाल घनी हुई छोटे की शर्या पर जलती हुई छोटे की स्त्रीमूर्ति के साथ सोवे, अथवा लिङ्ग और अण्डकोप को काटकर हाथ में लेकर नैऋत्य दिशा को चलता-चलता शरीर र्याग दे ( तो शुद्ध होता है ) ॥ २५९ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समां वा गुरुतरूपम् ।

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यसेद्वेदसंहिताम् ॥ २६० ॥

अथवा प्राजापत्य कृच्छ्र वक्ष्यमाणलक्षण समा वर्षत्रय चरेत् । एतच्च ब्राह्मणीपुत्रस्य शुद्धजातपुरुषभार्यागमने मतिपूर्वे द्रष्टव्यम् । यदा तु गुरुपरनी सवर्णां व्यभिचारिणीमबुद्धिपूर्वं गच्छति तदा घेदजपसहित चान्द्रायणत्रय कुर्यात् । तत्रैव कामत प्रवृत्तावौशनस—'गुरुरनर्याभिगामी सवस्मर ब्रह्महृत्त यन्मासान्वा तस्य कृच्छ्रं चरेत्' इति । चत्रियागमन तु मतिपूर्वे याज्ञवल्कीय (या० २१२)—'मातु सपरनी भगिनीमाचार्यननयां तथा' इति गुरुतत्त्ववतातिदेशा-न्नववार्षिकम् । इदं चातिदेशिक सवर्णगुरुभार्यागमनविषय न भवति, तत्र कामतो मरणान्तिकरथाकामतो द्वादशवार्षिकस्य विहितत्वात् । अतः चत्रियादिविषयमेवति युक्तम् । तत्रैव कामतोऽभ्यासे मरणान्तिकम्, 'मर्या गवा पुनर्भावां गुरो अत्रमुता द्विज । अण्डाम्या रहित लिङ्गमुत्कृत्य स सृतं शुचि ॥' इति कण्व रमरणात् । अत्रैव विषये प्रायश्चित्तं यदा न चिकीर्षति तदा 'द्वित्रया लिङ्गं वषस्तरस्य सकामाया स्त्रियास्तथा' इति याज्ञवल्कीयो वषदण्ड प्रायश्चित्तस्थाने द्रष्टव्यम् । वैश्याया तु गुरुभार्याया कामतो गमने पड्वार्षिकम् । जत एव स्मृत्यन्तरम्— ब्राह्मणीपुत्रस्य चत्रियायां मातरि गमने पादहान्या द्वादशवार्षिकम् । एवमन्यवर्णां स्वपि । अयमर्थ—ब्राह्मणीपुत्रस्य चत्रियायां मातु सपरन्या गमने पादन्यूनद्वादश-वार्षिकं, नववार्षिकमिति यावत् । तस्यैव तथाभूताया वैश्याया पड्वार्षिकम्, शुद्धायां तु त्रैवार्षिकं प्रायश्चित्तमिति । एव चत्रियापुत्रस्य वैश्यायां मातरि नववार्षिकम्, शुद्धायां तु पड्वार्षिकम् । एवमेव वैश्यापुत्रस्यापीति, वैश्यायां तु कामतोऽ



भ्यासे मरणान्तकमेव 'गुरोर्भायां तु यो वैश्यां मत्या गच्छे पुन पुन । लिङ्गाप्र  
 छेदविस्वा तु तत शुद्धये स किञ्चिदपत् ॥' इति लीगाच्चिरमरणात् । शूद्राया तु  
 कामनोऽभ्यासे द्वादशवार्षिकम्, 'पुन शूद्रां गुरोर्गत्वा बुद्धया विप्र समाहित ।  
 ब्रह्मचर्यमदुष्टारमा मचरेद् द्वादशवर्षिकम् ॥' इत्युपमन्युस्मरणात् । उत्रियायां तु  
 गुरुभार्यायामनुद्विपूर्वगमने यमोक्ष त्रैवापिकमष्टमकालाशन द्रष्टव्यम् । 'कालेऽष्टमे  
 वा भुञ्जानो ब्रह्मचारी सदा व्रती । स्थानासनाभ्यां विहरच्चिरहोऽभ्युपपक्षप ।  
 अध शायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपोहेत पानकम् ॥' इति । अत्रैवाभ्यासे जातृकण्ठोक्त—  
 'गुरो उत्रसुतां भार्यां पुनर्गत्वा स्वकामत । अण्डमात्र समुत्कृत्य शुद्धवेञ्जी-  
 षन्मृतोऽपि वा ॥ इति । वैश्यायां स्वकामतो गमने 'प्राजापरय चरेत्कृच्छ्रम्'  
 (प्रा० २६०) इत्येतदेव याज्ञवल्कीयम् । तथा च बुद्धमनु—'गमने गुरुभा-  
 र्यायां विदुर्भायां गमे तथा । अन्दप्रथमकामात्तु कृच्छ्रं नित्य समाचरेत् ॥' इति ।  
 तत्रैवाभ्यासे हारीतोक्त मरणान्तक ब्रह्मचर्यम्—'अध्यस्य विप्रो वैश्याया गुरा  
 रज्ञानमोहित । पठद्ब्रह्मचर्यं च स चरेद्यावदायुषम् ॥' इति । गुरुभार्यायां  
 शूद्रायां स्वमनिपूर्वं मानवम् ( १११०५ )—'खट्वाहो चीरवासा वा श्मश्रुलो  
 विज्ञने वने । प्राजापरय चरेत्कृच्छ्रमन्दमेरु समाहित ॥' इति । अथवा 'गुरुदा-  
 राभिगामी सवस्सर कण्टकिर्नो शालां परिवेष्यथाध शायो त्रिपवणी भैशाहार  
 पूनो भवति' इति सुमन्तुवत कुर्यात् । तत्रैवाभ्यासे मानवम् ( १११०६ )—  
 'चान्द्रायण वा ग्रीष्मानामभ्यसेन्नियनेन्द्रिय' इति । उत्रियायां कामत प्रवृत्तस्य  
 रेत सेकादर्वाङ्निवृत्ती व्याप्नोक्तम्—'कृच्छ्रं चैवानिकृच्छ्रं च तथा कृच्छ्रानि  
 कृच्छ्रकम् । चरेन्मासत्रय विप्र उत्रियागमने गुरा ॥' इति । अत्रैव व्यवस्था-  
 तथा प्रोत्साहितस्य त्रैमासिक प्राजापयचरणम् । उभयेच्छ्वात प्रवृत्तस्यानिकृच्छ्र  
 चरण तावदेव । स्वेन प्रोत्साहितायां पुन कृच्छ्रातिकृच्छ्रानुष्ठानं च तावदेवति ।  
 तत्रैव कामत प्रवृत्तस्य रेत सेकापूर्वं कण्ठोक्त द्रष्टव्यम्— चान्द्रायण तप्तकृच्छ्रप-  
 निकृच्छ्रं तथैव च । सङ्गत्वा गुरोर्भायांमशानाश्चत्रियां द्विन ॥' इति । तथा  
 प्रोत्साहितस्यातिकृच्छ्रं, उभयेच्छ्वात प्रवृत्तस्य तप्तकृच्छ्रं, स्वेन प्रोत्साहितायां  
 तु चान्द्रायणम् । वैश्यायां कामत प्रवृत्तस्य रेत सेकापूर्वं निवृत्ती कण्ठोक्तम्—  
 'तप्तकृच्छ्रं पराक च तथा सान्तपन गुरो । भार्यां वैश्यां सङ्गत्वा बुद्धया मास  
 चरेद् द्विन ॥' इति । अत्रोभयोरिच्छ्वात प्रवृत्ती तप्तकृच्छ्रं, स्वेन प्रोत्साहितायां  
 पराका, तथा प्रोत्साहितस्य सान्तपनम् । अत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य प्रजापतिराह-  
 'पञ्चरात्र तु नाक्षीयासस्ताष्टौ वा तथैव च । वैश्यां भार्यां गुरोर्गत्वा सङ्गत्वा  
 नतो द्विन ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्य तु पञ्चरात्रम् । उभयेच्छ्वात प्रवृत्ती  
 सप्तरात्रम् । स्वेन प्रोत्साहितायामष्टरात्रम् । शूद्रायां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतः  
 सेकापूर्वं निवृत्ती जायालिंसाह—'अतिकृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं पराक वा तथैव च । गुरो

शुद्धा सहृद्वा बुद्ध्या विप्रः समासरेत् ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्यातिकृष्टः, उभयेच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृष्टः, स्वेन प्रोत्साहिताया पराकः । तत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य दैर्घ्यतमसम्—'प्राजापत्यं सान्तपन सप्तरात्रोपवासकम् । गुरोः शुद्धा सहृद्वा चरेद्विप्रः समाहितः ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्य प्राजापत्यम् । उभयोरिच्छातः प्रवृत्तौ सान्तपनम् । स्वेन प्रोत्साहितायां सप्तरात्रोपवास इति । अनयैव दिशाऽन्येषामपि स्मृतिवचसा विषयव्यवस्थोहनीया । पुरुषवच्य स्त्रीणा- मप्यत्र महापातकित्वमविशिष्टम् । तथा हि कार्यापन—'एवं दोषश्च शुद्धिश्च पतिनानामुदाहृता । स्त्रीणामपि प्रसक्तानामेष एव विधिः स्मृतः ॥' इति । सतस्तस्या अपि कामतः प्रवृत्तौ मरणान्तिकमविशिष्टम् । अत एव पुरुषस्य मरणान्तिकमुक्त्वा स्त्रिया अपि योगीश्वरेण मरणान्तिकं दर्शितम् ( प्रा० २३३ )—'क्षिप्वा लिङ्गं यथस्तस्य सकामाया स्त्रियास्तया' इति । अकामतस्तु मनुनोक्तम्—( १११८८ ) 'एतदेव व्रत कार्यं योपितु पतितास्वपि' इति । द्वादशवर्षिकमे'वार्धकल्पनया कार्यम् । यानि पुनर्गृह्यतस्वपमानि—'सदिभार्या- कुमारीषु स्वयोनिष्वन्यजासु च । सगोत्राषु सुतस्त्रीषु गुरुतश्चसमं स्मृतम् ॥' इति प्रतिपादितानि, यानि चातिदेशविषयभूतानि 'पितु स्वसारं मातुश्च मातुलानां स्तुपामपि । मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छस्तु गुरुतस्वप ॥' इति प्रतिपादितानि,—तेष्वेकरात्रादूर्ध्वमैकामतोऽभ्यस्तेषु यथाक्रमेण षड्वार्षिकं नववार्षिकं च प्रायश्चित्तं विज्ञेयम् । अस्मिन्नेव विषये कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकम् । तथा च बृहस्पतः—'रेत सिक्रवा कुमारीषु स्वयोनिष्वन्यजासु च । सपिण्डापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते ॥' इति । अन्यजाश्चात्र—'चण्डालः श्वपच लृता स्तनो वैदेहिकस्तथ । मागधा- योगवी चैव ससंतेऽन्यावसायिनः ॥' इति मध्यमाद्भिरोदर्शिता ज्ञातव्याः । ननु 'रजश्शर्मकारश्च' इत्यादिप्रतिपादिता, तेषु लघुप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् । तथा—'चाण्डालान्यस्त्रियो गावा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानास्ताभ्यं तु गच्छति ॥' ( १११७५ ) इति चाण्डालादिसाम्यं प्रतिपादयता मनुनाऽपि कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकं दर्शितम् । तथा हि—अज्ञानतश्चण्डालीगमनाभ्यासे पतति, अतः पतितप्रायश्चित्तं द्वादशवार्षिकं कुर्यात् । कामतोऽत्यन्ताभ्यासे चण्डालैः साम्यं गच्छति । अतो द्वादशवार्षिकाधिकं मरणान्तिकं कुर्यात् ।—एतच्च षड्कालाभ्यासविषयम् । एकरात्राभ्यासे तु वर्षत्रयम् । यथाह मनु ( १११७८ )—'एकरात्रोत्थेकरात्रेण घृपलीसेवनाद् द्विज । तज्जैश्चभुग- पत्त्रिण्य त्रिभिर्यर्षैर्भ्यपोहति ॥' इति । अत्र 'घृपली'शब्देन चण्डालस्यभिधीयते—'चण्डाली यन्धकी वरया रजःस्या या च कन्यका । ऊढा या च सगोत्रा

स्याद् वृषह्य पञ्च कीर्तिता ॥' इति स्मृत्यन्तरे चण्डालाद्या 'वृषलो शब्दप्रयोग-  
दर्शनात् । बन्धकी स्वैरिणी । कथं पुनरत्राभ्यामावगमः ? उच्यते,—'यत्करोत्ये-  
करात्रेण' इत्यन्तसयोगावर्गवाचिन्यारवृत्तीयाया दर्शनात् । एकरात्रेण चात्य-  
न्तमयोगो गमनस्याभ्यास विनाऽनुपपन्न इति गमनाभ्यासोऽवगम्यते । अतः  
एवैकरात्राद्बहुकालाभ्यासविधयः प्रागुक्तद्वादशवर्षादिगुरुत्वरूपवतातिदेशिक मर-  
णान्तिक च । यदा पुनर्ज्ञानतोऽज्ञानतो वा चण्डालाद्या सहृद्भ्यश्च तदा  
'चण्डालपुत्रकसानां तु भुक्त्वा गत्वा च योषितम् । वृष्ट्यान्दमाचरेज्ज्ञानादज्ञा-  
नादैर्द्वद्वयम् ॥' इति यमाद्युक्तं सवत्सरं वृष्ट्यानुष्ठानं चाद्रायणद्वयं यथाक्रमेण  
द्रष्टव्यम् । 'स्वयोनित्वन्यजासु च' इत्येकवाक्यसमभिष्याहारात्प्रगिन्यादिष्वपीय  
मेव व्यवस्था वेदितव्या । मरणान्तिकं चाग्निप्रवेशनम् । जनन्या च भगिन्यां  
च स्वसुताया तथैव च । स्तुपायां गमनं चैव विशेषमतिपातकम् ॥ अतिपात-  
किनस्वतः प्रविशेयुर्हुताशनम् ॥' इति कात्यायनस्मरणम् । जनन्यां सहृद्भ्यो  
भगिन्यादिषु चासहृद्भ्यो भग्निप्रवेश इति द्रष्टव्यम्, महापातकस्य जननी-  
गमनस्य तदतिदेशविषयभूतातिपातकस्य भगिन्यादिगमनस्य च तुष्यत्वा-  
योगात् । यत्तु वृहहमेनोक्तम्—'चाण्डालीं पुत्रकसीं म्लेच्छीं स्तुपां च भगिनीं  
सखीम् । मातापित्रो र्वत्सरा च निश्चिन्ता शरणागताम् ॥ मातुलानीं प्रमज्जितां  
स्वगोत्रां नृपयोषितम् । शिष्यभार्यां गुरोर्भार्यां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,  
यथाङ्गिरोवचनम्—'पतितान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । मासोपवास  
कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥' इति,—तद्बुभयमपि गुरुत्वरूपातिदेशविषयेषु का-  
मतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकादर्वाह्निवृत्तौ द्रष्टव्यम् ; यदपि सवर्तवचनम्—'भगिनीं  
मातुराज्ञां च स्वसारं चान्यमावृत्ताम् । एता गत्वा स्त्रियो मोहात्सहृद्भ्यो  
समाचरेत् ॥' इति,—तदनन्तरं पृथक् विषये अकामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकाद-  
र्वाह्निवृत्तौ द्रष्टव्यम् । यदा पुनरेता एवात्यन्तस्वभिचारिणीर्गच्छति तदापीदमेव  
प्रायश्चित्तयुगलं चान्द्रायणतत्सहृद्भ्योऽसकं क्रमेण कामतोऽकामतश्च प्रवृत्तौ द्रष्टव्यम्,  
साधारणश्रीषु तु गुरुणोपभुक्तास्वपि गमने गुरुत्वरूपत्वज्ञेयो नास्ति । 'जात्युक्त  
पारदार्यं च कन्यादूषणमेव च । साधारणश्रीयां नास्ति गुरुत्वरूपत्वमेव च ॥'  
इति स्यात्प्रश्नमरणात् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवचनान्युच्चावचप्रायश्चित्तप्रतिपत्ति  
पराण्यन्वित्य विषयव्यवस्थोद्दहनीया, प्रयोगीरवभवात् लिख्यन्ते ॥ २६० ॥

भाषा—अथवा गुरुवानी का भोग करने वाला तीन वर्ष तक प्राजापत्य  
वृष्ट्युपवास करे अथवा तीन मास तक वेदमदितः का उप करता हुआ  
चान्द्रायण करे ॥ २६० ॥

इति गुरुत्वरूपप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

१ चाण्डालाद्याम् ।

एवं ब्रह्महादिमहापातकिप्रायश्चित्तमभिधायान्तरासं तत्संसर्गिप्रायश्चित्तमाह—  
एभिस्तु संवसेद्यो वै चरसरं सोऽपि तत्समः ।

एभिः पूर्वोक्तैर्ब्रह्महादिभिरेकं संवसरं योऽत्यन्तं संवसति सहाचरति सोऽपि तत्समः । यो येन सहाचरति सोऽपि तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति तदीयप्रायश्चित्तातिदेशार्थं तत्समग्रहणम्, न पुनः पातकत्वातिदेशार्थम् । तस्य 'यश्च तै सह संवसेत्' ( प्रा० २२३ ) ह्युपदेशत एव सिद्धत्वात् । अत्र च सत्यस्यतिदेशत्वे कृच्छमेव द्वादशवार्षिकं कार्यम्, साक्षान्महापातकित्वात्संसर्गिणः । 'अपि-शब्दात् केवलं महापातकिसंयोगी तत्समः कित्वातिपातकीपातक्युपपातक्यादीनां मध्ये यो येन सह संसर्गं करोति, सोऽपि तत्सम इति तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति दर्शयति अत एव मनुना सकलं प्रायश्चित्तजातमध्यायान्तेऽभिधायामिदितम् ( १११८१ )—'यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः । स तस्यैव व्रतं कुर्यात्संसर्गविशुद्धये ॥' इति । विष्णुनापि सामान्येनोपपातक्यादेनस्विसात्रसंसर्गे तत्प्रायश्चित्तभावरत्वं दर्शितम्—'पापात्मना येन सह यः संसृज्येत स तस्यैव व्रतं कुर्यात्' इति । अत एव मनुना सामान्येनैवस्विसात्रप्रतिषेधः कृतः ( १११८९ )—'एनस्विभिरनिर्णिक्तेनार्थं कंचित्समाचरेत्' इति । तथा—'न संसर्गं भजेःसद्भिः प्रायश्चित्ते कृते सति' इति च ।—एतच्च द्वादशवार्षिकादिरतितत्प्रायश्चित्तं बुद्धिपूर्वसंसर्गनिषयम् ; 'पतितेन सहोपिवा जानन्संवसरं नरः । मिथिनस्तेन सोऽद्दान्ते स्वयं च पतितो भवेत् ॥' इति देवलस्मरणात् । अज्ञानतः संसर्गं पुनर्वसिष्ठोक्तम् ( १९।४५,४६ )—'पतिततंप्रयोगे तु ब्राह्मेण यौनेन वा स्त्रीवेण वा यास्तेभ्यः सकाशान्मात्रा उपलब्धास्तासां परिव्यागस्तैश्च न संवसेदुद्दीर्घं दिशं तस्याऽनभ्रमंहिताप्यनसधीयानः पूतो भवतीति विश्वायते' इति । तथा—'ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतदपगः । एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत् ॥' इति, 'तैरिति सृतीयया सर्वनामपरामृष्टप्रकृतब्रह्महादिचतुष्टयसंसर्गिण एव महापातकिवचनान्तरसंसर्गिणो न महापातकित्वम् । मनु महापातकिसंसर्गं एव महापातकित्वे हेतुर्न ब्रह्महादिविशेषसंसर्गः; तस्य व्यभिचारात् । अतोऽत्र ब्रह्महादिमंसर्गिसंसर्गिणोऽपि महापातकिसंसर्गो विद्यत इति तस्यापि महापातकित्वं स्यात् च प्रतिषेधः । उच्यते,—स्यादेवं यदि प्रमाणान्तरागमं महापातकित्वं स्यात् । शब्दैकसमधिगम्ये तु तैस्मिद्धैर् भवितुमर्हतीति । तैरिति प्रकृतविशेषपरामर्शिनः सर्वनाम्ना ब्रह्महादिविशेषसंसर्गस्यैव महापातकित्वहेतुरसंभवावगमितात् । एवं च सति प्रतिषेधाभावोऽप्यहेतुः प्राण्यभावादेव ।

१. पातकित्वा । २. अतिदेशकत्वे । ३. इति सर्वं निरुपयम् ।  
४ तैरिति सर्वनाम । ५ तस्मिन्नेव ।



पतया समुच्चितानामेव पतनहेतुत्वं न पृथग्भूतानामस्वव्यात्, पापहेतुत्वं  
 पुनरस्येव; 'संलापस्पर्शानि.श्यास' इति देवउपचनस्य दर्शितस्यात् । अतः संलापा-  
 श्चिरहिते सहयानादिचतुष्टये कृते पञ्चममागोर्न द्वादशवार्षिकं प्रायश्चित्तं कुर्यात् ।  
 तस्यदिते तु पूर्णम् । एवं च तति पृथिस्तुरंगमेष्टो वै धारमरं सोऽपि तस्मिन् । इति  
 योगीश्वरवचनमपि सहयानादिचतुष्टयपरमेव युक्तम् । यतः संलापादीनां पृथक्पा-  
 न्नायहेतुत्वं नास्ति । अत एव मनुना (११११८०)—'संवासरैण पतति पतितेन  
 सहाचरन् । याजनाध्यापनादीनान्नु यानासनाज्ञनात् ॥' इति यानादिचतुष्ट-  
 यस्यैव संवासरैण पातियाहेतुत्वमुक्तम् । अत्र 'शासन' प्रदणं जयनस्याप्युपलक्षणम् ।  
 अत्र च 'संवासरैण पतति पतितेन सहाचरन् ।' 'यानाज्ञनासनात्' इति श्ववहि-  
 तेन संबन्धः; प्रादर्शितविष्णुवचनामुरोधात्, तथा—'संवासरैण पतति  
 पतितेन सहाचरन् । भोजनासनशय्यादि कुर्वाणः सार्धकालिकम् ॥' इति देवल्-  
 वचनाच्च । न चानन्वयद्वेषः; यानासनाज्ञनादिहेतोराचरणाधारं कुर्वन्निति भेद-  
 विवक्षया संबन्धोपपत्तेः । यथा एतया पुनराधेयसमितयेष्टयेत्येति । यद्वा 'भाचरन्'  
 इति शत्रो हेतुर्धर्मस्य गमितस्यात् । यानाज्ञनासनादिति द्वितीयायं पञ्चमी ।  
 याजनाध्यापनादीनां (सहभोजना) शत्रु संवासरैण पतति, किंतु सद्य एव प्राचीन-  
 वचननिष्पानामुरोधादेव । अतो वीनादिचतुष्टयेन सद्यः पतति यानादिचतुष्टयेन  
 तु संवासरै निरन्तराभ्यासेनेति युक्तं 'धारमरं सोऽपि तस्मिन् ।' इति अत्यन्तसंयोग-  
 चाचिन्वा द्वितीयया दर्शनादन्तरितदिवसगणना कार्या । यथा पृथक्पृथक्शत-  
 त्रयदिवसध्यापित्व संसर्गस्य भवति, ततो न्यूने तु न पतितप्रायश्चित्तं, किंसंबन्ध-  
 देव । यथाह पराशरः—'ससर्गमाचरन्विप्रः पतितादिष्वकामतः । पञ्चाह वा  
 दशाह वा द्वादशाहमथापि वा ॥ मासार्धं मासमेकं वा मासप्रथमयापि वा ।  
 अर्द्धार्धमेकमर्द्धं वा मयेदृष्टं तु तस्मिन् ॥ त्रिरात्रं प्रथमे पक्षे द्वितीये कृच्छ्रमा-  
 चरन् । चरेत्सान्तपन कृच्छ्रं तृतीये पक्षे एव तु । चतुर्थे दशरात्रे स्यात्पराशरः  
 पञ्चमे ततः । षष्ठे चान्द्रायणं कुर्यात्षष्ठमे सौन्दवद्वयम् ॥ अष्टमे च तथा पक्षे  
 षण्मासान्कृच्छ्रमाचरेत् ॥' इति । कामतः ससर्गे पुनर्विशेषः स्मृत्यन्तरेऽभिहितः—  
 सुमन्तुः—'पञ्चाहे तु चरेत्कृच्छ्रं दशाहे सप्तकृच्छ्रम् । पराशरः पर्वमासे स्यान्मासे  
 चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । 'मासप्रथमे प्रकुर्वीत कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् । षण्मा-  
 सिके तु ससर्गे कृच्छ्रं स्वदार्धमाचरेत् ॥ ससर्गे चाब्दिके कुर्याद्वद् चान्द्रायणं  
 नरः ॥' इति । अत्र चाब्दिके ससर्गे इति किञ्चिन्न्यूना इति द्रष्टव्यम्; पूर्णे तु  
 धारसरे मन्वादिभिर्द्वादशावधिकरमरणम् । यत्तु बार्हस्पत्यं वचनम्—'षण्मासिके  
 तु ससर्गे याजनाध्यापनादिना । एकत्रासनशय्यानि. प्रायश्चित्तार्धमाचरेत् ॥' इति,

याजनाध्यापनयनैकपात्रभोजनाना पश्मासात्पातित्यवचनमेतदकामतोऽव्यन्तापदि  
पञ्चमहायज्ञादिप्राये याजनेऽह्याध्यापने दुहितृभगिनीव्यतिरिक्ते च योनिसम्बन्धे  
द्रष्टव्यम् प्रकृष्टयाजनादिभि सद्य पातित्यस्योक्तत्वात् । एतद्विगलम्बनेनैव दुहि-  
तृभगिनीस्तुपागाभ्यतिपातकिससर्गिणां कामतो नवराषिक, अकामत सार्धचतुर्वा-  
षिक कल्पनीयम् । सखिपितृभ्यदारादिगामिपातकिससर्गिणां कामत पद्द्वार्षिकम्,  
अकामतस्त्रैवार्षिकम् । अथोपपातक्यादिससर्गिणामपि कामतस्तदीयमेव त्रैमासि-  
कम्, अकामतोऽर्धमिश्यूहनीयम् । पुरुषवस्त्रीणामपि महापातक्यादिमसर्गात्पा-  
तित्यमविशिष्टम् । यथाह शौनक —‘पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि  
साम्येव ।’ ब्राह्मणी हीनवर्णसेवायामधिक पततीति, अतस्तामामपि महापात-  
किप्रभृतीनां मध्ये येन सह ससर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तमर्धं बलुप्यो योजनीयम् ।  
एव बालवृद्धातुराणामपि कामतोऽर्धम्, अकामत पाद । तथानुपनीतस्यापि  
बालस्य कामत पादोऽकामतस्तदर्धमित्येषा दिक् ॥

पतितससर्गप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धस्य यौनसम्बन्धस्य ऋचिप्रतिप्रसवमाह—

कन्या समुद्बहेदेपां सोपवासामर्किकचनाम् ॥ २६१ ॥

एषा पतितानां कन्या पतितावस्थायामुत्पन्ना सोपवासार्था कृततत्ससर्गकालो-  
चितप्रायश्चित्तमर्किकचनामगृहीतवस्त्रालकारादिविस्तृघनामुद्बहेत् । ‘कन्यां समुद्ब-  
हेत्’ इति चदन्स्वयमेव क-यां त्यक्तपतितससर्गां समुद्बहेत् पुन पतितहस्ताप्रति-  
गृहीयादिति दर्शयति । एव च सति पतितयौनससर्गप्रतिषेधविरोधोऽपि परिहृतो  
भवति । अथ चार्धो बृहद्वारितेन स्पष्टीकृत, —‘पतितस्य तु कुमारी विवस्त्राम-  
होरात्रोपिता प्रात शुक्लेनाहतेन घाससाद्वादिनां नाहमेतेषां न ममेतै इति  
शिरुश्चैरभिदधाना तीर्थे स्वगृहे वोद्बहेत्’ इति । तथा ‘एषां कन्यां समुद्बहेत्’  
इति यचनास्त्रीव्यतिरिक्तदीयापरस्य ससर्गानर्हतां दर्शयति । अत एव वसिष्ठ  
—‘पतितेनोत्पन्न पतितो भवति अन्यत्र स्त्रिया, सा हि परगामिनो तामरि-  
कथामुपेयात्’ इति ॥ २६१ ॥

भाषा—इन महापातकियों के साथ जो एक वर्ष तक निवास करना है  
वह भी इनके समान महापातकी हो जाता है । इन पानकियों की कन्या से  
उन्हें उपवास करा के पिता का ( वस्त्रादि ) कुछ भी न लेते हुए विवाह  
किया जा सकता है ॥ २६१ ॥

इति ससर्गप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निषिद्धमसर्गं प्रायश्चित्तप्रसङ्गास्त्रिषिद्धससर्गोत्पन्नप्रतिलोमरथे प्रायश्चित्तमाह—

चान्द्रायणं चरेत्सर्वानवकृष्टाग्निहत्य सु ।

अवकृष्टा सूतमागधाद्य’ प्रतिलोमोत्पन्नारतेषां प्रत्येक हनने चान्द्राय-  
णम् । तथा च शङ्ख —‘सर्वेषामवकृष्टानां वधे प्रत्येक चान्द्रायणम्’ इति । यद्वा

द्विरमोक्तम्—'सर्वानयजानां गमने भोजने संवमापणे । पराङ्गेण विशुद्धिः स्यादित्याद्विरसभापितम् ॥' इति पराकं कुर्यात् । तत्र कामतः सूतादिवधे चान्द्रायणम् , अकामतस्तु सूतवधे पराकः, वैदेहकवधे पादोनम् , चण्डालवधे द्विपादः, मागधवधे पादोनः पराकः, उत्तरि द्विपादः, आयोगवे च पादद्वयम्, अन्यथैव दिशा चान्द्रायणस्यापि तारनग्यं कल्प्यम् । यत्तु ब्रह्मगर्भवचनम्—'प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः । अगतरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विपट् ॥' इति,—तदावृत्तिविषयम् । तत्र सूतवधे पणमामाः, वैदेहकवधे चत्वारः, चण्डालवधे द्वाविति योग्यतयान्वयः । तथा मागधवधे चत्वारः, उत्तरि द्वैमासिकं, आयोगवे च द्वैमासिकमिति व्यवस्था ।

नैमित्तिकव्रतानां जपादिसाप्यत्वाद्विधाविरहिणां च शूद्रादीनां तदनुपपत्ते-  
राज्यावेक्षणादिसाप्येपिविधान्धानामनधिकारमाशङ्क्याह—

शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि कालेनानेन शुद्ध्यति ॥ २६२ ॥

यद्यपि शूद्रो जपाद्यधिकारहीनस्तथाप्यनेन द्वादशवारिकादिकालसंगणनेन व्रतेन शुद्ध्यति । 'शूद्रप्रदणं स्त्रीणां प्रतिलोमजानां चोपलक्षणम् । यद्यपि तस्य गायत्र्यादिजपासंभवस्तथापि नमस्कारमन्त्रज्ञपो भवति । अत एव स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—'उच्छिष्टं चास्य भोजनमनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः' इति । यद्वा वचनबलाज्जपादिरहितमेव व्रतं कुर्यात्—'तस्मात्सूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविवर्जितम् ॥' इत्यङ्गिरः-  
स्मरणात् । तथाऽवरमपि तेनैवोक्तम्—'शूद्रः कालेन शुद्ध्येत गोमाह्वनहिते रतः । दानैर्वाऽप्युपवासैर्वा द्विजशूद्रूपया तथा ॥' इति । यत्तु मानवम् ( ४।८० )—'न चास्योपदिशेऽहमं न चास्य व्रतमाचरेत्' इति शूद्रस्य व्रतोपदेशनिषेधपरं वचनं,—तदनुपपत्तश्चशूद्राभिप्रायम् । यद्यपि स्मृत्यन्तरवचनम्—'कृच्छ्राप्येतामि कार्याणि सदा वर्णव्रजेण तु । कृच्छ्रेष्वेतेषु शूद्रस्य नाधिकारो विधीयते ॥' इति,—तस्मात्कृच्छ्राभिप्रायम् । अतः सोशूद्रयोः प्रतिलोमजानां च त्रैवर्णिकवद् व्रताधिकार इति सिद्धम् । यत्तु गौतमवचनम् ( ४।२५ )—'प्रति-  
लोमा धर्महीनाः' इति,—तदुपपत्त्यादिविशिष्टधर्माभिप्रायम् ॥ २६२ ॥

भाषा—समो भवकृष्टो ( सूत, मागध भादि उच्चवर्ण की स्त्री से निम्न-  
वर्ण के पुरुष द्वारा लपन्न ) में किसी की हरया करने पर चान्द्रायण व्रत करे । यद्यपि शूद्र को जप आदि करने का अधिकार नहीं होता तथापि वह निर्धारित समय तक व्रत करने पर पाप से शुद्ध हो जाता है ॥ २६२ ॥

इति महापातकशायश्चित्तप्रकरणम् ।



नात्, गोषु ग्राहणसंस्थास्त्विति दण्डभूषणदर्शनाद्य । वैश्यसधन्विन्यास्तु तादृ-  
 ग्विधे व्यापादने मासमतिकृच्छ्रं कुर्वात् । अतिकृच्छ्रे स्वाधे त्रिराश्रये पाणिप्राञ्च-  
 भोजनमुक्तम् । अग्नये त्रिरात्रेऽनशनम् । अतोऽतिकृच्छ्रमेण मासव्रते क्रियमाणे  
 पद्भ्यामुपवासो भवति । अतुर्विंशत्यहे च पाणिप्राञ्चभोजनम् । ततश्च कृच्छ्रमत्या-  
 न्नायकूपनया किञ्चिन्न्यूनं धेनुपञ्चकं भवतीति पूर्वस्माद् अतद्व्याहृतिव्येन वैश्य-  
 स्वामिकगोवधविषयता युक्ता । तादृश एव विषये शुद्धस्वामिकगोहत्यायां मास  
 प्राजापर्यव्रतं द्वितीयम् । तत्र च सार्धप्राजापर्यव्रतमकेन प्रत्याग्रायेन किञ्चिद्-  
 धिकं धेनुद्वयं भवतीति पूर्वभ्यो लघुतमस्याच्छुद्धविषयतोचिता । अथ चैतस्याय-  
 श्विचत्तुष्टय साधारकर्तुं ग्राहकप्रयोजकानुमन्तुषु शुभलघुभावतारतम्यापेक्षया  
 पूर्वोक्त एव विषये योजनीयम् । यत्तु वैष्णव व्रतत्रयम्—'गोघ्नस्य पञ्चगव्येन  
 मासमेकं पलत्रयम् । प्रयहं स्यात्पराको वा चान्द्रायणमथापि वा ॥' इति, यच्च  
 काश्यपीयम्—'गां हत्वा तच्चर्मणा प्रावृतो मास गोष्ठेशयस्त्रिपत्रण्णायी निरस्य  
 पञ्चगव्याहार' इति, यच्च क्षातातपीयम्—'मास पञ्चगव्याहार' इति, तस्य  
 अकमपि याज्ञवल्क्यीयपञ्चगव्याहारसमानविषयम् । यच्च शङ्खप्रचेनोभ्यामु-  
 क्तम्—'गोघ्न पञ्चगव्याहार पञ्चविंशतिरात्रमुपयसेःसशिल वपन कृत्वा गोच-  
 र्मणा प्रावृतो गाश्रानुगच्छन् गोष्ठेशयो गां च दद्यात्' इति । एतच्च याज्ञ-  
 वल्क्यीयमासातिकृच्छ्रव्रतसमानविषयम् । 'दशरित्रात्र चोपोष्य' इत्येतद्विषय  
 चाज्यस्यगुणिनो ह-तुर्वेदितव्यम् । अत्रैव विषये पञ्चगव्याहारस्य तु द्वितीय  
 कारयपीय 'मास पञ्चगव्येने ति प्रतिपाद्य 'वष्टे काले पयोभक्षो वा गच्छन्तीष्व  
 शुगच्छेत्तासु सुस्रोपविष्टासु चोपविशेत्तातिष्ठव गच्छेत्तातिविषमैणाधनारयेत्ता  
 वपोदके पायथेदन्ते ग्राहणान्भोजयित्वा तिलधेनु दद्यात्' इति द्रष्टव्यम् । अत्रा-  
 प्यशक्तस्य 'गोघ्नो मास यवागू प्रसृतितन्दुलमृतं भुञ्जानो गोभ्य प्रिय कुर्वन्  
 शुद्धयति' इति पैठीनसिनोक्त वेदितव्यम् । यत्तु सौमन्तम्—'गोघ्नस्य गोप्रदान  
 गोष्ठे शयन द्वादशरात्र पञ्चगव्याशन यवानुगमन च' इति, यच्च सवर्तेनो-  
 क्तम्—'सक्त्यावकभैसाशी पयो दधि घृत सकृत् । एतानि क्रमशोऽरनीया-  
 न्मासार्धं सुसमाहित ॥ ग्राहणान्भोजयित्वा तु गा दद्यादारगशुद्धये ॥'  
 इति, यच्च दार्हस्पत्यम्—'द्वादशरात्र पञ्चगव्याहार' इति तत्रितयनपि  
 याज्ञवल्क्यीयमासप्राजापर्यवेन समानविषय, मृतकल्पगोहत्याविषय वा, विषमप्र-  
 देशत्रासेन जमितव्याधितो मरणविषय वा वेदितव्यम् । तदिदं सर्वं प्रागुक्तमका-  
 मविषयम् । यदा पुनरीदृग्बिषामविशिष्टविषमस्वामिकामविशिष्टा गां कान्त  
 प्रमापयति तदा मनुना मास यवागूपान, मासद्वय हविष्येण अतुर्यकालभाजन,

मामत्रय वृषभैकादशगोदानयुक्तं शाकादिना वर्तनमिति व्रतव्रित्तयमाभ्यातम् ।  
यथाह ( १११०८-११६ )—‘उपपातकसयुक्तो गोघ्नो मास यवान्पिबेत् । वृत्त-  
चापो वसेद्गोष्ठे चर्मणाद्रेण’ सवृत । अतुर्थकालमरणीयादचारलवण मितम् ।  
गोमूत्रेण चरस्नान द्वौ मासौ नियतेन्द्रिय ॥ दिवानुगच्छेत्ता गारस्तु तिष्ठन्पूर्व-  
रज पिबेत् । शुश्रूषिष्व नमस्कृत्य रात्रौ वीरासन वसेत् ॥ तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु  
मज्जन्तीष्वप्यनुव्रजेत् । आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमस्तर ॥ नातुरामं  
भिशरतां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः । पतितां पङ्कलग्ना वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥  
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते चाति वा शृशम् । न कुर्वीतामनस्त्राण गोरकृष्वा  
स्तु शक्ति ॥ आत्मनो यदि वाऽ-येषां गृहे चेत्रेऽथवा खले । भक्ष्य-र्ता न कथ-  
येत्पिबन्त चैव वस्मकम् ॥ अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो सा अनुगच्छति । स  
गोहृत्याकृत पापं त्रिभिर्मासैर्भयपोहति ॥ वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रत ।  
अविद्यमाने सर्वेष्व वेदविद्भयो निवेदयेत् ॥’ ( १११०८-११६ ) इति, एत-  
न्व्रित्तय याज्ञवल्कीयमासप्राजापत्यमासपञ्चगव्याशनवृषभैकादशगोदानयुक्तत्रिरा-  
त्रोपवासरूपव्रतव्रित्तयविषय यथाक्रमेण द्रष्टव्यम् । यत्तु द्विरसा मानवेतिकर्तव्य-  
त्तायुक्तं त्रैमासिकमभिधायाधिकमभिहितम्—‘अक्षरलवणं रुक्षं पृष्टे कालेऽस्य  
भोजनम् । गोमतीं वा जपेद्विधामोद्धार वेदमेव च ॥ व्रतवद्धारयेद्दण्डं समन्त्रा  
चैव सेखलाम् ॥’ इति, तन्मानवविषयम् । एव पुष्टितारण्यादिकिञ्चिद्गुणातिश-  
ययोगिन्यां द्रष्टव्यम् । ‘अतिबालामतिकृशामतिवृद्धां च रोगिणीम् । हत्वा पूर्व-  
विधानेन चरेदर्धं व्रतं द्विज ॥’ इति पुष्टितारण्यादिरहितायां गव्यर्धंप्रायश्चित्त-  
दर्शनात् । यदा तु याज्ञवल्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतनिमित्तभूतां गामविशिष्टस्वा-  
मिकां जातिमात्रयोगिनीं कामतो ध्यापादयति तदा ‘विहितं यदकामानां कामास्तद्  
द्विगुणं चरेत्’ इति न्यायन पूर्वोक्तमेवाकामविहितं मासातिकृच्छ्रव्रतं द्विगुणं कुर्यात् ।  
यत्तु हारीतेन—‘गोघ्नस्तच्चर्मोर्ध्ववाल परिधाय’ इत्यादिना मानवीमितिकर्तव्यता-  
मभिधायोक्तम्—‘वृषभैकादशाश्च गा दत्त्वा त्रयोदशे मासे पूतो भवति’ इति  
तत्सवनस्थश्रोत्रियगोवधे अकामकृते द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठेन—‘गां चेद्-या-  
त्तस्याश्चर्मणाद्रेण परिवेष्टितं पणमासान् कृच्छ्रव्रतकृच्छ्रान्वातिष्ठेत्पभवेहतौ दद्यात्’  
इति पाण्डासिकं कृच्छ्रव्रतकृच्छ्राद्युत्थानमुक्तम्, यदपि देवलेन—‘गोघ्नं पणमासां  
स्तच्चर्मपरिवृत्तो गोघ्रात्माहारो गोघ्नजनिवासी गोभिरेव सह परन् प्रमुष्यते’  
इति,—तद् द्वयमपि हारीतीयेन समानविषयम् । तत्रैव कामकारकृते कात्याय-  
नीयं त्रैवार्षिकम्—‘गोघ्नस्तच्चर्मसवीतो वसेद्गोष्ठेऽथवा पुनः । गास्वानुगच्छेत्स  
तत मोनी चौरासनादिभिः ॥ वर्षशीतातपस्त्रेणशवह्विपङ्कमयार्दितः । मोचयेत्स

ध्वजेन पूयते वासरैः छभि ॥' इति द्रष्टव्यम् । यच्च शाङ्खं त्रैवापिकम्—'पादं तु शूद्रहायायामुद्वयागमने तथा । गोवधे च तथा कुर्यात्परस्त्रीगमने तथा ॥' इति,—तदपि कार्यायनीयव्रतसमानविषयम् । यत्तु यमेनाङ्गिरसीमितिकर्तव्यतामभिधाय 'गोसहस्र शतं चापि दद्यात्सुचरितव्रत । अविद्यमाने सर्वस्य वेदविज्ञयो विवेदपत् ॥' इति गोसहस्रयुक्तं गोशतयुक्तं च द्वैमासिकं व्रतद्वयमभिहितम्, तत्र यदा सवनस्थश्रोत्रियादिदुर्गतघहुकुटुम्बिब्राह्मणसयन्धिनीं कपिलावर्माद्भूता गर्भिणीं बहुवारतरुणिमादिगुणशालिनीं निर्गुणो धनवान्सप्रयानखद्गादिना व्यापादयति तदा गोसहस्रयुक्तं त्रैमासिकं कुर्यात्; 'गर्भिणीं कपिलां दोग्ध्रीं होमधेनुं च सुधताम् । खद्गादिना घातयित्वा द्विगुणं व्रतमाचरेत् ॥' इति विशिष्टाया गवि यार्हृत्परस्ये प्रायश्चित्तविशेषदर्शनात् । अत एव प्रचेतसा—'स्त्रीगर्भिणीगोगर्भिणीवालवृद्धवधेषु भ्रूणहा भवति' इति । ईदृग्विधमेव गोवधमभिसंधाय ब्रह्महायाव्रतमतिदिष्टम् । द्वितीयं तु वास्य गोशतदानयुक्तं त्रैमासिकं व्रतं कात्यायनीयव्रतविषये धनवतो द्रष्टव्यम् । यत्तु गौतमेन ( २२।१८ ) वृषभैकशतगोदानसमुपितं त्रैवापिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं वैश्यवधेऽभिधाय गोवधेऽतिदिष्टम्—'गा च हत्वा वैश्यवध' इति । एतच्च त्रैवापिकं व्रतप्रत्यागनायभूतनवतिधेनुभिः सार्धं वृषभैकशता गावो नवन्यून द्विशतं भवतीति गोसहस्रयुक्तं त्रैमासिकं व्रतान्यूनवात्पूर्वोक्तविषये एव कामतो वधे । यद्वा तत्रैव विषये गर्भरहिताया कामतो वधे द्रष्टव्यम् । तादृशविधाया एव गर्भरहितायास्वकामतो हननेऽपि कार्यायनीयमेव त्रैवापिकं कर्तव्यम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'काष्ठलोष्टाश्मभिर्गाव शस्त्रैर्वा निहता यदि । प्रायश्चित्तं कथं तत्र शस्त्रेऽशस्त्रे विधीयते ॥ काष्ठे सान्तपनं कुर्यात्प्राजापत्यं तु लोष्टकं । तप्तकृच्छ्रं तु पापाने शस्त्रे चाप्यतिकृच्छ्रकम् ॥ प्रायश्चित्ते सतश्चीर्णे कुर्याद् द्याह्मणभोजनम् । त्रिशद्वा वृषभं चैकं दद्यात्स्यस्य दधिणाम् ॥' इति,—तत्पूर्वोक्तगोसहस्रशतनादिदानं त्रैवापिकादियतविषयेऽप्येव काष्ठादिमाधनविशेषजनितवधनिमित्तसान्तपनादि पूर्वकथ्यप्रतिपादनपरं, ननु निरवेशं, लघुत्वाद् व्रतस्य । तथा यवोविशेषादपि प्रायश्चित्तविशेष उक्त—'अतिवृद्धामनिकृतामनिशालां च रोगिणीम् । हत्वा पूर्वविधानेन शरेदर्धं व्रतं द्विज ॥ ब्राह्मणाभ्याजयच्छक्रेया दद्याद्देमतिर्वास्तथा ॥' इति । नीरोगादिरधे पद्धिदित् तस्यार्धम् । वृद्धप्रचेतसाप्यथ विशेष उक्त—'पुरुषं हते वासे कृच्छ्रादो विधीयते । अशुद्धिपूर्वं पुंस रयाद् द्विपादस्तु द्विदापने ॥ त्रिहापनं त्रिपाद् रयात्प्राजापत्यमनपरम् ॥' इति । तथा गर्भिण्या वधे यदा गर्भाऽपि निहतो भवति तदा 'प्रतिनिमित्त

नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायेनाविशेषेण द्विगुणघ्नप्राप्ती षट्त्रिंशन्मते विशेष उक्त — पाद उपपन्नमात्रे तु द्वौ पादौ दृढता गते । पादोन घ्नत मुदिष्ट ह्रस्वा गर्भमचेतनम् ॥ अङ्गप्रत्यङ्गसपूर्णे गर्भे चेत समन्विते । त्रिगुण गोघ्नत कुर्यादेवा गोघ्नस्य निष्कृति ॥' इति । बहुकर्तृके तु घ्नने सवर्तापस्तम्बी विशेषमाह तु — 'एका चेद्बहुभि काचिद्देवाद्द्वयापादिना क्वचित् । पाद पाद तु हस्यायाश्चरेयुस्ते पृथक्पृथक् ॥' इति । यादृश्विघ्नोहरयाया यद्घ्नतमुपदिष्ट तत्पाद प्रत्येक कुर्युर्वचनात् । 'एका चेत्' इत्युपलक्षणम् । अतो बहुभिर्द्वैयोर्वहना च व्यापादने प्रतिपुरुष पादद्वय पादोन वा कल्पनीयम् । -एनञ्चाकामतो वधे द्रष्टव्यम् देवादिनि विशेषणोपादानात् । कामकारे तु बहूनामपि प्रत्येक कृत्स्नदोषसम्बन्धात्कृत्स्नघ्नतसम्बन्धो युक्त, सत्रिणामिव प्रति-पुरुष कृत्स्नव्यापारसम्बन्धात्, 'एक घ्नतां बहूनां तु यथोक्ताद् द्विगुणो घ्न' इति प्रत्येक दण्डे द्वैगुण्यदर्शनाच्च । यदा त्वेकेनैव रोधेनादिव्यापारेण बहवो गावो व्यापादिनास्तत्र सवर्तापस्तम्बी विशेषमाह तु — व्यापसानां बहूना तु रोधने व-धनेऽपि वा । भिषङ्मिथ्योपचारे च द्विगुण गोघ्नत चरेत् ॥' इति । बहुष्वपि व्यापक्षेण न प्रतिनिमित्त नैमित्तिकानुष्ठान, नापि त-त्रेण किञ्च वचनबलाद् द्विगुण मेव । तथा भिषद्यपि विहृद्द्वौपधदानेनैकस्या अन्धकामतो व्यापादने द्विगुण गोघ्नत कुर्यात् । भिषद्यतिरिक्तस्य केवलम् उपकारार्थं प्रवृत्तस्य स्वकामत प्रति-कूलौपधदाने व्यास आह — औपध लवण चैव पुण्यार्थमपि भोजनम् । अति रिक्त न दातव्य काले स्वल्प तु दापयेत् ॥ अतिरिक्ते विपत्तिश्लेष्कृच्छ्रपादो विधीयते ॥' इति ॥ यच्चापस्तम्बेनाक्षम् — 'पादमेक चरेद्दोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् । योजने पादहीन स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥ इति, -तद्व्यवहितव्यापारिणो निमित्तकर्तृविज्ञेय, न साक्षारकर्तुं । साक्षारकर्तृनिमित्तिनोश्च भेदस्तेनैव दर्शित - 'पापाणैर्लकुंटाैर्वाऽपि शस्त्रेणा-येन वा बलात् । निपातयन्ति ये गास्तु कृत्स्न कुर्युं र्घ्न हि ते ॥ तथैव बाहुजङ्घोरुपाशर्वीवाहृग्निमोटनै ॥' इति । एतदुक्त भवति — पापाणस्त्राङ्गादिभिर्घ्नीवामोटनादिना वा येऽङ्गानि पातयन्ति ते साक्षाद्-तारस्ते ध्वेव कृत्स्न प्रायश्चित्तम् । ये तु व्यवहितरोधश्च-धादिव्यापारयोगिनस्ते निमित्ति नस्तथा न कृत्स्नघ्नतसव-ध किञ्च तदत्रयवैरेव पादद्विपादादिभिरिति । तत्रै च रोधादिना व्यवहितव्यापारस्वाविशेषेऽपि वचनात्कचित्पाद क्वचिद् द्विपाद, पादोन क्वचिदिति युक्तम् । अत्राह पराशर — 'गवां बन्धनयोवत्रैस्तु भये-मृत्युरका-मत । अकामकृतपापस्य प्राजापत्य विनिर्दिशेत् ॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्या द् द्वास्त्रणभोजनम् । अमङ्गलसहितां गौ च दद्याद्द्विभय दक्षिणाम् ॥' इति । अय

१ बन्धनादि । २ ब-धने तथा । ३ लघुद्वैवपि । ४ तत्रावरोधा-दिना ।

च प्राजापत्यो यदि रोधादिकं कृत्वा तज्जन्यप्रमादपरिजिहीर्षया प्रत्यवेसमाण  
 आस्ते तदा द्रष्टव्यं, 'अकामकृतपापस्य' इति विशेषणोपादानात् । यदा तु न  
 प्रमादसंस्मरणं करोति, तदा 'पादमेकं चरेदोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् । योजने  
 पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥' इत्यङ्गिरोदृष्टं त्रैमासिकपादं किञ्चिदधिकं वा  
 विशाल्यहर्गोषधप्रतं कुर्यात् । आपस्तम्बेनापि विशेष उक्तः—'अतिदोहानि  
 चाहान्या नासिकाच्छेदने तथा । नदीपर्वतसरोधे मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति ।  
 लक्षणमाश्रोपयोगिनि तु दाहे न दोषः, 'अन्यघ्राङ्गनलक्षणाया वाहने मोचने  
 तथा । सायं सगोपनार्थं च न दुष्येद्गोधनबन्धने ॥' इति पराशरस्मरणात् ।  
 अङ्गनं स्थिरचिह्नकरणम्, लक्षणं सांप्रतोलक्षणम् । वाहने शास्त्रोक्तमार्गेण  
 रक्षणार्थमपि नालिकेरादिभिर्यन्धने भवत्येव दोषः, 'न नालिकेरेण न क्षाणवा  
 लैर्न चापि मौञ्जेन न बन्धदृङ्खले । एतैस्तु गावो न निबन्धनीया वद्व्या तु  
 तिष्ठेत्परशु गृहीत्वा ॥ कुशैः काशैश्च बध्नीयारम्याने द्वोपविवर्जिते ॥' इति व्यास-  
 स्मरणात् । तथान्योऽपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'घण्टाभरणदोषेण विपत्तिर्धर्म  
 गोर्भवेत् । कृच्छ्रार्थं तु भवेत्तत्र भूपणार्थं हि तस्मिन् ॥ अतिदोहेऽतिदमने सपाते  
 च यो जने । वद्व्या शृङ्खलाशैश्च मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति । पालनाकरणा  
 दिनोपेक्षायां ऋषिप्रायश्चित्तविशेषस्तेनैवोक्तः,—'जलीयपवले मन्ना मेघविद्यु-  
 द्भतापि वा । शम्भे वा पतिताऽकस्माच्छृण्वदेनापि भक्षिता ॥ प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्र  
 गोस्वामी प्रतमुत्तमम् । शीतवासाहता वा स्याद्दुग्धनहर्तापि वा ॥ शून्यागार  
 उपेक्षायां प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥' इति । इदं तु कार्यान्तरविरहेऽप्युपेक्षायां  
 वेदिनस्यम् । कार्यान्तरस्य प्रतयोपेक्षायां स्वर्धम्—'पश्वलीघमृगभ्यामग्रापदा-  
 दिनिपातने । श्वप्रपातसर्पादिर्मृते कृच्छ्रार्थमाचरेत् ॥ अपालयास्तु कृच्छ्र  
 स्याच्छून्यागार उपप्लवे ॥' इति विष्णुस्मरणात् । तथा सत्यपि व्यापादने ऋषि-  
 दुपकारार्थमवृत्तौ घचनाहोषाभावः । यथाह तत्र—'यत्रने गोपिक्विसार्धं  
 मूर्धगर्भविमोचने । यत्ने कृते विपत्तिं स्यान्न न पापेन लिप्यते ॥' इति । यत्रण  
 'व्यापादिनिर्घातनार्थं सदृशाहुशादिप्रथमम् । तथा—'औषधं स्नेहमाहार  
 दक्षद्रोमाहणे द्विज । दीपमाने विपत्तिश्चेत्तं न पापेन लिप्यते ॥ प्रामघाते  
 दारीपेण घेरमभद्राग्निपातने । दाहश्च दनिराभेदप्रयोगैरुत्तमम् ॥ द्विजानां  
 गोहितार्थं च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' अत्र पराशरोऽप्याह—'प्रामघाते  
 दारीपेण घेरमभद्राग्निपातने । अतिपृष्टिहतानां च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥'

१. मरणम् । २ इ विदित्यद् । ३ अविज्ञेयः । ४. मोचनेऽपि वा ।  
 ५. मौञ्जेन च शृङ्खलेन । ६. गोकृच्छ्रार्थं भवत् । ७. अतिदोहादिदमने ।  
 ८. मृतापि वा । ९. गृहगर्भः । १०. व्यापादि ।

इति । तथा—'द्वयगाने च धर्माधिं गृहदाहे च वा मृता । प्रामशहे तथा घ रे प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति । इदं तु यन्धनरहितस्यैव पत्नो, कथञ्चिद् गृहादिदाहेन गृहविषयम् । इतरथा एतत्पर्यवेनाहम्—'हाम्तारेष्वथ दुर्गेषु गृहदाहे तेषु च । यदि तत्र विद्यति स्वाग्नाद् एको त्रिधोयने ॥' इति । तथाऽस्या दिग्भेदे मरणाभावेऽपि ऋषिप्रायश्चित्तमुक्तम्—'अरिषमन्नं गयीं कृत्वा लाङ्गुल-  
 ५८९ इति । पाठेन इत्यनुज्ञाणां सामाधिं तु यथा-विषेत् ॥' इति । यथा-  
 द्विरमम्—'गृहदाह-गारियमन्त्रे वा चर्मनिर्मोचनेऽपि वा । दत्तारात्र विवेद्वज्र  
 स्वस्थापि यदि गौर्भवेत् ॥' इति 'यज्ञ-दत्तवाप्य श्रीरादिवर्तनमुक्तं तद्वत्त-  
 विषयम् । इदं च प्रायश्चित्तं गोश्यामिने स्वापछर्ग-संज्ञी तां द्वायैव कार्यम् ।  
 यथाह पराशर—'प्रमादने प्रागमृतां दद्यात्तप्रतिरूपकम् । तस्यानुरूप  
 मूत्रय वा दद्यादित्यमर्थोच्यते ॥' इति । मनुस्मृति ( ८।२८८ )—'यो यस्य  
 द्विग्वाद् द्वायानि ज्ञानताऽज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च  
 ताममम् ॥' इति । एतच्च पूर्वोक्तप्रायश्चित्तज्ञानं प्राज्ञस्यैव हन्तुर्वेदिस्यम् ;  
 अत्रिपादेऽपि हन्तुर्वृद्धद्विष्णुना विज्ञेयोऽभिहित—'विमे तु सकल देयं पादोन  
 अत्रिने स्मृतम् । घेरपार्थं पाद् एकरमु गृहजानियु क्षरयते ॥' इति । यथाद्वि-  
 शोचनम्—'परंथा प्राज्ञगानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैरयानां त्रिगुणा  
 भोक्ता पर्वद्वयं प्रत स्मृतम् ॥' इति—तत्रानिलोम्यन वाग्दण्डपाप्म्यादिविषयम् ।  
 तथा स्त्रीपालवृद्धादीनां स्वर्धं, अनुपनीतस्य बालस्य पाद् इति च प्रागुक्तमनुसंधे-  
 यम् । स्त्रीणां पराशरेण विशेषऽभिहित—'वपन नैव नारीणां नानुपजवा  
 म्पादिकम् । न गोष्ठे क्षपन तासां न वसीरन्गशजिनम् ॥ सवन्किंदाप्तस्तदुत्तरस्य  
 एदपदद्वयम् । सर्वत्रैव हि नारीणां शिरसा मुण्डन स्मृतम् ॥' इति । पुरुषेषु  
 च विशेषं सर्वत्रैव दर्शित—'पादेऽङ्गरोमवपन द्विपादे रमधुगोऽपि च । त्रिपाद्  
 तु क्षिपावर्जं सतिग्व तु निपातने ॥' इति । पादप्रायश्चित्ताहंस्य कण्ठादधस्तना-  
 द्वेरोम्गामेव वपनम् । अर्धप्रायश्चित्ताहंस्य तु रमधुगामपि । पादोनप्रायश्चित्ताहंस्य  
 पुनः क्षिरोगतानामपि क्षिपावर्जितानाम् । पादेषु त्रिपादहंस्य तु क्षिपावस्य  
 सकलद्वजात्तरयति । एवमेतद्विगतलम्बनेनान्येषामपि स्मृतिवचसां विषयो  
 तिरूपगीवः ॥ ३२३-२६४ ॥

भाषा—गायत्री हत्या करने वाला पञ्चमस्य ( गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत ) पीवे और एक मास तक सयम के साथ रहे । वह गोशाला में सोना, गायों के पीछे चलने ( सेवा करने ) और ( मास के अन्त में ) एक गौ का दान करने पर शुद्ध होता है । अथवा सावधान होकर ( एक मास तक )

१ गृहभग्नेऽरिषमन्त्रे वा । २ द्वायानि द्विरवाचो यस्य ।

कृष्ट और अतिकृष्ट मत्त करे और तीन दिन रात तक उपवास करके दस गायों और एक सौंड का दान करे ॥ २६३-२६४ ॥

इति गोवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अधुनाऽन्येषामुपवासकानां प्रायश्चित्तमाह—

उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन वा ।

पयसा चापि मासेन पराकेणाथवा पुनः ॥ २६५ ॥

एवमुक्तेन गोवधप्रतेन मासं पञ्चगव्याशनादिनाम्येषां प्रारपतादीनामुपपात-  
कानां शुद्धिर्भवेत् । चान्द्रायणेन वा वषट्पमाणलक्षणेन मास पयोप्रतेन  
वा पराकेण वा शुद्धिर्भवेत् । अत्रानिदेशमासार्थाद्गोवधमृतगोपरिषर्वादि-  
भिर्गोवधानुपकरणै कतिपयैर्मृतपयस्यगम्यते ।-एतच्च मृतशुद्धयमकामकारे  
नराःपदेक्षवा विकृषित द्रष्टव्यम् ; कामकारे तु 'एतदेव मत्त कुर्षुदपपातकिनो  
द्विजाः । अथकीर्णिवर्ज्यं शुद्धयर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥' ( मनु ११११० )  
इति मनुक्त ग्रंथमिदं द्रष्टव्यम् । अत एव वचनात्प्र प्रायश्चित्तानिदेश सर्वेषामु-  
पपातकशुद्धितानामुक्तप्रायश्चित्तानामनुक्तप्रायश्चित्तानां चावकीर्णिवर्जितानामवि-  
शेषेण वेदितव्यं । अथकीर्णिनस्तु प्रतिपक्षोक्तमेव । मनुमुक्तप्रायश्चित्तविषयतयै-  
वानिदेशस्य युक्ता, इतरथा प्रतिपक्षोक्तप्रायश्चित्तवाच्यतावेत्त्वमहात् । मैवम् ;  
तथा मनुक्तनिष्कृतीनामुपपातकशुद्धिप्राप्तौऽनर्थकं स्यात् । यदि परमुपपातकमप्ये-  
सामान्यतः पठितस्यान्यत्र विशेषतः प्रायश्चित्तान्तरमुच्यते । यथा—'अपाःपानां  
च याजनम् । शान्कृष्टानाञ्चोद्ग्राहयदाजकोऽविधरन्नपि ॥' इति च एव त्रिषण-  
केषु परिहितं न पुनर्बिधयतः पठितस्यैवान्यत्रापि विधीयत एव यत्र प्रायश्चित्त-  
मुच्यते सोऽपि यथा 'इत्येवमर्थं द्रुमपदेद्' 'शुद्धगुणमलतावीररूपेऽग्ने लक्ष्यशुद्ध-  
गतम्' इति । अतो प्रारपतादिषु भरिमन् प्राये जाग्राम्भरे वा दृष्टे प्रायश्चित्त-  
मह 'उपपातकशुद्धिः स्यादेवम्' इत्यादिना प्रतिपादिनप्रत्यक्षतुष्टव्य समविषयता-  
व्यपनेन विद्वद्वो विषयविभागो बाधयणीयः । तानि च मृतप्रायश्चित्तप्रायश्चित्तानि  
पाठक्रमेण प्रारपतादिषु याजयिष्यामः । तत्र प्रारपताषो मनुनेऽमुक्तम् ( ११११९ )  
—'देवो द्विजानां सावित्री मनुष्येभ्यः यथाविधि । तामारविश्या श्रीकृष्टान्वया  
विष्णुपनामयेत् ॥' इति, यश्च यममोक्षम् ( १११११ )— सावित्री पतिमा वश्य  
दत्त यथाग्नि पञ्च च । यतिश्च यवन कृत्वा मत्त कुर्षांममाहित ॥ एतद्विशतिरात्र  
च विदोऽपगृणित्वापकम् । इतिवा भास्वयेत्येव मादृश्यामस्य यत्र च ॥ तथा याजक-  
शुद्धयं गवपातयम मृतम् ॥' इति,—गदुमवमपि याजकवहावमानपयोमनविष-  
यम् । यत्तु क्विष्टेन चम्—'पतिवसाविश्राव उहालकमत्त चरेद् द्वी मानी याव  
द्वम दमंवेत्तमाय यवना यवमाविषयाऽहरात्र गृणेन यद्वाप्रमयाचिनन त्रिरात्रम-

८मज्ञोऽहोरात्रमुपवसेदशमेधावभृथ गच्छेद् प्रायस्तोमेन वा यजेत' इति । अत्रेय  
 व्यवस्था—यस्योपनेप्राद्यभावेन तत्कालातिक्रमस्तस्य याज्ञवल्कीयव्रतानामन्यतम  
 शत्रुपपेक्षया भवति । अनापद्यतिक्रमे तु मानव त्रैमासिकम् । तत्रैव पञ्चदश  
 वर्षादूर्ध्वमपि कियत्कालातिक्रम तूदात्तव्रतं प्रायस्तोमो वेति । येषां तु पित्राद-  
 योऽप्यनुपनीतास्तेषामापस्तम्बोक्तम् ( ध० १११३२, ५, ११२।५।६ )—'यस्य  
 पितापितामहावमुपेतौ स्यातां तस्य सवत्सर त्रैविद्यक ब्रह्मचर्यम् । यस्य प्रपिता-  
 महादेर्नानुस्मर्यत उपनयन तस्य द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यक ब्रह्मचर्यम्' इति प्राच्यता ।  
 तथा स्तेयोऽप्युपपातकसाधारणप्राप्तवत्चतुष्टयापवादक प्रायश्चित्त मनुभोक्तम्  
 ( १११६२ )—'धान्यान्नरमचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तम । सजानीयगृहा  
 देव कृच्छ्राधेन विशुद्धयति ॥' इति । द्विजोत्तमस्य सजानीयो ब्राह्मण एवातो  
 विप्रपरिमृहे ब्राह्मणस्य हर्तुरिदम् । चत्रियादेरवत्प कल्प्यम् । 'अष्टौपाद्य स्तेय  
 क्रियिष्य शुद्धस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषा प्रतिवर्णं विदुषोऽतिश्रमे दण्डभूयस्त्वम्'  
 ( १११५-१७ ) इति चत्रियादेरपहर्तुर्दण्डावपवस्य दर्शनात् । तथा—'विप्रे  
 तु सकल देय पादोन चत्रिये स्मृतम्' इति पादपादान्या प्रायश्चित्तदर्शनात् ।  
 तथा चत्रियादिपरिमृहेणापि दण्डानुसारेण प्रायश्चित्तावपव कल्प्यम् । अत चत्रि-  
 यपरिमृहे चौर्ये पाण्ड्यासिद्धम् । वैश्यपरिमृहे त्रैमासिक गोवधव्रतम् । शूद्रपरिमृहे  
 चान्द्रायण कल्प्यम् । एवमुत्तरत्राप्यूहनीयम् ।—इदं च दशकुम्भधान्यापहारवि-  
 पयम् । अधिकं तु—'धान्य दशभ्य कुम्भेभ्यो हरतो दम उत्तम । पलसहस्रा  
 दधिकं वध' इति वधदर्शनात् । कुम्भश्च पञ्चसहस्रपलपरिमाण । धान्यसाहच  
 र्यादन्नधने चैतावदान्यपरिमिते वेदितव्ये । 'अन्न शब्देन तन्दुलादिकमभिधीयते ।  
 'धन'शब्देन ताग्रजतादिकम् । इदं तु प्रायश्चित्त कामकारविपयम् । अकामतस्तु  
 त्रैमासिक गोवधव्रतम् । तथा—मनुष्याणां च हरणे स्त्रीणां चैत्रगृहस्य च ।  
 कूपशापीजलानां च ह्युद्धिद्यान्द्रायणेन तु ॥' ( मनु १११६३ ) इति । सार्धंश-  
 तद्वयपणलभ्यजलापहार इदं चान्द्रायण प्राप्तमपीतरगोवधव्रतनिवृत्त्यर्थं विधीयते,  
 'तावन्मूष्यजलापहारे पानीयस्य तृणस्य च । तन्मूष्याद् द्विगुणो दण्ड' इति  
 पञ्चशतदण्डविधानात्तावपरिमाणदण्डचान्द्रायणयोर्गोविधादौ सहचरित्वाद् ।  
 तथा 'कृच्छ्रातिकृच्छ्रैर्द्वयो पणपञ्चशत तथा' इति चान्द्रायणविपये पञ्चशतप  
 णदण्डविधानाच्च । एतच्च चत्रियादिद्रव्यापहारे द्रष्टव्यम्, ब्राह्मणमन्विधद्रव्या-  
 पहारे तु 'निक्षेपस्यापहरणे नराश्वरजतस्य च । भूमिउन्नमणीनां च रुक्म-  
 स्तेषसम स्मृतम् ॥' ( मनु ११।५७ ) इति द्रष्टव्यम् । तथा—'द्रव्याणामवप

१. यस्योपनयने आपद्भावेन । २ कृच्छ्राब्देन विशुद्धयति । ३ अष्टपादम् ।  
 ४ हरतोऽभ्यधिको वध ।



साराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यथैरमृतः । अरेत्सान्तपन्नं कृच्छ्रं तत्रिणांत्यामशुद्धये ॥  
 ( मनुः १११६४ ) इत्यनेनाख्यप्रयोजनत्रपुसीसादिद्रव्यापहारविशेषेण स्तेनसा-  
 मान्योपपातकप्रायश्चित्तापवादः । इदं च चान्द्रायणनिमित्तभूतार्घवृतीयशतमू-  
 ल्यस्य पञ्चदशांशार्घत्रपुसीसाद्यपहारे प्रायश्चित्तम् , चान्द्रायणपञ्चदशांशत्वात्तस्य ।  
 तथा द्रव्यविशेषेणाप्युपपातकसामान्यप्राप्तवतापवादः—‘भक्ष्यभोज्यापहरणे  
 यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥’ ( मनुः  
 १११६५ ) इति । एकवारभोजनपर्याप्तभक्ष्यभोज्यापहार इदम् । द्वित्रिवारभोज-  
 नपर्याप्ताहारे त्रिरात्रम् । यथाह पैठीनसिः—‘भक्ष्यभोज्यान्नस्योदरपूरणमात्रहरणे  
 त्रिरात्रमेकरात्रं वा पञ्चगव्याहरता’ इति । यानादीनामप्येतत्साहचर्यादेतावन्मू-  
 ल्यानामेवापहरणे एतावत्प्रायश्चित्तम् । सर्वत्रापि ह्रियमाणद्रव्यन्यूनाधिकभावेन  
 प्रायश्चित्तस्यापि लघुगुरुभावः कल्पनीयः । यथा ‘तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य  
 गुह्यस्य च । तैलचर्माभिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥’ ( मनुः १११६६ )  
 इति । पूर्वा च तृणादीनां भक्ष्यादित्रिगुणत्रिरात्रप्रायश्चित्तस्य दर्शनात् तस्त्रिगुण-  
 मूल्यार्घाणांमेतत्प्रायश्चित्तम् । तथा—‘मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य  
 च । अयस्कांस्योपलानां च द्वादशाह कैदन्नता ॥’ ( मनुः १११६७ ) इति ।  
 अत्रापि भक्ष्यादिद्वादशगुणप्रायश्चित्तदर्शनात् तन्मूल्यद्वादशगुणमूल्यमणिमुक्ताद्य-  
 पहार एतत्प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । तथा—‘कार्पासकीटजौर्गर्गां द्विसुरैकसुरस्य च ।  
 पत्तिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाद्यैवं स्पृहं पयः ॥’ ( मनुः १११६८ ) इति ।  
 अत्रापि भक्ष्यादित्रिगुणप्रायश्चित्तदर्शनात्तस्त्रिगुणमूल्यानामपहार एतत्प्रायश्चित्तं  
 ज्ञेयम् । ह्रियमाणद्रव्यन्यूनाधिकभावेन प्रायश्चित्ताख्यप्रयमहत्त्व कल्प्यमेव । इदं  
 च स्तेयप्रायश्चित्तमपहतद्रव्यदानोत्तरकालमेव द्रष्टव्यम् । यथाह विष्णुः—  
 ‘दशैवापहतं द्रव्यं स्वामिने व्रतमाचरेत्’ इति । इति स्तेयम् । ऋणापाकरणे  
 च ‘पुत्रपौत्रैर्ज्ञानं देवम्’ ( व्य० ५० ) इति विहितं तस्यानपाकरणे, तथा  
 वैदिकस्य च ‘जायमानो वै ब्राह्मणः’ इत्येतद्वाक्येनर्णसंस्तुतयज्ञादिकरणे च  
 ‘उपपातकशुद्धिः स्यादेवम्’ ( प्रा० २६५ ) इत्यादिनोपपातकसामान्यविहितं  
 व्रतचतुष्टयं शक्यपेक्षया योज्यम् । प्रायश्चित्तान्तरमप्यत्र मनुनोक्तम् ( १११  
 २७ )—‘इष्टिं वैधानरीं चैव निर्धयेदब्दपर्यये । लुप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थ-  
 मसंभव ॥’ इति । अब्दपर्यये सवत्सरान्ते । इति ऋणानपाकरणम् ।

तथाधिहृत्यस्यानादित्ताग्निवेऽप्येतदेव व्रतचतुष्टयं वत्सरादूर्ध्वमापदि शक्य-  
 पेक्षया योज्यम् । अनापदि तु मानवं त्रैमासिकम् । अर्वाकपुनर्वत्सरात् कार्णा-  
 निनिर्धिशेषमाह—‘काले श्वाघाय कर्माणि कुर्याद्भिरो विधानतः । तदकुर्वन्निरा-

घ्रेण मासि मासि विशुद्ध्यति ॥ अनाहिताग्नी पित्रादी यथ्यमाण सुतो यदि ।  
स हि प्राय्येन पशुना यजेत्तन्निष्कयाय सु ॥' इति । एकाम्बेरपि विशेषस्ते  
नैवोक्त—'कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो नादध्याहुपासनम् । चा द्रायण चरेद्द्वयं  
प्रतिमासमहोऽपि वा ॥' इति । अनाहिताग्निता ।

( विक्रये यद् व्रत प्रोक्त दशने द्विगुण दि तद् । सुराविक्रये साम्ये चतुष्टयं  
लाघालवगमासमध्वाऽपनिलहेमानां चा द्रायणत्रय पय पायसापूऽदधीष्टुरस  
गुहलण्डादिस्नेहपक्कादियु पराक । सिद्धा-नविजये प्राजापरवम् । पनसस्य  
त्रिदिनम् । कदलानारिकरजम्बीरबीजपरकनाशद्धानां पादहृच्छ्रम् । कस्तूरिकाविक्रये  
गन्धाना च कृच्छ्रम् । कपूरेऽर्धं दिग्वादिविक्रये दिनमुपवास । शुक्लकृष्णपीतव  
स्रविक्रये त्रिदिनम् । अन्नानामै दचम् । खराश्वतरकरभाणां पराक । शुनां द्विगुणम् ।  
एकाहाद्देदविक्रय चा द्रम । अङ्गानां पराक । स्मृतीना कृच्छ्रम् । इतिहामपुराणानां  
सांतपनम् । रहस्थानां कृच्छ्रम् । गाधाना दिशिरातत्रवितानां पादम् । ) तथा  
अपण्यानां विक्रये च स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तविशेष उक्त । यथाह हारीत—  
'गुहलण्डपुष्पमूलफलपक्कानविक्रये सोमापान मौग्ध कृच्छ्र । लाघालवगममुमांस  
सैलचारदधितकष्टनगन्धचर्मवापसामन्यतमविक्रये चा-द्रायणम् । तथा ऊर्णा  
केशकसरिभूधेनुपरमारमशस्रविक्रय च । अथ्यमासमायवरिधशृङ्गनखशुक्तिवि-  
क्रये तसकृच्छ्रः । द्विगुगुहलुदरितालमन शिलाज्जनगैरिकचारलवणमणिमुष्ठा  
प्रवालवैणवमृ-मयेषु च तसकृच्छ्र । आरामनडागोदपानपुष्करिणीसुकृतविक्रये  
त्रिपत्रवणस्नायपथ शायी चतुर्थकालाहारो दशसहस्र अप-सवसरणे पुनो भवति ।  
हीनमानो-मानसकरसकीर्णविक्रये चेति । एवम-थैरपि कृद्भविष्णवाद्युक्तवचनै-  
र्यत्र प्रायश्चित्तविशेषो नोक्तस्तत्रानापदि मानवमुपपातकसाधारणत प्राप्त  
त्रैनामिकम् । आपदि तु याज्ञवल्कीय व्रतचतुष्टय क्षत्र्यपेक्षया योऽथम् । इति  
अपण्यविक्रय । तथा परिवेत्तरि च वसिष्ठेन प्रायश्चित्तविशेष उक्त (२०१८)—  
'परिविविदान कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत तां चैवो-  
पयच्छेत्' इति । परिविविदान परिवेत्तो-च्यते । तस्वरूप च प्राग् इवा-  
ख्यातम् । अस्ती कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै ज्येष्ठाय तां स्वोढां दत्त्वा  
ब्रह्मचर्याद्वतभैक्षवद्गुरुपरिभवपरिहारार्थं निवेद्य पुनरुद्देत् । कामित्यपेक्षया  
मुक्त 'तामेवोपयच्छेत्' इति । तामेव स्वोढां ज्येष्ठाय निवेदितां तेन चानुशा  
तामुद्देत् । यत्तु हारीतेनोक्तम्—ज्येष्ठेऽनिविष्टे कनीयाग्निविशमान परिवेत्ता  
भवति, परिवित्तिर्ज्येष्ठ, परिवेदनी कन्या, परिदायी दाता परियष्टा याजकस्ते  
सर्वे पतिता सवस्तर प्राजापत्येन कृच्छ्रेण पावयेयु' इति । यद्यपि शङ्केनोक्तम्—

१ अधिकमिदम् । २ मानो-नतसकीर्ण ।

‘परिवृत्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं प्राहणगृहेषु भैरवं चरेयाताम्’ इति तदुभयमपि कामकारेण कन्याविप्राघनमुज्जातोद्गाहविषयम् । प्रायश्चित्तस्य गुणध्यात् । यदा पुनः कामतः कन्यां विप्रादिदस्तामेव परिणयति तदा मानवं त्रैमासिकम् । पूर्वोक्तौ कृत्वातिकृच्छ्रौ याज्ञवल्क्येय च घतचतुष्टयमज्ञातविषयम् । यमेनाप्यग विशेष उक्त — ‘कृच्छ्रौ द्वयोः परिवेद्ये कन्यायाः कृच्छ्र एव च । अतिकृच्छ्रं चरेद्दाता होता चान्द्रायण चरेत् ॥’ इति । एतच्च पर्याहिताग्न्यादीनामपि समानम् । एकयोगनिर्देशात् । यथाह गौतमः ( १५।१८ )—‘परिवृत्तिपरिवेत्तुपर्याहितपर्याधात्रग्नेदिधिपूर्वतीनां संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्’ इति । अत एव घसिष्टेनाग्नेदिधिपूर्वत्यादाविदमेव प्रायश्चित्तमुक्तम् ( २०।९, १० ) ‘अग्नेदिधिपूर्वतिः कृच्छ्रं द्वादशरात्र चरित्वा निविशेत तं चैवोपयच्छेत् । दिधिपूर्वतिः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्तां पुनर्निविशेत’ इति । अग्नेदिधियाद्देलक्षणं स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—‘ज्येष्ठार्थां यच्चनूडार्थां कन्यायामुद्धतेऽनुजा । या साऽग्नेदिधिपूर्वेषां पूर्वां तु दिधिः स्मृता ॥’ इति । तत्राऽग्नेदिधिपूर्वतिः प्राजापर्यं कृत्वा तामेव ज्येष्ठां पश्चादन्वेनोद्धामुद्धरेत् । दिधिपूर्वतिस्तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कृत्वा रथोडां ज्येष्ठां कनीयस्याः पूर्वविद्योद्दे दत्त्वाऽन्यामुद्धहेदिति परिवेदनम् । तथा मृतकाभ्यापकमृतकाभ्यापितयोश्च पयसा मद्गमुवर्चलां विवेदित्यधिकृत्य विष्णुनोक्तम्—‘मृतकाभ्यापनं कृत्वा मृतकाभ्यापितस्तथा । अनुयोगप्रदानेन श्रीनपचास्त्रियतः विवेत् ॥’ इति । उक्तपदेतोरधीर्धानस्य किं पठसि नाशितं त्वयेत्येवं पर्यनुयोगोऽनुयोगप्रदानम् । अत एव स्मृत्यन्तरे—‘दत्तानुयोगानध्येतु. पतितान्मनुरमवीत्’ इत्युक्तम् । अत्रापि पूर्वोक्तप्रतैः सहास्य शक्यपेक्षया विकल्पः ।

इति मृतकाभ्यापकमृतकाभ्यापितप्रकरणम् ।

तथा पारदार्येऽप्युपपातकसामान्यप्राप्तमानवत्रैमासिकस्य याज्ञवल्क्यघतचतुष्टयस्यापि गुरुद्वारादायपथाद् उक्तः । तथाऽन्यत्रापि गौतमादिभिः पारदार्यविशेषेणापवाद् उक्तः । यथाह गौतमः—‘द्वे पारदार्यं त्रीणि श्रोत्रियस्य’ इति । तथा धार्पिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं प्रस्तुत्य तेनैवेदमभिहितम् ‘उपपातकेषु चैवम्’ इति । ज्येष्ठं व्यवस्था—श्राद्धकाले कामतो जातिमात्रप्राप्त्याग्नीमन्त्रे धार्पिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । तस्मिन्नेव काले कर्मवाचनत्वादिगुणशालिन्या ब्राह्मण्यागमने द्वे वर्षं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । तादस्या एव श्रोत्रियभार्याया गमने त्रीणि वर्षाणि प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । यद्वा, श्रोत्रियपत्न्यां गुणवत्यां ब्राह्मण्या त्रैवार्षिकम् । तादृग्विधायामेव शत्रियायां द्वैवार्षिकम् । तादस्यामेव वैश्यायां धार्पिकमिति व्यवस्था । एतस्स-

मानदृष्टया शूद्राया पाण्डामिक्रु प्राकृत ब्रह्मचर्यं कल्पनीयम् । अत एव शङ्केन  
 'वैश्यामर्षकीर्णं सवस्तर ब्रह्मचर्यं त्रियरण चानुतिष्ठेत्, चत्रियायां द्वे वर्षे, त्रीणि  
 ब्राह्मण्या वैश्यावच्च शूद्रायां ब्राह्मणपरिणीतायाम्' इति वर्णक्रमेण हासो दर्शितः ।  
 एव चत्रियस्यापि चत्रियादिषु स्त्रोषु क्रमेण द्विर्वापिकैकवार्यिकैकपाण्डामिक्रु  
 पूर्वोक्त एव विषये योजनीयानि । वैश्यस्य च वैश्याशूद्रयोर्वापिकपाण्डामिक्रु ।  
 शूद्रस्य शूद्रया परभार्याया पाण्डामिक्रुमेव । यथापस्तम्बीयम्—'सवर्णायामनन्य-  
 पूर्वायां सृष्टस्तिनाते पाद पतस्वेवमभ्यासे पाद, पादश्चतुर्थे सर्वम्' इति,  
 तद्वीतमीधत्रिवापिकेण समानविषयम् । अन्वपूर्विकाया चतुरभ्यासे द्वादशवार्यि  
 कप्रयश्चित्तविधागादेकरयामेव गमनाभ्यासे नेद प्रायश्चित्त, किंतु प्रतिगमन  
 पादपादन्वून कल्प्यम् । एतत्सर्वं कामकारविषयम् । अकामत पुनरेतदेवार्थ  
 बलूप्रया पूर्वोक्तविषये योजनीयम् । अनृतुकाले तु जानिमात्रब्राह्मण्यां कामतो  
 गमने मानव श्रैमासिकम् । जातिमात्रचत्रियादिस्त्रीषु पुनरस्मिन्नेव विषये तदी  
 या येव द्वैमासिकचा द्रायणमासिकानि योजनीयानि । चत्रियादीनां च चत्रिया-  
 दिस्त्रीषु द्वैमासिकादीन्वेव । अकामत पुनरेतासु चत्रियादिश्रैर्वर्णिकानां याज्ञव  
 ल्कीयमृपभैकादशगोदान मास पञ्चगव्याशन मास प्राजापत्याचरण च क्रमेण  
 द्रष्टव्यम् । शूद्रागमने तु कामतो विहित मासव्रतमेवार्थबलूप्रया योजनीयम् ।  
 अत एव सर्वत—'शूद्रां तु ब्राह्मणो गत्वा मास मासार्थमेव वा । गोमूत्रयावका  
 हाररितष्टैत्तत्पापमुक्तये ॥' इति । अकामतोऽर्धमासिकमित्यभिप्रेतम् । 'ब्राह्मणश्चेद  
 प्रेषापूर्वकं ब्राह्मणद्वाराभिरगच्छेत्तन्निवृत्तधर्मकर्मण कृच्छ्रोऽनिवृत्तधर्मकर्मणोऽपि  
 कृच्छ्रं' इति तद्ब्राह्मणभार्यायां शूद्रायां द्रष्टव्यम् । द्विजातिस्त्रीषु च विप्रोढासु  
 द्विस्त्रिभ्यभिचारितासु अबुद्धिपूर्वगमने वा । तथा च सर्वत—'विप्रामस्वजना  
 गत्वा प्राजापत्य समाचरेत्' इति । कामतस्तु—'राज्ञीं प्रयजितां धार्त्रीं साध्वीं  
 वर्णोत्तमामपि । कृच्छ्रद्वय प्रकुर्वीत सगोत्रामभिरगम्य च ॥' इति यमोक्त कृच्छ्रद्वय  
 द्रष्टव्यम् । चतुराद्यभ्यासे तु 'भ्यभिचारस्य स्वैरिण्यां वृषण्यामवकीर्णं सचैलस्रात  
 उदकुम्भ दद्याद् ब्राह्मणाय, वैश्याया च चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणा-भोजयेद्यवभार  
 च गोम्यो दद्यात्, चत्रियायां त्रिरात्रोपोषितो यवाढक [दद्यात् । ब्राह्मण्यां  
 त्रिरात्रोपोषितो गा दद्याद्गोवचकीर्णं प्राजापत्य चरेत् । 'अनूदायामवकीर्णं  
 पलालभार सीसमाषक च दद्यात्' इति शङ्कोक्त वेदितव्यम् । चतुराद्यभ्यास  
 विषयस्य चास्य 'चतुर्थे स्वैरिणी प्रोक्ता पञ्चमे बन्धकी मता इति  
 स्मृत्यन्तरादवगम्यते । अत्रैव विषये पटत्रिंशत्तमेऽप्युक्तम्—'ब्राह्मणो बन्धकीं

१. मवकीर्णी । २. द्विर्वापिकैकवार्यिकपाण्डामिक्रु । ३. श्रैवापिकायाम् ।  
 ४. तिष्ठेत्तत्पापमुक्त इति । ५. भार्यायां द्रष्टव्यम् ।

गत्या विविद्घाद्द्विजातये । राजन्वां चेन्ननुर्द्धवाद्द्वैरर्वा गत्या तु चैलकम् ॥ द्यूदां  
 गत्या तु वै विप्र उदकुम्भं द्विजातये । दिवसोपोपितो वा स्वाह्वाद्द्विप्राय भोज-  
 नम् ॥' इति ( अंगुलोमध्यघाये गर्भे द्विगुणं, यदि सा भक्तिद्विता न प्रतिलो-  
 मगा भवति तदैव । अन्यजातिगमने द्वैगुण्यं, प्रतिलोमश्रुवितासु अन्यथावसा-  
 विस्त्रीषु च चाण्डालीगर्भे पया गुरुतत्परत्वं तथा किञ्चिन्मूत्रं तारतम्यं कल्प्यम् ।  
 चाण्डालीगमने वार्षिकम् । गर्भे गुरुतत्परत्वं तथैव ज्ञेयम् । ) इदं प्रायश्चित्तजातं  
 गर्भानुत्पत्तिविषयम् । तदुत्पत्ती तु यद्विशेषेण याप्रायश्चित्तमुक्तं तदैव तत्र द्विगुणं  
 कुर्यात् ।—'गमने तु घृतं परस्वाद्गर्भे तद्विगुणं चरेत्' इत्युदानःस्मरणात् ।  
 द्यूदां गर्भमादधतश्चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—'घृण्वयामभिजातस्तु-  
 प्रीणि घर्षाणि चतुर्थकालसमये नक्तं शुभीत' इति । यत्तु मनुष्यजनम्  
 ( ३।१७ )—'द्यूदां शयनमारोप्य ब्राह्मणो पारयधोगतिम् । जनयित्वा सुतं  
 तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥' इति,—तत्पापगौरवव्यापनपरम् । प्रातिलोम्य-  
 व्यवाये तु सर्वत्र गुरुपरस्य वध एव—'प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्थाः कर्ण-  
 दिकर्तनम्' इति वचनात् ॥ यत्तु गृह्यप्रचेतोवचनम्—'द्यूदस्य ब्राह्मणीं  
 मोहाद्गच्छतः शुद्धिमिच्छतः । पूर्णमेतद् घृतं देयं माता यस्माद्धि तस्य सा ॥ पाद-  
 हान्वाञ्जवर्णासु गच्छतः सार्ववर्णिकम् ॥' इति । द्वादशवार्षिकातिदेवकं, तस्व-  
 भार्याभ्रातृया गच्छतो वेदितव्यम् ; मादादिति विशेषणोपादानात् । यत्तु संवर्त-  
 वचनम्—'कथंचिद् ब्राह्मणीं गच्छेत्प्रियो वैश्य एव वा । कृच्छ्रं सान्तपनं वा स्यात्प्रा-  
 यश्चित्तं विशुद्धये ॥ द्यूदस्तु ब्राह्मणीं गच्छेत्कथंचिकाममोहितः । गोमूत्रयावकाहारो  
 मासेनैकेन शुद्ध्यति ॥' इति,—तदत्यन्तव्यभिचरितब्राह्मणीविषयम् । अन्यजा-  
 गमनेऽपि प्रायश्चित्तं गृह्यसंवर्तनोक्तम्—'रजकव्याधशैल्यपनेषु चर्मोपजीविनीः ।  
 एतारतु ब्राह्मणो गत्या चरेच्चान्द्रायणद्वयम् ॥' इति । इदं ब्राह्मणस्य कामतः  
 सवृद्धमवविषयम्, चप्रियादीनां तु पादपादहीनं कल्प्यम् । अत्रैवापरस्तम्भे-  
 नोक्तम्—'श्लेष्ठी नटी चर्मकारी रजको सुरैदी तथा । एतास्तु गमनं कृत्वा  
 चरेच्चान्द्रायणद्वयम् ॥' इति । अन्यजाश्च तेनैव दर्शिताः—'रजकधर्मकारश्च  
 नटो बुरुड एव च । कैवर्तमेदभिस्त्राश्च सप्तैते अन्यजाः स्मृताः ॥' इति । ये तु  
 चाण्डालादयोऽन्यथावसायिनस्तरस्त्रीगमने गुरुतरं प्रायश्चित्तं गुरुतत्परकरणे दर्शि-  
 तम् । एतासां चान्यजस्त्रीणां मध्ये यदैकरर्षां व्यवाये प्रायश्चित्तमभिहितं तत्सर्वासु  
 भवति; सर्वासां सदृशत्वात् । यथाहोशनाः—'बहुनामेकधर्माणामेकस्यापि  
 यदुच्यते । सर्वेषां तद्भयैकार्यमेकरूपा हि ते स्मृताः ॥' इति । अकामतस्तु  
 गमने—'चाण्डालमेदश्चपचकपालघृतचारिणाम् । अकामतः स्त्रियो गत्या पराक-

अतमाचरेत् ॥' इत्यापरस्तम्भोक्तद्रष्टव्यम् । यच्च सवर्गवचनम्—'रजकस्याथ शैशू-  
 वेणुचर्मोपजीविनाम् । द्वियो विप्रो यदा गच्छेत्कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,—  
 तदप्यकामविषयम् । यत्तु शातातपेनोक्तम्—'कैवर्ता रजकीं चैव वेणुचर्मोपजी-  
 विनीम् । प्राजापरथविधानेन कृच्छ्रेणैकेन शुद्धयति ॥' इति,—तद्वेत सेकाभ्याह्नितृप्ति-  
 विषयम् । यत्तु ज्ञानसोक्तम्—'कापालिकाद्यभोक्तृणां तदारीगामिनां तथा । ज्ञाना-  
 कृच्छ्राब्दमुद्दिष्टमज्ञानाद्देन्द्वयद्वयम् ॥' इति,—तदभ्यासविषयम् । यदा तु चाण्डा  
 सदादिषु गच्छतो गर्भो भवति, तदा 'चाण्डाहया गर्भमारोप्य गुरुरनवरमत चरेत्'  
 इत्युक्तसोक्तद्वादशवापिकं द्रष्टव्यम् । यत्तु—'अन्यजायां प्रसूतस्य निष्कृतिर्गं  
 विधीयते । निर्वासनं कृताहस्य तस्य कार्यमसशयम् ॥' इत्यापरस्तम्भवचन,  
 तत्कामकारविषयम् । स्त्रीणामपि सवर्गानुलोमव्यवाये यत्पुरुषस्योक्तं प्रैर'र्विकादि  
 तदेव भवति । 'यत्पुंस परदारेषु तच्चैर्नां चारमेद् धनम् ॥' ( १११७६ )—  
 इति मनुस्मरणात् । प्रातिलोभ्येन व्यवाये एव परद्यापुमयो प्रायश्चित्तभेद ।  
 यथाह बसिष्ठ ( २१।२,३ )—'शूद्रश्चेद् ब्राह्मणीमभिमगच्छेद्द्वैरर्णैर्वैष्टिस्वा सान्द्रमप्रौ  
 प्रास्येत्, ब्राह्मण्या शिरसि वपन कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नम्रां स्तरमारोप्य महा-  
 पथमनुवाजयेत्पूता न्यतीति विज्ञायते' इति । तथा 'वैश्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिमगच्छेद्द्वौ-  
 दित्तर्भैर्वैष्टिस्वा वैश्यमप्रौ प्रास्येद् ब्राह्मण्या शिरसि वपन कारयित्वा सर्पिषा-  
 ऽभ्यज्य नम्रां गौरस्तरमारोप्य महापथमनुसन्नाजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते' इति ।  
 तथा 'राजन्वश्चेद् ब्राह्मणीमभिमगच्छेत्क्षरपत्रैर्वैष्टिस्वा राजन्वमप्रौ प्रास्येत् ब्राह्मण्या  
 शिरसि वपन कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नम्रां गौरस्तरमारोप्य महापथमनुपमाजये-  
 त्पूता भवतीति विज्ञायते' इति । एव वैश्यो राजन्वां शूद्रश्च राज-यावैश्ययोरिति ।  
 पूता भवतीति वचनाद्वाजवीथिपरिवाजनमेव दण्डरूप प्रायश्चित्तान्तरनिरपच  
 शुद्धिसाधनमिति दर्शयति ।

ब्राह्मण्या प्रातिलोभ्येन द्विजातिव्यवाये प्रायश्चित्तान्तरमप्युक्तं सवर्गन—  
 'ब्राह्मण्यकामा गच्छेत्क्षेत्रत्रिय वैश्यमेव वा । गोमूत्रवापकैर्मासात्तदर्धावथ विष्ट  
 द्ययति ॥' इति । कामतस्तु तद्द्विगुण कर्तव्यम् । 'कामात्तद्द्विगुणं भवेत्' इति वच-  
 नात् । षट्त्रिंशन्मतेऽपि ब्राह्मणी चत्रियवैश्यसेवायामतिहृच्छ्रं कृच्छ्रातिहृच्छ्री  
 चरेत् । चत्रिययोपितां ब्राह्मणराजन्ववैश्यमेवायां कृच्छ्राधं प्राजापरथमतिहृच्छ्रम् ।  
 वैश्ययोपितां ब्राह्मणराजन्ववैश्यमेवायां कृच्छ्रपाद कृच्छ्रार्धं प्राजापावम् ।  
 शूद्रायाः शूद्रसेवने प्राजापरथम् । ब्राह्मणराजन्ववैश्यसेवायां स्वहोरात्र त्रिरात्र  
 कृच्छ्रार्धम्' इति । शूद्रसेवायां तु विशेषेण घृहमघेतसाञ्च—'त्रिमा शूद्रेण सपुत्रा न  
 चेतस्तरमारप्रसूयते । प्रायश्चित्तं स्मृतं तस्यां कृच्छ्रं चान्द्रायणप्रथम् ॥' एतद्विनिरुद्धत्वा  
 रथप्रतिभ्रान्त्या या वेदितव्यम् । 'चान्द्रायणे द्वे कृच्छ्रश्च विवादा वैश्यमेवने ।

वृच्छन्वान्द्रायणे स्यातां तस्याः सत्रियसंगमे ॥ सत्रिया शूद्रसंपर्के वृच्छं चान्द्राय-  
 णद्वयम् । चान्द्रायणं सकृच्छं तु चरेद्द्वैरयेन संगता ॥ शूद्रं गत्वा चरेद्द्वैरया वृच्छं  
 चान्द्रायणोत्तरम् । आमुलोम्ये प्रकृर्वीत कृच्छं पादावरोपितम् ॥' इति । प्रजाता-  
 यास्तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—'विप्रगर्भे पराकः स्यात्सत्रियस्य तथैन्दवम् ।  
 ऐन्दवश्च पराकश्च वैश्यस्याकामकारतः ॥ शूद्रगर्भे भवेत्यागद्याण्डालो जायते  
 यतः । गर्भेऽत्राये धातुदोषैश्चरेचान्द्रायणप्रथम् ॥' इति । 'अकामकारतः' इति  
 विशेषणोपादानात् कामकारे पुनः पराकादिकं द्विगुणं कुर्यात् । यदा त्वनिःसृजग-  
 र्भेव दशमासं स्थित्वा प्रजायते तदा प्रायश्चित्ताभावः । 'ब्राह्मणसत्रियविशां भार्याः  
 शूद्रेण संगताः । अप्रजाता विशुद्धयन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥' इति वसिष्ठस्म-  
 रणात् । यदा स्वाहितगर्भेव पश्चाच्छूद्रादिभिर्व्यभिचरति तदा गर्भपातशुद्धया  
 प्रसन्नोत्तरकालमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् ; 'अन्तर्वेत्नी तु या नारी समेताकर्म्य  
 कामिना । प्रायश्चित्तं न कुर्यात्सा यावद्गर्भो न निःसृतः ॥ जाते गर्भे मत्तं पश्चा-  
 त्कुर्यान्मासं तु यावकम् । न गर्भदोषस्तस्यास्ति संस्कार्यः स यथाविधि ॥'  
 इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यदा स्वौद्धस्यात्प्रायश्चित्तं न कुर्वन्ति, तदा नार्याः  
 कर्णादिकर्तनमिति द्रष्टव्यम् । अन्यजादिगमनेऽपि स्त्रीणां स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तं  
 दर्शितम्—'रजकस्याश्च शैल्लप्येषु चर्मोपजीविनः । ब्राह्मण्येतान्यदा गच्छेदेकामा-  
 वैन्दवप्रथम् ॥' इति । तथा चाण्डालाद्याद्यन्त्यावसायिगमनेऽपि—'चाण्डालं  
 पुष्करं श्लेच्छं शपाकं पतितं तथा । ब्राह्मण्यकामतो गत्वा चान्द्रायणचतुष्ट-  
 यम् ॥' इति 'अकामत' इति वचनात्कामतो द्विगुणं कल्प्यम् । तथा—'चाण्डा-  
 लेन तु संपर्के यदि गच्छेत्कर्मचन । सजितं वपनं कुर्यात्सुश्रीयाद्यावकौदनम् ॥  
 त्रिरात्रमुपवामः स्यादेकरात्रं जले वसेत् । आत्मना संमिते कूपे गोमयोदकक-  
 र्दमे ॥ तत्र स्थित्वा निराहारा सा त्रिरात्रं ततः क्षिपेत् । शङ्खपुष्पीलता मूलं पत्रं  
 वा कुमुमं फलम् । क्षीरं सुवर्णसंमिश्रं क्षापयित्वा ततः पिबेत् ॥ एकभक्तं चरेत्पश्चा-  
 द्वावगुण्यवती भवेत् । बहिस्तावच्च निवसेद् यावच्चरति तद्यतम् ॥ प्रायश्चित्ते  
 ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् । गोद्वयं दक्षिणां दशाच्छुद्धये स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥'  
 इति ।—एतदप्यकामविषयमेव; 'यदि गच्छेत्कर्मचन' इति वचनात् । ऋष्य-  
 शूद्रेणाप्यन्यव्यवाये प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम्—'संपृक्ता स्यादयान्यैर्या सा  
 वृच्छच्छुद्धं समाचरेत्' इति ।—कामतः सकृद्गमने इदम् । यदा स्वाहितगर्भाया  
 प्य पश्चाच्चाण्डालादिव्यवायस्तदा तेनैव विशेष उक्तः—'अन्तर्वेत्नी तु युवतिः  
 संपृक्ता चान्त्ययोनिना । प्रायश्चित्तं न सा कुर्याद्यावद्गर्भो न निःसृतः ॥ न  
 प्रचारं गृहे कुर्यात् चाग्नेषु प्रसाधनम् । न शयीत ममं भर्त्रा न वा भुञ्जीत

यान्धवै ॥ प्रायश्चित्त गते गर्भे विधिं कृच्छ्रादिकं चरेत् । हिरण्यमथवा धेनुं दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् ॥' इति । यदा तु कामतोऽभ्यन्तसर्पकं करोति तदा— 'अभ्यन्तेन तु सर्पकं भोजने मैथुने कृते । प्रविशोऽसप्रदोऽप्येऽप्रीं सृष्ट्युना सा विशुद्धयति ॥' इत्युशनसोक्तं द्रष्टव्यम् । यदा तूक्तं प्रायश्चित्तं न करोति तदा पुलिन्देनाङ्गनीया, वध्या वा भवेत् । 'हीनवर्णोऽपमुष्ठा या साऽङ्गवा वध्याऽथवा भवेत्' इति पशुशरस्मरणात् । इति पारदार्याप्रकरणम् । तथा परिव्रित्तिप्रायश्चित्तानामपि परिव्रित्तप्रायश्चित्तवश्यावस्था विज्ञेया । इयांस्तु विशेष — 'परिव्रित्तं यस्मिन्निवपये कृच्छ्रातिः कृच्छ्री तत्र परिव्रित्ते प्राजापरथमिति । परिव्रित्तिं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरिषा पुननिविशेत् ता चैवोपयच्छेत्' इति वसिष्ठस्मरणात् । इति परिव्रित्तिप्रकरणम् । वार्धुष्यलक्षणकथयोस्तु मनुयोगीश्वरोऽस्मान्योपपातकप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया योग्यानि ॥ २६५ ॥

भाष्या—उपपातको की भी शुद्धि इसी प्रकार ( गोवध के प्रायश्चित्त से ) भयवा चान्द्रायण व्रत से या एक मास तक केवल दूध पीकर रहने या पराक व्रत करने से होती है ॥ २६५ ॥

लक्षणकथानन्तर 'स्त्रीशूद्रविट्पुत्रवध' ( प्रा० २३६ ) इत्युपपातकमध्ये पठितं तत्र प्रायश्चित्तान्तरमप्याह—

ऋषभैकसहस्रा गा दद्यात्क्षत्रवधे पुमान् ।

ब्रह्महत्याव्रतं चापि वत्सरत्रितयं चरेत् ॥ २६६ ॥

वैश्यहाभ्यं चरेदेतद्दद्याद्वैकशतं गवाम् ।

पण्मासाच्छूद्रहाप्येतन्नैर्दद्याद् दशथवा ॥ २६७ ॥

एकमधिकं यस्मिन्सहस्रे तदेकसहस्रं, तस्य पूरणं एकसहस्रं, श्यभ एकसहस्रो यासां गवां ता ऋषभैकसहस्रास्ता क्षत्रवधे दद्यात् । भयवा बृहस्प्रायश्चित्तं ब्रह्महत्याव्रतं वर्षत्रयं कुर्यात् । वैश्यघाती पुनरेतत् ब्रह्महत्याव्रतमेकवर्षं चरेत् । गवामष्टपमैकशतं वा दद्यात् । शूद्रघाती तु ब्रह्महत्याव्रतं पण्मासं चरेत् । यद्वा दशधेनूश्चिरमस्तूताः सवसा दद्यात् । इदमकामतो जातिमात्रसन्नियमादिषु विषयम्, 'अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य' ( मनु ११।१२० ) इति प्रक्रम्यैतेषामेव प्रायश्चित्तानां मानवेऽभिधानात् । दानतपसोश्च शक्यपेक्षया व्यवस्था । ईषद्घृत्तस्थयोस्तु विट्शूद्रयोः—'तुरीयो ब्रह्महावाया सन्नियस्य वधे स्थुन । वैश्येऽष्टमांशो घृत्तस्थे शूद्रे शेषस्तु षोडश ॥' ( ११।१२६ ) इति मनुकं द्रष्टव्यम् । घृत्तस्थे सन्निये तु सार्धं चतुर्द्वार्षिकं कल्प्यम् । 'वृत्त'शब्देन चात्र गुणादिकमुच्यते । 'गुरुपूजा पूजा शौच सत्यमिन्द्रियनिग्रह । प्रवर्तन

१. श्यभैकसहस्रा । २. वैश्यहाभ्येतत् । ३. व्रतमन्त्रमेकम् ।



दितानो च तस्यै वृत्तमुच्यते ॥' इति मनुस्मरणात् । यत्तु बृहदारीतवचनम्—  
 'ब्राह्मणं च त्रियं हत्वा षड्वर्षाणि व्रतं चरेत् । वैश्यं हत्वा चरेदेवं व्रतं त्रिवार्षिकं  
 द्विजाः ॥ शूद्रं हत्वा चरेद्वर्षं षड्भैकादशाश्च गाः ॥' इति,—तत्कामकारविषयम् ।  
 श्रोत्रियचरित्रादिवधे तु—'तुरीयोऽत्र चरित्रस्य वधे ब्रह्महणि व्रतम् । अर्धं वैश्य-  
 वधे कुर्यात्तुरीय षडलस्य तु ॥' इति बृहदारीतोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठ-  
 चरितम्—'ब्राह्मणो राजन्यं हत्वाऽष्टौ वर्षाणि व्रतं चरेत्, षड् वैश्यं, त्रीणि शूद्रम्'  
 इति,—तदपि हारीतीयेन समानविषयम् । चरित्रे स्वीपद्गुणान्मून इत्येतावान्  
 विशेषः । यदा तु श्रोत्रियो वृत्तस्यञ्च भवति तदा—'पूर्वोर्वर्णयोर्वैशाखापिन  
 हत्वा' ( ध० १२४१६ ) इत्यापस्तम्बोक्तं द्वादशवार्षिकं द्रष्टव्यम् । मारुत्तवगो-  
 र्वश्रोत्रियं चरित्रादीं व्यापादिते 'यागस्यद्यत्रविद्ध्वाती चरेद् ब्रह्महणि व्रतम्'  
 इति द्रष्टव्यम् । श्रोत्रिये पुनर्यागस्ये चरित्रादीं 'ब्राह्मणस्य राजन्यवधे  
 षड्वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं षड्भैकसहस्राश्च गा दद्यात्, वैश्यवधे त्रिवार्षि-  
 कमुपभैकशताश्च गा दद्यात्, शूद्रवधे सावसरिकमुपभैकादशाश्च गा दद्यात्'  
 ( २२।१४-१६ ) इति गौतमोक्तो दानतपसो समुच्चयो द्रष्टव्यः । एतच्चामति-  
 पूर्वविषयम् । 'पूर्ववदनतिपूर्वं चतुर्षु वर्णेषु प्रमा'य द्वावश षट् त्रीन् सवस्तर च  
 मता-पादिनेत्, तेषामन्ते गोसहस्रं च ततोऽर्धं तरपार्धमर्धं च दद्यात्, सर्वेषामा-  
 नुपूर्वैर्ग'इति स्मरणात् । इदं च द्वादशवार्षिकं गौतमीयविषयमेव, किञ्चिन्मूनगु-  
 णे चरित्रे गुणाधिकयोर्वैश्यशूद्रयोश्च द्रष्टव्यम् । 'क्षीशूद्रविट्चत्रवध' इत्युपपात-  
 कमध्ये विशेषत एव पठितस्येनोत्सर्गापवादाध्यायगोचरत्वाद्बुधपातकमामान्यप्राहा-  
 न्यपि प्रायश्चित्तान्यत्र योजनीयानि । तत्र दुर्भृत्चरित्रादीं कामतो व्यापादिते  
 मानव त्रैमासिकं द्वैमासिकं चान्द्रापणं च वर्णक्रमेण योज्यम् । अकामतस्तु योगी-  
 श्वरोक्तं त्रिराश्रोपवाससहितमृषभैकादशगोदानं मासं षड्गन्धान्नं मासिकं च  
 पयोद्यतं तथाक्रमेण योज्यम् । एतच्च प्रागुक्तं व्रतजातं घाह्य'वर्षे च चरित्रादिवधे  
 द्रष्टव्यम् ।—'अकामतरतु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तम । तथा ब्राह्मणराजन्यवधे  
 षड्वार्षिकं तथा ॥ ब्राह्मणं च त्रियं हत्वा' ( ११।१२० ) इत्यादिषु मनुगीतम  
 हारीतवसिष्ठवाच्येषु 'ब्राह्मणं ब्रह्मणात् । चरित्रादिर्षुके तु चरित्रादिवधे पादन्मून  
 द्रष्टव्यम्, 'विभ्रे तु सकलं देयं पादोऽत्र चरित्रे स्मृतम् । वैश्येऽर्धमेकपादस्तु  
 शूद्रजातिषु शस्यते ॥' इति बृहद्विष्णुस्मरणात् । 'यत्तु पर्यया ब्राह्मणानां  
 तु सा राज्ञा द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्यहृच्च व्रतं स्मृतम् ॥'  
 इत्यद्विरोधचनं तत्प्रासिलोभ्येन धाम्पदव्याख्यानपर्यायस्युक्तं गोवधप्रकरणे ।  
 मूर्धावसिकादीनां वधे एतत्प्रायश्चित्तं न भवति, तेषां चरित्रादिवधाभावात् ।

अतो दण्डानुसारेणैव तद्वधे पूर्वोक्तव्रतकदम्बस्य वृद्धिहासौ करवनीयौ । दण्डस्य च वृद्धिहासौ दर्शितौ—'दण्डप्रणयन कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः' ( ध्य० २०६ ) इत्यत्र ॥ २६६—२६७ ॥

भाषा—अत्रिय का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता पुरुष एक सौद ( प्रौढ बल्लवा ) के साथ एक हजार गौओं का दान करे अथवा ब्रह्महत्याव्रत तीन वर्षों तक करे । वैश्य का वध करने वाला एक वर्ष तक ब्रह्महत्याव्रत करे अथवा एक सौद के साथ एक सौ गौओं का दान करे । शूद्र का वध करने वाला छै मास तक ब्रह्महत्याव्रत करे अथवा एक सौद के साथ नई व्याधी दस सवस्ता गौओं का दान करे ॥ २६६—२६७ ॥

इति अत्रियादिवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

स्त्रीवधे प्रायश्चित्तमाह—

दुर्वृत्तब्रह्मविटक्षत्रशूद्रयोषा प्रमाप्य तु ।  
इति धनुर्वस्तमविं क्रमाद्द्याद्विशुद्धये ॥ २६८ ॥

ब्राह्मणादिभार्या दुर्वृत्ता स्वैरिणी प्रमाप्य क्रमेण इति जलाधार चर्मकोश, धनु कार्मुक, वस्त छाग, अवि मेप च, विशुद्धये दद्यात् । इदं च प्रातिलोभ्येनान्यजातिप्रसूतानां ब्राह्मण्यादीनामकामतो वधविषयम् । कामतस्तु ब्रह्मगर्भ आह—'प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः । अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विपट् ॥' इति । ब्राह्मण्यादिवधे षणमासा अत्रियायाश्चत्वारो च सूतादीनां चतुर्द्विपट् ॥ इति । ब्राह्मण्यादिवधे षणमासा अत्रियायाश्चत्वारो वैश्याया द्वाविश्येव यथार्हतयान्त्वय । यदा तु वैश्यकर्मणा जीवन्ती, व्यापादयति तदा किञ्चिदेवम् । 'वैशिकेन किञ्चित्' ( २२।२७ ) इति गौतमस्मरणात् । वैशिकेन वैश्यकर्मणा जीवन्त्या व्यापादितायां किञ्चिदेव देय तच्च जलम् । 'कोश कूपेऽथ विप्रे वा ब्राह्मण्या प्रतिपादतेत् । वधे धेनु अत्रियाया वस्तो वैश्यावधे स्मृतः ॥ शूद्राद्यामाविक वैश्या हत्वा दद्याज्जल नर ॥' इत्यङ्गिरस्मरणात् । यदा पुन अत्रियादिभि प्रातिलोभयन व्यभिचरिता ब्राह्मणाद्या व्यापाचन्ते तदा गो-वधप्रायश्चित्तानि यथाह योग्यानि ॥ २६८ ॥

भाषा—ब्राह्मण, अत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को व्यभिचारिणी स्त्री का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता यथाक्रम ( वर्णानुक्रम ) से जल भरने वाला चमड़े का मशक, धनुष, बकरा तथा भेड़ का दान करे ॥ २६८ ॥

हंसश्येनकपिक्रव्याजलस्यलशिष्यण्डिनः ।

भासं च हत्वा दद्यात् गामक्रव्यादस्तु घटिसकाम् ॥२७२॥

किंच, ऋष्यमपहं मांसमत्तीति ऋष्याद् व्याघ्रसगालादिर्भृगुविशेषः पानर-  
साहचर्यात्, तथा हंसश्येनसमभिव्याहारात् कङ्कगृध्रादिः पशिविशेषश्च गृध्रते;  
'जल'शब्देन जलचरा वक्रादयो गृह्यन्ते; 'स्थल'शब्देन स्थलचरा यैलाकादयः,  
शिलण्डी मयूरः; भासः पशिविशेषः, शेषाः प्रसिद्धाः, एषां प्रत्येकं वधे गामेकां  
दद्यात् । अक्रव्यादस्तु हरिणादिभृगान् खञ्जरीटादिपशिविशेषान् हत्वा वसतरीं  
दद्यात् । तथा च मनुः ( १११३५-१३७ )—'हत्वा हंसं यलाकां च यकं  
घट्टिणमेव च । वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥ ऋष्यादस्तु  
गृगान् हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् । अक्रव्यादो वसतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्ण-  
लम् ॥' इति ॥ २७२ ॥

भाषा—हंस, बाज, चन्द्र एषं मांसमोजी—व्याघ्र, ख्यार आदि तथा कंक,  
गृध्र, आदि एषं जल-चर वगुला तथा स्थलचर (यलाका आदि), मयूर, भास आदि  
पशु-पक्षी के वध हो जाने पर एक गौ का दान करे । और मांस नहीं खाने वाले  
हरिण आदि तथा खंजरीट आदि पशियों के वध हो जाने पर एक घड़िया का  
दान करे ॥ २७१ ॥

उरगेष्वायसो षण्डः षण्डके त्रपु सीसकम् ।

कोले घृतघटो देय उष्ट्रे गुञ्जा ह्येऽशुकम् ॥ २७३ ॥

किंच, सरीसृपेषु व्यापादितेषु भयोमयो षण्डस्तीक्ष्णप्रान्तो देवः । षण्डके  
नपुंसके व्यापादिते त्रपु सीसकं च मापपरिमितं दद्यात्, पलाळभारं वा ।  
'षण्डकं हत्वा पलाळभारं त्रपु सीसकं वा दद्यात्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् ।  
यद्यपि 'षण्डको लिङ्गहीनः स्यात्संस्कारार्हश्च नैव सः' इति देवलवचनेन सामा-  
न्येनैव स्त्रीपुंलिङ्गहितो निर्दिष्टस्तथापि न गोब्राह्मणरूपस्येह विवक्षितः; गोब्राह्मण-  
वधनिषेधस्य जायवच्छेदेन प्रवृत्तेः, लिङ्गविरहिणि च षण्डे जातिसमवायाविशे-  
षात्तन्निमित्तमेव लघुपायश्चित्तमुक्तम् । तस्मान्मृगपक्षिण एव विवक्षिताः । गृग-  
पक्षिसमभिव्याहाराच्च कोले सूकरे व्यापादिते घृतकुम्भो देयः । उष्ट्रे गुञ्जा  
देया । वाजिनि विनिपातितेऽशुकं वस्त्रं देयम् । तथा च मनुः ( ११११३ )—  
'अग्निं कर्णायासीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजात्तमः । पलाळभारकं षण्डे सैसकं चैव  
मापकम् ॥' इति ॥ २७३ ॥

भाषा—सर्प मारने पर तुकीली छोहे की छड़ी, षण्डक (नपुंसक पशु-पक्षी)  
को मारने पर पीतल और सोता, सूअर मारने पर एक घड़ा घी, ऊँट मारने  
पर गुञ्जा और घोड़ा मारने पर बखर का दान देना चाहिए ॥ २७३ ॥

तित्तिरी तु तिलद्रोणं गजादीनामशक्नुवन् ।

दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये ॥ २७४ ॥

किंच, तित्तिरी पतत्रिणि व्यापादिते तिलद्रोणं दद्यात् । 'द्रोण'शब्दश्च परिमाणविशेषवचनः । 'अष्टमुष्टि भवैकिकिचिकिचिदष्टौ तु पुष्कलम् । पुष्कलानि तु चत्वारि आठकः परिकीर्तितः ॥ चतुराढको भवेद् द्रोण इत्येतन्मानलक्षणम् ॥' इति स्मरणात् ॥ पूर्वोक्तानां गजादीनां व्यापादने निर्धनत्वेन नीलवृषपञ्चकादि-दानं कर्तुमशक्नुवन् प्रत्येकं कृच्छ्रं चरेद्द्विशुद्धयर्थम् । 'कृच्छ्र'शब्दश्चात्र लक्षणया क्लेशसाधये तपोमात्रे द्रष्टव्यः । तपामि च गौतमेन दर्शितानि ( १९।१७-१९ )—'संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारश्च यो द्वापेकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडह-स्यहोऽष्टोरात्र इति कालः । एतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्नेनसि गुरुणि गुरुणि लघुनि लघुनि' इति । यदि 'कृच्छ्र'शब्देन मुख्योऽर्थो गृह्यते, तर्हि गजे शुकं वा विदोषेण प्राजापत्य एव स्यात् । नच तद्युक्तम्, तपोमात्रपरत्ये तु दान-गुरलघुभावाकलनया तपसोऽपि गुरलघुभावो युज्यते । ततश्च गजे द्विमासिक पावकाशनं शुके रूपवास इति । एवमन्यत्रापि दानानुसारेण प्रायश्चित्तं कल्प्यम् ॥ २७४ ॥

भाषा—तित्तिर पत्ती को मारने पर एक द्रोण तिल का दान करे हाथी का बध करने पर पाँच नीलवृषों का दान न कर सकने पर शुद्धि के लिए एक कृच्छ्र मत करे ॥ २७४ ॥

विचाह—

फलपुष्पाघ्नरसजसस्यघाते घृताशनम् ।

उदुम्बरादौ फले मधूकादौ च कुसुमे चिरस्थितमच्छासकरयाद्यग्ने च रसे गुडादौ च यानि सखानि प्राणिनो जायन्ते तेषां घाते घृतप्राशनं शुद्धि-साधनम् । इदं च घृतप्राशनं भोजनकार्ये एव विधीयते, प्रायश्चित्तानां तपोरूपत्वात् । दर्शितं च तपोरूपत्वमाद्विरसे 'प्रायश्चित्त'पदनिर्घटनध्याजेन—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते । तपोनिश्चयस्तुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥' इति ॥

प्रतिप्राणिप्रायश्चित्तरथानगत्वात् घृताकोटेनापि अक्षुभशक्यदावात्सामान्येन प्राय-श्चित्तमाह—

किंचित्सास्थिघथे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके ॥ २७५ ॥

अस्थिमती कृच्छ्रात्सादिप्राणिनां म्युमसदघ्नयं वदानां प्रत्येकं वधे किंचित्सास्थिघथं धान्यद्विरण्वादि देयम् । अनस्थिके स्थिकः प्राणायामः । तत्र किंचिदिनि पद्मा द्विरण्यं दीयते तदा षण्मात्रम् । 'अस्थिमती वधे षणो देयः' इति सुमन्तु-

स्मरणात् । यदा तु धान्यं देयं तदाऽष्टमुष्टि देयम् ; 'अष्टमुष्टि भवेत्किञ्चित्' इति स्मरणात् ।—एतश्चानुक्तनिष्कृतिप्राणिवधविषयम् । यत्र तु प्रायश्चित्तविशेषः श्रूयते, तत्र स एव भवति; यथाह पराशरः—'दृंसत्तारसचक्राह्नकौश्चक्रुकुटघातकः । मयूरमेपौ हत्वा च एकभक्तेन शुद्धयति ॥ मद्गुं च टिट्ठिर्मं चैव शुक्रं पारायतं तथा । आडिकां च यकं हत्वा शुद्धयेद्द्वै नक्तभोजनात् ॥ चापकाकफपोतानां सारीतित्तिरघातकः । अन्तर्जले उभे संस्ये प्राणाधामेन शुद्धयति ॥ गृध्रशयेनविहङ्गानामुल्लूरस्य च घातकः । अपक्वाणी विनं तिष्ठेद् द्वी काली मारुतादानः ॥ हत्वा मृषिकनाजार्सर्पाजगरहुण्डुमान् । प्रस्येकं भोजयेद्विप्राणलोहदण्डश्च दक्षिणा ॥ सेधाकच्छपगोधानां शशशरपकघातकः । घृन्ताकफलगुञ्जाशी अहोरात्रेण शुद्धयति ॥ मृगरोहिवराहाणामधिकावस्तघातने । धृकजम्यूकशृचाणां तरक्षुणां च घातकः ॥ तिलप्रस्थं स्वसौ दत्त्वाद्वायुमसौ दिनत्रयम् । गजमेपतुरङ्गोष्ट्रगवधानां निपातने ॥ प्रायश्चित्तमहोरात्रं त्रिसंध्यं चावगाहनम् । तरवानरसिंहानां चित्रकव्याघ्रघातकः ॥ शुद्धिमेति त्रिरात्रेण ब्राह्मणानां च भोजनैः ॥' इति ॥ एवमन्येषामपि स्मृतिवचसां देशकालाप्येक्षया विषयव्यवस्था कल्पनीया ॥ २७५ ॥

भाषा—फल, फूल, अन्न और रस में पके हुए ( उषन्न हुए ) शुद्ध जीवों को मारने पर घी खाकर शुद्ध होवे । अस्थिवाले जीवों का ( एक हजार से कम संख्या में ) वध करने पर कुछ धान्य, सोना आदि का दान देना चाहिये, बिना अस्थिवाले जीवों को मारने पर एक प्राणायाम करे ॥ २७५ ॥

इति हिंसाप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

'हन्धनार्थं द्रुमच्छेद' ( प्रा० २४० ) ह्युपपातकोद्देशे पठितं, हिंसाजसङ्गलोभेन तद्द्रव्यकर्मपठितमप्यपकृत्य तत्र प्रायश्चित्तमाह—

वृक्षगुल्मलतावीरुच्छेदने जप्यमृक्शतम् ।

स्यादोषधिवृथाच्छेदे क्षीराशी गोऽनुगो दिनम् ॥ २७६ ॥

फलदानां आम्रपनसादीनां च वृक्षाणां गुल्मादीनां च यज्ञाद्यदृष्टार्थं विना छेदने शृचां गायत्र्यादीनां शतं जप्तव्यम् । ओषधीनां तु प्राम्यारण्यानां वृषैव छेदने दिनं कृत्स्नमहर्षर्षा परिचयमिनुगम्यान्ते क्षीरं पिवेदाहारान्तरपरिचयानेन । पञ्चमशार्थं तु न दोषः । एतच्च फलादिद्वारेणोपयोगिषु द्रष्टव्यम् । (मनुः १११४२)—'फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् । गुल्मवल्ली-

१. कृत्स्न भोजयेत् । २. शशशरपक । ३. वृक्षगुल्मलतानां च छेदने ।

लतानां च पुष्पितानां च वीहधाम् ॥' इति मनुस्मरणात् । दृष्टार्थेऽपि कर्पंगा-  
ङ्गमूतहलाद्यर्थस्त्वे न दोषः । 'कलपुष्पोपगान्पादवात् हिंस्यारकर्पंगकरणात्' चोपह-  
न्यात्' इति वसिष्ठस्मरणात् । यत्र तु स्थानविशेषाद्दण्डाधिक्यं तत्र प्रायश्चित्ता-  
धिक्यमपि कल्पनीयम् । तदुक्तम्—'सैत्यरमशानमीमासु पुण्यस्थाने सुरालये ।  
जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृत्तेऽथ विभ्रुते ॥' इति ।—भयं च ऋक्शतत्रयो  
द्विजातिविषयः, न पुनः शूद्रादिविषयः; तेषां जपेऽनधिकारात् । भतस्तेषां  
दण्डानुसारेण द्विरात्रादिकं कल्पनीयम् । उपपातकमध्ये विदोषनः पाठस्थानर्थ-  
व्यपरिहारार्थमुपपातकसाधारणप्रायश्चित्तमप्यत्र भवति । तच्च गुरुत्वाद्भ्यास-  
विषयं कल्प्यम् ॥ २७६ ॥

भाषा—( विना यज्ञ कार्यं के ) घृत्, गुल्म, लता और विरवा काटने पर  
गायत्री आदि श्रद्धा का सौ बार जप करे । ओषधियों ( घनस्पतियों )  
को निम्नयोजन काटने पर दिन भर दूध पीकर रहे और गायत्री सेवा  
करे ॥ २७६ ॥

पुंश्चलीवानरादिवधप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्तदुदंशनिमित्त प्रायश्चित्तमाह—

पुंश्चलीवानरस्त्रैर्दंष्ट्रैश्चोष्ट्रादिघायसैः ।

प्राणायामं जले कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ २७७ ॥

पुंश्चल्यादयः प्रसिद्धाः, पतैर्दंष्ट्रैः पुमान्तजंठे प्राणायामं कृत्वा घृतं  
प्राश्य विशुध्यति । 'आदि'ग्रहणाच्छृङ्गालादीनां ग्रहणम् । यथाह मनुः ( १११-  
१९९ )—'श्वसृगालखरैर्दंष्ट्रे प्राण्यैः कृत्वाङ्घ्रिरेव च । नराद्योष्ट्रवराहैश्च प्राणा-  
यामेन शुध्यति ॥' इति । अयं च घृतप्राशो भोजनप्रत्याघ्रायो द्रष्टव्यः; प्रायश्चि-  
त्तानां तपोरूपत्वेन शरीरसंतापनार्थत्वात् ।—पतदशकविषयम् ; 'श्वसृगालमृगम-  
हिपाजाधिकरकरभनकुलमार्जारिमूषकप्लवककाकपुरुषददानामापोहिष्टेश्वादिभिः  
स्नानं प्राणायामप्रयं च ॥' इति यत् सुमन्तुवचनं, तन्नाभेरथःप्रदेश ईषद्विषय-  
यम् । यश्वह्निरौवचनम्—'महाचारी शुना दष्टस्यदहंसायं विशेषःपयः । गृहस्यथेद्  
द्विरात्रं तु एकहं योऽग्निहोत्रवान् ॥ नाभेरुर्ध्वं तु दष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत् ।  
स्यादेतस्त्रिगुणं यत्रे मस्तके तु चतुर्गुणम् ॥' इति,—तत्सम्यग्दष्टविषयम् । अत्रिय-  
वैश्ययोस्तु पादपादन्यूनं कल्पनीयम् । शूद्रस्य तु—'शूद्राणां चोपवासेन दृष्टि-  
दानेन वा पुनः । मां वा दद्याद् वृषं वैकं प्राणायाम विशुद्ध्ये ॥' इति दृष्टवन्नि-  
सोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठवचनम्—'प्राणायामं शुना दष्टा नदीं गत्वा समुद-  
राम् । प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥' ( २३३१ ) इति,—तदुक्तम्

१. दण्डानुसारात् । २. साधारणप्राप्तं प्रायश्चित्तम् । ३. दष्ट-  
रघोष्ट्रादि । ४. मूषिकाच्छ्व । ५. विशुध्यति ।

दंशगिपयम् ॥ स्त्रीणां तु—'प्राङ्गणी तु शुना दष्टा जम्बुकेन वृक्षेण वा । तदितं  
 महानुग्रं दष्टा सद्यः शुचिर्भवेत् ॥' इति पराशरोक्तं द्रष्टव्यम् । वृष्ट्यादिवन-  
 स्थायाः पुनस्तेनैव विशेषो दर्शितः—'त्रिरात्रमेवोपवसेच्छुना दष्टा तु सुमना ।  
 सपृतं यावकं भुषवा यतरोपं समापयेत् ॥' इति ॥ रक्षस्वलायामपि विशेषः  
 पुष्टस्येन दर्शितः—'रक्षस्वला यदा दष्टा शुना जम्बुकरामभैः । पञ्चरात्रं  
 निराहारा पञ्चगव्येन शुष्यति ॥ ऊर्ध्वं तु द्विगुणं नाभेर्वंशत्रे तु त्रिगुणं तथा ।  
 चतुर्गुणं स्मृतं मूर्ध्नि दष्टेण्यथास्तुतिर्भवेत् ॥' इति । अन्यत्राऽरक्षस्वला-  
 यस्थायाम् । यस्तु श्वादिभिर्प्राणादिनोपहृष्यते तस्य शान्तयेन विशेष  
 उक्तः—'शुना प्रातावलीढस्य नक्षैर्विलिखितस्य च । भङ्गिः प्रगालनं  
 शौचमग्निना शोपकूलनेम्' इति । उपकूलनं तापनम् ॥ यदा तु श्वादिदंश-  
 शस्त्रपातादिजनितघने कृमय द्रव्यघ्नते तदा मनुना विशेष उक्तः—'प्राङ्गस्य  
 घणद्वारे पूयशोणितसंभवे । कृमिदृष्यते यस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥  
 गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसंघं स्नानमाचरेत् । त्रिरात्रं पञ्चगव्याशी रवधोनाभ्या यिष्टं-  
 ष्यति ॥ नाभिकण्ठान्तरोद्भूते घणे शोषयते कृमिः । पद्म्रात्रं तु स्वहं पञ्चगव्या-  
 शनमिति स्मृतम् ॥' तत्र श्वादिदशघने तदंशप्रायश्चित्तानन्तरमिदं कर्तव्यम् ।  
 श्वादिजनितघने श्वेतदेव, स्वहं पञ्चगव्याशनदिकमिति शोपः । चत्रियादिषु तु  
 प्रतिवर्गं पादपादद्वयः कर्तव्यः ॥ २७७ ॥

भाष्या—अभिचारिणी स्त्री, यन्दर, गदहा, ऊँट, घोडा ( सियार आदि ),  
 कौआ द्वारा दौत वा चोच से फाटे जाने पर जल में खदा होकर प्राणायाम  
 करने और पी खाने पर शुद्धि होती है ॥ २७७ ॥

शारीरवग्धातुविच्छेदकदंशप्रायश्चित्तप्रसङ्गाच्छारीरवग्धातुविच्छेदकरकन्द-  
 ने प्रायश्चित्तमाह—

यन्मेऽद्य रेत ईत्याभ्यां स्कन्नं रेतोऽभिमन्त्रयेत् ।

स्तनान्तरं भ्रुवोर्मध्यं तेनाऽनामिकया स्पृशेत् ॥ २७८ ॥

यदि कथंचिच्छीसंभोगमन्तरेणापि हठाच्चरमघातुर्विसृष्टस्तदा तत्करुणं रेतो  
 'यन्मेऽद्य रेतः पुविची', 'पुनर्मांमैश्विन्द्रियम्' इत्याभ्यां मन्त्राभ्यामभिमन्त्र-  
 येत् । तेन आभिमन्त्रितेन रेतसा स्तनयोर्भ्रुवोश्च मध्यमुपकनिष्ठिकया  
 स्पृशेत् ॥ अन्ये तु स्कन्नस्य रेतसोऽशुचित्त्वेन स्पर्शकर्मण्ययोरपरवात्तेनेर-  
 नामिकासाहचर्यावबुद्धिस्थाहुष्टपरत्वेन व्याचक्षते । तेनाहुष्टेनानामिकया चेति

१. सन्नता । २. शोपकूलनं । ३. पद्म्रात्रं च तदा श्लोकं प्राजापत्यं विशेष-  
 धनं । ४. पृताभ्यां स्कन्नं रेतोऽनुगम्ययेत् । ५. भ्रुवोर्वाऽपि तथा नामिकया ।

'अद्भुष्ट'पदग्रहणे वृत्तमद्भुष्टसद्भात्तनेति निदिष्टमिति, -तदमत्, अद्भुष्टस्याबुद्धिस्थ-  
त्वात् । नच द्वा-दशनिहितपरित्यागेनार्थाद् बुद्धिस्थस्यान्वयो युक्तः । तदुक्तम्—  
'गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्ट विशेषणम् । शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽथ  
उच्यतेतिवत् ॥' इति । नच रेतसोऽशुचित्येन स्वर्गाधार्यत्वम् । विधानादेव  
प्रायश्चित्तार्थरूपस्पर्श योग्यत्वमप्यगम्यते प्रायश्चित्तरूपवान इव सुराया । इदं च  
प्रायश्चित्त गृहस्थस्यैवाकामत रक्षविषयम् । प्रज्ञाचारिण स्वप्ने जागरणा-  
वस्थाय च गुरुप्रायश्चित्तस्य दर्शनात् । यत्तु यमपचनम्—'गृहस्थ कामत  
कुर्याद्वैतस रक्ष-दन भुवि । सहस्रतु जपेद् देव्य प्राणायामैस्त्रिभि सह ॥' इति,—  
तत्कामकारविषयम् ॥ २७८ ॥

भाषा—( स्वप्नदोष होने पर ) 'यन्मेऽद्य रेत गृधिवीमस्वन् पुतमामै-  
विविद्रयम्' इन मर्षों से वायु का अभिमन्त्रण कर और उससे दानों  
छाती, और दानों भौड़ों के मध्यभाग का कनिष्ठिका अँगुली द्वारा स्पर्श  
करे ॥ २७८ ॥

मयि तेज इति च्छाया स्यां 'दृष्ट्वाऽऽभ्युपतां जपेत् ।

सावित्रीमण्डुचीं दृष्टे चांपद्ये चान्ततेऽपि च ॥ २७९ ॥

किंच, शीघ्र अनिश्चितमभ्युपगत दृष्ट चेत् तदा 'मयि तेज इन्द्रियम्' इतीम  
मन्त्र जपेत् । अशुचिद्रव्यदर्शनं पुन सावित्रीं सवितृदेव्यां 'तामवितु'  
इत्यादिकांश्च जपेत् । तथा वाशगणिपादादिचापत्यकरणे तामेव जपेत्, अनृ  
तवचने च १-एतत्कामकारे द्रष्टव्यम्, अकामकृते तु 'सुप्त्वा भुक्त्वा च सुप्त्वा  
च निष्टीयोवावावृत्तानि च । पीत्वाऽपोऽप्येव्यमाजश्च आचामे'प्रयतोऽपि सन् ॥'  
इति मनुष्कमाचमन द्रष्टव्यम् ॥ यत्तु सवतवचनम्—'सुते निष्टीयते चैव इ-त-  
शिल्पे तथापुत । पतितानां च सभापे दक्षिण ध्वजं स्पृशेत् ॥' इति,—सदृश्यप्र-  
योजने जलाभावे वा द्रष्टव्यम् ॥ शोशुद्धवित्पत्रवधानन्तर 'निन्दितार्थोपजीवन'  
पठित, तत्र च मनुयोगीश्वरप्रोक्ताभ्युपपातकप्रायश्चित्तानि जातिघातगुणघपेक्षया  
वेदिनस्थानि । नास्तिक्येऽपि तानि प्रायश्चित्तानि तथैव प्रयोऽयानि, नास्तिक्य-  
घादेन च वेदादिनिन्दन तेन जीवनमुच्यते, तन्नोभयत्रापि यमिष्टेन प्रायश्चित्ता  
न्तरमप्युक्तम्— नास्तिक कृष्ण द्वादशरात्र चरित्वा विरमेष्ठास्तिक्याघास्तिक-  
पृत्तिसवति कृच्छ्रम् (२३।२९) इति ।—एतच्च सहस्रकरविषयम् । उपगतकस्याप  
भित्तान्यवस्थानविषयाणि । पच्य दाहोक्तम्—'नास्तिको नास्तिकपृत्ति पृथक्  
कृष्णपदहारी मिथ्याभिज्ञानी इत्यने पच्यपरापर प्राह्यगृहे भैक्ष चरेत् ॥' इति ।

१. यथयमागवात् । २ दृष्ट्वाऽऽभ्युनि वै जपेत् । ३. चापने वाऽनु-  
तेऽपि च । ४ निष्टीयते ।



यस्य हार्तिग- 'नारितको नारितकृतिः' इति यज्ञस्य 'यज्ञतपोऽध्यायज्ञानज्ञान-  
ज्ञानान्यनुतिष्ठेयुर्मासिमासादिमन्त्रेषु' इति, -तदुभयमन्वन्ताभिमिदंतेन यदुक्ता-  
ऽप्राप्तविषयम् ॥ २७९ ॥

भावा—अल में पदी हुई अपनी छाया की देकर कर 'मयि तेज इन्द्रियम्'  
मन्त्र का जप करे; भवविग्र मनुष्य को देवने पर, (वाणी, हाथ, पैर  
आदि की) चपलता करने पर और अस्वभाव्य करने पर गायत्री का  
जप करे ॥ २७९ ॥

नारितकदानन्तर 'मनलोपय' हस्तुक्तं, तत्रावकीर्णोऽप्यभिद्वयवाच्यवृत्त-  
कथनपूर्वकं प्रापश्चित्तमाह—

अवकीर्णो भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् ।

गर्दमं पशुमालम्ब्य नैर्ऋतं स विशुष्यति ॥ २८० ॥

मन्त्रार्थुपकुर्वाणको नैष्ठिकश्चासौ योषित गवाऽवकीर्णो भवति ।  
अरमधातोर्वितर्गोऽवकीर्णं तदवर्वास्त सौऽवकीर्णो, स निश्च्यतिदेवधेन गर्द-  
मपशुना याय कृत्वा विशुष्यति । गर्दमस्य पशुस्ये सिद्धेऽपि पुन- 'पशु'प्रहणं 'अथ  
पशुश्चर' (१११११) इत्याशब्दायनादिगृह्योक्तपशुधर्ममाप्यर्थम् । एतच्चारण्ये  
चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ कार्यम् । 'मन्त्रचारी चेरिष्वपुषेऽवर्ष्ये चतुष्पथे लौकिक-  
ऽग्नौ रक्षोदेवत गर्दमं पशुमालम्बेन' (२३१) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ तथा  
रात्रायेकाचिविषयेन यष्टयम् । तथा च मनु. (११११८)—'अवकीर्णो तु  
फाणेन हासमेन चतुष्पथे । पारुपशुविधानेन यजेत निश्च्यति निशि ॥' इति ।  
पदोरमाये चहया यष्टयम् । 'निश्च्यति वा अहं निर्धयेत् तस्य जुहुवात्-कामाय  
स्वाहा, कामकामाय स्वाहा, निश्च्यै स्वाहा, रक्षोदेवताभ्यः स्वाहा' (२३।२।३)  
इति वसिष्ठस्मरणात् ।-एतन्नामकविषयम् । तत्कल्प पुनर्गर्दमेनावकीर्णो निश्च्यति  
चतुष्पथे यजेत् । 'तस्याग्निमूर्त्त्यंशाल परिधाय लोहितपात्रः सप्तगृहान् भैक्षं  
चरेत्कर्माचिवाणः संवासरणं शुष्यति' (२३।१७-१९) इति गीतमोक्तो वार्षिक-  
तपःसमुच्चिनः पशुयागश्चरुवां द्रष्टव्यः । तथा त्रिपवणस्तानमेककालभोजनं च  
द्रष्टव्यम् । (११।१२२-१२३)—'एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दमाग्निम् ।  
सप्तागारं चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ सेम्यो लघ्वेन भैषेण यत्तपस्नेककालि-  
कम् । तदपशुशशिवरणमवर्द्धेन स विशुष्यति ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ इदं च  
वार्षिकमथोत्रियवशाद्गणपत्यां वैश्यायां श्रोत्रियपत्न्यां च द्रष्टव्यम् ॥-यदा तु गुण-  
व्ययोर्गोहृणीशुत्रिययोः श्रोत्रियभार्ययोरेवकिरति तदा त्रिवार्षिकं द्विवार्षिकं च  
क्रमेण योऽयम् ॥ यथाहतुः शङ्खलिरिती—'गुहायां वैश्यायामवकीर्णः संवासरं

‘अहान्युद्धन्धनभ्रष्टाः प्रमत्तपानासकप्युताः । विषमपतनप्रायदासघातश्रुताश्च  
ये ॥ नैव ते प्रत्यदसिताः सर्वलोकबहिष्कृताः । चाग्नापनेन शुद्धवन्ति तत-  
कृच्छ्रद्वयेन वा ॥’ इति ॥ इदं च चाग्नापनं तप्तकृच्छ्रद्वयात्मकं प्रायश्चित्तद्वयं  
शक्यत्वाद्यपेक्षया व्यवस्थितं विज्ञेयम् । यदा तु ‘दासघातहताश्च’ इति पाठः,  
तदा मर्यागाघशास्त्रीयमरणनिमित्तस्तरपुत्रादेरुपदेशो द्रष्टव्यः ॥ यत्पुनर्वसिष्ठेनो-  
क्तम्—‘जीवन्नामर्यागी कृच्छ्रं द्वादशारात्रं चरेत् , त्रिरात्रं चोपवसेत्’ (२३।१९)  
इति,—तदप्यप्यसिताशास्त्रीयमरणस्यैव कथंचिज्जीवने दास्यपेक्षया द्रष्टव्यम् ।  
अथवा—अप्यपत्तावमात्रे त्रिरात्रं, दासादिघनस्य द्वादशारात्रमिति व्यवस्था । इदं  
चावकीर्णप्रायश्चित्तं गुरुदारतासमभ्यतिरिक्तागम्यागमनविषयम् । तत्र गुरुन-  
प्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् । न च लघुनाऽवकीर्णघतेन द्वादशवार्षिकाघपनोद्यमहा-  
पातकदोषनिवर्तनमुचितम् । न च ब्रह्मचारिवोपाधिकं लघुप्रायश्चित्तविधानमिति  
युक्तम् ; आश्रमान्तराणां द्वैगुण्यादिवृद्ध्येव ब्रह्मचर्याप्रकरणे दर्शितत्वात् । न चाश्र-  
मभ्यागमनप्रयश्चित्तं पृथक्कृतं भवति ; ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यं स्खलनस्या-  
गम्यागमनेनान्तरीयकत्वात् , असोऽभ्यत्रापि यस्मिन्निमित्ते यस्मिन्निमित्तान्तरं समं  
भूयं वाऽवश्यं भोषिनः । तत्र पृथक् नैमित्तिकं प्रयुक्ते । यथा (मनुः १।१।२०८)—  
‘अथगूर्णं चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने । कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽस्तृषपाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तर-  
दोषिते ॥’ इत्यत्र शोणितोत्पादननिमित्तेऽवगूरणनिपातलक्षणं निमित्तद्वयमव-  
श्यंभावित्वात् स्वनैमित्तिकं कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं च न प्रयुक्ते, एवमभ्यत्राप्युद्धनी-  
यम् । यत्र पुनर्निमित्तानामन्तर्भावनिश्चयो नास्ति, तत्र पुनर्नैमित्तिकानि  
पृथक्प्रयुज्यन्ते । निमित्तानि यथा—‘यदा पर्वणि परमार्या रजस्वला तैला-  
भ्यक्तो दिवा जले गच्छति’ इति ॥ ननु ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यं स्खलन-  
स्यागमनान्तरीयकत्वं नारत्येव; पुत्रिकागमनेऽगम्यागमनदोषाभावात् । तथा  
हि—न तावत्पुत्रिका कस्या; अद्यतपोनिश्वात्, नापि परमार्या; प्रदाना-  
भावात्, नापि घेरया; अतद्वृत्तित्वात्, नापि विधवा; भर्तृमरणाभावात्,  
अतः पुत्रिकायाः काप्यनन्तर्भावादप्रतिषिद्धेति तत्रैव विस्तृतस्य केवलमव-  
कीर्णतम् । अभ्यत्र विस्तृतस्य तु निमित्तान्तरसंनिपातादवकीर्णघतं नैमि-  
त्तिकांतरमपि प्रयोक्तव्यमिति,—तदसत्; पुत्रिकाया अपि परमार्यास्वन्त-  
र्भावात् । प्रदानामावेऽपि विवाहसंस्कारेण संस्कृतत्वात् गान्धर्वादिविवाह-  
परिणीतादत् । न च ‘यस्वार्यु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता । नोपव-  
च्छेत् तां प्राणः पुत्रिकाघर्मशङ्कया ॥’ इति प्रतिषेधात्सगोत्रास्विव मार्यात्वं  
नोपपद्यत इति वाच्यम् । दृष्टार्थत्वात् प्रतिषेधस्य व्यङ्गाभ्यादिप्रतिषेधवत् । दृष्टार्थत्वं

च पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति हेतुपादानात् । नच पुत्रार्थमव परिणयन, अपि तु धर्मार्थं मपि, अतश्चोत्पादितपुत्रस्य सृत्तभार्यस्य धर्मार्थं पुत्रिकापरिणयने को विरोध ? प्रपञ्चित चैनस्पुस्तदादित्यलमतिप्रसङ्गेन । तस्माद् ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्म-  
चर्यसंखलनस्यागम्यागमनान्तरीयकत्वात् पृ. ३३ नैमित्तिक प्रयोक्तव्यमिति सुष्टु-  
क्तम् ॥ २८० ॥

भाषा—ब्रह्मचारी किसी स्त्री का भोग करने पर अवकीर्ण हो जाता है, वह निश्चिन्ति देवता क लिए गदहे द्वारा पशुयज्ञ करने पर शुद्ध होता है ॥ २८० ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गाद-यदपनुपातकप्रायश्चित्तमाह—

भैक्ष्वाग्निकार्ये त्यक्त्वा तु सप्तरात्रमनातुर ।

कामावकीर्ण इत्याभ्यां जुहुयादाहुतिद्वयम् ॥ २८१ ॥

उपस्थानं तत कुर्यात्सं मा सिचन्वनेन तु ।

यस्त्वनानुर एव ब्रह्मचारी निर-तर सप्तरात्र भैक्षमग्निकार्यं वा त्यजति तसौ 'कामावकीर्णोऽस्त्ववकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा । कामावपन्नोऽस्त्वव-  
वपन्नऽस्मि कामकामाय स्वाहा' इत्येताभ्यां मन्त्राभ्यामाहुती हुत्वा 'स मा सिचन्तु मरुत समिन्द्र स बृहस्पति । समायमग्नि सिचन्तौ यज्ञमा ब्रह्म-  
वर्चमेव ॥' इत्यनेन मन्त्रेगग्निमुपतिष्ठेत् ॥ एतच्च गुरुपरिचर्यादिगुरुतरकार्यं त्यजतया अकरणे द्रष्टव्यम् । यदा त्वभ्यप्र एकोभे भैक्ष्वाग्निकार्ये त्यजति, तदा 'अहु'वा भैक्षचरणमसमिष्य च पावकम् । अनातुर सप्तरात्रमवकीर्णिवत चरेत् ॥' ( मनु० २।१८७ ) इति मानव द्रष्टव्यम् ॥ यज्ञोपवीतविनासे तु दारीतेन प्रायश्चित्तमुक्तम्—'मनोव्रतपताभिश्चतस्र आऽवाहुतीर्हुत्वा पुनर्यथाथं प्रतीयादस्यैवभोजनेऽभ्युदितेऽभिनिर्मुक्ते वान्ते दिवा स्वप्ने नग्नस्त्रीदर्शने नग्न स्वाये रमशानसाक्य ह्येवादीश्वारुह्य पूज्याभिक्रमे चैताभिरेव जुहुवादिग्नि-  
समि-धने स्यात्वरसरीसृपादीनां वधे 'यद्देवादेवदेदनम्' इति कू-माण्डोभिराज्य जुहुयात्, मणित्राँमोगवादीनां प्रतिग्रहे सावि-शष्टमहच जपेत्' इति । मनो-  
व्रतपतीभिरिति मनोऽयोतिरिवादिमनोऽलिङ्गामि 'स्वमने व्रतपा भसि' इत्यादिव्रतलिङ्गाभिरित्यर्थ । यथाथं प्रतीयादिति, उपनयनोक्तमार्गेण सम वक्र गृह्णीयादित्यर्थ । यज्ञोपवीत विना भोजनादिमरणे तु—'ब्रह्मसूत्र विना शुद्धे विष्णुत्र कुरुतेऽथवा । गायत्र्यष्टसहस्रेण प्राणायामेन शुष्यति ॥' इति मरीच्युक्त द्रष्टव्यम् ॥ २८१ ३ ॥

१ हुत्वा चाऽऽवाहुतिद्वयम् । उपस्थानद्वय कुर्यात् । २. समायमग्नि ।

३ हयादीनारुह्य । ४ वासोगृहादीनां ।

भाषा—विना अक्षय्यता के सात दिन तक भिच्छाटन और अग्निर्कर्म छोड़ने पर 'कामायकीर्ण' आदि ( कामायकीर्णोऽस्त्रपयकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा । कामायप्रोऽस्त्रपयप्रोऽस्मि कामकामाय स्वाहा' इन दोनों मन्त्रों से दो आहुति करके 'समा सिचन्तु मरुत समिन्द्र सप्तुष्टरपति । समायगग्नि सिचन्तां यदासा महलषर्धमेन ।' मन्त्र से गुणः अग्नि का उपस्थापन करे ॥ २८१३ ॥

मधुमांसाशने कार्यं कृच्छ्रं शेषंमतानि च ॥ २८२ ॥  
प्रतिकूलं गुरोः कृत्या प्रसाद्यैव विशुष्यति ।

किंच, ब्रह्मचारिणा अमाया मधुमासभरणे कृच्छ्रं वार्यं । तदनन्तरम-  
चन्द्रिणानि मतानि समापयेत् ।—एतच्च शिष्टभोजनाहंदादादिमांसमक्षुण्विप-  
यम् । 'ब्रह्मचारी चे-मांसमरनीयाच्छिष्टभोजनीयं कृच्छ्रं द्वादशात्र परिवृत्त्वा  
मतशेष समापयेत्' ( २३।११ ) इति वसिष्ठस्मरणात् । 'द्वादशात्र'महणं तु  
मतिपूर्वाभ्यासापेक्षयाऽतिकृच्छ्रपराक्रादेरपि प्राप्स्यर्थम् । यदा तु मांसिकारनोप-  
श्याप्यभिभूतस्तदा मांसं गुरोरुच्छिष्टं कृत्वा भक्षणीयम् । 'म चेद्रवाधितं काम  
गुरोरुच्छिष्टं भैषज्यार्थं सर्वं प्राशनीयात्' ( २३।१२ ) इति तेनैवोक्त्यात् । 'मर्व'-  
महणं मांसकृशुनाद्यमप्यमात्रसमहार्यम् । सङ्कलनेन चापगतव्याधिरादियमु-  
पतिष्ठेत् । तथा च औषादन ( २।१।२६-२७ )—'येनश्चेत्तु विकिरिसत्तु तु  
यदाऽगदो भवति तदोत्थायाद्विषमुपतिष्ठेत्' 'हसं शुचिपत्' इति । मधुनोऽ-  
प्यज्ञानतः प्राशानोपपत्तौ न दोषः । 'अकानोपनतं मधु वाजन्नेयके न दुष्यति'  
( २३।१३ ) इति वसिष्ठस्मरणात् । अन्यसूतक्राजादिभक्षणप्रायश्चित्तं स्वभक्ष-  
प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यामः । आज्ञाप्रतिघानादिना गुरोः प्रतिकूलमाचरन् पाद-  
प्रणिपातादिना गुरुं प्रसाद्य विशुष्यति ॥ २८२३ ॥

भाषा—मधु और मांस खाने पर कृच्छ्र और अघदिए मत करे । गुरु के  
निपरीत कार्य करने पर उन्हें प्रयत्न करने पर ही ( ब्रह्मचारी ) शुद्ध  
होता है ॥ २८२३ ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गाद् गुरोरपि प्रायश्चित्तमाह—

कृच्छ्रप्रयं गुरुं कुर्यान्म्रियते<sup>१</sup> प्रहितो यदि ॥ २८३ ॥

यस्तु गुरुश्रीरोरुप्याक्रादिभक्षाकुलप्रदेशे सान्द्रतरान्धकाराकुलितनिशीया-  
वसरे कार्यार्थं शिष्यं प्रेरयति, स च गुरुणा प्रेरितो वैशान्मृतस्नदा स गुरु  
कृच्छ्राणां प्राजापत्यादीनां त्रयं कुर्यात्, न पुनस्तस्य प्राजापत्या, तथा मनि  
पूर्यङ्गनिवेशिनी सख्यानुपपन्ना स्यात् । न च 'एकादश प्रयाजान्यजति' इति  
वदावृत्त्यपेक्षा सत्येति चतुरस्रम्, स्वरूपपृथक्त्वे सम्भवशास्त्रपेक्षया अभ्यास्य-

१. शेषो भूतानि । २. प्रहितो म्रियते यदि । ३. पृथक्स्वनिवेशिनी ।

त्वात् । यदियमुपगता संख्या स्यात्तदा स्यादपि कथविदावृत्तपेषा, किंतु-  
रपत्तिगतेयम् ; अतः 'तिस्र आऽप्राहुतीर्जुहोति' इतिवत् स्वरूपपृथक्त्वापेक्षयैव  
त्रिस्रसंख्याघटना युक्ता ॥ २८३ ॥

भाषा—किसी कार्य पर भेजे गये ( और उस कार्य के सम्पादन के  
लिये ) शिष्य की मृत्यु होने पर ( हिंसक पशु आदि द्वारा मारे जाने पर )  
गुरु तीन कृच्छ्र व्रत करे ॥ २८३ ॥

सकलहिंसाप्रायश्चित्तापवादमाह—

क्रियमाणोपकारे तु मृते विप्रे न पातकम् ।

[ विषाके गोवृषाणां तु भेषजाग्निक्रियासु च ॥ ]

आयुर्वेदोपदेशानुसारेणौषधपथ्यान्नप्रदानादिभिस्त्रिक्रिस्तादिना क्रियमाण  
उपकारो यस्य ब्राह्मणादेस्त्रिभ्यश्चैवारकथञ्चिन्मृतेऽपि पातक नैव भवति ।  
'विप्र'ग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षणार्थम् । अत्र एव 'यन्प्रणे गोचिक्रिसार्थे गूढगर्भ-  
विमोचने । यत्ने कृते विपत्तिः स्थान्त स पापेन लिप्यते ॥' इत्यादि संवर्ताद्यै-  
रुक्तम् । एतच्च प्रपञ्चितं प्राक् ॥—

भाषा—औषध आदि द्वारा उपकार करते समय ब्राह्मण की मृत्यु हो  
जाने पर पातक नहीं लगना । [ गाय और वृष की चिक्रिसा और अग्निकार्य में  
माणनाश हा तो पाप नहीं लगता । ] ॥

मिथ्याभिज्ञानिनः प्रायश्चित्तविवक्षया तदुपयोग्यार्थवाद तावदाह—

मिथ्याभिज्ञानिनो दोषो द्विः समो भूतवादिनः ॥ २८४ ॥

मिथ्याभिज्ञानदोषं च समादत्ते मृषा वदन् ।

यस्तु परोक्षपेक्षाजनितरोपकलुपितान्तःकरणो जनसमर्था मिथ्यैवाभि-  
ज्ञापं 'ब्रह्मदृष्ट्यादिकमनेन कृतम्' इत्यारोपयति, तस्य तदेव द्विगुणं भवति ।  
पस्तु विद्यमानमेव दोषमलोकविदित जनसमर्था प्रकाशयति, तस्यापि तस्या-  
तकिसमदोषभावात् ; तथा वापस्तम्भः ( ११२११२० )—'दोषं युद्ध्वा  
न पूर्वं परेभ्यः पतितस्य सैमासपाता स्यात् परिहरेत्त्वेनं धर्मेणु' इति न केवलं  
मिथ्याभिज्ञानाद् द्विगुणदापभाक्, अपि तु मिथ्याभिज्ञानस्य यद्दम्यद् दुरितजातं  
तदपि समादत्त इति दक्षप्रमाणप्रायश्चित्तेऽर्थवाद, न पुनः पापद्वैगुण्येऽदि-  
प्रतिपादनमत्र विवक्षितम् ; निमित्तस्य लघुत्वाद्द्विगुण्येऽर्थवादमात्रात्  
कृतदाशाटनाभ्यागमप्रसङ्गाच्च ॥ २८४ ॥

१. इदमर्थं पुस्तक एवाधिकमस्ति । २. नास्त्रिक्रिस्ताथ । ३. समा-  
ख्याने ।

भाषा—( ईर्ष्या जाडि के कारण ) दूसरे पर झूठे ही ( ब्रह्महत्या आदि का ) दोष कहने वाला तथा वास्तविक दोष को भी कहता फिरने वाला इन दोनों को दूना दोष लगता है । मिथ्या दोष कहने वाला न केवल दूने दोष से युक्त होता है अपितु जिस पर दोष लगता है उसके सभी पाप भी उसे लग जाते हैं ॥ २८४३ ॥

तत्र प्रायश्चित्तमाह—

महापापोपपापभ्यां योऽभिशांसेऽभ्युपा परम् ।

अभ्युपा मासमासीन स जापी नियतेन्द्रियः ॥ २८५ ॥

यस्तु महापापेन ब्रह्महत्यादिना योगधालुपपापेन वा सुपैव परमभिशासति स मास यावज्जलाशनो जपशीलो जितेन्द्रियश्च भवेत् । तपश्च शुद्धवतीना कार्यं । 'ब्राह्मणमनृतेनाभिशास्य पतनीयेनोपपातकेन वा मासगम्भश्च शुद्धवतीरावर्तयेदश्वमेधावभृथ वा गच्छेत्' ( २४।३९-४० ) इति चमिष्टस्मरणात् । 'महापापोपपाप'ग्रहणमन्येपामप्यतिपातकारीनामुपलक्षणम् । एतच्च ब्राह्मणस्यैव ब्राह्मणेनाभिशांसने कृते द्रष्टव्यम् । यदा तु ब्राह्मण चत्रियादेरभिशासनं करोति, चत्रियादिवं ब्राह्मणस्य तदा—'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दम । वर्णानामानुलोभ्येन तस्मादर्धाध्वानित ॥' इति दण्डानुसारेण प्रायश्चित्तस्य बुद्धिहासी कल्पनीयौ । भूताभिशासितस्तु पूर्वोक्तार्थवादानुसारेण दण्डानुसारेण च तदर्धं कल्पनीयम् । तथाऽतिपातकाभिशासिन एतदेव मतं पादोपपात, पातकाभिशासिन एतदर्धम्, उपपातकाभिशासिनस्तु पाप, 'पुरीषो ब्रह्महत्याया चत्रियस्य वधे स्मृत' (मनु १।१।२६)—इत्युपपातकभूतचत्रियादिवधे महापातकप्रायश्चित्तपुरीषातस्य दर्शनात् । एव प्रकीर्णाभिशासिनोऽपि उपपातकान्भूत कल्पनीयम् । 'शक्ति चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्' इति स्मरणात् । यस्तु शब्दलिखिताभ्यां 'नास्तिक कृमन् कृम्यवहारो ब्राह्मणवृत्तिषो मिथ्याभिशासो चर्येते पद्भुर्पाणि ब्राह्मणगृहेषु भैक्ष चर्येषु, सचरहर घौतभैक्षमरनीयु, पण्मासान्वागा अनुगच्छेयु' इति गुरुप्रायश्चित्तमुक्त,—तदभ्यासतारतम्यापेक्षया योजनीयम् ॥ २८५ ॥

भाषा—जो दूसरे पर झूठा महापातक या पातक लगाता है वह एक मास तक लल पीकर रहे, जप करता रहे और इन्द्रियों का मग्न रूप से स्वयं रखे ॥ २८५ ॥

अभिर्शसिप्रायश्चित्तप्रसङ्गादभिर्शस्तप्रायश्चित्तमाह—

अभिर्शस्तो मृषा कृच्छ्रं चरेदान्नेयमेव वा ।

निर्वपेत्तु पुरोडाशं वायव्यं पशुमेव वा ॥ २८६ ॥

यः पुनर्मिथ्याभिर्शस्तं स कृच्छ्रं प्राजापत्यं चरेत् । अग्निदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत । वायुदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत । वायुदैवत्येन वा पशुना । एषां च पञ्चाणां शक्तिसंभवापेक्षया व्यवस्था । यत्तु वसिष्ठेन 'मासमन्मन्त्रणमुक्तमेतेनैवाभिर्शस्तो व्याख्यातः' (२४।३७) इति, तदभिर्शस्तस्यैव किंचित्कालमकृतप्रायश्चित्तस्य सतो द्रष्टव्यम् ; 'संवत्सराभिर्शस्तस्य द्रष्टव्यं द्विगुणो दम्' इति दण्डातिरेकदर्शनात् । यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—'अनुनेनाभिर्शस्तमानः कृच्छ्रं चरेन्मासं पातकेषु महापातकेषु द्विमासम्' इति,—तदपि वासिष्ठेन समानविषयम् । यत्तु बौधायनेनोक्तम्—'पातकाभिर्शसिने कृच्छ्रस्तदर्धमभिर्शस्तस्य' (२।१।६०।१) इति,—तदुपपातकादिविषयं अशक्तविषयं वा । एवमन्वेषाम-एष्टृत्वावचप्रायश्चित्तानामभिर्शस्तविषयाणां कालशत्रुत्वापेक्षया व्यवस्था विज्ञेया । यथाह मनुः (१।१।२००)—'पञ्चाक्षकालता मास सहिताजप एव वा । होमाश्च शाकला निरयमवाहकानां विशोधनम् ॥' इति । अपाहकानां मध्ये अभिर्शस्तादयः पठिताः । यद्यप्यत्राभिर्शस्तस्य निषिद्धाचरणं नोपलभ्यते तथापि मिथ्याभिर्शस्तत्वलिङ्गानुमितप्राग्भवीयनिषिद्धाचरणापूर्वनिबन्धनमिदं प्रायश्चित्तं कृमिदष्टानामिदंति न विरोधः ॥ २८६ ॥

भाषा—जिस पर झूठा दोषारोपण किया गया हो वह कृच्छ्र व्रत करे अथवा अग्नि देवता का पुरोडाश से यज्ञ करे अथवा वायु के लिये पुरोडाश से यज्ञ करे अथवा वायु के लिये पुरोडाश से या एक पशु से यज्ञ करे ॥ २८६ ॥

अनियुक्तो भ्रातृजायां गच्छन्श्चान्द्रायणं चरेत् ।

किंच, यस्तु नियोग विना भ्रातृज्येष्ठस्य कनिष्ठस्य वा भार्यां गच्छति स चान्द्रायणं चरेत् ।—एतच्च सङ्गदमतिपूर्वविषयं द्रष्टव्यम् । यत्तु शङ्खवचनम्—'परिवृत्तिः परिवेत्ता च सवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भ्रंशं चरेयातां ज्येष्ठभार्या-मनियुक्तो गच्छस्तदेव कनिष्ठभार्यां च' इति,—तत्कामकारविषयम् ॥—

भाषा—विना नियोग के ( ज्येष्ठ जनों की आज्ञा के विना ही ) जेटे या छोटे भाई की पत्नी से भोग करने वाला चान्द्रायण व्रत करे ।

किंचाह—

त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य गत्सोदक्यां विशुच्यति ॥ २८७ ॥

यः पुनरुदक्यां रजस्वलां स्वभार्यामपि गच्छति स त्रिरात्रमुपोष्यान्ते घृतं

१. निर्वपेत्तु पुरोडाशं वायव्यं चरुमेव वा ।

प्राश्य विशुध्यति ।—इदमकामतः सकृद्गमनविषयम् । तत्रैवाभ्यासे 'रजस्वला-  
 गमने सत्साराग्रम्' इति शातात्तपेनोक्तं द्रष्टव्यम् । कामत सकृद्गमनेऽप्येतदेव ।  
 यत्तु बृहत्सर्वतनोक्तम्—'रजस्वला तु यो गच्छेद्भिर्भिर्णी पतिता तथा । नस्य  
 पापविशुद्धयर्थमतिकृत्वा विशोधनम् ॥' इति,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् ।  
 यत्पुन दाहनेन त्रिवापिस्मुक्तम्—'पादस्तु शुद्धहस्यायास्तुद्वयगमने तथा' इति,  
 तत्कामतोऽप्यनानपदिद्विभ्यासविषयम् । रजस्वलायास्तु रजस्वलादिस्पर्शं प्राय-  
 श्चित्त स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तथा च बृहद्भूमिष्ठे—'स्पृष्टे रजस्वलेऽन्योन्यं सर्वेषु  
 श्वेकमर्तुः । कौमाद्रकामतो वापि मद्यं स्नानेन शुष्यत ॥' इति । असपत्योस्तु  
 सवर्णयोरकामतं स्नानमात्रम्—'उदक्यानु मवर्णा वा स्पृष्टा चैरस्याद्बुद्वयया ।  
 तस्मिन्नेवाहनि स्नाना शुद्धिमाप्नोत्यसत्तयम् ॥' इति मार्कण्डेयस्मृत्यात् ॥ यत्तु  
 कश्यपवचनम्—'रजस्वला तु संस्पृष्टा द्वाह्यया द्वाह्यणी यदि । एकरात्र निरा-  
 हारा पञ्चरात्रेण शुष्यति ॥' इति,—नसकामकारविषयम् । नमवर्णास्पर्शे तु बृह-  
 द्भूमिष्ठेन विशेषो दर्शितः—'स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं द्वाह्यणी द्वादजापि च ।  
 कृत्त्रेण शुष्यते पूर्वा द्वात्री दानेन शुष्यति ॥' दानेनेति पादकृच्छ्रप्रयास्रायभूत-  
 निष्कपत्तुर्थात्तदानेन शुष्यतीति । 'स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं द्वाह्यणी वैश्वजापि  
 च । पादहीन चरेपूर्वा पादकृच्छ्रं तथोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं द्वाह्यणी  
 चत्रिया तथा । कृच्छ्राध्वंशुष्यते पूर्वा तूजरा च तदधत ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं  
 चत्रिया द्वादजापि च । उपवासैस्त्रिभिः पूर्वा स्वहोरात्रेण चात्तरा ॥ स्पृष्ट्वा  
 रजस्वलाऽन्योन्यं चत्रिया चैश्वजापि च । त्रिरात्राच्छुष्यते पूर्वा स्वहोरात्रेण  
 चोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं वैश्या द्वादा मथैव च । त्रिरात्राच्छुष्यते  
 पूर्वा तूजरा च दिनद्वयात् ॥ वर्णानां कामतं स्पर्शं शुद्धिरेषां पुरातनी ॥' इति ॥  
 अकामतस्तु बृहद्भूमिनोक्तं स्नानमात्रम्—'रजस्वलां हीनवर्णां रजस्वलां स्पृष्ट्वा  
 न तावद्दर्शनीयायावन्न शुद्धा स्यात् । मवर्णांमधिकवर्णां वा स्पृष्ट्वा मद्यं स्नानेन  
 विशुध्यति' इति ॥ चण्डालादिस्पर्शे तु बृहद्भूमिष्ठेन विशेष उक्तः—'पतितात्म-  
 श्वपाकेन सस्पृष्टा चेद्भजस्वला । तान्यहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥  
 प्रथमेऽङ्घ्रि त्रिरात्रं स्याद् द्वितीये द्वयहमेव तु । अहोरात्रं तृतीयेऽङ्घ्रि परतो  
 नक्तमाचरेत् ॥ द्वादयोच्छिष्टया स्पृष्टा शुना चेद् द्वयहमाचरेत् ॥' इति ।  
 तान्यहानि व्यतिक्रम्य अनाशकन नीत्वेति यावत् ।—एतत्कामतं स्पर्शविषयम् ।  
 अकामतस्तु—'रजस्वला तु सस्पृष्टा चाण्डालात्मश्वपाकेन । तापतिष्ठेत्त्रिराहारा  
 यावत्कालेन शुष्यति ॥' इति बौधायनेनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यत्पुनस्तेनैवोक्तम्—  
 'रजस्वला तु सस्पृष्टा ग्रामकुक्कुटसूकरैः । श्वभिः स्नानेन चिपेतावसावचनद्रव्य  
 दर्शनम् ॥' इति,—तद्विषयम् ॥ यदा तु मुजानाया आदिस्पर्शो भवति तदा



स्मृत्यन्तरे विशेष उक्त — 'रजस्वला तु भुञ्जाना आभ्यजादीन्स्पृशेद्यदि । गोमूत्र  
 वायकादारा पद्माप्रेग विशुष्यन्ति ॥ अशक्तौ काञ्चन दद्याद्विभेभ्यो वापि  
 भोजनम् ॥' इति ॥ यदा तृच्छिष्टयो परस्परस्पर्शनं भवति तदा—'तृच्छिष्टो  
 श्लिष्टया स्पृष्टा कदाचिच्छी रजस्वला । कृच्छ्रेण शुभ्यते पूर्वा शूद्रा दानैरु-  
 पोपिता ॥' इत्यत्रिणोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यदा तृच्छिष्टाद्विजान् रजस्वला स्पृशति,  
 तदा 'द्विजा-कथंचिदुच्छिष्टान् रज रथा यदि सस्पृशेत् । अधोच्छिष्टे स्वहोरात्र  
 सूत्रोच्छिष्टे स्पृष्टे च विवेत् ॥' इति मार्कण्डेयोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ एवमवकीर्णप्राय  
 श्चित्तप्रसङ्गात्कानिचिदनुपातकप्रायश्चित्तान्यपि व्याख्याय प्रकृतमनुसराम ।  
 तत्रावकीर्णान्तरं 'सुतानां चैत्र विक्रय' ( प्रा० २६६ ) इत्युक्तं तत्र मनुयो-  
 गीश्वरोक्तानि 'धैर्मसिकादीनि कामाकामजातिशक्याद्यपेक्षया पूर्ववद् व्यवस्था  
 पनायानि ॥ यस्तु शङ्खवचनम्—'देवगृहप्रतिधयोद्यानाराममभाप्रपातद्वागुण्य  
 सेतुमुत्तविक्रय कृत्वा तस्यहृद् चरेत्' इति, यच्च परासरेणोक्तम्—'विक्रीय  
 कश्यपौ गौ च कृच्छ्र सान्त्वयन् चरेत्' इति,—तदुभयमप्यापद्यकामतो द्रष्टव्यम् ॥  
 कामतरु—'नारीणां विक्रय कृत्वा चरेच्चा-द्रायणमतम् । द्विगुणं पुरुषस्यैव  
 मनमाहुर्मनीषिणः ॥' इति चतुर्विंशतिमतोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यस्तु पैठीनसिनोक्तम्—  
 'आरामनडागोद्वानपुष्करिणीसुखनसुखविक्रये त्रिपवशस्तान्यथ शायी चतुर्थ  
 फालाहार सवसरेण पूतो भवति' इति—तदेरुपप्रविष्यम् । तदनन्तरं 'घान्य-  
 कुप्यपशुस्तेषु' ( प्रा० २३७ ) इत्युक्तं—नस्त्राप्रायश्चित्तानि च स्तेयप्रकरणे  
 प्रयोजितानि ॥ २८७ ॥

भाषा—( अपनी परनी के भी ) रजस्वला होने पर सभोग करे तो  
 तीन दिन उपवास करके और धूत स्त्रकर शुद्ध होये ॥ २८७ ॥

अनन्तर 'अयाज्यानां च याननम्' ( प्रा० २३७ ) इत्युक्तं तत्र प्रायश्चित्तमाह—

श्रीशुक्लानाचरेद् व्याययाजकोऽभिचरस्यपि ।

वेदप्लाघी यवाश्वन्दं त्यक्त्वा च शरणागतम् ॥ २८८ ॥

यस्तु सावित्रीपतितानां याजनं करोति स प्राजापरयप्रभृतींश्ची-दु-ज्ञाना  
 चरेत्, एतेषां च गुरुदुष्कृतानां कृच्छ्राणां निमित्तगुरुदुष्कृतावेन कल्पनीयम् ॥  
 तथा अभिचरज्ञपीदमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् । एतन्नामिदं प्रायश्चित्तं तत्राभिचर-  
 'षट्स्वभिचरस्य पतति' इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ 'अपि शन्दो हीनयाजकान्त्येष्टि-  
 याजकयोः समग्रार्थः । अन एवोक्तं मनुना ( ११।१९७ )—'आरयानां याजनं

कृत्वा परेषामन्यकर्म च । अग्निचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्भ्यपोहति ॥' इति ।  
 'परेषामन्यकर्म' इत्यत्यन्ताभ्यासविषयं शूद्रान्यकर्मविषयं वा; प्रायश्चित्तस्व गुरु-  
 र्वात् । अहीनो द्विराग्निद्विर्दशाहपर्यन्तोऽहाराणयागः । यत्तु शातातपेनो-  
 क्तम्—'पतितसावित्रीकास्तोपनयेन्नाध्यापयेन्न याजयेत् य एतानुपनयेदध्यापयेद्या-  
 जयेद्वा स उद्दालकमत्तं चरेत्' इति,—तत्कामकारविषयम् । उद्दालकघ्नं च प्राग्-  
 र्हितम् । एतच्च कृच्छ्रप्रयं साधारणोपपातकप्रायश्चित्तस्यापवादकम्, अत उप-  
 पातकसाधारणप्रायश्चित्तं शूद्राद्यपात्रप्रयोजने भवतिष्ठते । तत्र कामतस्त्रैमासिकम् ।  
 अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं मासप्रतादि । यत्तु प्रचेतसा शूद्रपात्रकादीन्पठित्वोक्तम्—  
 'पते पञ्चमोऽध्यायकाञ्जलशयनान्पनुतिष्ठेयुः । क्रमेण त्रीन्मवर्षाहिमन्तेषु मासं  
 गोमूत्रयावकमश्नीयुः' इति,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'पुरोधाः  
 शूद्रवर्णस्य ब्राह्मणो यः प्रवर्तते । स्नेहादर्यप्रसङ्गाद्वा तस्य कृच्छ्रो विशोधनम् ॥'  
 इति,—तद्दशकविषयम् । यच्च पैठीनसिनोक्तम्—'शूद्रयाजकः सर्वद्रव्यपरिख्याना-  
 र्पूो भवति प्राणायाममहस्तेषु दशकृ'वीभ्यस्तेषु' इति,—तदप्यकामतोऽभ्यासविष-  
 यम् । यत्तु गौतमेनोक्तम्—'निषिद्धमन्त्रप्रयोगे महस्त्रागुपतिष्ठेत्' ( २२।२३ )  
 इति निषिद्धानां पतितादीनां याजनाध्यापनारम्भे मन्त्रप्रयोगे बहुशोऽभ्यस्ते प्राकृतं  
 ब्रह्मचर्यंनुपदिष्ट,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यः स्वैवेदं विष्णावधति यश्च, रक्षणा-  
 च्छणोऽपि तत्करभ्यतिरिक्तं शरणागतमुपेक्षते, सोऽपि संवत्सरं यवोदनं भुञ्जानः  
 शुच्यति । तत्र विष्णो नाम पर्वचाण्डालधोत्राज्जाशाद्यनप्यायेत्स्वययनम् । उत्कर्ष-  
 हेतोरधीयानस्य किं पटसि नाशितं स्वयेत्येवं पर्ययोगदानं वा विष्णावनुचरते । अत  
 एनोक्तं स्मृत्यन्तरे—'दत्तानुयोगान्धेतुः पतितान्मनुस्मरोत्' इति । यत्तु वसिष्ठेनो-  
 क्तम्—'पतिनचाण्डालशवध्रावणे त्रिरात्रं चागता अतरनश आसीरन् सहस्र-  
 परमं वा तदम्परयन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायते' ( २३।३४-३५ ) इति,  
 'पतेनैव गहिताध्यापकयाजका ध्याप्याताः दक्षिणात्यागाच्च पूता भवन्तीति  
 विज्ञायते' ( २३।३६ ) इति,—तद्वृद्धिपूर्वविषयम् । यत्तु पट्टशिशन्मतेऽभि-  
 दिनम्—'चाण्डालधोत्रावकाशे श्रुतिस्मृतिपाठे एवरात्रमभोजनम्' इति,—तद्-  
 वृद्धिपूर्वविषयम् ॥ यदा सर्वाद्यन्तरागमनमात्रं भवति न पुनस्तत्राधीते तदापि  
 प्रायश्चित्तं यमेनोक्तम्—'सर्वस्य नल्लक्ष्म्याश्च अज्जमात्ररयोस्तथा ॥ मूषकस्य  
 तथोत्स्य मण्डूकस्य च योपितः ॥ पुरुपरस्यैकस्यापि श्रुतोऽभ्यस्य स्तरस्य च ।  
 अन्तरागमने सद्यः प्रायश्चित्तमिदं शृणु ॥ त्रिरात्रमुपवातश्च त्रिरह्णश्रामियेचनम् ।  
 प्रामान्तरं वा गन्तव्यं जानुर्भ्यां नात्र सशयः ॥' इति ॥ पितृमातृसुतरयागत-  
 ङागाराभिविद्धेषु मनुयोगीश्वरोक्तोपपातकसाधारणप्रायश्चित्तानि पूर्ववज्जाति-

व्यवस्था ।—एतच्च नास्तिवयन त्यागविषयम् । तथा च व्दाद्य —‘योऽग्नि-  
 श्यजति नास्तिवयाःप्राजापत्यं चरेद् द्विज’ इति । यदा तु प्रमादात्पजति  
 तदा भारद्वाजगृह्ये विशेष उक्त —‘प्राणायामशतमाग्निप्रादुपयाम स्यादा-  
 विंशतिरात्रात् अत ऊर्ध्वमापष्टिरात्रात्तिस्रो शश्रीरुपवमेदत ऊर्ध्वमासवत्स-  
 रात् प्राजापत्यं चरेत्, अत ऊर्ध्वं कालयहुत्ये दोषगुरुवम्’ इति । यदा एतल्ल  
 स्यादिना प्यजति तदापि तेनैव विशेष उक्त —‘द्वादशाहातिक्रमे ष्वहमुपवास,  
 मासातिक्रमे द्वादशाहमुपयाम’, सवत्सरातिक्रमे सामोत्वास पयोभक्षण वा’  
 इति । सवत्सरादूर्ध्वं तु बुद्धहारीतेन विशेष उक्त —‘सवत्सरोत्सन्नेऽग्निहोत्रे  
 चान्द्रायणं कृत्वा पुनराध्व्यात् । द्विर्वर्षोत्सन्ने चान्द्रायणं सोमायनं च कुर्यात् ।  
 त्रिवर्षोत्सन्ने सवत्सरं कृच्छ्रमभ्यस्य पुनराध्व्यात्’ इति । सोमायनं च कृच्छ्र-  
 काण्डे वक्ष्यते । शङ्खेनापि विशेष उक्त —‘अभ्युत्सादीं संवत्सरं प्राजापत्यं  
 चोद्गा च दद्यात्’ इति ॥ सुतरामेव यन्नुत्सायो च त्रैमासिकं गोवधव्रतं कामतः ।  
 अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं प्रपञ्चतुष्टयं दशत्याघपेक्षया योज्यम् । द्रुमच्छेदे  
 प्रायश्चित्तं प्रागुक्तम् । स्त्रीप्राणिवधवशीकरणादिभिर्जावने तिलेष्टुयन्त्रप्रवर्तने  
 च तान्-यत्र प्रायश्चित्तानि तथैव योज्यानि । स्वसनेषु च घृतमृगयादिषु तान्-यत्र  
 यतानि तथैव योज्यानि । वस्तु बौधायनेन—‘अथाशुचिकराणि घृतमभिचा-  
 रोऽनादित्वाग्नेरुद्भृत्तिं समावृत्तस्य च सैषचर्वा तस्य च गुरुकुले यात्  
 ऊर्ध्वं चतुर्वर्षो मासेभ्यो यद्य तमथापयति नष्टप्रनिर्देशनं चति द्वादशमा-  
 साद्द्वादशार्धमासान्द्वादशाहा-द्वादशपञ्चदश-द्वादशष्यहाश्च ष्वहमेकाहमित्यशुचि-  
 करनिर्देशः’ इति घृते वार्षिकव्रतमुक्तं,—तदभ्यासविषयम् । वस्तु प्रचेतसोक्तम्—  
 ‘अनृनवाक् सस्फरो राजभृत्यो वृषारोपकगृत्सिर्गर्दोऽग्निहोऽश्वरथगजरोहण-  
 वृत्तो रत्नोपजीवी श्यागनिकः शूद्रोवाध्यायो वृषलीपतिर्भाण्डिको नष्ट्रोपजीवी  
 श्वृत्तिर्ब्रह्मजीवी चिकित्सको देवलकः पुरोहितः कित्तवो मघदः फूटकारोऽप-  
 त्यविक्रवां मनुष्यपशुविक्रता चेति तानुद्धरेत्यमेत्यं न्यायनो माक्षणस्यवरथया  
 सर्वदस्यस्थाने चतुर्धकाळाहाराः सवत्सरं त्रिपत्रणमुपपृतेषुस्तस्यान्ते देवपितृ-  
 तर्पणं गजादिकं चोपवधं उपवहार्थाः’ इति,—तदपि बौधायनेन समानत्रिप-  
 यम् । श्यागनिका यः श्यागेन जावति । भाण्डिको यन्दिग्पतिरिक्तो राज्ञीं तूर्था-  
 दिवने प्रथोपविता, यन्दिनाः पृथगुपादानात् । श्वृत्तिः सेवकः, मघजोषा प्राण-  
 जकार्येषु मूष्वन परिचारकः । मनुकान्पत्न्याल्लक्ष्येप्रायश्चित्तानि ‘पष्टाच्छालना  
 मासम्’ ( ११२०० ) इत्यादीन्-पि जास्याघपेक्षया योज्यानि, तदुक्तापाङ्क्तव  
 मध्यस्यपि कितवादिभ्यसनिनां पठितस्यात् । अत्रमविक्रपः शूद्रसेवार्थां च सामा

यप्रायश्चित्तानि प्राग्बदेव योज्यानि ॥ यत्तु बीषायनेनोक्तम्—समुदयान  
 ब्राह्मणस्य न्यायापहरण सर्वापण्यैर्व्यवहरण भूयन्वृत शूद्रसेवा यश्च शूद्रायाम  
 भिषायत, तदपश्य च भवति तेषां तु निर्दश 'अतुर्थकाल मितभोजिनाः स्युरपाऽ-  
 भ्युपेयु सजानुक्त्वम् । स्थानासनाभ्या विहरन्त एनैस्त्रिपर्यन्तदपहरन्ति  
 पापम् ॥ इति—तद्बहुकालमवाविषयम् ॥ दानजातिभि सकय त्वपातकसामा-  
 न्यप्रायश्चित्ता यव ॥ यत्तु प्रचेतनोक्तम्—मित्रभेदनकरणादहोरात्रमनक्षत्तु इत्या  
 पय विधेत्' इति—तद्दहीनसकयभेदनविषयम् ॥ हीनयोनिनिषेवणेऽप्युपपातक  
 सामान्यप्रायश्चित्तानि योज्यानि ॥ यत्तु ज्ञातातपेनोक्तम्—ब्राह्मणो राज-  
 क-यापूर्वी कृच्छ्र द्वादशरात्र चरित्वा निविशेत्तां चोपयच्छेत्, वैश्यापूर्वी तु तप्त  
 कृच्छ्र शूद्रापूर्वी तु कृच्छ्रानिकृच्छ्र राज यश्चेद्द्वैश्यापूर्वी कृच्छ्र द्वादशरात्र चरित्वा  
 निविशेत्तां चोपयच्छेत् शूद्रापूर्वी स्वतिकृच्छ्र वैश्यापूर्वी कृच्छ्र द्वादशरात्र  
 चरित्वा निविशेत्तां चापयच्छेत्, शूद्रापूर्वी स्वतिकृच्छ्र वैश्यश्च शूद्रापूर्वी स्वति  
 कृच्छ्र द्वादशरात्र चरित्वा नां चोपयच्छेत् इति, तत्र निविशेत्तां चोपयच्छेदिति  
 कृच्छ्रानुष्ठानात्तरकाल सवर्णाविरिणयनादूर्ध्वं तां च राज यादिकामुपयच्छेदित्यय ॥  
 -इदं चाज्ञानविषयम् । ज्ञानतरूपपानकसामान्यप्रायश्चित्तं स्ववस्थितमेव  
 द्रष्टव्यम् । साधारणस्त्रीसभोगे च हीनयोनिनिषेवणम् ( प्रा० २४१ ) इत्युक्तं,  
 तत्रापि पशुवश्याभिगमन प्राजापश्य विधीयते' इति सर्वतोक्तमकामतो द्रष्टव्यम् ।  
 कामतस्तु यमेनोक्तं द्रष्टव्यम्—वरय गमनश्च पापं यपोहन्ति द्विजातयः ।  
 पात्वा सकृत्सकृत्तप्त सप्तरात्रं तु शोदकम् ॥' इति । उपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि  
 च कामाकामलोऽभ्यासापेक्षया योज्यानि । तत्र मथ्याभ्यासे तु 'प्रतिनिमित्त  
 नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायात्प्रतिनिमित्त नैमित्तिकावृत्तौ प्रसक्त्या लीलाधिना  
 विशेष उक्तं—अभ्यासेऽहर्गुणा वृद्धिर्मासाद्वांगं विधीयते । ततो मासगुणा  
 वृद्धिर्यावत्सवत्सरं भवेत् ॥ ततः सवत्सरगुणा यावत्पाप समाचरेत् ॥' इति ।—  
 इदं मतिपूर्वविषयम् । अमिर्पूर्वावृत्तौ तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तं—  
 'सकृत्कृते तु यथोक्तं त्रिगुणं तस्त्रिभिर्दिने । मासापञ्चगुणं प्रोक्तं षण्मासाद्दशधा  
 भवेत् ॥ सवत्सरापञ्चदशं स्वकदाद्विशगुणं भवेत् । ततोऽप्येव प्रकल्प्य स्वोच्छ्रा-  
 तातपवचा यथा ॥ इति ॥ यत्पुन 'विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं चरेत्'  
 इति प्रतिनिमित्तमावृत्तिविधायकं, -त-महापातकविषयमित्युक्तं प्राक् । यत्तु यमेन  
 साधारणस्त्रीगमनमधिकृत्य गुरुतत्पन्नतमतिदिष्टम् गुरुतत्पन्नतं केचिर्केचिन्ना-  
 न्यायनप्रतम् । गोप्लस्य-इति केचित्तु कचिदेवावकीर्णम् ॥' इति ।—एतच्च  
 ज मप्रभृतिसानुबन्धानवच्छ्राम्यासविषयम् । अनन्तर 'तपैवानाधमे चास'

१ हीनस्त्रीनिषेवण । २ पूर्वाभ्यासे ।

( प्रा० २४१ ) इत्युक्तं तत्र हारीतेन विशेष उक्त — 'अनाश्रमी सवसर प्राजापत्य कृच्छ्र चरित्वाश्रममुपयात् । द्वितीयेऽतिकृच्छ्र तृतीये कृच्छ्रातिकृच्छ्रमत ऊर्ध्वं चान्द्रायणम्' इति ।—एतदसंभवविषयम् । सभये तु सामान्येनोपपातक-प्रायश्चित्तानि कामाकामतो व्यवस्थापनीयानि । परपाकठचित्वासच्छास्त्राभिग-मनाकराधिकारभार्याविक्रयेषु च मनुयोगीश्वरप्रतिपादितोपपातकसामान्यप्रा-यश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया व्यवस्थापनीयानि ॥ २८८ ॥

**भाषा—**भाष्य ( पतित सावित्री ) को यज्ञ कराने वाला और अभिचार कर्म करने वाला तीन कृच्छ्र ग्रन्थ करे । अपने वेद का विप्लवावन करने वाला ( चण्डाल आदि के समान और अनध्याय में पढ़ने वाला ), तथा क्षरण में भाग्य हुए व्यक्ति की ( समर्थ होने पर भी ) रक्षा न करने वाला एक वर्ष तक जी का भात खाने पर शुद्ध होता है ॥ २८८ ॥

'भार्यायाः विक्रयश्चैवाम्' ( प्रा० २४२ ) इत्यत्र 'च शब्दो मन्वाद्युक्ता-सप्रतिग्रहनिन्दिताज्ञादनादीनामुपलक्षणार्थमियुक्तम् । तत्रासत्प्रतिग्रहे प्रायश्चि-त्तविशेषमाह—

**गोष्ठे यस्य ब्रह्मचारी मासमेकं पयोव्रत ।**

**गायत्रीजाप्यनिरत शुद्ध्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ २८९ ॥**

यस्त्वसत्प्रतिग्रह निषिद्धप्रतिग्रह करोति स ब्रह्मचर्ययुक्तो गोष्ठे वसन् गायत्री-जाप्यनिरतो गायत्रीजपशीलो मास पयोव्रतेन शुद्ध्यतीति । प्रतिग्रहस्य चासत्त्व दातुर्जातिकमनिबन्धन यथा चाण्डालादे पतितादेश्च । तथा देशकालनियन्धन च यथा कुरुक्षेत्रोपरागादौ तथा प्रतिप्राणद्वेषनियन्धन च यथा सुरामेधीमृत-शय्योभयतोमुख्यादे ॥ यदा तु पतितादेर्मैत्र्यादिक प्रतिगृह्णाति, तदैतद्गुरु प्रायश्चित्त द्रष्टव्यम्, स्पतिक्रमद्वयदर्शनेन निमित्तस्य गुरुत्वात् । तत्र अत्रे मनुना सत्त्वाविशेष उक्त ( १११९४ )—'जपित्वा श्रीणि सावित्र्या सहस्राणि समाहित । मास गोष्ठे पय पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥' इति प्रत्यह त्रिसहस्रजपो द्रष्टव्य, 'मासम्' इति द्वितीयया त्रिसहस्रसख्याकरस्य जपस्य प्रतिदिवसव्यापित्वावगमात् । यदा तु व्यापवर्तिप्राणनादे सकाशात्प्रिषिद्ध मेपादिक गृह्णाति, पतितादेवा भूय्यादिकमनिषिद्ध तदा षट्षिदात्मतोक्त द्रष्ट-व्यम्—पवित्रेष्टया विशुद्ध्यन्ति सर्वे घोरा प्रतिग्रहा । ऐन्दवेन मृगारेष्टया कदाचिन्मिन्नविन्दया ॥ देव्या लक्ष्मणेनैव शुद्ध्यते दुष्प्रतिग्रहात् ॥' इति । यत्तु वृद्धद्वारीतवचनम्—राज्ञ प्रतिग्रह कृत्वा मासमप्यु सदा वसेत् । पद्य

काले पयोभक्ष पूर्ण मासे विशुद्धयति ॥ तर्पयित्वा द्विजा-कामै सतत  
नियतव्रतः ॥' इति -तत्पूर्वोक्तविषयेऽभ्यासे द्रष्टव्यम् । अथवा,-पतितादे-  
कुरुक्षेत्रोपरागादौ कृष्णाजिनादिप्रतिग्रहविषयम् । तथा प्रतिग्राह्यद्वयानुपपत्त्या  
प्रायश्चित्ताख्यम् । यथाह हारीत -'मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्ट-  
सहस्र जपेत्' इति । तथा षट्त्रिंशन्मतेऽपि—'मिष्टामात्र गृहीते तु पुण्य  
मन्त्रमुदोत्तरयत् । प्रतिग्रहेषु सर्वेषु पष्टमज प्रकथयेत् ॥' इति च प्रायश्चित्तजात  
द्रव्यत्यागोत्तरकाल द्रष्टव्यम् । ( ११।१९३ )—'यद्गृहितेनार्जयन्ति कर्मणा  
ब्राह्मणा धनम् । नस्योत्सगण शुद्धयन्ति जप्येन नपसैव च ॥' इति मनु-  
स्मरणात् । एवम-या-यपि स्मृतिवाक्यानि द्रव्यसाराहपरत्वमहत्त्वाभ्यां विषयेषु  
व्यवस्थापनीयानि ॥

इत्युपपातकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

जात्याध्यादिदोषेण नि-द्याज्ञादेश्च श-दन ।

योगीन्द्रोक्तव्रतमात्र सर्वव्रत तु मत-यते ॥

तत्र जातिदुष्टपलाण्ड्यादिभक्षणे कामत सकृद्गृहे 'पलाण्डु विट्वराह च'  
( भा० १७६ ) इत्यादिना चान्द्रायणमुक्तम् । कामतोऽभ्यासे तु 'निषिद्धभक्षण  
जैष्ठ्य' ( प्रा० २२९ ) इत्यादिभोक्त सुरापानसमप्रायश्चित्तम् । अकामतः सकृद्भक्षणे  
सान्त्वयनम् । तत्रैवाभ्यासे यतिचान्द्रायणम् ।—'अमर्यैतानि पञ्चजम्बूः कण्डू  
सान्त्वयनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शोषेत्पुत्रवसेदह' ( ५।२० ) इति मनु-  
स्मरणात् । यत्तु वृहस्पतेनोक्तम्—'खट्ववातार्ककुम्भीकमश्वत्थप्रभवाणि च । भूतृण  
शिमुकं चैव सुखुण्ड कवकानि च ॥ एतेषां भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं चरेद् द्विजाः ॥'  
इति, तत्रकामतोऽभ्यासविषयम् । मर्यादाश्च कामतो जम्बूवा सोपवासस्यह विपेत्'  
इति योगाश्वरेण कामत सकृद्भक्षणे अहस्योक्तत्वात् । खट्वाख्य पत्नी । कुसु-  
म्भमित्य-न्ये । कवक रात्रसर्पपाख्य शाकम् । सुखण्ड तद्विशेषो गोवलीवर्द्ध-यायेन  
निर्दिष्ट । यत्तु यमेनोक्तम्—'त-दुलीयककुम्भीकमश्वत्थप्रभवास्तथा । नालिका  
नारिकेली च श्लुष्मातकफलानि च ॥ भूतृण शिमुकं चैव खट्वाख्यं कवकं तथा ।  
एतान् भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं व्रतं चरेत् ॥'इति,—तदपि मतिपूर्वाभ्यासविषयम् ।  
नालिका नारिकेली च शाकविशेषौ । खट्वाख्यश्च । अकामत सकृद्भक्षणे तु  
'शोषेत्पुत्रवसेदह' ( ५।२० ) इति मनुक्तं द्रष्टव्यम् । तत्रैवाभ्यासे स्वावृत्ति  
कल्प्या । आद्यस्ताभ्यासे तु—'ससर्गदुष्टं यत्त्वात्तं क्रियादुष्टमकामतः । भुक्त्वा  
स्वभावदुष्टं च तसकृद्द्वं समाचरेत् ॥' इति प्रचेतोभिहितं द्रष्टव्यम् । नीष्यास्व-

१ पूर्णमासे प्रमुच्यते । २ मात्रे गृहीत्वा तु ।

३८ या०

कामतः सकृद्वर्णने चान्द्रायणम्—'अथपेक्षधि नीलीं तु प्रमादायु मातृगः कथित् ।  
चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यादापरतमयोऽप्रतीमुनिः ॥' इति भावस्तःपरमराजम् ।  
कामतोऽम्बासे चावृष्टिः कल्प्या ॥ यदपि पट्टप्रसन्नतेऽभिहितम्—'जगत्पुत्रं  
शाकमलं च करनिर्मथितं दधि । चद्विर्वेदिपुरोडासा अस्या नाद्यादृष्टनिधम् ॥' इति,  
तदप्यकामविषयम् । यत्तु सुमन्तुनोक्तम्—'लघुनपलाण्डुगृक्षारकचरभर्षणं सावि-  
स्पष्टसहस्रेण मूर्ध्नि सवाताग्रयेत्, इति,—तद्विहारकारेणानिषद्गो भण्यविषयम् ।  
तदेकसाध्यव्याभ्युपशानार्थं वा भण्ये द्रष्टव्यम् । अत एवानन्तरं तेनेनोक्तम्—  
'पूतान्येव स्वाधिनस्य भिषक्कृपायामप्रतिपिबानि भवन्ति । यानि चैवंप्रकारानि  
तेष्वपि न स्वायः' इति । संवाताग्रयेदुक्त्वविन्दुप्रधिषेत् ॥

अथ जातिदुष्टसन्धिन्पादिघोरशने प्रायश्चित्तम् । तत्र चाकामतः सकृद्वर्णने  
( ५१८-१० )—'अनिर्दंताया गोः घोरमौष्ट्रमेकशकं तथा । आशिक सधिनोघोरं  
विवस्तावाह गोः पयः ॥ आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना । स्याघोरं  
चैव वज्रानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिमंभवम्'  
इत्युक्त्वा 'दोषेपूवसेदहः' ( ५१२० ) इति मन्त्र उच्यते द्रष्टव्यः । कामतस्तु  
योगीश्वरोक्तस्त्रिराश्रोपयामो द्रष्टव्यः ॥ यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—'अशिवरोष्ट्र-  
मानुषीघोरप्राशने तस्रष्टुष्टुः पुनश्चरथेन च । अनिर्दंताहगोमहिषीघोर-  
प्राशने पद्माग्रमभोजनम् । सर्वासां द्विस्तनीषां घोरपानेऽप्यजावर्जमेतदेव'  
इति । यच्च द्रष्टव्येन—'घोरानि यान्यभक्ष्यानि तद्विकाराशने युध । ससराग्रमत्तं  
कुर्षाप्रयानेन समाहितम् ॥' इति यावत्कर्ममुक्तं, तदुभयमपि कामतोऽम्बासवि-  
षयम् । यत्तु द्रष्टव्येन—संधिन्यमेधमर्षयोः घोरप्राशने पद्मप्रतमुक्तम्—'संधि-  
न्यमेधमर्षयोर्भुशवा पद्मप्रतं चरेत् इति,—तदप्यम्बासविषयम् । 'सकृद्वर्णने  
गोऽग्रामहिषीवर्षं सर्वाणि पशसि प्रारथोवसेत् । अनिर्दंताहं तान्यपि सधि-  
नीवमसूयन्दिनीविवस्ताघोरं चामेधमर्षजम्' इति विष्णुनोपशान्तश्लोकान् ।  
तथा वर्णनिबन्धनश्च प्रतिषेधः—'उग्रियद्यापि धृत्तस्थो वैश्यः शूद्रोऽथवा पुनः ।  
यः पियेकपिलाघोरं न ततोऽप्योऽस्त्यपुण्यकृत् ॥' इत्येवमादीं च यत्र प्रतिष-  
द्वोक्तं प्रायश्चित्तं न द्रष्टव्यं तत्र 'दोषेपूवसेदहः' इति ( ५१२० ) साधारण-  
प्रायश्चित्तं मन्त्रं द्रष्टव्यम् ॥

अथ स्वभावदुष्टमांसादिभण्ये प्रायश्चित्तमुक्तम् । तत्र कामतः सकृद्वर्णने 'दोषे-  
पूवसेदहः' इति मन्त्रं साधारणं प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । कामतस्तु—'चापांश्च  
रक्तपादांश्च सीनं बहल्लुमेव च । मरस्यांश्च कामतो जग्वा सोपवाससह्यहं वसेत् ॥'  
इति योगीश्वरोक्तं द्रष्टव्यम् । कामतोऽम्बासे तु ( १११५२ )—'जग्वा मांस-





काकेशदूषिते । अन्तरं स्पृशेदापस्तघाः न भस्मना स्पृशेत् ॥' इति प्रचेतसाभि-  
हितं वेदितव्यम् । प्रासङ्गिकोऽयं रत्नोक्तः ॥ सूक्ष्मतरकृमिकीटास्थिभक्षणे पुनर्हारी-  
तेन विशेष उक्तः—'कृमिकीटपिपोलिकाजलीकःपतङ्गास्थिप्रादाने गोमूत्रगोमया-  
हारस्त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति' इति । जलीको भस्म्यादिः । एवं च पशुपतप्रिजलधरन-  
रमोत्सादिप्रादाने संप्लेषतः प्रायश्चित्तानि प्रदर्शितानि, प्रन्थगौरवमयाप्रतिश्रुक्तिर्न  
लियते ॥

अथाद्युचितंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तं तत्र तादृष्टिदृष्टाभक्ष्यभक्षणे चक्षते । तत्र  
मनुः । ( ११।१५९ )—'विहालकाकान्चिदृष्टं जगत्या श्वनकुलस्य च । केशकी-  
टावपन्नं च विवेद् माह्वीं सुवर्चलाम् ॥' इति काळविशेषानुपादानादेकरात्रम् । इदं  
च कामतो द्रष्टव्यम् । यत्तु विष्णुनोक्तम्—'पश्चिन्नापदवग्धस्य रत्नरथाद्यस्य भूयसः ।  
संस्काररहितस्यापि भोजने कृच्छ्रपादकम् ॥' इति,—तरकामकारविषयम् । संस्कारैश्च  
'देवद्रोण्या'मित्यादिना द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तो द्रष्टव्यः । यत्तु शातातपेनोक्तम्—  
'श्वकाकाघवलीडशुद्धोच्छिष्टभोजने स्वतिकृच्छ्रम्' इति,—तदकामतोऽभ्यासविषयम् ।  
यत्तु शङ्खेन—'शुनामुच्छिष्टकं भुक्त्वा मासमेकं मनी भवेत् । काकोच्छिष्टं गवा  
घ्रातं भुक्त्वा पक्षं मती भवेत् ॥' इति यावद्व्यतमुक्त,—तरकामतोऽभ्यासविषयम् ।  
ब्राह्मणाद्युच्छिष्टभोजने तु बृहद्विष्णुनोक्त—'ब्राह्मणः शूद्रान्छिष्टादाने सप्तारात्रं  
पञ्चगव्यं विवेत्,—वैरयोच्छिष्टादाने पञ्चारात्रं राजन्योच्छिष्टादाने त्रिरात्रं ब्राह्मणो-  
च्छिष्टादाने श्वकादम्' इति,—तरकामकारविषयम् । यत्तु यमवचनम्—'भुक्त्वा  
सह ब्राह्मणेन प्राजापरयेन शुद्ध्यति । भूभुजा सह भुक्त्वा न्नं तसकृच्छ्रेण  
शुद्ध्यति ॥ वैश्येन सह भुक्त्वा न्नमतिकृच्छ्रेण शुद्ध्यति । शूत्रेण सह भुक्त्वा न्नं  
चान्द्रायणमपाचरेत् ॥' इति, तरकामतोऽभ्यासविषयम् ॥ यत्पुनः शङ्खवचनम्—  
'ब्राह्मणोच्छिष्टादाने महाभ्याहृतिभिरभिमन्थ्यापः विवेत्, क्षत्रियोच्छिष्टादाने माह्वी-  
रसविपकेन षडहं क्षीरेण वर्तयेत्, वैरयोच्छिष्टादाने त्रिरात्रोपोषितो माह्वीं सुवर्चलां  
विवेत्, शूद्रोच्छिष्टभोजने पट्टात्रमभोजनम्' इति,—तदकामविषयम् । तत्राभ्यासे  
द्वैगुण्यादिकं कथ्यम् । एतच्च पित्रादिश्रितिरिक्तेण; 'पितृर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरच्छिष्टं  
भोजयम्' (४।१।१) इत्यापस्तम्बस्मरणात् । यत्तु बृहद्भ्यासवचनम्—'माता वा भगिनी  
वापि भार्या वाऽन्वाश्रयोपिनः । न ताभिः सह भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं  
चरेत् ॥' इति,—तरसहभोजनविषयम् । उच्छिष्टमात्रभोजने तु 'शूद्रोच्छिष्टभोजने  
सप्तारात्रमभोजनं स्त्रीणां च' (१।२।६।४-५) इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु त्रिरो-  
चनम्—'ब्राह्मण्या सह योऽरनीवाद्युच्छिष्टं वा फडाचन । तत्र दोषं न मन्यन्ते सर्वं  
पुत्रमनीषिणः ॥' इति,—तद्विवाहविषयमात्रद्विषयं वा । अन्त्योच्छिष्टभोजने तु—



प्रायश्चित्तमहोरात्रम्' इति । उच्छिद्यपद्भिर्जनेऽप्येतदेव—'यस्तु भुङ्क्ते द्विज-  
 पद्भ्यामुच्छिद्यतापी कदापि । महोरात्रोपितो भूया पञ्चमप्यन शुद्धवति ॥' इति  
 ऋतुस्मरणात् । कामकारनिर्मुक्तप्रभोजने तु—'तमुच्छिद्यस्तु यो भुङ्क्ते यो भुङ्क्त  
 मुक्तभाजने । पय वैवस्वत प्राद सुवसा सा-तपन चरेत् ॥' इति षट्त्रिंश-  
 तोक्त 'वदितभ्यम् ॥ तथा परानाणा-यप्राप्तम्—'एकपलद्वयुपरिष्ठाना विप्राणां  
 सहभोजने । यद्येकोऽपि त्यजेत्प्रातः दोषम-न १ भोजयेत् ॥ माहाद् भुञ्जीत पराप्र  
 पदकृत्वामुच्छिद्यभोजन । प्रायश्चित्त चरेद्विष कृत्वा सा-तपन तथा ॥' इति ॥  
 दावाहितपृच्छूपाद्युदकपान तु विष्णुराद—'मृतपञ्चनदासकृपादाव-तोपहनाद्वा  
 दक पीत्वा माह्वणस्यपहमुपवसेत् द्वपद रात्रय एकाद वैश्य शूद्रो ऽपि सव  
 चा-तं पञ्चमस्य विवेसुः' इति । अथ-तोपहतादिति मृतपुरापादिभिर्वैश्वभिधे  
 तम् । यदा तु तत्रैव शवमुच्छृण्वन्तपोजिन भवति तदा हारीता वितपमाह—  
 'शिल ने भिन्न दाव तोय तत्रस्थ यदि चरियेत् । शुद्धये चा-दायण कुर्यात्तप्त-  
 कृच्छ्रमपापि वा ॥ यदि कश्चित्ततः स्नायात्प्रमादन द्विजोत्तम । जपस्त्रिपरणस्नापी  
 महोरात्रग शुद्धवति ॥' इति । इद चा-दायण कामतो मानुषदावापहतदूषणल-  
 पानधिपवम् । अकामतस्तु पञ्चात्रम्—'शिल-न भिन्न दाव चैत्र कृत्वा यदि  
 दश्यते' । पय विवेसिप्रात्रेण मानुषे द्विगुण स्मृतम् ॥' इति दवलस्मरणात् ।  
 यदा चाण्डालकृपाद्भिगत जल पिबति तदापरस्तम्भोक्त द्रष्टव्यम्—'चाण्डाल-  
 कृपभाण्डस्थ नराः कामाञ्जल पिबेत् । प्रायश्चित्त कथ तत्र ऋण वर्षा विनिर्दिशत् ॥  
 चरेत्सा-तपन विष प्राजापश्य च भूमिपः । तदर्थं तु चरेद्देश्य शूत्रे पाय विनिर्दि-  
 शेत् ॥' ( ३३ ५ ) इति । इद च कामकारविषयम् । अकामतस्तु—  
 'चाण्डालकृपभाण्डस्थमज्जामादुदक पिबेत् । न तु श्यदेण शुद्धयेत शूद्रस्वकन  
 शुद्धवति ॥' इति देवलोवत द्रष्टव्यम् ॥ चाण्डालादिस्यद्ध राजलाशयध्वपि कृत्वा-  
 यच्छुद्धि—'जलाशयेष्वण्डरेषु स्थापरेषु महीतले । कृत्वाकथिता शुद्धिर्महास्तु  
 तु न दूषणम् ॥' इति विष्णुस्मरणात् । पुष्करिण्यादिषु पुन—'श्लेष्वादीनां  
 जल पीत्वा पुष्करिण्यां हृदोऽपि वा । जानुद्वयं श्लाघ ज्ञेयमधस्ताद्गुह्यं स्मृतम् ॥  
 तप्तोय यः पिबेद्विप्रः कामतोऽक मतोऽपि वा । अकामाद्यक्तभोजी स्वादहोरात्र  
 तु कामत ॥' इत्यापस्तम्भोक्त द्रष्टव्यम् ॥ रजकादिभाण्डगतताये तु—'भाण्ड  
 स्थम-न्यजानो नु जल दधि पय पिबेत् । ब्राह्मण चत्रियो वैश्य शूद्रश्चैत्र  
 ममादत ॥ मल्लकूर्चोपवासेन द्विजातीनां तु निष्कृति ॥ शूद्रस्य चोपवासेन  
 तथा दानेन शक्ति ॥' इति परानरोक्त वेदितभ्यम् । कामतस्तु द्विगुणम्—

१. द्रष्टव्यम् । २. तस्युद । ३. भिर्वैश्वभिहितम् । ४. उच्छृण्वन्तपोभिन् ।  
 ५. जायते ।

'अभयज्ञै खानिता कृपास्तदागा वाप्य एव वा । एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुद्ध्यति ॥' इति आपस्तम्बोक्तमग्न्यासविषय वेदितव्यम् ॥ यथा-परस्तम्बेन चण्डालकृपादिजलपाने पञ्चगव्यमात्रमुक्तम्—'प्रपाश्वरण्ये घटके च सौरे द्रोण्या जल कोशविनिर्गतं च । श्वपाकचण्डालपरिमहेषु पीत्वा जल पञ्चगव्येन शुद्ध्येत ॥' इति, तदशक्तविषयम् । 'प्रपां गतो विना तोय शरीर यो निषिञ्चति । एकाहस्यण कृत्वा सचैउ स्नानमाचरेत् ॥ सुराघटप्रपातोय पीत्वा नाभ्य जल तथा । अहोरात्रोपिनो भूत्वा पञ्चगव्य जल पिबेत् ॥' इति ॥

अथ भावदुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्—भावदुष्टं च यद्वृणत आकारतो वा विन दशतया जुगुप्सितशारीरमलादिवासनां जनयति तदुच्यते । अग्निप्रयुक्तगरलादि-शङ्कायां वा । तत्र च पराशर — वाग्दुष्टं भावदुष्टं च भाजने भावदूषिते । भुक्त्वा-न माह्वण पश्चात्त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥ इति ।—एतत्कामकारविषयम् । यत्तु गौतमेन भावदुष्टं केवल इत्यादि प्राक्पञ्चनखैश्च पठित्वा प्रायश्चित्तमुक्तम्—'प्राक् पञ्चनखैश्च शूदन घृतप्राशनं च' इति, तदकामविषयम् ॥ शङ्कायां तु—'शङ्कास्थाने समुत्पन्ने अभोज्याभक्ष्यसञ्ज्ञिते । आहारशुद्धिं वक्ष्यामि त-मे निगदत शृणु ॥ अक्षारलवणा रूचां विवेदुःखाहो सुवर्चलाभम् । त्रिरात्रं शङ्खपुष्पो वा माह्वणं पयसा सह ॥ पलाशविजपत्राणि कुशा पद्ममुद्गम्बरम् । अप विवे काथयित्वा त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥' इति वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । मनुनाप्यभोज्यभोजनशङ्का-यामुक्तम् ( ५।२१ )—'सवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृ-त् द्विजोत्तम । राज्ञातमुक्त-शुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषत ॥' इति ॥

अथ कालदुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्—कालदुष्टं च पर्युपितानिर्दशगोक्षीरादि । तत्र चाकामत 'शेषपुरववेदह' इति मनूक्त वेदितव्यम् । कामतस्तु—केर लानि च शुक्रानि तथा पर्युपितं च यत् । ऋजापयक भुक्त्वा च त्रिरात्रं तु जती भवेत् ॥' इति शङ्खोक्त वेदितव्यम् । कवला-वस्त्रेहोष्कानि । अनिर्दशगोक्षीरा दिषु प्रायश्चित्तं प्राक् प्रदर्शितम् । नवोदकपाने तु पञ्चगव्यप्राशनम्—'शृङ्गास्थिद-स्तत्रै पात्रे शङ्खशुक्रिकपर्दकै । पीत्वा नवोदकं चैत्र पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति वृहत्याश्वक्यस्मरणात् ॥ कामतस्तूरवास कर्तव्य —'काले नवोदकं शुद्धं न विवेच्य इह हि तत् । अकाले तु दशाह स्यात्पीत्वा नाद्यादहनिशम् ॥' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । ग्रहणकाले भोजने तु चा द्रायणम्—नवश्राद्धग्रामयाजका-ह्नमग्रहभोजने । नारीणां ग्रहणे गर्भं भुक्त्वा चा द्रायणं चरेत् ॥' इति शातातप स्मरणात् ॥ यदा तु सप्रहादव्यत्र निषिद्धकाले भुङ्क्ते, तदाह माकण्डेय —'षण्डस्य यदि वा भानोर्यस्मिन्नहनि भागव । ग्रहणं तु भवेत्तस्मिन् पूर्वं भोजन

क्रियाम् ॥ नापरेऽसमूहे चैव तथैवास्तमुपागते । यावत्स्यान्नोदयस्तस्य नारनीपा-  
त्तावदेव तु ॥' तथा—'प्रहण तु नरदिन्द्रो प्रथमादधियामत । भुञ्जीतावर्तना-  
त्पूर्वं प्रथमे प्रथमादध ॥' तथा—'अपराह्णे न मपराह्णे मायाह्णे न तु सङ्घव ।  
भुञ्जीत सङ्घवे चेस्यान्न पूर्वं भोजनक्रिया ॥' (४।५५) इति । यच्च मनुनो-  
क्तम्—'नारनीवासधिवटार्यां नातिप्रगे नाति सावमित्ययमादि' । यच्च गृह-  
च्छातातपेनोक्तम्—'धाना दधि च ससूथ धीकामा वर्जयन्निश्च । भाजन  
तिलसपद्ध स्नान चैव धिषण ॥' इत्यथमादिव्यनादिष्टप्रायश्चित्तपु— प्राणा-  
यामशत कार्यं सर्वपापानुत्तये । उपपातकमातानामनादिष्टस्य धव द्वि ॥'  
इति योगीशरोक्त प्राणायामशत द्रष्टव्यम् ॥ अकामतस्तु 'शेपेपूषसेदह'  
(५।२०) इति मनुभोपवासी द्रष्टव्य ॥

अथ गुणदुष्टशुक्लादिभणने प्रायश्चित्तम् । तत्र मनु ( १।१।५३ )—  
शुक्लानि च कपार्याश्च पीत्वाऽमेप्या-यपि द्विज । तावन्नवत्यमयता यावत्तन्न  
प्रजापथ ॥' इति अत्राकामत 'शेपेपूषसेदह' इत्युपवासी द्रष्टव्य । काम-  
तस्तु—'कवलानि च शुक्तानि तथा पर्युपित च यत् । ऋजीपपक भुक्त्वा च  
त्रिरात्र तु मती भवत् ॥' इति शङ्खलोक द्रष्टव्यम् । एतच्चामलकादिकलयुक्त-  
काञ्जिकादिभ्यतिरेकण द्रष्टव्यम् । 'कुण्डिका सफला येषु गृहेषु स्थापिता भवत् ।  
तस्यास्तु काञ्जिका प्राज्ञा नेतरस्या कदाचन ॥' इति स्मरणात् ॥ उद्दृष्टस्ने-  
हादिषु तु 'उद्दृष्टस्नेहविलयनविष्याकमथितमभृतीनि चात्तवोर्यानि नारनी-  
यात्' इत्युक्त्वा 'पाकपद्धनस्वप्नरङ्गने पूतमाशन च' इति गीतमोक्त द्रष्ट-  
व्यम् । विलयन पूतादिमलम् । अनाहुताद्यन्नभोजने तु लिखित आह— तस्य  
चागनी न 'क्रियते यस्य चान्न न दीयते । न तज्जागय द्विजातीनां भुक्त्वा चोप-  
वसेदह ॥ वृथा कृत्स्नसयावपावसापूषशङ्कुली । आहिताग्निर्द्विजो भुक्त्वा  
प्राजापत्य समाचरेत् ॥' इति ॥ अनाहिताग्नेस्तु 'शेपेपूषसेदह' इत्युपवासी  
द्रष्टव्यः ॥ भिन्नभाजनादिषु तु भोजने सरतोनोक्तम्— शूद्राणां भाजन भुक्त्वा  
भुक्त्वा वा भिन्नभाजने । अहारात्पितो भुक्त्वा पञ्चगव्येन शुद्धयति ॥' इति ।  
तथा स्मृत्यन्तरेऽप्युक्तम् वटार्कशिरपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयो । कोविदारकर-  
जेषु भुक्त्वा चान्द्रायण चरेत् ॥' इति तथा—'पलाशपत्रपत्रेषु गृही भुक्त्वा-द्व  
चरेत् । वागप्रस्थो यतिश्चैव लभते चान्द्रिक फलम् ॥' इति ॥

अथ हस्तदानादिक्रियादुष्टाभोज्यमणने प्रायश्चित्तम् । तत्र पराशर—  
'मादिक फणित शाक गोमस लवण पूतम् । हस्तदत्तानि भुक्त्वा तु दिनमेकम्  
भोजनम् ॥' इति । कामतस्तु—'हस्तदत्तभोजने अयाह्यणसमापे भोजने दुष्ट-

पङ्क्तिभोजने पञ्चवप्रतो भोजनेऽभ्यक्तमूत्रपुरीषकरणे मृतसूनकशूद्राद्यभोजने शूद्रे सह स्वप्ने त्रिरात्रमभोजनम्' इति हारीतोक्त विज्ञेयम् । पर्यायाद्यदानदुष्टे तु—प्राज्ञानान दद-शूद्र शूद्रानान द्राह्मणो ददत् । द्वयमेतदभोज्य स्याज्जुक्त्वा-नूपवसेदह ॥' इति वृद्धयाज्ञवल्क्योक्तमवगन्तव्यम् । शूद्रहस्तेन भोजने तु— शूद्रहस्तेन यो भुङ्क्त पानीय वा पिबे क्वचित् । अहोरात्रोपितो भूत्वा पञ्च मध्येन शुद्धयति' इति क्रतूक्त विज्ञेयम् । धमनदुष्टऽपि—'जासनारूढपादो वा वस्त्रार्थप्राप्तोऽपि वा । मुखेन धमित भुक्त्वा कृच्छ्रं सा तपन चरेत् ॥' इति तेनैवोक्तम् । पित्राद्युद्देशेन त्यक्त्वाद्यभोजने तु 'भुङ्क्ते चोपार्धेनश्वाद्धे प्राणायामा-न्पढाचरेत् । उपवासस्त्रिमासादिवरसरा-न्त प्रकीर्तित ॥ प्राणायामत्रय वृद्धाद्य होरात्र सपिण्डने । असंख्ये स्मृत नक्त जत पारणके तथा ॥ द्विगुण एत्रियस्यै तत्रिगुण वैश्यभोजने । स्वाद्या-चतुगुण ह्यवरस्मृत शूद्रस्य भोजने ॥ अतिथी तिष्ठति द्वारि ह्यप प्रारनन्ति ये द्विजा । रुधिर तद्भवेद्द्वारि भुक्त्वा चा-द्रायण चरेत् ॥' इति भारद्वाजोक्तमवगन्तव्यम् । हारीतेनाप्युक्तम्—'एकादशाहै भुक्त्वा न भुक्त्वा सषयने तथा । उपोष्य विधिवत्सनाथा कृष्माण्डैर्जुहुयाद्-घृतम् ॥' इति । विष्णुनाप्युक्तम्—'प्राजापत्य नवध्वाद् पादोन चाद्यमासिकं । त्रैपलिके तदर्धं तु पञ्चमस्य द्विमासिके ॥' इति ।—इदं चापद्विषयम् । अनापदि तु—'चा-द्रायण नवध्वाद्धे प्राजापत्य तु मिथके । एकादस्तु पुराणेषु प्राजापत्य विधीयते ॥' इति हारीतोक्त द्रष्टव्यम् । प्राजापत्य तु मिथके' इत्येतदाद्यमासि-कविषय द्रष्टव्यम् । द्वितीयादिषु तु— प्राजापत्य नवध्वाद्धे पादोन चाद्यमासिकं । त्रैपलिके तदर्धं स्यात्पादो द्वैमासिकं तथा । पादोनकृच्छ्रमुद्दिष्ट षण्मासे च तथा ङ्दिके । त्रिरात्र चा-यमासेषु मस्यह चेदह स्मृतम् ॥' इति पट्टत्रिंशत्तमोक्त द्रष्टव्यम् ॥ अत्रियादिश्वाद्धभोजने त्वनापदि तत्रैव विशेष उक्त—'चान्द्रायण नवध्वाद्धे पराको मासिके स्मृत । त्रैपलिके सा-न्तपन कृच्छ्र मासद्वये स्मृतम् ॥ अत्रियस्य नवध्वाद्धे प्रतमेतदुदाहृतम् । वैश्यस्यार्धाधिकं प्रोक्त अत्रियात्तु मनीषिभिः ॥ शूद्रस्य तु नवध्वाद्धे चरेत्वा द्रायणद्वयम् । सार्धं चा-द्रायण मासे त्रिवरे त्वै-द्व स्मृतम् ॥ मासद्वये पराक स्यात्पूर्वं सा-न्तपन स्मृतम् ॥' इति । पत्तु शस्त्रवचनम्—'च-द्रायण नवध्वाद्धे पराको मासिके स्मृत । पञ्चमस्येऽ-तिहृच्छ्र स्यात्षण्मासे कृच्छ्र एव तु ॥ आ-ङ्दिके पादकृच्छ्रं स्यादेकाहः पुन रा-ङ्क १ अत ऊर्ध्वं न दोष स्याच्छस्त्रस्य वचन यथा ॥' इति, तरसर्पादिदित विषयम् ये स्तेनाः पतिताः श्लोबाः इत्याद्यपारुक्तेष्वविषय वा ॥ 'चाण्डालाहुद्-कारसर्पाद् प्राह्मणाद्द्वेषुतादपि । दष्टिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरण पापकर्मणाम् ॥ पतना

नाशकैश्चैव विपोद्धन्धनकैस्तथा । भुक्त्वैषां षोडशश्राद्धे कुर्यादिन्दुव्रतं द्विजः ॥  
 इति, तथा—‘अषाढ्क्तेयान्यदुद्दिश्य ध्याद्धनेकादशेऽहनि । ब्राह्मणस्तत्र भुक्त्वाशं  
 शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥’ इति, ‘आमध्याद्धे तथा भुक्त्वा तप्तकृत्त्रेण शुद्धयति ।  
 सकल्पिते तथा भुक्त्वा त्रिरात्र क्षपण भवेत् ॥’ इति भरद्वाजेन गुरुप्रायश्चि  
 त्ताभिधानात् ॥

ब्रह्मचारिणस्तु बृहद्यमो विशेषमाह—‘मासिकादिषु योऽरनीयादसमाह्वततो  
 द्विजः । त्रिरात्रमुपवासोऽस्य प्रायश्चित्त विधीयते ॥ प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं  
 प्राश्य विशुद्धयति ॥’ इति ।—इदमज्ञानविषयम् । कामतोऽपि स एवाह—  
 ‘मधु मांसं च योऽरनीयाच्छ्राद्धे सूतक एव वा । प्राजापर्यं चरेत्कृत्त्रं व्रतशेषं  
 ममापयेत् ॥’ इति । आमश्राद्धे तु सर्वत्रार्थम्—‘आमध्याद्धे तवर्धं तु प्रायश्चित्तं  
 तु सर्वदा’ इति षट्त्रिंशन्मतेऽभिधानात् । यत्तूशनसोक्तम्—‘दशहृत्ष पिवेच्छापो  
 गायत्र्या ध्याद्धमुद्दिज । ततः सध्यामुपासीत शुद्धयत्तु तदनन्तरम् ॥’ इति,—  
 तन्नृक्प्रायश्चित्तश्राद्धविषयम् ॥ सस्काराङ्गनूतश्राद्धभोजने तु न्यासेन विशेष  
 उक्त—‘निर्वृत्तचूडाहोमे तु प्राङ्नामकरणात्तथा । चरेत्सान्तपन भुक्त्वा जात-  
 कर्मणि चैव हि ॥ अतोऽन्येषु तु भुक्त्वान्न सस्कारेषु द्विजोत्तमः । नियोगादुप-  
 वासेन शुद्धयते निन्द्यभोजने ॥’ इति ॥ सीमन्तोन्नयनादिषु पुनर्धौम्यो विशेष-  
 माह—‘ब्रह्मोदने च सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा । जातश्राद्धे नव ध्याद्धे द्विजश्चा-  
 न्द्रायण चरेत् ॥’ इति । अत्र ब्रह्मोदनाद्य कर्माधानाङ्गभूत, सोमसाहचर्यात् ॥

अथ परिग्रहाभोजनभोजने प्रायश्चित्तम्—‘यस्मिन् रूपतोऽनिर्विद्धमपि विदिष्ट  
 पुरुषस्वामिकृतयाऽभोज्य भण्यते तत्परिग्रहाशुचि ।’ तत्र योगीश्वरेण—‘अदत्ता-  
 न्यग्निहोतस्य नाद्यमयादनापदि’ इत्यारभ्य सार्धपञ्चमि. श्लोकेभ्योऽप्याद्याः  
 प्रतिपादिताः । मनुनापि त एव किञ्चिदधिकं प्रतिपादिताः । ( ४।२०५-  
 २१७ )—‘नाधोत्रियतते यज्ञे प्रामयाजिहृते तथा । स्त्रियां ह्येन च हृते  
 भुञ्जीत ब्राह्मणः क्षत्रियः ॥ मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन । गणानं  
 गणिकान च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ स्तेनगायकयोध्यान्न तद्यो वार्धुपिहस्य  
 च । दीक्षितस्य कर्दपस्य वदस्य निडगस्य च ॥ अभिज्ञस्तस्य पण्डस्य पुत्रस्य  
 दामिकस्य च । विक्रितकस्य मृगयो. क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ॥ उपान्नं  
 सुनिकान्न च पर्यायाद्यमनिर्दत्तम् । अनर्चितं वृथामांसमशीरायाश्च योपितः ॥  
 द्विपदन्न नगर्भन्न पतितान्नमप्युत्तम् । पिशुनानृत्तिनोश्चैव क्रतुविक्रयिणस्तथा ॥  
 शैत्यतन्तुवायान्न मृतप्रस्थ्याद्यमेव च । कर्मारस्य निपादस्य रत्नावतरणस्य  
 च । सुवर्णकर्तुर्वेणस्य सोमविक्रयिणस्तथा । श्वरतां शौण्डिकानां च चैलनिर्ण-

मासव्रती भवेत् ॥' इति ।-इदमभ्यासविषयम् । एतच्च प्रायश्चित्तमाशौचानन्तरं वेदितव्यम् । 'ब्राह्मणादीनामाशौचे यः सकृदेवाद्यमश्नति तस्य तावदाशौचं यावत् तेषामाशौचम् , व्यपगमे तु प्रायश्चित्तं कुर्यात्' इति विष्णुस्मरणात् ॥

अपुत्राद्यन्नभोजने तु लिखित आह—'भुक्त्वा वार्धुषिकस्याद्यमप्रतस्या-  
सुतस्य च । शूद्रस्य च तथा भुक्त्वा त्रिरात्रं स्वाद्यभोजनम् ॥' तथा—'परपा-  
कनिवृत्तस्य परपाकरतस्य च । अपचस्य च भुक्त्वान्नं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥'  
इति ।-एतच्चाभ्यासविषयम् ॥ परपाकेन निवृत्तादेर्लक्षणं च तेनैवोक्तम्—'गृही-  
त्वाग्निं समारोप्य पञ्चपञ्चाद्यं निर्वपेत् । परपाकनिवृत्तोऽसौ मुनिभिः परिकी-  
र्तितः ॥ पञ्चपञ्चास्तु यः कृत्वा परात्ताडुपजीवति । सततं प्रातरुधाय परपाकर-  
तस्तु सः ॥ गृहस्थधर्मवृत्ती यो ददाति परिवर्जितः । ऋषिभिर्धर्मतश्चैरपचः  
सप्रकीर्तितः ॥'इति । यत्तु ब्रह्मधर्माद्यन्नभोजने, 'बृद्धवाज्यवत्स्य आह—'यतिश्च ब्रह्म-  
चारी च पक्वाद्यस्वामिनावुभौ । तयोरन्नं न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥'  
इति, यच्च पार्वणश्राद्धाद्यर्कुरुस्त्रभोजने भरद्वाज आह—'पक्षे वा यदि वा मासे  
यस्य नाश्नन्ति देवताः ॥ भुक्त्वा दुरात्मनस्तस्य द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,—  
तदुभयमप्यभ्यासविषयम् ॥ पूर्वपरिगणितातिरिक्त्वा ये निषिद्धाचरणशौकास्तद्ब्र-  
भोजने तु—'निराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च । अन्नं भुक्त्वा द्विजः  
कुर्याद्दिनमेकमभोजनम् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् । अथैव संवत्सराभ्यासे  
षट्त्रिंशन्मत एवोक्तम्—'उपपातकयुक्तस्य अन्नमेकं निरन्तरम् । अन्नं भुक्त्वा  
द्विजः कुर्यात्पाराकं तु विशोधनम् ॥' इति ।-इदं चाभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तकाण्ड-  
गतमविशेषोदितमतकदाचकं द्वि द्विजाप्रवरवैव । चत्रियादीनां तु पादपादहान्या  
भवति; 'त्रिषे तु सकल देयं पादोनं चत्रिये स्मृतम् । घैर्येऽर्घं पाद एकस्तु  
शूद्रजातिषु नश्यते ॥' इति विष्णुस्मरणात् ॥

इत्यभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तपरिगणनपेलायामुपपातकानन्तरं जातिध्नंशकरादीनि परिगणितानि,  
तत्र प्रायश्चित्तान्युच्यन्ते । तत्र मनुः ( ११।१२४-१२५ )—'जातिध्नंशकरं कर्म  
कृत्वाऽभ्यतममिच्छया । चरेत्सान्तपनं कृत्वां प्राजापरथमनिच्छया ॥ संकरा-  
पात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्द्रवम् । मलिनीकरणीयेषु तप्तं स्वाध्यायकस्यहम् ॥'  
इति । अन्यतममिति सर्वत्र संबध्यते । यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'संकराकरणं  
कृत्वा मासमश्नानि यावत्कम् । कृत्वात्किञ्चिन्मथवा प्रायश्चित्तं समापरेत् ॥  
अपात्रीकरणं कृत्वा तप्तकृत्वेण शुद्ध्यति ॥ घातकृत्वेण वा शुद्धिर्मासाभ्यन्तपनेन



च । मलिनीकरणीयेषु तप्तकृष्णविशोधनम् ॥' इति ॥ बृहस्पतिनापि जातिभ्रश करे विशेष उक्त — 'ब्राह्मणस्य रुज कृत्वा रासभादिप्रमापणम् । निन्दितेभ्यो धनादानं कृष्णार्धं व्रतमाचरेत् ॥' इति । एतेषां च जातिभ्रशकरादिप्रायश्चित्तानां मन्वाद्युक्तानां जातिशङ्कस्याद्यपेक्षया विषयो विभजनीयः । एव योगीन्द्रहस्तमन्त्रचमत्तणादिप्रायश्चित्तसंघेऽतो दर्शितम् ॥ २८९ ॥

भाषा—निषिद्ध दान छेने पर ब्रह्मचारी होकर, कवल दूध पीते हुए, गोशाला में निवास करते हुए और गायत्री क जप में रत होकर एक मास व्यतीत करने पर शुद्ध होता है ॥ २८९ ॥

अधुना प्रकृतमनुसराम — 'महापातकमतिपातकमनुपातकमुपपातक प्रकीर्णकमिति पञ्चविध पापजातमुक्तम् । तत्र चतुर्विध प्रायश्चित्तप्रविधाय क्रमप्राप्त प्रकीर्णक प्रायश्चित्तमाह—

१ प्राणायामी जले स्नात्वा खरयानोऽपूरयानग ।

नम्र स्नात्वा च भुक्त्वा च गत्वा चैव दिना स्त्रियम् ॥२९०॥

खरयुक्त यान खरयानम्, उपद्रुयुक्त यानमुपद्रुयान, रथगन्ध्यादि तेनाश्वगमन कृत्वा दिगम्बर स्नात्वाऽभ्यवहृत्य दिवा वासरे च निजाङ्गनासभोग कृत्वा च तडागतद्विष्यादाववगाद्य कृतप्राणायाम शुद्धयति ।—इदं च कामकारविषयम् । 'उपद्रुयान समाहृत्य खरयानं तु कामनः संवासां जलमाप्तुष्य प्राणायामेन शुद्धयति ॥' ( ११:२०१ ) इति मनुस्मरणात् अकामत स्नानमात्रं कल्पयम् । साक्षात्खरारोहणे तु द्विगुणावृत्तिं कल्पनीया, तस्य गुह्यत्वात् ॥२९०॥

भाषा—गदहे से खींची जाने वाली सवारी भयवा ऊँट गाड़ी पर चढ़ने, नगे होकर नहाने और खाने तथा दिन से ( भपनी ही खी से ) खी सभोग करने पर जल में प्रवेश कर प्राणायाम करने एवं स्नान करने से शुद्धि होती है ॥ २९० ॥

३ गुह्यं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निजित्य घादतः ।

वदुश्वा वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपचसेहिनम् ॥ २९१ ॥

किंच, गुरु जनकादिकं त्यक्त्य स्वमेवमाथ स्वयैव कुनमित्येकवचनात्तदुपम-  
प्लुच्छोचचारणेन निर्भरस्य विप्रं वा ज्यापांस सम कनीयास वा सक्कीधं हु गूणी  
मास्व, हु मा बहुवादी, इत्येवमाक्षिप्य जल्पवितण्डाभ्यां जयकलाभ्यां विप्रं  
निजित्य ऋण्डे वाससा मृदुरपशैनापि वदुश्वा विप्रं पादप्रजिपातादिना प्रसाद्य

१ प्राणायाम जले । २ स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासा । ३ गुरु त्यक्त्य  
हुंकृत्य विप्रः ।

क्रोधं त्याज्यविधा दिनमुपयसेत् । अनश्नन्कृत्स्नं वासरं नयेत् ॥ यत्तु यमेनोक्तम् -  
'पादेन ब्राह्मणं शिखा प्रायश्चित्तविधिरसया । त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य  
प्रसादयेत् ॥' इति,—तदभ्यासविषयम् ॥ २९१ ॥

भाषा—गुरु ( पिता आदि श्रेष्ठ जनों ) को 'तू' कहने पर ( भाष्यना  
करने पर ) अथवा क्रोध से ब्राह्मण को डाँटने पर, उसके गले में पछ पाँधने  
पर शीघ्र उनके पैरों पर गिर कर उन्हें प्रपन्न करे ॥ २९१ ॥

विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रस्वतिकृच्छ्रो निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रांऽसृष्टपाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥ २९२ ॥

विप्रजिघांसया दण्डायुद्यमे कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः, निपातने ताडने  
अतिकृच्छ्रः, असृष्टपाते रुधिरप्रापणे पुनः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः, अभ्यन्तरशोणितेऽपि  
कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः ॥ गृहस्पतिनाप्यत्र विशेष उक्तः—'काष्ठादिना ताडयित्वा  
स्वभेदे कृच्छ्रमाचरेत् । अस्थिभेदेऽतिकृच्छ्रः स्यात्पराकसवङ्गकर्तने ॥' इति ।  
पादप्रहारे तु यम आह—'पादेन ब्राह्मणं स्पृष्ट्वा प्रायश्चित्तविधिरसया । दिव-  
सोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥' इति ॥ मनुना स्वन्यानि  
प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि दर्शितानि ( ११२०२ )—'विनाङ्गिरसु वाष्पार्तः  
शारीरं संनिवेश्य तु । सचेष्टो वहिराप्लुष्य गामालभ्य विशुद्धयति ॥' इति ।  
विनाङ्गिरस्यसंनिहितास्वरीश्वर्यः । शारीरं मूत्रपुरीषादि १-इदमकामविष-  
यम् । काष्ठस्तु—'नाप्लुतो विना तोयं शारीरं यो निवेशते । पृकाहं चपणं  
कृत्वा संचेष्टो जलमाविशेत् ॥' इति यमोक्त वेदितव्यम् ॥ यत्तु सुमन्तुवचनम्—  
'अस्वप्नी वा भेदतस्तत्कृच्छ्रम्' इति,—तदनातविषयमभ्यासविषयं वा ॥ निष्य-  
थ्रीतादिकर्मलोपे तुमनुराह ( ११२०३ )—'वेदोदितानां निस्थानां कर्मणां समति-  
क्रमे । स्नानकर्मतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥' इति । श्रौतेषु दर्शपीर्णमावादि-  
कर्मसु स्मार्तेषु च निष्यहोमादिषु प्रतिपदोक्तेष्वपि प्रायश्चित्तैरुपपासत्य समुच्चयः ।  
स्नातकर्मतानि च—'न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति' इत्येवमादीनि प्राशु-  
क्तानि । स्नातकर्मतमधिकृत्य ऋतुनाप्युक्तम्—'पतेयामाचारणामेकैरस्य ष्यति-  
क्रमे गायत्र्यष्टशतं जप्यं कृत्वा पूतो भवति' इति ॥ पञ्चमहायज्ञकरणे तु गृह-  
स्पतिराह—'अनिर्वर्त्य महायज्ञान् यो भुङ्क्ते प्रत्यहं गृही । अनातुरः सति धने  
कृच्छ्राधेन विशुद्धयति ॥ आहिताग्निस्थानं न कुर्याद्यस्तु पर्वणि । ऋतौ न  
गच्छेत्तार्यां वा सोऽपि कृच्छ्राधमाचरेत् ॥' इति । द्वितीयादिभार्योपरमे तु देवळ  
आह—'मृतां द्वितीयां यो भार्यां द्देहैतानिकाग्निभिः । जीवन्त्यां प्रथमायां तु

सुरापानममं हि तत् ॥' इति । स्वभार्याभिर्शंसने तु यम आह—'स्वभार्यां तु यदा क्रोधाद्गम्येति नरो वदेत् । प्राजापरस्य चरेद्विप्रः क्षत्रियो दिवसाश्रव ॥ पद्भ्यां तु चरेद्वैश्यधिराश्रं शूद्र आचरेत् ॥' इति ॥

अस्नानभोजनादौ हारीत आह—'यद्दन्तमण्डलु रिक्तमस्नातोऽश्नंश्च भोजनम् । अहोरात्रेण शुद्धिः स्याद्दिनजप्येन चैव हि ॥' इति । एकपङ्क्त्युपविष्टानां स्नेहादिना वैपम्येण दानादौ यम आह—'न पङ्क्त्यां विपमं यद्यन्न याचेत न दापयेत् । ( याचरो दापको दाता न चै स्वर्गस्य गामिनः ॥ ) प्राजापरयेन कृच्छ्रेण मुच्यते कर्मणस्ततः ॥ नदीसकमदन्तुश्च कन्याविघ्नकरस्य च ॥ समे विपमस्तुश्च निष्कृतिर्नोऽपद्यते ॥ त्रयाणामपि चैतेषां प्रस्थापंति च मार्गताम् । भैरवस्थेन चान्नेन द्विजश्राद्धायण चरेत् ॥' इति । संकम उद्कावनरणमार्गः । समे विपमकर्ता पूजादौ ॥ इन्द्रधनुर्दर्शनादावृष्यद्वाह आह—'इन्द्रचापं पलाशाग्नि यद्यन्यस्य प्रदर्शयेत् । प्रायश्चित्तमहोरात्र धनुर्दण्डश्च दक्षिणा ॥' पतितादिसभापणे तु गौतम आह—'न ग्लेश्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत । संभाष्य पुण्यकृतो मनसा श्यायेत् । ब्राह्मणेन सह वा सभाषेत तद्व्याघ्रधनलाभयधे पृथग्दर्पाणि' इति । भार्यान्नधमनां लाभस्य यधे विघ्नकरणे प्रत्येक संवत्सरं प्राकृत ब्रह्मचर्यम् ॥ तथा—ब्रह्मसूत्रं विना विष्णुजोःसर्गादौ स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तमुक्तम्—'विना यज्ञोपवीतेन यद्युच्छिष्टो भवेद् द्विजाः । प्रायश्चित्तमहोरात्रं गायत्र्यपठतं तु वा ॥' तत्र ऊर्ध्वोच्छिष्टे उपवासः, अधरोच्छिष्टस्योदकपानादिषु गायत्रीजप इति व्यवस्था । अकामतस्तु—'पियेत् मेहतश्चैव भुङ्गतोऽनुपवीतितः । प्राणायामत्रिकं पट्कं नक्तं च त्रितयं क्रमात् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ भुक्त्वा शौचाचमनमहस्वोरथाने तु—'यद्युच्छिष्टस्यनाचान्नो भुक्त्वा वाऽनश्नान्त्ततः । सद्यस्नानं प्रकुर्वीत सोऽन्यथा पतिता भवेत् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ श्रीराष्ट्रसर्गादौ वसिष्ठ आह—'दण्डजोःसर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्त्रिरात्र पुरोहित कृच्छ्रमदण्डवदण्डने पुरोहितत्रिरात्र राजा कुन्धो श्यावदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वोद्धरेयाताम्' इति । उद्धरेयाता कुरितानां दन्तानां नखानां चोद्धरणं कुर्यातामिदर्थः । स्तेनपतितादिपङ्क्तभोजने तु मार्कण्डेय आह—'अपाङ्क्त्यस्य यः कश्चित्पङ्क्तौ भुङ्क्ते द्विजोत्तमः । अहोरात्रोपितो भूत्वा पद्भ्याम्येन शुद्ध्यति ॥' इति ॥

नीलीविषये स्वापस्तम्ब आह—'नीलीरक्तं यदा वसं ब्राह्मणोऽग्नेषु धारयेत् । अहोरात्रोपितो भूत्वा पद्भ्याम्येन शुद्ध्यति ॥ रोमकूपैर्यदा गच्छेद्भ्रसो नीव्यास्तु

कहिंचित् । त्रिपु वर्णेषु सामान्य तसकृच्छ्र विशेषनम् ॥ पालन विष्णवधैव  
 तद्दुस्या चोपजीवनम् । पातन च भवेद्विप्रैस्त्रिभि कृच्छ्रैर्भ्यपोहति ॥ नीलीदारु  
 यदा भिन्नाद् ब्राह्मणस्य शरीरत । शोणित दृश्यते यत्र द्विप्रश्चान्द्रायण चरेत् ॥  
 खोणा क्रीडार्थसभोगे शयनाये न दुष्यति ॥' इति । भृगुणाप्युक्तम्—'खीष्टता  
 शयने नीली ब्राह्मणस्य न दुष्यति । नृपस्य वृद्धी वैश्यस्य पर्ववर्ज्यं विधारणम्'  
 इति ॥ तथा चक्षुर्विशेषकृतश्च प्रतिप्रसव—'कम्बले पट्टसूत्रे च नीलीरागो  
 न दुष्यति ॥' इति स्मरणात् ॥ ब्रह्मतरुनिर्मितजट्याद्यारोहणे शङ्ख आह—  
 'अभ्यस्य शयन यानमामन पादकं तथा । द्विज पलाशवृक्षस्य त्रिरात्र तु व्रती  
 भवेत् ॥ चत्रियस्तु रणे पुष्ट दत्त्वा प्राणपरायण । सवत्सर व्रत कुर्याच्छ्रित्वा  
 वृक्ष फलप्रदम् ॥ द्वी विप्रौ ब्राह्मणारानी वा दम्पती गोद्विजोत्तमौ । अ तरेण यदा  
 गच्छेत्कृच्छ्र सान्त्वन चरेत् ॥ होमकाले तथा दोहे स्वाध्याये दारसमष्टे । अन्त-  
 रेण यदा गच्छेद् द्विप्रश्चान्द्रायण चरेत् ॥' इति । दोहे साञ्जाय्याशङ्कभूते ।—एत-  
 द्वाभ्यासविषयम् । सञ्चिद्रादिव्याघरिष्टदर्शनादौ शङ्ख आह—'तु स्वप्नारिष्ट-  
 दर्शनादौ पृत सुवर्णं च दद्यात् ॥' इति ।

कचिद् देवविशेषगमनेऽपि देवत आह—'सिन्धुसीवीरसौराष्ट्रांस्तथा प्रत्य  
 न्तवासिन । अङ्गवङ्गकलिङ्गाध्रान् गत्वा सत्कारमर्हति ॥' एतच्च तार्थयात्रा-  
 ष्यतिरेक्येन द्रष्टव्यम् ॥ स्वपुरापदर्शनादौ यम आह—'प्रत्यादित्य न मेहेत न  
 पर्यद्रामेन शक्यत् । शृत्वा सूर्यं निरीचेत गामग्निं ब्राह्मण तथा ॥' इति ।  
 शङ्खाऽप्याह—'पादप्रतपन कृत्वा कृत्वा वह्निमधस्तथा । कुक्षौ प्रमृज्य पादौ  
 तु दिनमेक व्रती भवेत् ॥' इति ॥ चत्रियापुपसमष्टे हारीत आह—'चत्रिया  
 भिवादानेऽहोरात्रमुपवसेत्, वैरयाभिवादाने द्विरात्रम्, शूद्रस्याभिवादाने त्रिरा-  
 त्रमुपवास' इति ॥ तथा 'शय्यारुडपादुकोपानहारोपितपादोच्छ्रिता-धकारस्थ-  
 श्राद्धकृजपदेवपूजानिरताभिवादाने त्रिरात्रमुपवास स्यादन्यत्र निमन्त्रितेना-  
 न्यत्र भोक्तनेऽपि त्रिरात्रम्' इति ॥

समिष्टुष्पादिहस्तस्याभिवादानेऽप्येतदेव—'समिष्टुष्पकुक्षाऽप्याग्नुमृदञ्चाक्षत-  
 पाणिकम्, जप होम च कुर्वाण नाभिवादेत वै द्विपन् ॥' इत्यापस्तम्बीये जपा-  
 दिभि समभिध्याहारात् । अभिवादकरयापीदमेव प्रायश्चित्तम्—'मोदकुम्भ-  
 हस्तोऽभिवादयेत् न भैक्ष चरन् पुष्पाऽप्यादिहस्तो नाशुचिर्न जपन् देवपितृकार्यं  
 कुर्वन् शयान' इति तस्यापि शङ्खेन प्रतिषेधात् । एवमन्यापि चचासि  
 स्मृत्य तरतोऽन्येऽपि, प्रत्यगौरवभयाद् न लिख्यन्ते ॥ २९२ ॥

१ त्रिवर्णं च सामान्यम् । २ भवेद्विप्रे त्रिभि । ३ अङ्गवङ्ग-  
 कलिङ्गाश्च ।

भाषा—किसी ब्राह्मण को मारने की इच्छा से डडा उठाने पर कृच्छ्र मत से और डडा मार देने पर अतिकृच्छ्र मत से, मारकर रुधिर निकाल देने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र मत से और उसके चोट के स्थान पर रुधिर आ जाने पर कृच्छ्र मत से शुद्धि होती है ॥ २९२ ॥

इति प्रकीर्णकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तानामानन्त्याप्रतिभ्यक्तिप्रायश्चित्तस्य वक्षुमशक्यत्वात्सामान्यतयोपदिष्टानुपदिष्टविषये प्रायश्चित्तविशेषज्ञानार्थमिदमाह—

देशं कालं वय शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नत ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता न निष्कृति ॥२९३॥

यदुक्तं प्रायश्चित्तज्ञात वक्ष्यमाण वा तद्देशादिकमवेक्ष्य यथा कर्तुः प्राणविपत्तिर्न भवति तथा विषयविशेषे कल्पनीयम्, इतरथा प्रधाननिवृत्तिप्रसङ्गात् । तथा च वक्ष्यति—‘वायुभक्षो दिवा तिष्ठन् रात्रिं नीत्वाप्सु सूर्येण’ इति, तत्र यदि हिमशङ्खिरनिकटवर्तिनामुर्दकवास उपदिश्यते अतिशीताकुलिते वा शिशिरादिकाले तदा प्राणवियोगो भवेदिति तद्देशकालपरिहारेणोर्दकवास कल्पनीय । तथा चयोविशेषादपि यदि नवतिवार्षिकादेशेपूज्यद्वादशवापिकस्य वा द्वादशाब्दिकप्रायश्चित्तमुपदिश्यते तदा प्राणा विषयेण’ इति ततोऽन्यवयवके तत्प्रायश्चित्तकल्प्यम् । अत एव स्मृत्यन्तरे कचिदर्धं कचित्पाद’ इति वृद्धादिषु प्रायश्चित्तस्य हासोऽभिहित, तच्च प्राक्पञ्चितम् । तथा धनदानतपश्चरणादिशक्तपेक्षया च नहि निर्धनस्य पात्रे धन वा पर्याप्तमित्याद्युपपद्यते । तथात्रिक्वचित्तादेर्वा पराकादिक नापि स्त्रीशूद्रार्जुनादिकम् । अत एव गजादीनामशक्नुवन् । दान दातु श्रेयस्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये’ इत्युक्तम् । तथा ‘प्रायश्चित्तार्धमहन्ति स्त्रियो रोगिण एव च’ इति तपस्यशक्तस्य स्मृत्यन्तरे प्राक् प्रायश्चित्तस्य हासोऽभिहित । तथा पाप च महापातकादिरूपेण सप्रत्ययाप्रत्ययसकृद्भ्यामादिरूपेण चावेक्ष्य यत्नत सकलधर्मशास्त्रपर्यालोचनया प्रायश्चित्तं कल्पनीयम् । तत्राकामतो यद्विहितं तदेव कामकृते द्विगुण, कामतोऽभ्यासे चतुर्गुणमित्येव स्मृत्यन्तरानुसारेण कल्पनीयम् । तथा—‘महापापोपपापार्थ्या योऽभिज्ञसेन्मृषा परम् । अन्धबद्धो मातमासीत्’ इत्युक्त, तत्र महापापोपपापयोस्तुल्यप्रायश्चित्तस्यायुक्त्वात्-महापापापेक्षयोपपातके मासिकव्रतस्य हास कल्पनीय । यत्र च हासितजृम्भिताकन्दितारकालनादिनाकरमारकुर्वात्तथा । ‘नोद्व्यवतोऽम्भसि स्याद्यत्र च रमभ्वादि कर्तयेत् । अन्तर्व-

१ प्रायश्चित्तनिमित्तस्य । २ चापेक्ष्य । ३ नोक्ता च । ४ उद्व्यासः ।

५ द्वादशवापिकादिकम् । ६ जृम्भितारफोटनानि ।

र-या पति कुर्वन्नप्रज्ञा भवति भ्रुवम् ॥' इत्यादौ प्रायश्चित्त नोपदिष्ट, तत्रापि देशाद्यपेक्षया प्रायश्चित्त कल्पम् । ननु किञ्चिदपि निमित्तजातमनुक्तनिष्कृतिकमुपलभ्यते; 'प्राणायामशत कार्यं सर्वपापापनुत्तये । उपवातरुजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥' इत्यनुक्तनिष्कृतिरपि प्रायश्चित्तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । गीतमेनाप्येतान्येवानादेश विकल्पेन क्रियेरन्नित्येकाहाद्य प्रतिपादिताः । उच्यते,—सत्यमस्येष सामान्यत प्रायश्चित्तोपदेशस्तथापि सर्वत्र देशकालादीनामपेक्षितत्वाद्दशमेव कल्पनावसर । नच हसितादिषु सर्वत्र प्राणायामशत युक्तम्, निमित्तस्य लघुत्वात् । अतः पापापेक्षया हास कल्पनीय प्रायश्चित्तान्तरं वा । ननु कथं पापस्य लघुत्व ? येन प्रायश्चित्तस्य हासकल्पना स्यात् । नच प्रायश्चित्तावस्थादिति चाप्यम् । अनुक्तनिष्कृतिर्यादेव । सत्यम्,—किंतु अर्थादसंकीर्तनाद्'धुद्धिपूर्वाधुद्धिपूर्वानुबन्धाद्यपेक्षया च सुबोध एव दोषस्य गुरुलघुभावः । तथा वृण्डहासवृण्डवपश्चया च प्रायश्चित्तगुरुलघुभावः । यथा ब्राह्मणावगोरणादौ सजातीयविषये प्राजापत्यादिकमुक्तम्, तत्र यदा चानुलोभ्येन प्रातिलोभ्येन वावगोरणादि क्रियते, यदा वा मूर्धावसिक्कादिभिस्तदा वृण्डस्य तारतम्यदर्शनोदेव दोषावपसवमहत्त्वावगममाप्रायश्चित्तस्यापि गुरुलघुभावः कल्पनीयः । दर्शितश्च वृण्डस्य गुरुलघुभावः प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दस' इत्यादिना ॥

भाषा—देश, समय, आयु, शक्ति और पाप का सावधानी से निरीक्षण करके ही अन्य प्रायश्चित्तों की कल्पना कर लेनी चाहिए जिनका विधान नहीं किया गया है ॥ २९३ ॥

इति पतितस्यागविधिः ।

एव महापातकादिभिः पतितस्य प्रायश्चित्तमुक्तं, यस्सर्वोद्वेसादेतन्न चिकीर्षति तस्य किं कार्यमित्यत आह—

दासीकुम्भं वह्निर्प्राग्निनयेरस्वबान्धवा ।

पतितस्य यद्वि कुर्युः सर्वकार्येषु चैव तम् ॥ २९४ ॥

जीवत एव पतितस्य ये स्वाज्ञातयो बान्धवाः पितृमातृपुत्रास्ते सर्वे सनिपत्य दासी प्रेष्या तथा सपिण्डादिप्रेषितया आनीतमपां पूर्णं कुम्भं घटं प्रामाद्वहिनिनयेयुः । पृथक्पृथक्दिशिकातिथिष्वह्नि पञ्चमे भागे गुर्वादिसन्धि कार्यम् । ( १११८२ )—'पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्वाग्धैर्वह्निः । निन्दितेऽह्नि सायाह्ने ज्ञास्यद्विगुरुस्तत्रिधी ॥' इति मनुस्मरणत् ॥ अथवा दास्येव सपिण्डादिप्रयुक्ता निनयेत् । यथाह मनु ( १११८३ )—'दासी घटमपां पूर्णपर्य-

स्येऽप्रेतवत्पदा । अहोरात्रमुपासीरन्नाशौच बा-धवै सह ॥' इति । प्रेतवदिति दक्षिणामुखापसभ्ययो प्राप्सवर्थम् ।—एतच्च निनयनमुदकपिण्डदानादिप्रेतकियो-त्तरकाल द्रष्टव्यम् । 'तस्य विद्यागुरुयोनिसव धाश्च सनिपास्य सर्वाण्युदकादीनि प्रेतकर्मणि कुर्युः, पात्र चास्य विपर्यस्यसु । दास कर्मकरो वाऽवकरात् पात्रमानीय दासीघटान् पूरयित्वा दक्षिणाभिमुख पदा विपर्यस्येदिदम् । अमुमनुदक करोमि इति नामप्राह त सर्वेऽ-वालभेरन् प्राचीनावीतिनो मुक्तशिक्षा विद्यागुरवो योनि सव-धाश्च वीक्षेरन् अप उपस्पृश्य ग्राम प्रविशेयुः' ( ११।५।७ ) इति गौतम-स्मरणात् । अथ च त्यागो यदि ब-धुभिः प्रेर्यमाणोऽपि प्रायश्चित्त न करोति तदा द्रष्टव्य । तस्य गुरोर्बा-धवाना राज्ञश्च समच दोषानभिरुषाप्यानुभाष्य पुन पुनराचार लभस्वेति स यद्येवमप्यनघस्वितमति स्यात्ततोऽस्य पात्र विपर्यस्येदिति शङ्कस्मरणान् । ततस्त लब्धोदक पतित सर्वकार्येषु सभाषणसहासनादिषु यदि कुर्युर्वजयेयुः । तथा च मनु ( ११।१८४ )— निवर्तेरस्ततस्तस्मात्सभाषणस-हासने । दायासस्य प्रदान च यात्रामेव च लौकिकीम् ॥' इति । यदि स्नेदादिना सभाषण करोति तदा प्रायश्चित्त कार्यम् । 'अत ऊर्ध्वं तेन सभाष्य तिष्ठदेकरात्र जप-सावित्रीमज्ञानपूर्वं चेत्त्रिरात्रम्' इति ॥ २९४ ॥

भाषा—पतित व्यक्ति के जाति वाले और बान्धव सभी दासी क द्वारा ( उसके नाम से ) जल से भरा हुआ घड़ा गाँव से बाहर निकलवा दें और सभा कार्यों से उसका बहिष्कार करें ॥ २९४ ॥

यदा तु बन्धुत्यागाद-यथा वा जातघैराभ्य प्रायश्चित्त च कृत, तदा किं कार्यं मिथ्यत आह—

चरितव्रत आयाते निनयेरन्नवर्षं घटम् ।

जुगुप्सेरन्न चोप्येन संवसेयुश्च सर्वश ॥ २९५ ॥

कृतप्रायश्चित्ते बन्धुसमीप पुनरायाते तत्सपिण्डाद्यास्तेन सहिता नवम् अनु पहत घटम् उदकपूर्णं निनयेयुः ।—एतच्च निनयनपुण्यद्वदादिस्नानोत्तरकाल द्रष्ट-व्यम् । ( ११।१८६ )—'प्रायश्चित्तं तु चरिते पूर्णं कुम्भमया नवम् । तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥' इति मनुस्मरणात् । गौतमेन तु विशेष उक्त — 'यस्तु प्रायश्चित्तन शुद्धयत्स्मिन् शुद्धे शान्तकुम्भमय पात्र पुण्यतमाद् इदात्पूरयित्वा श्व-तीभ्यो वा, तत पुनमप उपस्पृशेयुः, अथास्मै तत्पात्र बन्धुस्तत्सप्रतिगृह्य जपेत् शान्ता घाँ शान्ता पृथिवी शान्त दिवम तरिच यो रोचनस्तमिह गृह्णामि' इत्येतैर्यजुर्भिः पावमानीभिस्तरस्सम-दीभिः कृष्माण्डै-

रचाज्यं जुहुयाद्विरण्यं दद्यात्तां चाचाद्याय । यस्य तु प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं स  
 मृतः शुद्धयेदेतदेव दान्युदकं सर्वेषूपपातकेषु' ( गी० १९।१०।१७ ) इति । तत  
 एनं कृतप्रायश्चित्तं ते नैष कुत्सयेयुः । तथा सर्वकार्ये ऋषयिष्यादिषु तेन सह  
 संभ्यवदरेयुः ॥ २९५ ॥

भाषा—प्रायश्चित्त का घत करके यदि बन्धु यान्धवों में मिलने के लिये भावे  
 तो सपिण्ड उसके साथ दूसरा जल से पूर्ण नया घड़ा ( किसी तालाब में  
 स्नान करके वहाँ से ) मँगवावे । तब उसको घृणित न समझे और उसे सब  
 प्रकार से अपने साथ सम्मिलित कर लें ॥ २९५ ॥

पूर्वोक्तस्य पतितपरित्यागादिविधेरतिदेसमाह—

पतितानामेव एव विधिः स्त्रीणां प्रकीर्तितः ।

वासो गृहान्तिके देयमन्नं चासः सरक्षणम् ॥ २९६ ॥

य एव पुरुषाणां परित्यागे पिण्डोदकदानविधिः कृतप्रायश्चित्तानां परिग्रह-  
 विधिश्च स एव पतितानां स्त्रीणामपि वेदितव्यः । इयास्तु विशेषः—पति-  
 ताभ्योऽपि ताभ्यः स्त्रीभ्यः कृतोदकादिकर्मभ्यो वासस्तृणदर्शनमथं कुटीगृहकं प्रधान-  
 गृहसमीपे देयम् । तथा प्राणधारणमाद्यमन्नं मलिनं च वस्त्रं पुनः पुरुषान्त-  
 रोपभोगनिवारणसहितं सतिरस्कारं देयम् ॥ २९६ ॥

भाषा—यही विधि पतित स्त्रियों के लिए भी है; उन्हें घर के निकट  
 दूसरा निवासस्थान दे देना चाहिए और केवल जीवन बचाने भर भ्रष्ट और  
 वस्त्र देना चाहिए और ठमकी रक्षा करनी चाहिए ॥ २९६ ॥

ननु काः पतितास्ता यासामयं परित्यागविधिरित्यत आह—

नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ।

विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि भ्रुवम् ॥ २९७ ॥

हीनवर्णगमनं गर्भपातनमब्राह्मण्या अपि भर्तुः अब्राह्मणस्यापि हिंसन-  
 मित्येतानि स्त्रीणामसाधारणानि पतननिमित्तानि । 'अपि'शब्दात्पुरुषस्य  
 यानि पतननिमित्तानि महापातकातिपातकानुपपातकान्यभ्यस्तानि चोपपा-  
 तकादीनि तान्यपि स्त्रीणां भ्रुवं निश्चितं पतनकारणानि भवन्ति । अत एव  
 दौनकः—'पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि तान्येव ब्राह्मणी हीन-  
 वर्णसेवायामधिकं पतति' इति । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—( २८।७ ) 'त्रीणि  
 स्त्रियाः पातकानि लोके धर्मविदो विदुः । भर्तुर्वधो भ्रूणहत्या स्वस्य गर्भस्य  
 पातनम् ॥' इति 'भ्रूणहत्या' ग्रहणं कृत तत् दृष्टान्तार्थं न पुनरितरेषां महा-  
 पातकादीनां पतनहेतुत्वनिरासार्थम् । यदपि तेनैव—( २।१।१० ) 'चतस्रस्तु



परित्याज्या शिष्यगा गुरुगा च या । पतिभनी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च  
या ॥' इति । 'चतसृणामेव परिष्याग' इत्युक्त तस्यापि तासां प्रायश्चित्तमधि-  
कीर्षन्तीनां मध्ये चतसृणामेव शिष्यगादीनां चैलान्नगृहवासाद्विजीवनहेतु-  
त्वाद्युच्चैरेन श्याग कुर्यान्नान्यासामित्यभिप्राय । अतश्चान्यासां पतितानां  
प्रायश्चित्तमकुर्वतीनामपि 'वासो गृहान्तिके देव मिश्यादिक कर्तव्यमिश्रव-  
गम्यते ॥ २९७ ॥

भाषा—निम्नवर्ण के पुरुष के पास जाना, गर्भपात करना, पति की  
हिंसा इन सब कर्मों से स्त्रियों विशेष रूप से पतित होती हैं ॥ २९७ ॥

'जुगुप्सेरन्न चाप्येन सविशेषुरच सर्वश' (प्रा० २९५) इत्यस्यापवादमाह—

शरणागतयालक्ष्मीर्हिंसकान् संवसेन्न तु ।

चीर्णवतानपि संतः कृतघ्नसहितानिमान् ॥ २९८ ॥

शरणागतादिव्यापादनकारिण कृतघ्नसहितान्प्रायश्चित्तेन धीगदोषानपि  
न सव्यवहरेदिति वाचनिकोऽय प्रतिषेध, किमिति वचन न कुर्यात् ? नहि  
वचनस्यातिभारोऽस्ति, अतश्च यद्यपि व्यभिचारिणीनां च्छेदनीय एव प्राय-  
प्रायश्चित्त, तथापि वाचनिकोऽय सव्यवहारप्रतिषेध ॥ २९८ ॥

भाषा—शरण में आये हुए बालक और स्त्री की हिंसा करने वाले और  
कृतघ्नीयों के प्रायश्चित्त द्वारा दोष हीन होने पर भी इनके साथ कोई व्यवहार  
नहीं रखना चाहिए ॥ २९८ ॥

एव प्रसङ्गेन स्त्रीषु विशेषमभिधाय प्रकृत एव चरितव्रतविधौ विशेषमाह—

घटेऽपवर्जिते द्यातिमध्यस्थो यवसं गचाम् ।

सं दद्यात्प्रथमं गोभिः सत्कृतस्य द्विं सत्क्रिया ॥ २९९ ॥

घटेऽपवर्जिते हृदादुद्घृत्य पूर्णं कुम्भेऽवनिनोतेऽसौ चरितव्रत सविष्ठादिम-  
ध्यस्थो गोभ्यो यवस दद्यात् । ताभिः प्रथमं सत्कृतस्य पूजितस्य पश्चाज्ज्ञातिभिः  
ज्ञात्यादिभिः सत्क्रिया कार्या । गोभिश्च तस्य सरकारस्तद्दत्तयवसमञ्जनमेव ।  
यदि गावस्तद्दत्त यवस न गृह्णीयुस्तर्हि पुन प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यदाह हारीत -  
'स्वशिरसा यवसमादाय गोभ्यो दद्याद्यदि ताः प्रतिगृह्णीयुरथैन प्रवर्तयेयुः' इति  
इतरथा नैश्वभिप्रेतम् ॥ २९९ ॥

महापातकादिपञ्चविधेऽपि दोषगणे प्रातिस्विकव्रतसदोहमभिधाषाधुना सकल-  
व्रतसाधारण धर्ममाह—

विद्ययातदोषः कुर्वीत पर्यदोऽनुमतं व्रतम् ।

यो दोषो यावत्कर्मसपातस्ततोऽयैर्विख्यातो विज्ञातो दोषो यस्यासौ  
 परंपदुपदिष्ट प्रत कुर्यात् । यद्यपि स्वय सकलशास्त्रार्थविचारचतुरस्तथापि  
 परंपसमीपमुपगम्य तथा सह विचार्य तदनुमतमेव कुर्यात् । तदुपगमने चाङ्गि-  
 रसा विशेष उक्त — कृते नि सदाये पापे न मुञ्जीतानुपस्थित । मुञ्जानो वर्षये-  
 त्पाप यावन्नाश्याति परंपदि ॥ सचैल वाग्यत स्नात्वा विळन्नवासा समाहित ।  
 परंपदानुमतस्तथ सर्वं विख्यापयेन्नरः । प्रतमादाय भूयोऽपि तथा स्नात्वा प्रत  
 धरेत् ॥' इति । विख्यापन च परंपदिष्णिनादानानन्तर कार्यम् । यथाह पराशर—  
 'पाप विख्यापयेत्पापी दत्त्वा धेनु तथा वृषम्' इति ।—पृतच्छोपपातकविषयम् ।  
 महापातकादिष्वधिक कल्पयम् । यत्तुक्तम्—'तस्माद् द्विज प्राप्तापाप सकृदा-  
 प्लुत्य वारिणि । विख्याप्य पाप परंपद्य किंचिद्वासा प्रत धरेत् ॥' इति तत्प्रकी-  
 र्णकविषयम् । परंपस्वरूप च मनुना दर्शितम्—'त्रैपिषो हेतुकस्तर्कं नैरुक्तो<sup>२</sup>  
 धर्मपाठक । त्रयध्याध्रमिणः पूर्वं परंपदेया दशावरा ॥' हेतुको मामासायादि-  
 तस्वज्ञ, तर्कं न्यायशास्त्रकुशल, तथान्यदपि पपद्द्वय तेनैव दर्शितम्—  
 (मनु० १२।१।२) अस्वेदविद्युर्विच्च सामवेदविदेव च । अपरा परंपद्विज्ञया  
 धर्मसंशयनिर्णये ॥' इति । तथा—(मनु० १२।१।३) 'एकोऽपि वदविद्वर्मं य  
 व्यवस्येत्समाहित । स ज्ञेय परमो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतै ॥' इति । आसां  
 च परंपदा सम्भाषेक्षया स्वस्था महापातकाद्यपेक्षया । यत्तु सृष्टय-तरेऽभिहि  
 तम्—'पातकेषु शत परंपसदृष्ट महदादिषु । उपपापेषु पञ्चाशत्स्वल्प स्वल्पे  
 तथा भवेत् ॥' इति,—तदपि महापातकादिदोषानुसारेण परंपदो गुरुलघुभावप्रति  
 पादनपर न पुन ससयानियमार्थम्, म-वादिमहास्मृतिविशेषसङ्गात् । तथा  
 दबलेन चात्र विशेषा दर्शित —'स्वय तु ब्राह्मणा प्रयुरवरदोषेषु निष्कृतिम् ।  
 राज्ञा च ब्राह्मणारचैव महसु च परीक्षितम् ॥' इति तर्था च परंपदा अवश्य  
 प्रतमुपदेष्टव्यम्—'भार्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चित्तानि ये द्विजा । जानन्तो न  
 प्रयच्छन्ति ते यान्ति समतां तु तै ॥' इत्यङ्गिरस्मरणात् । तैया परंपदा  
 ज्ञार्यैव प्रतमुपदेष्टव्यम्—'अज्ञात्या धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं वदति य । प्राय  
 श्चित्तं भवेत्पृत' किंविषय परंपदं व्रजेत् ॥' इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ अत्रियादीना  
 तु कृतैर्नसां धर्मापदेशे विशेषोऽङ्गिरसा दर्शित—'यायतो ब्राह्मण चिम अत्रि  
 यादे कृतैर्नस । अन्तरा ब्राह्मण कृत्वा प्रत सर्वं समादिशेत् । तथा शूद्र समा-  
 साद्य सदा धर्मपुर सरम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्य जपहोमविर्व्रितम् ॥' इति ।  
 तत्र च यागाद्यनुष्ठानशीलानां अपादिक वाच्यम्, इतरेषां तु तप । 'कर्मनि-

१. विख्यातपाप चक्षुष्य । २ निरुक्तो । ३ एकोऽपि धर्मविद्वर्मम् ।

छास्तपोनिष्ठा कदाचित्पापमायता । जपहोमादिक तेभ्यो विशेषेण प्रदीयते ॥  
ये नामधारका विप्रा मूर्खा धनविवर्जिता । कृच्छ्रचा द्रायणादीनि तेभ्यो दद्या  
द्विदोषत ' ॥ २९९ ॥

भाषा—जलाक्षय से जल से भरा हुआ घड़ा लेकर भाने पर सपिण्ड  
आदि जाति के लोगों के बीच गायों को कोमल दूध खिलाव । गौर् यदि  
उसका सत्कार करती हैं ( उसकी दी हुई घास खाती हैं ) सभी जाति के  
लोग उसका सत्कार करें ( जाति में सम्मिलित करें ) ॥ २९९ ॥

इति प्रकाशप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

### अथ रहस्यप्रायश्चित्तम् ।

'व्याख्याय व्यातदुरितशातनीं प्रतसततिम् ।

रह कृतावसदोद्धारिणी व्याहरन्मुनि ॥'

तत्र प्रथम सकलरहस्यप्रतसाधारण धर्ममाह—

अनभिव्यातदोषस्तु रहस्यं प्रतमाचरेत् ॥ ३०० ॥

कर्तृव्यतिरिक्तैरनभिव्यातो दोषो यस्यासौ रहस्यमप्रकाश प्रायश्चित्तमनु-  
तिष्ठेत् । अत स्त्रीसभोगादौ तस्या अपि कारकत्वात् तदितरैरविज्ञातदोषस्य  
रहस्यप्रतमिति मन्तव्यम् । तत्र यदि कर्ता स्वय धर्मशास्त्रकुशलस्तदा परस्मिन्-  
विभाष्य स्वनिमित्तोचित प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यस्तु स्वयमनभिज्ञोऽप्यौ केन-  
चिद्दहो ब्रह्महत्यादिक कृत तत्र कि रहस्यप्रायश्चित्तमित्यवस्थाजेनावगम्य रहो  
प्रतमनुतिष्ठेत् । अत एव स्त्रीशूद्रयोरेवमुनैव मार्गेण रहस्यप्रतज्ञानसिद्धेरधि-  
कारसिद्धि । नच वाक्य रहस्यप्रतानां जपादिप्रधानत्वाद्विद्ययोश्च स्त्रीशूद्रयो-  
स्तदनुपपत्तेरनधिकार इति । यतोऽनैकान्ततो रहस्यप्रतानां जपादिप्रधानत्वम् ।  
दानादेरप्युपदेशाद् गौतमोक्तप्राणायामादेरपि सम्भवाच्च । इतरेषामपि मन्त्रदै-  
वतपि-ब्रह्मन्द् परिज्ञानमात्रमेवाधिकारोपयोगि, न स्वव्यवपयम् । नहि तदाग  
निर्माणादौ ज्योतिष्टोमादिधिषयिणी प्रतिपत्तिरुपयुज्यते । देवतादिपरिज्ञानं  
स्ववश्यमपेक्षणीयम्, 'अविदिष्वा ऋषिं ब्रह्मन्द् दैवत योगमेव च । योऽव्यापये-  
ज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु स ॥' इति व्यासस्मृत्यात् । अत्राप्याहारविशे  
पानुक्तौ पय प्रभृतय, कालविशेषानुक्तौ सवासरादय, देशविशेषानुक्तौ शिलो-  
पचयादयो गौतमाद्यभिहितः प्रकाशप्रायश्चित्तवदवेषणीया ॥ ३०० ॥

१ अनभिव्यापितदोषस्तु रहस्यप्रतमाचरेत् ।

। भाषा—जिसका दोष सयको ज्ञात हो गया हो वह पर्यद की भाषा से (जैसा पर्यद द्वारा विहित हो वैसा) मत् करे और जिसका पाप लोगों को ज्ञात न हो यह गुप्त रूप से मत् करे ॥ ३०० ॥

एवं सकलरहस्यसाधारणधर्ममभिधाय प्रकाशप्रायश्चित्तवद् ब्रह्महत्यादिऋ-  
ज्ञेणैव रहस्यप्रायश्चित्ताभ्याह—

त्रिरात्रोपोपितो जप्त्वा ब्रह्महा त्वधमर्षणम् ।

अन्तर्जले विशुष्येत दंस्वा गां च पयस्विनीम् ॥ ३०१ ॥

त्रिरात्रमुपोपितोऽन्तर्जलेऽधमर्षणेन महर्षिणा दण्डं सूक्तं अधमर्षणं 'ऋतं च सत्यं च' इति श्रुचमानुष्टुभं भाष्यवृत्तदेवताकं जप्त्वा त्रिरात्रान्ते पयस्विनीं गां दत्त्वा ब्रह्महा विशुष्यति । जपश्चान्तर्जले निमग्नेन त्रिरावर्तनीयः । यथाह सुमन्तुः—'देवद्विजगुरुहन्तास्तु निमग्नोऽधमर्षणं सूक्तं त्रिरावर्तयेत् । मातरं भगिनीं गत्वा मातृवत्सारं स्तुपां सखीं वाऽन्यद्वैशाभ्यागमनं कृत्वाऽधमर्षणमे-  
वान्तर्जले त्रिरावर्यं तदेतस्मात्पूतो भवति' इति ।—एतच्चाकामकारविषयम् । यत्तु मनुनोक्तम् ( १११४८ )—'सन्वाहतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु पोदना । जपि भ्रूणहणं मासाःपुनन्यहरहः कृताः ॥' इति,—तदप्यस्मिन्नेव विषये गोदानाश-  
क्तस्य वेदितव्यम् । यत्तु गीतमेव षट्त्रिंशद्वात्रमत्तमुक्त्वोक्तं 'तद्व्रत एव ब्रह्मह-  
त्यासुरापानमुवर्णस्तेयगुरुतत्त्वेपु प्राणायामैः स्नातोऽधमर्षणं जपेत्' ( २४११० ) इति,—तदकामतः सकृद्बधविषयम् । यत्तु वीधायनेनोक्तम्—'ग्रामाःप्राचीं चोदीचीं दिशमुपनिष्कम्य स्नातः शुचिः शुचिवासा उदकान्ते स्थण्डिलमुपलिप्य सकृत्कृत्वा-  
वासीः सकृत्पूतेन पाणिनादित्याभिमुखोऽधमर्षणं स्वाध्यायमधीयीत । प्रातः घृतं मध्याह्ने शतमपराह्णे घृतं परिमितं चोदितेषु नक्षत्रेषु पशुतिषावकं प्राप्नीयात् । ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्तारात्रात्प्रमुष्यते द्वादशारात्रान्महापात-  
केभ्यो ब्रह्महत्यासुरापानमुवर्णस्तेयानि वर्जयित्वा एकविंशतिरात्रेण तान्यपि तरति' ( ३१६४ ) इति—तरकामकारविषयम्, अकामतः श्रोत्रियाचार्यसवन-  
स्थवधविषयं वा । यत्तु मनुनोक्तम् ( १११२५८ )—'भरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुष्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोषितस्त्रिभिः ॥' इति,—  
तरकामतः श्रोत्रियादिवधविषयम्, इतरत्र कामतोऽभ्यासविषयं वा । वृहद्वि-  
ष्णुनोक्तम्—'ब्रह्महत्यां कृत्वा ग्रामाःप्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्कम्य प्रभूते-  
न्धनेनाग्निं प्रवाह्याधमर्षणेनाष्टसहस्रमाश्याहुतीर्जुहुवात्तत एतस्मात्पूतो भवति'

१. विशुष्येत्तु । २. गां दत्त्वा च पयः । ३. न्वद्वा गमनम् । ४. कामतो  
वध । ५. वासीः सकृत् ।

इति,—तद्विगुणवधविषयमनुप्राहकविषयं वा । यत्तु यमेनोक्तम्—‘श्यहं तूपवसे-  
द्युक्तस्त्रिहोऽभ्युपयस्यः । मुच्यते पातकैः सर्वस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥’ इति,—  
तद्गुणवतो हन्तुर्निगुणवधविषय प्रयोजकानुमन्तुविषयं वा । यत्तु हारीतेनोक्तम्—  
‘महापातकातिपातकोपपातकानामेकतममेव संनिपाते चाघमर्षणमेव त्रिर्जपेत्’  
इति,—तद्विमित्तकर्तृविषयम् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यान्वन्वित्यैवमेव विषयेषु  
विभजनीयानि ग्रन्थगौरवभयात् लिखन्ते । एतदेव मतजातं यागस्थयोपिष-  
त्रविट्स्वाप्नेयामाहितान्निपन्थी गर्भिण्यामविज्ञाते च गर्भे श्वापादिते तुरीयां-  
तन्यूभमनुष्ठेयम् ॥ ३०१ ॥

भाषा—प्राहण की हत्या करने वाला तीन दिन उपवास करके, जल  
में खड़ा होकर अघमर्षण ऋषि के सूक्त ( ‘श्रुत च सत्य च’ आदि ) का जप  
करके एक दूष देने वाली गौ का दान करने पर शुद्ध होता है । ( यह  
जलहत्या का रहस्य प्रायश्चित्त हुआ ) ॥ ३०१ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्यः स्वाहेत्यथवा द्विघसं माकृताशनः ।

जले स्थित्वाऽभिजुहुयाच्चत्वारिंशद्घृताहुतीः ॥ ३०२ ॥

अथवाऽहोरात्रमुपोषितो रात्राबुदके वासं कृत्वा प्रातर्जलाहुतीर्यं ‘लोमभ्यः  
स्वाहा’ इत्याद्यैरष्टमिन्द्रैकेकेन पञ्चपञ्चाहुतय इत्येवं चत्वारिंशद्घृताहुतीर्जु-  
हुयात् १-इयं च पूर्वोक्तसमानविषयम् ; उदवासस्य क्लेशबाहुचयात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—अथवा एक दिन-रात उपवास करके, रात्रि भर जल में रहकर  
प्रातःकाल जल से निकल कर ‘लोमभ्यः स्वाहा’ आदि आठ मंत्रों से प्रत्येक  
मंत्र के साथ पाँच-पाँच आहुति देकर चालीस बार आहुति करे ॥ ३०२ ॥

क्रमप्राप्तं सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा कृष्माण्डोभिर्घृतं शुचिः ।

सुरापानश्चत्वारिंशद्घृताहुतीरिष्यनुवर्तते । त्रिरात्रमुपोषितः कृष्माण्डोभिः ‘यद्देवा  
देवहेलनम्’ इत्याद्यभिः कृष्माण्डाभिरनुष्टुप्त्रिमन्त्रलिङ्गदेवताभिर्द्विभ्रवा-  
रिंशद्घृताहुतीर्हुत्वा शुचिर्भवेत् । तथा बौधायनेनाप्युक्तम्—‘अथ कृष्माण्डो-  
भिर्जुहुयाद्योऽपूत पचात्मानं मन्येत यावदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मा-  
न्मुच्यते । अयोनी वा रेतः सिकथाऽन्वत्र स्वप्नात् ॥’ इति । यत्तु मनुना  
( ११।२४९ )—‘कौरसं जपत्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्युचम् । साद्विभ्रं शुद्ध-

१. स्वाहेति द्वि वा । २. मासं जपत्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च ऋच प्रति ।  
साद्विभ्रं शुद्ध ।

भाषा—जिसका दोष मयको ज्ञात हो गया हो वह परंपर की भांश में  
( जैसा परंपर द्वारा विहित हो वैसा ) मत करें और जिसका पाप लोगों को  
ज्ञात न हो वह गुप्त रूप से मन करे ॥ ३०० ॥

एवं सकलरहस्यमाधारणधर्ममभिधाय प्रकाशप्रापश्चित्तवद् मद्गहरापादिष्-  
मेनैव रहस्यमापश्चित्तान्याह—

त्रिरात्रोपोपितो जपया मल्लहा त्यघमर्षणम् ।

अन्तर्जले विद्युष्येत दंष्ट्रा गां च पयस्विनीम् ॥ ३०१ ॥

त्रिरात्रमुपोपितोऽन्तर्जलेऽघमर्षणेन मदर्विना इष्ट सूक्तं अघमर्षणं 'श्रुतं च  
सायं च' इति श्युचमानुष्टुभं भाववृत्तदेवताकं जपया त्रिरात्रान्ते पयस्विनीं गां  
दवा मल्लहा विद्युष्यति । जपश्चान्तर्जले निमग्नेन त्रिरात्रतर्नीयः । यथाह  
मुमन्तुः—'देवद्विजगुरुदन्वाप्तु निमग्नोऽघमर्षणं सूक्तं त्रिरात्रतर्षेत् । मातरं  
भगिनीं गावा मातृधरसारं स्तुपां सर्षीं वाऽन्यद्वाऽगम्यागमनं कृत्वाऽघमर्षणमे-  
पान्तर्जले त्रिरात्रयं तदेतस्नापूतो भवति' इति ।—एतच्छाकामकारविषयम् ।  
यत्तु मनुनोक्तम् ( ११।२४८ )—'सभ्याद्वृत्तिप्रणवकाः प्राणापामारतु योदत । अवि  
भ्रूणहणं मासाऽपुनःस्यहरदः कृताः ॥' इति,—तद्व्यस्मिन्नेव विषये गोदानाश-  
क्तस्य वेदितव्यम् । यत्तु गीतमेव पटत्रिशत्राप्रमतमुवरयोक्तं 'तव्मत एव मल्लह-  
रवासुरापातमुवर्णस्तेषु कृतवेषु प्राणापामैः स्नातोऽघमर्षणं जपेत्' ( २४।१० )  
इति,—तदकामतः सकृद्विषयम् । यत्तु वीधायनेनोक्तम्—'ग्रामाग्राधीं चोशीचीं  
द्विदमुपनिष्कस्य स्नातः शुधिः शुधिवासा उदकान्ते स्यण्डिलमुपलिप्य सकृत्कृष्ण-  
वासोः सकृत्पूतेन पाणिनाद्विषाभिगुण्डोऽघमर्षणं स्वाध्यायमधीयत । प्रातः दत्तं  
मध्याह्ने दत्तमपराह्णे दत्तं परिमितं चोदितेषु नक्षत्रेषु पशुतिपावकं प्राधीयात् ।  
ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सतरात्राप्रमुष्यते द्वादशरात्रान्मदापात-  
केभ्यो मल्लहरथासुरापातमुवर्णस्तेषामि वर्जयित्वा एकविंशतिरात्रेण ताम्यपि  
तरति' ( ३।६।४ ) इति—तच्छाकामकारविषयम्, अकामतः श्रोत्रियाचार्यसवन-  
स्थवधविषयं वा । यत्तु मनुनोक्तम् ( ११।२५८ )—'अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य  
प्रयतो वेदसहिताम् । मुष्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥' इति,—  
तच्छाकामतः श्रोत्रियादिवधविषयम्, इतरत्र कामतोऽभ्यासविषयं वा । वृहद्वि-  
ष्णुनोक्तम्—'मल्लहरवां कृत्वा ग्रामाग्राधीमुदीचीं वा द्विदमुपनिष्कस्य प्रभूते-  
न्धनेनाग्निं प्रज्वालयामर्षणेनाष्टसहस्रमाग्वाहुतीर्जुह्यात्तत एतस्नापूतो भवति'

१. विद्युष्येतु । २. गां दवा च पयः । ३. न्यद्वा गमनम् । ४. कामतो  
वध । ५. वासाः सकृत् ।

इति,—तस्मिन्गुणवधविषयमनुप्राहकविषय वा । यत्तु यमेनोक्तम्—‘स्यह तूपवसे-  
 शुक्लस्त्रिद्वोऽभ्युपयन्नप । मुच्यते पातकै सर्वेस्त्रिजपित्वाऽधमर्षणम् ॥’ इति,—  
 तद्गुणवतो ह-नुर्निर्गुणवधविषय प्रयोजकानुमन्वृविषय वा । यत्तु हारीतेनोक्तम्—  
 महापातकातिपातकोपपातकानामेकतममेव सनिपाते षाधमर्षणमेव त्रिजपेत्  
 इति,—तस्मिन्निमित्तकर्तृविषयम् । एवमन्या-यपि स्मृतिवाक्या-यन्विषयैवमेव विषयेषु  
 विभजनीयानि प्र-धगौरवभयात् लिख्यन्ते । एतदेव व्रतजात यागस्थयोपिच्छ-  
 त्रविट्स्वाश्रेयामाहिताग्निपत्नी गर्भिण्यामविज्ञाते च गर्भे व्यापादिते तुरीया  
 शन्यूनमनुष्ठेयम् ॥ ३०१ ॥

भाषा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला तीन दिन उपवास करके, जल  
 में खड़ा होकर अधमर्षण ऋषि के सूक्त ( ‘ऋत च सत्य च भादि ) का जप  
 करके एक दूध देने वाली गौ का दान करने पर शुद्ध होता है । ( यह  
 ब्रह्महत्या का रहस्य प्रायश्चित्त हुआ ) ॥ ३०१ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्य स्याद्धेत्यथवा दिवसं माकृताशन ।

जले स्थित्वाऽभिजुहुयाच्चत्वारिंशद्घृताहुती ॥ ३०२ ॥

अथवाऽहोरात्रमुपोषितो रात्राबुदके वास कृत्वा प्रातर्जलाहुतीयं लोमभ्य  
 स्वाहा’ इत्याद्यैरष्टभिर्मन्त्रैरेकैकन पञ्चपञ्चाहुतय इत्येव चत्वारिंशद्घृताहुतीर्जु  
 हुयात् ।—इदं च पूर्वोक्तसमानविषयम् , उदवासस्य क्लेशबाहुल्यात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—अथवा एक दिन रात उपवास करके, रात्रि भर जल में रहकर  
 प्रातः काल जल से निकल कर ‘लोमभ्यः स्वाहा’ आदि आठ मंत्रों से प्रत्येक  
 मंत्र के साथ पाँच पाँच आहुति देकर चालीस धार आहुति करे ॥ ३०२ ॥

कर्ममास सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा कृष्माण्डीभिर्घृतं शुचि ।

सुरापश्चत्वारिंशद्घृताहुतीरित्यनुवर्तते । त्रिरात्रमुपोषितः कृष्माण्डीभिः ‘यदेवा  
 देवहेलनम्’ इत्याद्याभिः कृष्माण्डीभिर्घृताभिर्भूमन्त्रलिङ्गदेवताभिर्भूमिभ्यश्चत्वारिं-  
 शद्घृताहुतीर्हुत्वा शुचिर्भवेत् । तथा बौधायनेनाप्युक्तम्—‘अथ कृष्माण्डी-  
 भिर्जुहुयाद्योऽपूत एवात्मानं मन्येत यावदवाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मा-  
 न्मुच्यते । अयोनी वा रेत सित्स्वाऽ-यत्र स्वप्नात् ।’ इति । यत्तु मनुना  
 ( १११४९ )—‘कौत्स’ जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्युचम् । माहित्रं शुद्धं

१ स्वाहेति द्वि वा । २ मास जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च ऋच प्रति ।  
 माहिष्यं शुद्धं ।

वश्यश्च सुरापोऽपि विशुद्धयति ॥' इति । मास प्रत्यहं पौनःपुन्योऽप्यत्र शो-  
 शुचदय प्रतिस्तोमेभिर्ह्यस वासिष्ठम् । महिशीणामवोशवेतोऽप्यन्वद्वैतवामेऽप्येते-  
 पामन्यतमस्य नप उक्त, स त्रिरात्रापवासकूप्माण्डहोमाशक्तस्य वेदितव्यम् ।  
 एतच्छाकामत पेष्टया सङ्कल्पाने, गौडीमाभ्योस्तु पानावृत्तौ च वेदितव्यम् ।  
 यश्च मनुना ( १११२५९ )—'मन्त्रैः शाकलहोमीपैरद्भ्य हुत्वा घृतं द्विव्र ।  
 स गुर्वप्यपहन्त्यनो जप्यवा वा नम इत्युच्यते ॥' इति । सवासरं प्रत्यहं 'देवकृ-  
 तस्यैतस' इत्यादिभिरष्टभिर्मन्त्रैर्होमो 'नम इत्युच्यते नम आविवास' इत्येतस्या  
 ऋचो वा जप उक्त, स कामकारविषयः । यस्तु महापातकसमुक्तोऽनुगच्छद्वा  
 समाहित । अल्पस्याब्द पावमानीर्षेणाहारो विशुद्धयति ॥' इति,—तदभ्यास  
 विषयम्, समुचितमहापातकविषय वा ।

सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

प्राह्मणस्वर्णहारी तु रुद्रजापी जले स्थित ॥ ३०३ ॥

प्राह्मण स्वर्णहारी पुनश्चिरात्रोपोषित जलमप्यस्थो नमस्त रुद्र मन्यव' इति शतरुद्रियजपयुक्तः शुद्ध्यति । शातातपेनात्र विशेष उक्त—'मद्य-  
 पात्वा गुरुदाराश्च गत्वा स्तेय कृत्वा मद्यहरणां च वृत्त्या । भस्माच्छुभो भस्म-  
 दास्यां शयानो रुद्राभ्यामी मुच्यते सर्वपापैः ॥' इति । जपक्षेकादशकृत्य कार्यम् ।  
 'एकादशगुणा-वापि रुद्रानावर्त्य धमवित् । महापापैररि सृष्टो मुच्यते नात्र  
 सशय ॥' इत्यस्मिन्नात् । यस्तु मनुना ( १११२५० )—'सकृजपत्वाऽ-  
 स्थवामोय शिवसकृत्पमेर च । सुवर्णमपहृर्यापि घणाद्भवति निर्मल ॥' इति  
 द्विपञ्चानादकसक्याकस्य अस्य वामस्य पलितस्य होतु' इति सूक्तस्य तथा  
 'यजामतो दूरमुदैति देवम्' इति शिवसकृत्पदस्य पदश्चस्य वा सकृजप  
 उक्त सोऽस्यन्तनिर्गुणस्वामिकस्वर्णहारी गुणवतोऽपहर्तुर्दृष्टव्यः । सुवर्ण-यून-  
 परिमाणविषयोऽनुग्रहादकप्रयोजकविषयो वा । आवृत्तौ तु 'महापातकसमुक्तोऽ-  
 नुगच्छेत्' इत्यादिनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ३०३ ॥

भाषा—सुरापान करने वाला तीन दिन रात उपवास करके कूप्माण्ड-  
 ऋषि क ( यद्देवा देवदेवनम् आदि ) मन्त्र से चालीस बार आहुति करने  
 पर शुद्ध होता है और ( प्राह्मण ) का स्वर्ण सुराने वाला जल में खड़ा होकर  
 रुद्र का ( 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' ) जप करने पर दोषमुक्त होता है ॥ ३०३ ॥

क्रममात्रं गुरुतत्प्रायश्चित्तमाह—

सहस्रशीर्षाजापी तु मुच्यते गुरुतल्पग ।

गौर्देया कर्मणोऽस्यान्ते पृथगेभि पयस्विनी ॥ ३०४ ॥



गुरुतद्वपगस्तु 'सहस्रशीर्षा' इति षोडशार्चसूक्तं नारायणदष्ट पुरुषदैवस्यमानु-  
 पुत्रं त्रिष्टुभन्त जपस्तस्मात्पावान्मुच्यते । सहस्रशीर्षाजानीति ताच्छ्रौतव्यप्रत्यया-  
 दावृत्तिर्गम्यते । अत एव यमेनोक्तम्—'पौरुष सूक्तमावर्त्यं मुच्यते सर्वं किं  
 विश्वात्' इति । आवृत्तौ च सख्यापेक्षायामधस्तनश्लोकगता चत्वारिंशत्सख्याऽ-  
 नुमीयते । अत्रापि प्राक्तनश्लोकगत 'त्रिरात्रोपोषित' इति सबध्यते । अत एव  
 वृहद्विष्णु —'त्रिरात्रोपोषित पुरुसूक्तजपहोमाभ्या गुरुतद्वपग शुद्धयेत्' इति ।  
 पृथग्गुरुरात्रोपोषितेन गुरुतद्वपगैस्त्रिभिः पृथक्पृथगस्य त्रिरात्रव्रतस्याग्रे  
 बहुशीरा गौर्देया ।—इदमकामविषयम् । यत्तु मनुना ( ११।२५१ )—'हवि-  
 प्पान्तीयमभ्यस्य नतमह इतीति च । जप्त्वा तु पौरुष सूक्त मुच्यते गुरुतद्वपग ॥'  
 इति । 'हविष्पान्तमजर स्वर्विद्', 'नतमहोनदुरित', 'इति वा इति मे मन',  
 'सहस्रशीर्षे'त्येषामन्यतमस्य मास प्रत्यह षोडशषोडशकुरो जप उक्त, सोऽप्य-  
 कामविषय एव । कामतस्तु 'मन्त्रै शकलहोमीये' इति मनुक्त द्रष्टव्यम् । यत्तु  
 पट्टत्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'महाभ्याहृतिभिर्होमसितलै कार्थो द्विज-मना । उपवा-  
 तकशुद्धयर्थं सहस्रपरिसखया ॥ महापातकसयुक्तो लक्षहोमेन शुद्धयति ॥' इति,—  
 तदावृत्तिविषयम् । यत्तु यमेनोक्तम्— जपेद्वाप्यस्यवामीय पावमानीरधापि वा ।  
 कुन्ताप बालखिद्यार्थं निविश्रैषा-वृषाकपिम् । होतृन्कुरा-सकृज्जप्त्वा मुच्यते  
 सर्वपातकै ॥' इति,—तद्व्यभिचारिणीगमनविषयम् । यानि पुन गुरुतद्वपातिदेश  
 विषयाणि तस्मान्नि याऽतिपातकोपपातकपदाभिधेया'नि, तेषु तुरीयांशन्वृत्तमर्धान  
 च क्रमेण वेदितव्यम् । पातकातिपातकोपपातकमहापातकानामेकतमे सनिपाते वा  
 अधमर्षणमेव त्रिजपेदिति हारीतोक्तं वा द्रष्टव्यम् । महापातकससर्गिणश्च 'स त  
 स्यैव घत कुर्वात्' इति वचनाद्यन सह ससर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तम् । न च वाच्यम्  
 अत्राप्यापनादिससर्गस्यानेककर्तृकसपाद्यत्वाद्दहस्यस्वानुपवृत्तिरिति । यत सत्यप्य-  
 नेककर्तृकत्वे परदारगमनवत् कर्तृव्यतिरिक्ततृतीयाद्यपरिज्ञानमात्रेणैव रहस्यत्वम् ।  
 अतो भवत्येव रहस्यप्रायश्चित्तम् । एवमतिपातकादिमसर्गिणोऽपि तदीयमेव  
 प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् ॥ ३०४ ॥

भाषा—गुरुवानी का भोग करने वाला 'सहस्रशीर्षा' आदि सोडह  
 श्चक्षाओं के सूक्त का जप करने से पापमुक्त होता है । इन सबको ( सुरापी,  
 सुवर्णहारी और गुरुतद्वपग को ) त्रिरात्रव्रत के अन्त में एक दूध देने वाली  
 गाय का दान करना चाहिये ॥ ३०४ ॥

इति महापातकरहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

क्रममास गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकप्रायश्चित्तमाह—

प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये ।

उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥ ३०५ ॥

गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकजातानामनादिष्टरहस्यव्रतानां च जाति-  
भ्रशकरादीनां सर्वेषामपनुत्तये प्राणायामानां शतं कार्यम् । तथा सर्वेषां  
महापातकादीनां प्रकीर्णकान्तानामप्यपनुत्तये प्राणायामा कार्याः । तत्र च महा-  
पातकेषु चतुःशतम्, अतिपातकेषु त्रिंशत्तम्, अनुपातकेषु द्विशतमिति सख्या-  
विवृद्धि कल्पनीया । प्रकाशप्रायश्चित्तेषु महापातकप्रायश्चित्ततुरीयांशस्योपपातकेषु  
विधानदर्शनात् प्रकीर्णकेषु च द्वादश कल्प्य । अत एवोक्तं यमेन—‘इत्तमणव-  
सयुक्तं प्राणायामैश्चतुःशतैः । मुच्यते ब्रह्महत्याया किंपुन शेषपातकैः ॥’ इति ।  
बौधायनेनाप्यत्र विशेष उक्त—‘अपि वाक्चक्षुश्चोत्रावक्वग्राणमनोऽप्यतिक्रमेषु  
त्रिभिः प्राणायामैः शुद्ध्यति । शुद्धस्त्रोगमनाश्रमोजनेषु पृथक्पृथक् सप्ताह सप्त-  
प्राणायामान्धारयेत् । अभयपाभोज्यामभयप्राप्तनेषु तथा चाऽप्यविक्रमेषु मधु-  
मांसपृततैललाजालवणरसाप्रयजितेषु यच्चा-न्यदप्येव युक्तं स्याद् द्वादशाह द्वादश  
द्वादश प्राणायामान्धारयेत् । अथ पातकोपपातकवर्ज्यं यच्चा-न्यदप्येव युक्तं  
स्याद्वर्धमास द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् उपपातकपतनीपवर्जं यच्चाप्य-  
न्यदेव युक्तं स्यात्-मास द्वादशार्धमासान् द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् ।  
अन्यपातकवर्ज्यं यच्चाप्य-न्यदप्येव युक्तं द्वादश अर्धमासान् द्वादश प्राणायामान्  
धारयेत् । अथ पातकेषु सबत्सर द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेदिति । तत्र  
वाक्चक्षुरित्यादिप्राणायामत्रय प्रकीर्णकाभिप्रायम् । ‘शुद्धस्त्रोगमनाश्रमोजने’त्यादि-  
नोक्ता एकोनपञ्चाशत्प्राणायामा उपपातकविशेषाभिप्रायाः । तथा ‘अभयपाभोज्ये’-  
त्यादिनोक्ताश्चतुश्चत्वारिंशत्तदधिकशतप्राणायामा अप्युपपातकविशेषाभिप्राया एव ।  
अथ ‘पातकोपपातकवर्ज्य’मित्यादिनोक्ता साशीतिशतप्राणायामा जातिभ्रशकरा-  
द्यभिप्रायाः । अथ ‘पातकवर्ज्य’मित्यादिनोक्ता षष्ट्यधिकशतत्रयप्राणायामा  
गोवधाद्युपपातकाभिप्रायाः । अथ ‘पातकवर्ज्य’मित्यादिनोक्ता षष्ट्यधिकद्विशत-  
सहितद्विपञ्चसहस्रपाका प्राणायामा, अतिपातकानुपपातकाभिप्रायाः । अथ  
पातकेष्विवादिनोक्ता विंशत्यधिकशतत्रययुक्ताश्चतुःसहस्रप्राणायामा महापातक-  
विषयाः । इदं चाभयभोज्येत्यादिनोक्तं प्रायश्चित्तपञ्चकमस्य-ताभ्यासविषय,  
समुच्चितविषय वा । यत्तु मनुना । ( ११२५२ )—‘एनसां स्थूलसूक्ष्माणां  
चिकार्षध्रपनोद्गम् । अवैत्यच जपेद्ब्रह्म यत्किञ्चेदमितीति वा ॥’ इत्ये-  
त्यावप्रत्यहमर्धांतराविरुद्धेषु कालेषु ‘अथतेहेज्योवहण’ इत्यस्या ऋचो ‘यत्कि-

चेदम्' इत्यस्या, 'इति वा इति मे मन' इत्यस्याश्च जप उक्तः सोऽप्यभ्यास-  
विषय ॥ ३०५ ॥

भाषा—तत्र उपपातकों की और अन्य सभी पापों की, जिनका विधान  
नहीं किया गया है, शुद्धि के लिये सौ बार प्राणायाम करना चाहिए ॥ ३०५ ॥

उपपातकसामान्यप्राप्तस्य प्राणायामघातस्यापवादमाह—

ओङ्काराभिप्लुतं सोमसलिल पावनं पिबेत् ।

कृत्वा द्वि' रेतोविण्मूत्रप्राशनं तु द्विजोत्तम ॥ ३०६ ॥

द्विजो रेतोविण्मूत्रप्राशनं कृत्वा सोमलठारसमोङ्कारेणाभिमन्त्रितं शुद्धि-  
साधनं पिबेत् ।—एतच्चाकामकारविषयम् । कामतस्तु सुमन्पूर्कम्—रेतो  
विण्मूत्रप्राशनं कृत्वा लशुनपलाण्डुगृजनकुम्भिकादीनामन्येषां चोभयथाणा भक्षणं  
कृत्वा हसप्रामकुक्कुटश्वसूगालादिमासभक्षणं च कृत्वा ततः कण्ठमात्रमुदकमवतीर्य  
शुद्धवतीभिः प्राणायामं कृत्वा महा-यादृतिभिरुगतमुदकं पीत्वा तदेतस्मात्पूतो  
भवतीति । मनुनापि सप्तविधामन्यभक्षणे प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम् ( १११२५३ )—  
'प्रतिगृह्याप्रतिप्राह्य भुक्त्वा चान्न विगर्हितम् । जपरस्तरस्तमन्दीयं पूषते मान-  
वस्यहात् ॥' इति । अभतिप्राह्य विपद्यस्त्रमुद्रादि पतितादिद्रव्यं च । यदा स्वप्नु  
रेतोविण्मूत्रादिशरीरं मलं विसृजति तदापि तेनैवोक्तम्—'क्षप्रघातं तु  
कृत्वाऽप्यु मासमासीत् भैक्ष्यभुक्' ( १११२५५ ) इति ॥ ३०६ ॥

भाषा—वीर्य, विद्या या मूत्र ( मूत्र से ) मुख में डालने पर द्विज ओङ्कार  
मन्त्र से अभिमन्त्रित सोमलता का पवित्र रस पीए ॥ ३०६ ॥

अज्ञानकृते प्रकीर्णके मानसे चोपपातके प्रायश्चित्तमाह—

निशाया वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत् ।

त्रैकाल्यसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥ ३०७ ॥

रज-यां वासरे वा यत्प्रमादादिकृतं प्रकीर्णकं मानसं वाचिकं चोपपातकं  
तत्सर्वं प्रातर्मध्याह्नादिकालत्रयविहितनित्यसन्ध्यापासनया प्रणश्यति । तथा च  
यमः—'यदङ्गाङ्कुरते पापं कर्मणा मनसा गिरा । भासीनं पश्चिमां संध्यां  
प्राणायामैर्निहन्ति तत् ॥' इति । शास्तातपेनाप्युक्तम्—'अनृतं मघघ्नं च  
दिवा मैथुनमेव च । पुनाति वृषलाक्षं च संध्यां बहिरुपासिता ॥' इति ॥ ३०७ ॥

भाषा—रात्रि या दिन में जो जुद्ध भी पापकर्म अज्ञानवश हुआ रहता  
है वह तीनों काल की सन्ध्या करने से नष्ट हो जाता है ॥ ३०७ ॥

अथ सकलमहापातकादिसाधारणान्पवित्रमन्त्रानाह—

शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च विशेषतः ।

सर्वपापहरा छेते रुद्रैकादशिनी तथा ॥ ३०८ ॥

शुक्रिय नाम आरण्यकविशेष 'विश्वानि देव सवित' इत्यादिवाजसनेयके पठ्यते, आरण्यक च यजु ऋच वाच प्रपद्ये मनो यजु प्रपद्य' इत्यादि तत्रैव पठ्यते, तयोर्जपः सकलमहापातकादिहर । तथा गायत्र्याश्च महापातकेषु लघुमतिपातकोपपातकयादृशसहस्रमुपपातकेषु सहस्र प्रकारणकेषु शतमित्येव विशेषतो जप सर्वपापहर । तथा च गायत्रोमधिकृत्य श्लोक शङ्केनोक्त — 'शत जप्ता तु सौवित्री महापातकनाशिनी । महस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्य प्रमोचिनी ॥ दशसाहस्रजप्येन सर्वैकिक्रियपनाशिनी । लघु जप्ता तु सा देवी महापातकनाशिनी ॥ सुवर्णस्तेपकृद्धिमो ब्रह्महा गुरुतद्वपग । सुरापश्च विष्टुद्वपन्ति लघु जपत्वा न सशय ॥' इति । यत्तु चतुर्विंशतिमते उक्तम्— 'गायत्र्यास्तु जपेःकोटिं ब्रह्महत्या व्यपोहति । लघ्वाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लघुतसति । गायत्र्या लघुपष्टपा तु मुच्यते गुरुतद्वपग ॥' इति,—तद्गुरुत्वात्प्रकाशविषयम् । तथा रुद्रैकादशिनी एकादशानां रुद्रानुवाकानां समाहारो रुद्रैकादशिनी । सा च विशेषतो जप्ता सर्वपापहरा । 'एकादशगुणान्वापि रुद्रानावर्यं चमयित् । महद्भयं स तु पापेभ्यो मुच्यते नात्र सशयः ॥' इति महापातकेष्वेकादशगुणानुतिदर्शनात् अतिपातकादिषु चतुर्थं चतुर्थांशहासो योजनीय । 'च'शब्दोऽधमर्पणादिसमुच्चयार्थः । यथाइ वसिष्ठ — 'सर्वदेवविघ्नानि वक्ष्याम्यहमत परम् । यथा जपैश्च होमैश्च पूज्यन्ते नात्र सशयः ॥ अधमर्पणं देवकृतं शुद्धवत्यस्तरत्समा । कूर्मराज्यं पावमान्यश्च दुर्गा सावित्र्यधैव च ॥ अभिपङ्गा पद्मतोमा सामानि श्वाद्धृतीस्तथा । भारवृद्धानि सामानि गायत्र्यैवैव तथा ॥ पुरुषव्रतं च भासं च तथा देवमतानि च । आरिषिग्यार्हस्यश्च वावसूक्तं मध्वृषस्तथा ॥ शतरुद्रियाथर्वनिरादिषुपर्णं महाप्रतम् । गोसूक्तं चाशसूक्तं च इन्द्रशुद्धे च सामनी ॥ श्रेण्याऽवदोहानि रथन्तरं च धत्तेर्धतं वामदेभ्य वृहच्च । एतानि गीतानि पुनन्ति जन्तुञ्जातिस्मरन्व लभते यदीच्छेत् ॥' इति ॥ ३०८ ॥

भाषा—शुक्रिय नाम क आरण्यक का, गायत्री का विशेष ( महापातक में एक लाख, उपपातक में दस हजार ) जप तथा रुद्रैकादशिनी ( रुद्रों के ग्यारह अनुवाकों ) का जप—ये सभी पापों को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ३०८ ॥

१ पते । २ सा देवी । ३ कर्मपनाशिनी । ४. सर्वदेवविघ्नानि ।

यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते द्विज ।

तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्या वाचनं तथा ॥ ३०९ ॥

किंच, यत्र यत्र च ब्रह्मवधादी तज्जनितैकैरुपजातेनात्मानं संकीर्णमभिभूत द्विजो मन्यते तत्र तत्र गायत्र्या तिलैर्होमं कार्यं । तत्र महापातकेषु लक्ष्यस्य यथा होमं कार्यं । गायत्र्या लक्षहोमेन मुच्यते सर्वपातकैः इति यमस्मरणात् । अतिपातकादिषु पादपादहासं कल्पनीयं । तथा तिलैर्वाचनं दानं कार्यम् । तथा च रहस्याधिकारे वसिष्ठ - 'वैशाख्यां पौर्णमास्यां तु ब्राह्मणा-संस पञ्च वा । क्षौद्रयुक्तैस्तिष्ठैः कृष्णैर्वाचयेदधवेतरैः ॥ प्रीयतां धर्मराजेति यद्वा मनसि वर्तते । यादञ्जीवकृतं पापं तच्छणादेव नश्यति ॥' इति । तथा अनियतकालादि दानं तेनैवोक्तम्— कृष्णाग्निने तिलान्कृत्वा हिरण्यं मधुसर्पिषी । ददाति यस्तु विप्राय सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥' इति । तथा श्यासेनाप्युक्तम्— 'तिलधेनु च यो दद्यात्स यतात्मा द्विज-मने । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते तत्र सप्तय ॥' इति । एवमादि दानजानं रहस्यकाण्डोक्तमविदुषां द्विजातीनां श्लोशूद्रयोश्च वेदितव्यम् । यत्तु यमेनोक्तम्— तिलान्ददाति यः प्रातस्तिष्ठान्स्पृशति स्वादति । तिलस्नायी तिलान्बुद्धं सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥' तथा— इच्छाष्टम्यौ तु मासस्य चतुर्विंशथी तथैव च । अमावास्या पौर्णमासी सप्तमी द्वादशीद्वयम् ॥ सवस्तरममुज्जान सततं विजितेन्द्रियं । मुच्यते पातकैः सर्वैः स्वर्गलोकं च गच्छति ॥' इति । यश्चाग्निणोक्तम्— 'क्षीरा-धौ शेषपर्यञ्चे त्वापादया सविशेद्धरि । निर्द्रां त्यजति कार्तिक्या तयोः सपूजयेद्धरिम् ॥ ब्रह्महत्यादिकं पापं चिप्रमेव व्यपोहति ॥' इत्येवमादि तत्सर्वं विद्याविरहिणा कामाकामसकृदसकृदभ्यासविषयतया भव्यं स्थापनीयम् ॥ ३०९ ॥

भाषा—जहाँ जहाँ द्विज ( ब्रह्महत्यादि ) कर्मों के पाप से अपने को युक्त समझे वहाँ वहाँ गायत्री का जप करते हुए तिल का होम करे ॥ ३०९ ॥

वेदाभ्यासरतं क्षान्तं पञ्चयज्ञकियापरम् ।

न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ॥ ३१० ॥

किंच, वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः । तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥' इत्युक्तक्रमेण वेदाभ्यासनिरतं तित्तिद्यायुक्तं पञ्च महायज्ञानुष्ठाननिरतं महापातकजान्यपि पापानि न स्पृशन्ति । किमुत प्रकीर्णकजानि वाङ्मनसज-योपपातकानि येषु तत्पर्यमपि न द्वादशलक्ष्यते ।—एत-

१ गायत्र्यावर्तनं । २ दोषजातेन । ३ गायत्र्या लक्षहोमं । ४ पञ्चसप्त च । ५ किविषय ।

पचाकामकारविषयम् । अत एव वसिष्ठेन—‘यद्यकार्यगतं सामं कृतं वेदश्च धार्यते । सर्वं तत्तस्य वेदान्निर्दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥’ इति प्रकीर्णकाद्यभिप्रायेणाभिधायामिहितम्—‘न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत् । अज्ञानाश्च प्रमादाच्च दह्यते कर्म नेतरत् ॥’ इति ॥ ३१० ॥

भाषा—वेदाभ्यास में रत रहने वाले और पंचयज्ञ क्रिया में तत्पर व्यक्ति को महापातकसे उत्पन्न पाप नहीं छूते हैं ॥ ३१० ॥

वायुमक्षो दिवा तिष्ठन् रात्रिं नीत्वाऽप्सु सूर्यदृक् ।

जप्त्वा सहस्रं गायत्र्याः शुद्धयेद् ब्रह्मवधादृते ॥ ३११ ॥

किंच, सोपवासो वातरमुपविशन् उपस्था सलिले वसन्निशां नीत्वादिस्थो-  
दयानन्तरं सावित्र्याः सहस्रं जप्त्वा ब्रह्मवधव्यतिरिक्तसकलमहापातकादिपाप-  
जातान्मुच्यते । अतश्चोपपातकादिष्वभ्यासेऽनेकदोषसमुच्चये वा वेदितव्यम् ;  
विषमविषयसमीकरणस्यान्यादयस्वात् । अत एव वृद्धवसिष्ठेन महापातको-  
पपातकयोः कालविशेषेण व्रतविशेष उक्तः । यथाह—‘यवानां प्रसृतिमञ्जलिं  
वा श्रप्यमाणं शृतं चाभिमन्त्रयेत् । यवोऽसि धान्यराजस्व वारुणो मधुसंयुतः ।  
निर्गोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतः ॥’ इत्यनेन । ‘धृतं यवा मधुयवाः  
पवित्रममृतं यवाः । सर्वं पुनन्तु मे पापं वाद्मनःकायसंभवम् ॥’ इत्यनेन वा ।  
‘अग्निं कर्षं तु कुर्वति तेन भूतबलिं तपा । नाग्रं न भिद्यं नातिर्ष्यं न चोच्छिष्टं  
परित्यजेत् ॥’ ‘ये देवा मनोजाता मनोयुजाः सुदृषा दृषपितरस्ते नः पान्तु ते  
नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा’ इत्यामनि जुहुयात्त्रिरात्रं मेधाभिष्टुदये  
पापक्षयाय त्रिरात्रं ब्रह्महत्यादिषु द्वादशरात्रं पतितोत्पन्नश्चेत्तद्विगवलम्बने-  
नान्यान्यपि स्मृतिवचनानि विवेचनीयानि ॥ ३११ ॥

भाषा—दिन में उपवास करके रात्रि भर जल में रहकर सूर्योदय के  
हो जाने पर एक सहस्र बार गायत्री का जप करने पर ब्रह्महत्या के अतिरिक्त  
अन्य सभी महापातकों से शुद्धि हो जाती है ॥ ३११ ॥

इति रहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

विनियुक्तव्रतव्रातरूपभेदे युभुरिसते ।

कीदृशमिति संशेषादृष्टवणं वक्ष्यतेऽधुना ॥

तत्र तावत्सकलप्रकाशरहस्यव्रताङ्गभूतान्धमानाह—

ब्रह्मचर्यं व्या क्षान्तिर्दानं सत्यमकरकता ।

अहिंसा स्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ ३१२ ॥

स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाभ्यायोपस्यनिग्रहाः ।

नियमा गुरुशुधूपा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥ ३१३ ॥

ब्रह्मचर्यं सकलेन्द्रियसयम, उपस्यनिग्रहो लिङ्गनिग्रहः शोचलीवर्द्धन्यायेन निर्दिष्ट, अक्वकता अकुटिलता । शेष प्रसिद्धम् । यस्पुनर्मनुनोक्तम्—'अहिंसा सत्यमक्रोधमाजैव च समाचरेत्' इति,—तदप्येतेषामुपलक्षण न परिगणनाय । अत्र च दयादानपादीनां पुरुषार्थतया प्राप्तानामपि पुनर्विधानं प्रायश्चित्ताङ्गवार्थम् । क्वचिद्विशेषोऽप्यस्ति । यथा विवाहादिष्वभ्यनुज्ञातस्याप्यनृतवचनस्य निवृत्त्यर्थं सत्यव्यविधानम् । पुत्रशिक्ष्यादिकमपि न तादनीयमित्येवमर्थमहिंसा-विधानमित्येवमादि ॥ ३१२-३१३ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्यं ( सभी इन्द्रियों का सयम ), दया, दान, सत्य भाषण, सरलता, अहिंसा, चोरी न करना, माधुर्यं ( मधुर वचन बोलना ) और दम ( ज्ञानेन्द्रियों का दमन )—ये धम कहे गये हैं ॥

स्नान, मौन रहना, उपवास, देवपूजन, स्वाभ्यास, लिङ्ग का निग्रह ( कामुकता का त्याग ), गुरु की सेवा, पवित्रता, अक्रोध और प्रमाद का त्याग—ये सभी नियम कहलाते हैं ॥ ३१२-३१३ ॥

तत्र सान्तपनाख्य ब्रह्म तावदाह—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिं कुशोदकम् ।

जग्ध्या परेऽह्युपवसेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरन् ॥ ३१४ ॥

पूर्वेष्टुराहारांतरपरित्यागेन गोमूत्रादीनि पञ्चगव्यानि पञ्चद्रव्याणि कुशो-दकसहितानि सयुज्य पीत्वा अपरेष्टुरुपवसेदिति द्वैरात्रिकं सान्तपनं कृच्छ्रः । सयोजनं चोत्तरश्चाकं पृथग्विधानादवगम्यते । 'कृच्छ्र' इति चान्वर्थसंज्ञेयम् ; तथोरुपवसेन बलेनसाभ्यस्वात् । गोमूत्रादीनां परिमाणं चक्ष्यते । पदा पुन पूर्व-ष्टुरुपवसेऽपरेष्टु समन्त्रकं सयुज्यं समन्त्रकमेव पञ्चगव्यं पीयते तदा ब्रह्मकूर्चं इत्याख्यायते । यथाह पराशर—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिं कुशोदकम् । निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु अत्रेकं कायशोधनम् ॥ गोमूत्रं ताग्रवर्णायां श्वेतायाश्चापि गोमयम् । पयः काञ्चनवर्णायां नीलायारथ तथा दधि ॥ घृतं च कृष्णवर्णायाः सर्वं कापिलमेव च । अलाभे सर्ववर्णानां पञ्चगव्येऽवयव विधिः ॥ गोमूत्रं मापकास्त्वष्टौ गोमयस्य तु षोडशः । क्षीरस्य द्वावन्न प्रोक्ता इत्यस्तु दश कीर्तिता ॥ गोमूत्रवद्वृत्तस्याष्टौ तदर्धं तु कुशोदकम् । गायत्र्यादाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् । आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिकाम्येति चैव दधि ॥ तेजोऽ

१. परम् । २ द्वैरात्र । ३ सांतपन । ४ पवित्र कायशोधनमिति ।

सिष्टुऋमिर्याज्य देवस्य त्वा कुशोदकम् । पञ्चगव्यमृचा पूत होमयेदग्निस्निधी ॥  
 सप्तपत्राश्च ये दर्भा अंशुधामा शुचिस्त्रिप । एतैरुद्धृत्य होतव्य पञ्चगव्य  
 यथाविधि ॥ इगवती इद्विष्णुर्मानस्तोके च दावती । एताभिश्चैव होतव्य  
 हुतशेष विवेद् द्विज ॥ प्रणवेन समाबोध्य प्रणवनाभिर्मन्त्र्य च । प्रणवन  
 समुद्धृत्य विवेत्प्रणवेन तु ॥ मध्यमेन पलाशस्य पञ्चपत्रेण वा विवेत् ।  
 स्वर्णपात्रेण शीघ्रेण प्राद्वर्तयेन वा पुन ॥ यत्स्वगस्थित पाप दहे तिष्ठति  
 मानवे । महकूर्वापिवासस्तु वहस्यग्निर्विषेधनम् ॥' इति । यदा स्वेतदेव मिश्रित  
 पञ्चगव्य त्रिसात्रमभ्यस्यते तदा चतिसान्तपनसज्ञौ लभते—'एतदेव षडहाभ्यस्त  
 यतिसान्तपन स्मृतम्' इति शङ्करमरणात् ॥ जाबालेन तु सप्ताहसाध्य सान्तप  
 नमुक्तम्—'गोमूत्र गोमय घीर दधि सर्पि कुशोदकम् । एकैक प्रत्यह पीत्वा  
 स्वहोरात्रमभोजनम् । कृच्छ्र सान्तपन नाम सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । एषो च  
 गुरुलघुकृच्छ्राणा दक्षस्याद्यपेक्षया व्यवस्था विज्ञेया । एवमुत्तरत्रापि व्यवस्था  
 बोद्धव्या ॥ ३१४ ॥

भाषा—एक दिन गाप का मूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशा का  
 जल पीकर दूसरे दिन उपवास करने पर दो दिन का सान्तपन कृच्छ्रप्रप्त  
 होता है ॥ ३१४ ॥

महासान्तपनाख्य कृच्छ्रमाह—

पृथक्सान्तपनद्रव्यै षडह-सोपवासकः ।

सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपन स्मृतः ॥ ३१५ ॥

सप्ताहेनापवर्जितो महासान्तपनाख्य कृच्छ्रो विज्ञेय । कथमित्यपेक्षायामुक्त  
 पृथग्भूते षड्भिर्भाग्मूत्रादिभिरेकैकैकैकमहरतिवाहयेत् सप्तम सोपवासनेति ।  
 यमेन तु षड्दशाहसपाद्यो महासान्तपनाऽभिहित—'षडह विवेत्तु गोमूत्र  
 ष्यह वै गोमय विवेत् । ष्यह दधि ष्यह घीर सर्पिस्तत शुधि ॥ महासान्तपन  
 होतस्सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । जाबालेन लोकविशतिरात्रिनिर्वार्यो महा  
 सान्तपन उक्त—'पणामेकैकमेतेषां त्रिसात्रमुपयोजयत् । ष्यह सोपवसेदस्य  
 महासान्तपन विदु ॥' इति । यदा तु पणो सान्तपनद्रव्याणामेकैकस्य द्व्यह-  
 मुपयोगस्तदा अतिसान्तपनम् । यथाह यम—'एताप्येव तथा येरान्यकैक  
 तु ष्यह द्व्यहम् । अतिसान्तपन नाम शपाकमपि शोधयत् ॥' इति ।  
 'शपाकमपि शोधयेत्' ह्यदर्शनात् ॥ ३१५ ॥



भाषा—साप्तान के ( गोमूत्र भादि छ ) द्रव्यों से पृथक् पृथक् ( अर्थात् एक एक दिन एक एक को पीकर ) छ दिन बिताकर एक दिन उपवास करने पर एक सप्ताह का महासाप्तपन कृच्छ्र व्रत बताया गया है ॥ ३१५ ॥

इति महासाप्तपनातिसानपने ।

पर्णकृच्छ्राख्य व्रतमाह—

पर्णोदुम्बरराजोवबिल्वपत्रकुशोदकै ।

प्रत्येक प्रत्यहं पीते पर्णकृच्छ्र उदाहृत ॥ ३१६ ॥

पलाशोदुम्बरारविन्दश्रीवृक्षपर्णानामेकैकेन कथितमुदक प्रत्यहं पिबेत् । कुशोदकं चैकस्मिन्नहनाति पञ्चाहसाध्यं पर्णकृच्छ्रं । यदा तु पर्णादीनामेकी कृतानां कायस्त्रिरात्रान्ते पीयते तदा पर्णकृच्छ्रं । यथाह यम — एतान्येव समस्तानि त्रिरात्रोपीयते शुचि । काययित्वा पिबेदन्नि पर्णकृच्छ्रोऽभिधीयते ॥' इति । यदा तु विद्वादिफलानि प्रत्येकं कथितानि मासं पीयन्ते तदा फलकृच्छ्रादिव्यपदेशं लभन्ते । यथाह मार्कण्डेय — 'फलैर्मासेन कथितः फलकृच्छ्रो मनीषिभिः । श्रीकृच्छ्रं श्रीफले प्रोक्तं पद्मं चैरपरस्तथा ॥ मासेनामलकैरेव श्रीकृच्छ्रमपरं स्मृतम् । पत्रैर्मतं पत्रकृच्छ्रं पुष्पैस्ताकृच्छ्रं उच्यते ॥ मूलकृच्छ्रं स्मृतो मूलस्तोपकृच्छ्रो जलेन तु ॥' इति ॥ ३१६ ॥

भाषा—पलाश उदुम्बर ( गूलर ) कमल, बिल्वपत्र में से एक एक को एक एक दिन पानी में उबालकर वही जल पीवे और फिर एक दिन ( पांचवे दिन ) कुशा का जल पीव तो पर्णकृच्छ्र व्रत कहलाता है ॥ ३१६ ॥

इति पर्णकृच्छ्रपकादशविधः ।

तप्तकृच्छ्रमाह—

तप्तक्षीरघृताभ्यूनामेकैकं प्रत्यहं पिबेत् ।

पकरात्रोपवासश्च तप्तकृच्छ्र उदाहृत ॥ ३१७ ॥

दुग्धसपिण्डकानां तप्तानामेकैकं प्रतिदिवसं प्रारयापरेष्टुसुपवसेत् । एव दिवसचतुष्टयसपाद्यो महातप्तकृच्छ्रं । एभिरेव समस्तैः सोपवासैर्द्विरात्रसपाद्यं सप्तपनवत्तप्तकृच्छ्रं । मनुना तु द्वादशरात्रनिर्वर्षोऽभिहितं ( ११।२१४ )— तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् । प्रतिभ्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्सानीं समाहितं ॥' इति । श्रीरादिपरिमाणं तु पराशरेणोक्तं द्रष्टव्यम् ।— अर्थात् पिबेत्

त्रिपल द्विपल तु पय विवेत् । पलमेक विवेसर्विस्त्रिरात्र बोष्णमाहृतम् ॥  
इति । त्रिरात्रमाहृतस्य पूरणे उष्णोदकवाप्य विवेदित्यर्थः । यदा तु शीत  
शीरादि पीयत तदा शीतकृच्छ्रः, 'स्यह शीत विवेत्तोय स्यह शीत पय विवेत् ।  
स्यह शीत घृत पीत्वा वायुमच्च पर स्यहम् ॥' इति यमस्मरणात् ॥ ३१७ ॥

भाषा— दूध, घी और जल में से प्रत्येक को गर्म करके एक एक दिन  
पीकर और फिर एक दिन रात ( चौथे दिन ) उपवास रखने पर तप्तकृच्छ्र  
व्रत होता है ॥ ३१७ ॥

इति तप्तकृच्छ्रव्रतविधिः ।

पादकृच्छ्रमाह—

एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ।

उपवासेन चैवाय पादकृच्छ्रं प्रकीर्तित ॥ ३१८ ॥

एकभक्तेन सृज्जो जनेन द्विवैव, नक्तेनेति पृथगुपादानात् । अतश्च द्विवैक  
वारमव भोजनेनैवैकमहोरात्रमतिवाहयदिति । तत्र दिवति रात्रिभ्युदास । एक-  
वारमिति द्विवारादिभ्युदास । भोजनेनेत्यभोजनभ्युदास । एतच्च कृच्छ्रादीनां व्रत  
रूपत्वात् पुरुषार्थभोजनपदं दासेन कृच्छ्राद्भूत भोजन विधीयते । तथा चापरत  
म्ब — स्यहमनक्तारयदिवाशी च ततस्यह । स्यहमयाचितव्रतस्य यह नारनाति  
किंचन' इति । अत्र च अनक्तानां' इत्यनेन व्रतविहितं निमित्तं पयेन नक्तव्युं  
दासेन दिवाभोजननिषेधं दर्शयति । गौतमनापीदमेव स्पष्टाकृतम्— इद्विष्या-प्रात  
राद्या-भुक्त्वा तिस्रो रात्रौ नारनीयात्' इति । एवं नक्तभोजनविधावपि । न विद्यते  
याचितं यस्मिन्-भोजने तदयाचितम् । तत्र कालविशेषानुपादानाद्दिवा रात्रौ वा  
सकृदित्येव, तपोरूप वासकृत्प्राणा द्वितीयभोजने तदनुपपत्तेः । अयाचितमिति  
न केवलं परकीयाञ्जयाचनप्रतिषेधोऽपि तु स्वकीयमपि परिचारकभार्यादिभ्यो न  
याचितंभ्यम् । प्रेषणाभ्येपणयो साधारणवाया-न्नाया । अत स्वगृहोऽपि भृत्य  
भार्यादयोऽनाज्ञा एव यदि भोजनमुपहरन्ति तर्हि भोक्तव्यं, ना यथा । अमुने  
वाग्निप्रार्थेणोक्तं गौतमेन—'अथापर स्यह न क्वचन याचेत' इति । अत्र च  
प्राससह्यानिषेधं वराशरेण दर्शितं — साय तु द्वावन्नप्रासा प्रातः पञ्चदश  
स्मृता । चतुर्विंशतिराया-न्वा पर निरशनं स्मृतम् ॥ इति । आपस्तम्बेन  
त्व यथोक्तम्— साय द्वाविंशतिप्रासा प्रातः पञ्चदशति स्मृता । चतुर्विंशति-  
राया-न्वा पर निरशनाख्य । कुक्कुटाण्डप्रमाणास्तु यथा वास्य विशेषस्तु ॥'  
इति ॥ अनयोश्च कल्पयो शक्यपेक्षया विकल्पः । आपस्तम्बेन तु प्राजापत्य

प्रायश्चित्त चतुर्धा विभज्य चतुर पादकृच्छ्राङ्कवा वर्णानुरूपेण व्यवस्था दर्शिता— अथह निरसन पाद पादध्यावाचित उपहम् । साय उपह तथा पाद् पाद प्रातस्तथा उपहम् ॥ प्रात पाद चरेच्छूद्र साय वैरपे तु वापयेत् । अयाचित तु राज-ये त्रिरात्र ग्राहणे स्मृतम् ॥' इति । यदा स्वयाचितोपवासात्मक-अथहद्वयानुष्ठान तदाऽर्धकृच्छ्र । सायव्यतिरिक्तापर-अथहप्रयानुष्ठान तु पादोनमिति विज्ञेयम् । 'सायप्रातर्विनार्थं स्यात्पादोन नक्तवर्जितम्' इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ अर्धकृच्छ्रस्य प्रकारान्तरमपि तेनैव दर्शितम्—'साय प्रातस्तथैकैक दिनद्वयमयाचितम् । दिनद्वय च नारनीयाःकृच्छ्रार्धं तद्विधीयता ॥' इति ॥ ३१८ ॥

भाषा—एक दिन दिन में केवल एक बार और दूसरे दिन केवल रात्रि को एक बार भोजन करे तीसरे दिन बिना मागे ही मिठा हुआ भोजन करे और चौथे दिन उपवास करे तो पादकृच्छ्र बन होता है ॥ ३१८ ॥

प्राजापत्य कृच्छ्रभाह—

यथाकथंचित्त्रिगुण प्राजापत्योऽयमुच्यते ।

अयमेव पादकृच्छ्र यथाकथंचिदण्डकलितवदावृष्या स्वस्थानविवृद्धया वा, सत्राप्यानुलोभ्येन प्रातिलोभ्येन वा तथा वषपमागजपादियुक्त तद्गदित वा त्रिर अथस्त प्राजापत्योऽभिधीयते । सत्र षण्डकलितवदावृत्तिवचो वसिष्ठेन प्रदर्शित—'अह प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम् । अह, पराक तत्रैकमेव चतु रहौ परौ ॥ अनुग्रहार्थं विप्राणां मनुर्धर्मभृतां वरः । बालवृद्धातुरैवेव निश्चकृच्छ्र-सुवाच ह ॥' इति । आनुलोभ्येन स्वस्थानविवृद्धिपक्षस्तु मनुना दर्शित (१११-२११)—'अह प्रातश्च उपह साय उपहमद्यादयाचितम् । पर उपह च नारनीया-प्राजापत्य चरिन्द्रज ॥'इति प्रातिलोभ्यावृत्तिस्तु वसिष्ठेन दर्शिता—'प्रातिलोभ्य चरेद्विप्र कृच्छ्र ध्या-द्रायणोत्तरम्' इति । जपादिरहितपक्षस्तु श्रीशूद्रादिनिषये ऽङ्गिरसा दर्शित—'तस्माच्छूद्र समासात् सदा धर्मपथे स्थितम् । प्रायश्चित्त प्रदातव्य जपहोमादिवर्जितम् ॥' इति । जपादियुक्तपक्षस्तु पारितोष्याद्योग्यतया च ग्रैवर्जिकविषयः स च गौतमादिभिर्दर्शित—'अथातः कृच्छ्राभ्यासपारवामो हविष्या-प्रातराशा-भुक्त्वा तिष्ठा रात्रीर्नाशनीयादथापर उपह नक्त भुञ्ज ताथापर उपह न कचन याचेताथापर उपहमुपवसस्तिष्ठेद्दहनि रात्रायासीत् क्षिप्रकाम सत्य यदेद्वानर्थं सह न भावेत् रौरवयोर्धा जपे नित्य प्रयुञ्जीतानुसवनमुद्धकोपस्पर्शन-मापोद्विष्टेति तिस्रभि पवित्रवतोभिर्माज्येयौत द्विरप्यवर्णा शुचयः पावका ह्यपष्टा-भिरधोदकतर्पणम् । 'नमोहमाय मोहमाय महमाय ध-वने तापसाय पुनर्वसवे नम मीष्ययाय भीष्पाय वसुविन्दाय सर्वविदाय नम । पाराय सुपाराय महापाराय पारदाय परपाराय पारविज्ये नमः । रुद्राय पशुपतये महत इवाय अशकः'

यैकचरायाधिपतये हराय शर्मायेशानायोग्याय वज्रिणे घृणिने कपर्दिने नमः सूर्या-  
यादिस्याय नमः । नीलम्रीचाय शितिकण्ठाय नमः । कृष्णाय पिङ्गलाय नमः ।  
ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायोर्ध्वरेतसे नमः । सत्याय पावकाय पावक-  
वर्णायैकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः । दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः । तीक्ष्णाय  
तीक्ष्णरूपिणे नमः । सौम्याय सुपुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषाय उत्तमपुरुषाय  
ब्रह्मचारिणे नमः । चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नमः इति । एतदेवादिस्थोप-  
स्थानमेता एवाऽप्याहुतयो द्वादशरात्रस्यान्ते चरुं भ्रपयित्वा एताभ्यो देवताभ्यो  
जुहुयाद् 'अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाग्नीषोमाभ्यामिन्द्राग्निभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो  
देवभ्यो ब्रह्मणे प्रजापतयेऽग्नये श्विष्टकृते' इति अन्ते ब्राह्मणभोजनम् इति ।  
तत्र तिष्ठेद्दहनि रात्रावासीत् चिप्रकाम इत्यस्यार्थः—यस्तु महतोऽप्येनसः  
चिप्रमेकैनेन कृच्छ्रेण चिप्रं मुच्येयमित्येवं 'कामयते असावहनि कर्माविरुद्धेषु  
कालेषु तिष्ठेद्रात्रावासीत् । एवं रौरवयोधाययसामजपो नमोहमायेत्यादिभिस्त-  
र्पणमादिस्थोपस्थानादिकं चरुभ्रपणादिकं च योगीश्वराद्यनुक्त चिप्रकामः कुर्वति ।  
अतश्च योगीश्वराद्युक्तप्राजापत्यद्वयस्थाने गौतमीयमनेकेतिकर्तव्यतासहितं द्रष्ट-  
व्यम् । एवमन्यान्यपि स्मृत्यन्तरोक्तानि विशेषेणान्येषणीयानि ॥

अतिकृच्छ्रमाह—

अयमेधातिकृच्छ्रः स्यात्पाणिपूराभ्रभोजनः ॥ ३१९ ॥

एतद्धर्मक एव एकभक्तादिप्राजापत्यधर्मयुक्तोऽतिकृच्छ्रः स्यात् । इयांस्तु  
विशेषः—आद्ये अह्नये पाणिपूरणभात्रमन्नं मुञ्जितं न पुनर्द्वाविंशत्यादिमा-  
सान् । अत्र च प्राप्तभोजनानुवादेन पाणिपूरात्रविधानादन्वयस्वहेऽतिद्वेषमास  
उपरातोऽप्रतिपद्य एव । अत्रापि पादतो व्यवस्था पूर्ववदेव द्रष्टव्या । यत्तु  
मनुनोक्तम् । ( ११।२।३ )—'एकैकं प्राप्तमरनीयाऽप्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।  
एवं सोपवमेदन्वयमनिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥' इति,—तापाणिपूराभ्रपरिमिताद्वर-  
त्वात्तद्वर्कं विषयम् ॥ ३१९ ॥

भाषा—इसी पादकृच्छ्र मत का जिस किमी प्रकार तिगुना करके मत  
करने पर पात्रावस्थ कृच्छ्र कहा जाता है और यदि तीन दिनों में केवल एक  
हाथ में आने भर भोजन करके बिताके तो उपरोक्त मत ही अतिकृच्छ्र मत  
होता है ॥ ३१९ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रमाह—

कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दियसानेकविंशतिम् ।

१. विशेषेणान्येषणीयानि । २. परिमितस्यात् ।

एकविंशतिरात्र पयसा वर्तन कृच्छ्रातिकृच्छ्राख्यं प्रत विज्ञेयम् । गौतमेन  
तु द्वादशरात्रमुदकेन वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्रं उक्तं 'अन्वभक्षस्तृतीयः स कृच्छ्राति-  
कृच्छ्रः' इति । अतश्च शक्यपेक्षयाऽनयोर्व्यवस्था ॥

पराकमाह—

द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः ॥ ३२० ॥

श्रुत्वर्थोऽयमर्धरलोक ॥ ३२० ॥

भाषा—केवल दूध पीकर इक्कीस दिन बिताने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र-  
मत होता है । बारह दिन के उपवास को पराकमत कहा गया है ॥ २२० ॥

सौम्यकृच्छ्रमाह—

पिण्याकाचामतक्राम्युसक्तानां प्रतिवासरम् ।

एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रः सौम्योऽयमुच्यते ॥ ३२१ ॥

पिण्याकोदनमिन्नाबोदधिदुदकसक्तानां पञ्चानामेकैकं प्रतिदिवसंमुपभुज्य-  
पष्ठेऽह्नि उपवसेदेष सौम्याख्य कृच्छ्रोऽभिधीयते । द्रव्यपरिमाणं तु प्राणयात्रा-  
मात्रनियन्धनमधिगन्तव्यम् । जाबालेन तु चतुरहर्ष्यापी सौम्यकृच्छ्र उक्तं —  
'पिण्याक सप्तवस्तक चतुर्थेऽह्न्यभोजनम् । वासो वै दक्षिणं दधारसौम्योऽयं  
कृच्छ्र उच्यते ॥' इति ॥ ३२१ ॥

भाषा—पिण्याक ( तिल की खली ) आचाम ( भात का मांड ), तक  
( मट्ठा ) जल और सक्तू में से एक एक से क्रमशः पांच दिन व्यतीत करके  
फिर एक दिन उपवास करने पर सौम्यकृच्छ्र मत होता है ॥ ३२१ ॥

तुलापुरुषाख्य कृच्छ्रमाह—

एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्य यथाक्रमम् ।

तुलापुरुष इत्येष ह्येष पञ्चदशाहिकः ॥ ३२२ ॥

एषां पिण्याकादीनां पञ्चानां क्रमेणैकैकस्य त्रिरात्राभ्यासेन पञ्चदशाहभ्यापी  
तुलापुरुषाख्यः कृच्छ्रो वेदितव्यः । अत्र च पञ्चदशाहिकखविधानानुपवासस्य  
निवृत्तिः ॥ यमेन त्वेकविंशतिरात्रिकस्तुलापुरुष उक्तं —आचाममथ पिण्याकं  
तक चोदकसक्तूकान् । श्यह श्यहं प्रयुज्जानो वायुभर्षी श्यहद्वयम् ॥ एकविंश-  
तिरात्रस्तु तुलापुरुष उच्यते ॥' इति । अत्र हारीताश्रुत्तेतिकर्तव्यता ग्रन्थगौरव-  
भयान्न लिख्यते ॥ ३२२ ॥

भाषा—इन पिण्याक आदि में क्रमशः एक-एक का तीन-तीन दिन तक  
सेवन करने पर पन्द्रह दिन का तुलापुरुष मत होता है ॥ ३२२ ॥

१. तिकृच्छ्रमिद्युक्तं । २ सौम्या. कृच्छ्रोऽयमुच्यते । ३ उपयुज्य ।  
३. यथाविधि ।

चान्द्रायणमाह—

तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान् शुक्ले शिष्यण्डसंमितान् ।

एकैकं द्वासयेत्कृष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरन् ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायणाम्य व्रतं कुर्वन् मयूराण्डपरिमितान् पिण्डान् शुक्ले भाष्य-  
माणपद्ये तिथिवृद्ध्या चरेत् भक्षयेत् । यथा प्रतिपदमृतिषु चन्द्रकलानामेकैकशो  
वृद्धिरर्धमासे तद्वत्पिण्डानपि प्रतिपदको द्वितीयायां द्वाविशेवमेकैकशो वर्ध-  
यन् भक्षयेद्यावत्पौर्णमासी । ततः पञ्चदश्यां पञ्चदश प्रासान्भुक्त्वा ततः  
कृष्णपद्ये चतुर्दश प्रतिपदि द्वितीयायां त्रयोदशेवमेकैकशो प्रासान् द्वासयन्त-  
रनीयाद्यावत्तुर्दशी । ततश्चतुर्दश्यामेकं प्राप्तं प्रसिद्ध्या इन्दुषुषेऽर्धादुपवसेत् ।  
तथा च वसिष्ठः—‘एकैकं वर्धयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च द्वासयेत् । इन्दुषुषे न  
भुञ्जीत पप चान्द्रायणो विधिः ॥’ इति । चन्द्रस्यायनमिवायनं चरणं यस्मि-  
न्कर्मणि द्वासवृद्धिभ्यां तच्चान्द्रायणम् । संज्ञायां दीर्घः । इदं च पचवत् प्रान्त-  
चोरणीयो मध्ये स्थवीय इति यवमभ्यमिति कथ्यते । एतदेव व्रतं यदा कृष्ण-  
पद्यप्रतिपदि प्रक्रम्य पूर्वोक्तक्रमेणानुष्ठीयते तदा पिपीलिकाममध्ये हसिष्ठं भव-  
तीति पिपीलिकमभ्यमिति कथ्यते । तथा हि—पूर्वोक्तक्रमेण कृष्णप्रतिपदि  
चतुर्दश प्रासान् भुक्त्वा एकैकप्रासापचयेन चतुर्दशी यावद् भुञ्जीत । तत-  
श्चतुर्दश्यामेकं प्राप्तं प्रसिद्ध्याऽमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपदेकमेव प्राप्तं  
प्रारनीयाद् । तत एकैकोपचयभोजनेन पक्षशेषे निर्वस्यमाने पौर्णमास्यां पञ्चदश  
प्रासाः संपद्यन्त इति युक्तैव पिपीलिकामस्पता । तथा च वसिष्ठः—‘मासस्य  
कृष्णपञ्चादौ प्रासानद्यावत्तुर्दश । प्रासापचयभोजी सन् पक्षशेषं समापयेत् ।  
तथैव शुक्लपञ्चादौ प्राप्तं भुञ्जीत चापरम् । प्रासापचयभोजी संपक्षशेषं  
समापयेत् ॥’ इति । यदा श्वेकस्मिन्पद्ये तिथिवृद्धिद्वासवद्यात्पोष्य दिनाति  
भवन्ति चतुर्दश वा तदा प्रासानामपि वृद्धिर्ह्यसी वेदितभ्यो । ‘तिथिवृद्ध्या  
पिण्डान्चरेत्’ इति नियमात् । गौतमेनात्र विज्ञेयो दर्शितः—‘अथातश्चान्द्रायणं  
तस्योक्तो विधिः कृष्णै वपनं च व्रतं चरेत् शोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत् भाष्या-  
यस्व संतेपयांसि नद्योनव इति चैताभिस्तर्पणमाज्यहोमो हविषश्चाशुमन्त्रणमु-  
पस्थानं च चन्द्रमसः यद्देवादेवद्वेदनमिति चतस्रभिराज्यं तुष्ट्यादेवकृतस्येति चान्ते  
समिन्निधिभिः ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं यज्ञः  
धीः ऊर्क इत् भोजः तेजः पुरुषः धर्मः शिवः इत्येतैर्प्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं  
मनसा नमः स्वाहेति वा सर्वानेतैरेव प्रासान्भुञ्जीत । तद्प्रासममानमास्याधि-  
कारेण पक्षभैक्षसत्कृष्णयावत्कशाकपयोदविष्टृतमूलफलोदकानि हवींषु चरोत्तरं

प्रशस्यानि । पौर्णमास्यां पञ्चदश प्रासान् भुक्त्वा एकैकापचयेनापरपक्षम-  
रनीयात् । अमादास्यायामुपोष्यैकैकोपचयेन पूर्वपक्ष विपरीतमेकेषामेव चान्द्रायणो  
मास' इति । अत्र प्रासप्रमाणमास्याधिकारेणेति यदुक्तं,—तद्बालाभिप्रायम् ।  
तेषां शिष्यण्डपरिमितपञ्चदशप्रासभोजनाशक्ते । शीरादिहविष्यु शिष्यण्डपरि-  
मितत्वं तु पर्णपुटकादिना सपादनीयम् । तथा कुक्कुटाण्डार्द्रामलकादीनि तु  
प्रासपरिमाणानि स्मृत्यन्तरोक्तानि शक्तिविषयाणि शिष्यण्डपरिमाणाह्वयुत्वा  
त्तेषाम् । यत्पुनरत्र श्लोभूर्तां पौर्णमासीमुपवसेत्' इत्यत्र चतुर्दश्यामुपवासम  
भिधाय 'पौर्णमास्या पञ्चदशप्रासान्भुक्त्वा' इत्यादिना द्वारिणादहरात्मकत्वं  
चान्द्रायणस्योक्त तत्पञ्चान्तरप्रदर्शनार्थं न सार्वत्रिकम् । योगीश्वरवचनानुरोधेन  
त्रिंशदहरात्मकस्य दर्शितत्वात् । यद्यत्सार्वत्रिक स्यात्तदा नैर-तर्येण सवसरे  
चान्द्रायणानुष्ठानानुपपत्ति र्स्यात् । चन्द्रगायनुवर्तनानुपपत्तिश्च ॥ ३२३ ॥

भाषा—शुक्लपक्ष में तिथि की वृद्धि के साथ मयूर के अण्डे के बराबर  
एक एक प्रास बढ़ाते हुए फिर कृष्णपक्ष में एक एक प्रास घटाते हुए भोजन  
करने पर चान्द्रायण मत होता है ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायणान्तरमाह—

यथाकथंचित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम् ।

मासेनेद्योपभुञ्जीत चान्द्रायणमथापरम् ॥ ३२४ ॥

पिण्डानां चत्वारिंशदधिक शतद्वय मासन भुञ्जीत । यथाकथंचित्प्रतिदिन  
मप्याद्धेऽष्टौ प्रासान्, अपवा नक्तदिनयोश्चतुरश्रतुरो वा, अपवैकस्मिन्प्रतुरोऽ  
परस्मिन्द्वादश वा तथैकरात्रमुपोष्यापरस्मिन्प्रोढश वेद्यादिप्रकाराणां  
मन्यतमेन शक्यायापवेक्षया भुञ्जीतेत्येतत्पूर्वोक्तचान्द्रायणद्वयादपर चान्द्रायणम् ।  
अतस्तयोर्नाथ प्राससंख्यानियम, किंतु पञ्चविंशत्यधिकशतद्वयसंख्यैव । मनुना  
चैते प्रकारा दक्षिता (११।२।१८-२२\*)—'अष्टाषष्टौ समरनीयातिपिण्डान्मप्य  
न्दिने स्थिते । नियतात्मा हविष्यस्य पतिचान्द्रायण चरेत् ॥ चतुरः प्रातररनी-  
यातिपिण्डान्विम समाहित । चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायण चरेत् ॥ यथा-  
कथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीती समाहितः । मासेवारनहविष्यस्य चन्द्रस्यैति  
सलोकताम् ॥' इति । तथा चत्वारिंशच्छतद्वयन्यूनसंख्याप्राससंपादयति  
सप्रहार्थं 'अपर' प्रहणम् । यथाह वसु — र्थीश्रीपिण्डान्-समरनीयातिपिण्डानामा  
ह्वयत । हविष्याह्वय वै मासमृषिचान्द्रायण स्मृतम् ॥' इति । एषु च  
पतिचा द्रायणप्रभृतिषु चन्द्रगायनुसरणमपेक्षितम् । अतस्त्रिंशदिनात्मकमापा-

रणेन मासेन नैरन्तर्येण चान्द्रायणानुष्ठाने यदि कथंचित्प्रिवृद्धि-  
हासवशात् पञ्चम्यादिवारम्भो भवति तथापि न दोषः । यदपि सोमायनाख्यं  
मासप्रतं मार्कण्डेयेनोक्तम्—‘गोक्षरं सप्तरात्रं तु विद्येस्तनचगुष्टयात् । स्तनत्र-  
याख्यसप्तरात्रं सप्तरात्रं स्तनद्वयात् ॥ स्तनेनैकेन पत्राद्यं त्रिराद्यं वायुभुग्भवेत् ।  
पूतसोमायनं नाम प्रतं क्वमपनाशनम् ॥’ इति । स्मृत्यन्तरे ‘सप्ताहं चेत्येत-  
द्वोस्तनमखिलमथ त्रींस्तनान्द्वौ तथैकं कुर्यात्त्रिंश्रोपवासान्यदि भवति तदा  
मासि सोमायनं तत्’ इति,—तदपि चान्द्रायणकर्मरुमेव । हारीतेनापि ‘अथात-  
श्चान्द्रायणमनुक्रमिष्ये’ इत्यादिना सेतिकर्तव्यताकं चान्द्रायणमभिधायैवमेव  
सोमायनमित्यतिदेशाभिधानात् । यत्पुनस्तेन कृष्णचतुर्थीमारभ्य शुक्लद्वादशी-  
पर्यन्तं सोमायनमुक्तम् । चतुर्थीप्रभृतिचतुःस्तनेन त्रिरात्रं त्रिस्तनेन त्रिरात्रं  
द्विस्तनेन त्रिरात्रं एकस्तनेन त्रिरात्रमेवमेकस्तनप्रभृति पुनश्चतुःस्तनान्तं  
‘या ते सोम चतुर्थी तनूस्तया नः पाहि तस्यै नमः स्वाहा, या ते सोम पञ्चमी  
पट्टीधेवं याग, यार्हस्तिधिहोमा एयं स्तुत्वा एनोभ्यः पूतश्चन्द्रमसः समानतां  
मायुज्यं च गच्छति’ इति चतुर्विंशतिदिनारमकं सोमायनमुक्तं,—तदशकविप-  
यम् ॥ ३२४ ॥

भाषा—अथवा जिस किसी प्रकार एक मास में दो सौ चालीस ग्रास  
भोजन करे तो चान्द्रायण बत होता है ॥ ३२४ ॥

अथ कृच्छ्रचान्द्रायणसाधारणीमितिकर्तव्यतामाह—

कुर्यात्त्रिपवणस्त्रायी कृच्छ्रं चान्द्रायणं तथा ।

पवित्राणि जपेतिपण्डान्गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥ ३२५ ॥

कृच्छ्रं प्राजापत्यादिकं चान्द्रायणं वा त्रिपवणघ्नानयुक्तः कुर्यात् १—  
पूतश्च तप्तकृच्छ्रव्यतिरेकेण । तत्र ‘सकृत्स्नायी समाहितः’ इति मनुना विशेषाभि-  
धानात् ॥ यत्पुनः शङ्खेन कृच्छ्रेषु त्रिपवणस्नानमभिहितम्—‘त्रिरद्वि त्रिर्नि-  
शायी तु सवासा जलमाविशेत्’ इति,—तदशकविपयम् । यत्पुनर्वैशम्पायनेन द्वैका-  
लिकं स्नानमुक्तम्—‘स्नानं द्विकालमेव स्यात्त्रिकालं वा द्विजन्मनः’ इति,—तत्रिप-  
वणस्नानाशकस्य वेदितव्यम् ॥ यत्पुनर्गार्ग्येणोक्तम्—‘एकवासाश्वरेऽप्यं स्नात्वा  
वासो न पीडयेत्’ इति,—तदपि शकस्यैव, ‘एकवासा भार्गवासा वा लघ्वाशी स्थ-  
ण्डिलेशयः’ इत्येकवस्यताया अपि शङ्खेन पादिकस्वेनाभिधानात् । स्नाने च हारी-  
तेन विशेष उक्तं—‘स्यवरं शुद्धवतीभिः स्नात्वाद्यमर्षणमन्तर्जले जपित्वा धौत-  
महत्तं वासः परिधाय साम्ना सौम्येनादित्यमुपतिष्ठेत्’ इति । स्नानानन्तरं च



मन सत्तापन तीमनुद्दहेष्वोक्तमस्ततः ॥' इति । पहिरिति धामाद्दिनिष्कस्य । द्विषाप्तेवमेव मतपरिमहः कार्यः । देदारमधुलोमनस्यवपनं तु नास्ति, 'चान्द्रायणादिव्येतदेव द्विषा देदारवपनवर्षम्' इति शीघ्रायनरमरणात् ॥

वपनानिष्कसु हारीतेन वितेष उक्त—'राजा या राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुशुभः । वेदानां वपनं कृत्वा प्रायश्चित्त समाचरेत् ॥ देवानां रक्षणार्थं तु द्विगुण मतमाचरेत् । त्रिगुणे तु मने चीर्णे दक्षिणा द्विगुणा भवेत् ॥' इति । एतच्च महापातकादिशेषविशेषाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्—'विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केश वापनम् । मते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः ॥' इति मनुस्मरणात् । ज्ञायालेनाप्यत्र वितेष उक्त—'आरम्भे सर्वकृच्छ्राणां समाप्ती च वितेषनः । अंशेनैव च शाश्वती जुहुयाद् स्वाहृतीः पूषक् ॥ धात् ६ पर्याद् मतान्ते तु गोहिरण्यपादि दक्षिणा' इति । यमेनाप्यत्र विशेषाभिहितः—'पश्चात्तापो निवृत्तिश्च स्नान चाङ्गतयोदितम् । नैमित्तिकानां सर्वेषां तथा चैवानुकीर्तनम् ॥' तथा—'गात्राभ्यङ्गशिरोभ्यङ्गौ तागूक्तमनुलेपनम् । मतस्यो वर्जयेत्सर्वं यद्यान्यद्वलरागकृत् ॥' इति । एवमादिकर्तव्यताजात स्मृत्यन्तराद्-पेष्टव्यम् । एवमनेन पिथिना मत गृहीत्याऽऽरभ्य परिसनापनीयम् , अथवा तु प्रायवाया, 'पूर्वं मत गृहीत्वा तु नाचरेत्काममोहितः । जीवन्भवति चाग्हालो मृतः श्वा चैव जायते ॥' इति उदागलेयस्मरणात् । इत्यल मप्यत्र ॥ ३२५ ॥

भाषा—प्राजापत्य भादि कृच्छ्रं मत और चान्द्रायण मत तीनों सवन में ( प्रातः, मध्याह्न, एवं साय ) स्नान करते हुए करे । पवित्र मंत्रों का जप करे और भोजन के प्रायेक प्रास को गायत्री मंत्र से अभिमन्त्रित करे ॥३२५॥

इत्थमुक्तविनियोगस्य चान्द्रायणारेः स्वरूपमभिधाप्य लब्धप्रसङ्गकार्यान्ति रेऽपि विनियोगमाह—

अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धिश्चान्द्रायणेन च ।  
धर्मार्थं यद्यरेदेतच्छास्त्रस्यैति सल्लोकताम् ॥ ३२६ ॥

आदिश्यत इत्यादिष्ट प्रायश्चित्त न विद्यते आदिष्ट वेपु पापेषु तेषु चान्द्रायणेन शुद्धिः । 'च'शब्दात्प्राजापत्यादिभिः कृच्छ्रैरेन्द्वसहितैस्तत्रिरपेक्षैर्वा शुद्धिः । तथा च षट्त्रिंशत्समेतऽभिहितम्—'यानि कानि च पापानि गुरोर्गुहतराणि च । कृच्छ्रातिकृच्छ्रैश्चान्द्रेयैः शोष्यन्ते मनुरप्रवीत् ॥' इति प्रयाणां समुच्चयः प्रतिपादितः । उदानसा तु द्वयोः समुच्चय उक्त—'दुरितानां दुरितानां पापानां महतामपि । कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । दुरितमुप-

१ द्विगुणे मत आचीर्णे । २ दोषप्रतिरेकेण । ३ भाष्येनैवेति । ४ तु । ५. चाग्नेरिवति ।

पातकम् , दुरिष्ट पातकम् । गौतमेन तु कृच्छ्रातिकृच्छ्री चान्द्रायणमिति सर्वप्रा-  
यश्चित्तमिति विसमासकरणेनैन्दवनिरपेक्षता कृच्छ्रातिकृच्छ्रयो सूचिता । चान्द्रा-  
यणस्य निरपेक्षता 'इति'शब्देन च त्रयाणां समुच्चयः । केवलप्राजापत्यस्य तु  
निरपेक्षं चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'उद्युदोपे खनादिष्टे प्राजापत्य समाचरेत्'  
इति । गौतमेनापि प्राजापत्यादेर्निरपेक्षत्वमुक्तम्—'प्रथमं चरित्वा शुचिं पून  
कर्मण्यो भवति, द्वितीयं चरित्वा यद-य-महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्र-  
मुच्यते, तृतीयं चरित्वा सर्वैरमादेनसो मुच्यते' इति महापातकादपीत्यभिप्रेतम् ।  
मनुनाप्युक्तम् ( ११।२।१ )—'पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापानोदन'  
इति । हारीतेनाप्युक्तम्—'चान्द्रायणं यावत्कश्च तुलापुरुष एव च । यवां चैवा  
नुपमन सर्वपापप्रणाशनम् ॥' तथा—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिं कुशोद-  
कम् । एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत् ॥' तथा तसकृच्छ्रमधिष्ठायापि  
तेनैवोक्तम्—'एवं कृच्छ्रो द्विरभ्यस्त पातकेभ्यः प्रमोचयत् । त्रिरभ्यस्तो यथा-  
-याय शूद्रदृश्यां व्यपोदति ॥' इति । उक्तं च—'यत्रोक्तं यत्र वा  
नोक्तं महापातकनाशनम् । प्राजापत्येन कृच्छ्रेण शोधयन्नात्र सशयः ॥' इति ।  
एतानि प्राजापत्यादी-यनादिष्टेषु पातकादिषु सकृद्भ्यासापेक्षया व्यस्तानि वा  
योजनीयानि । तथा आदिष्टप्रतेष्वपि महापातकादिषु भ्यासापेक्षया योजनी-  
यानि । अत एव यमेनोक्तम्—'यत्रोक्तं मित्यादि । गौतमेनाप्युक्तनिष्कृतीनां  
सप्रहार्थं सर्वप्रायश्चित्तग्रहणं कृतम् । तथा यद्यपि तेनैवोक्तम्—'द्वितीयं चरित्वा  
यद-य-महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते' इत्युक्त्वा 'तृतीयं चरित्वा  
सर्वैरमादेनसो मुच्यते' इति,—तदपि महापातकामिप्रायं न तु शुद्धपातकामि-  
प्रायम् । नच महापातकमनुक्तनिष्कृतिकं सम्भवति, तस्मादुक्तनिष्कृतिरूपेण  
प्राजापत्यादयो योजनीयः । तत्र द्वादशवापिक्रमते द्वादशद्वादशविना-येकैक  
प्राजापत्यं परिकल्प्य गण्यमाने प्राजापत्यानां षष्ट्यधिकशतत्रयं द्वादशवापिक्र-  
मैकविपकमनुष्ठेयं भवति । तदज्ञातौ तावयो वा धेनवो दातव्याः । तदुत्सव्ये  
निष्काणां षष्ट्यधिकशतत्रयं दातव्यम् । तथा शृणु-तरम्—'प्राजापत्यक्रियाऽ  
शक्तो धेनुं दद्याद्विष्वज्ज । धेनोरभावे दातव्यं मूष्यं तुष्यमसशयम् ॥ मूष्या  
र्धमपि निष्कं वा तदर्धं शक्यपेक्षया । यवामभावे निष्कः स्यात्तदर्धं पाद-  
एव वा' इति स्मरणात् । मूष्यदानस्याप्यज्ञातौ ताव-तो दोदशास्ताः कार्याः ।  
तत्राप्यज्ञातौ गायत्राजप पञ्चशतवृत्तसंख्याकं कार्यं, कृच्छ्रोऽयुतं तु गाय-  
त्र्या उद्वासस्तथैव च । धेनुपदानं विप्राय सममेतच्छतुष्टयम् ॥' इति परा-  
शरस्मरणात् । यत्तु चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'गायत्र्यास्तु उप-कोटिं प्रह्य

१ सर्वपातकनाशनम् । २ त-मूष्यं वा न सशयः ।

इत्या इत्येवमिति । लघुश्रीति जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमह  
 तारि गालभ्या लघुमसति । गायत्र्या पष्टिभिर्लघुमुच्यते गुरुतत्पग ॥'  
 इति,—तद्य द्वादशवार्षिकस्तुषडविधानतयोक्तः न पुनरशक्तविषयमिति न  
 विराधः । एवम-वदपि—'शृ-दू' इत्युक्तं चैव प्राजायामस्तद्वयम् । तिष्ठ-  
 होमसदस्र तु वदपारायण तथा ॥' इत्यादयः प्रथाम्नायाश्चतुर्विंशतिमतादि  
 नाश्चाभिहिता पष्टयधिकत्रिंशत्तगुणिता महापातकपु योद्धव्या । नति-  
 पातकपु सप्तत्यधिकशतद्वयं प्राजापत्यानां कर्तव्यम् । तावन्ता वा  
 य वादयः प्रथाम्नायाः । पातकपु साश्रीतिशत प्राजापत्या प्रथाम्नाया  
 धे-वादयस्तावन्त एव वा । यथा चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—जन्मप्रभृति  
 पापानि यद्भूनि विविधानि च । हृत्वाऽर्वांगं मद्गहस्यायाः पद-दं व्रतमाचरेत् ॥  
 प्रथाम्नाय गवां देयं साश्रीति धनिना शतम् । तथाऽष्टादशलघुणि गायत्र्या  
 वा जपद् बुध ॥' इति । इदमव द्वादशवार्षिकं व्रते द्वादशद्वादशदिनेरैकैकप्राजा-  
 पत्यकल्पनायां लिङ्गम् । एवमुपपातकपु त्रैवार्षिकप्रायश्चित्तविषयभूतेषु तत्रति  
 प्राजापत्यास्तावन्त प्रथाम्नायाः । त्रैवार्षिकविषयेषु पुन सार्धंमसप्राजापत्या  
 प्रथाम्नायाश्च धनुर्दवातादयस्तावन्त एव । मासिकमवविषयेषु तु सार्धं प्राजा  
 पत्यद्वयं तावानेव वा प्रथाम्नायाः । चा द्वादशविषयभूतेषु पुनरुपपातकपु  
 प्राजापत्यत्रयम् । तदशक्तस्य प्रथाम्नायस्तावनेव । यःपुनश्चतुर्विंशतिमतेऽ  
 मिहितम्—'नष्टौ चा द्वावने देया प्रथाम्नायविधौ सदा' इति,—तदपि  
 धनिना पिपीलिकामश्वान्द्रायणप्रथाम्नायविषयम् । मासातिकृच्छ्रविषय  
 भूतेषु पुनरुपपातकपु सायसप्तप्राजापत्या प्रथाम्नायाश्च धे-वादयस्तावन्त  
 एव । प्राजापत्ये तु गामेच्छा दवास्या तपने द्वयम् ; पराकतस्रातिकृच्छ्रे तिस्र  
 स्तिस्रस्तु गास्तथा ॥' इति चतुर्विंशतिमतेऽभिधानात् । एतच्च 'एकैकं प्रास  
 मशनीयादि त्यामलकपरिमितैकैकप्रायश्चित्ते वेदितव्यम् । पाणिपूरा-नभोजनपदे  
 पुनर्धेनुद्वयमेव । प्राजापत्यस्य षड्पत्रासतुषड्वर्णात् तद्विगुणत्वा-त्वातिकृच्छ्रस्य ।  
 यद्यपि तस्मिं दिनेषु पाणिपूरा-नहन भोजन, तथापि नैर-तर्षेण द्वादशदिव  
 सानुष्ठाने बलेशातिशयास्पदहोपवाससमानप्राजापत्यद्वयतुषड्वार्यवमेव । प्राजाप  
 त्यस्य च षड्पत्रासतुषड्वर्य युक्तमेव । तथा हि प्रथमे षडे सायतनभोजनत्रय  
 निवृत्तानेकोपवामसपत्तिः । द्वितीये षड् प्रातःकालभोजनत्रयनिवृत्तिपरस्य ।  
 तथा च अथाचित-यद्देऽपि सायतनभोजनत्रयवज्जनेऽपरस्येयेव नवभिदिनेऽप

१ प्राजापत्यानां प्रथाम्नायधे वादयः । २ तत्रतिधनिनः । ३ पराक  
 तस्रातिकृच्छ्रे तिस्रस्तिस्रस्तु गास्तथा । ४ तुषड्वर्णात् द्विगुणत्वा-त् । ५ त्रय  
 वर्जनपरस्य । ६ भोजनवर्जनेऽन्यस्यति ।

न्द्रायणस्यापि तत्रैव प्रथाम्नायाणुकम्—'चान्द्रायण मृगारेष्टि पवित्रेष्टिस्तथैव च । मित्रत्रिन्दापशुधैव कृच्छ्र मासत्रय तथा ॥ नित्यनैमित्तिकानां च काम्यानां चैव कर्मणाम् । इष्टीनां पशुबन्धानामभावे चरव स्मृता ॥' इति,—तदपि चान्द्रायणाशकस्य । यस्तु 'कृच्छ्र' मासत्रय तथा' इति कृच्छ्राष्टकं प्रथाम्नातं,— तदपि जरठमूर्खविषयम् । चान्द्रायण त्रिभिः कृच्छ्रैरिति दर्शितत्वादित्यल प्रपञ्चेन । प्रकृतमनुसराम—यस्त्वभ्युदयकामो धर्मार्थकाम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थ-मेतच्चान्द्रायणमनुतिष्ठति न पुनः प्रायश्चित्तार्थमसौ चन्द्रसालोक्य स्वर्गविशेष प्राप्नोति । एतच्च सवस्वराष्ट्रायभिप्रायेण । 'एकमाप्त्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति, द्वितीयमाप्त्वा दशपूर्वान्दशापरानामानं चैकविंश पङ्क्तिं च पुनाति, सवस्वर चाप्त्वा ऋद्रमसः सलोकतामाप्नोती'ति गौतमस्मरणात् ॥ २२६ ॥

भाषा—जिन पापों के प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया है उनकी शुद्धि चान्द्रायणव्रत से होती है । जो धर्म के लिये यह व्रत करता है वह चन्द्रलोक को जाता है ॥ २२६ ॥

कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तु महतीं श्रियमाप्नुयात् ।

यथा गुरुकतुफलं प्राप्नोति सुसमाहितः ॥ ३२७ ॥

किंच, यस्त्वभ्युदयकाम प्राजापत्यादिकृष्णाननुतिष्ठति स महतीं राज्यादिलक्षणां श्रियं त्रिभूतिमनुभवति । यथा गुरुकतुना राजसूयादीनां कर्ता तत्फलं स्वाराज्यादिलक्षणं महत्फलं लभते, तथायमपि सुसमाहित सकलाङ्गकलाप-मविकलमनुतिष्ठन्निति फलमहिमप्रकाशनार्थं प्रपुष्टान्तक'र्तनम् । 'सुसमाहित' इत्यनेनाधिकलक्षणात्प्राप्तुष्टानं चन्द्रकाम्यकर्मतयाद्भैकस्ये फलासिद्धिं द्योतयति । अतो नात्र प्रायश्चित्तेष्वेव यावत्सम्भवाङ्गानुष्ठानमन्त्रीकरणीयमिति दूरो-रसारितं प्रथाम्नायोपादानम् । कृष्णानुष्ठानानुत्ती तु 'अधिकारिण फलानुत्ति-कर्मण्यारम्भभाष्यत्वादि'ति न्यायलभ्या स्थितेयेति नेदमविवक्षितम् ॥ ३२७ ॥

भाषा—जो धर्म ( अभ्युदय ) की इच्छा से कृच्छ्र व्रत करता है वह उसी प्रकार अत्यन्त प्रचुर ( राज्य आदि ) विभूति प्राप्त करता है जिस प्रकार पड़े पशों ( राजसूय आदि ) का कर्ता उत्तम फल पाता है ॥ ३२७ ॥

प्रागुदितास्त्रिंशदर्थोपसंहारव्याज्रेण धर्मशास्त्रधारणादिविधोन् साधंवादान् प्राधनावरदानरूपेण प्रतिपादयितुमाह—

धृत्यैतानृपयो धर्मान्याश्रयव्ययेन भाषितान् ।

इदमूर्चुर्महात्मानं योगीन्द्रममितौजसम् ॥ ३२८ ॥

अथ हि वर्णाश्रमादिप्यावृत्ता धर्मा षट्प्रकारा प्रतिपादिता तानखिलान्  
योगीश्वरभाषितान् ऋषय ध्रुवा प्रहर्षो फुल्लोचनास्त महिमगुणशालिनमचित्त-  
नीयशक्तिविभवमिदमभिधास्यमानमूचिवास ॥ ३२८ ॥

भाषा—ऋषियों ने याज्ञवल्क्य द्वारा बताये गये इन धर्मों को सुनकर  
महात्मा, योगिराज और अत्यन्त तजस्वी ( याज्ञवल्क्य ) से कहा ॥ ३२८ ॥

य इदं धारयिष्यन्ति धर्मशास्त्रमतन्द्रिता ।

इह लोके यश प्राप्य ते यास्यन्ति त्रिविष्टपम् ॥३२९॥

विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्या धनकामो धनं तथा ।

आयुष्कामस्तथैवायु धीकामो महतीं धियम् ॥ ३३० ॥

श्लोकत्रयमपि ह्यस्माद्य श्राद्धे धावयिष्यति ।

पितृणा तस्य वृत्ति स्यादक्षय्या नात्र सशय ॥३३१॥

ब्राह्मण पात्रतां याति क्षत्रियो विजयी भवेत् ।

वैश्यैश्च धान्यधनधानस्य शास्त्रस्य धारणात् ॥ ३३२ ॥

इत्यमृतवर्षे श्लोके सामश्रव प्रभृतयोऽनेकधा प्रार्थयन्ते स्म ॥३२९-३३२॥

भाषा—जो आलस्य का त्याग करके इस धर्मशास्त्र को धारण करते हैं  
वे इस ससार में यश प्राप्त करके मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग पाते हैं । विद्यार्थी  
हो तो उसे विद्या मिले धन की इच्छा रखने वाले को धन मिले, आयु  
( दीर्घजीवन ) की इच्छा वाला दीर्घजीवन और शोभा या सम्पत्ति की इच्छा  
वाला समृद्धि प्राप्त करे ॥ ३२९-३३० ॥

भाषा—जो श्राद्ध के समय इसके तीन श्लोकों को ही सुनायेगा  
उसके पितरों को अल्प वृत्ति प्राप्त होगी इसमें सन्देह नहीं ॥ ३३१ ॥

भाषा—इस शास्त्र के अभ्ययन से ब्राह्मण योग्य होता है, क्षत्रिय  
विजयी होवे, वैश्य धन धान्य से समृद्ध होवे ॥ ३३२ ॥

अपरामपि प्रार्थनामाह—

य इदं धावयेद्विद्वान्द्विजा-पर्वसु पर्वसु ।

अभ्यमेधफलं तस्य उद्भयाननुमन्यताम् ॥ ३३३ ॥

यस्मिन्वद् धर्मज्ञास्त्र प्रतिपदे द्विजान् धावयेत् तस्याभ्यमेधफल भवेदिति  
श्रवणविषयवाद् । तदेतदस्मार्थितमर्थं सर्वत्र भवाननुमन्यताम् ॥ ३३३ ॥

भाषा—जो विद्वान् प्रायेक पर्व में हमे द्विजो को मुनावे वह अवश्य ही  
अररनेध पत्र का फल पावे ऐसी अनुमति भी भाष दें ॥ ३३३ ॥

वरदानमाह—

धृत्यैतच्छाश्वत्थयोऽपि प्रीतारमा मुनिभाषितम् ।

एषमस्त्विति द्रौयाच नमस्कृत्य स्वयंभुवे ॥ ३३४ ॥

एतदपिभिर्भाषितं श्रुत्वा योगेन्द्रोऽपि स्वनिमित्तधर्मशास्त्रधारणादिफलप्रार्थ-  
नोन्मीळितमुग्वरद्वजः स्वयंभुवे मन्त्रे नमस्कृत्य प्रणम्य 'भवाप्रार्थितं सकलमित्यं  
भवतु' इत्येवं किल भगवान्ब्रवीति ॥ ३३४ ॥

भाषा—मुनिषों के इन वचनों को सुनकर प्रसन्नचित्त योगिराज याज्ञ-  
वल्क्य ने स्वयंभू मन्त्रा को नमस्कार करके कहा 'एवमस्त्व' ( ऐसा ही ही ) ॥

इति धीमारुद्राष्टमनाममहाशास्त्राचार्यस्य धीमत्परमहंसपरिव्राजक-

विज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृती ऋतुमिताचरार्वा याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्र-

त्रिपुत्री प्रायश्चित्ताष्टावहृतोऽथ समाप्तः ॥

## टिप्पणी ( नोट्स )

### आचाराध्यायः

वन्दे निर्द्वन्द्वमानन्दममन्दानन्द-मन्दिरम् ।  
 वन्दारु-वृन्दार-वृन्द-वन्दितं नन्द-नन्दनम् ॥ १ ॥  
 नमामिःविधिवल्लक्ष्मीनाथ धीर महागुरुम् ।  
 याज्ञवल्क्यं महर्षि च स-ज्ञानोद्धृत-कल्मषम् ॥ २ ॥  
 यद्यप्युच्छिष्टमाचार्यैः न विशिष्टमिदम्भवेत् ।  
 तथाऽपि शिष्टोपदिष्ट परिशिष्ट प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

श्लो० १—योगीश्वरम्—अत्र कर्मधारयः, षष्ठी-तत्पुरुषे षष्ठवर्धं कृष्णा-  
 प्रसङ्गात्—अपराकं ।

वर्णाश्रमेतराणाम्—यह तो स्मृति का विषय बतलाया गया है ।  
 धर्मान्—यहाँ बहुवचन से नियम, नैमित्तिक तथा काम्य का परिग्रह  
 हुआ है ।

श्लो० २—मृग. कृष्ण.—कृष्णशब्दो हरिण-वचन, मृगपदं च तारपर्य-  
 ग्राहकम्—अपराकं । कृष्ण-मृग-युक्त देश के विषय में मनु का वचन है —

कृष्णसारस्तु चरति मृगो अत्र स्वभावतः ।  
 स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥

श्लो० ४—५—हनके विषय में प्रस्तावना द्रष्टव्य है ।

श्लो० ७—श्रुति तथा स्मृति में परस्पर विरोध होने पर श्रुति प्रबल  
 होती है:—

श्रुति-स्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी । ( जाषाल-स्मृति )

जैमिनि का भी यही मत है —

विरोधे त्वनपेक्ष स्यात् असति ह्यनुमानम् ।

सदाचार.—सदाचार की परिभाषा मनु ने की है:—

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमगतः ।

वर्णानां सान्तराष्ट्रानां स सदाचार उच्यते ॥

विष्णु पुराण में सदाचार शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूप में की गई है —

साधव ऋणक्षोषा स्यु सच्छब्द साधुवाचक ।  
तेषामाचरण यत्स्यात् सदाचार स उच्यते ॥

श्री शूद्र आदि के वदाऽविरुद्ध आचार भी सदाचार हैं । अत एव क्षापस्तम्भ का कथन है —

श्रीम्यश्चावरवर्णभ्यो धर्मशेषान् प्रतीयात् इत्यक इत्येके ॥

प्रियमात्मन — यदि श्रुतिद्वैध हो । अत एव मनु का कथन है —

श्रुतिद्वैध तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।  
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्पगुक्तौ मनीषिभि ॥

गौतम का भी वचन है:—

तुल्यबल विरोधे विकल्प ॥

विकल्प होने पर आत्म-तृष्टि प्रमाण है । यही बात गर्ग के द्वारा भी बतलाई गई है:—

विकल्पे स्वार्म-तृष्टि प्रमाणम् ॥

श्लो० ८—आत्मदर्शनम्—इस प्रसङ्ग में स्मृति-मुक्ताफलोक्त बृहस्पति-वचन भी द्रष्टव्य है —

भोगेष्वसक्ति सतत तथैवात्मावलोकनम् ।  
श्रेय पर मनुष्याणाम् प्राह पद्मशिखो मुनि ॥

श्लो० ९—वीरमिथोदय में यम का भी कथन है —

एको द्वौ वा त्रयो चापि यद् द्रयुर्धर्मपाठका ।  
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषा सहस्रशः ॥

वहीं धर्म पाठक का लक्षण भी दिया गया है —

वेदविद्यामतस्नात सत्यसन्धो जितेन्द्रिय ।  
धनेकधर्म-शास्त्रज्ञ प्रोच्यते धर्मपाठक ॥

अध्यात्मवित्तम = कृतात्मसाधारकार — ऐसी व्याख्या शूलपाणि ने की है ।

श्लो० ११—ऋतुकाल के विषय में बृहस्पति का वचन प्रयोगपारिजात में लिखित है —

निदायोदशक नारी सञ्चितर्तुमती तु सा ।  
तावद्योग्या प्रजास्थाने विनाऽऽद्याहश्चतुष्टयम् ॥



इसमें भी कुछ विशेषता आचारादर्श में बतलाई गई है —

ऋतुकालाभिगमनं पुसा कार्यं विशेषतः ।

सदैव पर्यवर्जं तु स्त्रीणामभिमतं हि तत् ॥

सोम-न्त-काल के विषय में वीरमित्रोदय में बृहस्पति का वचन इस प्रकार है—

रोहिण्यैन्दवमादित्यपुष्यहस्तोत्तरात्रयम् ।

पौष्ण वैष्णवभ चैव सोमन्ते दश सस्मृता ॥

जातकर्म—समय का निर्देश मनुस्मृति में इस तरह है —

प्राङ्नाभिवर्धनापुसो जातकर्म विधीयते ।

मन्त्रवत्प्राशन चास्य हिरण्यमधुसर्पियाम् ॥

नाभिवर्धन का अर्थ है नाभिच्छेदन ।

श्लो० १२—नामकरण के विषय में मनु का कथन है —

नामधेय दशग्यान्तु द्वादशषां वाऽस्य कारयेत् ।

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणाश्रिते ॥

इस प्रसङ्ग में विशेष बात वीरमित्रोदय में उद्धृत बृहस्पति के वचन में मिलती है :—

दशाहे द्वादशाहे वा जन्मतोऽपि प्रयोदशे ।

षोडशैकोनविंशे वा द्वात्रिंशे वर्णत. क्रमात् ॥

गोभिल ने "जननाद्दशरात्रे श्युष्टे (= श्यतीते) शतरात्रे सवास्तरे वा नाम-धेयकरणम्" ऐसा कहा है ।

नाम-करण स्वरूप के विषय में विष्णुपुराण में निम्नलिखित श्लोक हैं .—

शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मति चप्रस्युतम् ।

गुप्तदासारमकं नाम प्रदत्त वैश्यशुद्रयोः ॥

रत्री के नाम क स्वरूप के विषय में विशेष बात मनुस्मृति में है .—

स्त्रीणां सुश्रोत्रमक्रूरं विस्पृष्टार्थं मनोहरम् ।

मन्त्रव्य वीर्यवर्णा-न्तमाशावादाभिधानवत् ॥

चतुर्थे मासि निष्क्रम —"एतच्च द्युन्दोगश्रुतिरिक्तपरम्" ऐसा शूद्रपाणि का मत है । मनु का विशेष मत इस प्रकार है :—

'यद्वेष्ट मङ्गलं शुभे' इतीच्छिपु यम ने कहा है :—'ततस्त्वृतीये कर्त्तव्यं मानि सूर्यस्य दर्शनम् ॥' गोभिल ने तो और भी विशेष बतलाया है :—

‘जननाचारतृतीयो ज्योत्सवः तस्य तृतीयायाम् ।’ इति ॥

बृहस्पति ने इस विषय में विशेष घात कही है :—

स्वस्तिवाच्य समाकृतवाहनं निर्ययेद् गृहात् ।

मातुलो वा वहैरुग्र निर्वाहनशिशुं स्वयम् ।

शिशुना सह मित्राणि निर्ययुश्च गृहात्स्वयम् ॥

इत्यादि ।

पष्ठेऽन्नप्राशनमिति—छौगाधि का मत है :—

‘पष्ठे मासेऽन्नप्राशनम् , जातेषु दन्तेषु वा ।’

जातेषु दन्तेषु के द्वारा अष्टम मास अभिप्रेत है, कारण अष्टम मास ही दन्तोत्पत्ति की उचित अन्तिम अवधि है। अत एव संस्कार-कौस्तुभ में बृहस्पति की स्मृति है :—

वालानामष्टमे मामि पष्ठे मासि ततः पुनः ।

दन्ता यस्य न जायन्ते माता वा श्रियते पिता ॥

चूडा कार्येति—इस विषय में मनु का मत निम्नलिखित है :—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।

प्रथमेऽन्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं धृतिचोदनात् ॥

तत्र तृतीयाब्द एव औत्सर्गिकश्चूडाकरणकालः कुलाचारनियमस्तु तस्यापवादः” यह श्लोकाणि का मत है। अत एव आश्वलायन ने भी कहा है :—

‘तृतीये वर्षे चौडं, यथा कुलधर्मं वा ।’ तृतीय वर्ष में भी छौगाधि ने विशेष धतलाया है :—‘तृतीये भूयिष्ठे पते चूडा ।’ इति ।

यहाँ कर्णवेध भी प्रशस्त है। कर्णवेध का काल बृहस्पति ने यतलाया है :—

कात्तिके पौषमासे वा चैत्रे वा फादगुनेऽपि वा ।

कर्ण-वेधप्रशंसन्ति शुक्लपक्षे शुभे दिने ॥

द्वितीया दशमी पष्ठी सप्तमी च त्रयोदशी ।

द्वादशी पञ्चमी शस्ता तृतीया कर्णवेधने ॥

सूची ( वेधनी ) के विषय में वीरमिश्रोदय में बृहस्पति का कथन उद्धृत है :—

सौवर्णा राजपुत्रस्य राजसी विप्रवैरययोः ।

शूद्रस्य चावसी सूची मध्यमाष्टाहुलात्मिका ॥

भावसी—अर्थात् लोहे की बनी हुई ।

पूढाकरण में प्रतिशब्दक तत्र संस्कारमयूत्र में यथाया गया है :—

गर्भे मातुः कुमारस्य न कुर्वाञ्चौलकर्म तु ।

पञ्चमासादधः कुर्यादित ऊर्ध्वं न कारयेत् ॥

श्लो० १४—'उपनायनमित्यत्र ष्यन्तप्रयोगादुपनयनमन्वद्वारा भक्तिर्त्तम्यम्' यह शूलपाणि का मत है ।

वृहस्पति ने विशेषता यतछाह है :—

द्वितीयजन्मनः पूर्वमारभेतापरां सुधीः ।

मौञ्जीयन्धरतत पश्चाद्देदारम्भो विधीयते ॥

इस प्रसङ्ग में गौतम का मत निम्नलिखित है :—

उपनयनं प्राङ्गणस्य अष्टमे नवमे पञ्चमे वा कारयन् ।

राज्याम्—राजन् वाक् च त्रिय जाति का वाचक है ।

श्लो० १५—महाभ्याहृति के विषय में मनु का कथन है :—

ओष्ठारपूर्विकास्तिस्रो महाभ्याहृतयोऽभ्ययाः ॥

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेय प्रक्षणो मुखम् ॥

गौतम तथा हरदत्त के अनुसार—भूः, भुवः, स्वः, पुरुषः तथा तस्यम् ये पाँच महाभ्याहृतियाँ हैं । मूल में महाभ्याहृति-पद प्रणय का भी उल्लेख है । अत एव मनु का वचन है :—

प्रक्षणः प्रणयं कुर्यादादापन्ते च सर्वदा ।

परस्यनोद्धृत सर्वं परस्ताच्च विधीयति ॥

श्लो० १६—कर्णस्थः = दक्षिण कर्ण पर स्थित । अत एव कहा गया है :—पवित्रं दक्षिणे कर्णे कृत्वा विष्णुप्रमाणेत् ॥ यह नियम भी पुरु-परप्र-युक्त होने पर पालनीय है । अन्यथा निम्नलिखित यम-वचन के अनुसार कार्य करना चाहिये :—

कृत्वा यज्ञोपवीतन्तु वृष्टत. कण्ठलम्बनम् ॥

मुत्र-नियम भी सम्भव होने पर अनुसरणीय है । अन्यथा निम्न निर्दिष्ट यम-वचन का आश्रय करना चाहिये :—

छायायामन्वकारे वा रात्रावहनि वा द्वित्रः ।

यथासुखमुत्र कुर्यात् प्राण-वायु भवेयु च ॥

श्लो० १७—मूर्तिः—सव्या नियम मनुस्मृति में यतछाया गया है :—

पूका छिन्ने गुदे तिष्ठः तथैकत्र चरे व्रत ।

उभयोः सप्त शतम्प्या गूरुः द्वाविंशतीति ॥

एक करे = वाम कर में । किन्तु यदि उपर्युक्त सख्या से शुद्धि नहीं हो सके तो सख्याधिपत्य का भी अवलम्बन करना ही चाहिए । यदि तु उक्त संख्या से भद्रप सख्या के द्वारा भी शुद्धि हो जाय तब भी उपर्युक्त सख्या-नियम को अदृष्टार्थ मानना चाहिए ।

शौच के विषय में आश्रम का नियम मनु ने बतलाया है :—

एतच्छुद्धौ च गृहस्थान्य द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।

त्रिगुणं स्वाह्वनस्थानां यतीनान्तु चतुर्गुणम् ॥

यह नियम द्विधा-शौच-विषयक है । रात्रि शौच आदि के विषय में दण्ड का कथन निम्नलिखित है .—

यद्योदितं दिवाशौचमर्थं रात्रौ विधीयते ।

आतुरस्य तदर्थं स्यात् तदर्धन्तु पणि स्मृतम् ॥

आतुर पद अघातुर का अभिप्रायक है । अत एव आपस्तम्ब का भी कथन है.—

आर्त्तं कुर्वाद् यथावलम् ॥

रात्री शूद्र आदि के शौच में सख्या नियम नहीं है । अत एव देवल का वचन है—

यावता मन्यते शुद्धिं शौचं कुर्वीत तावता ।

प्रमाणं द्रव्यं सख्या च न सिद्धैरुपदिरयते ॥

श्लो० १८—अभ्रतर्जानु—देवल का मत इस विषय में यह है.—“दिल्लर षड्भवा वसिश्वा” इति । ब्राह्मेण—यह प्रधान पक्ष है । मनु ने पश्चान्तर भी बतलाये हैं:—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन निर्य-कालमुपस्पृशेत् ।

काथत्रैदशिकाभ्यां वा न पिशयेण कदाचन ॥

त्रैदशिक = दैव तीर्थ ।

श्लो० २०—छानि = शिर रिधत इन्द्रियों को । अत एव गीतम का वचन है—“छानि चोपस्पृशेत् शीर्षणानि ।” मनु ने कुछ विशेष बतलाया है :—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्वि प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।

छानि चैव स्पृशेदन्निराश्रमान शिर एव च ॥

आश्रमानम् = हृदय को, क्योंकि श्रुति में हृदय को आश्रमा का स्थान बतलाया गया है .—

“दृष्टान्तर्ग्योति पुरुष ।”

श्लो० २५—सन्ध्यामिति—अविद्यमानार्थाधिकमात्तंण्डमण्डल स्पष्टलक्ष्य-  
ननुप्रगण कालविशेष सन्ध्या—बोरमित्रोदय । सन्ध्या का लक्षण बोधि याज्ञ-  
वल्क्य ने बतलाया है —

प्रयाणा चैव देवानां ब्रह्मादीनां समागम ।  
सन्धि सूर्यसुराणां च सन्ध्या तेन प्रकीर्तिता ॥

सन्ध्या फल का निर्देश मनु ने किया है —  
पूर्वा सन्ध्यां जपस्तिष्ठे-नैशमेनो व्यपोहति ।  
पश्चिमान्तु समासीनो मल इन्ति दिवाकृतम् ॥

यहा अनध्यायादिप्रतिबन्ध नहीं है । अत एव मनु का कथन है —

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैषके ।  
नानुरोधोऽस्थनध्याये होमस-त्रेषु चैव हि ॥

अग्निकार्यम्—यह उपलक्षण है —

अग्नीन्धन भैरुचर्षामघ शय्यो गुरोर्हितम् ।  
आसमावर्त्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विज ॥

अथ शय्याम् = अलट्वाशयनम् , न तु स्थण्डिलज्ञाविश्वमेव—कुल्लूक-  
भट्ट ।

श्लो० २६—अभिवादयेत् इति । अभिवादन का प्रकार मनु ने  
बतलाया है —

व्यश्वस्तपाणिना कार्यमुपसप्रहण गुरो ।  
सम्येन सद्य शपष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिण ॥

अभिवादन-वाक्य प्रयोग के विषय में मनु का कथन है —

अभिवादापर विप्रो उचार्यासमभिवादयन् ।  
असौ नामाहमस्मीति स्य नाम परिकीर्तयेत् ॥  
नामधेयस्य य क चिदभिवाद न जानते ।  
ता-प्राज्ञाऽहमिति प्रधात् मित्रयः सर्वास्तथैव च ॥  
भो शब्द कीर्त्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादन ।

और प्राथमिवादन-प्रकार भी मनु ने ही बतलाया है —

आयुष्मान् भव सौम्येति वाक्यो विप्रोऽभिवाद्ने ।  
अकारध्यास्य नाम्नोऽन्ते वाक्य एवापर प्लुता प्र

यहाँ अकार स्वरमात्र का उपलक्षण है, क्योंकि नाम में अकारान्तर  
का नियम नहीं है ।

‘गुहं चैवाप्युपासीत’ में उपासन का अर्थ प्रणाम से भक्तिरिक्त उपासना के लिए है, क्योंकि प्रणाम नृद प्रणाम पूर्वक ही मनु के द्वारा बतलाया गया है :—

लौकिकं वैदिकं चाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा ।  
आदर्शत यतो ज्ञानं तत्पूर्वमभिवाक्षयेत् ॥

श्लो० २९—दण्ड के विषय में मनु का वचन है :—

प्राज्ञो वैश्य पालाशी चप्रियो घाट-प्रादिशौ ।  
पैलघौदुम्बरी वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥

दण्ड का प्रमाण भी मनु ने ही बतलाया है :—

केशान्तिको प्राज्ञगण्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।  
ललाट-सन्निभो राज्ञः स्यात् नान्तान्तिको विना ॥

अग्नि के विषय में बृहस्पति का वचन है :—

कृष्णाग्निमप्राज्ञगण्य रीर्यं चप्रियस्य तु ।  
परताग्निन्तु वैश्यस्य सर्वेषां वा गवाग्निम् ॥

परताग्निम् = दाग चर्म । यम के अनुसार “सर्वेषां रौरवाग्निम्” का सिद्धान्त है । परन्तु दोनों ही मत तत्त्व अग्नि के सभाव में प्राज्ञ हैं ।

उपवीत के विषय में मनु का मत निम्नलिखित है :—

कार्पासमुपवीतं स्यात् विप्रस्योर्ध्वं त्रितृत् ।  
दागसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्यादिकसूत्रजम् ॥

त्रितृत् = तीन गुण करके । ऊर्ध्वं त्रितृत् = दक्षिणावर्तित । यहाँ छन्दोग-परिशिष्ट में निम्नलिखित विशेष है :—

ऊर्ध्वन्तु त्रितृत् कार्यं तन्तुप्रपमधोवृत्तम् ।  
त्रितृत् चोपवीतं स्यात् तत्रैको मन्थिरिष्यते ॥

अधोवृत्तम् = वामावर्तित । एवञ्च तीन सूत्रों को वामावर्तित करने के पश्चात् पुनः तीन बार दक्षिणावर्तित करने पर सङ्कलन में नौ सूत्र ही जाते हैं । उसके प्रत्येक त्रिक में एक मन्थि होनी चाहिये ।

मेखलाम्—इस विषय में मनु का वचन निम्न-निर्दिष्ट है :—

मौक्षी त्रितृत् समा श्लवगा कार्या विप्रस्य मेखला ।  
चप्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य घण-तान्तघो ॥

मूर्वा = एक प्रकार की लता । ज्या-पद के निर्देश से चप्रिय की मेखला में त्रितृत् का सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि वैया होने पर ज्यात्व का ही

अपहार हो जायगा—ऐसा मेधातिथि तथा गोवि-दराज का मत है । अनुकरण का भी निर्देश मनु ने किया है —

सुआलाभे तु कर्त्तव्या बुधाऽश्रमन्तक-वद्वजै ।

त्रिवृता प्रन्थिनैकन त्रिभि पञ्चभिरेव वा ॥

अश्रमन्तक = कुश सहस्र एणत्रिशेष । वद्वज = 'सावध' । मेखला आदि के नष्ट होने पर क्या करना चाहिए इसका नियम मनु ने ही बतलाया है .—

मेखलामजिन दण्डमुपवीत कमण्डलुम् ।

अप्यु प्रारथ विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥

माङ्गणेषु चरेद् भैक्षम्—यह मनुक्त का उपलक्षण है —

मानर वा स्वसार वा मातुर्वा भगिनीं निजाय् ।

भिचेत भिक्षाम्प्रथम या चैन नावसानयेत् ॥

एवं पूर्व के अभाव में उत्तरोत्तर पक्ष ग्राह्य है ।

श्लो० ३१—

साकृत्यान्नम्—अत एव आदिषु पुराण में कहा गया है :—

अग्न हृष्ट्वा प्रगम्यादीं प्राञ्जलि कथयंतत ॥

अरमाक नित्यमस्वेतदिति भवत्या स्तुवन्नमेत् ॥

मनु ने भी कहा है —

एजित ह्यशन निरयं बलमूर्जं च यच्छ्रुति ।

अएजित तु तद्भुक्तमुभय नाशयेद्विदम् ॥

श्लो० ३२—मनु का मन कुछ भिन्न है —

पट्टत्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरी त्रैवेदिकं मतम् ।

तदर्धमदादिकं चाऽपि प्रहणान्तिकमेव वा ॥

प्रतिवेद चारह चारह वर्ष, अथवा छ छ वर्ष, अथवा, तीन तीन वर्ष किम्वा अध्ययन-समाप्ति पर्यन्त ॥

श्लो० ३३—केशान्तरश्चैव गोदण्डो—यहाँ वर्ष की गणना गर्भ वर्ष से ही करनी चाहिए ऐसा बौधायन ने कहा है —

“म गर्भपोदण्डे वर्षे कर्त्तव्यः साग्निर्केन, गर्भादिः सवया वर्षाणाम्”

श्लो० ३७-३८—उपनयन की चरमावधि के विषय में मनु का भी यही मत है—

आषोदशाद् माङ्गणस्य सावित्री नातिवर्तते ।

आद्वाविंशत् चतुर्ष्वधोराचतुर्विंशतेर्विंशत् ॥

यद्यपि पैठीनसि का मत है—“द्वादश षोडश विंशतिश्चेत्यतीताः विद्वद्-  
काला भवन्ति” तथापि यह वचन इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि बार-  
हों वर्ष के योग जाने पर अनुपनीत ब्राह्मण, सोलहों वर्ष के समाप्त हो जाने  
पर अनुपनीत क्षत्रिय तथा सोस्रों वर्ष के अतिमान्य हो जाने पर अनुपनीत  
गैरय कुल पाप का भागी हो जाता है—यह वीरमिश्रोदयकार का मत है ।  
याज्ञवल्क्य ने अन्तिम अवधि का निर्देश किया है, अतः उपर्युक्त पैठीनसि से  
कोई विरोध नहीं पड़ता है ।

मास्यों की निम्न मनु के द्वारा निम्न-लिखित श्लोक में की गई है—

नैतैरपूतैर्पिषिषदापद्यि द्वि कर्हिचिप् ।

ब्राह्मन् धौर्नाश्व सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥

यहाँ ब्राह्मणपद द्विजातिमात्र का उपलक्षक है ।

श्लो० ३९—मौञ्जी-बन्धन रूप द्वितीय जन्म के विषय में मनु का  
कथन है :—

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जी-बन्धनचिह्नितम् ।

तत्रारय माता सावित्रा पिता स्वाध्याय उच्यते ॥

मनु ने द्वितीय जन्म के अतिरिक्ति तृतीय जन्म का भी निर्देश किया  
है—‘तृतीयं यज्ञ-दीपायाम्’ । यहाँ यज्ञदीपा का अर्थ उद्योतिशोमादि-यज्ञ-दीपा  
है । इस तृतीय जन्म के विषय में कुल्लूकभट्ट की व्याख्या है—प्रथम-  
द्वितीय-तृतीयजन्मकथनञ्चेद् द्वितीयजन्म स्तुर्यर्थम्, द्वितीयैव यज्ञ दीपाया-  
मधिकारात् ।

श्लो० ४४—अथर्वाङ्गिरसः—इसकी व्याख्या शूलपाणि ने निम्न-  
लिखित शब्दों में की है :—“अङ्गिरसा पृथक्कृतं सामवेदैकदेशम् अभिचार-  
प्रधानकम्” ।

श्लो० ४५—नारादासी :—इसका अर्थ शूलपाणि ने “नारायणस्तुति-  
प्रकाशक श्लक्” किया है । “इदं जरा उपस्कृता” इत्यादि तीन श्लक् जो  
ऋग्वेद के शिल्भ भाग में निर्दिष्ट हैं, नारादासी कहलाते हैं—ऐसा वीर-  
मिश्रोदय का मत है । विद्या शब्द का अर्थ शूलपाणि के अनुसार, उपनिषद् है ।

श्लो० ४६—एनूयाम् का अर्थ सवर्ण वरनी है, ऐसा पूसपाणि तथा  
वीरमिश्रोदय-कार का कथन है । वैश्वानरेपि वा—अग्निशूभ्रपा का निरूपण  
चालम्भट्टी ने निम्नलिखित हारोत, शल्ल लिखित तथा यम के वचन के  
अनुसार किया गया है :—



“यज्ञियाः समिध आहृत्य समार्जनोपलेपनोद्धोघनसमूहनेग्धनपर्यग्नि-  
करणपरिक्रमणोपस्थानहोमस्तोत्रनमस्कारादिभिरग्नि परिचरेन्नाग्निमधितिष्टेद्य  
पद्भ्यां कर्षेन्न मुखेनोवधमेव नापक्ष अग्निं च युगपत् धारयेत् नाजीर्णमुक्तो  
नोच्छिद्यो वा अभ्यादुष्याद्विविधैर्हविर्विशेषैर्यज्ञियैः अहरहरग्निमिन्धेदामभ्य  
गच्छेत् आगत्य निवेदयेत् तन्मना शरीरोपरमान्ते प्रक्षणाः सायुज्य गच्छति” ।

श्लो० ५०—इस कथन से यह सङ्केत किया जाता है कि चातुराश्रम्य  
का विधान नित्य नहीं है अपितु ऐच्छिक । तत्पर्य यह है कि चातुराश्रम्य में  
व्यतिक्रम की सम्भावना नहीं है अतिक्रम तो सर्वथा सम्भव है ।

श्लो० ५१—वर शब्द का अर्थ गुरु का अभिमत पदार्थ ही है । अत  
एव मनु का भी कथन है :—

चेत्रं हिरण्यं गामश्व छत्रोपानहमासनम् ।

धान्यं शकं च वासासि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥

यह उपलक्षण-मात्र है, यथासम्भव अन्यान्य पदार्थ का भी समर्पण  
करना चाहिए । यही बात लघुहारीत के वचन में भी कही गई है :—

एकमप्यथर यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।

पृथिव्या तास्ति तद्द्रव्य यद्वा चानुष्णी भवेत् ॥

इससे स्पष्ट है कि केवल गुरु-प्रसन्नता ही गुरु-दक्षिणा है । यहाँ वेदा-  
ध्ययन का तत्पर्य अर्थज्ञान-पूर्वक वेदाध्ययन से है । अतएव कूर्म पुराण में  
कहा गया है :—

वेद वेदौ तथा वेदान् वेदान् वा चतुरो द्विजः ।

अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद्यथाविधि ॥

अतएव प्रकृत याज्ञवल्कर-श्लोक में 'वेदम्' इस एकवचन को भी जाति-  
विवक्षा से ही उपयुक्त मानना चाहिए ।

मतानि—इस प्रसङ्ग में बालम्भटी का परिष्कार निम्नलिखित है :—

“मतपक्षेपि आरभ्यकमधीत्यैव तत् ।

वेद मतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ।

मतपक्षेऽपि शब्दार्थमारभ्याप्ययने कृते ॥

इति कारिकाभेः । शब्दार्थमहरप्रहणार्थम् न तर्पणानाऽपेक्षाऽपि,  
अनुष्ठानानुपयोगात् । विवास्तुत्तरकालं साधनचतुष्टयसम्पन्नं प्रस्तुत्तरमीमांसा-  
प्रवृत्तेः । प्रागुक्तकौर्मन्नु कर्मकाण्डार्थज्ञानपरमिति भावः ।”

श्लो० ५२—लपण्याम्—बाह्य लपण के विषय में मनु का कथन है :—

अथज्ञात्री सौम्यनाम्नी हंसवारणगामिनीम् ।

तनुष्ठीमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुदहेस्त्रियम् ॥

आभ्यन्तर लपणों का वर्णन आर्यलपण ने इस प्रकार किया है :—

दुर्विज्ञेयानि लपणान्यथै पिण्डान् कृत्वा 'ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञे ऋते सत्य-  
मप्रतिष्ठितं यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यस्तस्यं तद् दृश्यताम्'  
इति पिण्डानभिमन्त्र्य कुमारीं मूयादेवामेकं गृह्णाणेति। चेत्राचचेदुभयतः सस्याद्-  
मृत्तीपात् अन्नवत्पस्याः प्रजा भविष्यति इति विद्यात्, गोष्ठात् पशुमती,  
वेदि-पुरीपात् प्रह्वार्घशिवनी, अविदासिनो हृदात् सर्वसम्पन्ना, देवनात्  
कितविनी, ईरिगादधन्वा, रमनानात् पतिस्त्री" ( भा० सू० सू० १।५।८-६ )

उभयतः सस्य चेत्र आदि वाक्योक्त आठ स्थानों से मिट्टी लेकर आठ ही  
पिण्ड बनाना चाहिये। उन पिण्डों को 'ऋतमग्रे प्रथमम्' आदि मन्त्र से  
अभिमन्त्रित कर कन्या को यथेष्ट किमी पिण्ड का स्पर्श करने के लिये  
कहना चाहिये। प्रत्येक पिण्ड के स्पर्श का फल उपयुक्त समझना चाहिये।  
उभयतः सस्य चेत्र का अर्थ है जिस चेत्र में वर्ष में दो बार उपज होती है।  
वेदिपुरीपम् = अणकर्म में घनाई हुई वेदी। अविदासी हृद = मन्दा जलयुक्त  
हृद; देवना = शुभा खेलने का स्थान; द्विप्रजाजिनी = अनेक पुरुष से सम्पर्क  
करने वाली; ईरिग = जहाँ बीज में अङ्कुर न होता हो ऐसी नमकीन भूमि।

यह परीचा कुल-परीचा के बाद करनी चाहिये। कुल-परीचा के विषय में  
मनु का कथन है :—

महान्पवि समृद्धानि गोऽजाबिधनधान्यतः ।

स्त्रीसम्बन्धे हृशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥

हीनक्रियं निष्पुरुष निष्दम्बो रोमशाशंसम् ।

पयामयाभ्यपरमारिभ्रित्रिकुण्डिकुलानि च ॥

हीनक्रिय = जातकर्मादि संस्कारशून्य; निष्पुरुष = पुरुषहीन, स्त्रीमात्र-  
चक्षेप; निष्दम्बः = वेडाध्ययनशून्य, रोमश = दीर्घरोम सम्पन्न; अशंस =  
'अशंस' रोगग्रस्त; पय = राजपत्नी; आमयावि = मन्दाग्निरोग; अपरमार = रोग  
विशेष ( Epilepsy ); भ्रित्र = श्वेत-कुण्ड ।

स्वयं याज्ञवल्क्य भी इसका वर्णन आये—“स्त्रीतादपि न सञ्चारि-रोग-  
क्षोषसमन्वितात्” ( श्लो० ५४ ) में करेंगे।

श्लो० ५३—अरोगिणीम्—यह मनुक्त दोषों का उपलक्षण है। मनुस्मृति  
में निम्नलिखित प्रकार की कन्या श्याज्य मानो गई है :—

नोद्धेत् कपिलां कन्यां नाधिकार्त्रीं न रोगिणीम् ।  
नालोमिका नातिलोमा न वाचालां न पङ्किलाम् ॥  
न संवृद्धनदीनाम्नीं नान्यपर्वतनामिकाम् ।  
न पद्महिम्रेप्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥

एष च प्रतिषेध न भार्यात्वाभावकलक किन्तु शास्त्रातिक्रमात्प्रायश्चित्त-  
मात्रम्—ऐसा कुल्लूक भट्ट का मत है । आतृमतीम्—इसकी व्याख्या  
मनुस्मृति में ही मिलती है —

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।  
नोपयच्छेत् ताम्प्राज्ञं पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥

वह कन्या जिसके भावी पुत्र को उस कन्या का पिता स्वपुत्राभाव होने  
के कारण अपने श्राद्धाधिकारी के रूप में मनोमांत कर लेता है—पुत्रिका  
कहलाती है —

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वति पुत्रिकाम् ।  
यदपरय भवेदस्यां तन्मम स्वरास्वधाकरम् ॥

असमानार्पणोन्नयाम्—यहा कुल्लू विशेष विवरण शूलपाणि ने दिया है—  
पितु पितु स्वसु पुत्राः पितुर्मातु स्वसु सुता ।  
पितुर्मातुलपुत्राश्च विशेषा पितृशान्धवाः ॥  
मातु मातु स्वसु पुत्रा मातु मातु स्वसु ( पितृत्वसुः ) सुता ॥  
मातुर्मातुल पुत्राश्च विशेषा मातृशान्धवाः ।

श्लो० ५५—परीक्षित पुस्त्रे—इस विषय में शूलपाणि ने देवल के दो  
वचन उद्धृत किए हैं :—

रेतोऽस्य प्लवते नाप्सु ह्लादि मूत्र च फेनिलम् ।  
पुमान् स्यादृष्टणैरेतैर्विपरीत नपुंसकम् ॥  
न मूर्ध्नं फेनिल यस्य विष्टा चाप्सु निमग्नाति ।  
मेढ्रक्षो-मादशुक्राम्पी हीनः बलीवः स उच्यते ॥

परन्तु प्रथम श्लोक के प्रथम पाद में जो वर्णन है वह निम्नलिखित नारद-  
वचन से विपरीत है—

“यस्याप्सु प्लवते वीर्यं ह्लादि मूत्र च फेनिलम् ।  
पुमान् स्यादृष्टणैरेतैर्विपरीतस्तु पण्डकः ॥

श्लो० ५८—एकविंशतिम्—इस प्रसङ्ग में मनु का वचन यह है —  
दश पूर्वान्परान् वरयान्भ्रामान चैकविंशतिम् ॥

ब्राह्मणविवाह का परिष्कृत लक्षण नीरमिन्द्रोव्य में इस प्रकार दिया गया है—  
 “निरुपाधिककन्यादानपूर्वकः सवर्णापरिणयो ब्राह्मो विवाहः । उपाधयश्च  
 ऋत्विक्स्वद्रव्यग्रहणसमयवन्धादयः” ।

श्लो० ५९—ऋत्विजे—दक्षिणासु दीयमानासु कन्यादानम्—ऐसा शूल-  
 पाणि का परिष्कार है । गोद्वयम्—यह उपलक्षण है । अत एव मनु ने  
 कहा है—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।

कन्याप्रदानं विधिवदापौ धर्मः स उच्यते ॥

श्लो० ६०—धर्ममिति—अत्र धर्मशब्दः ‘अर्थकामयोरप्युपलक्षणम् स्मृ-  
 त्यन्तरानुरोधत्—यह बालभट्टीकार का मत है ।

श्लो० ६१—युद्धहरणात्—अत एव मनु का कथन है—

ह्रस्वा क्षिप्वा च भिरगा च क्रोशन्ती रुदती गृहात् ।

प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥

कन्यकाच्छ्रुत्वात्—इसका स्पष्टीकरण मनु में हुआ है :—

सुप्तं मत्तं प्रमत्ता वा रहो यत्रोपगच्छति ।

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाच्छचाष्टमोऽधमः ॥

इन अष्टविध विवाहों के विषय में जात्यनुकूल व्यवस्था का निर्देश  
 मनु ने इस प्रकार किया है :—

पदानुपूर्व्यां विप्रस्य चप्रस्य चतुरोऽचरान् ।

विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्यादभ्यानराक्षसान् ॥

ब्राह्मण के लिए ब्राह्म, वैव, धार्य, प्राजापत्य, भानुर एवं गान्धर्व, क्षत्रिय के  
 लिए, भानुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच; वैश्य एवं शूद्र के लिए भानुर,  
 गान्धर्व और पैशाच विवाह धर्म्य हैं । विशेष विवरण के लिए निम्न-लिखित  
 मनु-वचन द्रष्टव्य है :—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कचवो विदुः ।

राक्षसं क्षत्रियस्यैकभानुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ इत्यादि ॥

श्लो० ६२—क्षत्रिया क्षरम् = ब्राह्मणवराहस्तपत क्षर । प्रतोद = चर-  
 हस्तस्थ यष्टि । शूद्रा के विषय में मनु का कथन है—

वसनस्य दशा ब्राह्मण शूद्रयोःकृष्ट-वेदने ॥

किन्तु स्वयं याज्ञवल्क्य ने शूद्रा के विषय में कुछ नहीं कहा है, कारण  
 शूद्रा ग्रहण ब्राह्मण के लिए याज्ञवल्क्य का कथनपि ममत्त नहीं है—

यद्युच्यते द्विजादीनां शूद्राहारोपसग्रहः ।

नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रार्यं जायते स्वयम् ॥ या० स्मृ० १।५६॥

श्लो० ६४—कन्या कुर्यात् स्वयंवरम्—यह अधिकार तीन शत्रुकाल के अतिक्रमण के बाद ही होता, ऐसा विष्णु का कथन है—

शत्रुप्रथमतोरथैव कन्या कुर्यात् स्वयंवरम् ।

शत्रुप्रथमे व्यतीते तु प्रभु कन्या स्वयंवरे ॥

परन्तु यदि पिता आदि के जीवित रहने पर भी कन्या का अभिभावक-प्रमादादि के कारण उचित समय पर कन्यादान नहीं करे, वैसी स्थिति में यौधायन का सिद्धान्त निम्न-लिखित है—

श्रीणि वर्षाण्यतुमती कारेत पितृनासनम् ।

ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृश पतिम् ॥

अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रयेत् ॥

इस प्रसङ्ग में नारद का निम्न निर्दिष्ट वचन भी ध्येय है—

यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाश्रयेत् ।

अनुज्ञया वर तस्य परीक्ष्य वरयेत् स्वयम् ॥

श्लो० ६५—सकृददायते कन्या—यही मनु का भी मत है—

सकृदशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।

सकृदाह ददानीति श्रोष्येतानि सतां सकृत् ॥

श्लो० ६६—यदि वर भी अपना दोष पहले स्पष्ट नहीं कर देता है तो उसे भी दण्ड मिलना चाहिए । वर दण्ड की व्यवस्था नारद के अनुसार निम्न-लिखित है—

गूहयित्वाऽऽरमनो दोषान् विन्दन्नश्ययमर्हति ।

वरस्य दत्त नाशश्च भवेत् स्त्री च निवर्तते ॥

अशय = दण्ड । कहीं-कहीं द्वितीय पाद में “विन्दते द्विगुणो दमः” पाठान्तर है ।

श्लो० ६८-६९—वहाँ मनुस्मृति में विधवा के लिए विशेष बतलाया गया है—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताका पाशवतो निति ।

एकमुखादयोऽपुत्रं न द्वितीय कथञ्चन ॥

श्लो० ७०—याज्ञवल्कर का यह कथन सर्वज्ञ स्वभिवारिणी के लिए है । हीनवर्ण-स्वभिवारिणी के लिए यदस्वति ने निम्नलिखित व्यवस्था की है—

हीनवर्णोऽपभुक्ता या त्याज्या वप्या च सा भवेत् ॥

श्लो० ७१—इस प्रसङ्ग में वृहस्पति का वचन अवधेय है—

रोमोद्भवे सती शुद्धके गन्धर्वं कुचदर्शने ।

अनलस्तु रजोयोगे स्त्रियो शुद्धके तु ना-यथा ॥

श्लो० ७२—यहाँ द्वितीय विवाह की अवधि का निरूपण मनु ने इस प्रकार किया है—

बन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याद्ये दशमे तु मृत मया ।

एकादशे स्त्रीजातनी सद्यस्वमियवादिनी ॥

अमियवादिनी के साथ अपुत्रा का अस्याहार करना आवश्यक है ।

श्लो० ७३—युग्मासु सविशेत्—युग्मरात्रिगमन से पुत्र होता है—ऐसा मनु का कथन है —

युग्मासु पुत्रा जायन्ते त्रिवोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी सविशेदात्तैवे स्त्रियम् ॥

भाषाश्रतदारु वर्जयत्—यद्यपि दारु ने पति के लिए चतुर्थं दिन में ही पत्नी की शुद्धि मानी है—

शुद्धा भर्तुश्चतुर्थंऽह्नि अशुद्धा वैवर्षिययो ।

तथापि यह शुद्धि सेवा के लिए न कि सम्भोग के लिए भी । अतएव मनु का भी कथन है—

“तासामादारषतस्त्रस्तु निन्दिता ” ।

श्लो० ८९—यह नियम सवर्णा स्त्री के विषय में है । अतएव मनु का कथन है—

एव वृत्तां सवर्णा स्त्री द्विजाति पूर्वमारिणीम् ।

दाहयेद्ग्निसहोत्रेण यज्ञवात्रैश्च धर्मवित् ।

अतएव निम्नलिखित वचन को असवर्णा स्त्री के विषय में समझना चाहिए—

यो दहेद्ग्निसहोत्रेण रवेन भार्या कथञ्चन ।

स स्त्री सम्पद्यते तेन भार्या चारय पुमान् भवेत् ॥

श्लो० ९१—पारदावोऽपि वा—पारदाव की श्लेषति मनु ने निम्न निर्विष्ट पद्य में की है—

य प्राक्ष्णस्तु दूत्रार्था कामादुत्पादयेत् सुतम् ।

स पारद-नेव दावस्तस्मात् पारदाया स्मृत ॥

पारमन् = जीवन् । यद्यप्यय विपुपकारार्थं ध्यादादि करोत्येव तथाप्य-  
सम्पूर्णोपकारकत्वात् 'शव' व्यपदेशः—कुवल्कल भट्ट ।

इन सबों की जीविका का निर्देश मनु ने दशवें अध्याय में विशदरूप में  
किया है ।

श्लो० ९५—रथकारः प्रजायते—गौघायन क कथनानुसार वैश्य से शूद्रा  
में उत्पन्न सुत रथकार कहलाता है—“वैश्याःशूद्रायां रथकारः” । अतः रथ-  
कार शब्द को अनेकार्थक मानना चाहिए—देसा शूलपाणि का मत है ।

श्लो० ९८—इस कार्य के समय के विषय में दृष्ट का कथन है—

उपः काले तु सम्प्राप्ते दौर्चं कृत्वा यथार्थवत्  
ततः स्नानं प्रकुर्वीत दन्तधावन-पूर्वकम् ।

श्लो० १०१—विद्या चाध्यात्मिकीम् = उपनिषद्म् ।

श्लो० १०२—पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान का फल भी मनु ने बत-  
लाया है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य सुवर्णी पेण्युपस्करः ।  
कण्ठनी चोदकुम्भश्च वष्यते यास्तु वाहयन् ॥  
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।  
पञ्च बलुता महायज्ञाः प्रत्यह गृहमेधिनाम् ॥

यहाँ कुवल्कलभट्ट की टिप्पणी है—प्रत्यहमिष्यभिधानात् प्रतिदिनं तस्या-  
पचयस्यापेक्षितत्वात् सन्ध्यायन्दनादिवधिव्यवमपि न विरुष्यते ।

पञ्च महायज्ञों के नामान्तर भी मनुस्मृति में दिये गये हैं—

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहृतमेव च ।  
प्राक्ष्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान् प्रचक्षते ॥  
जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहृतो भौतिको बलिः ।  
प्राक्ष्यं हुतं द्विजामयार्थं प्राशितं वित्तर्पणम् ॥

श्लो० १०५—सम्भोजय—हमसे बाल आदि का भोजन अतिथि से पूर्व  
ही कराना चाहिए—देसा सिद्ध होता है । अत एव मनु ने कहा है :—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोमिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।  
अतिथिम्योऽप्यप्यैतान् भोजयेद्विचारयन् ॥

श्लो० १०६—उपनिषत् = पूर्वम् , अधस्तात् = परत्वात् ।

श्लो० १०७—अतिथि की परिभाषा मनु ने की है—

एकराश्रं तु निवसन्नतिथिर्माह्वयः स्मृतः ।  
अनिश्चं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥

सायमपि—अतिथि को सायंकाल में भोजन नहीं देने पर पाप का निदर्शन विष्णुपुराण में किया गया है—

दिवाऽतिथौ तु विमुले गते यथातकं नृप ।

तदेवाष्ट-गुणं प्रोक्तं सूर्योद्वे विमुले गते ॥

यदि प्राह्मण के गृह में चत्रिय आदि उपस्थित हों तो उनके विषय में मनु के निम्नलिखित वचन ध्येय हैं—

न प्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।

वैश्यशूद्रौ सखा वैश ज्ञातयो गुरुते च ॥

यदि त्वतिथिधर्मेण चत्रियो गृहमाव्रजेत् ।

भुक्तयस्तु च विभ्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्सौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणी ।

भोजयेत्सह भूयैस्तानानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥

इतरानपि सख्यादीन् सम्प्रीत्या गृहमागतान् ।

प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥

श्लो० ११०—अर्थः—अर्घ्यपद मधुपर्क का उपलक्षक है । अत एव मनु का कथन है—

राजर्विक-स्नातक-गुरुन् प्रियरवशुामातुलान् ।

अर्घ्येन्मधुपर्केण परिसम्भारसराणुनः ॥

परिसम्भारसरात् = सम्भारसरा धीतने के बाद । अर्थः—यह पद पूज्यमात्र का उपलक्षण है । एवञ्च सारपर्यं यह है कि एक वर्ष के धीतने के बाद स्नातक आदि का मधुपर्क से पूजन करना चाहिये । यदि सम्भार-मध्य में ही यज्ञ उपस्थित हो तो सम्भार-मध्य में भी वे सम्मानार्ह हैं । परन्तु यदि सम्भार के बीच कोई यज्ञ नहीं उपस्थित हो तो सम्भार के धीत जाने के बाद यज्ञ उपस्थित हो या नहीं हो, उनका सम्मान अवश्य ही करना चाहिये । यहाँ मनु ने राजा तथा स्नातक के पूजन में विशेष बतलाया है कि यदि सम्भार-मध्य में यज्ञ की उपस्थिति नहीं होती है, तो सम्भार के धीत जाने पर भी राजा तथा स्नातक की पूजा यज्ञ में ही करनी चाहिये न कि केवल सम्भार के अतिक्रमण से ही—

राजा च श्रोत्रिवक्षैव यज्ञकर्मण्युपरिपत्तौ ।

मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्यज्य इति स्थितिः ॥

अतः राजा तथा स्नातक का यज्ञ में और शेष का सम्भार-मध्य में यज्ञ-काल में, सम्भार के धीतने पर यज्ञाऽयज्ञा-साधारण पूजन करना चाहिये ।



श्लो० ११२—भति-भोजनम्—भत एव मनु ने कहा है—

भनारोभ्यमनाद्युभ्यमस्वभ्यं चाति-भोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत्परिवर्जयेत् ॥

श्लो० ११३—भातीमान्तम्—यहाँ अपराधोंवाक्या में तीन प्रकार की सीमा बतलाई गई है—सीमा त्रिविधा—वास्तु सीमा, ग्राम सीमा, क्षेत्र-सीमा च; सा चानुमज्जनीयगुणापेक्षया स्ववस्थापनीया ।

श्लो० ११६—वार्धक—मनु का कथन है—द्वौषि वसन्ती गतः । ९० वर्ष की अवस्था के बाद शूद्र भी प्रतिष्ठित होता है। परन्तु गौतम ने ८० वर्ष को ही परमावधि मानी है ।

श्लो० १२७—कुशूलेति—द्वादशदिनोचित-धान्याधारा कोवी कुशूलः, पद्दिनोचित-धान्याधारा कुम्भी—शूलपाणिः ।

श्लो० १३९—प्रेतधूमम्—वाल्मभट्टीकार ने 'प्रेतधूम का अर्थ बालातप किया है। इन्होंने अपने मत के समर्थन में निम्न लिखित मनु के वचन को प्यान में रक्खा था—प्रेमा प्रतीत होता है—

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसृजम् ।

परन्तु यहाँ बालातप एवम् प्रेतधूम से उद्देश्य-विधेय-भाव की कहरना करना भ्रममूलक है। यहाँ तो बालातप एवं प्रेतधूम दोनों ही स्वतन्त्र पदार्थ हैं जिनको मनु ने वर्ज्य माना है। अतः प्रेतधूम का अर्थ दहमान-दाप-धूम ही करना चाहिए।

श्लो० १४०—न राज्ञः प्रतिगृह्णोयात्—इस प्रसङ्ग में मनु के निम्न-लिखित वचनों को देखना चाहिए—

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योऽप्युद्वेगप्रसिन्नाः ।

स पर्वणिण बालीमान् नरकानेक-विंशतिम् ॥

तामिष्टमन्धतामिष्ट महारीरवरीरवौ ।

नरकं काटयुय च महानरकमेव च ॥

सज्जीवन महावीरि सपत्नं मत्पतापनम् ।

संघात च सकाश्लेष्ठ युद्धमलं प्रतिमूर्च्छम् ॥

छोहृत्तुगुपीडं च पन्थान दाशमलिनश्रीम् ।

अस्तिपत्रवन शैत्र छोहृद्दारकमेव च ॥

पूतद्विदन्तो विद्वंसो बालजा मल्लकारिनः ।

न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेष धेयोऽभिकांक्षिन्नाः ॥

श्लो० १४१—इस प्रसङ्ग में मनु का कथन अधिक स्पष्ट है—  
 न राज्ञः प्रतिगृहीयात् अराजन्म्यप्रसूतितः ।  
 सूनाचक्रप्रजवर्ता वेशेनैव च जीवताम् ॥  
 दशसूनासमं चकं दशचक्रमसो ष्वजाः ।  
 दशष्वजसमो पेशो दशवेदासमो नृपः ॥  
 दशसूनासदधानि यो याद्वयनि सैनिकः ।  
 तेन तुदयाः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥

श्लो० १४६—अमावास्या आदि में अष्यवन के दुष्परिणाम का वर्णन मनुस्मृति में इस प्रकार किया गया है :

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।  
 प्रद्याष्टकापीर्णमास्यां तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥

प्रद्य = वेद को ।

श्लो० १५४—आचारमाचरोत्—इस प्रसङ्ग में मनु के षडन को ध्यान में रखता चादिप—

आचारावलभतेऽयुः आचारादीप्सिताः प्रजाः ।  
 आचारान्नमघटपमाचरो दृश्यन्तश्चणम् ॥  
 दुराचरो हि पुण्यो लोके भवति निन्दितः ।  
 दुःखभागी च सततं व्याधितोऽवरायुरेव च ॥  
 सर्षलपुत्रहीनोऽपि यः सदाचारकाश्रयः ।  
 अह्यानोऽनसृष्यन्नं सर्षणि ज्ञोवति ॥

श्लो० १५५—पुत्रं शिष्यं च तादयेत्—बट ताएन केवळ अनुशासन के लिपू काना चादिप । अत एव मनु ने कहा हैः—

दित्पूर्वर्षं तादयेत् तौ ॥

शास्त्र की निन्दा का कुछ मनुस्मृति में चतलाया गया है—

शास्त्रायाः कृत्यैश्च द्विजातिर्वर्षकाश्च यथा ।  
 द्यतं वर्षानि तासिन्धे नरके परिश्रान्ते ॥  
 ताश्च विद्या दृष्टेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।  
 एवंबिन्दिगिमाचारैः पापवोनिषु जायते ॥ इत्यादि ।

श्लो० १५७ ५८—इन लोगों ने निन्द प्रदी करके पर इन लोगों के अधीनस्थ लोगों पर विषय मितर्ता है । इन लोगों के पशोभूत लोगों का विवरण मनु ने निम्नलिखित प्रकार से पाया जाता हैः—

आचार्यो मद्रथोकंताः प्राजापये चिता प्रभुः ।

अतिथिरिव-द्रलोकेऽशो देवलोकरय चर्विज ॥  
 जामयोऽप्सरसां लोक वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।  
 सम्बन्धिनो ज्ञवां लोके पृथिव्यां मातृमातुल्ये ॥  
 आकाशेऽनास्तुविज्ञेया बालवृद्धकृशातुरा ।  
 भ्राता ज्येष्ठ सम पित्रा भार्या पुत्र स्वका तनु ॥  
 छाया स्थो दासवर्गश्च दुहिता कृपण परम् ।  
 तस्मादेतैरधिष्ठित सहेताऽसञ्चर सदा ॥

जामयः = विद्यमानभर्तृका भगिनीस्तुपाद्या, बान्धवा = पितृमातृपत्न्याः  
 जना, सम्बन्धिन = जामातृश्यालकादयः; कृषा = कृषधन; सधित = आधित  
 इत्यर्थः ।

श्लो० १५९—मुनि ने परकीय जलाशय आदि में स्नान का प्रतिषेध  
 किया है—

परकीय—निपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।  
 निपान यत्तु स्नाया तु दुष्कृतोऽनेन लिप्यते ॥

अशेन = चतुर्थाशेन । इसका प्रायश्चित्त भी व्यासने बतलाया है—  
 अ-यज्ञे खानिता कृपा तद्वागा वाप्य एव च ।  
 एषु स्नाया च पीथा च प्राजापश्येन द्युष्यति ॥

इसी में विशेष व्यवस्था बतलाने के लिए याज्ञवल्क्य ने—पञ्च पिण्डान  
 सुदृश्या न स्नायात् पर वारिणि—कहा है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि  
 स्नानार्थं अकृत्रिम नदी आदि को उपलब्धि नहीं होती हो तो परकीय निपान  
 में भी पाँच पिण्ड का उद्धरण कर स्नान करना चाहिए । अत एव विष्णु का  
 वचन है— पर—निपानेषु ऽ स्नानमाचरेत् आचरेद्वा पञ्च पिण्डानुदृश्या  
 आपदि” इति । सर्वार्थमुत्सृष्टेषु परकीयस्वाभावाद्गुदरानेऽपि न दोषः—ऐसा  
 हेमाद्रि का मत है । स्नाया-नदी देव०—अत एव मनु का भी मत है—

चदीषु दैवत्वात्तपु तद्वागेषु मर तु च ।  
 स्नान समाचरेद्भयं गतं-प्रद्ववणेषु च ॥

श्लो० १६०—इस विषय में मनु ने पाप का निर्देश किया है—

मरुत्तद्व्यसना-यज्ञे कूपोद्यान-गृहानि च ।  
 अदत्ता युवभङ्गा एतसः स्यात्पुण्यभाक् ॥

अदत्तानीनि स्वाश्वभाव अनुमत्यभायश्च विवर्षित —ऐसा गृहपानि का  
 मत है ।

अग्निहीनस्य—धीत—स्मारतांग्पधिकारहीनस्य शूद्रस्य भविषिनोऽसृष्टा-  
ग्नेद्विजस्यापि ।

श्लो० १६१—कव्येति—कव्यं की परिभाषा नारद ने इस तरह  
की है—

आत्मानं धर्मकृत्पञ्च पुत्रदारांश्च पीडयन् ।

छोभाष्यः प्रबिनोऽथर्धान् स कव्यं इति स्मृतः ॥

यद्—निगद्यच्छः । अत एव मनु का कथन है—यद्स्य निगदस्य  
च । निगद्यस्येति तृतीयायें पठ्या—कुल्लूकभट्ट । रङ्गावतारी—नटगायकव्यति-  
रिक्तस्य रङ्गावतरणजीविन —कुल्लूकभट्ट, मेधातिथि ।

वार्षुष्य — यस्तु निन्देत् पर जाव पञ्चसत्यात्मनो गुणान् ।

स वै वार्षुषिको नाम —विष्णु

समर्घं पण्यमुद्घृत्य महाघ य प्रयच्छति ।

स वै वार्षुषिको नाम यश्च वृद्धया प्रयोजयेत्—यम ।

श्लो० १६२—प्यामन्न न भोक्तव्यम्—इन सगों के अन्न-भक्षण से दोष  
मनुस्मृति मे बतलाया गया है—

य एतेऽग्न्ये स्वभोजयात्रा क्रमशः परिकीर्त्तिताः ।

तेषां स्वगस्थिरोमाणि पदग्रयश्च मनीषिणः ॥

तेषां स्वगस्थि-रोमांश्च भक्षणेन चः दोष एतेषामन्नभक्षणेऽपि—कुल्लूकभट्ट ।

श्लो० १६६—अर्धसीरिण —कापिका । ये शब्द सापेक्ष शब्द हैं । अत  
एव जो जिसकी कृपि करता हो उसका का अन्न उस व्यक्ति मात्र के लिए भोज्य  
है । इसी तरह दास गोपाल आदि के विषय मे भी समझना चाहिए ।  
यथात्मानं निवेदयेत्—निवेदन का प्रकार मनु ने बतलाया है—

यादृशोऽस्य भवेदारमा यादृशं च चिह्नीपितम् ।

यथा चोपचरेदेन तथाऽऽत्मानं निवेदयेत् ॥

श्लो० १७०—सन्धिनी—ऋतुमती वृषमिच्छती गौ । या गमिगी सति  
दुग्धे सा सन्धिनी—हरदत्त । अनिर्दशा—यह अजा तथा महिषी का भी  
उपलक्षण है । अत एव यम का कथन है—

अनिर्दशाह गोर्धोरमाज माहिषमेव च ॥

श्लो० १७५—मरस्याश्च कामत —मरस्य भक्षण को निन्दा मनुस्मृति में  
की गई है—

यो यस्य मासमश्नाति स तन्मासाद् उच्यते ।

मास्याद् सर्वमासाद् तस्मान्मरस्यान् विवर्जयेत् ॥

मरुत्य के सर्वमांसभक्षक होने के कारण मरुत्यादा (सर्वमांसाद) कहा गया है ।

श्लो० १७६—इस श्लोक में कथित लघुन तथा गृञ्जन पलाण्डु के ही भेद हैं—

लघुनो दीर्घपत्रश्च विष्णुगन्धो महौपधम् ।

तरुण्डम पलाण्डुश्च नरलङ्घ पराकिका ।

गृञ्जनो यवनेष्टश्च पलाण्डोर्दश जातय ॥

श्लो० १७७—अथवा पञ्चनखा—यहाँ मनु ने यद्यपि खड्ग का भी निर्देश किया है तथापि वह धातुविषयक है—ऐसा शूलपाणि का मत है ।  
सेषा = स च खभक्षको व्याघ्रविशेष —अपराकं । गोघा = बड़लीसदृश प्राणि—विशेष —अपराकं ।

श्लो० २१२—सर्वधर्ममय ब्रह्म—अतएव मनु का भी मत है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदान विशिष्यते ।

श्लो० २१५—अथाचिताहृतम्—मनु का भी निर्देश है—

आहृताभ्युद्यताग्निभ्याम् पुरस्तादप्रचोदिताम् ।

मेने प्रजापतिर्प्राज्ञाम् अपि दुष्कृतकर्मण ॥

श्लो० २१६—सर्वत —देव आदि के अर्चन के लिए ही न कि भारम-पाठन के निमित्त भी । अतएव मनुस्मृति में कहा गया है —

गुरुन् श्रुत्याश्चोऽजहीर्षन् अर्चिष्य-देवतातिथीन् ।

सर्वत प्रतिगृह्णीयात् न तु नृप्येव स्वय तत ।

आरमवृत्त्यर्थमेव च—मनुस्मृति में आरमवृत्ति के लिए केवल साधुजन के अ न का ही प्रतिग्रह विहित माना गया है—

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु जिना वा तैर्गृहे वसन् ।

आरमनो वृत्तिर्निवृद्धन् गृह्णीयात्साधुत सदा ॥

श्लो० २१७—२८ = व्यतीपात —

अथणाश्विपनिष्ठऽऽर्द्रानामदैवतमस्तके ।

यद्यमा रविवारेण व्यतीपात स उच्यते ॥

गज-ह्याया—

योगो मघात्रयोदश्यां कुञ्जर-ह्यायसञ्चित ।

अवे मघायां सस्ये च शशि यकं करे स्थिते ॥ ( ब्रह्मपुराण )

करे = हस्तनक्षत्र मे । आद्यम्—“अथैत-मनु आद्य कर्म घोषाच प्रजानि श्रेयसाधं तत्र पितरो देवता ब्राह्मणाश्चाहवनीयार्थे” इस भाष्यके वचन के

अनुसार विवृणक्त के उद्देश्य से द्रव्य के उत्तम से मादण के द्वारा उक्त द्रव्य के स्वीकार तक का कर्म धातु-७२-वाच्य है । देवधातु आदि पदों में धातु शब्द गौण है—७६ कथपतरु का मत है ।

श्लो० २२१—पश्याग्नि—वर्ष अग्निपदों के नाम ये हैं :—

पवनः पावनघ्रेता वसथ पश्याग्निपदो मृष्टे ।

सायं प्रातः प्रदीप्यन्ते स विप्रः पंक्ति-पावनः ॥ ( हारीश )

पवनः = आवसथ्याग्निः; पावनः = सम्याग्निः । घ्रेता = आहवनीय गार्हपत्य तथा द्यपिणाग्नि ।

श्लो० २२२—रोगी = दीर्घरोगी—अपराकं ।

श्लो० २२४—इममे अतिरिक्त निम्न पुरुषों का विवरण मनुस्मृति के तृतीयाध्याय में देवता आदिपु ।

श्लो० २२५—निमन्त्रणम् = अपरायादयेद्यो नियोगः निमन्त्रणम्—अपराकं । सपत्नैर्भक्ष्यम्—इस विषय में मनु का कथन यद है—

निमन्त्रितो द्विजः विभ्ये निघतात्प्रभा भवेत्सदा ।

न च छन्दांस्यधीयति वरस्य धातु च तन्नवेत् ॥

निमन्त्रितान्द्वि पितरः उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान् ।

वानुस्त्थानुमच्छन्ति तथास्तीनानुपासते ॥ इत्यादि ।

श्लो० २३६—अभ्यनुज्ञात.—मादणों के द्वारा अभ्यनुज्ञात । अतएव मनु का कथन है—

अग्नौ कुर्वादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ।

अनुज्ञातामर्ष्याञ्च प्रार्थनाऽपि पूर्वं कर्त्तव्या, सा च स्वगृह्यानुसारेण करवाणि, करिष्ये इत्यादिका । अनुज्ञा अवि 'ओन्' इत्येयं रूपा 'कुरुन्' इति वा—( कुल्लूक भट्ट ) ।

यदि अग्नि का अभाव हो ( अग्न्यभावश्च अनुपनीतरस्य सम्भवति, उपनीतरस्य समापृच्छस्य च पाणिप्रहणात्पूर्वम्, मृतभार्गस्य च ) तो ब्राह्मण के हाथ में ही समर्पण करना चाहिये—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पागायेनोपपादयेत् ।

यो अग्निः स द्विजा विप्रैर्मन्त्रवृत्तिभिरुच्यते ॥ ( मनु )

तथा कात्यायन का भी कथन है :—

विभ्ये यः पक्तिमूर्धन्यः तस्य पाणावनग्निकः ।

हृत्वा मन्त्रवदन्येषां तूष्णीं मन्त्रेषुनि विपेत् ॥

श्लो० २३९—वाग्मया —मनु का कथन निम्न लिखित है—

आयुष्ण सर्वमन स्यात् मुञ्जीरस्ते च वाग्मया ।

न च द्विजातयो ब्रूयु दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥

दात्रा अनादिगुणान् पृष्टा षक्त्राद्यभिनयेनाऽपि न ब्रूयु वाग्मयत्वस्य  
अत्रैव विधानात्—कुप्लूक भट्ट ।

श्लो० २४५—इद जपेत्—यह पितृ प्रार्थना है । अतएव मनु का  
कथन है —

दक्षिणां दिशमार्कान् वाचेतेमान् वरान् पितॄन् ॥

दातारो नोऽभिवर्धन्ता वेदा सन्ततिरेव च ।

अदा च नो मा व्यगमत् बहुदेय च नोऽस्त्विति ॥

अत दातारो नोऽभि० आदि की भूमिका में 'ब्राह्मणप्रार्थना'—का  
विज्ञानेश्वरकृत निर्देश उचित नहीं प्रतीत होता है ।

श्लो० २४४—स्त्रिया भवि—स्त्री के सपिण्डीकरण के विषय में दारीत  
का कथन निम्नलिखित है —

स्वेन भर्त्रा सहैवास्या सपिण्डीकरण स्त्रिया ।

एकस्व सा गता यस्मात् चरुम ब्राहुतिवर्तै ॥

तस्मिन् सति सुता कुर्यु पितामह्या सहैव तु ।

तस्या चैव तु जीवन्त्यां तस्या अश्वेति निर्णयः ॥

तस्या श्वश्रवा = प्रपितामही के साथ ।

श्लो० २४५—वृद्धयाद्यप्यकपनिमित्त सपिण्डन मप्येऽपि कर्त्तव्यम् । कृते  
तस्मिन् अशुघटध्वाद् वर्षपर्यन्त कर्त्तव्यमेव । किं तु प्रेतपक्षेऽलेखो न कार्य —  
शूलपाणि ।

श्लो० २४६—प्रतिसम्बरसम्—एतच्च निरग्निविषयम्—ऐसा शूल  
पाणि का मत है ।

श्लो० २४७—पिण्ड प्रदेय क विषय में मनु का मत निम्नलिखित है—

एव निर्वपण कृत्वा पिण्डास्तास्तदनन्तरम् ।

गां विप्रमन्मसिं च प्राणयेदप्सु वा विपेत् ॥

पिण्डनिर्वपण कश्चि पुरस्तादेव कुर्वत ।

वयोभि स्वाद्य स्य ये प्रक्षिप स्यनलेऽप्सु वा ॥

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतरा ।

मध्यमन्तु ततः पिण्डमद्यासम्पक् सुतार्थिनी ॥

आयुष्मन्त सुत सूते यशोमेधामन्वितम् ।

धनवन्त प्रजावन्त सार्विक धामिक तथा ॥

मध्यम पिण्डम् = पितामहपिण्डम् । सप्तु विप्रेषु०—मनु का भी वही मत है—उच्छेषण तु तत्तिष्ठेद् यावद् विप्रा- विसञ्जिताः ॥

परन्तु यत्तिष्ठ ने दिनपर्यन्त रखने को कहा है—

श्राद्धे नोद्वासनीयानि उच्छिष्टान्यादिनक्षयात् ।

घोतन्ति हि स्वधादारा ताः पिवन् सकृतोदकाः ॥

श्लो० २५९—वाराहपद् माहिप का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन हैः—

दशमासास्तु वृष्यन्ति वराहमहिपामिपैः ॥

इसी प्रकार द्वादश पद भी कौर्ममास का उपलक्षण है ।

श्लो० २६०—महाशरक = शरक.—मेधातिथि । महाशरकः = मास-विशेषा- इति युज्यन्ते, महाशरकलिनो मास्याः इति वचनात्—विज्ञानेश्वर-प्रभृति । मनु ने महाशरक प्रभृति के मास को अक्षय तथा वार्ध्निजस के मास को द्वादशवार्षिक वृत्ति का सम्पादक माना है —

वार्ध्निजसस्य मासेन वृत्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥

कालशाक महाशरका खण्डोद्दामिप मधु ।

आनन्यायैव कल्पन्ते सुम्यजानि च सर्वश ॥

श्लो० २६१—तथा वर्षात्रयोवृश्याम्—अत्र च प्रोष्ठपद्यापरपदे या श्रयोदशी याश्च मघा' ता एव गृह्यन्ते—अपराक' । प्रोष्ठपद्या- श्रावणपूर्णिमायाः अपरे भाद्रकृष्णे—ऐसा अर्थ करना चाहिए । अत एव शरक का वचन है—

प्रोष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्ता श्रयोदशीम् ।

प्राप्य श्राद्ध हि कर्त्तव्य मधुना पायसेन च ॥

श्लो० २६४—शस्त्रेण—यहाँ शस्त्र पद उपलक्षण है । अत एव मरोचि का कथन हैः—

विपसर्पश्वापदादितिर्यग्प्राज्ञणघातिनाम् ।

चतुर्दश क्रियाः कार्या अन्येषान्तु विगर्हिताः ॥

श्लो० २६९—पसुहृदादितिसुता —अत एव पैठोनसि का वचन हैः—  
य एवं विद्वान् पितृन् यजते वसवो रुद्रा आदित्याश्चास्य प्रीता भवन्ति ।

श्लो० २७८—मर्षोपधै.—

मुरामासीधनाकुष्ठ शैलेय इजनीद्वयम् ।

शुण्ठचम्पकमुस्त च सर्वोपधिगण. स्मृत. ॥



अथवा—श्रीहय शालयो मुक्ता गोधूमा सर्पवास्तिका ।  
यवाक्षोपधय सप्त विपदो धनन्ति धारिता ॥

श्लो० २९५—गृहयज्ञ समाचरेत्—इस यज्ञ क लिप् उत्तरायण वादि  
कालनियम अनपेक्षित है । अत एव दृष्ट का वचन है —  
नैमित्तिकानि काम्यानि निपतन्ति यथा यथा ।  
तथा तथैव कार्याणि न कालस्तु विधीयते ॥

श्लो० ३१८—निवन्धम्—आपस्थान प्रतिनियतवस्तुदानम्—शूल-  
पाणि । अस्मिन् ग्रामे प्रतिचेत्र चेन्नस्वामिना एतद्धनमस्मै प्रथमं प्रतिमास  
वा देयम् इत्यादिनियम —अपराक ।

श्लो० ३२४—अष्टै —

न कूटैरायुर्धैर्ह-यात् युष्यमानो रणे रिपून् ।  
न कर्णभिर्नापि दिग्धै नाग्निज्वलिततेजसै ॥

श्लो० ३२७—स्नातक—स्नानग्रहण सकलमाभ्याद्विज्ञोःकल्पम्—  
येसा अपराक का मत है ।

श्लो० ३४४—सुरचितम्—अत एव मनु का वचन है—  
यस्य मन्त्र न जानन्ति समागम्य पृथग्ग्रहा ।  
स कृशनां पृथिवीम् मुक्ते कोदाहीनोऽपि प र्थिव ॥

श्लो० ३४९—दैवे पुरुषकारे च—दैव = पूर्वज-मकृत-कर्म-फल, पुरुष  
कार = ऐहिकपुरुष प्रयत्न । अत एव व्यासने कहा है—  
दैवमात्मकत विद्यात् कर्म यत्पौर्वदैहिकम् ।  
स्मृत पुरुषकारश्च क्रियते यद्विहापरम् ॥

श्लो० ३५०—सयोगे = साहित्ये । अत एव भरतपुराण में कहा  
गया है —

दैव पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम ।  
त्रयमेत-मनुष्यस्य विण्ढित स्यात् फलाय वै ॥

श्लो० ३५२—मित्रलब्धि—मित्र का लक्षण निम्नलिखित है :—  
धर्मज्ञ च कृतज्ञ च तुष्टप्रकृतिमेव च ।  
अनुरक्त स्थिरारम्भ लघु मित्र प्रदास्यते ॥

श्लो० ३५८—धर्माद्विचलित—अत एव दृष्ट का कथन है —  
पारिप्राय्य गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।  
अवादेनाद्भ्यस्त्वा स राजा क्षीम विवासयेत् ॥

श्लो० ३६७—दण्ड-स्थान का निर्देश मनुस्मृति में मिलता है—

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।

त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो प्राह्वणो वजेत् ॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।

चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥

श्लो० ३६८—कालम् = दिवारात्रिसन्धारमकम्—शूलपाणि ।

कालम् = सुभिद्यदुर्भिक्षादियुक्तम्—वीरमित्रोदय ।

कर्म = अस्मिद्गोत्रादि तथा सूताधिष्ठानादि ॥

यथाचार्यमथाचारे याज्ञवल्क्यनिरूपिते ।

नारायणेन मित्रेण त्रिपणीयं समापिता ॥



## व्यवहाराध्याय

श्लो० १—व्यवहारपदार्थस्वरूपनिरूपण कं छिप्य अपरार्कमे कार्यायन का वचन है —

प्रयत्न-साध्ये विच्छिन्ने धर्माद्ये न्याय विस्तरे ।

साध्य मूलोऽत्र यो वाद् व्यवहार स उच्यते ॥

न्यायविस्तरे = न्यायप्रपञ्च मे ।

अज्ञानादानादिनानाविवादपद-विषय-पक्षय निराक्रियते धनेनानि नाना सशयद्वारी विचारो व्यवहार यह शूलपाणि का मत है ।

“लोभश्च उशोचादिरूपेण परविच्छलिप्सा टोम । अज्ञान-प्रमादावप्यत्र वर्जनीयतया दृष्टव्यौ” ( अपरार्क )

व्यवहार काल के विषय में पराशर-माधवीय में बृहस्पति का वचन है —

दिवसस्याष्टम भाग मुक्त्वा काल मुसविशेत् ।

स कालो व्यवहाराणो शास्त्र इष्टे पर स्मृत ॥

अपरार्क में उद्धृत कार्यायन का मत है —

आद्यादहोऽष्टभागाद्यत् ऊर्ध्वभागत्रय भवेत् ।

स कालो व्यवहारस्य शास्त्र इष्टो मनीषिभिः ॥

व्यवहार दर्शन की विधि मनु में कही गई है —

तत्रासीन स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।

विनीत-वेपाभरण पश्यत् कार्याणि कार्विणाम् ॥

श्लो० २—सभासदाश्च बहु शास्त्रज्ञा ब्राह्मणा तदुक्ताभे पत्रियाः तदुक्ताभे तादृशा एव वैश्या शूद्रस्तु न कथमपीति कार्यायनमनुप्रामाण्यात्—(अपरार्क)

श्लो० ३—कार्यवशात् = व्यवहारदर्शनाधिक्यगुरुत्वरकार्यवशात् रोगादि-वशाद्वा—( अपरार्क )

श्लो० ४—स्मृतपदेतादीस्वप्रादिवदात् व्यवहारापेतस्य प्रदहनम्—शूलपाणि एतच्च दण्डविधानं धन-विषय विवादे, यादान्तर तु पादुपादिरिषय दण्डान्तर वेदितव्यम्” ( अपरार्क )

श्लो० ६—जायादि—यहाँ आदि पद से कार्यायनोक्त द्रव्यसंख्या भादि परिमात्र हैं ।

अपराकं में कारवायन के वचन वे है :—

साध्यं प्रमाणं द्रव्यं च संख्या नाम तथारमनः ।  
राज्ञां च क्रमशो नाम निवासं साध्यनाम च ॥  
धर्माश्रितृणां नामानि पीडामाहर्तृदायकौ ।  
धर्मालिङ्गानि चान्धानि पक्षे संकीर्त्य कवचयेत् ॥

देशादि के अनुल्लेख होने पर पञ्च-स्वोकार नहीं होता है । अत एव जी-  
मूत-वाहनकृत व्यवहार मातृका बृहस्पति का वचन है :—

देश काल-विहीनश्च द्रव्य-संख्या-विदग्धितः ।  
साध्य-प्रमाण-हीनश्च पञ्चोऽनादेय इष्यते ॥  
( अनादेयः = अग्राह्य-राज्ञा इत्यर्थः ) ॥

श्लो० ७—( पूर्वार्ध ) उत्तर-लेख से पूर्वकालिक कृत्य के विषय में  
परादार-माधवीय में बृहस्पति का वचन है :—

विनिश्चिते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्य-विशेषिते ।  
प्रतिज्ञाते स्थिरीभूते लेखयेद्दुत्तरभूततः ॥

उत्तरदान में अवधि का परिमाण स्मृति-कवचतरु में बृहस्पति ने  
बतलाया है :—

शास्त्रीनव्याद्यप्युक्तद्वय प्रत्यर्थी स्मृति-विभ्रमात् ।  
कालप्रार्थयते यत्र तत्रेवं लभ्युमर्हति ॥  
एकाहभ्यहपञ्चाहसप्ताहं पचमेव वा ।  
मासं शत्रुग्रयं वर्षं लभते शक्यपेक्षया ॥

कारवायनीय से तो कुछ विशेष बतलाया गया है :—

सद्यो वैकाह-पञ्चाहौ अथहं वा गुरुलाघनात् ।  
लभेतासी त्रिपञ्चमा सप्ताहमा श्रणादिषु ॥  
कालं शक्तिं विदित्वा तु कार्याणां च यत्कालम्  
अक्षयं वा बहु वा कालं दद्यात्प्रत्यर्धिने प्रभुः ॥  
उत्तयोर्लिखिते वाच्ये प्रारब्धे कार्यनिर्णये ।  
अनुक्तं तत्र यो मूयात् तस्मादप्यास हीयते ॥

श्लो० ७—( उत्तरार्ध ) सद्य इति । यहाँ कारवायन का निम्न लिखित  
वचन द्रष्टव्य है :—

सद्यः कृतेषु कार्येषु सद्य एव विधीयते ।  
कालातीतेषु वा कालं दद्यात्प्रत्यर्धिने प्रभुः ॥

श्लो० १०—कलहो वाक्यारूप्यम् , साहसो दण्डवारूप्यम्—( अपराकं. )

श्लो० ११—प्रत्यर्थी के द्वारा निह्वन करने पर अर्थी के कृत्य के विषय में मनु का कथन है :—

अपह्ववेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य ससदि ।

अभियोक्ता दिशेद् देश्य करण वान्यदु देदशेत् ॥

( देश्यम् = धनप्रयोगदेशवर्तिसाधिणम् , अ-यद्वा करणं पत्रादि इति । एव निह्ववे प्रत्यर्थिना कृते यदि साधपादि-प्रमाणेन अर्थी प्रत्यर्थिनोऽपराधं भावयति तदा प्रत्यर्थी भावित इत्युच्यते, स च अर्थिना अभियुक्त धन दत्त्वा राज्ञे च स्वापह्वव-भाषणजन्य-दोषप्रयुक्तदण्डरूपेण तत्समन्वयनन्दापयेदिति तात्पर्यम् । )

श्लो० १२—सहसा हटेन जनसमघ चत्परदिसादि क्रियते तत्साहसम्—  
( अपराकं. )

श्लो० १३—१५—अत एव मनु ने भी कहा है —

बाह्यै विभावयेच्छिष्टै भावमन्तर्गतं नृणाम् ।

स्वर-वर्णैर्द्विजाकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥

आकारैरिन्द्रितैर्गंधा चेष्टया भाषितेन च ।

नेत्र वक्त्र विकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ( ८।२५-२६ )

श्लो० १३-१५—आकृति से मनोभाव का अभिव्यञ्जन रामायण में भी बतलाया गया है .—

आकाररक्षाद्यमानोऽपि निग्रहीतु न शक्यते ।

बलाद्धि विवृणोश्चेव भावमन्तर्गतं नृणाम् ॥

श्लो० १६—नारद ने पाँच प्रकार के हीन का निर्देश किया है .—

अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थायी निरुत्तरः ।

आहूतप्रपलायी च हीन पञ्चविधः स्मृतः ॥

श्लो० १८—सपण —त्रितेन मया एतावदेवम् ह्यव्युपेत धनं पणः  
( अपराकं. )

श्लो० २०—एतच्च पचनमपह्वववादिभः ग्राह्येभ्यः प्रतिवचने दृश्यम् । यथा—एतेषामर्थानां मध्ये यत्केकमप्यर्थमर्थी साधयति तदा सर्वानेतानह ददा-मीति । कुत एतत् ? एतदोदाहरणपरवाद्भव्य वाक्यस्य । अन्यथा—

अनेकायांनिशोभेऽपि यावात्समाधयेत्तमो ।

साधिभिस्तावदेवासी लभते साधितं धनम् ॥

इति कात्यायनवचनविरोधः स्यात् ( अपराकं )

श्लो० २२—प्रमाणान्तरदृष्टार्थविषया स्मृतिः अर्थशास्त्रम् ।

येदैकसमधिगम्यार्थविषया तु धर्मशास्त्रम् ॥ ( अपराकं )

दोनों के विरोध होने पर धर्मशास्त्र प्रबल माना जाता है—

यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद् धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः ।

अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत् ॥

श्लो० २३—घनस्य दत्तावर्षिणी—यहाँ विशेष द्रष्टव्य है :—

सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।

धेनुदूत्रो वहन्नश्वो यश्च दम्पः प्रयुज्यते ॥ ( मनुस्मृतिः )

श्लो० २५—इनसे अतिरिक्त पदार्थों का भी निर्देश बृहस्पति ने किया है :—

विवाह्य धोत्रिपैभुक्त राजामात्यैस्तथैव च ।

सुदीर्घेणापि कालेन तेषां सिष्यति तद्यु न ॥

असक्कालसुरोगार्त्तबालभीतप्रवासिनाम् ।

शासनारूढमभ्येन भुक्तं भुक्त्वा न हीयते ॥

शासनारूढम् = ताम्रपट्टादिलिखितम् ।

श्लो० २७—पूर्वक्रमागतात् = पूर्व शब्द का अर्थ है—पिता, पितामह तथा प्रपितामह । इससे स्पष्ट है कि पूर्वक्रमागत भाग भागम से यदवत्तर होता है । अत एव बृहस्पति का कथन है :—

अनुमानाद् गुरुः साक्षी साक्षिभ्यो लिखितं गुरु ।

अव्याहतः त्रिपुरुषी भुक्तिरेभ्यो गरीयसी ॥

त्रिपुरुषी भुक्ति का अर्थ व्यास ने निम्नोक्त प्रकार से किया है :—

प्रपितामहेन यद्भुक्त तद्युत्रेण विना च तम् ।

तौ विना तस्य पित्रा च तस्य भोगस्त्रिपुरुषः ॥

तीनों पूर्वजों के जीवित रहने पर किया गया भोग त्रिपुरुषभोग नहीं होता है । अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

पिता पितामहो यस्य जीवेच्च प्रपितामहः ।

त्रयाणां जीवतां भोगो विज्ञेयस्तत्रैकपौरुषः ॥

श्लो० ३४—विद्वानशेषमादत्त्वात्—परन्तु ब्राह्मण भी निधि को प्राप्त कर पहले राजा को निवेदित करे, परचाव राजा की अनुमति पाकर उसका उपभोग करे । अत एव नारद का कथन है :—

माहणोऽपि निधिं लब्ध्वा विप्र राज्ञे निवेदयेत् ।

तेन दत्त तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदपन् ॥

श्लो० ३७—अशीतिभाग —सपादरूप्यक प्रतिशतम् ।

यह वृद्धि प्रकार वसिष्ठ निदिष्ट है । अत एव मनुस्मृति में कहा गया है—

वसिष्ठविहितौ वृद्धिं सृजेद्विधिवर्धिनीम् ।

अशीतिभाग गृह्णीया-मासाद्वार्युपिकः शते ॥ इत्यादि ।

यहाँ ब्यास ने कुछ विशेष बतलाया है —

सवधे भाग आशीत पञ्चिभाग सलभनके ।

निराधारे स्वेकदात मासलाभ उदाहृतः ॥

श्लो० ४०—न वाच्यो नृपते —अत एव मनु का भी कथन है —

यः स्वय साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधर्मणिकात् ।

न स राज्ञाऽभियोक्तव्य स्वक ससाधयन्धनम् ॥

परन्तु यह ससाधन यथेष्ट विधि से नहीं होना चाहिये । उसकी विधि भी मनु ने ही बतलायी है—

धर्मेण व्यवहारेण ह्यलेनाचरितेन च ।

प्रयुक्त साधयेदर्थं पद्ममेन यलेन च ॥

धर्म की ब्याख्या गृहस्पति ने की है —

सुहृत्सम्बन्धिसन्दिष्टै साम्ना चानुगमेन च ।

प्रायेण वा ऋणो दाप्यो धर्म एव उदाहृतः ॥

व्यवहारेण = लिखित आदि प्रमाण के आधार पर । मेधातिथि ने तो दूसरी व्याख्या की है —

“नि स्वो य स व्यवहारेण दापयितव्यः । अन्वयकर्मपिठरण धन दाता कृपिवागिऽयादिना व्यवहारयितव्यः । तदुत्प-न धन तस्माद् गृह्णीयात् ।”

छल, आचरित तथा बल की ब्याख्या गृहस्पति ने निम्नलिखित प्रकार से की है —

छद्मना वाचितं चार्थमानीय ऋणिकाद् यत्नी ।

अ-याहतादि याऽऽहृत्य दाप्यते तत्र सोपधिः ॥

दारपुत्रपशुन् हत्या कृत्वा द्वारोपवेदानम् ।

वयार्थी दाप्यतेऽर्थं स्व तदाचरितमुच्यते ॥

( विज्ञानेश्वर ने तो ‘अचरितन’ शब्द को अभिप्रेत मान कर ‘अभोऽनेन’ अर्थ किया है । अपराधक अनुसार आचरितेन = देसाचारेण’ अर्थ है । )

यद्दत्त्वा स्वगृहमानीय तादनाद्यैरुपक्रमैः ।

ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः प्रकीर्तितः ॥

( बलं = भोजननिषेधादिना पोडनम् — अपराकं )

पूर्व-पूर्व उपाय के अभाव में उत्तरोत्तर का अनुसरण करना चाहिए ।

श्लो० ४३—अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

ऋणिनं निर्धनं कर्म गृहमानीय कारयेत् ।

शौण्डिकाद्यम् , घ्राणस्तु दापनीयः शनैः शनैः ॥

किन्तु यदि उत्तमं अधमं से पूर्वोक्त अनुचितकर्म करघाता है तो अधमं ऋणमुक्त हो जाता है और उत्तमं दण्ड्य हो जाता है । अत एव कार्यायन का कथन है :—

यदि द्यादावनादिष्टमशुभं कर्म कारयेत् ।

प्राप्तुयात्साहसं पूर्वमृणान्मुच्येत चणिकः ॥

श्लो० ४४—वर्धते न ततः परम्—अत एव संवर्त्त का वचन है :—

न वृद्धिः सौधने लाभे निक्षेपे च तथा स्थिते ।

सन्दिग्धे प्रातिभास्ये च यदि न स्यात् स्वपङ्कता ॥

स्थिते = मध्यस्थ के यहाँ जमा किये हुए धन की । यदि न स्यात् स्वपङ्कता का तात्पर्य है कि यदि अधमं वृद्धि की प्रतिज्ञा नहीं की हो तो वृद्धि नहीं होती, अन्यथा उपर्युक्त धन में भी वृद्धि होती है ।

श्लो० ४५—अत एव नारद का भी वचन है :—

वितृष्येणाविभक्तेन धात्रा वा यद्वर्णं कृतम् ।

मात्रा वा यत्कुटुम्बार्थे वृणुः तत्सर्वमृविधनः ॥

श्लो० ४६—न पुत्रेण कृतं पिता—इमका अपवाद बृहस्पति ने बतलाया है :—

ऋणं पुत्रकृतं पित्रा दोष्यं यदनुमोदितम् ।

सुतस्नेहेन वा दद्याद् नान्यथा वानुमर्हति ॥

यहाँ पुत्र पद उपलक्षण है योपिदादि का भी । अतः भार्या आदि के द्वारा कृत ऋण भी स्वानुमोदित होने पर समाधेय है ।

श्लो० ४७—तथैव—यह प्रातिभास्य तथा श्लोषकृत ऋण का भी उपलक्षण है । प्रातिभास्य का निर्देश मनु ने किया है :—

प्रातिभास्यं वृषा दानमाधिकं सौरिकं च यत् ।



दण्डदृक्कलावरोप च न पुत्रो दातुमर्हति ॥

दर्शनप्रातिभाष्ये तु विधिः स्यात् पूर्वोक्तितः ।

क्रोधकृत ऋण का निर्देश नारद ने किया है :—

न पुत्रोऽपि पिता दद्याद् दद्यात् पुत्रस्तु पैतृकम् ।

काम-क्रोध-सुरा-द्यूत-प्रातिभाष्यकृतं विना ॥

क्रोधकृत ऋण को परिभाषा काश्यायन ने की है :—

यत्र हिंसा समुत्पाद्य क्रोधाद् द्रव्यं विनाश्य वा ।

उक्त तृष्टिकर यत्तु विद्यात् क्रोधकृत हि तत् ॥

पश्य हिंसा धनविनाश वा क्रोधात् कृत्वा तत्तुष्टये यद्द्रव्यं दातव्य-  
स्येन अङ्गीकृत तत् क्रोधकृतम्—( अपराकः )

श्लो० ४९—प्रतिपन्नम्—कभी कभी अप्रतिपन्न ऋण को भी चुकाना  
पड़ता है, जैसा काश्यायन ने कहा है :—

मर्तुकामेन वा भर्त्रा प्रोक्ता देयमृणं त्वया ।

अप्रपन्नाऽपि सा दाप्या ऋण पश्चाद्विहितं त्वया ॥

श्लो० ५२—अत एव नारद का भी कथन है :—

साक्षिष्वं प्रातिभाष्य वा दान प्रहणमेव च ।

विभक्तः भ्रातरः कुर्युः नाविभक्तः परस्परम् ॥

परन्तु यदि सर्वानुमन हो तो अविभक्त को भी साक्षिष्वं आदि का  
अधिकार हो सकता है ।

श्लो० ५३—बृहस्पति ने चार प्रकार का प्रतिभू वतलाया है :—

दर्शने प्रस्थये दाने ऋणद्रव्यार्पणे तथा ।

चतुष्प्रकारः प्रतिभूः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ॥

प्राहेको दर्शयिष्यामि सापुरेणोऽपरोऽत्रवीत् ।

दाता तवैतद् द्रविणमर्पयाभ्यपरोऽत्रवीत् ॥

आद्यौ तु वितथे दाप्यौ ताकाशावेदित धनम् ।

उत्तरौ तु विसवादे तौ विना तासुतौ पुनः ॥

सुता अपि—सुत शब्द के प्रयोग से मनु के वचन में प्रयुक्त 'दायाद्'  
( दान-प्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ) शब्द से पुत्र-पौत्रादि-संग्रह-  
विषयक भ्रम का निवारण हो जाता है । तात्पर्य यह है कि पुत्रमात्र  
ही प्रातिभाष्य का समर्पण करे पौत्र आदि नहीं । अत एव काश्यायन का  
मत है :—

प्रातिभाष्यागतं पौत्रैर्दातव्यं न तु तत् कश्चित् ।

पुत्रेणापि समं देयम् श्रुणं सर्वत्र पैतृकम् ॥

समम् = वृद्धिरहितम् ।

श्लो० ५५—एकच्छायाधिताः = प्रत्येकं विकल्पेन सकलधनदापकस्व-  
माधिताः—( अपराकं )

श्लो० ५६—द्विगुणम्—यदि धनिक के द्वारा प्रतिभू श्रुणिक-गृहीत  
धन देने के लिए पीड़ित हुआ हो तब की स्थिति है । साधारणतः अपने धन  
का समान रूप ही प्रतिभू श्रुणिक से प्राप्त करने का अधिकारी है । अत एव  
कात्यायन का कथन है—

यस्यार्थे येन यद् दत्तं विधिनाऽभ्यर्षितेन तु ।

साक्षिभिर्भावितेनैव प्रतिभूस्त्वस्मात्पुत्रात् ॥

द्वैगुण्य की 'अवधि' गृहस्पति ने बतलाई है :—

त्रिपञ्चापरतः सोऽर्धं द्विगुणं लब्धुमर्हति ॥

श्लो० ५७—स्त्रीपशुपु = गोमहिष्यादिपु—( अपराकं ) स्त्री च पशुश्च...  
दास्यादि छाग्यादि च—( शूलपाणिः )

श्लो० ६०—स्वीकरणात् = परिग्रहात्...स्वीकरणं च भोग्याधौ  
भोगपर्यन्तं गोस्वाधौ भाण्डागारप्रवेशपर्यन्तम्—( अपराकं )

श्लो० ६१—प्रयोजके = बन्धकग्रहीतरि । असति = मृते प्रीयिते वा  
( अपराकं )

श्लो० ६६—राजदैविकनस्करैः—अत एव मनु का भी मत है :—

चौरैर्हृतं जलेनोदमनिना दाधमेव च ।

न दद्याद् यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥

श्लो० ६९—साक्षिणः—साक्षी शब्द का विवेचन मनु ने किया है :—

समपदर्शनात् साक्षयं अवगाञ्चैव सिध्यति ।

यवाजाति यथावर्णम्—अत एव मनु का कथन है :—

स्त्रीणां साक्षयं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदशा द्विजाः ।

शूद्राञ्च सन्तः शूद्राणामन्यानामन्ययोनयः ॥

श्लो० ७२—एकोऽपि—अत एव मनु का कथन है :—

एकोऽप्युच्यते साक्षी स्यात् .. ।

व्यास का भी मत है :—

शुचिक्रिपरश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक् ।

प्रमाणमेकोऽपि भवेत् साहस्रेषुः विदोषतः ॥

साहसंम् = "स्यात्साहसं श्वन्वपवत् प्रसर्भ कर्म यकृतम्" ( मनुस्मृतिः )

श्लो० ७८—अत एव नारद का भी कथन है :—

साच्चिबिप्रतिपत्तौ तु प्रमाणं यद्वयो मताः ।

तत्साम्ये शुचयो ब्राह्मस्तत्साम्ये शुचिर्मत्तरः ॥

श्लो० ८१—विवास्यो ब्राह्मणः—अतएव मनु ने कहा है :—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्ववस्थितम् ।

राभ्यादेन वहिः कुर्यात् समप्रधनमद्यतम् ।

कौटसाद्य तु कुर्वाणास्त्रीन् वर्णान् धार्मिको नृपः ।

प्रवासयेद्दण्डविधा ब्राह्मणस्तु विवासयेत् ॥

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।

इतरेषाम्तु वर्णानां दण्ड प्राणान्तिको भवेत् ॥ इत्यादि ।

श्लो० ८३—षडः सारस्वतः—हसका विकल्प मनु ने बतलाया है :—

कूपमाण्डैर्वापि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि ।

उदित्यृचा वा नारुण्या वृषेनान्दैवतेन तु ॥

द्वादशरात्र पयः पिबन् पूष्माण्डैर्जुहुयात् ( र्वाधावनः )

शुद्धश्चैकदिनकं गोदशकस्य प्राप्तं दद्यात् ( विष्णुः )

श्लो० ८६—स्वहस्तेन—यह अक्षराभिज्ञ श्रुणी के विषय में है । अक्षरा-  
नभिज्ञ श्रुणी को अन्य सत्पुरुष द्वारा छिलवाना चाहिए । अत एव व्यास का  
कथन है :—

अल्पिञ्ज श्रुणी यः स्यात्कैस्रयेत् स्वमर्तं तु सः ।

श्लो० ९५—दिव्य का विषय नारद ने बतलाया है :—

यदा साची न विधेत द्विवादे चदतां नृणाम् ।

तदा दिव्यैः परीचेत शपथैश्च विभावयेत् ॥

शीर्षंकरथे = यदि अभियोक्ता साभिमान ऐसा उद्घोष करे कि यदि अभि-  
युक्त अपराधी नहीं सिद्ध होगा तो वह अभियोक्ता स्वयं दण्डभोगी बनेगा—  
तो ( तुला आदि दिव्य का प्रयोग होना चाहिए ) ।

श्लो० ९८—यहाँ कात्यायन का वचन द्रष्टव्य है :—

राजन्येऽग्निं घट विप्रे वैश्ये तोयं निधापयेत् ।

सर्वेषु सर्वं दिव्यं वा विपवर्जं द्विजोत्तमे ॥

गोरक्षकान् वागिजकान् तथा कारुकुशीलवान् ।

प्रेष्यान् वार्षुविकारश्चैव ग्राहयेत् शुद्धवद् द्विजान् ॥

श्लो० ९९—इयं प्रसङ्गं मे वृहस्पति के निम्नलिखित वचन, अव-  
धेय हैं :—

संख्या रश्मिरजोमूला मनुना समुदाहृता ।  
कार्पाणान्ता सा द्विषे नियोज्या विनचेत्तथा ॥  
विषं सहस्रेऽपहृते पादोने तु हुताशनः ।  
त्रिपादोने च सलिलमर्धे देयो घटः सदा ॥  
चतुःशताभियोगे च दातव्यस्तप्तमापकः ।  
त्रिदाते तण्डुला देयाः कोदाश्चैव तदर्धके ॥  
शते हृतेऽपहृते च दातव्यं धर्मशोधनम् ।  
गोचौरस्य प्रदातव्यः सम्यैः फालाः प्रयत्नतः ॥  
एका संख्या निकृष्टानां मध्यानां द्विगुणा स्मृता ।  
चतुर्गुणोत्तमानां च करवनीया परीचकैः ॥

निकृष्टानां = जाति, गुण तथा कर्म से निकृष्ट ।

श्लो० १००—१०२—प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः । इसका  
तात्पर्य है कि दिव्यकर्त्ता के तोलने के समय तुला की रज्जु की लम्बाई  
जितनी रहे उसको परीक्षा के समय यथावत् समझने के लिए रज्जु की उस  
बिन्दु ( जहाँ तुला संलान रहे ) पर रेखा डाल देनी चाहिए । यह विधि  
अधियास के दिन की है । अधियास के दिन एक बार दिव्यकर्त्ता को तौलना  
चाहिए । और तौलने के बाद दिव्यकर्त्ता तुला से उतर कर तुला को  
अभिमन्त्रित करे । अतः 'रेखांकृत्वाऽवतारितः' से लेकर 'तुलामित्यभिमन्त्रयेत्'  
तक का कार्य अधियास के दिन का है—यह ध्यान रखना चाहिए । इसके  
बाद पर दिन में अभिमन्त्रित तुला पर दिव्यकर्त्ता को तौलना चाहिए ।  
तौलने के बाद निर्णय के प्रकार का निर्देश निम्न-लिखित श्लोक में किया  
गया है :—

तुलितो यदि वर्धेत विशुद्धः स्यान्न संशयः ।

समो वा हीयमानो वा न विशुद्धो भवेन्नरः ॥

यद्यपि मिताचरा में यह श्लोक पितामह के नाम से उद्धृत है तथापि  
धीरमिश्रोदयकार के अनुसार यह मूल वाञ्छवश्य स्मृति का ही माना  
जाता है । विचार करने पर यही उचित भी लगता है कि यह मूल-ग्रन्थ  
का है । यदि इसे मूल श्लोक नहीं माना जाय तो मूल-में न्यूनता रह  
जाती है, क्योंकि तुला परीक्षा के निर्णय का प्रकार अस्पष्ट ही रह जाता है ।  
अतः इस श्लोक को मूल-ग्रन्थ का ही अङ्ग मानना उचित है । भूमिकान्तर्गत

रकोक सख्या विवरण के प्रसङ्ग में इस का संकेत नहीं हो सका। अतः पाठक से चमा-याचना अपेक्षित है।

श्लो० १०३—अश्वत्थपत्राणि—यहाँ अपराक में उद्धृत निम्न-लिखित स्मृति पर ध्यान देना अपेक्षित है :—

पितामह.—

सप्त पिप्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथावतान् ।

हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र तन्तुसूत्रस्य सप्त वै ॥

वीरमित्रोदय में कुछ और भी विशेष बात बतलाई गई है :—

“अत्र, “शाम्यच्छतन्तया दूर्वा दत्त्वा पत्रेषु विभ्यसेत्” इति विशेष स्मृत्यन्तरेऽभिहित ” ।

श्लो० १०६—मण्डलानि—गोमय के द्वारा निर्मित होना चाहिये।

श्लो० १०७—मुक्त्वाग्निम्—यहाँ शूलपाणि का कथन अवश्य-भवेय है :—

“गत्वा तत्तु तृणे क्षिपेत्” इति कालिकापुराणवचनात् ।

अग्निवर्णं लोहपिण्डं तृणचये क्षिप्या ॥

अदश — करभिन्ने अङ्गे दशोऽपि शुद्ध एव ( वीरमित्रोदय. )

श्लो० ११४—इच्छ्या—यह केवल पिता के द्वारा अर्जित धन में ही, यदि पितामह आदि का अर्जित हो तो पिता को अनिच्छा से भी विभाग हो सकता है। अतएव बृहस्पति का कथन है.—

कामागते गृहक्षेत्रे पितापुत्रा. समांशिन. ॥

श्लो० ११५—पश्य. = पुत्रशून्या — शूलपाणि. ।

श्लो० ११६—अनीहमानस्य—यः पुत्रः धनार्जनसमर्थतया पितृधन-नेच्छति, यो वा धनार्जनसमर्थोऽपि शठतया धनस्यार्जनरक्षणानुकूलं चेष्टां न कुरुते तस्मै किञ्चिदसारं दत्त्वा पित्रा पृथक् क्रिया कार्या—(अपराकं) यह नियम पिता की सम्पत्ति के विभाजन में नहीं होता अपि तु सभी भाई जो कृषि आदि के द्वारा धनार्जन करते हैं उस धन में आलस्यवशात् कार्यविमुख आता अशहर नहीं हो सकता है। इसी प्रकार विद्या आदि से स्वतन्त्र धन को अर्जित करने की शक्ति से सम्पन्न आता को भी पहले ही पृथक् कर देना चाहिये। इसका कारण यह है कि जो विद्या से अर्जित भन होता है उसमें दूसरे का अंश नहीं होता है। एवञ्च यदि सभी साथ रहें तो विद्या से अर्जन करने वाले को समूह में कृषि के द्वारा अर्जित धन में अंश मिल जाता है”

और विद्या से भी भतः विद्या-दाक स्वक्ति को अनुचित लाभ से रोकने के लिए यह नियम बतलाया गया है । धर्मः—भत एव बृहस्पति का वचन है :—

समन्यूनाधिका भागाः पित्रा चेर्षां प्रकल्पिताः ।

तथैव ते पाळनीया विनेयास्ते स्युरन्यथा ॥

श्लो० ११७—अन्वयः—बुद्धिबलात्वे बुद्धिबन्धवः, तद्भावे पुत्रादिरेव—  
( अपराकः )

श्लो० ११९—विद्यया लब्धम्—विद्यालब्ध धन की व्याख्या कात्यायन ने निम्नलिखित वचनों द्वारा की है :—

परभक्तप्रदानेन प्राप्ता विद्या यदाऽन्यतः ।

तथा च प्राप्तं विधिना विद्या-प्राप्तं तदुच्यते ॥

उपन्यस्ते च यत्कलब्धं विद्यया पणपूर्वकम् ।

विद्यापनं तु तद्विद्याद् विभागे न विभज्यते ॥

दिश्यादातिउपतः प्रश्नात् सन्दिग्धपरननिर्णयात् ।

स्वज्ञानशांसनात् वादाद् लब्ध प्राउपधनाच्च यत् ॥

विद्याधनन्तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते ॥

श्लो० १२०—समः स्मृतः—“एतद्विद्यानाम्” इत्याह मनुः—

अपिद्यानां च सर्वेषामोहातरुपेद्रनं भवेत् ।

समस्तत्र विभागः स्याद्विष्य इति धारणा ॥” ( शूद्रपाणिः )

श्लो० १२१—निघन्धः = आचारादी राजादिदत्तं निपतद्रभ्यम्—  
( शूद्रपाणिः )

सदृशं स्वान्यम्—भत एव बृहस्पति का भी मत है :—

ग्रभ्ये पितामहोपात्ते स्थावरे जड्रमे तथा ।

सममंशितवमासयाते पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥

श्लो० १२२—विभागभाक् = पिता के धन का भागी होता है । यह नियम विभाग के उत्तर काल में यदि सवर्णा में गर्भाधान हुआ हो, तब उप-युक्त है । विभाग से पूर्व ही गर्भाधान होने पर तो सर्व-भ्रातृ-सम भंश का भागी होता है :—

विभूविभक्तविभागानन्वरोत्पन्नस्य भाग इष्टः ( विष्णुः )

उपयुक्तं मतं शूद्रपाणि का है ।

श्लो० १२३—माता—इस प्रसङ्ग में कुछ विशेष बात ब्यास ने बतलाई है :—

असुतास्तु पितुः परम्यः समानांताः प्रकीर्त्तिताः ।

पितामहश्च सर्वास्ता मातृव्याः प्रकीर्त्तिताः ॥

श्लो० १२६—द्रव्यं समैरंशैः—यह ऋण का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन है :—

ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि ।

पश्चाद् द्रयेत भूत् किञ्चित् तामर्षं समतां नयेत् ॥

श्लो० १३०—पौनर्भवः—इसका लक्षण काश्यायन ने बतलाया है :—

बलीष विहाय पतितं या पुनर्लभते पतिम् ।

तस्यां पौनर्भवो ज्ञातो व्यक्तमुत्पादकस्य सः ॥

श्लो० १३१—गर्भं विन्नः सहोदजः—

इसका स्पष्ट लक्षण मनुस्मृति में किया गया है :—

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।

बोहुः स गर्भो भवति सहोद इति चोच्यते ॥

श्लो० १३२—पुत्र प्रतिनिधीनां मध्ये दत्तक एव कलियुगे प्राह्य । अत एव कलौ निवर्त्तन्ते इत्यनुवृत्तौ शौनकेनोक्तम्—

दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहाः । ( अपराकं. )

श्लो० १३५—वितरौ—यद्यपि विमद वाक्य में ( माता च पिता च = पितरौ ) मातृ का प्रथम प्रयोग होता है; अतः पत्नी के बाद दुहिता तथा दुहिता के बाद माता, पिता इत्यादि क्रम प्रतीत होता है और विज्ञानेश्वर ने यही माना भी है तथापि यहाँ विग्रहगत पौर्वापर्य विवक्षित नहीं है । एवञ्च पत्नी, दुहिता, पिता, माता इत्यादि क्रम समझना चाहिए । अतएव विष्णु का वचन है :—

अपुत्रधनं परम्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे दौहित्रगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे भ्रातृगामि; तदभावे भ्रातृपुत्रगामि, तदभावे सङ्कल्यगामि ।

अत एव काश्यायन का भी मत है :—

अपुत्रस्याप्यकुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा ।

तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राः प्रकीर्त्तिताः ।

पुत्राः = भ्रातृपुत्राः । किन्तु शूळपाणि ने अपुत्रधनं परम्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे पितृगामि'.....येना ही उपर्युक्त विष्णु वचन का स्वरूप माना है ।

कुण्डलुम्भट्ट का मत कुछ धीर ही है ।

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।

मातर्यपि च वृत्तायां पितृमाता हरेद्वनम् ॥

इस श्लोक की व्याख्या में कुण्डलुम्भट्ट का कथन निम्नलिखित है :—

“अनपत्यस्य पुत्रस्य धर्मं माता गृह्णीयात्, पूर्वं “पिता हरेदपुत्रस्य रिश्यम्” इत्युक्त्वात् इह ‘माता हरेदि’त्यादि । याज्ञवल्क्येन ‘पितरौ’ इत्येकशेषकरणात्, विष्णुना च—अपुत्रस्य धर्मं पत्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि इत्येकशेषस्यैव कृतत्वात् मातापितरौ विभज्य गृह्णीयाताम् ॥”

यहाँ परनी का अर्थ पतिव्रता परनी है । अत एव वृद्ध मनु का कथन है—

अपुत्रा दायनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता ।

पान्येव दद्यात् तद्विण्ढं कृत्स्नमंशं लभेत च ॥

अन्यथा तो सोवर को अधिकार होता है । इस पद में निम्न लिखित शंख-लिखित वचन प्रमाण है :—

अथापुत्रस्य स्वर्यांतस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे मातापितरौ लभेतां परनी वा उपेष्टा ।

श्लो० १५०—जडः = स्वधर्मकृतये निरस्ताडः—( शूलपाणिः )

श्लो० १५१—विभागव्यञ्जक तस्रों का उद्वेत्त नारद ने किया है :—

पृषतावप्यधनाः कुलीदं च परस्परम् ।

वगिवपथं च ये कुर्युर्विभक्तास्ते न संशयः ॥

श्लो० १६०—विद्योतः = तृण आदि के निमित्त सुरचित भूमि ।

श्लो० १६१—गोमी = गोस्वामी । गो के द्वारा भक्षित धान्य की याचना में उदाना ने दोष बतलाया है :—

गोभिर्विनाशित धान्यं यो नरः प्रतिपाचते ।

पितरस्तस्य नारनन्ति न चारनन्ति द्विवीकसः ॥

( तस्य धान्यम् न भरनन्ति ) ।

श्लो० १६७—धनुः = चतुर्दशस्तो धनुः । सर्वट = प्रामादधिकः नगरान्गूनः गृहसमूह—( अपराकः )

श्लो० १—स्व लभेत—अस्वामिविध्रीत पदार्थ में स्वामी का स्वस्य नष्ट नहीं होता है :—

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव धा ।

अकृतः स तु विज्ञेयो भव्यहारे यथास्थितिः ॥



श्लो० १७१—यहाँ मनु ने विशेषता बतलाई है —

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागम क्वचित् ।

आगम कारण तत्र न सम्भोग इति स्थितिः ॥

श्लो० १७२—अर्थात् मवरसात्—मनु के द्वारा “राजा शब्द निधा-  
पयेत् ।” जो कहा गया है वह सुवर्णादि स्थिर वस्तुओं के विषय में है, ऐसा  
शूलपाणि का मत है ।

श्लो० १७५—ना-वये सति सर्वस्वम्—एतच्च माग्दायविभागात्,  
विमक्तदायेषु तु पुत्रेषु सर्वस्वदानमविपिद्धम्—( अपराहं )

श्लो० १७६—दशा नापहरेत्—अपहरण करने पर दण्ड का निर्देश  
हारीत ने किया है ।—

प्रतिध्रुताऽप्रदानेन दत्तसच्छेदेन च ।

विविधाभ्रकात्याति तिर्यग्योनौ च ज्ञायते ॥

श्लो० १७७—परीक्षण के पहले दण्ड निकलने पर कृष्य का निर्देश  
बृहस्पति ने किया है —

अतोऽर्थात् पण्यदोषस्तु यदि सजायते क्वचित् ।

विक्रेतु प्रतिदेय तत् क्रेता मूल्यमवाप्नुयात् ॥

मूल्य का तारपर्यं है कि चिना सूद का ही मूल्यनमात्र प्रत्यर्पणीय  
होता है ।

श्लो० १८३—आमरणान्तिकम्—अत एव नारद का कथन है —

राज्ञ एव तु दास स्यात् प्रमज्ज्याऽवसितो नर ।

न तस्य प्रतिमोक्षोऽस्ति न विशुद्धि कथञ्चन ॥

द्वावेव कर्मचाण्डालौ लोके दूरबहिष्कृतौ ।

प्रमज्ज्योपनिवृत्तश्च वृथा प्रमज्जितश्च य ॥

‘वृथा प्रमज्जित’ का अर्थ है प्रमज्ज्या का अनधिकारी शूद्र यदि प्रमज्ज्या का  
ग्रहण करे तो उससे भी आमरण दास्य करवाना चाहिए । परन्तु ग्राह्य के  
प्रमज्ज्याच्युत होने पर भी दास्य विहित नहीं है । ग्राह्य के दण्ड का निरूपण  
एच ने किया है —

वारिवाच्य शूद्रीश्या तु घः स्वधर्मे न तिष्ठति ।

श्वपादेनाङ्कित त-तु राज्ञ शीघ्र विवामयेत् ॥

कात्यायन कथित प्रकार भी निम्नलिखित है —

प्रमज्ज्याऽवसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः ।

निर्वास कारयेद्विप्र दासस्य अप्रविण्णया ॥

श्लो० १८५—इस प्रसंग में बृहस्पति के निम्नलिखित वचन अवधान योग्य हैं :—

राजा वेदविदो विप्रान् श्रोत्रियानग्निहोषिणः ।  
आकृष्य स्थापयेत्तत्र तेषां वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।  
निरयं नैमित्तिकं कार्म्यं शान्तिकं पौष्टिकस्तथा ।  
पौराणां कर्म कुर्युस्ते सन्दिग्धौ निर्णयस्तथा ॥

श्लो० १८३—कर्म त्यजन् = समर्थ होकर भी कर्म नहीं करने वाला भृत्य ।

श्लो० १९४—दशमं भागम्—यह नियम अष्टपधमकारी भृत्यों के विषय में है । यदि धर्माधिक्य हो तो निम्नलिखित बृहस्पति-वचनों के आधार पर विधान करना चाहिये :—

त्रिभागं पञ्चभागं वा गृहीयात्सीरवाहकः ।  
भक्ताच्छादभृतः सीराज्ञागं गृहीत पञ्चमम् ।  
जातसस्यात् त्रिभातान्तु प्रगृहीयादथाऽभृतः ॥

भक्त = भोजन, आच्छाद = बख, लावास आदि, अभृतः = भोजनादि-रहित भृत्य ।

श्लो० १९७—भाण्डम् = यमिषधनम् कुड्डुमादिकम् ।

श्लो० २००—जेत्रे दद्यात्—यहाँ निम्न निर्दिष्ट बृहस्पति-वचन अवधान-योग्य है :—

रहो-जितोऽनभिज्ञश्च कूटाक्षैः कपटेन वा ।  
श्रोत्र्योऽभिज्ञोऽपि सर्वस्वं जितः सर्वं न दाप्यते ॥

श्लो० २०२—सबिद्धं निर्वास्वाः—नारद के अनुसार बिद्ध का अर्थ है :—

कूटाक्षवेदिनः पावान् राजा राष्ट्राद्विवासायेत् ।  
कण्ठेऽक्षमालामासज्य स क्षेपां विनयः स्मृतः ॥

यहाँ द्वितीय पाद में शूद्राणि के अनुसार “निर्हरेद् घृतमण्डलात्” पाठ है, न कि ‘राष्ट्राद्विवासायेत्’ ( यह पाठ मिताक्षरा में है ) । विनयः = दण्ड । बिष्णु के अनुसार बिद्ध का अर्थ निम्नलिखित है :—

शूत्रे च कपटाक्षवेदिनां कण्ठेदः, उपधिदेविनां संदंशक्षेदः ।

उपधिः = हस्तपाहरी से यथेष्ट रूप में अक्ष का देवन-प्रकार । संदंश = अङ्गुष्ठ ।

यद्यपि मनु जे कहा है कि—

घृतं समाह्वयं चैव यः कुर्याद् यस्तु ऋारयेत् ।

तान्सर्वांश्च घातयेद्वाजा शूद्रांश्च द्विजकिङ्गिनः ॥

तथापि यह नियम राजपुरुषानधिष्ठित घृत आदि के विषय में है । अत एव बृहस्पति का कथन है :—

घृतं निषिद्धममुना सत्यशौचघनापहम् ।

तरप्रथित्तमन्यैश्च राजभागसमन्वितम् ॥

श्लो० २११—वाक्पाठ्यप्रकरणोक्त दण्ड में ह्यम का कारण उशना ने बतलाया है :—

मोहगत् प्रमादात् संहर्षात् प्रीत्या चोक्तं मयेति यः ।

नाहमेवं पुनर्यज्ञे दण्डार्थं तस्य कल्पयेत् ॥

श्लो० २१२—यह दण्ड-वाक्य का प्रकरण है । दण्ड-पाठ्य का लक्षण बृहस्पति ने बतलाया है :—

दण्ड-पाठ्येण ऋगुदैर्भस्म-कर्म-पांसुभिः ।

आयुधैश्च प्रहरणं दण्ड-पाठ्यमुच्यते ॥

श्लो० १२२—समुत्थानजं स्वयम्—तत्पर्यं यह है कि उस व्यक्ति का घण आदि निवृत्त जब तक होता है तब तक का सारा खर्च धनकर्षी को देना होता है । अत एव कार्यायम का कथन है :—

समुत्थानम्ययं चासौ दद्यादागणरोपणात् ॥

हस नियम के अपवाद नारद के द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं :—

अनुशास्यो गुरुणा तु न चेद्भुविधीयते ।

अवधेनाथ वा हन्याद् रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥

भृशं न तादयेदेन नोत्तमाङ्गे न चोरसि ।

अनुशास्य च विश्वास्यः शास्यो राज्ञाऽन्यथा गुरुः ॥

पुत्राऽपराधे न पिता श्ववान्न शूनि दण्डभाक् ।

न मर्कटे च तस्वामी तेनैव प्रहृतो तु चेत् ॥

अवधेन = अहिंसया ।

श्लो० २२८—शैत्यः = मनोहर स्थान—( अपराकः ) शैत्यः तद्देशवृत्तः—

( शूलपाणिः )

श्लो० २२९—यहाँ विष्णु का वचन अवधान देने योग्य है :—फलोपभोग-द्रुमश्लेदी तूत्तमसाहस दण्डवाः । पुष्पोपभोगश्लेदी मध्यमम् । वल्लीगुत्तमल-ताश्लेदी कार्पाण-शतम् । पुणश्लेघ्रेकम् ॥

श्लो० २३९.—साक्षिणाम्—जो व्यक्ति विरोध का समाधान करने में समर्थ होकर भी ईर्ष्या द्वेषादि के कारण समाधान नहीं करता है अपि तु पिता-पुत्र के विवाद में साक्षिण को स्वीकार करता है, उस वर्ग के लोगों के लिए 'त्रिपणो दमः' कहा गया है। यह नियम भी मध्यम अपराध के लिए है। यदि अपराध अधिक हो तो निम्न-लिखित विष्णु के वचन के अनुसार दण्ड करना चाहिए :—

पितृ-पुत्र-विरोधसाक्षिणां दशपणो दण्डः ।

यस्तयोरन्तरे तस्योत्तमसाहसो दण्डः ॥

श्लो० २४१—नाणकपरीक्षी = टहक-परीक्षक । यहाँ निम्न-निर्दिष्ट गृहस्पति-वचन को देखना चाहिए :—

अदपमूर्ख्यं तु संस्कृत्य नयन्ति बहुमूषयताम् ।

स्थ्रीबालकान् वञ्चयन्ति दण्डवास्तेऽर्धानुरूपतः ॥

हेम-मुष्ठा प्रयालाद्यं कृत्रिमं कुर्वते तु ये ।

केत्रे मूर्ख्यं प्रदाप्यास्ते राजा तद्विगुणं दमम् ॥

श्लो० २४२—तिर्यञ्चु = गो आदि पशुओं के विषय में ।

श्लो० २४९—कारुः = तन्तुवाय । सम्भूय = राजा की अनुमति के बिना ही अपने वर्ग में मिलकर ।

श्लो० २५२—सधः—इससे यह स्पष्ट है कि बिल्म्ब होने पर यह नियम नहीं है। इसी का प्रपञ्च अप्रिम श्लोक में किया गया है, जिससे अभ्यवस्था नहीं हो जाय ।

श्लो० २५४—विष्णु के अनुसार विक्रीयासम्प्रदान में दण्ड भी निर्दिष्ट है :—

गृहीतमूर्ख्यं यः पण्यं प्रेतुर्नैव दद्यात् तस्यासौ

सोदयं दाप्यः राजा च पण्यततं दण्डवः ॥

श्लो० २५५—अत एव नारय का भी कथन है :—

दीयमानं न गृह्णाति क्रीतं पण्यं च यः श्रवी ।

स एवास्य भवेद्दोषो विक्रेतुर्योऽप्रयच्छतः ॥

श्लो० २५९—यहाँ समवाय ने प्रतिषिद्ध तथा विहित शक्तियों का निर्देश गृहस्पति ने दिया है :—

अशक्तालमरोगार्चमन्वभाग्य-निराश्रयैः ।

वागिज्वापाः सहैतैस्तुः न कर्षन्त्यां जुषैः क्रियाः ॥

कुलीनदधानलसै प्राज्ञैर्नाणकवेदिभि ।

भायभ्ययज्ञै शुचिभि शूरै कुर्यात् सह क्रिया ॥

निराश्रयै = मूलधनहीन व्यक्तियों के साथ ( नहीं करना चाहिए )  
लाभाऽलाभी यथाद्भवम्—अत एव नारद का कथन है —

फलहेतोरुपायेन कर्म सम्भूय कुर्वताम् ।

आधारभूता प्रसेवा उत्तिष्ठेरस्ततोऽशत ॥

समोऽतिरिक्तो हीनो वा यत्राशो यस्य यादृश ।

स्योऽस्यौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधा ॥

उन सशौ में परस्पर विवाद उपस्थित होने पर निर्णय का प्रकार  
बृहस्पति ने बतलाया है —

परीक्षका साक्षिणश्च त एवोक्ताः परस्परम् ।

सन्दिग्धेऽर्धेऽथञ्चनीया न चेद्विद्वपसयुता ॥

य कश्चिद्ब्रह्मकस्तेषां विज्ञात ऋय विक्रये ।

शपथै स विशोध्य स्यात् सर्ववादेष्वय विधि ॥

श्लो० २६०—दशमाशभाक्—दशम अश तो रक्षा कार्य के पुरस्कार के  
रूप में देकर शेष में यथोचित अश का भागी होता है । अत एव बृहस्पति का  
कथन है :—

दैवराजभयाद् यस्तु स्वशक्त्या परिपालयेत् ।

तस्यांश दशम दत्त्वा गृहीयुस्तेऽशतोऽपरम् ॥

श्लो० २७७—प्रमापणम् = हत्या ।

श्लो० २७९—गोभि प्रमापयत् = तापणशृङ्ग बलीवर्द के द्वारा मरवाना  
चाहिए । अपराकं न तो गोभि प्रवासयेत् पाठ मान कर 'बलीवर्दमारोप्य  
देशाद्वदि कुर्यात्'—ऐसा अर्थ किया है ।

श्लो० २८५—सप्रहण के तीन भेद का निर्देश बृहस्पति ने किया है —

बलोपाधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम् ।

तत्पुनस्त्रिविधमोक्त प्रथम मध्यमोत्तमम् ॥

अनिष्टवृत्त्या यत् क्रियते सुतो-मत्त प्रमत्तया ।

रदसि प्रलपन्त्या वा बलाकारकृत तु तत् ॥

सुधना गृहमानीय दत्त्वा वा मघकार्मणम् ।

सयोग क्रियते यस्य तदुपाधिकृत बिदु ॥

अन्यो य चक्षुरागेण दूतीसप्रपणेन च ।

कृतं रूपार्धलोभेन ज्ञेयं तदनुरागजम् ॥  
 अपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं दृतीसम्प्रेषणन्तथा ।  
 स्पर्शो भूषण वस्त्राणां प्रथमः संप्रहः स्मृतः ॥  
 प्रेषणं गन्धमाशयानां फलमत्यन्नवाससाम् ।  
 सम्भाषणं च रहसि मध्यमं संप्रहं विदुः ॥  
 एकशय्यासनं क्रीडा सुम्भनालिङ्गने तथा ।  
 एतत्संप्रहणम्प्रोक्तमुत्तमं शास्त्रवेदिभिः ॥

श्लो० २९१—प्रसह्य दास्यभिगने—परदासीं हठादभिगच्छतो दशपणो  
 दण्डः—( अपरार्कः )

श्लो० २९४—कुबन्धेन—यहाँ अपरार्क तथा शूलपाणि ने 'कबन्धेन' पाठ  
 माना है और इसका निरोरहित पुरुष के आकार का अङ्कन अर्थ किया है ।

धर्मशास्त्रानुसारेण प्रयित्तेयं ययामति ।

दिव्यणी याज्ञवल्क्योक्त-व्यवहारे समापिता ॥



## प्रायश्चित्ताध्याय

श्लो० १—ऊनद्विवापिकम्—यह नियम चूड़ाकरणहीन शिशु के लिए है। यदि तु प्रथम वर्ष में ही चूड़ाकरण हो जाता है, अनन्तर शिशु की मृत्यु होती है तो यहाँ बिना मन्त्र से ही अग्नि संस्कार तथा उदक-दान करना ही चाहिए। अत एव लौगाण्डि का कथन है :—

तूष्णीमेवोदकं कुर्यात् तूष्णीं संस्कारमेव च।  
सर्वेषां कृतचूडानामन्यव्रापीच्छ्रया द्वयम् ॥

अधिक विवरण तो मिताक्षरा में ही दिया गया है।

प्रेत-निर्हरण में दिशा का नियम भादिपुराण में बतलाया गया है :—

पूर्वामुखस्तु रेतस्यो ब्राह्मणो बन्धवैर्गृह्यात्।  
उत्तराभिमुखो राजा वैश्यः पश्चान्मुखस्तथा।  
दक्षिणाभिमुखः शूद्रो निर्हर्तव्यः स्वदान्धवैः ॥

श्लो० २—यमसूक्तम्—‘परेथिवांसम्’ इत्यादि सूक्त ( ऋग्वेद ७।१।१४ )। यम-गाथा—नाके सुपर्णम् इत्यादि मन्त्र ( ऋग्वेद ७।३।११ )।

श्लो० ४—कामोदकम्—अत एव पारस्कर का भी कथन है :—“कामोदकम् ऋषिक् श्वशुर-सखि-मातुल भागिनेयानाम्”।

श्लो० ५—सकृत्प्रसिञ्चन्ति—यह उदक प्रेत को प्राप्त होता है। अत एव रामायण में कहा गया है :—

इदं पुरुषशार्दूल विमलं दिग्भ्यमक्षयम्।  
पितृलोकेषु पानीय महत्तमुपविष्टताम् ॥

सकृत्—त्रिष्व का भी विधान शास्त्र में है :—

प्रेतं मनसा ध्यायन् दक्षिणाभिमुखः श्रोत्र उदकाञ्जलीन् निनयेत्—(पैतृ-नसि।

अतः विकल्प मानना चाहिए। न मद्गचारिणः—यह उपलक्षण है। अत एव बृहस्पति ने कहा है—

वैष्टिकानां वनस्थानां यत्तीनो मद्गचारिणाम्।

नाऽऽशीचं सूतके प्रोक्तं ज्ञावे वाऽपि तथैव च ॥

श्लो० ८—मातुष्ये कदली—यह उपलक्षण है। यथासमय उपवेत देकर संस्कर्ता को शान्त करना चाहिए।

श्लो० १६—क्रीत-लवणाशना—यहो निम्नलिखित बृहस्पति-वचन द्रष्टव्य है —

अथ शयपासना दीना मलिना भोगवर्जिता ।

अहार लवणाग्ना स्यु लब्धक्रीताशनारतथा ॥

श्लो० १८—त्रिरात्र दशरात्र वा—ये दोनों पक्ष क्रमशः सकुक्ष्य अथवा समानोदक एव सपिण्ड के लिए हैं । अत एव बृहस्पति का वचन है —

दशाहेन सपिण्डास्तु शुष्यन्ति प्रेत सूतके ।

त्रिरात्रेण सकुक्ष्यास्तु रनास्था शुष्यन्ति गोत्रजा ॥

इसका सम्बन्ध केवल ब्राह्मण ही है । क्षत्रियादि के लिए क्षत्रस्य द्वादशाहानि भावि श्लोक में बतलाया जायगा ।

श्लो० २०—शेषाहोनि—अत एव बृहस्पति का भी मत है —

आशौचे वर्तमाने तु पुनर्दाहक्रिया यदि । तच्छेषेणैव शुद्धिः स्यात् \* ॥

अधिक विषेचन के लिए धर्मशास्त्र नियन्ध द्रष्टव्य हैं ।

श्लो० २७—नाशौचम्—परन्तु मनु आदि ने सद्य शौच माना है —

राज्ञो माहारिके स्थाने सद्य शौच विधीयते ।

प्रजाना परिरक्षार्थमासन चाप्र कारणम् ॥

द्विभाहवहतानाञ्च विद्युता पार्थिवेन च ।

गो ब्राह्मणस्य शैवार्थं वस्य चेच्छ्रुति पार्थिव ॥

बृहस्पति का भी यही मत है —

राजान श्रोत्रियाश्चैव सद्य शौचाः प्रकीर्तिता ।

द्विभाहवे विद्युता च राज्ञा गोविमपालने ।

सद्य शौच इतस्याहु इयह चान्ये महर्षय ॥

श्लो० ३५—आपस्काल में भी ब्राह्मण को गृह वृत्ति का अनुसरण नहीं करना चाहिए । अत एव बृहस्पति का कथन है —

अजीवन् कर्मणा रवन विप्र क्षत्र समाधयेत् ।

वैश्यकर्मार्थवा कुर्यात् वार्षल परिवर्जयेत् ॥

पावयिषा—इस प्रसङ्ग में बृहस्पति का मत भी निम्नलिखित है —

लब्ध लाभ पितृन् देवान् ब्राह्मणाश्चैव भोजयेत् ।

उ तुष्टास्तस्य उ दोष क्षमयन्ति न सशय ॥

श्लो० ४८—दान्त = दान्तातपादिदु लसदिष्यु —( शूलपाणि )

अनिषिद्धोद्यम , सृपावादादिभ्य उपरत —( भयशकः )



श्लो० ५४—वानप्रस्थगृहेषु—यदि सम्भव हो तब । अथवा निम्नलिखित मनुस्मृति के अनुसार भिषाहरण करना चाहिए :—

तापसेध्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।  
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥

श्लो० ५५—भुञ्जीत चाग्नयतः—यहाँ भी निम्न निर्दिष्ट मनु-वचन द्रष्टव्य है :—

ग्रामादाहाय चाऽऽरनीयावष्टी ग्रामान् वने वसन् ।  
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥

वायु-भक्षः—वायुपद जल का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन है :—

आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिष्ठागतः ॥

श्लो० ५६—नान्यथा—अत एव मनु ने कहा है :—

अनधीम्य द्विजो वेदान्तुत्पाद्य तथा सुतान् ।  
अनिष्ठा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् मज्जवधः ॥

श्लो० ५८—त्रिदण्डो—इसका विशेष विवरण नरसिंहपुराण के निम्न-लिखित श्लोकों में देखना चाहिए :—

त्रिदण्डं वैणव सौम्यं सश्वचं समपूर्वकम् ।  
वेष्टितं कृष्णगोषालरज्जवा च चतुरङ्गुलम् ॥  
प्रन्धिभिर्वा त्रिभिर्युक्तं जलपूत्रेण चोपरि ।  
गृह्णीयात् दक्षिणे हस्ते मन्त्रेणैव तु मन्त्रवित् ॥

श्लो० ६०—तैजसद्रव्य-विनिर्मित-भिषा-पात्र की निन्दा यम ने की है :—

भुवर्णरीप्यपात्रेषु ताभ्रकांस्थायसेषु च ।  
भिषादातुर्न धर्मोस्ति प्रहीता नरकं व्रजेत् ॥

विशेष विवरण के लिए नरसिंहपुराण के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं :—

ततो निवृत्त्य तत्पात्रं संस्थाप्याचम्य संयमी ।  
चतुरङ्गुलैः प्रधास्य प्राप्तमात्रं समाहितः ॥  
सर्वस्यअनसंयुक्तं पृथक्पात्रे निवेदयेत् ।  
सूर्यादिदेवभूतेभ्योऽप्य द्वाऽऽन्नं प्रोक्ष्यवारिणा ॥  
भुञ्जीत पर्णपुटके पात्रे वा चाग्नयतो यतिः ।

घटाकांश्चत्यपर्णेषु कुम्भी त्रिन्दुकपर्णयोः ।  
 कोविदारकरञ्जेषु न भुञ्जीत कदाचन ॥  
 समलाः सर्वे उप्यन्ते यतपः कांस्य-भोजिनः ।  
 कांस्यकस्य तु परपापं गृहृथस्य तथैव च ॥  
 कांस्य-भोजी यतिः सर्वं प्राप्नुयात् किविपं तयोः ।  
 भुक्त्वा पात्रं यतिर्निर्यं चालयेन्नन्त्रपूर्वकम् ॥  
 न क्षुप्येतास्य तस्पात्रं यज्ञेषु चमसा इव ॥ इत्यादि ।

श्लो० ६७—महा-पुराण में भी कहा गया है:—

एकस्मादेव चैतन्याऽजाताः चैत्रज्ञातपः ।  
 लौहश्वलनसंदीप्ता मरीचय इवोद्भवाः ॥

इसके अतिरिक्त धृतिसदृश इसका समर्थक है ।

श्लो० ७०—“तरमादेतरमाद्वा भाग्येन भाकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः”  
 इत्यादि धृति इसके प्रमाण है ।

श्लो० ७४—आदिमिच्छतः—अत एव धृति भी कहती है :—“तदैषत  
 यदुस्वो प्रजायेय” इत्यादि ।

श्लो० ७५—मास्यर्तुदं द्वितीये तु—यहाँ सुधृतसंहिता की उक्ति  
 प्रष्टव्य है :—

“द्वितीये मास एव हि गर्भस्य सम्भयतः पूर्वं शिरः  
 सम्भवतीत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वाद् देहेन्द्रियाणाम् ।  
 पाणि-पादमिति मार्कण्डेयः, तन्मूलत्वाच्चेष्टायाः गर्भस्य ।  
 नाभिरिति पाराशर्यः, सतो हि वर्धते वेदो देहिनः ।  
 हृदयमिति कृतवीर्यः, बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात् ।  
 मध्य-शरीरमिति सुभूतिर्गौतमः, तन्निबद्धत्वात् ।  
 सर्व-गात्रस्य सर्वाङ्गानि युगपरसम्भवन्ति” इति ( धन्वन्तरिः । )

श्लो० ७२—दोषम्—अत एव धृति भी है :—

“दौर्द्धदाऽदानात् काणे कुञ्जे वामने वा जनपति, तरमास्ता षड्दिग्देश-  
 चरये महापयेत्, वीर्यवन्तं विरायुषं जनपति” ।

श्लो० ८४—एत् त्वचो धारयन्ति—सुधृतसंहिता आदि में तो सात  
 त्वेषाभो का निर्देश है । उनके नाम हैं—भवभासिनी, रोहिता, श्वेता, ताम्रा,  
 वेदिनी, तोहिनी, वंसपरा ।

श्लो० ११७—भाग्येन तु जगत्सर्वम्—इसमें निम्न-लिखित धृति  
 प्रमाण है :—

“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति \* \* \* \* \* आनन्दा-  
द्वयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ” इत्यादि ॥

श्लो० १२६—१२८—इन श्लोकों में पुरुषसूक्त के अर्थ का ही समग्रन  
किया गया है ।

श्लो० २१५—श्वित्रो = श्वेतकुण्डवान् ।

श्लो० २१८—कर्म विपारु का विवरण मनुस्मृति के बाहरवें अध्याय  
में भी देखना चाहिए ।

श्लो० २२६—ध्ववहार्यस्तु—यहाँ मनु का मत निम्न लिखित है —

अकामत कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधा ।

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥

श्लो० २२८—इनमें से वेदनिन्दा, मुद्गद्वध तथा अधीतनाशन को  
मनु ने सुरापान सम माना है —

ब्रह्मोद्धता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्य मुद्गद्वध ।

गर्हितानाद्ययोज्जिषि सुरापानसमानि षट् ॥

श्लो० २२९—जैह्वम्यमुत्कर्षे च यचोऽनृतम्—इन दोनों को मनु ने  
ब्रह्महत्या सम माना है —

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।

गुरोश्चालीकनिर्वन्ध समानि ब्रह्महत्याया ॥

श्लो० २३४—२४२—इनका निर्देश मनुस्मृति के अध्याय-३१, श्लोक-  
५९—६६ तक किया गया है ।

श्लो० २५३—यह प्रायश्चित्त कामकार कृत सुरापान के लिए है । अत  
एव बृहस्पति का कथन है —

सुरापाने कामकृते ष्वलन्तीं तां विनि चिपेत् ।

मुखे तथा स निर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

श्लो० २५४—यह प्रायश्चित्त बहुद्विपूर्वक सुरापान के लिए है, पूर्व  
प्रायश्चित्त का विकल्प नहीं है । इसका कारण यह है कि तुल्यता रहने पर  
ही विकल्प हो सकता है । यहाँ पर पूर्वोक्त प्रायश्चित्त तथा इस प्रायश्चित्त में  
तुल्यता नहीं है अतः विषय-भेद मानना आवश्यक है ।

श्लो० २५५—पुनः संस्कारम्—इसका मूल निम्न लिखित मनु-वचन में  
देखना चाहिए —

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।

तस्य व्यपैति ब्रह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥

श्लो० २२६—भायस्या योपिता—इसे भी सन्तुष्ट ही होना चाहिए ।  
अत एव मनु का कथन है —

सूर्मां ऽवलम्बोँ स्वाशिल्येत् मृगुना स विशुद्वयति ।

श्लो० २२१—अत एव मनु ने भी कहा है :—

हुङ्गार प्राङ्गणश्योक्त्वा स्वकारं च शरीयसः ।  
स्नात्वाऽनश्नन्नह शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥  
ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे धावथ वाससा ।  
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपाय प्रसादयेत् ॥

श्लो० २२८—कृतज्ञसहितान्—

इस प्रसङ्ग में स्कन्द-प्रमाण के वचन द्रष्टव्य हैं,—

प्रक्षन्ने च सुराये च शीरे च गुरुतल्पने ।  
निष्कृतिर्विहिता सद्भि कृतधने नास्ति निष्कृति ॥

कृतज्ञ का विवरण भी वहीं दिया गया है :—

भर्तृपिण्डोपहर्ता च पितृपिण्डोपहारकः ।  
गुरोर्गृहीत्वा विद्यां च दक्षिणां यो न यच्छति ॥

न यच्छति = गुरु के द्वारा दक्षिणा की याचना करने पर भी जो दक्षिणा नहीं देता है ।

पुत्रान् द्वियञ्च यो द्वेष्टि पञ्च तान् घातयेन्नरः ।  
कृतस्य दोष वदति स्वयं कामात् करोति न ॥  
न स्मरेन्न कृतं यस्तु भाक्षमान्यञ्च दूषयेत् ।  
सर्वास्तानृपिभि सार्धं कृतज्ञानमवीन्मनु ॥  
इत्यमाचार्यवचन विभाष्य विविधोदितम् ।  
याज्ञवल्क्यस्मृतौ लक्ष्मी टिप्पणी रचिता मया ॥  
शूलपाण्यपराकीं च वीरमित्रोदयस्तथा ।  
बाळश्रीदा च विपुला व्याख्या अस्याः स्मृते स्थिताः ॥  
ताभ्यः तयाऽयत्तः प्राप्त सार मानयमेव च ।  
निबद्धयत्र विश्वेष्टाराधनायैव केषलम् ॥ ३ ॥  
सिन्धुवर्तुप्रहृषन्त्राक्षये स्त्रिरताम्बे यापिता शिवम् ।  
नारायणेन मिथेज कार्या विश्वेशतन्निधी ॥ ४ ॥

इति श्रीनारायणमिथ संप्रयिता याज्ञवल्क्यस्मृतिटिप्पणी समाप्ता ।

## पद्यार्थानुक्रमणिका

श्लोका	शृङ्ख	श्लोका	शृङ्ख
अ		अतीतायामप्रजसि	३०२
अकामतं कामचारे	३१५	अतीतार्थस्मृतिः कस्य	४०६
अकारणे च विक्रोष्टा	३५४	अतो न रोदितम्य द्वि	४०१
अकार्यकारिणां दान	४०९	अतो यतेत तत्राप्ययै	१५५
अकूटैरायुर्धैर्यान्ति ते	१४५	अतो यदामनोऽप्यप्य	४४८
अकूट कूटक मूते	३५६	अघ्राहममुक साघी	२३७
अक्रन्दोऽपरितुष्टश्च	४४०	अथवाप्यभ्यसन्वेद	४९१
अक्षता कृता चैव	२७	अदत्तादाननिरत	४७१
अक्षतायां क्षतायां वा	२८६	अदत्तान्यग्निहीनस्य	७०
अक्षतात्पृथक्शोणी	४५७	अवदद्धि समाप्नोति	१५८
अक्षयोऽय विधी राज्ञां	१४२	अधीर्षसूत्र स्मृतिमान्	१३९
अक्षिकर्णचतुष्क च	४६०	अदुष्टा तु त्यजन्दण्ड्यो	२६
अगृहीते सम दाप्य तु	३८३	अदेशकालसभाप	३७७
अगृहीते सम दाप्यो भृ	३३४	अद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभि	९
अग्निकार्यं तत कुर्यात्	११	अधर्मदण्डन स्वर्ग	१५७
अग्निदानां च ये लोका	२२७	अधिविघ्नत्रियै दद्यात्	३०५
अग्निजलं वा शूद्रस्य	२४५	अधिविघ्ना तु भर्तृभ्या	२९
अग्निवर्णं -यसेरिण्ड	२५४	अधीतवेदो अपकृत्	४४२
अग्नीन्वाप्यात्मसात्कृत्वा	४४१	अभ्याप्याधर्मत साधु	११
अग्ने सकाशाद्विभ्राग्नौ	१४२	अभ्यायानामुपाकर्म	६३
अग्नी करिभ्यश्चादाय	१०६	अभ्वनीनोऽतिथिर्शुभ्य	५०
अग्नी सुवर्णमपीण	३२६	अनघ्नममृत चैव	४८
अग्र्य सर्वेषु वेदेषु	९८	अनन्ता ररमयस्तस्य	४८१
अजं शरीरमहणात्	४५०	अनन्ताश्च यथा भया	४३०
अजातौ जातिकरणे	३५८	अनन्यपूर्विकां कान्तां	१९
अजाशयोर्मुखं मेध्य	८८	अनन्यविषयं कृत्वा	४६४
अज्ञानाच्च सुरां पीरवा	५३२	अनभिष्यातयोपरतु	६१५
अत शृणुष्व मांसस्य	७८	अनक्षितं वृथामास	७२
अत ऊर्ध्वं पतत्येते	१५	अनाश्याय दूदरोप	२६
अतिथिं श्रोत्रिय वृत्त	५०	अनादिरात्मा कथित	४६६
अतिथित्वेन वर्णानां	४८	अनादिरात्मा सभृति	४६८

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अनादिरादिमाक्षैव	४८५	अन्यत्र जुष्टरागण्ड	९६
अनादिष्टेषु पापेषु	६३६	अ-यथावादिनो यस्य	३२९
अनाशकानलापात	५०३	अ-यदस्ते च विधीय	३६३
अनादितामिता पन्थ	५०९	अ-यायेन नृपो राडाव	१५१
अनिप्रहाश्चन्द्रियाणां	४९३	अ-येऽपि सङ्ख्या प्राङ्गा	३९८
अनिन्देषु विवाहेषु	३९	अ-योर्वस्तु सप्तश्री	३९८
अनिपद्यमलापी च	४०१	अ-योः-यापइत द्रव्य	२८२
अनियुक्तो भावजाप	५८५	अ-विता यान्यधरित	५००
अनिपेक्षितविज्ञातो	१९८	अ-पनः सांशुषदपम्	३९४
अनिपेक्ष नृपे दण्ड्य	३२१	अ-परान्तःसुखोप्यं	४६४
अनिपेक्ष नृपे दण्डयेत्	५३३	अ-पराङ्गे समभ्यर्च्य	१०३
अनिश्चित्य भूति यस्तु	३३५	अ-पक्षात्तापिनः कश्चान्	४९३
अनुगम्याभसि खाद्या	४३३	अ-परयता कायवशात्	१६५
अनुपाकृतमात्तानि	७५	अ-पस्य ततः कृत्वा	१०४
अनृत तु पृथग्दण्डया.	३०९	अ-पहता इति तिलान्	१०५
अनेकपितृकाणां नृ	५३६	अ-पि भाता सुताऽर्घ्यो वा	१५७
अनेन विधिना आतः	१०	अ-पुत्रो गुर्वनुज्ञाता	९०
अनेन विधिना दद	१८	अ-पुत्रा योपितक्षैर्षा	३०१
अनेन विधिराख्यात.	३६६	अ-पुत्र्य परधन	२८३
अनीरक्षेपु पुत्रेषु	४२१	अ-पञ्चमीधन भर्तु	३०२
अन्तरा जन्ममरणे	४०९	अ-प्रणोद्योऽतिथि साय	४८
अन्तरा पतिते पिण्डे	२५६	अ-प्रनुशं शिष्य हत्वा	५३०
अन्तरे च तयोर्थाः स्यात्	३५५	अ-प्रमत्तक्षरेऽङ्ग	४४५
अन्तर्जले विद्युद्वत	६३६	अ-प्रयच्छन्समान्जोति	५५
अन्तर्जानु शुची देश	८	अ-प्राप्तव्यवहार च	३९७
अन्तधान स्मृति कान्ति	४९०	अ-फालकृष्टेनासीत्	४३०
अन्तपानी पुष्टमात्र	३३०	अ-वन्ध्य यक्ष यन्नाति	३५०
अन्वयजैगर्दभेरुद्रे	१२७	अ-वभषो मासमासीत्	५८४
अन्वयपक्षिस्थावरता	४००	अ-मुषिः नर साधय	२२८
अन्वयाभिगमने त्वङ्ग	२८४	अ-न्दित्रानि जपेच्छय	४२६
अन्धोऽचिकित्सरोगाद्या	३००	अ-नश्येण द्विज दृष्य	३८५
अद्ध पपुषित भोज्य	७३	अ-माव ज्ञातयस्तेषा	३३
अ-न भूमौ अन्ताब्दाल	३६	अ-माये शातृचिदानां	३१०
अ-न्य पितृमनुष्येभ्यो	४७	अ-भिगमतास्ति भगिनीं	३४१
अ-न्यमादाय वृत्ता रथ	१०९	अ-भिधाते तथा छेदे	३४९
अ-न्यमिष्ट इविध्य च	१०८	अ-भियुक्त च नान्येन	१७५
अ-न्यहर्तामयावी स्यात्	४९४	अ-भियोगमनिस्तीर्य	१७४

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अभियोगोऽथ साचये वा	१७८	अर्धोऽधमेषु द्विगुणः	३४१
अभिरम्यतामिति वदेत्	११४	अर्वाक् चतुर्दशादहो	२४२
अभिलेख्यात्मनो वश्यान्	१४३	अर्वाक्संवत्सरास्वामी	३२१
अभिशास्तो मृषा कृच्छ्रं	५८५	अर्वाक्सपिण्डीकरणं	११८
अभ्रातृको हरेत्सर्वं	२८९	अलकृतां हरन्कन्यां	३७९
अमावास्याऽष्टका बुद्धिः	९७	अलम्भमीहेद्धर्मण	१४२
अमेध्यपारिणिनिष्टवृत्	३४५	अवकीर्णां कुण्डगोलौ	९९
अमेध्य शवशूद्रान्य	६६	अवकीर्णां भवेद्गतावा	५७८
अमेध्याप्तस्य मृषोयैः	८६	अवटश्चैवमेतानि	४५८
अम्बष्टः शूद्राणां निपादो	४०	अवरुद्वासु दासीषु	३८१
अयं तु परमो धर्मः	५	अविज्ञातहतस्याशु	३७५
अयं मे वज्र इत्येवं	६१	अविप्लुतद्रह्यचर्यः	१९
अयमेवातिकुच्छ्रः स्यात्	६३०	अविप्लुतमतिः सम्यक्	४७९
अयनं देवलोकं च	४८८	अविभक्तैः कुटुम्बार्थं	२०४
अयाचिताहृत प्राणम्	९६	अवीचिमन्धतामिन्न	५००
अयाचिताशी मितभुक्	४९१	अर्वांरास्त्रीस्वर्णकार	७१
अयुक्तं शपथं कुर्वन्	३५४	अवेपथ्या गर्भवासाश्च	४४७
अयोनौ गच्छतो योषां	३८४	अव्यष्टमारामा चेत्प्रज्ञः	४८४
अरच्यमाणाः कुर्वन्ति	१५०	अशक्तस्तु वदन्नेव	३४३
अरण्ये निर्जले देशे	४५४	अक्षीतिभागो वृद्धिः स्यात्	१५९
अरण्ये नियतो अप्वा	५२३	अक्षमेघफलं तस्य	६४१
अराजदैविकं नष्ट	३३६	अश्वरत्नमनुष्यस्त्री	५०६
अरिर्मित्रमुदासीनो	१५२	अश्वस्थानाद्गजस्थानात्	१२९
अरोगामपरिविलिष्टा	९४	अश्वानायुश्च विधिवत्	१२४
अरोगिणीं भ्रातृमतीं	२०	अष्टमे मास्यतो गर्भो	४५५
अरोगित्वं यशो वीत	१२४	अष्टौ ऋषुणि सीसे च	३२६
अर्कः पलाशः खदिरः	१३६	असच्छाखाधिगमन	५०९
अर्घप्रक्षेपणाद्द्विदश	३६४	असत्कार्यरतोऽधीरः	४७२
अर्घस्य हासं वृद्धिः वा	३५९	असत्सत्तस्तु विशेषः	४२
अर्धोऽनुग्रहकृतकार्यं	३६०	असंचलकृतश्रव	१९५
अर्यां विपात्तिक्रमकृत्	३५३	अससृष्टपि वाऽऽद्यान्	२९८
अर्यांश्च विदुषात्रेषु	११४	अससृष्टास्तु सस्कायाः	२७९
अर्थशास्त्रात्तु बलवत्	१८३	असाधिकहते चिद्धैः	३४५
अर्थस्य सचयं कुर्यात्	४३८	असिपत्रग्रनं चैव	५००
अर्थानां छन्दसः षष्टिः	४९१	अस्फुटमः यथं चैव	१४२
अर्धत्रयोदशपणः	३१७	अस्त्रियमतां सहस्रं तु	५००

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अस्नेहा अपि गोधूम	७३	आत्मा गृह्णात्यजः सर्वे	४५३
अस्वयं लोकविद्धिष्टं	६८	आ दन्तजन्मनः सद्यः	४१७
अहंकारः स्मृतिर्मेधा	४८३	आदातुश्च विद्युत्तपयं	५२३
अहंकारश्च बुद्धिश्च	४८४	आदित्यरथ सदा पूजां	१३४
अहंकारेण मनसा	४८०	आदिमध्यावसानेषु	१२
अहःशेषं सहासीत	५०	आर्घी तु वितथे दाप्या	२११
अहस्यैकादशे नाम	६	आभयो व्याधयः वलेशाः	४४७
अहस्त्वदत्तकन्यासु	४१८	आधानं विक्रयं वापि	३५८
अहिंसा सत्यमस्तेयं	५४	आधिः प्रणश्येद्विगुणे	२१५
अहिंसा स्तेयमाधुर्यं	६२४	आधिवेदनिकायं च	३०१
अहो मासस्य पञ्चा वा	४३८	आधिसीमोपनिषेप	१८९
आ		आधिस्तु भुज्यते तावत्	२३९
आकाशपवनऽयोतिः	४८२	आधेः स्वीकरणात्सिद्धिः	२१७
आकाशमेकं हि यथा	४७४	आर्घी प्रतिग्रहे ऋते	१८६
आकाशात्ताम्रं स्रीधमं	४५३	आध्यादीनां विहर्तारि.	१८९
आकृष्णेन इमं देवाः	१३६	आनीय विप्रसर्वस्वं	५२०
आगमस्तु कृतो येन	१९३	आपन्नतः संप्रगृह्णन्	४३४
आगमेनोपभोगेन	३२०	आपद्यपि हि कष्टायां	४९३
आतमेऽपि बलं नैव	१९२	आपोशनेनोपरिधात्	४८
आगमोऽभ्यधिको भोगात्	१९०	आपोशानक्रियापूर्वं	१३
आ गर्भसंभवाद्ब्रह्मैव	२७	आमाशयोऽथ हृदयं	४५९
आगामिभद्रवृत्ति	१४३	आ मृतयोः श्रियमाकाङ्क्षन्	६७
आचम्यान्वाटि सलिलं	४०१	आयुः प्रजां धनं विशां	१५५
आचरेत्सदृशीं वृत्तिम्	५४	आयुष्कामस्तयैवायुः	५२७
आचान्तः पुनराचम्य	८९	आरामायतनप्राप्त	३११
आचार्यस्त्वं श्रोत्रियश्च	१२०	आरोग्यबलसंपन्नो	१३८
आचार्यपत्नी स्त्रियुतां	५०७	आर्या गत्या तथाऽगत्या	४८२
आचार्यपिशुपाध्याया	४०३	आर्द्रवासास्तु हेमन्ते	४२७
आचार्योपासनं वेद	४७८	आवाहनाप्रोक्षण	११३
आत्मीयश्चेच्छया दण्डः	२२२	आवाहयेदनुज्ञातो	१०३
आज्ञासंपादिनीं वचां	३०	आत्मा तदनुज्ञातो	१०४
आ वृषोस्तु पवित्राणि	१०८	अमेदयति चेद्वाश्रे	१६६
आमशः शौचवादान्तः	४७२	आशुदेः संमतीषयो हि	३०
आरमस्तुव्यं सुवर्णं वा	४०५	आरमशानादनुब्रज्य	३९२
आमनस्तु जगत्सर्वं	४१६	आपोऽज्ञादा द्वाविंशात्	१५
आमनोऽर्थं कियारम्भो	५०५	आसुरो द्रविणादानात्	२५



श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
वास्तिक श्रद्धधानश्च	१२४	उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु	२८७
आहरेद्विधिवद्द्वारान्	२९	उदकयाशुचिभि स्नायात्	४२६
आहुत्याप्यायते सूर्य	४५१	उदकयास्पृष्टसद्युष्ट	७३
आहूतश्चाप्यधीयीत	११	उदर च गुदौ कोष्ठयौ	४५९
इ		उदुम्बर शमी दूर्वा	१३६
इच्छता त क्षणाच्छुद्धि	४०२	उद्गूर्णे प्रथमो दण्ड	३४७
इज्याचारदमाहिंसा	५	उद्गूर्णे हस्तपादे तु	३४६
इज्याभ्ययनवानानि	५२	उदङ्गुल्यस्वति च श्रुचो	१३६
इतरेण निधौ लब्धे	१९८	उपजिह्वारिफजौ बाहू	४५९
इति सचिन्त्य नृपति	१५८	उपजीभ्यद्रुमाणा च	३५१
इति सध्याय गच्छेद्यु	४०१	उपजीभ्य धन मुह्यन्	३८८
इतिहासास्तथा विद्या	१७	उपतिष्ठतामप्यस्थाने	११४
इत्युक्तबोक्त्वा प्रिया वाच	१११	उपनीय गुरु क्षिप्य	७
इत्युक्त्वा चरता धर्म	२४	उपनीय ददद्दद	१४
इत्येतदस्थिर वप्सं	४५२	उपपातकजातानाम्	६२०
इदमूक्षुर्महाभान	६४०	उपपातकयुक्ते तु	३४३
इन्द्रियाणि मन प्राणो	४५२	उपपातकशुद्धि स्यात्	५५८
इन्द्रियान्तरसंचार	४८३	उपवासेन चैवाय	६२८
इधनार्थं द्रुमच्छेद	५०९	उपस्थान तत कुर्वात्	५८१
इमे लोका एष चा मा	४७४	उपस्थितस्य मोक्तव्य	२१९
इष्ट स्यात्कृत्नुभिस्तेन	१५८	उपाकमणि चोत्सर्ग	६४
इह कर्मोपभोगाय	४८१	उपाया साम दान च	१५३
इह लोके यदा प्राप्य	६४१	उपासते द्विजा सत्य	४८८
इह यामुत्र वैकेपां	४७०	उपास्य पश्चिमां सप्या	५१
इहैव सा शुनी गृधी	५३४	उपेयादीश्वर चय	४५
ई		उभयानुमत साक्षी	२२६
ईश्वर स कथ भावै	४६९	उभयाभ्यथितेनैतत्	२३७
ईश्वर सर्वभूतस्थ	४८४	उभया प्रतिभूर्मांसा	१७६
उ		उभयोरप्यसाभ्य चेत	२३६
उक्तेऽपि साधिभि साप्ये	२३०	उभयोरप्यसौ रिषधी	२८३
उच्छिद्यत्सनिधौ पिण्डान्	१०९	उरनेध्वायसो दण्ड	५७२
उत्कोचजीविनो द्रुप्य	१५०	उर मण्डशास्धीनि	४५८
उत्प्रेषकप्रनिधभेदी	३०२	ऊ	
उत्तमो वाऽधमो वापि	३७४	ऊनद्विवर्षं निलनेत्	३९२
उत्तम किंचिदु-नाम्य	४८९	ऊनद्विवर्षं उभयो	४००
उत्पन्ने स्वामिनो भोग	३१२	ऊन वाऽभ्यधिक वापि	३८५

श्लोका	पृष्ठम् ।	श्लोका	पृष्ठम्
ऊरुस्थोत्तानचरण	४८९	एव गच्छन् खिय चामां	३२
ऊर्ध्वमेक स्थितस्तोवा	४८१	एव पुरुषकारेण	१५५
ऋ		एव प्रदक्षिणावृत्को	११२
ऋगाद्या पाणिका दृच	४६४	एव नातामहाचार्य	३९५
ऋग्यजु सामविहित	४६७	एव विनायक पूज्य	१३३
ऋण दद्यात्पतिस्तासा	२०६	एवमस्त्विति होवाच	६४२
ऋण ऐष्यकृत देय	२३८	एवृत्तोऽविनीतात्मा	४७७
ऋतुसधिपु भुक्त्वा वा	६५	एवमस्यान्तरात्मा च	५९७
ऋत्विजपुरोहिताचार्ये	१४८	एवमुक्त्वा विप शार्द्धं	५९७
ऋत्विजपुरोहितापत्य	६९	एवमेतदनाद्य त	५६७
ऋत्विजा दीक्षितानां च	४२३	एवमेत शम याति	६
ऋपभैकसहजा गा	५६७	एव एव विधिर्ज्ञेय प्रा	३८०
ए		एव एव विधिर्ज्ञेयो व	६११
एक प्वता यद्वृत्त च	३४८	एवा त्रिरात्रमभ्यासात्	६३१
एकश्वायाधितेव्येषु	२१३	एवामन्न न भोक्तव्य	७१
एकदेशसुपाभ्याप	१४	एवामन्यतमाभावे	३५४
एकमन्तेन नवतेन	६२८	एवामपतितान्योन्य	२९०
एकरात्रोपवासश्च कृ	६३१	एवामभावे पूर्वस्य	५६
एकरात्रोपवासश्च त	६२७	एवामसभये कुर्यात्	५६
एकादशगुण द्वाप्यो	२३३	ऐ	
एकाराम परिग्रज्य	४४४	ऐणरौरववाराह	११२
एकैकस्य स्वष्ट्यातम्	१३७	ओ	
एकैक हासयेत्कृष्यो	६३२	ओष्टाराभिष्टुत सोम	६२१
एकोद्दिष्ट देवहीनम्	११३	ओ	
एकोनविंशच्छाणि	४६१	औरसा क्षेत्रनासवेण	३००
एतद्यो न विजानाति	४८९	औरसो धर्मपत्नीञ्च	२८५
एतसपिण्डीकरणम्	११४	औवेणक सरोविन्दुम्	४६४
एता सर्वा सनाहाप	१३१	औदूमैकशफ खेणम्	७४
एते महापातक्रिनो	५०२	क	
एते मा-या यथापूर्वं	१४	कट्वेवर्षी यथाऽपके	४७३
एते प्रभूते शूत्रोऽपि	५१	कथमेतद्विमुहाम	४६६
एतेरुपाये सद्यद्	५७८	कद्वयंयदौराणा	७०
एतेरेव गुणेषुवत	२२	कनिष्ठादेस्ताम्रुष्ट	९
एभिश्च भ्यवहतां य	३५६	कनीनिक चापिष्टे	४५९
एभिस्तु सबसद्यो वै	५४६	कन्धराथाहुसवन्तां च	३४८

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
कन्या कन्यावेदिनश्च	१२३	कारणान्येवमादाय	४७५
कन्याप्रद पूर्वनाशे	२५	कारये सर्वदिव्यानि	२४४
क याप्रदान तस्यैव	५०९	कारुहस्तः शुचि पण्य	८३
कन्यासदृषण चैव	५०९	कारिके रोमवद्धे च	३२७
कन्यां समुद्बहेदेपा	५४९	कार्यो द्वितीयापराधे	३०२
कपिला चैत्तारयति	९३	कार्षिःस्तत्रिक पण	१६१
करणैरन्वितस्यापि	४६९	कालकर्मरामवीजानां	४८०
करपाददत्तो भङ्गे	३४८	काले कालकृतो नरयेत्	२१५
करोति किञ्चिद्भ्यासात्	४४९	कालोऽग्नि कर्म गृह्यायु	४२९
करोति वृणमृकाष्ठै	४७५	कापायवाससश्चैव	१२७
करोति नृषि कुर्याच्च	१७	काष्ठलोष्टेपुपापाण	२८६
करोति पुनरावृत्ति	४८८	किञ्चित्सास्थिवधे देय	५०३
करोति य स समूहो	४००	कुमारी च न भर्तार	१२७
कसौ विमृदितव्रीहे	२५२	कुम्भेश्वरभ्यनुज्ञातो	१०३
कर्णौ शखौ भ्रुवौ दन्त	४५९	कुर्याच्छुशुरयो पाद	३५
कर्तव्य वचन तेषा	३३३	कुर्यात्त्रिपयगन्तयो	६३४
कर्तव्य वचन सर्व	३३२	कुर्यात्प्रत्यभियोग च	१७६
कर्तव्याप्रयणोष्टिश्च	५५	कुर्यात्प्रदक्षिण देवम्	६०
कर्तव्या मन्त्रवन्तश्च	१३६	कुर्यात्प्रथास्य न विदु	१५२
कर्तव्याशयशुद्धिरस्तु	४४७	कुर्यान्मृगपुरीषे च	८
कर्मचया प्रजायन्ते	४९२	कुलानि जाती श्रेणीश्च	१५९
कर्मणा द्वेषमोहाभ्यां	४७७	कुशा शाक पयो मत्स्या	९६
कर्मणा मनसा वाचा	६८	कुसुलकुम्भीधान्यो वा	५६
कर्मणा फलमाप्नोति	१३३	कुसुमदकृपिवागिण्य	५३
कर्मणा सनिकर्षाच्च	४७९	कूटस्वर्णध्वजहारी	३८६
कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठा	९९	कूष्माण्डो राजपुत्रश्च	१३१
कर्माभि स्वशरीरोत्थै	४००	कृच्छ्रकृद्मकामस्तु	६४०
कर्म स्मार्तं विवाहाभौ	४४	कृच्छ्र चैवातिकृच्छ्र च	५५१
कर्मेन्द्रियाणि जावीयात्	४५८	कृच्छ्रत्रय गुरु कुर्यात्	५८२
कलविष्णु सकाकोल	७६	कृच्छ्रातिकृच्छ्र पयसा	६३०
कलहापहत देय	३४९	कृच्छ्राति कृच्छ्रोऽसृक्पाते	६०६
कानीन कन्यकाजातो	२८५	कृतज्ञाद्रोहिनेषावि	११
कान्तारगास्तु दशक	२००	कृतरश्च समुत्थाय	१४६
कामतो व्यवहार्यस्तु	५००	कृतशिक्षोऽपि निवमेत्	३३०
कामावकीर्ण ह्रयाभ्यां	५८१	कृताकृतास्त दुर्लाभ	१३१
कामोदक सखिप्रत्ता	३९५	कृतानिर्वायो भुञ्जीत	१३
		कृतेऽन्तरे एवहोरात्र	६५

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
वृत्तोदका समुत्थोर्णान्	४००	पेशवेरमवनप्राप्त	३७६
कृत्तिकारिभारण्यन्त	१२४	पेशस्य हरेणे वृष्णा	३११
वृत्वा हि रेतोविण्मूत्र	६२१	पेष करोति चैरुण्ड्य	३४०
रूपेद विष्णुरिरयन्ने	१०७		
वृमिक्कीटपतङ्गरथ	४९२	र	
वृषि शिष्य मृतिविंषा	४३४	खट्वागमिप महाशक्त	१२२
वृष्णल पत्र ते भाप	१५९	रमण्डलादसौ सूर्य	४६७
वृष्णा गौरायस धाम	१३८	ररपुष्कसवेणानां	४९२
केचिद्देवास्वभावाद्वा	१५५	रराजमेपेषु वृषो	५०१
कतमस्मत्तुपाङ्गार	६२	खरोद्गयानहस्त्यथ	६७
कोऽ यथैकेन नेत्रेण	५७५	ग	
कोर्याष्टिलवचक्राद्ध	७५	गजे नीलवृषा पत्र	५०१
कोळे घृतघटो देय	५७२	गणद्वय हरेद्यस्तु	३३२
कौशेयनीललवण	४३२	गणानामाधिपाय च	१२६
कमशो मण्डल चिन्त्य	१५२	गते तस्मिन्निमप्राङ्	२५७
कमात्ते सभय तीह	४८९	गन्त्री यमुमती नाशम्	४०१
कमात्ते सभयन्वयचि	४८८	गन्धरूपरसस्पर्श	४५८
कमादभ्यागत द्रव्य	२७३	गन्धलपञ्चयकर	८
क्रमेणाचार्यसखिद्रुप्य	२९७	गन्धाश्च यलयश्चैव	१३६
क्रम्यादपिपिदासूह	७५	गन्धोवकतिर्लसुंक्त	११४
क्रियमाणोपकारे तु	५८३	गन्धे स्वभावे दातव्यां	२५
क्रीडां शरीररस्कार	३५	गन्ध्यास्वपि पुमां दाप्याः	३८१
क्रीतलब्धाशना भूमौ	४०३	गर्दभ पशुमालन्य	५०८
क्रीतश्च ताभ्यां पिक्नीत	२८६	गर्भमर्तृवधादीं च	२८
क्रीत्वा तानुशय काय	३६३	गर्भस्य वैकृत दृष्टम्	४८०
क्रूरोपपतितमाय	७१	गर्भस्त्राये मासतुल्या	४१०
कृता मूल्यमवाप्नोति	३२०	गर्भहा च यथावर्णं	५२५
ह्योवांस्य पतितस्तज्ज	३००	गर्भाधानमृती पुस	६
घत्रजास्त्रिद्वेषेकभागा	२८१	गर्भाष्टमेऽष्टम वाऽब्दे	७
घत्रस्य द्वादशाहानि	४१६	गायत्रीजाप्यनिरत	५९२
घत्रिया भागध वैश्यात्	४२	गायत्री शिरसा साध	१०
घय वृद्धिं च जणिजा	३६३	गीतज्ञो यदि योगेन	४६५
घात्रेण कर्मणा जीवेत्	४३९	गीतनृत्यैश्च सुक्षीत	१४७
घुद्रमध्यमहाद्रव्य	३०२	गुह्येन पायस च	१३०
घुदान्त्र वृक्ककी यस्ति	४५९	शुनिद्वेषे तु वचन	२२९
घेत्रज घेत्रजातस्तु	२८५	गुरवे तुवर दत्त्वा	१८
घेत्रज्ञस्वेष्वरज्ञानात्	४३०	गुरु चैवाप्युपासीत	११

श्लोका.	श्लोकम्	श्लोका*	पद्यम्
गुहं हुकृत्य ररुह्य	६०५	ग्रामाशाह्वय वा ग्रासान्	४४१
गुह्यगामप्यधिवेषो	५०५	ग्राम्येच्छया गोपचारो	३१०
गुह्यन्तेवाश्यन्धान	४२०	ग्राहकैर्गृह्यते चौरो	३६८
गुह्यगुह्यदुपलता	३५१	ग्रीया पञ्चदशारिध. स्यात्	३५०
गृहधान्याभषोपानत्	९५	ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्यो	४४०
गृहीतमूष्य य पण्य	३९१	गृहे दातिकृद्देशु	३३८
गृहीतवेतन. कर्म	३३४		घ
गृहीतवेतना वेरया	३१३	घटेऽपवर्जिते ज्ञाति	६१६
गृहीत चाङ्गया र्थीये	३६९	पातितेऽपहृते दोषो	३७०
गृहीतशिभ्रभोऽथाप	८		च
गृहीत स्त्रीधन भर्ता	३०४	चतुर्विंशति प्रथमज	२४
गृहीतानुक्रममाहाप्यो	२०३	चतुर्विंशतिरो दण्ड.	३८४
गृहीतोऽह्वय वृषणी	५३९	चतुष्पादहृतो दोषः	३६८
गृहेऽपि निवसन्निव्रो	७९	चतुष्पाद्वपवहारोऽयं	१०४
गृहे प्रच्छन्न उपन्नो	२८५	चतुस्त्रिंशद्वेकभागाः स्यु.	२८१
गृह्यन्प्रवातारमधो	९२	चरवारो वेदधर्मज्ञा	५
गृह्यियावृत्तकितवाव	३३८	चरवार्यरग्निकास्थानि	४५६
गेषमेतत्तदभ्यास	४६४	चरितप्रत आयाते	६११
गोघ्रातेऽग्ने तथा केश	८४	चरित्रबन्धककृत	२१८
गोघ्रात शत्रुनोऽद्दिष्ट	८४	चरुक्षुक्लवसस्नेह	८०
गोपशीष्टिकरौद्वेष	२०६	चरेद्द्वयतमहास्यापि	५२७
गोपस्तान्द्रश्च गोमी तु	३१५	चर्मभ्यानद्धहे रक्ते	१२९
गोप : सीमाकृपाणा ये	३०६	चाटतस्वरदुवृत्त	१५०
गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः	२१६	चाण्डालो जायते चर	५६
गोघ्राह्यगानलान्नानि	६८	चान्द्रायण चरेत्सर्वान्	५७९
गोघ्राह्यगार्थ मग्राम	४२२	चान्द्रायण वा त्रीन्मासान्	५४२
गोभूतिलहिरश्यादि	९१	चान्द्रायणैर्नयेत्काल	४३९
गोमूत्र गोमय चौर	६२५	चापाश्च रक्तपादाश्च	७६
गोवधो ग्रायता स्तेय	५०८	चिकित्सकानुसृद्ध	७१
गोष्ठे वसन्प्रज्ञाचारी	४९२	चौर्गमतानपि सत	६१३
गोष्ठेशयो गोऽनुगामी	५५१	क्षेष्टाभोजनवाप्रोधे	३४८
गौरसर्पकवकेन	१२८	चैत्यरमज्ञानमीमामु	३५१
गौरस्तु ते प्रय. पट् ते	१५९	चैलभावसुराजीव	७१
गौदया कर्मणोऽश्यान्ते	६१८	चौर प्रदाप्यापहत	३१९
ग्रहणान्तिकमित्येके	१४		छ
ग्रहणामिदमातिष्वं	१३८		छ
ग्रहाधीना नरेन्द्राणां	१३८	छल निरस्य भूतेन	१८१

श्लोकाः	शृष्टम्	श्लोकाः	शृष्टम्
द्विन्ननस्येन यानेन	३८७	श्रेयं चारण्यकमहं	४६३
ज		श्रेयज्ञं प्रकृतीं च य	४७७
जगदानन्दपरिसर्वम्	१५७	त	
जगदुद्भूतमात्मा च	४६६	तद्यज्ञं वादश्वत्थास्थां	८१
जग्भ्या परेऽद्रुषुपवसेषु	६२५	तः पुनात्युभयतः	२४
जघनादन्तरिक्षं च	४६८	ततः शुक्लाग्ररधरः	१३३
जपन्नामीत मारिच्री	१०	ततः स्वैरविहारी स्यात्	१४७
जपः प्रवृद्धन्नपापानां	५२९	ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य	४८८
जपयज्ञः सिद्धयर्थं	८६	ततो भ्येयः स्थितो योऽस्ती	४९०
जप्या यथामुरं वाप्य	१०८	ततो निष्कर्मणीभूताः	४९७
जप्या सहस्रं गापभ्याः	९२४	ततोऽभिव्यादयं दृष्टवान्	११
जलमेकाहमाकाशे	४०४	ततोऽर्षीं छेद्येत्सद्यः	१७३
जल विरेम्ना जलिमा	६२	तत्कर्मणां मनुष्ठानं	४७८
जल प्लवः पयः काको	४९५	तत्कालकृतमूलयो वा	२१९
जलान्ते घृन्दसा कुर्यात्	६४	वर्षापानाय निर्वाप्यः	२८५
जले स्थित्वाऽभ्यनुदुयात्	६१७	तपुनस्ते समैरदोः	२८२
जातद्गुमाणां त्रिगुणो	३५१	उत्थमाणं स्मृतं लेष्य	१३८
जातिरूपनयोवृत्त	४७६	तत्र गावाऽवतिष्ठन्ते	४८७
जातोऽपि दास्यां शूद्रेण	२८९	तत्र तत्र च निष्पाताः	१४५
जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः	४३	तत्र तत्र तिलैर्होमो	६२३
जायन्ते लघुजभ्रष्टा-	४९७	तत्र दुर्गाणि कुर्वीत	१४४
जायन्ते विषयोपेताः	४९७	तत्र देवमभिन्यक्त	१५४
जारं चौरेभ्यमिदन्	३८८	तत्र स्यात्सदसं स्वाभ्यं	२७६
जालपादान्खड्गरीटान्	७६	तत्र स्यात्स्वामिनश्चक्षुदो	२३५
जालसूर्यमरीचिस्थं	१५९	तत्राग्ना हि स्वयं किञ्चित्	४४९
जितमुद्रमाहयंजेत्रे	३३८	तत्राष्टाशोतिसाहस्राः	४८६
जितं सप्तभिक्के स्थाने	३५८	तत्र स्मृतेरुपस्थानात्	४७९
जिह्वं खजेत्रनिर्लाभ	३६६	तस्त्वथ वदं कर्ष्याणि	२४८
जीवेद्वापि शिलोन्देन	५६	तस्त्वथ तस्य गार्गीहि	२९७
जुगुप्सरन्न चाप्येन	६११	तस्त्वित्तो सिद्धिमाप्नोति	१७४
कुडुयाग्मूर्धनि कुशात्	१३०	तस्त्वुता गोत्रजा यभ्युः	२८९
कुष्ठं वा श्रेष्ठमाग्नि	२६९	तथाऽद्वादनदानं च	१०४
ज्ञातयो वा हरेयुस्तत्	३६६	तथाग्नेको ज्ञानेकश्च	४७४
ज्ञातिश्रेष्ठस्य सर्वकामान्	१३४	तथा पाठीनराजीव	८७
ज्ञात्वाऽपराधं देसं च	१६२	तथा मांसं श्वचण्डाल	८७
ज्ञात्वा राजा कुटुम्बं च	४३५	तथा वर्षाप्रयोदश्या	१२२
ज्ञानोपेत्तिनिमित्तत्वात्	४४७	तथाऽविपकरुणः	४६३

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोक	पृष्ठम्
तथा शक्त प्रतिभुव	३४३	ताम्रकार्शफटिकाद्रक्त	१३५
तथाश्रमेभावभृद्य	५१८	तामिस्र लोहशङ्कु च	५००
तथैव परिपाक्योऽसौ	१५१	तारानक्षत्रसचारै	४८२
तथैवानाश्रमे वाच	५०९	तालशृङ्गाप्रयासेन	४६५
तथोपनिधिराज्जिही	१८९	तालुस्थाचलजिह्वश्च	४८९
तद्दसमवामोति	९१	तालुदर वस्तिदशीर्षं	४५९
तद्दघ्न रसरूपेण	४५१	तावन्त एव मुनय	४८७
तदन्न विमोद्भूमी	१०९	तावद्ग्री पृथिवी ज्ञेया	९३
तद्भावेऽस्य तनये	१८	तिसिरी तु तिलद्रोण	५७३
तदर्थं मध्यम प्रोक्त	१६१	तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान्	६३३
तदवाप्य नृपो दण्ड	१५६	तिटौदनरसञ्चारान्	४२२
तदहनं प्रदुष्येत	४०८	तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण	२३
तन्निमित्तं चत शक्यै	५२०	तुलाभ्यापो विष कोशो	२४२
तन्मन्त्रस्य च भेत्तार	३८८	तुलाधारणविद्वद्भि	२४८
तन्मात्रादीन्वहकारात्	४८४	तुलानुष्य इत्येष	६३१
तन्मूले द्व ललाटाच्चि	४१७	तुलाशासनमानाना	३५६
तन्मूल्याद् द्विगुणो बृण्डो	३५३	तुला स्त्रीवालुद्धान्ध	२४५
तपसश्च परस्येह	१७	तूर्णानमता क्रिया स्त्रीणा	७
तपसा ब्रह्मचर्येण	४८७	तृणगुल्मलताश्च च	४९२
तपस्तप्त्वाऽभृजद्ब्रह्मा	९०	तृप्यर्थं पितृदेवानां	९०
तपस्विनो दानशीला	२२३	ते तृप्तास्तर्पयन्त्येन	१७
तपो वेदविद्या चात्ति	४२९	तेन स्वामभिविद्वाभि	१२९
तप्तधीरघृतामृनाम्	६२७	तेन श्रेयशरीराणि	४८१
तप्ते य ज्ञायते सार्धं	५३९	तेनाग्निहोत्रिणो याति	४८६
तमायान्त पुनर्जित्वा	३९०	तेनोपसृष्टो यस्तस्य	१२७
तमेव कृत्स्नमाप्नोति	१११	तेनोपसृष्टो लभते	१२७
तरिक स्थलज शुक्क	३६५	तेऽपि तेनैव मार्गेण	४८६
तवाहवादिन बलीन	१४६	तेभ्य क्रियापरा श्रेष्ठा	९०
तस्मात्तु नृपतेरर्थं	१५०	तेऽष्टौ लिखा तु तास्तिष्ठो	१५९
तस्मात्तमेह वर्तव्य	४९७	तैलदृक्षैलपार्थी स्यात्	४९४
तस्मादन्नात्पुनर्यज्ञ	४६७	तैश्चापि मयतैर्भाष्य	१०१
तस्मादस्ति परो देहात्	४८३	तै सार्धं चिन्तयेद्वाज्य	१४१
तस्य वृत्त कुल शील	४३५	स्वजन्दाप्यस्मृतीयादाम्	३०
तस्य घोडा शरीराणि	४५१	त्याग परिप्रहाणां च	४७८
तस्याप्यन्न सोदकुम्भ	११८	त्रपुसीसक्तान्नाणा	८५
तस्यैत्युक्तवतो लौह	२५३	त्रयो लक्ष्मस्तु विशेषा	४६१
तस्यैतदा मज सर्वम्	४५२	त्रायस्वास्मादभीशापात्	२५९

श्लोका	शृष्टम्	श्लोका	शृष्टम्
त्रिणाचिकेतदौहित्र	९९	दावा तु माह्वणायैव	२०३
त्रि प्रारवापो द्विरुन्मृज्य	९	दावाऽन्त पृथिवीपात्र	१०७
त्रिराघ्रमा घतादशात्	४१७	दावा भूमि निबन्ध वा	१४३
त्रिरात्र दशरात्र वा	४०७	दावाऽप्य सध्रवास्तेषां	१०५
त्रिरात्रान्ते घृत प्रारय	५८५	दावोदक गन्धमाह्वय	१०४
त्रिराघ्रोपोपितो जप्या	६१६	दावाऽचतुष्पथे म्रूय	१३१
त्रिराघ्रोपोपितो हुत्वा	६१७	दावात्रिरात्र चोपोप्य	५५१
त्रिविन्नपूर्णपृथिवी	१७	दावाद्ग्रहक्रमादय	१३७
त्रिंशद्दिनानि शृङ्गस्य	४१६	दावाद्देवहराऽप्याशं	२९८
त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद्द्वाराय	५८७	दावात्ते कुटुम्बार्थान्	२०५
त्रैकाव्यसध्याकरणात्	६२१	दावात्माता पिता वा य	२८६
त्रैवापिकाधिकाघ्नो य	५५	दक्षुर्वा स्वकृता वृद्धि	२००
त्रैविचनृपदवानां	३४४	दक्षुस्तद्विस्थियन प्रेते	२०४
त्रैविच वृषिमद्वय्यात्	३३१	दध्य-नपायस चैत्र	१३१
श्वङ्गहीनस्तु कर्तव्यो	३८६	दध्योदन हविर्भूणं	१३७
न्यवरा सापिणो ज्ञेया	२२४	दन्तोद्धखलिक काल	४३९
श्वह प्रेतेऽवनप्याय	६४	दन्दशूक पतत्रो वा	४८९
एष तुले सत्यधामासि	२४८	दग्निर्हैतुकपापगिडि	५८
खमग्ने सर्वभूतानाम्	२५३	दशक पारदस्य तु	३६०
एष विष मल्लग पुत्र	२५९	दशपूरुषविक्रयात्तान्	१२
		दर्शनप्रतिभूर्यत्र	२१२
द		दर्शने प्रत्यय दाने	२११
दण्ड छुद्रपयूना तु	३५०	दर्शकपञ्चससाह	३२५
दण्ड च तप्तम रात्रे	१८९	दाघायणी श्वङ्गमूर्षी	६०
दण्ड च स्वपण चैव	१८०	दातव्य प्रत्यह पात्रे	९२
दण्ड दद्यात्सवर्णान्	३०९	दातारो नोऽभिवर्धन्ता	१११
दण्डनीत्या च कुशलम्	१४१	दाताऽस्या स्वर्गमाप्नोति पू	९३
दण्डनीत्या तदर्थं तु	३१३	दाताऽस्या स्वर्गमाप्नोति च	९३
दण्डप्रणयन कार्य	३४१	दान दसो दया शान्ति	५४
दण्ड स दाप्यो द्विमत	३५७	दान दातु चरेत्कृच्छ्र	५६३
दण्डाग्निनापवीतानि	१२	दाने विवाहे यज्ञ च	४१३
दत्तात्मा तु स्वयदत्तो	२८६	दा तस्त्रिपवणस्नायी	२३९
दत्तामपि हरेत्पूजात्	२६	दापयि चा हृत द्रव्य	३६९
दक्ष्णं पाटयेत्तुह्य	२४१	दाप्य सर्वं नृपेणार्थं	१८१
दत्ता कन्या हरन्दण्डवो	३०२	दाप्यस्तु दशस भाग	३३५
दत्ता चौरस्य वा हतु	३६४	दाप्यस्त्वष्टगुण यत्र	३६५
दत्ता तु दक्षिणा शरया	१११	दाप्यो दण्ड च यो यस्मिन्	३४९



श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	अपृष्ठम्
दायकालहृते वापि	४४	देशान्तरगते प्रेते	३६६
दायादेभ्यो न तद्वात्	२७३	देशा तरस्ये दुर्लभ्ये	२३९
दासीकुम्भ बहिर्मात्	६१०	देशेऽद्युचावात्मनि च	६६
दाहयिष्वाऽग्निहोत्रेण	३९	देशे काल उपायेन	४
दिवा सव्यासु कर्गस्थ	८	दैवे पुरुषकारे च	१५४
दीपमान न गृह्णाति	२०४	दीपे प्रयाति जीवोऽय	४७०
दीघतीव्रामयप्रस्त	५२०	दौर्हृदस्याप्रदानेन	४५३
दु एमुःपाद्वेयस्तु	३४९	द्युत कृषिं वणिग्या च	१२३
दु खे च शोणितोपादे	३५०	द्युतमेकमुख कार्यं	३३९
दु पाःपादि गृह द्रव्य	२५०	द्युतप्रीपानसक्ताश्च	३६८
दुष्टाऽऽ पुनर्दृष्ट्वा	३८९	द्रव्य तदीपनिधिक	२२१
दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च	३०४	द्रव्य द्वाक्षणसवत्ति	९७
दुवृत्तमश्विद्वृत्प्रशुद्	५६९	द्रव्यप्रकारा हि यथा	४९५
दुष्टा दशगुण पूर्वात्	६३	द्रव्याणां कुशला द्रुयु	३२७
दुहितृणा प्रसूता वेत्	३०२	द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्य	४८८
दूरादुच्छिष्टविष्मूत्र	६८	द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु	३४५
दूरामर्षपपुष्पाणां	१३२	द्रष्टारो व्यवहाराणा	३३९
दूपगे तु कर-देद	३८०	द्वात्रिंशत् पणा-दण्डयो	३४८
दृति धनुर्वस्तमविं	५६९	द्वादशाहोपवासेन	६३१
दृष्याद्वा तद्विभाग स्यात्	२०८	द्वासप्ततिसहस्राणि	४६३
दृष्ट्वा उयोतिर्विदो वैद्यान्	१४८	द्विगुण त्रिगुण वापि	४८९
दृष्ट्वा पथि निरातङ्ग	५२०	द्विगुण प्रतिदातव्य	२१३
देय चौरहत द्रव्य	१९८	द्विगुण सवनस्ये तु	५२७
देय प्रतिश्रुत चैव	३२३	द्विगुणा वाऽन्यथा द्रुयु	२३०
देवतार्थं हविं शिशु	७५	द्विगुणास्तु कुशान्दत्त्वा	१०४
देवत्विसत्रातकाचार्यं	६७	द्विजस्तुर्गंध पुष्पाणि	३१०
देवानिध्यर्चनकृते	९७	द्विनेत्रभेदिनो राज	३८९
देवानुप्रा-समभ्यर्च्यं	२६१	द्विपगे द्विशतो दण्डो	३५८
देवानि-पतृ-समभ्यर्च्यं	७८	द्व कृष्णले रूप्यमापो	१६०
देवानसतर्ष्यं सरसो	४६७	द्वे द्व जानुकपोलोऽ	४५७
देवेभ्यश्च हुतादन्नात्	४६	द्व शते खर्वटस्य स्यात्	३१८
देश काल च भोग च	३२७	द्वैपीभान गुणानेतात्	१५४
देश काल च योऽतीयात्	३२७	द्वैपे बहूना वचन	२२९
देश काल यय शक्ति	६०९	द्वी द्वे प्राक् त्रयं पितृये	१०२
देशकालवय शक्ति	३७२	द्वी शङ्खकौ कपालानि	४५८
देशकालातिपत्ती च	३१९	ध	
देशाद्देशान्तर याति	१७८	धन वेदानिभपमिसिद्धि	१२४

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
धनी घोषगत दद्यात्	२४१	न प्रत्यग्यर्कगोसोम	६०
धनु शत परीणाहो	३१०	न ब्रह्मचारिणं कुर्युं	३७६
धमनीना शत द्वे तु	४६०	न भार्यादर्शनेऽग्नीयात्	५५
धर्मकृद्ददविद्यावित्	४७२	नमस्कारेण मन्त्रेण	५४
धर्मज्ञा शुचयोऽलुधा	३३३	नयेयुरेते सीमाना	३०६
धर्मप्रधाना ऋजव	२२३	न योषित्पतिपुत्राभ्या	२०५
धर्मशास्त्रानुसारेण	१६३	न राज्ञ प्रतिशृङ्गायात्	६३
धर्मार्थकामान्स्व काले	५१	न लिप्येतैनसा विप्रो	४३४
धर्मार्थ यश्चरेदत्तत्	६३६	नव लिख्येदाणि ता-यव	४६०
धर्मार्थं विक्रय नेया	४३३	नवमे दशमं वाऽपि	४५५
धर्मा हि बृण्डरूपेण	१५६	न विद्याया केवलत्वा	९१
धान्यकुप्यपशुस्तप	५०९	न विरुद्धप्रसङ्गन	५७
धान्यनिधोऽतिरिक्त्वा	४९४	नष्टापद्धतमासाद्य	३१९
धारणा प्रेरण दु ख	४५२	नष्टो देवो विनष्टश्च	२१६
धारयेत्तत्र चात्मान	४९०	न सशय प्रपद्येत	५९
धार्मिकोऽम्यसनश्चैव	१३९	नस्त प्राणा दिश धात्रात्	४६८
धावत पूतिगन्धे च	६६	न शृश-तीह फापानि	६२३
धिदण्डसवथ वाग्दण्डो	१६२	न स्वाध्यायविरोध्यर्थं	५७
धूम निशा कृष्णपत्र	४८९	न हन्याद्भिनिवृत्तं च	१४६
धेनु शङ्खस्तथानडवान्	१३८	नाक्रानेद्वक्त्रविण्मूत्र	६०
ध्यानयोगेन सपरयेत्	४४८	नाहं क्रीडेत्त धर्मज्ञै	६२
ध्येय आत्मा स्थितो योऽसी	४४४	नाचक्षीत धयन्तीं गां	६३
न		नात परतरो धर्मा	१४५
न चयो न च वृद्धिश्च	३२७	नादण्ड्यो नाम राजोऽस्ति	१५७
नम्र स्नात्वा च भुक्त्वा च	६०५	नात्रारूपाणि कुर्वाण	४७९
न च मूत्र पुरीष वा	६१	नान्वये सति सर्वस्व	३२३
न चाहूतो वदतिचित्	१७९	नापात्र विट्पा क्रिषिद्	९१
न तपुश्चा श्रम दण्ड	२१२	नाभिदध्नोदकस्थस्य	२५६
न तत्र कारण भुक्ति	१९४	नाभिरोजो गुद शुक्र	४५८
न तस्मत्तस्तस्मृतो वा	१९३	नामभिरलिमन्त्रैश्च	१३१
न तु महत्प्रदीपाया	६०	नाश्रम कारण धर्म	४४८
न दक्ष स्त्रीधन यस्यै	३०५	नासहस्रादूरेफाल	२४७
न दक्ष स्त्रीधन धारा	२७०	नासिका लोचन जिह्वा	४५८
न ददाति हि य साध्य	२२९	नास्तिवय प्रतलोपश्च	५०९
न दाप्योऽपदत्त त्तु	२२१	नाहित नावृत्त पप	५९
न निन्दाताडने कुर्यात्	६८	निषेपस्य च सर्वं हि	५०६
न निषधयोऽप्यवाधस्तु	३१२	नित्रधमात्रिरोपन	३३२

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
निजलालासमाधोगान्	४७५	पञ्चक ष षत वाप्य	२०३
निज शरीरमुत्सृज्य	४९०	पञ्चगव्य विवेद्रोद्गो	५५१
निद्रालु क्रूरकृष्णुधो	४७२	पञ्चग्रामी वहि क्रोशात्	३७१
निमन्त्रयेत् पूर्वेषु	१०१	पञ्चदश्या चतुदश्यां	६५
निमित्तमघ्न कर्ता	४५०	पञ्चधातू स्वथ पष्ट	४५१
निमित्तशाकुनज्ञान	४८२	पञ्चधा समृत कायो	४००
निमीलिताश्च सखस्थो	४८९	पञ्च विण्दाननुद्धय	६९
निमेषद्वतना यत्र	४८३	पञ्च धो दमस्तस्य	३२०
नियमा गुरुशुश्रूषा	६२५	पञ्चमास्तसमादूर्ध्वं	२१
निराया व्ययव तश्च	३६८	पञ्चाक्षरपणिको दण्ड	३५३
निरपत्तु पुरोडाश	५८५	पटे वा ताम्रपट्टे वा	१४३
निर्वास्या व्यभिचारिण्य	३०१	पणानेकशफे दद्यात्	३२१
निवासराजनि प्रेते	४२१	पणा द्वाप्य पञ्च दश	३४९
निवेद्य दद्याद्विभेभ्य	३९१	पण्यस्योपरि सस्याप्य	३६०
निशायां वा दिवा चाऽपि	६२१	पण्यपु प्रक्षिप हीन	३५०
निषिद्धभक्षण जैह्य	५०५	पतनीयकृते क्षेपे	३४३
निपेकाद्या रमसानान्ता	५	पतितस्य वहि कुर्युं	६१०
निष्क सुवर्णाश्चस्वार	१६०	पतितानामेव एव	६१२
नि सरन्ति यथा लोह	४४९	पतितासार्धसर्वाधि	२२५
नि सावते याण इव	४५५	पतिप्रियहिते युक्ता	६८
निस्तीर्य तामथारमान	४३१	पतिलोक न सा याति	५३४
निह्वये भावितो दद्यात्	१७७	परनी दुहितरश्चैव	२८९
निह्वते लिखित नैक	१८१	परशाक सिखी हृत्वा	४९४
नीचाभिगमन गभ	६१२	पदानि क्रतुतुल्यानि	९४६
नीरजस्तमसा सख	४४८	पथि ग्रामविबीतान्ते	३१५
नीवीस्तनप्रावरण	३७७	पन्था देयो नृपस्तेषा	५२
नृपार्थेष्वभिदापे च	२४७	प धानश्च विशुभ्यति	८८
नृपणाधिकृता पूगा	१९४	पयसा चाऽपि मासेन	५५८
नृशसराजरजक	७१	पयो दधि च मघ च	४३४
नञ्जकारं न नमा स्त्री	६१	परद्वयगृहाणां च	३६८
नैत मम मत यस्मात्	२३	परद्वयगृहाणां च	४७१
नैवशिक स्वर्णधुर्यं	९४	परपाककृचिन स्वगत्	५०
नैवक्षिकानि च तत	१४८	परपूर्वापति स्तेन	१००
नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु	१८	परभूमिं हरन्मृप	३१२
न्यायागतधनस्तत्र	४९१	परशय्यासनोद्यान	७०
न्यूनाधिकविभक्ताना	२७१	परश्च दीन आत्मा च	१५०
प		परस्पर तु सर्वेषां	३४७
पञ्चे गते वाप्यरनीयात्	४३९		

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
परस्य योपित ह्रस्वा	३९४	पिण्डास्तु गोऽजविभ्रेभ्यो	१२१
पराशरव्याससङ्घ	३	पिण्याक वा कणान्वापि	५३०
परिभूतामथ शय्या	२८	पिण्याकाचामतक्राम्बु	६३१
परिशुभ्यास्त्रलद्वावयो	१७८	पितरि प्रोपिते प्रेते	२०७
परिस्तृते शुचौ देशे	१०२	पिता पितामहो भ्राता	२५
परेण भुञ्जमानाया	१८६	पितापुत्रविरोधे तु	३५५
पर्जादुभ्यरराजीव	६२६	पिनुरुध्वं विभजता	५७९
पल सुवर्णाश्चत्वार	१५९	पितु स्वसार मातुश्च	५०७
पलाण्डु त्रिड्वराह च	७७	पितृद्वय्याविरोधेन	२७३
पवित्रपाणिराचान्त	१०१	पितृपात्र तदुचान	१११
पवित्राणि जपेतिपण्डान्	६३४	पितृपुत्रस्वस्रभ्रातृ	३५४
पशुमण्डूकनकुल	६५	पितृभ्य रयानमसीति	१०५
पशुन्गच्छन्प्रात दाप्यो	३८१	पितृभ्या यस्य यद्दत्त	२७९
पश्चाच्चयापसरता	३८७	पितृमातृपतिभ्रातृ	३०१
पश्चात्तापो निराहार	४२९	पितृमातृपराशचैव	९९
पश्यतोऽभुवतो भूमे	१८९	पितृमातृसुतव्याग	५०९
पश्येच्चारास्ततो दूतान्	१३७	पितृमातृसुतभ्रातृ	३६
पाखण्ड्यनाश्रिता स्तेषा	३९६	पितृयानाऽऽजयीष्याश्च	४८६
पाणिपादशलाकाश्च	४५६	पितृलोक चन्द्रमस	४८९
पाणिप्रञ्चालन दत्त्वा	१०३	पितृश्च मयुसर्पिभ्यां	४४
पाणिप्रार्द्ध स्वर्णांसु	२५	पितृणा तस्य वृत्ति स्यात्	६४१
पात्राणा चमत्तानां च	८०	पितृन्मपुष्टताभ्यां च	१६
पात्रे धन वा पर्याप्त	५२३	पितृस्तु दर्शन पक्तिं	४५२
पात्रे मदीमते यत्तासकल	४	पितृस्तु सूतक मातु	४०८
पादकेनाशुककरो	३४७	पिशुनानृतिनोश्चैव	७१
पादकौच द्विजाच्छिद्य	९४	पीडाकृपांशुकावष्ट	३४७
पादौ मतापयेद्याप्तौ	६२	पीड्यमाना प्रजा रणेत्	११०
पारदारिकचौर वा	३५५	पुण्याऽपद्भागमादत्ते	१४९
पारदार्यं पारिविषय	५०९	पुत्रपौत्रैश्च देय	२०७
पार्ष्वका श्यालकै साधं	७१७	पुत्र श्रेष्ठव च सौभाग्य	१२४
पालशोपविनाशे तु	३१७	पुत्रान्दहि धन दहि	१३२
पाठित वर्धयेच्चीरया	१४२	पुत्रोऽन याधितदभ्याः	२०८
पालो येषां न ते मोष्या	३१६	पुनरापत्तिनो पीज	२८६
पावक सर्वमेष्यस्व	२८	पुत्रार्थी पुनर्गर्भ	४५५
पांसुप्रतर्ष दिग्दाह	६६	पुन सत्कारमर्हति	५३२
पिण्डद्वोऽशहरश्चैवा	२८७	पुमान्सप्रहणे प्राह्य	३७७
पिण्डयशावृता देय	४०३	पुराणयापमीमासा	३

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
पुरुषोऽनृतवादी च	४०१	प्रथमे मासि सकलेद्	४५२
पुरोहित प्रकुर्वत	१४१	प्रथम साहस दद्यात्	३८७
पुष्पलीवानरखरै	५७५	प्रदक्षिणमनुग्रह्य	११२
पुष्प चित्र सुगन्ध च	१३१	प्रदर्शनाथमेतत्तु	४९५
पूर्वकर्मापराधी च	३६८	प्रधान क्षत्रिये कर्म	५३
पूर्वपक्षेऽधरीभूते	११०	प्रनष्टाधिगत देय	१९७
पूर्वं पूर्वं गुरु क्षेय	१९४	प्रप न साधयन्नर्थं	२०२
पूर्वस्मृतादर्धदण्ड	३५१	प्रमाण लिखित भुक्ति	१८८
पृथक्पृथादण्डनीया	२३२	प्रमादसूतनष्टाश्च	३१६
पृथक्सा तपनद्रव्य	६२६	प्रमादवान्भिन्नवृत्तो	४७२
पृथिवी पादतस्तस्य	४१८	प्रयच्छन्ति तथा राज्ञ्य	१२५
पौपमासस्य रोहिण्यां	६४	प्रयत्न नाटृतिर्वर्णः	८५२
प्राकुर्यादायकर्मान्त	१४५	प्रयोजकेऽस्तति धन	२१९
प्रक्रा ते सप्तम भाग	३२६	प्ररोहिष्ठाखिना शाखा	३५१
प्रक्षिपेत्सन्तु विप्रेषु	१२१	प्रविशेयु समालम्ब्य	४०१
प्रजापतिपितृप्रह्य	९	प्रवेशनादिक कर्म	४०२
प्रजापीडनसतापात्	१५१	प्रवृत्तचक्रता चैव	१२४
प्रतिहूल गुरां कृत्वा	५८२	प्रमश्यावसितो राज्ञो	३३०
प्रतिगृह्य तदाख्ययम्	४३५	प्रष्टव्या योषितश्चास्य	३७५
प्रतिग्रहपरीमाण	१४३	प्रसह्य घातिनश्चैव	३०१
प्रतिग्रह प्रकाश स्वात्	३१३	प्रसह्य दास्यभिगमे	३८३
प्रतिग्रहसमर्थाऽपि	९६	प्रस्थानपिन्नटृच्चैव	३३६
प्रतिग्रहे सुनिघकि	६३	प्राप्तसौमिकी क्रिया कुर्यात्	५५
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे	५२	प्राग्वा ब्राह्मण तीर्थेन	८
प्रतिप्राप्रभृतिप्वेकां	१२३	प्राजापत्य चरेत्कृत्स्नं	५४२
प्रतिप न क्षिया देय	२०६	प्राजापत्यां तद् ते तान्	४४२
प्रतिप्रणवसयुक्ता	१०	प्रागारयय तथा धादे	७८
प्रतिभूर्दापितो यत्तु	२१३	प्राणानायम्य सप्रोषय	१०
प्रतिमानसमीभूतो	२४८	प्राणायामश्च कार्य	६२०
प्रतिवेद ब्रह्मचर्यं	१४	प्राणायाम जले कृत्वा	५७५
प्रतिपिद्धमनादिष्ट	३६४	प्राणायामी जले स्नात्वा	६०५
प्रतिपेधे तयोर्दण्डो	३७८	प्रात सप्यामुपार्सीत	४४
प्रतिसवासर चैवम्	११९	प्रातिभाष्यमृग सापय	२१०
प्रतिसवासर त्वर्ष्या	४९	प्रातिष्ठोभ्यापयादपु	३४२
प्रतिसवासर सोम	५५	प्रातिष्ठोम्ये पद्य पुसो	३०८
प्रापधिनाऽप्रतो लेख्य	१६८	प्राप्ये वृपतिना भागे	३३८
प्रात्येक प्रत्यह पीतै	६२७	प्राप्यते ह्यमनि तथा	४०३

## श्लोका

प्रायश्चित्तमकुर्वाणा  
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो  
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्यात्  
प्रियो विवाहश्च तथा  
प्रीणयन्ति मनुष्याणां  
प्रीणाति देवानाज्यन  
प्रेषयच्च ततश्चरान्  
प्राद्यग सहतानां च  
प्रोपिते कालशेष स्यात्

## फ

फलपुष्पाक्षरमज  
फलोपलक्ष्मीसोम  
फालाहतमपि चेत  
फेनप्रप्य कथ नाश

## ब

बध्या वा वाससा छिप्र  
बन्दिम्राहास्तथा बाजि  
ब-उदत्त तथा शुक्क  
बन्धुभिश्च स्त्रिय पूज्या  
बलादासीकृतधौरैः  
बलानां दर्शनं कृत्वा  
बलिकर्मस्वधाहोम  
बलोपाधिभिनिर्वृत्तान्  
बहव स्युर्यदि स्वाशौ  
बहूना यद्यकामासी  
बालस्ववासिनीवृद्ध  
बाहुम्रीवानेप्रसविथ  
बीजायोवाह्य रत्नस्त्री  
बुद्धोन्द्रियाणि सार्थानि  
बुद्धेरुत्पत्तिरप्यक्षात्  
बुभुक्षितश्च यद्य स्थिरवा  
बुद्धस्पते अतिमर्द्वं  
ब्रह्मक्षत्रविद्या काल  
ब्रह्मक्षत्रियवित्शुद्धा  
ब्रह्मज्ञानिल्लतेजासि  
ब्रह्मचर्यं दया क्षाति

पृष्ठम्	श्लोका.	पृष्ठम्
४९९	ब्रह्मचर्ये स्थितो नैक	१३
५००	ब्रह्मचारी भवेत्ता तु	११२
६०९	ब्रह्मचार्यश्च पर्वणि	२१
४९	ब्रह्मणैषां वरो दत्त.	१३८
१२५	ब्रह्मलोकमस्तिष्म्य	४८१
१६	ब्रह्मलोकमवाप्नोति	१८
१४८	ब्रह्मवर्चस्विन पुत्रान्	१२३
८१	ब्रह्महत्याधत्त वापि	५६७
३१४	ब्रह्महत्यासम ज्ञेयम्	५०५
	ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्	४९३
	ब्रह्महा द्वादशान्दानि	५१३
५०३	ब्रह्महा मद्यप स्तेन	५०२
४३२	ब्राह्मण काममरनीयात्	१५.
३१३	ब्राह्मणश्चत्रियविदा	१५
४०१	ब्राह्मणश्चत्रियविदा भार्या	२३
	ब्राह्मणश्चत्रियविदा भैष	१२
६०५	ब्राह्मण पात्रता याति	६४१
३७१	ब्राह्मणप्रातिवेश्यानाम्	३६५
३०२	ब्राह्मणस्तु परिचीण	२०४
३५	ब्राह्मणस्य परित्राणात्	५१८
३२९	ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राजे	५३४
१४०	ब्राह्मणस्वर्णहारी तु रुद्र	६१८
४६	ब्राह्मणान्भोजयेद्दद्यात्	१३३
१९५	ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो	४२२
२१३	ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धे	१४९
३८३	ब्राह्मणेषु चन्द्रैश्च	१२
४७	ब्राह्मण्या चत्रियात्सूतो	४१
३४३	ब्राह्मे मुहुर्ते चोत्थाय	५१
५२५	ब्राह्मो विवाह जाहूय	२४
४८४	ब्रूयुरस्तु स्वधेर्युक्ते	११०
४८४		
४३५	भ	
१३६	भक्तवकाशात्सुदक	३७४
१५	भक्तयित्वोपविष्टाना	३१४
५	भक्त्या पञ्चनखां सेधा	७७
१७४	भग ते वरुणो राजा	१३०
६२४	भगमिन्द्रश्च वायुश्च	१३०
	भगास्थेक तथा पृष्ठे	४५७

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
भगिन्यक्ष निजादशात्	२७९	म	
भद्रासनोपविष्टस्य	१२८	मञ्जा तां जुहुयाद्वापि	५२१
भयं हिंसा च भूतानां	४४६	मण्डल तस्य मध्यस्थ	२६३
भर्तृभ्रातृपितृज्ञाति	६५	मत मेऽमुरपुत्रस्य	२३७
मदो जातिसहस्रेषु	४४७	मत्तोन्मत्तार्तव्यसनि	१९५
भस्मपङ्कज स्वर्ग	३७५	भरस्यान्पङ्कजस्तथैवामान्	१३१
भस्माद्भिर्कारयटोहानां	८५	भरयाश्च कामतो जग्ध्या	७६
भार्याया विप्रयज्ञैषां	५०९	भु दश पर गृभा	४९५
भार्यारति शुचिर्भूय	५४	मधुना पयसा चय	१६
भावावादी च जगत	१३८	मधुमासाजनोऽिद्ध	१३
भावेरनिष्ट सयुष्ट	४७२	मधुमासाशने कार्यं	५८२
भास च हत्वा दद्यात्	५७२	मध्यम घत्रिय वैश्य	२८५
भास्करालोकभारलील	१३	मध्यमो जातिपूजाना	३४४
भिन्ने दग्धऽथवा द्विन्ने	२३९	मध्यस्थस्थापित चरस्यात्	२०४
भिन्ने पणे च पञ्चाशत्	३५८	मध्ये पञ्चपला वृद्धि	३२६
भिषग्भिष्याघरन्दण्डव	३५६	मध्यो दण्डो ब्रणोद्भवे	३४८
भुस्वावार्द्रपाणिर्भ्रमोऽन्त	६६	मनश्चेत्तन्यदुधोऽसौ	४५४
भूतविग्रमरग्रह	४६	मनसश्चन्द्रमा जात	४६८
भूतमप्यनुप यस्त	१८१	मन्त्रमूल यतो राज्य	१५२
भूतारमनस्तपोविद्ये	४३०	मन्त्रविष्णुहारीत	३
भूद्रीपाश्चाप्रवद्याम्भ	९४	मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या	४८२
भूमेर्गन्ध तथा प्राण	४५३	मम दारा सुतामार्या	४७७
भूर्यां पितामहोपाचा	२७६	मयि तेज इति स्वर्गायां	५७७
भूशुद्धिर्मार्जनाहाहात्	८४	मर्यादाया प्रभेदे च	३११
भृतकाध्यापक श्लीष	१००	मत्तिनो हि यथादर्शो	४७३
भृतादभययनादान	५०९	महागणपतेश्चैव	१३४
भृतिमधपथे सर्वा	३३६	महानरककाकोल	५००
भृत्याश्च तपयेच्छमधु	४३७	महापशूनामतेषु	३५०
भृत्यै परितृप्तो भुक्त्वा	५१	महापातकजान्धोरान्	४९२
भेद चैवा नृपो रचेत्	३३४	महापातकजैर्घोरै	५००
भेजस्नेहलवण	३५७	महापापोपपापाम्या	५८४
भक्षार्थिकार्यं स्वर्वा तु	५८१	महाभियोगेभ्वेतानि	२४२
भोगाश्च दद्याद्भिरेभ्यो	१४२	महाभूतानि सायानि	४७५
भोजयेच्छागतान्काले	४८	महिषोऽपृग्वां द्वी द्वी	३२२
भोज्या ना नापितश्चैव	७२	महीपतीना नाश्रीच	४२२
भ्रातृणामथ दम्पत्यो	२१०	महोद्य वा महाज वा	४९
भेषश्चैन्मागितेऽदत्ते	२२१	महोद्योस्त्वष्टपशच	३१६

## श्लोका

प्रायश्चित्तमकुर्वाणा  
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो  
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्यात्  
प्रियो विवाहश्च तथा  
प्रीणयन्ति मनुष्याणां  
प्रीणाति देवानाञ्जन  
प्रेषयच्च ततश्चारात्  
प्राञ्चग सहतानां च  
प्रापिते कालशेषे स्यात्

## फ

फलपुष्पाञ्जलसज्ज  
फलोपलघ्नीमसोम  
फालाहतमपि क्षेत्र  
फेनप्रक्षय कथनादा

## ब

बध्ना या वाससा क्षिप्र  
बन्दिप्राहास्तथा वाजि  
ब-उदत्त तथा शुक्क  
ब-नुभिश्च स्त्रिय पूज्या  
बलाहासीकृतश्रीरैः  
बलानां दर्शनं कृत्वा  
बलिकर्मस्यधाहोम  
बलोपाधिधिनिर्वृत्तान्  
बहव स्युर्यदि स्वादी  
बहूना यद्यकामासी  
बालस्ववासिनीवृद्ध  
बाहुमीवानेप्रसन्धि  
बीजायोवाह्य रत्नस्त्री  
बुद्धो-प्रयाणि सार्थानि  
बुद्धेरपत्तिरभ्यघात्  
बुभुक्षितश्च यद् स्थिग्वा  
बृहस्पते अतियद्व्यं  
ब्रह्मक्षत्रविदा काल  
ब्रह्मक्षत्रियवितृश्रदा  
ब्रह्मस्थानिलतेजासि  
ब्रह्मचर्यं दया चाग्निः

## पृष्ठम्

४९९  
५००  
६०९  
४९  
१२५  
१६  
१४८  
८१  
२१४

## श्लोका

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैक  
ब्रह्मचारी भवेत्ता तु  
ब्रह्मचार्यं पर्वणि  
ब्रह्मणैषा वरो दत्त  
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य  
ब्रह्मलोकमवाप्नोति  
ब्रह्मवचस्त्विन पुत्रान्  
ब्रह्महत्याप्रत वापि  
ब्रह्महत्यासम ज्ञेयम्  
ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्  
ब्रह्महा द्वादशान्दानि  
ब्रह्महा मद्यप स्तेन  
ब्राह्मण काममरनीयात्  
ब्राह्मणक्षत्रियविश्व  
ब्राह्मणक्षत्रियविशा भार्या  
ब्राह्मणक्षत्रियविशा भेष  
ब्राह्मण यात्रता याति  
ब्राह्मणप्रातिवेरयानाम्  
ब्राह्मणस्तु परिधीण  
ब्राह्मणस्य परित्राणात्  
ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राशे  
ब्राह्मणस्वर्णहारी तु रुद्र  
ब्राह्मणान्भोजयेद्घात्  
ब्राह्मणेनानुगतस्यो  
ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्ध  
ब्राह्मणेषु चरद्भेष  
ब्राह्मण्या क्षत्रियात्सूतो  
ब्राह्मे मुहूर्तं पारथाय  
ब्राह्मे विवाहं जाह्नव  
ब्रूयुरस्तु स्वधायुक्ते

## भ

भक्त्यायकाशाम्युदक  
भक्षयित्वोपनिहाना  
भक्षया पञ्चनरा सधा  
भगते बहणो रागा  
भगमित्रश्च वायुश्च  
भगास्यैक तथा पृष्ठ

पृष्ठम्  
१३  
११२  
४३  
१३८  
४८१  
१८  
१२३  
५६०  
५०५  
४९३  
५१३  
५०२  
१५  
१५  
२३  
१२  
६४१  
३६५  
२०४  
५१८  
५३४  
६१८  
१३३  
४२२  
१४९  
१२  
४१  
५१  
२४  
११०  
३०४  
३१४  
७७  
१३०  
१३०  
४५७



श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
भगिन्वक्ष निजादशात्	२७९	म	
भद्रासनोपविष्टस्य	१२८	मग्जा ता जुहुयाद्वापि	५२१
भयं हिवा च भूताना	४४६	मण्डल तस्य मध्यस्थ	४६३
भर्वन्नातृपितृज्ञाति	२५	मत मेऽमुकपुत्रस्य	२३७
भवो जातिसहस्रेषु	४४७	मत्तो-मत्तार्तव्यसति	१९५
भस्मपङ्कजरज स्पर्शे	३४५	मत्स्यान्पक्षास्तथैवामान्	१३१
भस्माद्भि कारयलोद्धाना	८५	मत्स्याश्च कामतो जग्मवा	७६
भार्याया विद्रव्यश्रैषां	५०९	मत्तु दश पलं गृध्रो	४९५
भार्यारतिं शुचिभुरय	५४	मधुना पयसा च	१६
भावावाधौ च जगत	१३८	मधुमांसा जनोच्छिष्ट	१३
भायैरनिष्टं सयुक्त	४७२	मधुसामाशनं कार्यं	५८२
भास च ह्रस्वा द्वात्र	५७२	मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं	३८१
भास्करालोकनाश्लील	१३	मध्यमो जातिपूगाना	३४४
भिन्ने दग्धस्यवा द्विन्ने	२३९	मध्यस्थस्थापितं चेरस्यात्	२०४
भिन्ने पणं च पञ्चाशत्	३५८	मध्ये पञ्चपला वृद्धिः	३२६
भिषक्तिध्याचर-दण्डव	३५६	मध्यो दण्डो ऋणोद्देह	५४८
भुक्त्वाद्वाग्निरग्मोऽन्त	६६	मनश्चेत-ययुक्तो-सौ	४५८
भूतपित्रमरद्रक्ष	४६	मनसश्चन्द्रमा जात	४६८
भूतमप्यनुप यस्त	१८१	मन्थनूल यतो राज्य	१५२
भूतारमनस्तपोविधे	४३०	मन्वत्रिपिण्डुहारत	३
भूदीपाश्चाद्यवस्त्राग्भ	९३	मन्वन्तरैर्युगप्राप्या	४८२
भूमैर्गन्ध तथा घ्राण	४५३	मम दारा सुतामाया	२७७
भूर्यां पितामहोपात्ता	२७६	मयि तेज इति श्वापां	५२७
भूशुद्धिर्माननाहाहात्	८४	मर्यादाया प्रभेदं च	३११
भूतकाध्यापकं वलीय	१००	मलिनो हि यथादर्शा	४२३
भूतादध्ययनादान	५०९	महागणपतेर्धैव	१३४
भृतिमधपथे सर्वा	३३६	महानरककाकोल	५००
भृश्यांश्च तपयेद्भूमधु	४३७	महापशूनामतपु	३५०
भृश्यां परिशृतो भुक्त्वा	५१	महापातकजान्धारान्	४९२
भेदं चैषां नृपो रक्षेत्	३३४	महापातकजैर्घोरै	५०५
भेषजस्नहलवण	३५७	महापापापपापाभ्यां	५८४
भेषाग्निकायं स्वकाया गु	५८१	महाभियागेष्वतानि	२४२
भोगार्थं दद्याद्भिषग्भ्यो	१४२	महाभूतानि सत्यानि	२७५
भाजयन्त्यागतान्काले	४८	महिषोष्मगयां दूरीं दूरीं	३२२
भाज्याग्ना नापितर्धैव	७२	महीपतीनां नानीच	४२२
भानुणामथ ह्यग्नयो	२१०	महाघं वा महात्र वा	४९
भेषधैम्मार्गितेऽदत्ते	२२१	महोषोत्पृष्टपदाव	३१६

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
महोत्साहः स्थूललक्ष्.	१३९	मृग ( गा ) असूकरोष्णां	४९१
मातापितृगुरुयात्री	१००	मृच्चर्मपुष्पकुतप	३५८
मातामहानामप्येवं	११०	मृच्चर्ममणिमूत्रायः	४३२
म तामहानामप्येव	१०२	मृतकवपः प्रहाराती	५२२
मातुर्दुहितरः शोष	२७२	मृताङ्गलग्नविश्रेतुः	३८९
मातृपदमे जायन्ते	१५	मृताया दत्तमादद्यात्	३०३
मातु सपत्नी भगिनी	५०७	मृते जीवति वा पाप्यौ	३०
मातृपित्रतिथिभ्रातृ	६९	मृते पितरि कुर्यात्	२८९
मास्यहारिणकौरत्र	१२१	मृतेऽहनि प्रकृतं ध्य	११९
मानुषे मप्यन राज	३५६	मृत्तिका रोचनां गन्धान्	१२९
मानुष्ये कदलीस्तम्भ	४००	मृत्युदेशसमाप्तान्	३७६
मानेन तुलया वापि	३५७	मृद्दण्डचक्रसंयोगात्	४७५
मान्वापेतौ गृहस्थस्य	५०	मेदसा तपयेद्देवान्	१७
मास्तेनैव शुद्धयन्ति	८९	मैत्रमौद्वाहिकं चैव	२७३
मार्जन यज्ञपात्राणा	८१	मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने	२२०
मार्जारगोधानकुल	५७१	मोहजालमपास्वेह	४६६
मापानष्टौ तु महिषी	३१३	य	
मासघोरौदनमधु	१७	य य क्रतुमधीते च	१७
मासद्वयवाभिवृष्यन्ति	१२२	यः कण्ठकैर्वितुवति	४४०
मासं शस्यासन धानाः	९६	यः कश्चिदर्थो निष्णात.	२३६
मासेनैवोपधुञ्जीत	६३३	य. सापय श्रावितोऽम्येभ्यो	१३४
मास्यबुद्ध द्वितीये तु	४५२	यः साहस कारयति	३५३
माहिष्येण करण्या तु	४२	य आह्वयेषु वप्यन्ते	१४५
नितश्च समितश्चैव	१३१	य इद धारयिष्यन्ति	६४१
मित्रधुक् विशुन. सोम	१००	य इद ध्रावयेद्विद्वान्	११
मित्राण्येता प्रकृतयो	१५६	य एनमेव विन्दन्ति	४८८
मिथिलाश. स योगीन्द्र.	२	य एव नृपतेर्धर्म.	१५१
मिथ्याभियोगी द्विगुण	१७७	यजूर्वि शक्तितोऽधीते	१६
मिथ्याभिशास्तदोष च	५८३	यजेत दधिकर्कन्धू	११२
मिथ्याभिशासिनो दोष	५८३	यज्ञन्म सर्वभूतानाम्	४६७
मिथ्यावदन्परीमाण	३६५	यज्ञस्थमृत्विजे देवः	२४
मुक्तयामिन मृदित्वाहि	२५६	यज्ञानां तपसा चैव	१६
मुखजा विप्रुपो मेध्या.	८८	यज्ञार्थं लब्धमददत्	५६
मुखजाहूरुपज्ञा स्यु.	४६८	यज्ञाश्चैव प्रकुर्वीत	१४१
मूर्धां सकण्ठहृदय	४५८	यज्ञेन तपसा दानैः	४८९
मूलक प्रिकापूषान्	१३१	यत एतानि हर्यन्ते	४८३
मूपको धान्यहारो स्यात्	४९५	यतिपात्राणि मृद्रेणु	४४६

रचेरुभ्यां पिता रिद्धौ	३६	रलोकाः	१४५
रद्धान्तारिपाखण्डि	२२५	रीरवं कुड्मलं पूति	५००
रजसा तमसा चैव	४७२	ल	
रजस्तमोभ्यामाविष्टः	४८५	ललाटं सिद्धवते चास्य	१०८
रजस्वलासुरास्वाद्यः	५०५	ललाटे कर्णवोरक्षगोः	१३०
रम्याऋद्धमतीयानि	८९	लशुनं गृजनं चैव	७७
रम्य पशव्यमाज्जीव्य	१४२	लाङ्गालवणमांसानि	४३४
रश्मिरसी रजस्वलाया	८७	लाभालाभौ यथाद्रव्यं	३६३
रसस्य नय विज्ञेयाः	४६२	लिखितं द्यमुक्तेनेति	२३७
रसस्याष्टगुणः परा	२०१	लिङ्गं द्वित्रया यथस्तस्य	५०७
रसालु रसनं शौच्यं	४५३	लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ	३५०
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे	४४५	लिङ्गेन्द्रियप्राणरूपः	४८१
राक्षसो युद्धहरणाव्	२५	लेख्यं तु साक्षिभ्यः कार्यं	२३६
रागोऽहोभाज्जयाद्वापि	१६५	लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत्	२७१
राजताद्रवसः सीसात्	१३५	लोकानभ्यं दिवः प्राप्तिः	३१
राजदैवोपघातेन	३६२	लोमभ्यः स्वाहेत्यथवा	६१७
राजनि स्वाप्यते योऽर्घ्यः	३५९	लोमभ्यः स्वाहेत्येवं हि	५२१
राजपत्न्यभिगामी च	३७६	लीहामिपं महाशकं	१२२
राजयानासनारोडुः	३८९	य	
राजा कृत्वा पुरे स्थानं	३३१	वज्रगौ वृषगौ वृद्धौ	४५९
राजान्तेवासियाज्येभ्यः	५८	वज्रिगुह्यं न चाप्नोति	१२७
राजा लब्ध्वा निधिं दद्यात्	१९८	यनाद्गृहाद्वा कृषेष्टिं	४४२
राजा मुकृतमादत्ते	१४६	यपावसायहननं	४५९
राज्ञः कुलं धियं प्राणान्	१५१	ययः कर्म च विसं च	१६२
राज्ञोऽवमर्जिदो दाप्यः	२०३	यगोऽनुद्धर्षवाशेष	५४
राज्ञोऽन्यायेन यो दण्डो	३९१	वर्णकमाच्छृतं द्वित्रि	१९९
राज्ञामेकादशे नैके	७	वर्णानामानुलोम्येन त	३४२
राज्ञा म्बिद्धं निर्वास्याः	३३९	वर्णानामानुलोम्येन दा	३३०
राज्ञा सभासदः कार्याः	१६४	वर्णाधमेतराणां नो	१
राज्ञा सर्वं प्रदुष्यः स्यात्	२२८	वर्णिनां हि यथो यत्र	२३४
राज्ञोऽनिष्टप्रवक्षारं	३८८	वर्णाधारस्नेहयोगात्	४८०
रिद्धिप्रदाहृष्ट्यं दाप्यो	६०८	वर्णस्य पातृतो गच्छेत्	६३
रुष्या वाऽन्यतरैः कुर्यात्	२४३	यसा प्रयो द्वौ तु मेदो	४६२
रुद्रस्यानुषरो भूत्वा	४६५	यसानग्रीभ्यणान्दण्डनः	३५१
रूपं देहि यशो देहि	१३२	यसुरुद्रादितिमुताः	१२५
रुपाय्यपि तर्पतेद्	४७०	यसोऽस नरके घोरे	७९
रोमी हीनातिरिच्छाद्	९९	यज्ञं चतुर्गुणं प्रोक्त	२१४
रोम्यां कौट्यस्तु पद्माक्षत्	४६१		

श्लोका	शृङ्खानि	श्लोका	शृङ्खम्
वसुधा-न्यहिरण्याना	२०१	विनायरस्य जननी	१३१
वाक्योवाचय पुराण च	१७	विनीत सत्यसपद्य	१२९
वाक्चक्षु पूजयति नो	१७८	विनीतश्चय वार्तायां	१३९
वाक्पाणिपादुचापस्य	५०	विपाक कर्मणां प्राय	४७०
वानशरतमम्बुनिर्णित	८६	विपाकात्प्रिकाराणां	४८५
वाच वा को विजानाति	४७५	विपाके गोवृपाणां तु	५८३
वाच्यतामित्यनुज्ञात	११०	विप्रवचन च शूद्रस्य	३८९
वाज्येवाच इति प्रीत	१११	विप्रदग्धाद्यमे कृ पू	६०६
वानप्रस्थगृहेष्वत्र	४२१	विप्रदुष्टो विद्य चैत्र	३७५
वानप्रस्थयतिप्रह्ला	२९७	विप्रपीडानर धृष्टम्	३४६
वानप्रस्था प्रह्लाचारी	४३६	विप्रा-मूभावसिक्तो हि	४०
वायवीर्यविगम्यन्ते	४६१	विप्रा हि चत्रियात्मानो	६७
वायुभय प्रागुदीर्घा	४४१	विप्रुषो नचिका स्वर्ग	८७
वायुभयं दिवा तिष्ठन्	६२४	विप्रेभ्यो हीयते द्रव्य	१४५
वायोऽत्र एवाच चष्टां	४२३	विप्लुत सिद्धमात्मान	४८६
वालवासा अटी वापि	५३०	विभक्तपु सुतो जात	२७७
वासनस्थमनाख्याय	२२१	विनजरन्मुता पित्रा	२७१
वासो गृहान्तिके द्वय	६३२	विभाग वेदित्वा कुर्यात्	२६९
विकर्णकरनासौर्ध्व	३७५	विभागनिद्वे ज्ञाति	३०५
विक्रयावप्रयाधान	३५५	विभागभावनया प्रया	३०५
विक्रियापि च दृष्टेव	४८०	विभायये न चङ्छिन्नै	१९७
विक्रीगतां वा विहितो	३५९	विमना विकलारम्भ	१२७
विक्रीणीते दमस्तत्र	३६२	विरात्र नाञ्जनरुपा	४६६
विक्रीतमपि विक्रय	३६३	विरुद्ध चन्द्रकर्म	६२
विक्रेगुर्द्वानाच्छुद्धि	३२०	विगाद्यस्तद्य एव	१७८
विद्ययातक्षेप कुर्वति	६१३	विवाद यत्रविद्या तु	६९
वितथाभिविवादी च	४७१	विवादार्द्रिगुण दण्ड	५३२
विस्तारमान यद्यमान	४८२	विवीतभनुस्तु पपि	३७०
विदश्य निम्बपत्राणि	५०३	विगपतनीयानि	६१२
विषाकर्मवधाद्य जु	५३	विरुद्व्याद्य श्रायन्ता	११०
विषाकपाभ्यां हीनन	९२	विषयभिद्वयसराध	६७८
विषार्था प्राप्नुवात्त्रिधा	६५१	विषामिदो परिगुह	३७५
विद्वानप्यमाद्यस्य	१९८	विहितस्थानशुद्धानात्	४९५
विनापि धापकापुर्णत्	२६३	वाकावादनस्यस्य	४६५
विना धारकदाहापि	२१९	वृषगुहमलता ३ ६५	५७६
विनापि साक्षिभिरुच्यं	२३८	वृषाट्परसयाव	७५
विनाचक. कमविान	१२६	वृषादान तर्षवद्	१०५

श्लोकाः	श्लोकः	श्लोकाः	श्लोकः
वृद्धबालातुराभार्य	६१	शक्तोऽप्यमोचयन्स्यामी	२८७
वृद्धभारिनृपस्नात	५२	शक्त्या च यज्ञकृन्मोचे	४४२
वृषभुद्रपशुनां च	३५४	शतमानं तु दशभिः	१६०
वृष्टपायुःपुष्टिकामो वा	१३४	शते दशपला वृद्धिः	३२६
वेत्ति सर्वगतं कस्मात्	४६९	शतं स्त्रीदूपणे दद्यात्	३८१
वेद एव द्विजातीनां	१६	शस्यस्तदर्थिकः पाद	३४२
वेदप्लाघी यथाशयन्वं	५८७	शं नो देवीस्तथा काण्ढात्	१३६
वेदमभ्यापयेदेनं	७	शं नो देव्या पयः क्षिप्वा	१०३
वेदं ब्रतानि वा पारं	१८	शपन्तं दापयेद्वाजा	३४१
वेदाधरंपुराणानि	४६	शब्दः स्पर्शश्च रूपं च	४८५
वेदानुवचनं यज्ञो	४८७	शब्दाविविपयोद्योगं	४७६
वेदान्वासरतं ज्ञान्तं	६२३	शरणागतबालस्त्री	६१३
वेदार्थविज्येष्टसामा	९८	शरीरचिन्तां निर्वर्त्य	४४
वेदार्थानधिगच्छेच्च	४५	शरीरपरिसंख्यानं	४७८
वेदाः स्थानानि विद्यानां	३	शरीरसंघने वक्ष्य	४७९
वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैः	४८२	शरीरेण च नात्मायं	४८०
पैणाभिःशस्तवार्युष्य	७०	शशश्च मास्येष्वपि हि	७७
पैतानोपासनाः कार्याः	४०५	शस्त्रविक्रयिकर्मार	७१
वैरूप्यं मरणं चापि	४५३	शस्त्रावपाते गर्भस्य	३७४
वैश्यवृत्त्यापि जीवन्नो	४३२	शस्त्रासवमधूर्च्छिद्युष्टं	४३२
वैश्यश्च धान्यधनवान्	६४१	शस्त्रेण तु हता ये वै	१२३
वैश्यहाण्डं चरेवेत्तत्	५६७	शाकरज्जुमूलफल	८०
वैश्यात्तु करणः शुद्धर्षां	४१	शाकाद्गौषधिपिण्याक	४३२
वैश्या प्रतोदमादद्यात्	२५	शातातपो वसिष्ठश्च	३
वैश्याशुद्धोस्तु राजन्यात्	४१	शास्त्राणि चिन्तयेद्गुह्यथा	१४८
व्यतीपातो गजच्छापा	९७	शिरःकपाली ध्वजवान्	५१३
व्यत्यये कर्मणां साम्यं	४२	शिराः शतानि सप्तैव	४६०
व्यभिचारादती शुद्धिः	२८	शिक्षपैर्वा विविधैर्जावेत्	५३
व्यवहारान्मृपः पश्येत्	१६३	शुभ्रतं पशुपितोश्चिह्नं	७२
व्यवहारान्स्वयं पश्येत्	१५८	शुक्रः शनैश्चरो राहुः	१३५
व्यवहारान्स्ततो दृष्ट्वा	१४६	शुक्रियारण्यकनपो	६२२
व्यसनं जायते घोरे	२६२	शुक्लाभ्ररधरो नीच	५९
व्यासिद्धं राजयोग्यं च	३६६	शुचि गोवृत्तिकृत्तयं	८७
वज्रन्नपि तथात्मानं	१२७	शुद्धश्चेद्गमयोर्ध्वं मां	२४८
श		शुद्धयेत् वा मितानित्वात्	५२३
शक्तस्यानीहमानस्य	२७०	शुद्धयेरन्धी च शुभ्रश्च	९
शक्तितो वा यथालाभं	१३७	शुभ्रः प्रवजितानां च	३५४

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
शूद्रमेव हीनसकथ	५०९	पण्मासाश्छुद्रहाप्येतत्	५६७
शूद्रस्तनधान्य एव स्याद्	३८४	पष्टवह्नुलीना द्वे पाण्ड्यां	४५६
शूद्रस्य द्विनशुधुपा	५३	पष्टेऽन्नप्राशन मासि	६
शूद्राज्ञातस्तु घण्डाल	४१	पष्टे यत्स्य वर्णस्य	४५४
शूद्रादायोगव पर्यात्	४२	पष्टेऽष्टमे वा सोम-त	६
शूद्रेषु दासगोपाल	७१	पोढदातुंनिशा स्त्रीणां	३१
शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि	५५०	पोढनाहुलक ज्ञय	२५४
शोभितेन विना हु स	३४८	पोढनाथ पणान्दा यो	३५०
शोष्यस्य शूच तोय च	४२९	घोवनामृकृशकृ-मृ	६२
शौक्षिके स्थानपालैर्वा	३२१	स आत्मा चैव यज्ञश्च	४६६
समधु चास्यगत द-त	८८	सकटान्न च नाधीयात्	४०३
श्रद्धा च नो मा ध्यगमत्	१११	सकामाश्चनुलीमासु	३८०
श्रद्धोपवास स्वातन्त्र्य	४८७	सकाय पावयेत्तज्ज	२४
धादकृसरयवादी च	४९१	सकाशादात्मनस्तद्भू	४४९
धाद् प्रति रुचिश्चैव	९७	सकारस्यपात्रा दातव्या	९२
धाम्तसवाहन रोती	९४	स कूटसाक्षिणां पापै	२२९
धीकाम शान्तिकामो वा	१३४	सकृत् प्रदीयते कन्या	२९
धृताप्ययनसपन्न	१६४	सकृत्प्रसिञ्चन्पुदक	३९६
धृतार्थश्चोत्तर लेख्य	१७०	सखिभार्याकुमारीपु	५०६
धृति स्मृति सदाचार	४	स गुरव्यं क्रिया कृवा	१४
धृतिस्मृत्युदित सम्यक्	१८	सगोत्रासु सुतस्त्रीपु	५०६
धृष्वैतद्याज्ञवल्क्योऽपि	६४२	सगौरसर्पवै. क्षीम	८३
धृष्वेतानृपयो धर्मान्	६४०	सग्रामे वा हतो लक्ष्य	५२२
धृगिर्नैगमपाखण्डि	३३४	संघात लोहितोद च	५००
धेयसा मुखदु खान्या	४८२	सच्चिद् ब्राह्मण कृवा	३७०
ध्रीत स्मार्त फलशनेहै	४३९	सचैल स्रातमाहृय	२४४
ध्रीतस्मार्तक्रियगृहेतो	१४१	सजातयुत्तमो दण्ड	३७८
श्लेष्माश्रु बा-धवैर्मुंवन	४०१	सजातीयेष्वय प्रोक्त	२८८
श्लेष्मीजसस्तावदेव	४६२	स ज्ञेयस्तं विदित्वेह	४६३
श्लोकत्रयमपि द्यस्माय	६४१	सतति स्त्रीपशुष्वेव	२१४
श्लोका सूत्राणि भाष्याणि	४८७	स तद्दद्याद्विप्लवाश्च	३६४
श्वक्रोष्टृगर्दभोदक	६६	स तमादाय सन्तैव	२५४
श्वित्री वस्त्र श्वा रस तु	४९५	स तान्सर्वानवाप्नोति	२२७
प		स तु सोमघृतैर्देवान्	१६
पट् पद्माशञ्ज आनीत	४६१	सकृद्य भिक्षुवे भिक्षां	४८
पट् श्लेष्मा पक्ष पित च	४६२	सक्रियाऽन्वासन श्वाहु	४९
पदज्ञानि तथास्पर्णा च	४५५	सत्यकारकृत द्रव्य	२१८

श्लोका	पृष्ठम्	श्लोका	पृष्ठम्
सत्यमस्ते यमक्रोधो	४४८	समद्वचारिकारिणीय	२३६
सत्यसधेन शुचिना	१५६	सभूय कुर्वतामर्थं	३५९
सत्यामन्या सर्वर्णया	३८	सभूय वणिजा पण्य	३५९
सत्यासत्यान्यधास्तोत्रै	३४०	सभोज्यातिधिभृत्स्याश्च	४७
सत्येन नाऽभिरक्ष त्व	२५६	सभ्या पृथक्पृथक्दण्ड्या	१६५
सत्रिमत्तिब्रह्मचारि	४२३	सभ्या सजयिनो दण्ड्या	३८९
सःव रचस्तमश्चैव	४८५	सभ्यै सह नियोक्तयो	१६५
स दग्धव्य उपेतश्चेत्	३९२	समकालमिपु मुक्त	२५७
स दद्यात्प्रथम गोभि	६१३	स मन्त्रिण प्रकुर्वत	१४१
स दानमानसत्कारै	३३३	सममेपा विधीतेऽपि	३१४
स दाप्योऽष्टगुण दण्ड	२३४	समवायी तु पुरुषो	४६८
सदिग्धलेख्यशुद्धि स्यात्	२४०	समवायेन वणिजां	२६३
सदिग्धार्थं स्वतन्त्रो य	१७९	समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम	२३७
सदिष्टस्यामदाता च	३५३	समाप्य वेद छुनिश	६४
सद्दानमानसत्कारान्	१५०	समामासतदर्धाहर्नामजाति	२३६
सद्यो वा कामर्जध्विद्वै	३७७	समामासतदर्धाहर्नामजात्या	१६८
सधिं च विप्रह यानम्	१५४	समितानि दुराचारो	७९
सधि-यनिर्दशा वरसा	७५	समुद्रपरिवर्तं च	३५८
सन्ध्यागर्जितजनिर्घात	६४	समूहकार्यं आयातान्	३३३
सन्ध्यामुपास्य शृणुयात्	१४७	समूहकार्यं प्रहितो	३३३
सन्ध्या प्राक्प्रातरेव हि	१०	समेत्यैव परस्त्रीषु	३४६
स नाणकपरीषी तु	३५६	सम्यक्कु दण्डन राज्ञ	१५७
सनिरुध्यन्दिश्यग्राम	४४६	सम्यक्प्रयुक्ता सिध्येयु	१५३
सनिरुध्येन्दिश्यग्राम	४८९	सम्यक्सकल्पन कामो	४
स नेतु-यायतोऽशवयो	१५६	सयतेन्द्रियता विद्या	४४८
सन्ततिस्तु पशुस्त्रीणा	२०१	सयतोपस्करा दद्या	३५
सपणश्चेद्ब्रुवाद् स्यात्	१८०	सयोगे केचिदिच्छति	१५५
सपिण्डो वा सगोत्रो वा	२७	सयोग्य वायुना सोम	४६७
सप्तत्रिंशदनध्याया	६७	स राजसो मनुष्येषु	४७२
सप्तमादशमाद्वापि	३९४	सर्गादौ स यथाकाश	४५०
सप्तमे चाष्टमे चैव	२५४	सर्वत प्रतिगृहीयात्	९७
सप्तर्षिनागर्जध्व-त	४८७	सर्वदानाधिक यस्मात्	१४९
सप्तपिष्टस्तथा लघ्वा	४६१	सर्वधर्ममय ब्रह्म	९५
सप्ताक्षधर्य पत्राणि	२५२	सर्वपापहरा ह्येते	६३२
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽय	६२६	सर्वभूतहितं शा त	४४४
सस्रव तु पुरापर्य	४६२	सर्वमन्त्रमुपादाय	१०९
सस्रोत्तर ममशात	४६१	सर्वं साक्षी समग्रणे	२२६
स प्रदाप्य कृष्टफल	३१३	सर्वस्य प्रभवो विप्रा	९०

## श्लोका

श्रीशूद्रविद्वत्प्रवधो  
 स्यालोकालम्भविगम  
 स्थानासनविहारैर्वा  
 स्थालै राह चतु पष्टि  
 स्थैर्यं चतुर्थं त्वद्धाना  
 स्नपन तस्य कर्तव्य  
 स्नातस्य सार्पप तैल  
 स्नातानपवदेयुस्तान्  
 त्वास्ना देवान्पितृ श्रैव  
 स्नात्वा पीत्वा छुते सुप्ते  
 स्नानमन्दैवतैर्मन्त्रै  
 स्नान मौनोपवासेभ्य  
 स्नायान्नदीदेवप्रात  
 स्फीतादपि न सचारि  
 स्य यूपान्जिनधानाना  
 स्मृत्याचारभ्यपेतेन  
 स्मृत्योविरोधे न्यायस्तु  
 स्यादोपधिबृथाच्छेदे  
 स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु  
 स्व कुटुम्बाविरोधेन  
 स्व लभेतान्यविष्क्रीत  
 स्वकर्म यथापयस्तेन  
 स्वच्छन्दविधवागामी  
 स्वदारनिरतरश्चैव स्त्रियो  
 स्वदेशपण्य तु शत  
 स्वधर्माच्चलितानाजा विनीय  
 स्वप्नेऽप्रगाहतेऽयथं  
 स्वप्नाद् भूमौ शुची रात्रौ  
 स्वभावाद्द्विदृति गच्छेत्  
 स्वयकृत वा यदण  
 स्वरन्ध्रगोष्ठाऽऽदीक्षिक्या  
 स्वर्गं स्वप्नश्च भावाना  
 स्वर्गं ह्यपरयमोजश्च शौर्यं  
 स्वर्गतिरस्य ह्यपुत्रस्य  
 स्ववर्णर्वा पटे लेख्या  
 स्वसीग्नि दद्याद् प्रामस्तु  
 स्वस्तिवाच्य तत कुर्यात्  
 स्वस्त्रीयन्मृद्विवाजामावु  
 त्वहस्तकालसपन्न

## पृष्ठम्

५०९  
 ४७८  
 ४४०  
 ४५६  
 ४५४  
 १२८  
 १३०  
 ४००  
 ४५  
 ८९  
 १०  
 ६१५  
 ६९  
 २२  
 ८१  
 १६६  
 १८३  
 ५७४  
 १४९  
 ३२२  
 ३१८  
 ५३४  
 ३५४  
 ३२  
 ३६०  
 १७८  
 १२७  
 ४४०  
 १७८  
 २०६  
 १२९  
 ४८३  
 १२४  
 २०९  
 १३५  
 ३७१  
 ११०  
 ९९  
 १४३

## श्लोक

स्वाध्यायाग्निमुत्थागो  
 स्वाध्यायवान्दानशील  
 स्वाध्याय सतत कुर्यात्  
 स्वाम्यमारया जनो दुर्ग  
 स्वामिने योऽनिवेद्यैत्र चेत्रे  
 स्वामिप्राणप्रदो भक्त  
 स्वैरिणी या पति  
 ह  
 हसस्वेनकपिऋग्याज्जल०  
 हताना नृपगोत्रिप्रैरन्वत्त  
 हत्वा म्यह पिबेत्क्षीर  
 हविष्यान्नेन वै मास  
 हस्तेनौपधिभावे वा  
 हस्तौ पायुरुपस्थ च  
 हानिचिप्रेतुरेवासी  
 हानिश्चेत्क्रैतृदोषेण  
 हास्य परगृहे यान  
 हित तस्याचरेत्रिय  
 हिताहिता नाम नाड्यस्तासा  
 हिताहितेषु भावेषु  
 हिरण्यभूमिलाभेभ्यो  
 हिरण्य व्यापृतानीत  
 हिंसकश्चाधिधानेन  
 हिंस्रान्त्रविधान च  
 हीनकल्प न कुर्वीत  
 हीनजाति परिचीण  
 हीनजातौ प्रनापेत  
 हीनाद्रक्षो हीनमूल्ये  
 हीना न स्याद्धिना भर्ता  
 हीनेष्वर्धदमो मोह  
 हुतशेष प्रदद्यात्  
 हुचाम्नी-सूर्यदैवत्यान्  
 वत प्रनष्ट यो द्रव्य  
 हुताधिकारां मलिना  
 हुत्कण्ठतालुगाभिस्तु  
 हेमश्री शफै रोप्यै  
 हेममात्रमुपादाय रूप  
 हेमहारी तु कुन्ही  
 होतव्या मधुसर्पिन्यां